भारत का आर्थिक विकास

(ECONOMIC DEVELOPMENT OF INDIA)

[भारतीय विश्वविद्यालयों के छात्रों के लिए एक विस्तृत एवं आलोचनात्मक अध्ययन]

लेखक

के० पी० माथुर
एम० ए०
अध्यक्ष
अर्थशास्त्र विभाग
हिन्दू कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

चैनसिंह बरला
एम० ए०
प्रवक्ता
अर्थशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

आर० सी० अग्रवाल
एम० ए०, एम० कॉम०
अध्यक्ष
स्नातकोत्तर वाणिज्य विभाग
श्री जैन (पोस्ट-ग्रेजुएट) कॉलेज, बीकानेर

[पूर्णतः संशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण]
१६७०

रतन प्रकाशन मन्दिर
पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता
प्रधान कार्यालय : अस्पताल मार्ग, आगरा-३

पूर्णत संशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण १९७०

मूल्य बारह रुपये पचास पैसे मात्र

प्रकाशक रतन प्रकाशन मन्दिर



प्रधान कार्यालय हॉस्पीटल रोड, आगरा-३



शाखाएँ न्यू मार्केट राजामण्डी, आगरा २ ● ५६९३, नई सड़क, दिल्ली ● गोराकुण्ड, इन्दौर ● धामानी मार्केट, चौड़ा रास्ता, जयपुर ● मैस्टन रोड, कानपुर ● अमीनाबाद पार्क, लखनऊ ● वैस्टन कचहरी रोड, मेरठ ● खजांची रोड, पटना-४ ।

प्रेमचन्द जैन द्वारा
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, १/११ महात्मा गांधी मार्ग आगरा २ मे मुद्रित

संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण की भूमिका

'भारत के आर्थिक विकास' का यह संशोधित संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमे अपार हर्ष एवं सन्तोष का अनुभव हो रहा है। शिक्षक एवं विद्यार्थी वर्ग ने पुस्तक का जो भव्य स्वागत किया है उसके लिए हम उन्हे हार्दिक धन्यवाद देते है। आर्थिक जगत मे हो रहे परिवर्तनो को ध्यान मे रखते हुए इस बार पुस्तक को बिल्कुल नये सिरे से लिखा गया है। पिछली विषय-सामग्री में महत्त्वपूर्ण संशोधन करने के साथ-साथ आधो से अधिक नवीन विषय-सामग्री को सम्मिलित किया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक मे यथाशक्ति नवीनतम तथ्य एव आँकडो का समावेश किया गया है। अन्य बातों के साथ-साथ प्रत्येक अध्याय मे से घिसी-पिटी बातो को निकालकर नवीन प्रवृतियो तथा आलोचनात्मक समीक्षा को प्राथमिक स्थान दिया गया है। २० अप्रेल, १९६९ को चतुर्थ योजना १९६९-७४ का प्रारूप संसद मे प्रस्तुत हुआ था, उसे भी पुस्तक की विषय-सामग्री मे यथास्थान सम्मिलित कर लिया गया है

आशा है कि पुस्तक का यह नया स्वरूप विद्यार्थियो, अध्यापको एव सामान्य पाठको के लिए अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध होगा। पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए जिन प्राध्यापक बन्धुओ और छात्रो ने उपयोगी सुझाव दिये है उनके प्रति भी लेखक आभार प्रदर्शित करते है और आशा करते हैं कि भविष्य मे भी वे इसी प्रकार अपने अमूल्य सुझावो को भेजकर अनुगृहित करेंगे।

—लेखकगण

विषय-सूची

प्रथम खण्ड
परिचय, प्राकृतिक साधन, अर्थ-व्यवस्था एवं जनसंख्या

अध्याय		पृष्ठ-संख्या
१.	भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण	१—७
२.	भारत की प्राकृतिक स्थिति एवं प्राकृतिक साधन	८—२७
३.	सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाएँ	२८—४१
४.	स्वतन्त्रता से पूर्व भारत की अर्थ-व्यवस्था	४२—५७
५.	१९वीं शताब्दी में आर्थिक विकास अथवा सम्पत्ति का उत्सारण (Economic Drain)	५८—६४
६.	भारत की जनसंख्या	६५—७९

द्वितीय खण्ड
भारतीय कृषि एवं कृषि सम्बन्धी समस्यायें

७.	भारत की खाद्य समस्या	८०—९४
८.	भारतीय कृषि—एक सामान्य अध्ययन	९५—१०७
९.	भारत में भूमि व्यवस्था एवं सुधार	१०८—१२८
१०.	भूमि के उप-विभाजन एवं अपखण्डन की समस्या	१२९—१४३
११.	भारत में कृषि उत्पादन तथा विकास	१४४—१५६
१२.	नवीन कृषि नीति तथा पैकेज कार्यक्रम	१५७—१६६
१३.	ग्रामीण साख	१६७—१८४
१४.	कृषि पदार्थों का विपणन	१८५—१९७
१५.	भारत में सिंचाई के साधन	१९८—२०६
१६.	भारत की नदी घाटी योजना	२०७—२१४
१७.	कृषि श्रमिक अथवा खेतिहर मजदूर	२१५—२२३
१८.	भारत में अकाल	२२४—२३७
१९.	भारत में सहकारी आंदोलन (१)	२३८—२५५
२०.	भारत में सहकारी आंदोलन (२)	२५६—२६५
२१.	सामुदायिक विकास योजनाएँ	२६६—२७३
२२.	भारत में योजनाकाल में कृषि विकास	२७४—२७९

तृतीय खण्ड
भारतीय उद्योग
(Indian Industries)

२३	भारतीय उद्योगों का विकास—एक सामान्य अध्ययन	....	२८३—३०२
२४	भारत के वृहत-स्तरीय उद्योग सूती वस्त्र तथा जूट उद्योग	....	३०३—३१७
२५.	वृहत-स्तरीय उद्योग, लौह एवं इस्पात तथा चीनी उद्योग—[क्रमश]		३१८—३२८
२६.	अन्य वृहत स्तरीय उद्योग	....	३२९—३३८
२७	कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योग	....	३३९—३५३
२८	औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन	....	३५४—३८०
२९.	प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली	....	३८१—
३०	राज्य और उद्योग	....	३९५—४०३
३१.	भारत सरकार की औद्योगिक नीति	....	४०४—४१३
३२	भारत मे राजकीय अथवा सार्वजनिक उपक्रम	....	४१४—४२२
३३	राजकीय उपक्रमो की कार्यप्रणाली एव समस्याए	....	४२३—४२७
३४	औद्योगिक उत्पादकता	....	४२८—४३४
३५.	भारत मे उत्पादकता आन्दोलन	....	४३५—४३९
३६	औद्योगिक नियोजन एव उसकी समस्याए	...	४४०—४४९
३७	भारत की प्रशुल्क नीति	....	४५०—४५७
३८	विदेशी पूंजी	..	४५८—४६३

चतुर्थ खण्ड
श्रम (Labour)

३९.	भारत मे औद्योगिक श्रम, श्रम-सगठन, औद्योगिक सम्बन्ध तथा प्रबन्ध मे श्रमिको का भाग		४६७—४८२
४०	भारत मे श्रम कल्याण	.	४८३—४९१
४१	भारत मे सामाजिक सुरक्षा	....	४९२—४९७
४२	भारत मे बेरोजगारी की समस्या	....	४९८—५०३

पचम खण्ड
विदेशी व्यापार तथा यातायात
(Foreign Trade & Transport)

४३.	भारत का विदेशी व्यापार	....	५०४—५३६
४४	भारत मे यातायात के साधन—रलव	....	५३७—५५४
४५	भारत मे सडके तथा सडक यातायात	....	५५५—५६८
४६.	भारत मे जल तथा वायु परिवहन	....	५६९—५८२

षष्ठम खण्ड
भारत मे नियोजन
(Planning in India)

४७	भारत मे आर्थिक नियोजन	....	५८५—६००
४८	चतुर्थ पचवर्षीय योजना की रूपरेखा (१९६९-१९७४)	...	६०१—६१०

प्रथम खण्ड

परिचय, प्राकृतिक साधन, अर्थ-व्यवस्था एवं जनसंख्या

१

भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण

विश्व के विभिन्न देशो मे आर्थिक विकास की गति तथा प्रक्रिया मे पर्याप्त अंतर रहा है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। यदि हम अपने चारो ओर दृष्टिपात करें तो हमे यह सहज ही अनुभव हो सकता है कि संयुक्त राज्य अमरीका, पश्चिमी जर्मनी, फास, कनाडा तथा इंग्लैंड आदि विश्व के धनी देशो मे से है जहाँ आर्थिक विकास की गति बहुत तीव्र रही है। दूसरी ओर जापान है जो विश्व-अर्थव्यवस्था के मानचित्र पर एक नए नक्षत्र के रूप मे उभर रहा है जबकि इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था मे शनै शनै शिथिलता आ रही है। विकसित देशो मे जहाँ लोगो को सामान्य रूप से उच्च जीवन-स्तर के लिए आवश्यक समस्त सुविधाएँ उपलब्ध है, लेटिन अमरीका, अफ्रीका तथा एशियाई देशो की जनता का एक बहुत बडा भाग भोजन, मकान तथा वस्त्र की न्यूनतम आवश्यकताओं से भी वंचित है।

प्रोफेसर रोस्टव ने कुछ वर्षो पूर्व प्रकाशित एक पुस्तक मे विश्व के विभिन्न देशो की आर्थिक विकास की अवस्थाओं को पाँच भागो मे विभाजित किया। वस्तुत: किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन इसी दृष्टिकोण के साथ करना चाहिए कि वह देश विकास की अमुक अवस्था मे है तथा विकासोन्मुख होकर अगली अवस्था मे पहुँचने का यत्न कर रहा है अथवा परागति के कारण पिछडता जा रहा है।

आर्थिक विकास की अवस्थाएँ[1] —

(१) परंपरागत समाज :

रोस्टव ने विकास की प्रथम अवस्था परम्परागत समाज के रूप मे दर्शायी है। इस अवस्था मे प्री न्यूटोनियन युग की प्राविधियो तथा प्रणाली के माध्यम से उत्पादन किया जाता है। साधारणतया कृषि तथा उद्योगो मे परम्परागत तरीकों से काम किया जाता है, यंत्रो—विशेषकर शक्तिचालित यंत्रो का उपयोग नही किया जाता तथा सीमित उत्पादन होने के कारण विनिमय व्यवस्था भी परिमित ही रहती है।

(२) स्वयं-स्फूर्त विकास से पूर्व की स्थिति :

रोस्टव ने विकास की दूसरी अवस्था को स्वयं-स्फूर्त विकास से पूर्व की स्थिति (Pre-Conditions for Take Off) माना है। परपरागत समाज मे जब पुराने मूल्यों के स्थान पर नए वातावरण को प्रतिस्थापित करने के प्रयास प्रारम्भ हो जाते हैं तो यह स्थिति उत्पन्न होती है। इस अवस्था मे उत्पादन प्रक्रिया परपरागत न रह कर नवीनता की ओर प्रवृत्त होती है। आर्थिक सस्थाओ, जैसे बैंक, बीमा कम्पनियां तथा व्यवसायिक संस्थाओ का आविर्भाव होता है

1. W. W. Rostow : The Stages of Economic Growth Chapters 1 & 2.

तथा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अथवा इसके एक बड़े भाग में चेतना का संचार होता है। उत्पादन-प्रक्रिया में वाष्प अथवा किसी सीमा तथा विद्युत शक्ति का उपयोग होता है और वृहत्-स्तर पर उत्पादन होने के कारण विनिमय का क्षेत्र बड़ा हो जाता है। परन्तु इस अवस्था में जो भी परिवर्तन प्रारम्भ होते हैं उनमें विदेशी पूंजी एवं प्राविधि का योगदान मुख्य रहता है। परन्तु इस अवस्था में भी आर्थिक विकास एक सामान्य क्रम नहीं बन पाता।

(३) स्वयं स्फूर्त अवस्था :

आर्थिक विकास की तीसरी अवस्था को रोस्टव ने स्वय-स्फूर्त अवस्था (Take Off) की संज्ञा दी है। इस अवस्था में आर्थिक विकास एक सामान्य क्रम बन जाता है और प्राविधि अथवा पूंजी के लिए देश-विदेशों पर निर्भर नहीं रहता। नई प्राविधियों के माध्यम से उद्योगों व कृषि में उत्पादन-वृद्धि का क्रम स्वयमेव चलता रहता है। विशेष रूप से इस स्थिति में औद्योगिक विकास की गति कृषि की अपेक्षा अधिक तीव्र रहती है। विनियोग तथा बचत का राष्ट्रीय आय में अनुपात १०% या इससे अधिक रहता है। रोस्टव ने यह भी बताया कि विकास की इस अवस्था में शिक्षा तथा प्राविधिक प्रशिक्षण के साथ साथ रेलों, सड़कों और संचार वाहन के साधनों का भी विकास हो जाता है।

(४) परिपक्वता की स्थिति

चौथी अवस्था में अर्थव्यवस्था परिपक्वता की ओर उन्मुख होती है। इसे रोस्टव ने Drive to Maturity की संज्ञा दी है। इस अवस्था में विनियोग तथा बचत की दर २०% तक पहुँच जाती है। आधुनिक प्राविधियों के इष्टतम उपयोग द्वारा राष्ट्रीय आय की वृद्धि का क्रम जारी रहता है और जनसंख्या की वृद्धि की अपेक्षा आय-वृद्धि की दर अधिक हो जाती है। रोस्टव के मतानुसार साधारणतया स्वय-स्फूर्त अवस्था से परिपक्वता की स्थिति तक पहुँचने में किसी देश को ६० वर्ष लग जाते हैं।

विकास की अन्तिम अवस्था उच्च-स्तरीय उपभोग (The Age of High Mass Consumption) की होती है। प्रथम तीन अवस्थाओं में उन वस्तुओं के उपयोग को विलासिता माना जाता है।

(५) उच्चस्तरीय उपभोग की अवस्था

पांचवी और अन्तिम अवस्था में वे ही सामान्य वस्तुएँ बन जाती हैं और सर्व साधारण उनका उपयोग करने की स्थिति में हो जाता है। इसके पूर्व की दशाओं में उत्पादन (उद्योगों व कृषि में) की वृद्धि को उपभोग की अपेक्षा अधिक प्राथमिकता दी जाती है लेकिन इस अवस्था में उपभोग की वस्तुओं की उपलब्धि साधारण मूल्यों पर होने लगती है।

भारत इनमें किस अवस्था में है ?

यदि विश्व के विभिन्न देशों की ओर दृष्टिपात किया जाय तो हमें ऐसा अनुभव होगा कि संयुक्त राज्य अमरीका, जापान, फ्रांस, इग्लैंड, कनाडा, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया तथा पश्चिमी यूरोप के देश पांचवी अवस्था तक पहुँच चुके हैं। रोस्टव ने कहा कि १९ वीं शताब्दी में स्वय-स्फूर्त अवस्था तक पहुँचने वाले देश इस प्रकार थे

स० रा० अमरीका (१८५०), ब्रिटेन (१७८०), फ्रांस (१८३०) तथा जापान (१८७५)।

भारत के लिए उनका मत था कि इस देश में १९५० के बाद स्वय-स्फूर्त अवस्था प्रारंभ हुई। परन्तु यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है कि भारत इनमें से विकास की किस अवस्था में है ? हमारी विदेशों पर निर्भरता बढ़ती जा रही है तथा चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी कुल विनियोग का पांचवें से अधिक भाग विदेशी सहायता के रूप में हमें लेना होगा।

परन्तु दूसरी ओर उपभोग्य वस्तुओं की तेजी से बढ़ती हुई उपलब्धि इस बात का संकेत भी देती है कि भारत में पांचवी अवस्था यानी उच्च स्तर के उपभोग की अवस्था भी विद्यमान है। परन्तु इससे भी विचित्र स्थिति यह है कि आज भी कृषि तथा हस्तकलाओं के एक बड़े क्षेत्र में परम्परागत प्राविधि द्वारा उत्पादन किया जाता है और इस क्षेत्र का बाह्य जगत से नाम मात्र को ही संबन्ध दिखाई देता है। कुल मिलाकर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि भारत रोस्टव द्वारा

प्रस्तुत आर्थिक अवस्थाओं में किसी एक अवस्था में नहीं है अपितु प्रथम से लेकर पाचवी तक सभी अवस्थाओं के लक्षण यहाँ विद्यमान है। इसीलिए भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षणों के विश्लेषण की आवश्यकता अनुभव की जाती है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण :

भारतीय अर्थव्यवस्था मे वे सभी लक्षण विद्यमान हैं जो अल्पविकसित देशों में विद्यमान होने चाहिए। अल्पविकसित देशो के प्रमुख लक्षण विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने इस प्रकार बताए है :[1]

(१) निर्धनता (२) विकास को धीमी गति (३) बचत तथा विनियोग का निम्न स्तर (४) परम्परागत प्राविधि (५) सामाजिक चेतना का अभाव (६) निम्न जीवन स्तर (७) औद्योगीकरण का अभाव।

इनके अतिरिक्त देश-विशेष में और भी ऐसे घटक हो सकते है जो अर्थव्यवस्था के विकास को अवरुद्ध करते हैं। हम इन्हीं सबके संदर्भ मे भारतीय अर्थव्यवस्था की समीक्षा करेंगे।

(१) निर्धनता तथा प्रति व्यक्ति नीची आय—प्रो० हेगन ने प्रति व्यक्ति वार्षिक आय के आधार पर विश्व के सभी देशों को पाँच श्रेणियों मे बाँटा है। प्रथम श्रेणी में एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका के वे देश है जहाँ प्रति व्यक्ति आय १०० डालर से कम है। एशियाई देशों मे भारत, पाकिस्तान, बर्मा, अफगानिस्तान, चीन व नेपाल को सम्मिलित किया गया है। द्वितीय श्रेणी के देशों मे प्रति व्यक्ति आय १०० से ३०० डालर तक है तथा एशिया के श्रीलंका एवं इंडोनेशिया सम्मिलित है। तृतीय श्रेणी के देशों में प्रतिव्यक्ति आय ३०० से ६०० डालर मानी गई है तथा इनमे पूर्वी यूरोप के देश मलेशिया, सिंगापुर तथा जापान सम्मिलित किए गए है। चौथी श्रेणी मे पश्चिमी जर्मनी, बेल्जियम, फ्रांस, ब्रिटेन व इजरायल आदि देश रखे गये है जहाँ प्रति व्यक्ति आय ६०० से लेकर १२०० डालर है। अंतिम श्रेणी में मध्य पूर्व के कुवैत व कटार संयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैंड, लक्जम्बर्ग, स्वेडन तथा कनाडा लिए गए है जहाँ प्रति व्यक्ति आय का औसत १२०० डालर से अधिक है। इस प्रकार आय की दृष्टि से भारत विश्व के अनेक देशों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है। आर्थिक नियोजन के प्रारंभ मे (१९५०-५१ मे) भारत मे प्रति व्यक्ति आय ५० डालर (लगभग २५० रुपये) थी, परन्तु १९६७-६८ तक भी प्रति व्यक्ति आय ६७ डालर (३३६ रुपये) तक ही बढ़ सकी। १९६८-६९ के लिए प्रति व्यक्ति आय ३३१ रुपये ही अनुमानित की गई है।[2]

(२) विकास की धीमी गति--भारत का आर्थिक विकास मूलतः प्रकृति की कृपा पर निर्भर करता है। निम्न तालिका यह स्पष्ट करती है कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि भारत मे बहुत ही कम रही है [3]

वास्तविक राष्ट्रीय आय की वृद्धि (प्रतिशत-वार्षिक)

प्रथम पचवर्षीय योजना	२·३
द्वितीय पंचवर्षीय योजना	३ ६
तृतीय पचवर्षीय योजना	४ १
१९६५-६६	—५ ७
१९६६-६७	१·१
१९६७-६८	८ ९
१९६८-६९ (अनुमानित)	३ ०

1. For details see :—
   (a) Economics of under developed countries by Bauer & Yamey chapters 1 to 5.
   (b) Some facts about Income Levels & Economic Growth by E. E Hagen in Review of Economics & Statistics February, 1960.
   (c) Leading Issues in Development Economics by G M. Meier (1964) p. 8-12.
2. Economic Times February 22, 1969.
3. Economic Survey 1968-69

इस प्रकार विकास की ये दरें एक निराशाजनक चित्र ही प्रस्तुत करती है। दूसरी ओर जापान जर्मनी स० राज्य अमरीका आदि देश है जहाँ वास्तविक राष्ट्रीय आय की औसत वार्षिक वृद्धि ७ से १०% तक है। जापान मे तो विकास की गति प्रगतिशील रूप से बढ रही है जबकि भारत म १९६८ ६९ म विकास की गति द्वितीय व तृतीय योजना काल से भी कम थी।

(३) **बचत तथा विनियोग का निम्न स्तर**—प्रो० रोस्टव ने स्वय स्फूर्ति अवस्था के लिए यह माना था कि राष्ट्रीय आय का १०% नई पूँजी हेतु प्रयुक्त किया जाय तथा यह पूँजी देश मे ही उपलब्ध होनी चाहिए। भारत मे १९५० ५१ में कुल राष्ट्रीय आय का ७ से ८% ही विनियोग किया जाता था। बचत का अनुपात लगभग ५% था। १९६८ ६९ के आर्थिक सर्वेक्षण के अनुसार १९६५ ६६ मे यह अनुपात १०% तक पहुँचने के बाद १९६७ ६८ मे ८% तक गिर गया। उस वर्ष विनियोग का अनुपात लगभग १४% था। इसका यह अर्थ हुआ कि हमे पूँजी निर्माण के लिए काफी सीमा तक विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड रहा है। १९६८ ६९ मे राष्ट्रीय आय मे बचत का अनुपात ९% था जिसे चौथी योजना के अन्त तक १२ ६% तक बढाया जायगा। पर वह स्तर भी हमारे विनियोग के स्तर से नीचा रहेगा और फलत हमे विदेशी पूँजी पर निर्भर रहना पडेगा।

(४) **परम्परागत प्राविधि**—भारतीय कृषि तथा उद्योग दोनो के क्षेत्र म जिस प्राविधि का उपयोग किया जाता है वह अन्य देशो की अपेक्षा काफी पुरानी है। यहा के ७५% खेत आकार में बहुत छोटे होने के कारण यन्त्रीकरण के लिए सर्वथा उपयुक्त नही है। उद्योगो के क्षेत्र में भी यहाँ स्वचालन की ओर हमारी प्रगति की रफ्तार बहुत ही धीमी है। सूती वस्त्र उद्योग के क्षेत्र म जहा हागकाग व अमरीका के १००% कारखाने स्वचालित है भारत म १७ १८% कारखाने ही इस अवस्था को प्राप्त कर सके है। जूट के क्षेत्र म भारत के कारखाने पाकिस्तान की अपेक्षा पुराने तथा परम्परागत है। यन्त्रीकरण अत्यन्त सीमित होने के कारण यहा **उत्पादन प्रक्रिया मे समय तथा श्रम अधिक लगता है तथा उत्पादन लागत भी ऊची आती है।** उदाहरण के लिए प्रति श्रमिक सूती वस्त्र का उत्पादन भारत की अपेक्षा अमरीका में ६ गुना फिनलैंड में तीन गुना ब्रिटेन में १ ७ गुना व हागकाग म २ गुना है। (See the Pamphlet—op cit p 23)

(५) **सामाजिक चेतना का अभाव**—जाति प्रथा तथा सयुक्त परिवार प्रणाली के रूप म भारत में ऐसी सामाजिक सस्थाए है जिन्होने व्यापक स्तर पर अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया हुआ है। वस्तुत शिक्षा के अभाव म जनसाधारण का दृष्टिकोण सकीर्ण बना रहा है। श्रम की गतिशीलता नही बढ पाती और दूसरी ओर कुछ ही क्षेत्रों म श्रम का केन्द्रीयकरण होने के कारण बेकारी एव अर्ध बेकारी की समस्याए उत्पन्न हो जाती हैं। सामाजिक प्रथाओ पर (विवाह मृत्यु भोज मुण्डन आदि) पर्याप्त अपव्यय होता है और अधिकाश लोग ऋण के भार से दबे रहते हैं।

(६) **निम्न जीवन स्तर**—जीवन स्तर साधारणतया आय पर निर्भर करता है। चूँकि भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय ही बहुत कम है यहा जीवन स्तर भी बहुत नीचा है। प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों का औसत उपभोग भारत में २२०० कैलोरी ही है जबकि एक स्वस्थ तथा कार्य शील व्यक्ति को दैनिक भोजन म २७०० से ३००० कैलोरी की आवश्यकता है। वस्त्रो का औसत उपयोग (वार्षिक) भारत म १५ से १६ मीटर है जबकि एक व्यक्ति को भारत जैसी जलवायु के अन्तर्गत १८ से २० मीटर वार्षिक की न्यूनतम आवश्यकता है।

स्थायी उपभोग्य की वस्तुओ का उपयोग (औसत) भी भारत म बहुत कम है। रेडियो का औसत उपयोग भारत में अन्य देशो की अपेक्षा कितना कम है यह निम्न तालिका से स्पष्ट होता है [1]

(प्रति रेडियो जनसख्या)

भारत ५०० पाकिस्तान ४१० आस्ट्रेलिया ४ इग्लैंड तथा जापान २ ७ अमरीका ० ८। भारत में १० हजार व्यक्तियो के पीछे एक डाक्टर है जबकि अमरीका में ६६७

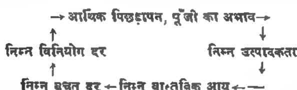
1 Economic Times December 2 1968

व्यक्तियों के पीछे तथा कनाडा मे ८५० व्यक्तियों के पीछे एक डाक्टर है।[1] इसी प्रकार सीमेंट, शकर और अन्य बहुत सी वस्तुओ का औसत उपभोग भारत में अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। जीवन स्तर नीचा होने के कारण यहां श्रमिकों की कार्य क्षमता भी बहुत नीची है।

(७) औद्योगीकरण का अभाव—किसी भी देश में औद्योगीकरण की सीमा का अनुमान वहाँ राष्ट्रीय आय में उद्योगो के योगदान से लगाया जाता है। भारत मे १९५०-५१ मे राष्ट्रीय आय का आधे से अधिक भाग कृषि से प्राप्त होता था और उद्योगों से प्राप्त आय का अनुपात १७% था। १९६७-६८ में कृषि से प्राप्त आय का अनुपात ४६% और उद्योगों से प्राप्त आय का अनुपात १८% हो गया। इसका यह अर्थ हुआ कि उद्योगों का भारतीय अर्थव्यवस्था में योगदान बहुत कम है। विकसित देशों में यह अनुपात ३५ से ४०% रहता है।

यद्यपि पिछले पंद्रह वर्षो मे आधारभूत उद्योगो जैसे रसायन, इस्पात, भारी इन्जीनियरिंग आदि उद्योगो का पर्याप्त विकास हुआ है, फिर भी देश की जनसंख्या व क्षेत्र को देखते हुए आज भी देश में वह वातावरण नही बन सका है जो बृहत् स्तरीय उद्योगो के द्रुत एवं सतुलित विकास हेतु आवश्यक है। यही नही, कृषि पर निर्भर जनसंख्या का अनुपात देश की जनसंख्या का दो तिहाई है जब कि बडे उद्योगो में कार्यशील जनसख्या का १०% अनुपात भी नही है। बडे उद्योगों, खानों, निर्माण और विद्युत-सृजन में भारत की कुल जनसंख्या का ११.४% अनुपात सलग्न है जबकि विश्व के कुछ महत्वपूर्ण देशों में यह अनुपात इस प्रकार है[2] (प्रतिशत में) (१९६५ में)—पश्चिमी जर्मनी ४८.४; ब्रिटेन ४५.२; इटली ४०.४, आस्ट्रेलिया ३९.३, जापान ३१.५ तथा कनाडा ३२.३। **यहाँ तक कि श्री लंका, कोरिया, ईरान, सं० अरब गणराज्य तथा पीरू जैसे अल्प-विकसित देशों में भी औद्योगिक श्रम-जीवियों की संख्या भारत से अधिक है।**

(८) आर्थिक कुचक्र—मिएर तथा बाल्डविन के मत में अल्पविकसित देशों मे आर्थिक कुचक्र भी आर्थिक विकास को अवरुद्ध करते है। इन आधारभूत कुचक्रों को वे इस प्रकार चित्रित करते है।[3]



जब तक ये कुचक्र है और आतरिक या बाह्य साधनों से इसको तोड़ नही दिया जाता विकास नहीं होगा। भारत मे दुर्भाग्य से यह कुचक्र अर्थव्यवस्था के अनेक क्षेत्रों मे आज भी विद्यमान है तथा विकास की धीमी गति का यही मुख्य कारण है।

(९) जनसख्या का भार—भारत विश्व के उन देशों मे से एक है जहां जनसख्या-विस्फोट की समस्या भयंकर रूप लिए हुए है। बहुधा आर्थिक विकास के साथ-साथ देश की जनता का दृष्टिकोण भौतिकवादी होता जाता है तथा अधिकाश लोग उच्चतर जीवनस्तर की ओर प्रवृत्त होते हैं। यही कारण है कि आर्थिक विकास के साथ-साथ सामान्यत जनसंख्या की वृद्धि दर मे कमी होती है।

परन्तु भारत मे इसके विपरीत स्थिति दिखाई देती है। १९५०-५१ के पूर्व जनसंख्या की वृद्धि दर १% से १.२% प्रतिवर्ष रही थी परन्तु इसके बाद इसमे प्रगतिशील दर से वृद्धि हुई है तथा १९६१ के बाद से यह २.५% के लगभग चल रही है। कृषि मे जो भारत का सबसे बडा व्यवसाय है, उत्पादन की वृद्धि दर जनसख्या की अपेक्षा कम है। यही कारण है कि भारत मे खाद्यान्न एवं कच्चे माल का घोर अभाव सर्वत्र दिखाई देता है। बेकारी तथा अर्धबेकारी की समस्याएँ

1. Ibid February 24, 1969
2. See Commerce Annual Number 1968 p. 274
3. Meier & Baldwin : Economics of Development (Asia) pp. 324-26

भी जनसख्या की आशातीत वृद्धि के ही परिणाममात्र हैं। वोल्फ तथा सफिन ने लिखा है "बेकारी तथा अर्धबेकारी के कारण भारत में प्रतिवर्ष इतने श्रम-वर्ष नष्ट होते हैं जितने कि अमरीका के समस्त श्रमिक मिलकर उत्पादक कार्यों में लगाते है।[1] जितनी समूचे आस्ट्रेलिया की जनसख्या है उतनी तो भारत में जनसख्या की वार्षिक वृद्धि ही हो जाती है।

(१०) साहस का अभाव—भारत मे इन सब लक्षणो के बावजूद आर्थिक विकास की गति काफी अधिक हो सकती थी यदि यहा के लोगो मे साहस की भावना होती। भारत प्राकृतिक साधनो की दृष्टि से एक सम्पन्न देश है और इनके सीमित उपयोग का एक मात्र कारण ही आवश्यक पूँजी तथा साहस की कमी है। १९वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे तथा स्वतन्त्रता के पूर्व तक विदेशी पूजीपतियो ने पूँजी का विनियोग करके उद्योगो का विकास किया। भारतीय पूजीपतियो मे केवल कुछ ही लोगो ने इस क्षेत्र मे पदार्पण किया। परन्तु कुल मिलाकर विदेशी पूँजीपतियो के साहस की भारी कीमत हमे चुकानी पड़ी।

आजादी के बाद भी भारतीय उद्योगपतियो मे जोखिम लेने की प्रवृत्ति का पर्याप्त विकास नहीं हो सका और इसीलिए प्राकृतिक साधनो का आशानुसार विदोहन नही हो सका। जर्मनी तथा जापान द्वितीय महायुद्ध के बाद बुरी तरह नष्ट हो गए थे परन्तु वहाँ के निवासियो के अदम्य साहस के कारण १५ वर्ष के भीतर उन्होंने अपने खोए हुए वैभव को ही प्राप्त नही कर लिया अपितु आज उनके विकास की दर बहुत अधिक है।

भारत में परिवहन व सचार वाहन के साधनो का पर्याप्त विकास नहीं हो सका है।[2] सड़को तथा रेलो की दृष्टि से हमारा देश विश्व के अन्य देशो की तुलना मे बहुत पीछे है। परिवहन के साधन औद्योगिक तथा कृषि आदि के विकास हेतु एक आवश्यक शर्त है। जब तक यातायात के साधनो का पर्याप्त विकास नही होता औद्योगिक विकास की सम्भावनाएँ भी सीमित रहेगी। जापान व सयुक्त राज्य अमरीका मे जहा १०० वर्गमील क्षेत्र के पीछे क्रमश ४०० व ११० मील लम्बी सड़क है भारत मे कच्ची सडको को मिलाकर भी यह अनुपात केवल ४७ मील है।

(११) विनिमय व्यवस्था का सीमित होना—विश्व के अन्य देशों में जहा उत्पादन विनिमय के लिए किया जाता है भारत मे अधिकाश व्यक्ति विशेषरूप से कृषक स्वय के उपभोग की चिन्ता पहले करते है। यही कारण है कि खाद्यान्नो के उत्पादन का केवल १/३ भाग बाजार मे बिकने को जाता है।

गैर कृषि क्षेत्र मे सलग्न व्यक्तियो मे अधिकाश ग्रामोद्योगो मे लगे हुए है जो कृषको की जरूरते ही पूरी करते है। गावों मे इन सेवाओ के बदले मुद्रा के स्थान पर जिन्स प्राप्त होती है। इस प्रकार कृषि उपज के अतिरिक्त ग्रामोद्योगों के क्षेत्र मे भी विनिमय व्यवस्था भारत में बहुत सीमित है।

(१२) आय तथा सम्पत्ति का विषम वितरण[3]—हमारी पचवर्षीय योजनाओ मे समाजवादी समाज की रचना का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इसके बावजूद धन तथा आय का वितरण काफी विषम है। डा० पी० सी० महलनबीस ने बताया कि देश के १४% परिवार कुल आय का ५०% भाग प्राप्त करते है। सम्पत्ति का वितरण शहरो की अपेक्षा गाँवो मे अधिक विषम है। २०% कृषक परिवार भूमिहीन है जबकि उच्च श्रेणी के कृषको के पास कृषि क्षेत्र का ४०% केन्द्रित है। शहरो मे केवल ५% परिवारो के पास कुल शहरी सम्पत्ति का ५२% केन्द्रित है जबकि २०% निचले वर्ग के पास कोई सम्पत्ति नही है।

---

1 C Wolf and S C Sufrin—Capital Formation and Foreign Investment in Under developed areas (1955) pp 13 14

2 भारत मे मार्च १९६६ तक कुल ट्रको की सख्या ३ लाख व बसो की सख्या ३५ हजार थी। ५२ करोड़ व्यक्तियो के पीछे ट्रको व बसो की यह सख्या बहुत कम है। इस समय देश मे केवल ११ लाख टेलीफोन व १ लाख के लगभग पोस्ट आफिस थे। इस प्रकार सचार सुविधाएँ भी हमारे देश मे बहुत निराशाजनक स्थिति मे है।—(See Yojna, April 20, 1969)

3 Based on Mahalanobis Committee Report—(1964)

पूंजी के निर्माण, निम्न स्तरीय कार्यक्षमता और साहस की कमी के लिए आय तथा सम्पत्ति के वितरण की विषमता भी काफी सीमा तक उत्तरदायी है।

भारत इन्ही सब कारणों से अब भी विकास की उस अवस्था तक नही पहुँच सका है जो हमारे प्राकृतिक साधनों और श्रमशक्ति (जनसंख्या) को देखते हुए यहाँ काफी समय पूर्व ही प्राप्त कर ली जानी चाहिए थी। खनिज पदार्थों के क्षेत्र मे लोहे की दृष्टि से भारत का स्थान विश्व में चौथा, मैगनीज की दृष्टि से तीसरा, अभ्रक की दृष्टि से प्रथम तथा कोयले की दृष्टि से सातवाँ है। कृषि क्षेत्र की दृष्टि मे भारत का स्थान विश्व मे पाचवाँ है। भारत में जल तथा वन सम्पदा पर्याप्त है। परन्तु इन सबके बावजूद उपरोक्त परिस्थितियों के कारण हमारे प्राकृतिक साधनो का उपयोग समुचित रूप मे नहीं हो पाता तथा भारत की जनता निर्धनता-ग्रस्त है।[1] इसीलिए यह कहा जाता है कि **"भारत एक धनी देश है जहाँ निर्धन लोग निवास करते हैं।"**

परन्तु यह एक प्रसन्नता की बात है कि पिछले कुछ वर्षों से विकास के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न करने वाले ये घटक जर्जरित होते जा रहे है, तथा प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता दिखाई दे रहा है। हमारी इस यात्रा मे बाधाएँ अवश्य हैं, पर पचास करोड भारतवासियों की निष्ठा एव श्रम इन्हे दूर कर सकेगा, इसमे कोई सन्देह नही है। भारत भले ही आज अल्पविकसित देश हो, निकट भविष्य मे विश्व के विकसित देशों में इसकी गणना हो सकती है। पर इसके लिए हमें उपयुक्त राजनैतिक सामाजिक एवं आर्थिक वातावरण का निर्माण करना होगा। वर्तमान मे जो राजनैतिक वातावरण है वह आर्थिक विकास के प्रतिकूल ही है और हमारा यह दृढ विश्वास है कि उपयुक्त राजकीय नीतियाँ तथा उनका निष्ठापूर्ण कार्यान्वयन किसी भी देश के आर्थिक पिछडेपन को अल्पकाल मे ही दूर करने में समर्थ हो सकता है।

---

1. विस्तार के लिए प्राकृतिक सम्पदा का अध्याय देखिए।

२

भारत की प्राकृतिक स्थिति एव प्राकृतिक साधन
(Natural Environment & Natural Resources)

प्रारम्भिक

किसी भी देश का आर्थिक विकास उस देश की प्राकृतिक स्थिति एव प्रकृति द्वारा दिए गए भौतिक तथा अभौतिक साधनो पर निर्भर करता है। डा० वीरा एन्स्टे ने ठीक ही कहा है कि ये साधन ही मुख्यत किसी देश की उपज लोगो के व्यवसाय एव जनसख्या के घनत्व तथा वितरण को निर्धारित करते है।[1] सयुक्त राज्य अमरीका इग्लैण्ड रूस तथा जर्मनी अपने प्राकृतिक व भौतिक साधनो की प्रचुरता एव अनुकूलता के ही कारण विश्व के प्रमुख देशो मे गिने जाते है। भारत मेक्सिको ब्राजील एव अफ्रीका के देश विकास के पथ पर अग्रसर होने के लिए आर्थिक नियोजन का इसीलिए आश्रय ले रहे है कि इन देशो मे भी प्रकृति उदार रही है। आज तक इनके अल्पविकसित रहने का कारण राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियो की प्रतिकूलता रही है लेकिन अब निश्चय ही इनके विकास की सभावनाएँ उज्ज्वल हो उठी है।

खनिज पदार्थ मिट्टी वन जन शक्ति तथा जलवायु पर ही देश का क्षेत्रीय व औद्योगिक विकास निर्भर करता है। भारत के मानचित्र को यदि गौर से देखा जाय तो पता चलता है कि इस विशाल देश मे प्राकृतिक दृष्टि से एक विलक्षण विविधता है। उत्तर के बर्फ से ढके हुए पहाडो के विपरीत दक्षिण की चिलचिलाती हुई गर्मी तथा राजस्थान के मरुस्थल के विपरीत आसाम के घने जगल—कैसा विरोधाभास है ? विश्व के कम ही देशो की प्रकृति मे इतनी विविधता पाई जाती हो।

भारत की स्थिति भारत एशिया महाद्वीप के दक्षिण पूर्व मे विषुवत् रेखा से ८°४' अक्षाश उत्तर से लेकर ३७°६ अक्षाश उत्तर मे तथा ६८°७ से ९०°५' पूर्वी देशान्तर मे बसा हुआ है। कर्क रेखा इसे दो बराबर भागो मे बाटती है और इस प्रकार इसका उत्तरी भाग शीतोष्ण तथा दक्षिणी भाग उष्ण कटिबन्ध मे स्थित है।

भारत का वतमान क्षेत्रफल लगभग १२ लाख ६० हजार वर्गमील है। प्रकृति ने हिमालय की पर्वत शृखलाएँ देकर इस देश को शेष एशियाई महाद्वीप से अलग कर दिया है। भारत की विशालता तथा प्रकृति की विविधता के कारण ही इसे उप महाद्वीप (Sub continent) कहा जाता है।

भौगोलिक दृष्टि से भारत की स्थिति अत्यन्त अनुकूल है। पूर्वी गोलाध के बिल्कुल बीच मे आ जाने से भारत का विदेशी व्यापार विदेशो से सुगमतापूर्वक हो सकता है। दक्षिण मे हिन्द

1 D Vera Anstey—The Economic Development of India p 11

महासागर तथा दक्षिण-पूर्व व दक्षिण-पश्चिम मे क्रमश बंगाल की खाडी एवं अरब सागर के आने से भारत को अनेक प्राकृतिक बन्दरगाह प्राप्त हो गए है, जिनसे विदेशी व्यापार मे अत्यधिक सहायता मिलती है। पूर्वी तथा पश्चिमी मार्गो से भारत विश्व के सभी देशो से समुद्री यातायात की व्यवस्था कर सकता है।

भारत की स्थिति ८°४' अक्षाश से ३७°६' अक्षाश तक होने के कारण यहाँ अनेक प्रकार की जलवायु मिलती है। जिसके कारण यहाँ सभी प्रकार की फसलें उत्पन्न की जा सकती है।

भौगोलिक खंड

भारत को मुख्यत चार भौगोलिक खण्डो मे बाँटा जाता है—

१. हिमालय का पर्वतीय क्षेत्र—इस क्षेत्र मे भारत के उत्तरी भाग मे स्थित वह पर्वतीय प्रदेश सम्मिलित है जो उत्तर मे पामीर के पठार से लेकर पूर्व मे आसाम की सीमा तक फैला हुआ है। हिमालय पर्वत माला को तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है; मुख्य हिमालय, हिमालय की उत्तरी पश्चिमी शाखा तथा हिमालय की दक्षिण-पूर्वी शाखा। यह विभाजन पर्वत माला की विभिन्न क्षेत्रों की ऊँचाई के आधार पर किया गया है। विश्व की सबसे ऊँची पर्वत-मालाएँ जैसे एवरैस्ट, कंचनचंगा, धवलगिरी आदि मुख्य हिमालय के अन्तर्गत ही आती है। मुख्य हिमालय से गगा, ब्रह्मपुत्र, सिधु तथा अनेक बडी नदियाँ निकलती है, जो इस प्रदेश के दक्षिण मे स्थित मैदानो को जल प्रदान करती है।

भारत के आर्थिक विकास मे हिमालय का सर्वाधिक योगदान रहा है। इससे निकलने वाली नदियाँ स्थायी (Perennial) है क्योकि हिमालय पर जमी वर्फ हिम-नदियो के रूप मे पिघल-पिघलकर नदियो मे निरन्तर पानी देती रहती है। इससे वर्ष-भर गंगा-सिंधु के मैदानो मे कृषि-हेतु पर्याप्त जल मिलता रहता है। यही नही, उत्तरी भारत के प्रदेशो मे पर्याप्त वर्षा होने का कारण भी हिमालय की स्थिति ही है, क्योकि ये पर्वत-मालाएँ वर्षा की हवाओ को उत्तर की ओर जाने से रोकती है। उत्तरी भारत के प्रदेशो मुख्यतः पजाव, उत्तर प्रदेश, बिहार व बगाल के हरे-भरे, खेतो की रक्षा भी हिमालय एक प्रहरी की भाति करता है क्योकि हिमालय एक अभेद्य दीवार की भाँति उत्तर की सूखी एव ठण्डी हवाओ को आने से रोकता है। हिमालय के जंगलो मे मूल्यवान लकडी व अन्य उपयोगी वस्तुएँ उपलब्ध होती है।

हिमालय के निचले पहाडी ढालो पर चाय की खेती होती है जिससे भारत को पर्याप्त विदेशी विनिमय प्राप्त होता है। सर जोशिया स्टेंप ने ठीक ही कहा है कि भारतीय कृषि (विशेष रूप से उत्तरी प्रदेशो मे) की प्रगति का मुख्य उत्तरदायित्व हिमालय पर ही है।[1]

२. गंगा और सिन्धु का मैदान—हिमालय की पर्वतमालाओ से दक्षिण मे स्थित, विश्व के सबसे अधिक उपजाऊ मैदानो मे एक, गंगा-सिन्धु का मैदान है। पाकिस्तान के अलग हो जाने के बाद इस मैदान की लम्बाई लगभग १५०० मील रह गई है तथा चौडाई लगभग २०० मील है। इस मैदान की मिट्टी दोमट मिट्टी कहलाती है, जो अत्यधिक उपजाऊ है और गगा, यमुना, गडक, घाघरा, कोसी तथा ब्रह्मपुत्र नदियो के कारण इस मैदान मे कृषि के लिए पर्याप्त जल प्राप्त हो जाता है। अत्यन्त विशाल होने के कारण इस मैदान मे विभिन्न प्रकार की जलवायु पाई जाती है, इसीलिए गेहूँ, चावल, गन्ना, जूट, चाय और विविध प्रकार की फसलें पैदा होती है। समतल होने के कारण इस मैदान मे रेलो, नहरो व सडको का जाल विछा हुआ है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही यह मैदान कृषि, दस्तकारियो तथा घनी जनसंख्या के लिए प्रसिद्ध रहा है। इतिहास के जानकार सिन्धु-घाटी की सभ्यता का उदाहरण इसी मैदान की पुरातन सभ्यता के रूप मे प्रस्तुत करते है।

१९४७ के बाद देश का विभाजन हो जाने के कारण सिन्ध तथा उसकी सहायक नदियाँ पाकिस्तान मे चली गई और इसलिए इस मैदान के महत्व पर काफी प्रभाव पड़ा।

३ दक्षिण का पठार—गंगा-सिन्ध के मैदान से दक्षिण मे यह पठार या प्रायद्वीप स्थित है। इसे प्रायद्वीपीय पठार भी कहा जाता है। समुद्र के किनारे-किनारे यह दक्षिण तक चला गया है।

1. Sir Joshia Stamp—Indian Geography.

इस पठार म अरावलि, विन्ध्याचल, सतपुडा व अनेक छोटी पर्वत श्रेणियां हैं, जिनकी ऊँचाई ५०० फुट से ९००० फुट तक है। इस पठार मे अनेक नदियाँ मिलती है जिनमे नर्मदा, ताप्ती, कावेरी, कृष्णा, महानदी और गोदावरी मुख्य हैं। पठार अत्यन्त ऊबड-खाबड है तथा इससे निकलने वाली नदिया बरसाती नदिया होने के कारण अधिक उपयोगी नही रही, यद्यपि स्वतन्त्रता के पश्चात् इन नदियों के प्रपातो से विद्युत शक्ति उत्पन्न करने के प्रयास किए जा रहे हैं।

दक्षिण के पठार का उत्तरी पूर्वी भाग घने जगलो मे ढका हुआ है और यहां आज तक भी जगली जातियां निवास करती है। यद्यपि इसी प्रदेश मे पर्याप्त लोहा व मैंगनीज उपलब्ध है। पर घने जगलो तथा यातायात के साधनो के अभाव मे आजादी के पहले तक इसका समुचित उपयोग नहीं हो सका।

प्रायद्वीप के उत्तरी पश्चिमी भाग मे लावा से बनी हुई काली मिट्टी उपलब्ध है, जो कपास के लिए अत्यधिक उपयोगी है। यही प्रदेश शताब्दियो से कपास उत्पन्न करता रहा है तथा प्राचीन समय मे भारत के सुप्रसिद्ध वस्त्रा का निर्माण मुख्यत. भारत के इन्ही प्रदेशो मे उत्पन्न होने वाली कपास से होता था। आज भी भारतीय उद्योगो मे वस्त्र उद्योग सबसे बडा है और उसका श्रेय इसी प्रदेश को दिया जा सकता है।

लेकिन इस प्रायद्वीप का अधिकाश भाग समतल तथा उपजाऊ नही है और इसीलिए कृषि यातायात के साधनो अथवा उद्योगो का यहा विकास नही हो सका तथा जनसख्या भी उत्तर के मैदानो की अपेक्षा कम रही है।

४. पूर्वी तथा पश्चिमी तट—दक्षिण के पठार के पूर्व एव पश्चिम मे समुद्र के किनारे-किनारे मैदानो की जो पट्टिया है, उन्हे पूर्वी तथा पश्चिमी तट कहा जाता है। पश्चिमी तट अरब सागर व पश्चिमी घाट के बीच है। इसका मैदान पूर्वी तट की अपेक्षा कम चौडा है तथा इस तट के दक्षिणी भाग म औसतन १०० इच वर्षा साल-भर मे हो जाती है। मैदानी इलाको मे नारियल, गरम मसाले प्रचुर मात्रा म पैदा होते हैं। इस तट के उत्तरी भाग को कोकण तथा दक्षिणी भाग को मलाबार कहते हैं।

पूर्वी तट पश्चिमी तट की अपेक्षा अधिक चौडे है। यह तट पूर्वी घाट तथा बगाल की खाडी के बीच स्थित है। नदियाँ (जिनमे गोदावरी, कृष्णा, कावेरी तथा महानदी मुख्य हैं) के मुहानो पर सुन्दर वन हैं जिनकी लकडी दियासलाई उद्योग के लिए उपयोगी है। मैदानी इलाको मे चावल, जूट व गन्ने की पर्याप्त मात्रा मे खेती की जाती है।

भारत की जलवायु (Climatic Conditions)

किसी भी देश के लोगो की आर्थिक क्रियाएं तथा जनसख्या का घनत्व काफी सीमा तक वहा की जलवायु पर निर्भर करते है। प्राकृतिक साधन (भौतिक) प्रचुर मात्रा मे होने पर भी तापक्रम एव वर्षा की प्रतिकूल परिस्थितियाँ उस देश के आर्थिक विकास मे अवरोध उत्पन्न कर देती हैं।

भारत एक बहुत बडा देश है और इसीलिए यहां विभिन्न प्रकार की जलवायु का पाया जाना अस्वाभाविक नही है। उत्तरी प्रदेशो मे विषुवत् रेखा से दूर होने तथा हिमालय पर्वतमाला के कारण तापक्रम दक्षिणी प्रदेशो की अपेक्षा कम रहता है। दक्षिणी प्रदेशो मे बहुत गर्मी पडती है, जबकि उत्तरी प्रदेशो के पूर्वी भाग मे गर्मी साधारण तथा पश्चिमी भाग मे रेगिस्तान होने के कारण मौसम शुष्क तथा गर्म रहता है।

वर्षा—वर्षा की दृष्टि से भारत के अधिकाश प्रदेशो की स्थिति अत्यन्त विकट रही है। आसाम के चेरापूंजी नामक स्थान पर लगभग ५००" वर्षा वर्ष-भर मे होती है जबकि पश्चिम मे राजस्थान के कुछ भागो मे यह औसत १०" से भी कम है। बगाल, आसाम, पश्चिमी घाट और समुद्र तट मे वर्षा का वार्षिक औसत १००" के लगभग है। उत्तर प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, मैसूर व आध्र प्रदेशो मे वर्षा का औसत ५०" से ७०" तक है। पजाब तथा राजस्थान के कुछ इलाको मे वर्षा १५" से भी कम होती है। राजस्थान का थार का रेगिस्तान अनुपजाऊ एव सूखा क्षेत्र है।

जलवायु (ताप एवं वर्षा) की विविधता के कारण भारत के विभिन्न भागो मे विविध प्रकार की फसलें उत्पन्न की जाती है तथा अनेक प्रकार की वनस्पति मिलती है। जिन क्षेत्रो मे वर्षा बहुत कम होती है वे क्षेत्र आर्थिक दृष्टि मे अधिक उन्नत नही है। यहाँ यह बता देना अधिक उपयुक्त होगा कि आज भी भारत के अधिकाश कृपक प्रकृति पर या मानसून पर ही निर्भर करते है और इस प्रकार भारतीय कृषि (या यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि भारतीय अर्थव्यवस्था) का भाग्य काफी सीमा तक वर्षा के साथ ही जुडा हुआ है। एक विशेष बात भारत को मानसून मे है और वह यह कि यहाँ वर्षा वर्ष मे दो या तीन महीने ही होती है तथा जाडे मे फसल (रवी) उत्पन्न करने के लिए पानी की आवश्यकता साधारणतया पूरी नही हो पाती। बहुत प्राचीन समय से ही कुएँ, तालाब अथवा नहरो को इस कार्य के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। पर आवश्यकता को देखते हुए ये साधन अपर्याप्त रहे है। वोरा एन्स्टे ने ठीक ही कहा है कि किसी भी क्षेत्र की औसत वर्षा नही, अपितु उस औसत से कम अथवा अधिक वर्षा, तथा इसका समय अर्थव्यवस्था की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।[1] आशा से कम वर्षा सूखा की स्थिति उत्पन्न कर देती है जबकि आवश्यकता से अधिक वर्षा फसल को नष्ट कर देती है। भारत वर्षा की इसी अनिश्चितता का आज तक शिकार रहा है, और इसीलिए बहुधा यहाँ सूखा अथवा अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

भारत के भौतिक साधन

किसी भी देश के भौतिक साधनो मे वहाँ की मिट्टियाँ, खनिज सम्पत्ति, वन तथा जल राशि को सम्मिलित किया जा सकता है। इन्हीं भौतिक साधनो की उपलब्धि तथा उपयोग की सीमा पर उस देश का आर्थिक विकास निर्भर रहता है। जहाँ तक एक कृषि-प्रधान देश का प्रश्न है, मिट्टियो का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहता है। देश की औद्योगिक प्रगति प्रधानत खनिज पदार्थों की प्रचुरता द्वारा निर्धारित होती है। इसके विपरीत यदि किसी देश मे मिट्टियाँ अत्यधिक उपजाऊ हो और साथ ही विपुल खनिज सम्पत्ति भी वहाँ उपलब्ध हो तो वह देश उनके सुनियोजित उपयोग द्वारा विकास के शिखर पर पहुँच सकता है।

सबसे पहले हम भारत की मिट्टियो का अध्ययन करेंगे।

मिट्टियाँ :

यह ऊपर बताया जा चुका है कि एक कृषि प्रधान देश का आर्थिक विकास बहुत सीमा तक मिट्टियो पर निर्भर करता है। भारत भी एक कृषि-प्रधान देश है और यहाँ के लगभग ७०% व्यक्तियों का भाग्य कृषि के साथ जुडा हुआ है। इसी दृष्टि से सबसे पहले हम इस देश की मिट्टियो का अध्ययन करेंगे।

भारत के विभिन्न भागो मे पाई जाने वाली मिट्टियों मे सामान्य रूप से नाइट्रोजन की कमी पाई जाती है और इसलिए इनकी उर्वराशक्ति आशानुरूप नही बढ पाती। देश की विभिन्न *मिट्टियो को मोटे तौर पर दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है, (१) उत्तरी भारत की* मिट्टियाँ तथा (२) प्रायद्वीप की मिट्टियाँ।

उत्तरी भारत की मिट्टियो मे साधारणतया पीली मिट्टी, जिसे दुमट (Alluvial soil) मिट्टी भी कहा जाता है, पाई जाती है। यह मिट्टी उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, बंगाल, राजस्थान तथा दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेशो मे हिमालय से निकलने वाली नदियो, तथा अन्य नदियो ने जमा की है। उत्तरी भारत के पश्चिमी इलाको, (पजाब तथा राजस्थान के भाग) मे यह मिट्टी शुष्क तथा रेतीला अंश लिए हुए है और इसीलिए इन क्षेत्रो की मिट्टी को अधिक पानी की आवश्यकता होती है। पंजाब मे पानी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो जाता है, इसलिए वहाँ गेहूँ तथा गन्ने की प्रचुर मात्रा मे खेती है। राजस्थान मे सामान्यत पानी का अभाव होने के कारण ज्वार, बाजरा, मक्का और इसी तरह के मोटे अनाज उत्पन्न किये जाते है।

उत्तर प्रदेश व बिहार मे यह मिट्टी अपेक्षाकृत अधिक उपजाऊ है और इसीलिए इन प्रदेशो मे गेहूँ व गन्ना की खेती अधिक लोकप्रिय है। बंगाल मे इसके विपरीत इस मिट्टी मे नमी है

1. Vera Anstey—Op cit., p. 16

तथा पौधों की जड़ों को दृढता पकड़ने की क्षमता है इसीलिए वहां जूट तथा चावल की खेती अधिक होती है।

गंगा नदी के मुहाने के समीप प्रचुर मात्रा में अत्यधिक मिट्टी जमा हो जाती है जिसमें नमी अधिक होती है और इसलिए इसमें जूट व चावल की खेती की जाती है।

उत्तरी प्रदेशों की इस मिट्टी में नाइट्रोजन की कमी तो है ही बंगाल व गंगा के मुहाने की मिट्टी को छोड़कर ह्यूमस की भी कमी है। यदि उपयुक्त खाद तथा यथेष्ट पानी की व्यवस्था की जाय तो दुमट मिट्टी गेहूँ चावल गन्ना जूट तिलहन तथा दालों के लिए सर्वोत्तम मिट्टी है।

प्रायद्वीप की मिट्टियाँ प्रायद्वीपीय मिट्टियों का इतिहास भारत में सबसे अधिक पुराना है। इन मिट्टियों में बहुत अधिक विविधता पाई जाती है। लेकिन मोटे तौर पर इन्हें चार भागों में बांटा जा सकता है लाल मिट्टी काली मिट्टी लैटेराइट मिट्टी तथा समुद्री तटों की मिट्टी।

लाल मिट्टी—जिसे (Crystalline) मिट्टी भी कहा जाता है प्रायद्वीप के लगभग सम्पूर्ण पूर्वी उत्तरी पूर्वी एवं मध्यवर्ती इलाका में पाई जाती है। इसका रंग लाल होने का प्रमुख कारण लोहे के अंश (Ferric Oxide) का मिश्रण होना है। यह मिट्टी मद्रास मैसूर दक्षिण पूर्वी महाराष्ट्र उड़ीसा छोटा नागपुर तथा आंध्र प्रदेशों में पाई जाती है। शुष्क पठारों पर यह मिट्टी कम गहरी ककरीली तथा कम उपजाऊ है। निचले मैदानों में इसके विपरीत यह मिट्टी अधिक उपजाऊ है तथा इस क्षेत्र में इसका रंग गहरा लाल है। निचले मैदानों में सिंचाई की व्यवस्था द्वारा कपास चावल व गेहूँ की खेती होती है जबकि पठारों पर ज्वार बाजरा आदि की उपज होती है। लाल मिट्टी में पोटाश व चूने की मात्रा पर्याप्त है पर नाइट्रोजन एवं ह्यूमस का अभाव है।

काली मिट्टी— काली मिट्टी ज्वालामुखी के लावा से बनी हुई मिट्टी है। महाराष्ट्र गुजरात मध्यप्रदेश के पश्चिमी इलाकों तथा मद्रास के दक्षिणी भाग में यह मिट्टी पाई जाती है। इस मिट्टी में रासायनिक तत्व प्रचुर मात्रा में है—यद्यपि पोटाश की मात्रा बहुत कम है। इस मिट्टी में पौधों की जड़ों को मजबूती से पकड़ने की क्षमता है तथा कपास की खेती केवल इसी मिट्टी में हो सकती है। जिन प्रदेशों में मिट्टी गहरी है वहां उत्तम किस्म की कपास होती है। मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र में पीली तथा काली मिट्टी का मिश्रण है और वहां कपास तथा गेहूं दानों की खेती काफी लोकप्रिय है।

लैटेराइट मिट्टी—इस मिट्टी का रंग भूरा होता है तथा यह छिद्रदार और चिकनी होती है। इस मिट्टी को *अय स्फोदिज* कहा जाता है क्योंकि इसमें अय (लोहा) स्फ (अल्यूमीनियम) उद (हाइड्रो आक्साइड) तथा इज (अय खनिज) का मिश्रण होता है। इस मिट्टी में अम्ल अधिक मात्रा में होता है तथा उर्वरा शक्ति मिट्टी की गहराई पर निर्भर करती है। प्रायद्वीप के पूर्वी और दक्षिण के नीलगिरी तथा बंगाल व आसाम की निचली पहाड़ियों पर इस मिट्टी का बाहुल्य है। यह मिट्टी चाय की खेती के लिए सर्वोत्तम है। पर अनेक स्थानों पर इसकी गहराई कम होने के कारण मोटा अनाज उगाया जाता है।

पूर्वी तथा पश्चिमी तटों की मिट्टी—प्रायद्वीप के तटीय मैदानों की कछारी मिट्टी दोमट की ही भांति है। पूर्वी तट पर महानदी गोदावरी कृष्णा तथा कावेरी नदियों ने विपुल राशि में उपजाऊ मिट्टी जमा कर दी है जिस पर गन्ना चावल व जूट उगाया जाता है। पश्चिमी तट का दक्षिणी क्षेत्र (मलाबार) गरम मसालों व नारियल के लिए प्रसिद्ध है जबकि उत्तरी भाग में कपास चावल व गेहूं की खेती होती है। समुद्री तटों की इस मिट्टी में नाइट्रोजन ह्यूमस व फास्फोरिक एसिड का अभाव है यद्यपि चूने व पोटाश की मात्रा पर्याप्त रहती है।

मिट्टियों की समस्याएँ—भारतीय मिट्टियों का अध्ययन बिना इनकी समस्याओं का अध्ययन किए अधूरा रह जाता है। (अ) सबसे बड़ी समस्या भारतीय मिट्टियों की है घटती हुई उपजाऊ शक्ति। सदियों से भूमि का निरन्तर बिना क्षतिपूरक उर्वरक तत्व (खाद) दिये उपयोग होता रहा है। सबसे पहले १८९३ में वॉलेकर ने ब्रिटिश सरकार को यह बताया कि सदियों से उपयोग में आ रही भूमि की उर्वरा शक्ति कम हो रही थी। उन्होंने राज्य द्वारा खाद की व्यवस्था

करने की सिफारिश की ।[1] इसके ३५ वर्ष बाद १९२९ मे शाही कृषि आयोग ने पुन इस समस्या की ओर ब्रिटिश सरकार का ध्यान दिलाया। आयोग ने बताया कि भारत की अधिकाश मिट्टियों की उर्वराशक्ति निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी है और खाद के अभाव में अब इससे अधिक बुरी हालत इसकी नही हो सकती ।[2]

१६३० में बंगाल की प्रांतीय बैंकिंग जांच-समिति ने बताया कि भारतीय भूमि की उर्वराशक्ति निरन्तर उपयोग तथा उर्वरक खाद के अभाव में घट रही है । वाडिया व मर्चण्ट ने इस सम्बन्ध में एक तालिका दी है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है । अकबर के युग से लेकर अब तक गेहूँ की उपज को प्रति एकड की तुलना करते हुए उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि भूमि की उर्वराशक्ति निरन्तर कम हो रही है ।[3]

समय	गेहूँ की प्रति एकड उपज (पौण्ड में)
अकबर का शासन-काल	१,५५५
१८२७-४०	१,००० (सिंचाई क्षेत्रों में)
	६२० (बिना सिंचाई के क्षेत्रों मे)
१९१७-२१	१,२८० (सिंचाई के क्षेत्र में)
	८४० (बिना सिंचाई के क्षेत्र मे)
१९३१	१,००० (सिंचाई के क्षेत्र में)
	६०० (बिना सिंचाई के क्षेत्र मे)

डा० राधाकमल मुकर्जी ने उत्तर प्रदेश के विषय मे यही मत व्यक्त किया । बगाल की बैंकिंग जाँच-समिति ने यह बताया कि १६०६-७ से लेकर १९२६-२७ तक विभिन्न फसलो की प्रति एकड उपज में निम्न प्रकार मे कमी हुई ।[4]

गेहूँ	१०%
चावल	११⅓%
चना	९%

इसी प्रकार १९३६-३७ व १९४५-४६ के आंकडे दिए जा सकते है ।[5]

गेहूँ	१२ ४%
चावल	१२ ४%
चना	१५%
कपास	५%

(उत्पादन में कमी) वाडिया-मर्चेन्ट

कमी	१६३६-३६ व १६५१-५२ के बीच
चावल (साफ)	१४ ४७%
गेहूँ	१० ७%
चना	१८ ४%
मूँगफली	११ २%

इसी प्रकार सर जॉन बॉयड ओर के मत में ह्यूमस की कमी के कारण प्रति एकड उपज निरन्तर कम हो रही है ।[6]

1. J K Voleckar—Report on the Improvemε t of Indian Agriculture, pp. 40-41
2. Royal Commission on Agriculture, Report, P. 76
3. Wadia and Merchant—Our Economic Problems P 171
4. Report of the Bengal Provincial Banking Enquiry Committee PP. 21-22
5. C. B. Mamoria—Agricultural Problems of India P. 72
6. Sir John Boyd Orr—S e Wadia and Merchant, Op cit P 172

(ब) **खाद की समस्या**—यह ऊपर बताया जा चुका है कि मिट्टियों में नाइट्रोजन व ह्यूमस के अभाव को दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार खाद द्वारा मिट्टी की उर्वरा शक्ति को बढाया भी जा सकता है।

१९६०-६१ के एक राष्ट्रसंघीय[1] (FAO) अनुमान के अनुसार भारत मे प्रति एकड खाद की खपत २०५ पौण्ड थी, जबकि बहुत से देशो में यह मात्रा भारत की तुलना में बहुत अधिक थी। इस तथ्य की पुष्टि निम्न तालिका से की जा सकती है—

खाद की खपत	(पौण्ड में)
नीदरलैंड	४०७
बैल्जियम	३३७
जापान	२५४
भारत	२०५
जर्मनी	१७२
ब्रिटेन	९६
सं० अरब गणराज्य	४९
अमरीका	२१

यह उपरोक्त रिपोर्ट में स्पष्ट किया गया कि यद्यपि कतिपय देशो में भारत से भी कम खाद प्रयुक्त की जाती है, पर उत्तम किस्म की खाद होने तथा कृषि-प्रणाली के श्रेष्ठतर होने के कारण वहाँ उत्पादन अधिक होता है। आज भी प्रति एकड रासायनिक खाद का उपयोग ६ किलो ग्राम के लगभग है।

भारतीय कृषको को गोबर के रूप मे सर्वोत्तम खाद प्राप्त हो सकती है जिससे नाइट्रोजन की कमी पूरी हो जाएगी। लेकिन डा० रसेल के मत मे देश मे उपलब्ध गोबर का केवल ४० प्रतिशत खाद के लिए प्रयुक्त हो पाता है, यद्यपि अन्य प्रकार की खाद की अपेक्षा गोबर दस गुनी नाइट्रोजन दे सकता है।[2]

डा० वॉलेकर ने १८९३ मे बताया कि एक टन गोबर जलाने पर ३० पौंड नाइट्रोजन मे से २९½ पौंड नाइट्रोजन नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जॉन रसेल (१८९५) तथा शाही कृषि आयोग (१९२९) ने गोबर तथा कूडे करकट व मैले की उपयोगिता पर बल दिया तथा यह कहा कि भूमि की उवरा शक्ति को बढाने के लिए खाद का उपयोग सर्वोपरि है। हाल ही के एक अध्ययन द्वारा यह पता चला है कि एक टन नाइट्रोजन का उपयोग करने पर दस टन अतिरिक्त अनाज पैदा किया जा सकता है।

लेकिन वीरा एन्स्टे के मत म गोबर की खाद का उपयोग उस समय तक नही हो सकता जब तक कि कृषको को वैकल्पिक ईधन नही मिल जाता। यहाँ तक कि लप्टन के कथनानुसार यदि सारा गोबर भी खाद के रूप में प्रयुक्त किया जाय तब भी यह केवल आधी भूमि को खाद दे पाएगा। इसीलिए गोबर के अतिरिक्त कूडे-करकट द्वारा तैयार की गई कम्पोस्ट खाद, रासायनिक खाद व हरी खादो के उपयोग को बढाना आवश्यक है।

पचवर्षीय योजनाओ के अन्तगत विभिन्न राज्यो मे विकास खडो के अन्तर्गत कम्पोस्ट खाद तैयार की जा रही है। १९६५-६६ तक कम्पोस्ट खाद का उत्पादन शहरो व गाँवो मे मिलाकर १५·५ करोड टन तक बढा लिया गया था। सन् १९६७ ६८ तक अनुमानत इनका उत्पादन १८.५ करोड टन तथा रासायनिक खाद का उत्पादन ६ लाख टन तक बढा लिया गया था।

इस प्रकार पचवर्षीय योजनाओ क अन्तर्गत खाद की समस्या दूर करने के विविध प्रयास किये जा रहे है, तथापि गोबर की सस्ती एव उत्तम खाद का उपयोग कृषक के लिए अधिक उपयुक्त होगा और इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय कृषि अनुसन्धानशाला ने गैस प्लाट के

1 Source—FAO, Year Book, 1961

2 J Russel—Development of Agriculture and Animal Husbandry, P. 7

मॉडल तैयार किये हैं। प्रत्येक गैस प्लाट की लागत ४००-५०० रुपये है, जिससे गैस-शक्ति तो निकाली ही जाएगी, शेष गोबर को खाद के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकेगा।

आशा है, राज्य की सक्रिय नीति के फलस्वरूप यह समस्या शीघ्र ही दूर हो जाएगी। कॉलिज क्लार्क के शब्दो में प्रति हेक्टेयर यदि ३० किलोग्राम नाइट्रोजन दी जाय तो भारत मे १ करोड़ टन उत्पादन अधिक हो सकता है।[1]

(ख) भूमि के कटाव की समस्या—बाढ़, तेज वर्षा, तूफान, चरागाहो के दुरुपयोग व आँधियो के कारण भूमि का कटाव हो जाता है। कटाव (Erosion) हो जाने के बाद वह भूमि कृषि के लिए उपयोगी नही रह पाती और ऐसी भूमि पर खेती करने पर बहुत कम उपज प्राप्त होती है। डा० राधाकमल मुकर्जी ने इसीलिए भूमि के कटाव को भारतीय कृषि का एक मात्र बडा भयंकर खतरा (Greatest Single Menace) बताया था। योजना-आयोग ने बताया है कि अब तक लगभग २० करोड़ एकड भूमि (यानी देश को कुल भू-सतह का चौथाई भाग) भूमि के कटाव द्वारा प्रभावित हो चुका है।

जैसे ही फसल काटी जाती है, पशुओं को खेतो में चरने के लिए छोड दिया जाता है। यही नही, वर्षा तथा आँधी में वह मिट्टी खुली रहती है। फलस्वरूप खेतो की ऊपरी मिट्टी, जो अधिक उपजाऊ होती है, या तो तेज वर्षा के कारण बह जाती है अथवा तूफान के कारण उसकी स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। नदियो व नालो मे बाढ आने के कारण भी कृषि योग्य भूमि का कटाव हो सकता है तथा उसकी उर्वराशक्ति कम हो जाती है। विशेष रूप से पहाडी ढालो के निकट के खेतो को पानी द्वारा कटाव का खतरा अधिक रहता है।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में यह अनुमान किया गया कि देश के विभिन्न भागो मे १ टन से ११५ टन तक मिट्टी वर्षा, बाढ या तूफान से नष्ट हो जाती है।[2] १९४१ में यह बताया गया कि वर्षा से अनुमानत मिट्टी की ऊपरी सतह का $\frac{1}{4}$ इन्च प्रति वर्ष बह जाता है और इससे इसकी उर्वरा शक्ति कम हो जाती है।[3] इसी प्रकार १९४१ मे विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए डा० ताहिर रिजवी ने बताया कि चम्बल व यमुना के बेसिन मे लगभग एक हजार वर्षो से $\frac{1}{2}$ टन मिट्टी प्रति सेकण्ड निरन्तर बह रही है। इसी प्रकार के अन्य बहुत-से अध्ययनो से पता चलता है कि काफी अधिक मात्रा मे उपजाऊ मिट्टी वर्षा, बाढ, अविवेकपूर्ण चराई अथवा तूफानो से नष्ट हो जाती है।

योजना-आयोग के मत मे मिट्टी के कटाव का एक बडा कारण वनो का अभाव भी है। राजस्थान का रेगिस्तान इसीलिए आजादी के कुछ वर्ष बाद तक भी पूर्व की ओर बढ रहा था, लेकिन अब धीरे-धीरे वन-महोत्सवों तथा वन-विभागो के प्रयासो के कारण वनो का विस्तार किया जा रहा है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कटाव की समस्या को दूर करने के लिए निम्न कदम उठाये गए हैं :

(१) १९५३ मे केन्द्रीय खाद्य एव कृषि-मत्रालय के अन्तर्गत केन्द्रीय भू-सरक्षण बोर्ड की स्थापना की गई। प्रथम योजना मे इस बोर्ड ने भू-सरक्षण कार्यक्रमों पर १ करोड़ ६० लाख रुपया व्यय किये।

(२) समोच्च व पट्टीदार खेती (Contour bunding and terracing) के परीक्षण प्रथम योजना-काल मे लगभग ७,००,००० एकड भूमि पर किया गया।

(३) द्वितीय योजना-काल मे भू-संरक्षण पर १८ करोड रुपये खर्च किये गए तथा तृतीय योजना में ७२ करोड रुपयो का प्रावधान रखा गया। द्वितीय योजना मे गुजरात व राजस्थान मे

1. See Indian Economic Journal, January, 1960—Article by H. A Majumdar.
2. J Russel—Report on the Work of Imperial Council of Agricultural Research, P 68
3. The Villager's Guide Calender, P 132

अनेक गहरे गड्ढो (Ravines) को भरकर कृषि-योग्य भूमि प्राप्त की गई तथा बहुत-से रेत के टीलो को स्थिर किया गया।

इस प्रकार भू-संरक्षण के विशिष्ट परन्तु सुनिश्चित कार्यक्रमो द्वारा भूमि के कटाव की बहुत बडी समस्या को हल किया जा सकेगा, ऐसी आशा है।

भारत के खनिज पदार्थ[1]

यदि किसी देश की कृषि का विकास मिट्टी की उर्वरता पर निर्भर करता है तो वहाँ के औद्योगिक विकास की सीमा खनिज पदार्थो की उपलब्धि से सम्बद्ध रहती है। विश्व के बडे राष्ट्रो, जैसे अमरीका, जर्मनी, इग्लैंड तथा रूस की प्रगति का एक मात्र रहस्य खनिज पदार्थों की प्रचुरता मे ही निहित है। भारतीय औद्योगिक विकास की सम्भावनाएँ भी खनिज सम्पत्ति की उपलब्धि पर ही निर्भर है। प्रस्तुत भाग मे यह बताने का प्रयास किया जाएगा कि भारत मे खनिज पदार्थों की अनुमानित कितनी मात्रा है तथा उनका किस सीमा तक उपयोग किया जा रहा है। सुविधा के लिए हम केवल लोहा, कोयला, पैट्रोलियम, अभ्रक तथा मैंगनीज का ही विवरण देखेंगे, क्योकि ये ही खनिज पदार्थ सबसे अधिक उपयोगी है और इस देश में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते है।

(I) लोहा[2]

वर्तमान युग को कलयुग या यत्रों का युग कहा जाता है। जिस देश मे लोहा प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है वही देश औद्योगिक प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। विश्व मे जर्मनी का उदाहरण इस सम्बन्ध मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, भारत में उत्तम किस्म के लोहे का बहुत बडा भण्डार है तथा सम्भवत यह भण्डार विश्व मे सबसे बडा है। अनुमानत देश के लौह भण्डारो मे २१६० करोड टन लोहा भरा पडा है, जिसमे से लगभग ६०% उत्तम किस्म का है।

बिहार उडीसा, मध्य प्रदेश, मैसूर, मद्रास व आध्रप्रदेश मे मुख्यत लोहे के भण्डार है। लेकिन इनमे बिहार व उडीसा की खानो मे ही लगभग ९० प्रतिशत लोहा निकाला जाता है। सिंघभूम, क्योझर बोनई व मयूरभज का लौह उत्पादन मे सर्वाधिक योगदान रहता है।

इस क्षेत्र के लौह क्षेत्रों का महत्व इसलिए भी बहुत अधिक बढ जाता है कि लोहे की खानो के बिलकुल समीप कोयला व मैंगनीज भी प्राप्त हो जाते है। मैदान होने के कारण यातायात के साधन भी पर्याप्त हैं और इसलिए देश के प्रमुख इस्पात के कारखाने बगाल व उडीसा मे ही स्थापित किये गए है।

राज्य की उपेक्षा तथा पूँजी के अभाव के कारण लोहे की खानो का समुचित उपयोग स्वतन्त्रता के पूर्व तक सभव नही हो सका। आजादी के बाद लोहे के उत्पादन को बढाने का सकल्प किया गया, क्योकि इसी पर इस्पात का उत्पादन निर्भर करता है और इस्पात से देश के औद्योगिक विकास का भाग्य जुडा हुआ है।

हमारी पचवर्षीय योजनाओ मे लोहे की खानो के विकास को पर्याप्त महत्व दिया गया है। यही कारण है कि १९५०-५१ व १९६५-६६ के बीच लोहे का उत्पादन ३० लाख टन से बढकर २.६ करोड टन हो गया। १९६८-६९ मे अनुमानित उत्पादन २.६२ करोड टन था जिसे चतुर्थ योजना के अन्त तक (१९७३-७४) ५.३४ करोड टन कर दिये जाने की आशा है।[3]

पिछले २०-२२ वर्षों मे हमारे लोहे का निर्यात भी काफी बढा है। जहाँ १९५०-५१ तक लोहे का निर्यात नाम-मात्र को होता था १९६७-६८ से भारत से १.२७ करोड टन लोहे का निर्यात किया जाने लगा। इसमे से १ करोड टन से ज्यादा लोहा जापान भेजा गया। कुल मिलाकर लगभग ७५ करोड रुपये की विदेशी मुद्रा लोहे के निर्यात से हमने १९६७-६८ मे प्राप्त की।

---

1 See Minerals & Mineral Policy Economic Times 11th November, 1968 Commerce Annual 1968 table D 6

2 Based on India 1968 p 4 and article by Attam Prakash in Commerce Annual Number 1968

3 Yojana April 20 1969 p 23

(II) कोयला

कोयला शक्ति के साधनो मे सबसे अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय खनिज पदार्थ रहा है। विशेष रूप से वाष्प के आविष्कार ने इसकी उपयोगिता मे वृद्धि की। कोयले का उपयोग भारत में कब से प्रारम्भ हुआ, यह कहना तो सम्भव नही है। लेकिन अठारहवी तथा उन्नीसवी शताब्दी मे जिन विदेशी अधिकारियो ने देश के विभिन्न भागो का भ्रमण किया उन्होंने यह बताया कि बंगाल मे उन दिनो कोयले का उपयोग असामान्य नहीं था। लेकिन कोयले का उपयोग किसी भी देश की औद्योगिक प्रगति तथा यातायात के साधनो के विकास पर निर्भर करता है। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक भी देश में आधुनिक उद्योगो का प्रारम्भ नही हुआ था और न ही रेलो अथवा वाष्प-चालित स्टीमरों का प्रचलन था।

१८५० के बाद रेलो के विकास तथा सूती वस्त्र-उद्योगो के कारण कोयले की माँग बढ़ी। १८७२ मे इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना हुई और इससे भी कोयला उद्योग का विकास हुआ। लेकिन बीसवी शताब्दी मे टाटा इस्पात कम्पनी की स्थापना तथा अन्य वाष्पचालित यन्त्रो (उद्योगो व यातायात के साधनो मे) की बढती हुई लोकप्रियता ने इस उद्योग को बहुत प्रोत्साहन दिया।

भारत का लगभग ९ % कोयला गोंडवाना क्षेत्र की चट्टानो से निकाला जाता है। यह कोयला काफी अच्छी किस्म का है। इन चट्टानो मे भी रानीगज तथा झरिया दो क्षेत्र प्रमुख है। यह विचारणीय बात है कि गोंडवाना-चट्टानें बंगाल, बिहार, गोदावरी की घाटी तथा पूर्वी मध्य प्रदेश मे फैली हुई है। इन चट्टानो के बाहर आंध्र, आसाम तथा राजस्थान के बीकानेर जिले मे भी कोयला पाया जाता है। पर इनका समुचित उपयोग प्रारम्भ नही हुआ है।

भारत में कुल कोयले का भण्डार अनुमानत १२,००० करोड़ टन है, जिसमे से केवल ५% कोक बनाने योग्य है। १९३७ मे ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त एक समिति ने बताया था कि कोक बनाने योग्य कोयले का भण्डार ६२ वर्ष मे चुक जाएगा। समिति ने यह सुझाव दिया कि कोयला निकालने के रूढिगत तरीको मे सुधार किया जाना आवश्यक है। भारत मे भूगर्भ-वेत्ताओं का अनुमान है कि अच्छी किस्म का कोयला सब मिलाकर ५०० करोड टन से अधिक नही है। कोयला-उत्पादन की दृष्टि से भारत का स्थान विश्व मे आठवां है। देश मे निकाले गए कोयले का एक-तिहाई रेलो द्वारा, एक-चौथाई लौह-इस्पात कारखानो द्वारा है उद्योगो मे तथा शेष घरेलू कामों में उपभोग किया जाता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने भारत के कोयला-उद्योग में सुधार करने का निश्चय किया। १९४८ की औद्योगिक नीति मे इस उद्योग पर राज्य का नियन्त्रण बढ़ाने की घोषणा की गई। १९५२ मे कोयला बोर्ड के अधिकार बढाये गए। १९५६ में कोयला-उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र मे ले लिया गया और तबसे यह उद्योग केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण मे विकास कर रहा है।

कोयला-उत्पादन—यह ऊपर लिखा जा चुका है कि भारतीय कोयला-उद्योग का विकास प्रधानत: बीसवी शताब्दी में हुआ। द्वितीय योजना के अन्तर्गत कोयला धोने के लिए दुर्गापुर व कारगली में कारखाने खोले गए। द्वितीय योजना-काल मे कोयले का उत्पादन ६ करोड टन बढाने का लक्ष्य था। इस वृद्धि (२ करोड २ लाख टन) मे १ करोड २० लाख टन सार्वजनिक क्षेत्र से प्राप्त करने का संकल्प किया गया जिसमें से १ करोड टन नई खानो से प्राप्त करना था।

लेकिन भारत मे कोयला निकालने के तरीके बहुत पुराने होने के कारण उत्पादन-लागत बहुत अधिक आती है तथा बहुत-सा कोयला व्यर्थ चला जाता है। एक अनुमान के अनुसार १९२१ में प्रति मजदूर वार्षिक उत्पादन १६२ टन था जबकि फ्रांस मे २०३ टन, बेल्जियम में १९३ टन व इग्लैंड मे १७८ टन था। १९३८ तक यह उत्पादन इस प्रकार रहा - भारत २०५ टन, इग्लैंड ३६६ टन, जापान २८१ टन व बेल्जियम ३१७ टन।

लेकिन निजी क्षेत्र के समक्ष ऊँची लागतो तथा मूल्य-नियन्त्रण की समस्या थी। इसके विपरीत सार्वजनिक क्षेत्र मे भी आशानुरूप कार्य नही हो सका। फलस्वरूप १९६०-६१ तक कोयले

का उत्पादन केवल ५ करोड ४६ लाख टन ही बढ सका (जबकि लक्ष्य ६ करोड टन का था)। तृतीय योजना के अन्त तक कोयले का उत्पादन ६ ७७ करोड टन तक बढा, लेकिन १९६७ ६८ तक घटकर ६ ७ करोड टन रह गया। यह उल्लेखनीय है कि कोयला उद्योग की क्षमता १९६८-६९ मे ९ करोड टन की (लिग्नाइट को छोडकर) थी। पर उस वर्ष अनुमानित उत्पादन ७ करोड टन से भी कम था। सन १९७३ ७४ कोयले का उत्पादन ९ ३५ करोड टन तक बढाये जाने की आशा है।

तृतीय योजना काल मे कोयला धोने के चार कारखाने स्थापित किए गए।

इस प्रकार कोयला-उद्योग जो किसी समय अविकसित स्थिति मे था आज न केवल प्रगतिशील उद्योगो व यातायात के साधनो की जरूरतें पूरी कर रहा है अपितु विदेशो मे कोयले का निर्यात करके विदेशी विनिमय भी प्राप्त कर रहा है। भारत के प्राकृतिक साधनो मे सर्वाधिक महत्व कोयला-उत्पादन का ही है और काफी सीमा तक देश का भावी औद्योगिक विकास कोयले की उपलब्धि पर ही निर्भर करेगा।

(III) खनिज तेल

बीसवी शताब्दी मे खनिज तेल या पैट्रोल का औद्योगिक एव सामरिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है। खनिज तेल की प्रचुरता के कारण ही कुवैत जैसे छोटे-से देश के लोगो की औसत आय अमरीकी लोगो की औसत आय से भी अधिक है, और कृषि एव उद्योगो के अविकसित रहने पर भी वहाँ के लोग सम्पन्न हैं। पैट्रोल द्वारा वायुयान, मोटर-यातायात एव अनेक यन्त्रो का सचालन होता है। वास्तव मे जिस देश मे पैट्रोल उपलब्ध नही है, उस देश को विदेशो पर निर्भर रहना पडता है और युद्ध के समय यदि पैट्रोल की पूर्ति रुक जाए तो स्थिति बडी विकट हो सकती है। केवल पैट्रोल ही नही इससे सम्बन्धित पदार्थो—केरोसीन नफ्था, क्रूड ऑयल डीजल व मोटर स्प्रिट का भी बहुत महत्व है।

भारत के प्रति पैट्रोल की दृष्टि से प्रकृति अत्यन्त ही अनुदार रही है। पृथ्वी के कुल खनिज तेल का अनुमान लगभग ४३०० करोड बैरल से ६५०० करोड बैरल तक है (१ बैरल=४२ गैलन) जिसमे भारत मे अनुमानत केवल ९० करोड बैरल पैट्रोल है। बर्मा के पृथक् हो जाने के फलस्वरूप केवल आसाम के डिगबोई क्षेत्र मे ही भारत का पैट्रोल क्षेत्र रह गया और आवश्यकता का लगभग ९२% विदेशी आयात से पूरा किया जाने लगा।

द्वितीय पचवर्षीय योजना-काल मे गुजरात, पजाब बिहार, आसाम व राजस्थान मे तेल की खोज पर लगभग २६ करोड रुपये खर्च किये गये। आसाम मे नाहरकोटिया तथा गुजरात मे कैबे—अकलेश्वर क्षेत्र मे पर्याप्त मात्रा मे खनिज तेल के स्रोत उपलब्ध हुए हैं। देश के खनिज तेल व गैस का समुचित शोषण करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने तेल एव प्राकृतिक गैस कमीशन की स्थापना की है। पजाब के ज्वालामुखी क्षेत्र तथा राजस्थान के जैसलमेर जिले मे भी तेल मिलने की सम्भावना है। राज्य ने सार्वजनिक क्षेत्र के तेलकूपो का पूर्णत उपयोग करने के लिए इण्डियन ऑयल कम्पनी की १९५९ मे स्थापना की। यही नही, आसाम की पहाडियो मे और अधिक तेल प्राप्त करने के लिए खोज जारी है। इन सब कार्यो मे तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग का सक्रिय योगदान रहा है।

तृतीय पचवर्षीय योजना-काल मे पैट्रोल व उससे सम्बन्धित वस्तुओ का उत्पादन ५७ लाख टन से बढाकर ९९ ६ लाख टन तक करने की योजना थी और इसके लिए ११५ करोड रुपयो का प्रावधान रखा गया था। परन्तु १९६५-६६ तक पैट्रोल व सम्बन्धित पदार्थों का उत्पादन ८५ लाख टन तक ही बढाया जा सका।

तीन योजनाओ की अवधि मे पैट्रोल को साफ करने हेतु सार्वजनिक क्षेत्र मे आठ कारखाने स्थापित किए जा चुके हैं। इनमे डिग्बोई, कैम्बे, बरौनी, नूनमाटी आदि के कारखाने प्रमुख है। निजी क्षेत्र मे बर्मा शैल, काल्टैक्स तथा ऐस्सो पैट्रोल कम्पनियो ने अपनी तेल-शोधन क्षमता का पर्याप्त विस्तार किया है। कुल मिलाकर १९६८ ६९ तक १ ७५ करोड टन पैट्रोल व सबद्ध पदार्थो की शुद्धि की क्षमता भारत में निर्मित की जा चुकी थी।

१९५०-५१ मे क्रूड तेल का उत्पादन २·६ लाख टन ही था जो १९६७-६८ तक बढकर ५८ लाख टन हो गया। सभी पैट्रोल व सबद्ध पदार्थो का उत्पादन १९६८-६९ में १·६ करोड टन था। चतुर्थ पचवर्षीय योजना की समाप्ति तक २६ करोड टन पैट्रोल व सबद्ध पदार्थों का उत्पादन देश में हो सकेगा। सार्वजनिक क्षेत्र के तेल कारखानो की व्यवस्था हेतु इण्डियन ऑयल कम्पनी की स्थापना की गई है। १९६७-६८ में समूचे देश मे लगभग २६ करोड लीटर पैट्रोल की खपत हुई जिसमें से ४०% से अधिक सार्वजनिक क्षेत्र से दिया गया। इस प्रकार जहाँ पैट्रोल व संबद्ध पदार्थों का उत्पादन नियोजित रूप से बढ रहा है वही सार्वजनिक क्षेत्र का इस दिशा मे योगदान भी तेजी से बढ रहा है।

(IV) मैंगनीज

इस्पात के इस युग मे जितना अधिक महत्व लोहे का है उतना ही मैंगनीज का भी है। इस्पात निर्माण के लिए मैंगनीज की उपलब्धि अत्यन्त आवश्यक है। मैंगनीज-उत्पादन की दृष्टि से भारत का स्थान विश्व मे द्वितीय है। यहाँ की मैंगनीज मे शुद्ध धातु ५०% प्राप्त होती है जबकि रूसी खनिज में शुद्धता का अंश ४५% ही है।

मैंगनीज का उत्पादन भारत मे १८९२ में विजगापट्टम मे प्रारम्भ हुआ। कुछ ही समय बाद मध्य प्रदेश मे मैंगनीज के भण्डार मिल जाने के कारण इसका उत्पादन काफी बढ गया। लेकिन मैंगनीज का स्वदेश मे उपयोग इसी तथ्य पर निर्भर करता है कि यहाँ इस्पात-उद्योग का कितना विकास हुआ है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक भारत का इस्पात उद्योग शैशवावस्था मे था। अतएव अधिकाश मैंगनीज बाहर भेज दिया जाता था। भारत के १६ करोड टन के कुल भण्डार मे से १४ करोड टन मैंगनीज का भण्डार मध्य-प्रदेश, गुजरात, बिहार, उडीसा, आन्ध्र प्रदेश, राजस्थान, मैसूर व महाराष्ट्र में केन्द्रित है।

यद्यपि भारत का स्थान मैंगनीज-उत्पादक राष्ट्रो मे द्वितीय है, तथापि इसका विश्व के कुल उत्पादन मे योगदान निरन्तर घट रहा है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होता है :

वर्ष (औसत)	भारत का विश्व-उत्पादन में अनुपात
१९३२-३५	४०%
१९३६-४०	३६·५%
१९४१-४५	२३·०%
१९४६-५०	२१·५%
१९६६	९·४%

१९५१ मे मैंगनीज (कच्चा) का उत्पादन ८·१७ लाख टन था, जिसमे से ७५% का निर्यात किया गया, तथा शेष का उपयोग भारतीय इस्पात कारखानो द्वारा किया गया।

तृतीय योजना के अन्त तक कच्चे मैंगनीज का उत्पादन १६·५ लाख टन था। लेकिन पिछले ५-६ वर्षो मे विश्व के बाजारो मे मैंगनीज की माँग घट रही है। यही कारण है कि १९६७-६८ तक कच्चे मैंगनीज का उत्पादन १५·५ लाख टन गिर गया। अनुमानत देश की ७०० मैंगनीज की खानो में से लगभग आधी आज बन्द पडी है। माँग के अभाव तथा विश्व के बाजारो मे गिरते हुए मूल्यो के कारण मैंगनीज उद्योग आज सकट-ग्रस्त है।

भारत मे मैंगनीज की अधिकाश खानें मध्यप्रदेश में है जिसमे झाबुआ, बेलघार, छिंदवाडा एवं भण्डारा क्षेत्र प्रमुख हैं। मध्य प्रदेश के अलावा मद्रास, बगाल (मिदनापुर), बम्बई (पंचमहल), उडीसा (क्योंझर, बोनाई एव बालगीर) तथा बिहार (सिंघभूम) मे भी मैंगनीज पाया जाता है। इस प्रकार मैंगनीज की दृष्टि से भारत न केवल वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, वरन् निर्यात करके विदेशी विनिमय भी प्राप्त करता है। आशा है, देश मे इस्पात-उद्योग का विकास होने के साथ-साथ मैंगनीज का भारत मे भी उपयोग बढ़ेगा।

(V) अभ्रक

औद्योगिक प्रयोजनो मे प्रयुक्त होने वाले खनिज पदार्थों मे अभ्रक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। विद्युत शक्ति के व्यापक उपयोग के साथ-साथ अभ्रक की माँग भी तेजी से बढती जा

रही है। विद्युत-उद्योग के अलावा अभ्रक का उपयोग सजावट के लिए व चिकित्सा के लिए भी होता है।

भारत में अभ्रक के विपुल भंडार बिहार के हजारीबाग व गया जिलों में तथा मद्रास के नेलोर जिले मे विद्यमान है। बिहार की 'अभ्रक की पट्टी', जो विश्व के उत्तम किस्म के अभ्रक का ८०% भाग उत्पन्न करती है, लगभग ६० मील लम्बी एवं १२ मील चौडी है। राजस्थान के अजमेर व भीलवाड़ा जिलो में भी अभ्रक उपलब्ध होता है।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ होने से पूर्व अभ्रक का औद्योगिक उपयोग लगभग अज्ञात था तथा परम्परागत पद्धतियो के अनुसार मद्राम के नेलोर व बिहार के हजारीबाग क्षेत्रो मे अभ्रक निकाला जाता था। लेकिन १९०५ के बाद यूरोप मे अभ्रक का वैज्ञानिक ढग पर उपयोग प्रारम्भ हुआ तथा भारतीय अभ्रक की माँग बढ़ने लगी। आज विश्व की अभ्रक की माँग का ८०% भारत द्वारा पूरा किया जाता है।

१९४५ मे ब्रिटिश सरकार ने एक अभ्रक समिति की नियुक्ति की, जिसने अभ्रक के श्रेणीकरण का सुझाव दिया तथा इसके व्यापार को सरक्षण देने पर बल दिया। लेकिन सरकार की उपेक्षा के कारण स्वतन्त्रता के पूर्व तक स्थिति मे सुधार नही हो सका और अभ्रक खनिज-उद्योग का भविष्य आशाप्रद होने पर भी इसका विकास सम्भव नही हुआ। स्वतन्त्रता के बाद भी आशानुरूप प्रोत्साहन नही मिलने के कारण इस उद्योग की प्रवृत्ति विकासोन्मुख नही हो सकी। यदि अभ्रक की खोज के विशेष प्रयास किए जाएँ तथा विदेशी बाजारो में अभ्रक की माँग बढाने के लिए कदम उठाए जाएँ तो इस उद्योग द्वारा भारत को बहुत अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त हो सकता है। १९५०-५१ मे क्रूड अभ्रक का उत्पादन ५४ हजार टन था जो १९६७-६८ तक बढकर २.५५ लाख टन हो गया।

(VI) अन्य खनिज

ताँबा विद्युत-उपकरणो से सम्बन्धित उद्योगो मे ताँबे का एक विशेष महत्त्व है। लेकिन ताँबे की दृष्टि से भारत के प्रति प्रकृति उदार नही है तथा वर्तमान ७०,००० टन की माँग की तुलना मे केवल ८,००० टन ताँबा देश मे उपलब्ध होता है।[1] हाल ही मे राजस्थान के खेतडी तथा सिक्किम के रगपो नामक दो स्थानो पर ताँबे की खानो का पता चला है। खेतडी की खानो का सर्वेक्षण करने के बाद विशेषज्ञो ने अनुमान किया है कि इनमें २ करोड ८० लाख टन धातु का भण्डार है जिसमे से ८% विशुद्ध ताँबा प्राप्त किया जा सकता है। १९५०-५१ मे कुल ताँबा-धातु (कच्ची) का उत्पादन २.६६ लाख टन था जो १९६५-६६ तक बढकर ४.६५ लाख टन हो गया। १९६७-६८ म ताँबा धातु का उत्पादन ४.५० लाख टन था। खेतडी की ताँबा खानें शीघ्र ही उत्पादन प्रारम्भ करेंगी और उसके बाद ही इस दिशा मे देश आत्मनिर्भरता की ओर बढ सकेगा।

सोना :

सोने की दृष्टि से भी भारत भाग्यशाली नही है तथा काफी मात्रा मे विदेशो से सोने का आयात किया जाता है। मैसूर की कोलार खानो से कुल उत्पादन का ९७% सोना प्राप्त होता है। महाराष्ट्र के धारवाड, आन्ध्र के रायचूर तथा अनन्तपुर नामक स्थानो पर स्वर्ण-उपलब्धि होती है।

लेकिन स्वर्ण की उपलब्धि बहुत कम होने के कारण इस धातु का आयात किया जाता है। १९५६ मे कोलार की खानो का राष्ट्रीयकरण हो जाने के बाद आशा थी कि स्वर्ण-धातु का उत्पादन बढ़ेगा, पर राज्य को इसमे अधिक सफलता नही मिल सकी। १९५०-५१ व १९६७-६८ के बीच सोने का उत्पादन ६ हजार टन से घटकर ३ हजार टन रह गया। अन्य शब्दों मे सोने की दृष्टि से हम बहुत पिछडे हुए है।

---

1. Third Five Year Plan, P. 531

जिप्सम : जनसंख्या की वृद्धि तथा औद्योगिक प्रगति के साथ-साथ भवन-निर्माण का कार्य बहुत तेजी से बढ रहा है। फलस्वरूप सीमेंट की मांग मे भी पिछले कुछ वर्षो से बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। इसके अलावा बहुमुखी योजनाओं के अन्तर्गत बांधों का तथा सड़कों आदि का निर्माण भी सीमेंट की उपलब्धि पर ही निर्भर है। सीमेंट का उत्पादन जिप्सम की प्रचुरता पर निर्भर करता है।

जिप्सम की दृष्टि से भारत की स्थिति सन्तोषप्रद रही है। १९५०-५१ मे जिप्सम का उत्पादन २ लाख टन था जो १९६७-६८ तक बढकर ११·५ लाख टन तक पहुँच गया है। जिप्सम का उत्पादन करने वाले राज्यो मे राजस्थान (नागौर व मारवाड़ क्षेत्र), पजाब, उत्तर प्रदेश, कश्मीर एवं महाराष्ट्र (बम्बई) प्रमुख हैं। लेकिन फिर भी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को स्वदेशी खानें पूरा करने में असमर्थ है।

सीसा एवं जस्ता[1] सीसा एवं जस्ता अलौह धातुओं में प्रमुख स्थान रखती है। भारत मे इनकी खानें पर्याप्त संख्या मे होने पर भी सीसा व जस्ता का उपयोग १९४० तक बहुत कम होता था। द्वितीय महायुद्ध ने इनके महत्व को बढ़ाया तथा १९५० तक इन दोनों धातुओं की मांग २१ हजार टन तक बढ गई। जस्ते की मांग इस समय २० हजार टन थी जो १९६८-६९ तक ८८,००० टन तक बढ़ गई। जस्ते का उत्पादन मुख्य रूप से राजस्थान में होता है। यहाँ अनुमानतः ४·२५ करोड टन के जस्ता-धातु के भंडार हैं। परन्तु वास्तविक रूप में शुद्ध धातु का उत्पादन १९६७-६८ तक भी ५ हजार टन से अधिक नही हो सका।

सीसे का उत्पादन १९५०-५१ में ७०० टन ही था, पर १९६७-६८ तक यह बढ़कर ९ हजार टन हो गया।

इनके अलावा थोड़ी-बहुत मात्रा में भारत में बॉक्साइट, प्लेटिनम, यूरेनियम, गंधक, क्रोमाइट, जस्ता, इलमाइट व चांदी तथा बहुमूल्य मणियों (हीरा-पन्ना) की भी उपलब्धि होती है। परन्तु आवश्यकताओ की तुलना में इनका उत्पादन गौण हैं।

नवीन खनिज नीति

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में भारत सरकार द्वारा नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। इस नीति के अन्तर्गत सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि महत्त्व पूर्ण खनिज पदार्थों के उत्पादन तथा इन खनिज-उद्योगो के विकास का उत्तरदायित्व पूर्णतया राज्य पर होगा। नवीन खानो का सर्वेक्षण एव सचालन राज्य के नियत्रण में होगा तथा इन पदार्थों का मूल्य-निर्धारण भी राज्य द्वारा ही किया जाएगा। इनमें निम्नांकित उद्योग सम्मिलित हैं

(१) कोयला व लिग्नाइट, (२) खनिज तेल, (३) कच्चा लोहा, (४) मैंगनीज, (५) जिप्सम, (६) गधक, (७) सोना, (८) तांबा, (९) जस्ता व रांगा, (१०) हीरा निकालना, (११) सीसा एवं (१२) अणु-शक्ति से सम्बन्धित खनिज पदार्थ।

खनिज-उद्योगो की द्वितीय श्रेणी मे राज्य ने छोटे खनिजो को छोड़कर अन्य खनिज पदार्थों को सम्मिलित किया है, जिनके विकास हेतु राज्य द्वारा तो प्रयास किए जाएँगे ही, निजी क्षेत्र की समस्याओ को भी पूर्ण अवसर प्रदान किया जायगा। छोटे खनिज पदार्थों जैसे नमक, सिलीका, सोपस्टोन को निकालने का कार्य पूर्णतः निजी सस्थाओ पर छोड दिया जाएगा।

सर्वेक्षण :

इसके अलावा केन्द्रीय सरकार की ओर से खनिज पदार्थो के सर्वेक्षण पर भी काफी ध्यान दिया जा रहा है। १९४८ मे भारत सरकार ने इण्डियन ब्यूरो ऑफ माइन्स की स्थापना की।

---

१. नवीन खनिज नीति देखें, पृष्ठ ६२।

जनवरी, १९५१ में भारतीय भू-गर्भ-सर्वे (Geological Survey of India) का विस्तार किया गया। १९६५-६६ तक देश के ४०% भू-भाग का सर्वेक्षण किया गया था। द्वितीय योजना-काल में ४०,००० वर्गमील भूमि का साधारण एवं ५७७५ वर्गमील का विशिष्ट खनिज-सर्वेक्षण किया गया। फलस्वरूप कोयला, लोहा व तांबे की अनेक नई खानों का पता चला है। मैग्नेसाइट, लाइमस्टोन, जस्ता, सीसा व जिप्सम के भी नये स्रोतों के बारे में ज्ञात हुआ है। राज्य द्वारा स्थापित राष्ट्रीय कोयला विकास निगम, प्रस्तावित लौह-खान योजनाएँ (किरीबुरु तथा बेलाडिला में) इण्डियन ऑइल कम्पनी तथा अनेक अन्य संस्थाओं की सफलता इसी तथ्य की ओर इंगित करती है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् राज्य की खनिज नीति अत्यन्त सक्रिय तथा संतोषजनक रही है और वह समय अब दूर नहीं है, जबकि भारत प्रकृति द्वारा दिये गए सभी खनिज पदार्थों का इष्टतम तथा विवेकपूर्ण उपयोग कर सकेगा। कोयला निगम के अलावा लिग्नाइट की खानों के विकास हेतु नेवैली लिग्नाइट निगम, बॉक्साइट के लिए भारत अलूमिनियम तथा मैंगनीज, पाइराइट, जस्ता व तांबा के लिए पृथक् २ निगम सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किए गए हैं। खनिज पदार्थों विशेषकर लोहे के निर्यात हेतु खनिज व धातु व्यापार निगम का योगदान गत ४-५ वर्षों में बहुत ही प्रशंसनीय रहा है।

भारत की वन-सम्पदा
(India's Forest Wealth)

किसी भी कृषि-प्रधान देश के लिए वनों का बहुत अधिक महत्त्व होता है। विशेष रूप से यह महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि वन वर्षा भरे बादलों को आकृष्ट करके उस क्षेत्र में वर्षा कराते हैं तथा वृक्षों की सघनता के कारण बाढ़ को रोकते हैं। वनों का कृषि प्रधान देशों में इसलिए भी महत्त्व होता है कि पेड़-पौधों की जड़ें एवं पत्तियाँ मिट्टी को उर्वरक तत्त्व प्रदान करके इसे अधिक उपजाऊ बना देती हैं। वनों का एक लाभ यह भी है कि इनमें स्थित वृक्ष वायु के वेग को कम करते हैं तथा रेगिस्तान के विस्तार को रोकते हैं। इसके अलावा वनों का क्षेत्र पेड़ों की जड़ों के कारण एक स्पंज की भाँति हो जाता है तथा विशेषज्ञों का मत है कि इन क्षेत्रों में पानी अपेक्षाकृत ऊपरी सतह पर ही मिल जाता है। कृषि-प्रधान देशों में उपरोक्त कारणों से वनों का बहुत अधिक महत्त्व होता है।

यही नहीं वनों से अनेक प्रकार की लकड़ी उपलब्ध होती है, जिनका औद्योगिक उपयोग तो है ही, इससे रेल के डब्बे तथा स्लीपर भी बनाए जा सकते हैं। वनों में बांस, बेंत, लाख, कागज लुब्दी, चमड़ा रंगने का सामान, नीम, चंदन व तारपीन का तेल आदि अनेक पदार्थ मिलते हैं, जिनका औद्योगिक कच्चे माल के रूप में उपयोग किया जाता है। वनों के कारण वातावरण में नमी रहती है तथा वन पशुओं के लिए चारे से लेकर रोगियों के लिए जड़ी-बूटियां तक की व्यवस्था करते हैं।

गुप्त एवं मौर्य युग में वृक्षों के प्रति जन-साधारण की श्रद्धा होने के कारण भारत में वृक्षारोपण काफी प्रचलित था। लेकिन धीरे-धीरे जैसे-जैसे विदेशियों ने यहाँ अधिकार जमाना प्रारम्भ किया वैसे-वैसे विस्थापित जातियाँ सुरक्षित स्थानों पर बसने लगीं, तथा वनों को साफ करके उन्होंने खेती करना शुरू किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में फ्रांसिस ब्राउन ने इस समस्या की ओर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ध्यान आकर्षित किया, लेकिन उनके प्रयास सफल नहीं हो सके। स्वतन्त्रता के पूर्व तक वनों की ओर राज्य की नीति उपेक्षापूर्ण रही। १९२७-२८ में देश की कुल भूमि का १२-१३% भाग वनों द्वारा आच्छादित था, लेकिन १९४९ में यह अनुपात घटकर ११% रह गया। विशेषज्ञों की राय में किसी भी देश का कम से कम $\frac{1}{3}$ भाग वनों के रूप में होना चाहिए, लेकिन भारत इस दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। स्वतन्त्रता के समय भारत में ६ करोड़ २० लाख एकड़ क्षेत्र में वन थे, जो कुल भू भाग १५% था। १९६६ तक २२% भू-भाग वनों से आच्छादित हो गया था। उस समय लगभग ७ लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में वन थे।[1]

---

1. India 1968, Ch 15

भारत के वन—एक समीक्षा :

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत सरकार ने वनो की सुरक्षा, तथा वन-सम्पत्ति के विकास के लिए कुछ विशिष्ट कदम उठाए। सर्व प्रथम जुलाई १९५० से प्रति वर्ष वन-महोत्सव मनाने का निश्चय किया गया। १९५२ से राष्ट्रीय वन नीति की घोषणा की गई। इनके अलावा पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत भी वनों का विस्तार करने के प्रयास किए जा रहे हैं। इन कार्यक्रमो का आगे विस्तार से वर्णन दिया जाएगा।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि अत्यन्त विशाल देश होने के कारण भारत मे विविध प्रकार की जलवायु पाई जाती है और इसीलिए यहाँ अनेक प्रकार की बनिस्पत उपलब्ध होती है। संक्षेप में हम अब यह बताने का प्रयास करेंगे कि भारत में कितने प्रकार के वन है तथा वे किन-किन क्षेत्रो में स्थित है। यह उल्लेखनीय है कि १९६५-६६ में भारत की कुल भूमि का २२% वनो से आच्छादित था। इनमें मध्य प्रदेश व आसाम में क्रमश २८ प्रतिशत व ३२ प्रतिशत भू-भाग पर वन है। पंजाब में ११ प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में १७ प्रतिशत तथा बिहार मे १४ प्रतिशत भू-भाग पर वन हैं।

भारत के वनो को निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : **सदाबहार वन, पतझड़ वन, कोणधारी वन, पर्वतीय वन तथा डेल्टा के वन।**

१. **सदाबहार वन**—ये वन उन प्रदेशो में पाए जाते हैं जहाँ वर्षा का औसत ८०" वार्षिक से ऊपर है। इनके वृक्षो के पत्ते सदैव हरे रहते है तथा इनमें रबड, आबनूस, चंदन, बाँस व बेंत के वृक्ष उपलब्ध होते है, जिनको औद्योगिक क्षेत्रो में प्रयुक्त किया जाता है। ये वन पूर्वी हिमालय-प्रदेश (आसाम आदि), अंडमान एवं पश्चिमी घाट के पश्चिमी इलाकों में मिलते है। देश के कुल वनो में इन वनो का अनुपात १२% है।

२ **पतझड़ वन**—जिन प्रदेशो में वर्षा का औसत ४० ८०" है, वहाँ ये वन मिलते हैं। इन वनों मे साल, सागवान और बहुत से उत्तम किस्म के वृक्ष पाए जाते है। इनके अलावा लाख, शहद व मोम भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होते है। ये वन हिमालय के निचले भाग—उत्तर प्रदेश, बिहार, पूर्वी पजाब, व राजस्थान के कुछ भागो में पाए जाते है। इनकी लकडी फर्नीचर के लिए सर्वोत्तम होती है। भारत के कुल वनों का ८० प्रतिशत भाग इन्ही वनो के रूप में विद्यमान है।

३ **कोणधारी वन** –२० इन्च से ४० इन्च तक जिन क्षेत्रो में वर्षा होती है, वहाँ ये वन मिलते है। इन वनों में चीड, देवदार व स्प्रूम के वृक्ष उपलब्ध होते है, जिनकी लकडी पैकिंग के लिए खोखे व डब्बे बनाने के काम आती है। स्प्रूस की लुब्दी कागज बनाने के काम में आती है। इनके अलावा इस लकडी से फर्नीचर तथा चीड के वृक्षा से तेल भी प्राप्त होता है। ये वन अधिकाशत हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों में ३०० फीट से लेकर ९०० फुट तक पाए जाते हैं। भारत के वनों में कोणधारी वनो का अनुपात केवल ३ प्रतिशत है।

४. **पर्वतीय वन**—ये वन हिमालय पर्वत-माला के अतर्गत १२००० फुट से लेकर १६,००० फुट तक उपलब्ध होते है। इनमे सनोवर, बच तथा अन्य पौधे पाए जाते है, जिनका औषधियों के लिए उपयोग होता है।

५. **डेल्टा के वन**—ये वन पश्चिमी बगाल तथा महानदी, गोदावारी एव कृष्णा नदियो के डेल्टो में पाए जाते हैं। इन वनो में सुन्दरी वृक्ष पाए जाते है, जिनकी लकडी का उपयोग नाव बनाने, दियासलाई की तीलियाँ व बक्स तथा फर्नीचर बनाने के लिए किया जाता है। इन वनों का लकडी जलाने में भी प्रयुक्त की जाती है।

इनके अलावा पश्चिमी राजस्थान एव दक्षिणी पजाब के इलाको में शुष्क वन भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें बबूल व कीकर के वृक्ष मिलते है। इन वृक्षो की छाल चमडा रगने के काम में आती है।

भारतीय वनो में लाख, गोद, कत्था, कागज बनाने की लुब्दी, लकडी, और बहुत से

अन्य औद्योगिक कच्चे पदार्थ पर्याप्त मात्रा में मिलते है। लेकिन निर्दिष्ट स्थानो तक आवागमन के साधन न होने के कारण इनका समुचित उपयोग सम्भव नही हो सका।

वनों के पिछड़े रहने के कारण

(१) योजनाबद्ध विकास नहीं है—सयुक्त राज्य अमरीका जैसे देशो मे वनो के विकास के हेतु विशिष्ट कार्यक्रम तैयार किए जाते है, लेकिन भारत मे इनका विकास प्राकृतिक तथा अनियमित है।

(२) राज्य की दोषपूर्ण नीति—यद्यपि १८६४ मे ब्रिटिश सरकार ने वनो के सम्बन्ध मे कुछ विशिष्ट कार्यक्रम रखे थे, लेकिन राज्यो के वन-विभागों की अकर्मण्यता के कारण उनमे सफलता नही मिल सकी तथा वनो मे पाए जाने वाले बहुमूल्य पदार्थो का समुचित उपयोग नही हो सका।

(३) लकडी का सीमित उपयोग—भारत मे १९६३-६४ मे लकडी की उपलब्धि १०३ घनमीटर थी इससे यह पता चलता है कि न केवल भारत मे वनो का क्षेत्रफल कम है, बल्कि वनों मे उपलब्ध लकडी का उपयोग भी बहुत कम होता है।

(४) वनो का विषम वितरण—आसाम एव मध्य प्रदेश को छोडकर वनो का क्षेत्रफल भारत के सभी राज्यो मे बहुत कम है। रूस का ३८ ७ प्रतिशत, जर्मनी का लगभग २४ प्रतिशत, स्वीडन का ५४ प्रतिशत, फिनलैंड का ६० प्रतिशत, स्विट्जरलैंड का २२ प्रतिशत व जापान का ४८ प्रतिशत भू-भाग वनो मे आच्छादित है, जबकि भारत मे वनो का वितरण काफी विषम है।

(५) आवागमन के साधनो का अभाव—वनो मे पाई जाने वाली लकडी व अन्य मूल्यवान वस्तुओ का पूरा-पूरा उपयोग नही हो पाता। पुरानी गाडियो का उपयोग इन वस्तुओं को ढोने के लिए किया जाता है तथा नवीन आधुनिकतम सवारियों का उपयोग नही होने से विलम्ब एव श्रम तथा लागत की अधिकता की समस्याएं प्रारम्भ हो जाती हैं। हॉवर्ड के मत मे १९४० मे भारत के कुल वनो मे से केवल ५० प्रतिशत का ही सुगमतापूर्वक उपयोग किया जा सकता था। लेकिन १९५७-५८ तक भी २०% वन साधारण पहुंच के बाहर थे।

(६) वनों की सुरक्षा का पिछडापन—वनो की सुरक्षा-व्यवस्था बहुत पिछडी हुई है। अनधिकृत चराई एव लकडी की कटाई को रोकने पर नियन्त्रण नही है। इसका एक कारण यह भी है कि भारत मे लगभग एक तिहाई वन निजी सम्पत्ति (राजाओं या जमींदारो की) है तथा केवल ६ प्रतिशत वनो पर सरकारी वन-विभागों का नियन्त्रण है। निजी क्षेत्र के वनों की सुरक्षा पर कोई ध्यान नही दिया गया और न ही स्वतन्त्रता के पूर्व तक वन-विभाग सक्रिय रहे थे।

वनो से भारत को सन् १९६३-६४ मे १ ९२ करोड घनमीटर इमारती व दूसरे प्रकार की लकडी प्राप्त हुई जिसका कुल मूल्य ५० ७ करोड रुपये था। जडी बूटियो, गोंद, लाख रेजिन, चमडा कमाने की वस्तुओ व अन्य पदार्थों के रूप मे लगभग १४ ५ करोड रुपये की राष्ट्रीय आय प्राप्त हुई।

वन प्रशासन।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि कुल वनो मे एक तिहाई निजी क्षेत्र मे है। शेष वनो को राज्य ने निम्न श्रेणियो मे बाँटा है

(i) सुरक्षित वन : ये वन व है, जिन पर पूर्णतः राज्य के वन-विभाग का नियन्त्रण है तथा साधारणतया जिनकी उपज का उपयोग राज्य द्वारा अधिकार प्राप्त व्यक्ति ही कर सकते हैं। इन वनो मे पशुओं को नही चरने दिया जाता। ये जलवायु तथा प्राकृतिक कारणो से महत्व-पूर्ण है। १९५०-५१ मे १,३३,००० वर्गमील पर वन थे, लेकिन १९६४-६५ तक इनका क्षेत्र घटकर १ ३ लाख वर्गमील रह गया।

(ii) रक्षित वन : इन वनो मे भी पशुओ को नही चरने दिया जाता है। इनका महत्व आर्थिक दृष्टि से होता है तथा ठेके पर इनको प्राप्त करने का अधिकार दिया जाता है। १९५०-५१ मे इन वनो का क्षेत्रफल ४५,२०० वर्गमील था, १९६४-६५ तक बढकर लगभग ९६ हजार

वर्गमील हो गया। इस प्रकार १९६५ में २·२६ लाख वर्ग मील या ३·६१ वर्ग किलो मीटर या कुल वनों के ५२% भाग पर राज्य का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण है।

(iii) **साधारण वन :** इन पर राज्य का नियन्त्रण नाममात्र का होता है।

लेकिन वनो के इस विभागीकरण पर कोई निश्चित नियम नही है तथा यह वन-विभाग के उच्चाधिकारियों की इच्छा पर निर्भर करता है और वे बीस वर्ष तक के लिए किसी भी वन को किसी भी श्रेणी मे रख सकते हैं।

वनो के प्रशासन हेतु केन्द्र मे महावन निरीक्षक होता है तथा प्रत्येक राज्य मे मुख्य वन रक्षक (Chief Conservator) होता है जिसके नियन्त्रण मे अलग-अलग क्षेत्रो मे वनरक्षक, उपवन-रक्षक, रेंजर तथा बीट व चौकीदार होते हैं। वन-प्रशासन के लिए देहरादून मे अधिकारियों को प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। हाल ही मे भारतीय वन सेवा (I. F. S) प्रारम्भ कर दी गई है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् वन नीति . एक समीक्षा :

हम यह ऊपर बता चुके हैं कि १८९४ मे भारत के वनो की समुचित व्यवस्था करने के लिए वन-विभागो की हर प्रान्त मे स्थापना की गई थी। लेकिन आजादी के पहिले तक ये विभाग सक्रिय रूप से वनो के विकास मे योगदान नही दे सके। स्वतन्त्रता के बाद सबसे पहिले १९५० मे केन्द्रीय वन बोर्ड की स्थापना की गई। इस बोर्ड की सिफारिशो के आधार पर १९५२ भारत सरकार ने **नवीन-वन नीति** की घोषणा की। इस नीति के अनुसार वनो का क्षेत्र कुल भू-भाग का ⅓ होना चाहिए। पहाडी ढालो पर ६०% तथा मैदानो मे २०% भू-भाग पर वन लगाने का निश्चय किया गया ताकि बाढो को रोका जा सके। इस नीति के उद्देश्यो मे नये वन लगाना, वनो की सुरक्षा की व्यवस्था करना, इमारती लकडी व ईंधन का उत्पादन बढाना, तथा अन्य पदार्थो के उपयोगो पर शोध को प्रोत्साहन देना प्रमुख है।

भारत में शक्ति के साधन[1]

(India's Mineral Resources)

शक्ति के साधनों मे मानवशक्ति, पशु-शक्ति, कोयला, गैस, लकडी, खनिज तेल, वायु, जलविद्युत तथा आणविक शक्ति की गणना की जा सकती है। पाश्चात्य देशों में वायु-शक्ति द्वारा पवन-चक्कियों का संचालन बहुत लोकप्रिय रहा है, लेकिन भारत में इसका उपयोग बहुत कम होता है। मनुष्य एवं पशुओ का उपयोग सदियों से यहां होता आया है और आज भी कृषि तथा व्यापार में मानव-शक्ति तथा पशुओ का भारत मे व्यापक रूप से उपयोग होता है।

परन्तु हमे इस तथ्य को भी स्वीकार करना होगा कि देश के आर्थिक विकास और विशेष रूप से औद्योगिक विकास की प्रक्रिया मे हम जल विद्युत, गैस तथा आणविक शक्ति के विकास पर ही निर्भर रहना होगा। शक्ति के विकास की निम्न क्षेत्रो मे नितान्त आवश्यकता है. (१) कृषि क्षेत्र मे पम्पसैटो के संचालन के हेतु, (२) उद्योगो मे यन्त्रों के संचालन हेतु, (३) परिवहन में, (४) जन साधारण की उपभोग सम्बन्धी जरूरतो के लिए। यह कहना भी अनुचित न होगा कि देश मे व्याप्त बेकारी तथा अर्धबेकारी की समस्या का समाधान काफी सीमा तक सस्ती एवं पर्याप्त शक्ति की उपलब्धि मे भी निहित है क्योंकि इसी के द्वारा औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन की वृद्धि मे सहायता मिलती है।

लेकिन भारत मे अब तक शक्ति के विकास तथा उपयोग का स्तर बहुत ही नीचा रहा है। आज भी प्रति व्यक्ति बिजली का वार्षिक उपभोग हमारे देश मे ९० किलोवाट ही है जबकि अन्य विकसित देशो मे यह औसत हमसे कई गुना है। नॉर्वे व स्वीडन में यह औसत १२,००० किलोवाट है सोवियत रूस तथा ब्रिटेन मे क्रमशः २००० व ३००० किलोवाट है जबकि सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे यह ५,४००

---

1. See : The Presidential address to the Engg. & Metallurgy Section of the 56th Science Congress by Prof. H. C. Gupta "Trends Strategies of Dev. of Power in India. (Economic Times January 1969)

किलोवाट है। सब प्रकार की शक्ति के प्रति व्यक्ति उपभोग का औसत १९६६ मे इस प्रकार था : (किलोवाट मे) संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ९५९५, कनाडा ७८७३, चैकोस्लावाकिया ५६४१, ब्रिटेन ५१३९, जापान १९५४ तथा भारत १७१ ।[1] प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर गुहा ने सत्य ही कहा है कि शक्ति के उपभोग का इतना नीचा स्तर हमारे सापेक्ष आर्थिक पिछड़ेपन का कारण तथा परिणाम दोनो रहा है।

कोयला, तेल प्राकृतिक गैस, अणुशक्ति तथा जल विद्युत शक्ति के प्राथमिक स्रोत हैं जबकि बिजली गौण स्रोत। वैसे जल तथा थर्मल दोनो विद्युत शक्तियो के स्रोत भारत मे पर्याप्त हैं। जल विद्युत की उपलब्धि नदियो के बदलते हुए प्रवाह के नियन्त्रण पर निर्भर करती है। वस्तुत. देश की अधिकांश नदियो मे जल की पूर्ति तथा प्रवाह मे मौसम के साथ-साथ बहुत अधिक उतार-चढाव होते रहते है और इसलिए जल विद्युत के सृजन हेतु इसको नियमित करना जरूरी हो जाता है।

भारत की जल विद्युत सृजन क्षमता ४०,००० मेगावाट (६०% एल एफ स्तर पर) आँकी गई है। १९६८ (मार्च) तक देश की कुल प्रस्थापित क्षमता १ २२ करोड किलोवाट थी जिसमे से ६० लाख किलोवाट जल विद्युत, ५५ लाख थर्मलशक्ति तथा शेष अन्य प्रकार की (डीजल-शक्ति आदि) प्रस्थापित क्षमता थी। अन्य शब्दो मे जल विद्युत की कुल सम्भाव्य क्षमता (४०,००० मेगावाट) में से एक तिहाई मे भी कम का हमने अब तक उपयोग किया है और इस दिशा मे काफी विकास की सम्भावनाएँ विद्यमान है। शक्ति के वास्तविक सृजन का ४२% जल विद्युत, ५७% वाष्प शक्ति तथा १% डीजल शक्ति के रूप मे प्राप्त होता है।

तेल तथा प्राकृतिक गैस के रूप म भारत मे अत्यन्त सीमित साधन हैं। फिर भी केन्द्रीय सरकार का तेल व प्राकृतिक गैस आयोग इस दिशा मे सतत रूप से प्रयत्नशील है।

अणु शक्ति :

जल तथा कोयले का केन्द्रीयकरण भारत के पूर्वी क्षेत्र मे है जबकि देश का पश्चिमी इलाका मोनाजाइट रेत के लिए प्रसिद्ध है। इसी कारण पश्चिमी क्षेत्रो मे अणु शक्ति का विकास सरलता एव मितव्ययितापूर्वक किया जा सकता है। कुल मिला कर यूरेनियम तथा थोरियम के पर्याप्त भण्डार भारत में मौजूद है। अणुशक्ति का विकास तकनीकी दृष्टि से भी कोयला क्षेत्र से दूर होना चाहिए। यूरेनियम व थोरियम के ज्ञात भण्डार क्रमश १५ हजार टन व ५ लाख टन हैं। इससे ५० लाख से १ करोड किलोवाट तक शक्ति की प्रस्थापना की जा सकती है।

प्रथम अणुशक्ति का केन्द्र तृतीय योजना काल मे बम्बई के समीप तारापुर मे प्रारम्भ किया गया जिसमे शक्ति का सृजन १९६९ मे प्रारम्भ होगा। इसमें ३९० मेगावाट क्षमता की दो भट्टियाँ (प्रत्येक की क्षमता १९० मेगावाट थी) लगाई गई। द्वितीय केन्द्र कुछ ही समय पूर्व राणाप्रताप सागर बाँध (कोटा के पास) के समीप प्रस्थापित किया गया परन्तु इसम शक्ति का सृजन १९७१ तक ही प्रारम्भ होगा। चतुर्थ योजना के अन्त तक इस केन्द्र की क्षमता २०० मेगावाट अधिक कर दी जायेगी।

चतुर्थ योजना काल में ही तमिलनाड मे कालपक्कम नामक स्थान पर २०० मेगावाट वाली क्षमता का अणुशक्ति केन्द्र स्थापित किया जाएगा। इसके लिए चतुर्थ योजना मे १२० करोड रुपये का प्रावधान रखा गया है।

चतुर्थ योजना एव शक्ति : १९६८-६९ मे शक्ति-निर्माण की कुल क्षमता १ ५४ करोड किलोवाट थी जिसे १९७३-७४ तक २ ३१ करोड किलोवाट तक बढा दिया जायगा। विभिन्न प्रकार की शक्ति (विद्युत) की सृजन क्षमता अग्रलिखित प्रकार होने का अनुमान है।[2]

---

1 See Commerce Annual 1968 P 275

2. Article by R P. Aiyer Commerce Annual 1968, and Yojana April 20 1968 p 20.

(क्षमता लाख किलोवाट में)

		१९६८-६९	१९७३-७४
(अ)	उपयोगिताएँ		
	परम्परागत थर्मल	७७	१११
	अणु शक्ति	४	१०
	जल विद्युत्	६१	९६
(आ)	गैर उपयोगिताएँ	१२	१४

कुल मिलाकर चौथी योजना मे विद्युत शक्ति के विकास पर २०८५ करोड रुपये खर्च करने का प्रावधान है। इसमे मे ९०९ करोड रुपये वर्तमान शक्ति-सृजन कार्यक्रमो पर व्यय होगे। ग्रामीण विद्युतीकरण पर ३६३ करोड रुपये व्यय किए जाएँगे जिसके द्वारा ७ ४ लाख पम्पसैटो का संचालन होगा। संशोधित लक्ष्यो के अनुसार १९७३-७४ तक विद्युत शक्ति की प्रस्थापित क्षमता लगभग ३ करोड किलोवाट होगी।

चौथी योजना मे जो प्रमुख कार्यक्रम विद्युत सृजन हेतु प्रारम्भ किए जायेंगे वे हैं नेवेली थर्मल स्टेशन (क्षमता ५०० मेगावाट से बढाकर ६०० मेगावाट की जाएगी) चन्द्रपुरा थर्मल स्टेशन (२४० मेगावाट क्षमता वाली दो इकाइयो की प्रस्थापना), बदरपुर थर्मल स्टेशन (३०० मेगावाट की क्षमता)। इनके अलावा व्यास, यमुना, उकाई, शरावती, इदीकी, रामगगा आदि परियोजनाओं से भी विद्युत प्राप्त की जायेगी।

ग्रामीण विद्युतीकरण :

उद्योगो के अतिरिक्त विद्युत शक्ति की आवश्यकता सिंचाई हेतु तेजी से अनुभव की जाने लगी है। हाल ही मे वैंक्टापिया कमेटी[1] ने ग्रामीण विद्युतीकरण को कृषि के विकास हेतु आवश्यक शर्तें बताते हुए इसके लिये एक निगम की स्थापना का सुझाव दिया था। यह प्रसन्नता की बात है कि केन्द्रीय सरकार ने ४५ करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी से राज्यो के विद्युतीकरण कार्यक्रमों को पूरा करने की दृष्टि से ग्रामीण विद्युतीकरण निगम बनाना स्वीकार कर लिया है। यह निगम ५ लाख अतिरिक्त पम्प सैटो को शक्ति प्राप्ति मे सहायता दे सकेगा।

वस्तुत भारत मे ग्रामीण विद्युतीकरण का स्तर बहुत नीचा है। आसाम, नागालैंड, उडीसा व मध्यप्रदेश के तो २% से भी कम गाँवो मे विजली पहुँच सकी है। राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी बगाल व बिहार के १०% से भी कम गाँवों मे विद्युत् शक्ति उपलब्ध है जबकि गुजरात, पंजाब, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र व मैसूर के १५ मे २०% गाँवो मे विजली है। आसाम, बिहार, जम्मू, तथा कश्मीर, मध्यप्रदेश, नागालैंड, उडीसा राजस्थान, उत्तरप्रदेश व पश्चिमी बगाल मे देश की ५५% जनसंख्या तथा ५४% कृषि क्षेत्र केन्द्रित है लेकिन विद्युत् शक्ति द्वारा संचालित पम्पसैटो मे से वहाँ १५% से भी कम विद्यमान है।[2]

निष्कर्ष : अस्तु ग्रामीण विद्युतीकरण की समस्या को हमे व्यापक स्तर पर हल करना होगा क्योकि इसी के द्वारा हमारे लघु सिंचाई के लक्ष्यो को प्राप्त करना सम्भव होगा।

---

1. See Chapter on Rural Credit for Interim Report.
2. See Econonic Times, February 17, 1969 article by J. C. Verma.

३

सामाजिक तथा धार्मिक सस्थाएँ
(Social and Religious Institutions)

प्रारम्भिक :

किसी भी देश का आर्थिक विकास काफी सीमा तक वहाँ प्रचलित सामाजिक तथा धार्मिक सस्थाओ पर निर्भर करता है। पिछले अध्याय मे हमने भारत के प्राकृतिक साधनों का अध्ययन किया। यद्यपि प्राकृतिक साधनो की प्रचुरता आर्थिक विकास की एक ठोस पृष्ठभूमि तैयार करती है, तथापि इन साधनो का उपयोग लोगों की धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताओं पर ही निर्भर रहता है।

डा० विलियम कैप सत्य ही लिखते हैं कि ये सस्थाएँ आज के अल्पविकसित देशो के धीमे आर्थिक विकास के लिए उत्तरदायी हैं तथा बहुधा देश मे विद्यमान प्राकृतिक साधनो के समुचित उपयोग मे बाधक बन जाती है।[1] इसके विपरीत डा० नोल्स ने इगलैण्ड मे हुई औद्योगिक क्रान्ति का सारा श्रेय वहाँ के लोगों का साहस की भावना को दिया है।[2] भारत आज यदि एक अल्प-विकसित देश है तो इसका मुख्य उत्तरदायित्व यहाँ की सामाजिक तथा धार्मिक सस्थाओ पर है। इसके विपरीत यदि दो महायुद्धो के बावजूद जर्मनी आज एक प्रमुख औद्योगिक देश है तो इसका कारण वहाँ प्रचलित परम्पराओं मे ही निहित है।

देश के लोगों की काम करने की इच्छा, बचत अथवा पूँजी-निर्माण की भावना और आर्थिक महत्वाकाक्षाएँ आदि सभी सामाजिक मान्यताओ व धार्मिक आदर्शो द्वारा प्रभावित होती हैं। पूर्व के देशो का आर्थिक विकास न होने का कारण यहाँ की पुरातन मान्यताएँ हैं, जबकि पाश्चात्य देशों के आर्थिक विकास मे धर्म, जाति अथवा अन्य सामाजिक सस्थाओ ने कभी बाधा नही डाली। प्रस्तुत अध्याय मे हम देखेंगे कि भारत मे प्रचलित सामाजिक तथा धार्मिक सस्थाओ ने अर्थव्यवस्था को कहाँ तक प्रभावित किया है। इन सस्थाओ को सुविधा के लिए पाँच स्वरूपो मे प्रस्तुत किया जाएगा,—(१) स्वावलम्बी गाँव, (२) जाति-प्रथा, (३) सयुक्त परिवार, (४) धर्म, तथा (५) उत्तराधिकार के नियम।

(I) स्वावलम्बी गाँव

ब्रिटिश शासन आरम्भ होने से पूर्व भारत की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था मे गाँवो का सर्वाधिक महत्व था। एक भारतीय गाँव साधारणतया एक स्वावलम्बी इकाई होता था तथा

---

1 Dr K William Kapp—Hindu Culture, Economic Development and Eco Planning in Inida in (Asia), P. 3

2 L C A Knowles Industrial and Commercial Revolutions during the 19th Century

ग्रामीण जनता की लगभग समस्त आवश्यकताएँ गाँव में ही पूरी हो जाती थी। आज भी देश की खाद्य-सम्बन्धी आवश्यकताएँ गाँवों मे वसे कृपक ही पूरी करते है। लेकिन डेढ सौ वर्ष पूर्व भोजन के साथ-साथ वस्त्र, जूते, लकडी व लोहे की वस्तुओ तथा आवश्यकताओ को पूर्ति भी गाँव मे ही हो जाती थी। वस्तुत: लोगो की आवश्यकताएँ उस समय इतनी कम थी कि उनकी पूर्ति के लिए बडे पैमाने पर उत्पादन करना, अथवा गाँव के वाहर के व्यक्तियो से विनिमय-सम्बन्ध स्थापित करना अनिवार्य नही था। कृपक, जुलाहे, बढई, कुम्हार, धोवी, लुहार, सुनार, दर्जी, रगरेज, मोची तथा हलवाई आदि को मिलाकर गाँव की आवादी होती थी और इनके परस्पर सहयोग के कारण गाँव स्वावलम्बी वना रहता था। विनिमय की सीमितता के कारण मुद्रा का उपयोग भी अपवाद-स्वरुप ही किया जाता था।

भारतीय गाँवो का यह स्वावलम्बन वहुत प्राचीन समय से चला आया है और यद्यपि औद्योगिक क्रान्ति ने काफी सीमा तक इस स्वावलम्वन को कम कर दिया है, तथापि आज भी भारत मे ऐसे गाँवों की कमी नही है, जो आर्थिक दृष्टि से वाह्य जगत से सम्वद्ध नही है। वडे-वडे साम्राज्यो की भारत मे स्थापना हुई और वे अतीत मे विलीन हो गए लेकिन गाँवो का यह स्वालम्वन चलता रहा।

कार्ल मार्क्स ने इन स्वावलम्वी गाँवों का वर्णन करते हुए लिखा है कि ये छोटी तथा प्राचीन इकाइयाँ जिन महत्वपूर्ण स्तम्भो पर आधारित है, उनमे भूमि का सामूहिक स्वामित्व, कृषि तथा हस्तकलाओं की मिली-जुली व्यवस्था तथा एक अपरिवर्तनीय श्रम-विभाजन की व्यवस्था आदि सम्मिलित है। अपरिवर्तनीय श्रम-विभाजन से उनका आशय ऐसी व्यवस्था से है, जिसके अन्तर्गत लघु स्तर पर वस्तुओ का उत्पादन किया जाय, तथा विनिमय के उद्देश्य से उत्पादन न हो। मार्क्स आगे बताते है कि गाँव के सामूहिक हितो की रक्षार्थ चौकीदार, न्यायाधिपति, कर इकट्ठा करने वाले, सुनार, मोची, धोवी, स्कूल मास्टर, ज्योतिपी तथा सिचाई-व्यवस्थापक होते है, जिनके भरण-पोपण का भार सामूहिक रूप से वहन किया जाता है। जनसंख्या वढने पर बंजर भूमि पर नया गाँव वसा लिया जाता है तथा वहाँ भी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु इसी प्रकार के परिवार जाकर बसते हैं। मार्क्स ने यह भी वताया कि सदियाँ बीत जाने पर भी गाँवो का यह स्वालम्वन अक्षुण्ण है और राजनीति की घटाटोप वदलियाँ भी इस समाज के आर्थिक ढाँचे को प्रभावित करने मे असफल रही हैं।[1] सल्तनत के वाद सल्तनत वदलती गई क्रान्ति के बाद क्रान्ति हुई तथा हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिख व अंग्रेज, सभी ने भारत पर शासन किया, लेकिन ग्रामीण इकाइयाँ पूर्ववत् रही।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में विनिमय : प्रो० गाडगिल के मतानुसार गाँव के सभी निवासियों—कृपकों तथा उद्योगपतियों, द्वारा उत्पादित वस्तुओ की मात्रा इतनी थोडी होती थी कि इनके विनिमय की सम्भावनायें भी अत्यन्त सीमित हो जाती थी। गाँव मे जो कुछ उत्पादन होता था, उसकी गाँव मे ही खपत हो जाती थी और इस प्रकार अतिरेक न होने के कारण अन्यत्र इसका विनिमय होने का प्रश्न ही नही उठता था।[2]

इसी प्रकार प्रो० शेल्वकर ने लिखा है कि भारत के अधिकाश गाँवों मे विनिमय का वास्तविक स्वरुप नही दिखाई देता था। जब कृपक को शिल्पकार की सेवाओ की आवश्यकता होती, वह प्रत्येक कार्य के अनुसार उसके कार्यो का पारिश्रमिक नहीं देता था और न ही शिल्पकार प्रत्येक ग्राहक से अलग-अलग भुगतान पाने का अधिकारी था। इसके विपरीत शिल्पकार (जिनमें वढई, लुहार, सुनार, मोची, व जुलाहा आदि सम्मिलित थे) को सामूहिक भूमि का एक अंश जोतने के लिए दे दिया जाता था। तथा/अथवा कटाई के समय इनको सेवाओ के वदले अनाज दे दिया जाता था। इस प्रकार एक शिल्पकार उत्पादक की स्थिति मे न होकर एक जन-सेवक के रूप मे था, जिसकी सेवाओ का उपयोग समस्त ग्रामीण जनता करती थी।[3]

---

1 Karl Marx—On India, P. 391
2 D. R. Gadgil—Industrial Evolution of India in Recent Times pp 10-12
3. K. S. Shelvenker—The Problem of India (1940), pp, 124-25

भारतीय गांवों का स्वावलम्बन इसलिए पूर्ण हो जाता था कि कच्चा माल भी गाँवों मे ही उपलब्ध हो जाता था। गाँव के समीप ही मकान तथा औजार बनाने के लिए लकड़ी उपलब्ध हो जाती थी। गाँव की जरूरतों के बाद जो भी थोड़ी-बहुत वस्तुएँ बच जाती थी, उन्हे हाट अथवा मेलो मे बेच दिया जाता था। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे फ्रांसिस बुकेनन तथा माटगोमरी मार्टिन ने भारत के क्रमश दक्षिणी एव उत्तरी इलाको का दौरा करने पर इन तथ्यो की पुष्टि की थी।

विनिमय का स्पष्ट स्वरूप मेलो तथा साप्ताहिक हाटो मे देखा जा सकता था और यह विनिमय के ही रूप मे ही होता था।

स्वावलम्बी गाँवो की एक विशेषता यह थी कि इन गांवों का बाह्य जगत् से कोई विशेष सम्बन्ध नही था। केवल कभी कभी राजा का प्रतिनिधि कर-वसूली के लिए आ जाता था। गाँव के अधिकाश व्यक्तियो का सारा जीवन गाँव की परिधि में ही बीत जाता था। वास्तव मे बाहर जाने के लिए केवल कुछ ही अवसर आ पाते थे। जैसे बरात, तीर्थ-यात्रा अथवा राज-दरबार देखने की अभिलाषा आदि।

डॉक्टर बुकेनन लिखते हैं कि इस स्वावलम्बन के कारण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था अविकसित बनी रही और लोगो का दृष्टिकोण अत्यन्त सकीर्ण बनकर रह गया। उनके मत मे गाँव की कृषि व्यवस्था तथा उद्योगो की प्रविधि अत्यन्त निम्न स्तरीय थी और यहाँ तक की पवनचक्की और वस्तुओ के निर्माण हेतु प्रयुक्त किये जाने वाले हाथ के यत्रों का उपयोग भी अज्ञात था। रूढ़िगत औजारो का कई पीढ़ियो तक उपयोग किया जाता था।[1]

उत्पादन का स्तर छोटा होने के कारण तथा विनिमय की सीमित सभावनाएँ होने के कारण यातायात के साधनों का भी विकास नही हो सका। सड़कें बहुत कम थी तथा उनकी स्थिति वर्षा ऋतु मे अत्यन्त दयनीय हो जाती थी। परिवहन के साधनो मे बैलो, खच्चरो और कही-कही बैलगाड़िया का उपयोग किया जाता था।

लेकिन ब्रिटिश-शासन व्यवस्था प्रारम्भ होने के साथ ही जैसे-जैसे नई भूमि-व्यवस्था लागू की गई, यातायात के साधनो का विकास हुआ तथा औद्योगिक विकास प्रारम्भ हुआ, गावो का यह स्वावलम्बन कम होता गया।

(II) जाति प्रथा

जाति-प्रथा का सबसे अधिक व्यापक स्वरूप हमे भारत मे देखने को मिलता है जहाँ २००० से अधिक जातियाँ तथा उप-जातियाँ विद्यमान हैं। एक जाति अथवा उपजाति व्यक्तियो का वह समूह है, जिसमे सभी व्यक्तियो को एक ही प्रकार की सामाजिक परम्पराओ को मानना पड़ता है। वस्तुत जाति सामाजिक इकाइयो का एक समूह है, जिसके सदस्य परम्पराओ की सामान्य कड़ी से बँधे रहते है।[2] एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार जाति-प्रथा का वास्तविक उद्देश्य वशानुक्रम तथा धार्मिक मान्यताओ की पवित्रता को सुरक्षित रखना एव सामाजिक परम्पराओं की एकरूपता को बनाये रखना है।[3]

जाति-प्रथा का प्रारम्भ भारत मे कबसे हुआ यह कहना सम्भव नही है। इतिहासकारो की मान्यता है कि हजारो वर्ष पूर्व जब आर्यों का भारत मे आगमन हुआ तो उस समय यहाँ सभी व्यक्ति समान स्तर के थे। लेकिन आर्यो ने जब भारत के उत्तरी भागो पर आधिपत्य कर लिया तो पराजितो तथा विजेताओं के मध्य एक बड़ा अन्तर प्रारम्भ हो गया। शारीरिक दृष्टि से तो आर्य भारतवर्ष के प्राचीन निवासियो से श्रेष्ठ थे ही, विजेता होने के मद के कारण वे अपनी मर्यादा बनाए रखने के पक्ष मे थे। फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था बनाई गई तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र ये चार वर्ण बनाए गए। ब्राह्मणो का कार्य पठन पाठन तथा अन्य वर्ण के लोगो के

---

1. D H Buchanan—The Rise of Capitalist Enterprise In India, p 15
2. Cambridge History of India—Vol I, P. 53
3. Encyclopaedia Brittanica, Vol (xiii) (1921), 502

संस्कारों का निर्माण करना था, जबकि क्षत्रिय देश का शासन करते तथा विदेशी आक्रमणो से रक्षा करते थे। वैश्यो को कृषि, उद्योगो व व्यापार का संचालन दिया गया। पराजितों के रूप मे जो लोग थे, उन्हे शूद्र माना गया तथा उनकी जिम्मेदारी यह थी वे बाकी दूसरे वर्ण के लोगों की सेवा करें।

वाडिया तथा मर्चेन्ट ने जाति प्रथा के उदय के तीन कारण बताए हैं[1] (अ) विजेताओं तथा पराजितो का अन्तर, जिसके कारण पराजितों को सदैव निचले स्तर पर रखने का प्रयास किया गया चाहे, उनमे कोई व्यक्ति कितना ही योग्य क्यो न हो। (आ) मनुष्य के घुमक्कड जीवन की समाप्ति। इसके फलस्वरूप जब बहुत से व्यक्ति एक ही स्थान पर घर बसाकर रहने लगे तो उनके लिए उत्सव आदि मनाना सरल हो गया। धीरे-धीरे जन्म, विवाह, मृत्यु और अनेक अन्य अवसरो पर भी समूह के व्यक्ति एकत्रित होने लगे और इससे सामाजिक परम्पराओ की नीव डाली गई। (इ) यातायात व परिवहन का अभाव, जिसके फलस्वरूप एक क्षेत्र के व्यक्तियों के सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्ध दूसरे क्षेत्र के लोगो से नही बढ सके।

प्रारम्भ मे जाति प्रथा का उद्देश्य सम्पूर्ण जाति के व्यक्तियो का अधिकतम कल्याण करना था। लेकिन कालान्तर मे ऊँची जातियो के व्यक्तियो ने यह प्रचार किया कि जाति-प्रथा दो बातों पर निर्भर है। प्रथम कर्म तथा द्वितीय परिवार की धार्मिक एकता। 'कर्म' सिद्धान्त के मानने वालो ने बताया कि पूर्वजन्म मे अच्छे कर्म करने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के कुल मे बालक जन्म लेता है। शूद्रो के पुनर्जन्म को भी इस प्रकार हेय माना जाने लगा और जाति-प्रथा के पुराने आदर्श को, जिसके अनुसार व्यवसाय को जाति का आधार माना जाता था,[2] भुलाकर जन्म के अनुसार जाति की मर्यादाएँ निश्चित् कर दी गई थी।

वर्तमान समय मे जातियो को तीन दृष्टिकोण से देखा जाता है—**प्रथम आनुवंशिक** जातियाँ जैसे जाट, गूजर, कहार तथा राजस्थान के मेव लोग। **द्वितीय श्रेणी** की जातियाँ **व्यावसायिक** जातियाँ हैं, जिनमे कृषि, व्यापार अथवा शिल्प के अनुसार विशिष्टीकरण हो गया है। इनमें सुनार, धोबी व नाई आदि जातियाँ आ सकती है। **तृतीय श्रेणी** की जातियाँ धार्मिक आधार पर बनाई जाती हैं। डा० कैप का कथन है कि भारत के ईसाई, सिख व मुसलमान यद्यपि जाति-प्रथा को नही मानते, तथापि धार्मिक विश्वासो की भिन्नता के कारण वे सब जातियो के रूप मे संगठित होने का प्रयास करते है।[3]

जाति-प्रथा के लाभ :

(१) **श्रम-विभाजन**—जाति-प्रथा का सबसे पहला लाभ यह है कि इससे **श्रम-विभाजन** के उत्कृष्ट आदर्श की प्राप्ति होती है। व्यावसायिक आधार पर वर्ण-व्यवस्था होने पर समाज की विभिन्न जातियाँ भिन्न-भिन्न कार्य करने लगती है और इससे श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण के सारे लाभ मिल जाते है।

(२) **रोजगार की निश्चितता**—रोजगार की निश्चितता भी जाति प्रथा का एक लाभ है। कोई भी व्यक्ति अपने जातिगत व्यवसाय मे अपेक्षाकृत अधिक दक्षता प्राप्त कर सकता है और साधारणतया उसे बेकारी का शिकार नही होना पडता।

(३) **आर्थिक समानता**—जाति के सभी सदस्यो को जाति की पंचायतों द्वारा एक स्तर पर रखने का प्रयास किया जाता है। अपेक्षाकृत धनी सदस्य अन्य सदस्यो के हितो की रक्षा करने का भरसक प्रयास करते है, क्योकि जाति के उत्थान की भावना इसके लिए उन्हे प्रेरणा देती है। आर्थिक विषमता को कम करने का यह सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

(४) **व्यावसायिक संगठन**—जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति अथवा उपजाति की अपनी पृथक पंचायत होती है। इस पंचायत का कार्य जाति की सामाजिक रीतियों का नियमन

---

1. Wadia & Merchant—Our Economic Problem, PP. 63-64
2. श्रीमद्भागवत् मे सूर्यवंश के नाभाग का वर्णन है, जो दिष्ट महाराज (क्षत्रिय) का पुत्र होने पर भी व्यापार करने लगा था (वैश्य होना) तथा फिर नाभाग के दो पुत्र ब्राह्मण हो गए थे (श्री० भा० स्कं०, २० अ०, १ श्लो० तथा श्री० भा० ६ स्क०, २ अ०, २३ श्लो०)
3. Dr William Kopp, op. cit P 23

एव इनके विधिवत् पालन की व्यवस्था करना तो है ही, व्यवसाय के नियमो का प्रतिपादन भी ये कर सकती है। जातिगत पचायतो के माध्यम से उस व्यवसाय के अन्तर्गत अनावश्यक स्पर्धा की उत्पत्ति नही होने दी जाती।

(५) **श्रमिक सघ का प्रारम्भिक रूप**—वाडिया तथा मर्चेण्ट ने जाति को श्रमिक संघ का प्रारम्भिक स्वरूप माना है। एक जाति के शिल्पकारो का इससे अच्छा सगठन और दूसरा नही हो सकता।[1]

(६) **संस्कृति की रक्षा**—यह सही है कि जाति के बन्धन काफी बडे होते है तथा इससे अनेक बार कठिनाई भी उत्पन्न हो जाती है लेकिन हिन्दू-समाज ने इसी प्रथा के बल-बूते पर अपनी मौलिकता को बनाए रखते हुए भारत की परम्परागत सस्कृति की रक्षा की। इसके विपरीत बाहर से आने वाली जातियाँ भी भारतीय सस्कृति के अनुरूप दीक्षित होती चली गई।

(७) **सहिष्णुता**—जाति प्रथा के कारण धन अथवा सम्पत्ति को नही, वरन् जाति की परम्परा को सर्वोपरि माना जाता है। जति-प्रथा के मूलभूत सिद्धान्तों को सभी जातियाँ मान्यता प्रदान करती थी और इससे न केवल स्वय की जाति के भीतर वरन् अन्य जातियो के प्रति भी सहिष्णुता की भावना ने जन्म लिया। इस सहिष्णुता ने आर्थिक सहयोग को तो जन्म दिया ही, इसके कारण सामाजिक तथा नागरिक जीवन मे भी समरूपता आ गई।[2]

जाति प्रथा के दोष :

लेकिन जो जाति-प्रथा १७वी या १८वी शताब्दी तक देश की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के लिए उपयुक्त रही थी, शनैः-शनैः इसके उपादेयता कम होती चली गई और आज जाति के बन्धन न केवल शिथिल हो चुके है, वरन् जीर्ण स्थिति मे हैं। इस प्रथा मे अनेक बुराइयो को जन्म मिला, जो इस प्रकार है

(१) **राष्ट्रीय एकता मे बाधक**— डा० देसाई का मत है कि हिन्दू धर्म ने भारतवर्ष के सभी लोगों को जहाँ भूतकाल मे एक सूत्र मे बाधने का यत्न किया, जाति-प्रथा ने सामाजिक दृष्टि से उसे अनेक खडो एव उपखडो मे बाँटकर राष्ट्रीय एकता को नष्ट करने का प्रयास किया।[3]

(२) **सामाजिक विषमता**—राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करने के साथ ही जाति-प्रथा ने समाज के विभिन्न वर्गो के बीच अभेद्य दीवारे खडी कर दी। जाति-प्रथा इस प्रकार बनाई गई कि सबसे ऊपर ब्राह्मणो को रखा गया और फिर सामाजिक दृष्टि से अन्य जातियाँ इनसे निचले स्तर पर रखी गई। व्यक्ति का सामाजिक स्तर उस जाति के आधार पर निर्धारित होने लगा, जिसमे उसने जन्म लिया हो। बुच ने सत्य ही लिखा है कि जाति-प्रथा ने योग्यता की अपेक्षा जन्म के आधार पर 'राजाशाही' को जन्म दिया तथा व्यक्ति की प्रतिभा एव क्षमता के समुचित प्रयोग को असम्भव बना दिया।[4] निधन अथवा हेय जातियो को आज भी हेय माना जाता है। इनसे समाज मे विषमता का प्रसार हो रहा है।

(३) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे बाधा**—रिसले नामक विद्वान ने कहा है कि जाति-प्रथा वस्तुतः ब्राह्मण देवता द्वारा निर्धारित एव व्यवस्था है। व्यक्ति के निजी मामलो मे भी जाति का हस्तक्षेप जाति-प्रथा के प्रति एक आक्रोश की भावना को जन्म देता है। विवाह व्यवसाय, सामाजिक व्यवहार और यहाँ तक कि किसी के साथ भोजन करने पर भी जाति द्वारा निर्धारित मर्यादाओ का उल्लघन धर्म के विरुद्ध माना जाता है और जाति के नेता उस व्यक्ति को बहिष्कृत कर सकते हैं।

---

1. Wadia & Merchant op cit, p 64
2. Dr. G S Ghurye—Caste & Race in India, p 27
3. D A R. Desai—Social Background of Indian Nationalism, p 225.
4. M A, Buch—Rise and Growth of Indian Nationalism, p, 23

(४) व्यवसाय के चुनाव का अनुचित तरीका—व्यक्ति स्वेच्छा से व्यवसाय का चुनाव करके अधिक उन्नति कर सकता है। लेकिन इसके विपरीत जाति-प्रथा द्वारा उस पर वह व्यवसाय थोपा जाता है, जो जन्म से ही तय हो गया है। रुचि के अभाव मे वह व्यक्ति ठीक ढंग से काम करने मे असमर्थ रहता है।

(५) राष्ट्रीय आर्थिक विकास में बाधक—डा० वीरा एन्स्टे यह भी बताती है कि जाति की सकीर्णं तथा कठोर शृंखलाओ के कारण पाश्चात्य देशो मे जो औद्योगिक क्राति हुई उसका लाभ उठाने मे भारत असमर्थ रहा। प्राविधिक सुधारो को भारत की रुढिवादी जातियो ने अपनाने मे उपेक्षा प्रदर्शित की और फलस्वरूप भारत में वृहत्-स्तरीय औद्योगिक उत्पादन काफी लम्बे समय तक प्रारम्भ नही किया जा सका।[1]

(६) अवसरों को असमानता—आज का विश्व तेजी से एक ऐसी स्थिति की ओर बढ़ रहा है जहां आर्थिक विकास की दौड मे सभी व्यक्तियो को भाग लेने का समान अवसर प्राप्त हो। लेकिन जाति-प्रथा इस दिशा मे बाधा उपस्थित करती है। डा० घुरे का मत है कि पाश्चात्य जगत् मे व्यक्ति का सम्मान उसकी आर्थिक सम्पन्नता के अनुसार किया जाता है और आज का रंक धनोपार्जन करके कल सम्मानीय हो सकता है। परन्तु उनके मत मे भारत मे पिछडी हुई जातियो को यह स्वतन्त्रता भी प्राप्त नही थी।[2]

(७) श्रम की गतिशीलता में बाधक—जाति-प्रथा के कारण व्यक्ति को अपना व्यवसाय बदलने की अथवा अपना स्थान छोडकर अन्यत्र जाने को स्वतन्त्रता नही है। श्रम की गतिशीलता में इस प्रकार अवरोध उत्पन्न हो जाने के कारण इसके लाभ से उत्पादक वंचित रह जाते है।

(८) छुआछूत की भावना—जाति-प्रथा का सबसे बडा अभिशाप छुआछूत की भावना के रूप मे है। घृणास्पद कार्य जिन जातियो को दिये गये उन्हें अछूत कहकर उनका छूना भी पाप माना जाने लगा। यह प्रसन्नता की बात है कि महात्मा गाधी के सद्प्रयत्नो से अब इन अछूतो या हरिजनो को वे सभी सुविधाएँ उपलब्ध है जो सवर्णो को दी गई हैं।

(९) पिछड़ी हुई जातियाँ—आर्थिक दृष्टि से जो जातियाँ उन्नत थी, वे सम्पन्नता की सीढियो पर चढती गई, जबकि बहुत-सी जातियाँ पिछडी हुई रह गई। इनके पिछड़ेपन का मुख्य कारण इनकी आर्थिक विपन्नता है। डा० कैप का अनुमान है कि भारत की जनसंख्या मे १/३ से अधिक लोग पिछडी हुई जातियो के है।[3]

जाति-प्रथा में परिवर्तन[4]

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक जाति-प्रथा सुचारु रूप से चलती रही और जो भी विदेशी जातियाँ भारत मे आई, वे यहाँ के सामाजिक जीवन मे घुल-मिल गई। लेकिन उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से कुछ ऐसी परिस्थितियो का जन्म हुआ, जिन्होंने जाति-प्रथा के बन्धन शिथिल कर दिए और आज इस प्रथा का जो स्वरूप विद्यमान है, वह प्राचीन प्रथा का एक भग्नावशेष मात्र है। डा० देसाई ने जाति-प्रथा के पराभव के लिए निम्न कारणो को उत्तरदायी माना है

(१) नवीन अर्थव्यवस्था—अंग्रेजो का शासन बढने के साथ-साथ अर्थव्यवस्था मे अनेक परिवर्तन हुए। स्थायी बन्दोबस्त के कारण कृषि-व्यवस्था मे अनेक परिवर्तन हुए। आग्ल वस्तुओ के भारत में आगमन के साथ-साथ कुटीर उद्योगो का पराभव होने लगा तथा यातायात के साधनो के विकास ने आर्थिक सम्बन्धो के क्षेत्र को विस्तृत बना दिया। इन सबके फलस्वरूप व्यक्ति अधिक धन-प्राप्ति की आशा मे दूसरे स्थानो को जाने लगे, और जन्म के अनुसार व्यवसाय का चुनाव आवश्यक नही रहा। इस प्रकार नवीन अर्थव्यवस्था ने जाति के बन्धन शिथिल करने मे सहायता की।

---

1 Vera Anstey—The Economic Development of India, p. 52.
2 Dr. G S Ghurye—op cit, pp 2-3
3. Dr William Kapp—op. cit. p. 25
4. Dr A. R Desai—op. cit pp. 228-232

(२) **आधुनिक नगरों का प्रभाव**—अंग्रेजों ने १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से भारत में अनेक नगरों का विकास किया, जिनमें होटल, विश्रान्तिगृह, बसें, ट्राम, रेलगाड़ियाँ तथा छविगृह आदि प्रारम्भ किए गए। अब साधारणतया व्यक्ति के लिए केवल जाति के व्यक्तियों के साथ ही सम्पर्क सीमित रखना सम्भव नहीं रहा।

(३) **नवीन न्याय-प्रणाली**—ब्रिटिश-पूर्व के भारत में प्रचलित वैधानिक विषमताओं को एक व्यापी न्याय प्रणाली द्वारा दूर करके अंग्रेजों ने जाति प्रथा को बहुत धक्का पहुँचाया। जनसाधारण का यह विश्वास होने लगा कि पंचायत पर कुछ ही लोगों का अधिकार होता है और इसके विपरीत वह न्यायालय में न्याय प्राप्ति की अधिक आशा कर सकती है।

(४) **व्यावहारिक संगठनों का विकास**—बीसवीं शताब्दी में जाति की अपेक्षा व्यवसाय के आधार पर संगठन बनाने पर बल दिया गया। मिल-मालिकों, श्रमिकों, जमींदारों, कृषकों व अन्य वर्गों के व्यक्तियों के संगठन कार्य के अनुसार बनाए गए और इन संगठनों में सभी जाति के व्यक्ति सम्मिलित होते थे।

(५) **वर्ग-संघर्ष**—भारत में श्रमिक संघों के विकास के कारण बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही श्रमिकों व पूँजीपतियों के संघर्षों का आधार जातिगत न होकर वर्ग के अनुसार था। पूँजीवाद के विरुद्ध जो अभियान चल रहा है, उसमें सभी जाति के व्यक्ति सम्मिलित हैं।

(६) **आधुनिक शिक्षा**—शिक्षा का प्रसार वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत केवल सवर्णों तक ही सीमित था और आज भी पिछड़ी हुई जातियों के व्यक्ति अधिकांशतः अशिक्षित हैं। लेकिन अंग्रेजों ने शिक्षा में निरपेक्षता का संचार करके प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अवसर प्रदान किया कि वह पाठशाला में प्रवेश कर सके।

(७) **आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली**—इसके फलस्वरूप बृहत् स्तर पर बहुत से रोगियों की एक ही स्थान पर चिकित्सा प्रारम्भ हुई। राज्य द्वारा चिकित्सालयों का संचालन होने के कारण वहाँ जातिगत भेदभाव नहीं बरता जाता।

(८) **राष्ट्रीय आन्दोलन**—विदेशी शासकों को देश के बाहर खदेड़ने के लिए भी यह आवश्यक था कि देश के सभी लोग संगठित हों। कांग्रेस की स्थापना तथा राजनैतिक चेतना के फलस्वरूप लोग जातिगत रूढ़ियों को भूलकर स्वातन्त्र्य युद्ध में कूद पड़े।

(९) **सुधारवादी आन्दोलन**—उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी आन्दोलन ने भी जाति प्रथा की जड़ें खोखली कर दी। राजा राममोहनराय, महर्षि दयानन्द, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा बीसवीं शताब्दी में महात्मा गांधी तथा पं० मदनमोहन मालवीय ने हिन्दू समाज को नव स्वरूप में संगठित करने के प्रयास किये।

फिर भी जाति प्रथा आज जीवित क्यों ?

इन सब परिस्थितियों के बावजूद जाति प्रथा विद्यमान है तथा जैसा कि एक विदेशी विद्वान ने स्वीकार किया है, जाति प्रथा के द्वारा आज भी हिन्दू समाज एक कड़ी में बँधा हुआ है।[1] जातिगत दान तथा परस्पर सहायता की भावना ने इस प्रथा को पूर्णतः विलुप्त नहीं होने दिया है। चिकित्सालय, धर्मशाला, रात्रागार, शिक्षण-संस्थाओं के माध्यम से आज भी अनेक जातियाँ अपना विशिष्ट अस्तित्व रखे हुए हैं और इन अस्तित्व की समाप्ति होना असम्भव प्रतीत होता है।

जाति प्रथा के पुनर्जन्म को सरकार भी परोक्ष रूप से प्रोत्साहन दे रही है। पिछड़ी हुई जातियों को अन्य जातियों की अपेक्षा शिक्षा व रोजगार में प्राथमिकता देना इस प्रथा की पुनरावृत्ति में काफी सहायक हो रहा है और अन्त में यही कहा जा सकता है कि जाति प्रथा की समाप्ति केवल तभी सम्भव है जबकि देश की जनता पूर्णतः शिक्षित हो जाए तथा आर्थिक विषमता में काफी कमी हो जाय। राजनैतिक चेतना तथा राष्ट्रीय एकता के विकास से भी इस प्रथा की समाप्ति में सहायता मिल सकती है।

---

1 O Malley—*Modern India and The Wes* (1941) p 373

(III) संयुक्त परिवार
(Joint Family)

जाति-व्यवस्था की आधारशिला साधारणतया संयुक्त परिवार के रूप मे होती है। संयुक्त परिवार के अन्तर्गत एक ही पिता के सभी पुत्र, बहुएँ तथा पौत्र व पौत्रियाँ संयुक्त रूप से रहते है। डॉक्टर कैप के कथनानुसार अधिकाश हिन्दुओ मे परिवार बहुत-सी पीढियो का एक सयुक्त तथा स्नेह-बन्धनयुक्त संगठन है, जिसमे न केवल माता-पिता और बच्चे और सौतेले भाई सयुक्त सम्पत्ति पर आश्रित रहते है, अपितु इसमे पिछली कई पीढियो के सम्बन्धियो को भी शामिल कर लिया जाता है। वे आगे लिखते है कि यद्यपि पाश्चात्य प्रभाव तथा व्यक्तिवाद की भावना के कारण संयुक्त परिवारो का विघटन होने लगा है, तथापि आज भी अनेक गाँवो मे ६०% परिवार इसी रूप मे विद्यमान है, और जो सदस्य संयुक्त परिवार से पृथक् हो भी गए है वे आर्थिक दृष्टि से संयुक्त परिवार के मुखिया से सहायता अथवा मार्ग दर्शन प्राप्त करते है।[1]

एक अन्य विद्वान ने मनुस्मृति का उद्धरण देते हुए बताया है, हिन्दू नीतिकारो के अनुसार एक व्यक्ति पुत्र-प्राप्ति से विश्व को जीत लेता है, पौत्र के जन्म से उसे अमरता मिल जाती है तथा प्रपौत्र का जन्म उसे अनन्त सुख प्रदान करता है।[2] हिन्दू शास्त्रो के अनुसार विवाह करना तथा पुत्र की प्राप्ति एक धार्मिक कर्तव्य है। मृत्यु के पश्चात् भी पुत्र तथा पौत्र मृतक की आत्मा की शान्ति हेतु हवन, श्राद्ध आदि करते है और इस प्रकार धार्मिक तथा नैतिक भावनाएँ उन्हे संयुक्त परिवार से बँधे रहने को बाध्य करती है। वास्तव मे एक हिन्दू परिवार न केवल जीवित सदस्यो का निवास स्थान है, अपितु पितरो का भी घर की पवित्र अग्नि मे निवास माना जाता है।[3]

संयुक्त परिवार की विशेषताएँ

प्रत्येक सयुक्त परिवार मे निम्न विशेषताएँ होती है —

(i) परिवार की सम्पत्ति सामूहिक होती है। पैतृक सम्पत्ति पर सभी का अधिकार होता है।

(ii) परिवार की आय एक ही 'पूल' मे केन्द्रित होती है तथा परिवार के सभी व्यय इसी स्रोत से निकाले जाते है।

(iii) सयुक्त परिवार मे सबसे बडा व्यक्ति (आयु के अनुसार) कर्ता या मुखिया कहलाता है तथा प्रत्येक आर्थिक, सामाजिक या धार्मिक कार्य उसी की अनुमति से किया जाता है।

संयुक्त परिवार मे व्यक्ति का अस्तित्व पृथक् नही होता और उसे परिवार के कर्ता की अनुमति लेकर ही कार्य करना पडता है, यहाँ तक कि विवाह और नौकरी जैसे व्यक्तिगत मामले भी *कर्ता ही तय करता है।*

(iv) सयुक्त परिवार की सबसे बडी विशेषता है सामूहिक पाक-गृह। एक ही स्थान या किचन मे परिवार के सभी सदस्यो के लिए भोजन बनाया जाता है।

(v) सयुक्त परिवार मे महिलाओं को सामाजिक अथवा आर्थिक विषयो पर हस्तक्षेप करने का अधिकार नही होता, यद्यपि परिवार के सदस्य उनकी सम्मति जान सकते है।

प्रो० प्रभू के अनुसार सयुक्त परिवार के सभी सदस्यो से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने संस्कारों के निर्माण हेतु घरेलू कार्यो को करते है तथा नियमित रूप से त्याग करते है।[4]

संयुक्त परिवार के लाभ

उपरोक्त विशेषताओ के कारण सयुक्त परिवार से अग्रलिखित लाभ हो सकते हैं :

---

1. D. William Kapp – op cit p. 28
2. P. N Prabhu—Hindu Social Organization, (1958) p. 242
3. Ibid p 215
4. Ibid pp 219-20

(१) **सहकारिता की भावना का उदय होना**—उत्पादन की सामूहिक व्यवस्था होने के कारण सहकारिता की भावना जाग्रत होती है। वस्तुतः सहकारी आन्दोलन का आदर्श प्रतिबिम्ब संयुक्त परिवार द्वारा संचालित संस्था में ही दिखाई देता है।

(२) **नागरिकता का पाठ**—नागरिकता का प्रथम पाठ बालक को संयुक्त परिवार में ही सिखाया जाता है। त्याग तथा सहिष्णुता की जो दीक्षा संयुक्त परिवार में दी जाती है, उससे देश की भावी पीढ़ी कर्तव्यपरायण होगी, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

(३) **मितव्ययिता**—वृहत्-स्तर पर उत्पादन तथा उपभोग की क्रियाएँ होने पर मितव्ययिता हो जाती है। यदि संयुक्त परिवार का विघटन हो जाय, तो ऐसी अनेक वस्तुओं को खरीदना प्रत्येक दम्पति के लिए अनिवार्य हो जाएगा, जिनकी संयुक्त परिवार में अपेक्षाकृत थोड़ी मात्रा से काम चल जाता था। उत्पादन की लागत सबके मिलकर काम करने से कम आती है और इससे लाभ का अनुपात बढ़ जाता है।

(४) **सामाजिक सुरक्षा**—वृद्ध तथा अपंग व्यक्तियों एवं विधवाओं के लिए संयुक्त परिवार प्राकृतिक रूप से बीमा कम्पनी की भाँति कार्य करता है। यहाँ तक कि रोजगार छूट जाने पर या न मिलने पर भी संयुक्त परिवार में व्यक्ति को आर्थिक कठिनाई नहीं होती। वीरा एन्स्टे के मत में इस व्यवस्था के रहते निर्धनता के लिए कानून बनाने की कोई जरूरत नहीं।[1]

(५) **समाज में मान एवं प्रतिष्ठा**—संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या काफी अधिक होने के कारण उस परिवार तथा सभी सदस्यों का समाज में काफी आदर किया जाता है। 'एकता ही शक्ति होती है तथा शक्ति का सम्मान होता है', इस कथन की पुष्टि संयुक्त परिवार की स्थिति द्वारा हो जाती है।

(६) **श्रम-विभाजन**—मध्य तथा निम्न वर्ग के संयुक्त परिवार में सभी सदस्य अपनी योग्यता तथा इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं। कृषि, बागवानी, बर्तन बनाना, चटाई बुनना, कपड़े बुनना व रँगना आदि अनेक कार्यों में पुरुष, स्त्रियाँ व बच्चे अपनी इच्छा व क्षमता के अनुसार कार्य करके परिवार की आय बढ़ा सकते हैं।

(७) **कृषि क्षेत्र में लाभ**—कृषि क्षेत्र में संयुक्त परिवार का यह लाभ होता है कि इसके कारण भूमि का बँटवारा नहीं होने पाता तथा कृषि को एक लाभप्रद व्यवसाय के रूप में परिणत किया जा सकता है। लेकिन संयुक्त परिवार-प्रणाली में बहुत से दोष भी हैं, और इन्हीं बुराइयों के कारण संयुक्त परिवार के प्रति बहुत से लोगों की आस्था समाप्त हो गई है।

संयुक्त परिवार के दोष

(१) **लोगों को अकर्मण्य बना दिया है**—संयुक्त परिवार का सबसे पहला दोष यह है कि इसने अनेक व्यक्तियों को अकर्मण्य बना दिया है। परिवार के कार्यशील व्यक्तियों पर ये लोग भार बनकर जीते हैं और काम न करने पर भी उन्हें वे सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं जो कार्यशील सदस्यों को मिलती हैं।

(२) **आर्थिक दशा का बिगड़ना**—अनेक संयुक्त परिवारों में एक व्यक्ति कमाता है और शेष सारे सदस्य उस पर आश्रित रहते हैं। फलस्वरूप परिवार की आर्थिक दशा बिगड़ती जाती है।

(३) **दरिद्रता**—संयुक्त परिवार के कारण ही हमारे देश के बहुत से लोग दरिद्र हैं। विशेष रूप से कृषि-क्षेत्र में जोतों के अनार्थिक तथा अपर्याप्त होने के कारण परिवार ऋण के भार से दबे रहते हैं। पैतृक सम्पत्ति से चिपटे रहने के कारण कृषकों का पीछा दरिद्रता भी नहीं छोड़ती।

(४) **महिलाओं की दुर्दशा**—संयुक्त परिवार में महिलाओं की दुर्दशा ही होती है। साधारणतया महिलाओं को शिक्षा बहुत कम दिलाई जाती है। यही नहीं, ऊँची जाति के परिवार की महिलाओं को पारिश्रमिक लेकर कार्य करने की अनुमति नहीं दी जाती, चाहे परिवार की आर्थिक स्थिति कितनी ही सोचनीय क्यों न हो।

---

1 Vera Anstey op. cit p 55

(५) **दूषित प्रथाएँ**—बाल-विवाह, अनमेल विवाह तथा पर्दा व दहेज प्रथाएँ संयुक्त परिवार की ऐसी देन है जिन्होंने असंख्य स्त्री-पुरुषों का जीवन नष्ट कर दिया है।[1] परिवार के मुखिया के आगे नहीं बोलने के तथाकथित संस्कारों ने उनका मुँह बन्द रखा तथा उनका जीवन त्याग की बलिवेदी पर चढ़ा दिया गया।

(६) **श्रम की गतिशीलता में कमी**—इससे श्रम की गतिशीलता रुक जाती है। १९२१ की जनगणना के अनुसार केवल ९ प्रतिशत जनसंख्या ऐसी थी, जिसमें बालकों का जन्म उनके मौलिक स्थानों से बाहर हुआ था।[2] मौलिक स्थानों से मतलब दादा के घर से लिया गया था। इस प्रकार संयुक्त परिवारों के कारण साधारणतया श्रमिक अपने घर छोड़कर नहीं जा पाते थे।

संयुक्त परिवार-प्रणाली के विघटन के कारण :

(१) **जनसंख्या में वृद्धि**—**वाडिया तथा मर्चेन्ट** का कथन है कि संयुक्त परिवार-प्रणाली उस समय उपयोगी थी, जबकि गाँवों में पर्याप्त भूमि थी एवं जनसंख्या कम थी तथा परिवार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को कृषि का विस्तार करके पूरा किया जा सकता था। लेकिन जनसंख्या जैसे-जैसे बढ़ती गई, बहुत-से व्यक्तियों को थोड़े-से साधनों के आधार पर काम देना और उनकी सारी जरूरतें पूरी करना सम्भव नहीं रहा। फलस्वरूप परिवार के युवा सदस्य काम की खोज में अन्यत्र जाने लगे। शिल्पकारों की भी वही स्थिति थी, जो कृषि की रही थी।[3]

(२) **यातायात के साधनों का विकास**—सड़कों व रेलों के अभाव में परिवार के सदस्यों के लिए बेहतर रोजगार की खोज में बाहर जाना आज से १०० वर्ष पूर्व तक असम्भव था। लेकिन पिछले सौ वर्षों में यातायात के साधनों के विकास ने भी संयुक्त परिवार के विघटन में सहायता की है।

(३) **पाश्चात्य सभ्यता एवं व्यक्तिवाद**—अँग्रेजों के आगमन ने भारतीय (शिक्षित) लोगों को एक स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने तथा आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होने की प्रेरणा दी। नई पीढ़ी के शिक्षित लोग पुरानी पीढ़ी के कम शिक्षित लोगों (परिवार के मुखियाओं) का प्रभाव मानने को तैयार नहीं थे और फलस्वरूप रोजगार तथा विवाह आदि व्यक्तिगत मामलों में आजादी हासिल करने के लिए वे संयुक्त परिवार से अलग हो गए।

(४) **नवीन वैधानिक व्यवस्था**—१७९३ की स्थायी बन्दोबस्त तथा उसके पश्चात् की सारी भूमि-व्यवस्थाओं ने भूमि के सामूहिक स्वामित्व के स्थान पर वैयक्तिक अधिकारों को मान्यता दी और फलस्वरूप परिवार का विघटन प्रारम्भ हो गया। हिन्दू उत्तराधिकार नियम तथा मुस्लिम कानून ने भी सम्पत्ति में प्रत्येक व्यक्ति के दावे की पुष्टि की।

(५) **परिवार में विषमता का प्रारम्भ होना**—संयुक्त परिवारों की आधारशिला जहाँ पहले प्रेम, सौहार्द एवं समानता की भावनाओं में निहित थी, अब उसमें अन्तर प्रारम्भ हुआ। अधिक श्रम करके अधिक धन उपार्जन करने वाला सदस्य यह सोचने लगा कि उसका तथा उसके पुत्र का जीवन-स्तर अधिक अच्छा होना चाहिए। परिवार की समानता उसे खलने लगी और उसने अलग रहना ही श्रेयस्कर समझा।

उपरोक्त पृष्ठों में हमने प्राचीन हिन्दू समाज की प्रमुख तीन संस्थाओं—स्वावलम्बी ग्रामीण व्यवस्था, जाति-प्रथा एवं संयुक्त परिवार-प्रणाली का काफी विस्तार से अध्ययन किया। ओमेले का कथन है कि ये तीनों संस्थाएँ परस्पर सम्बन्धित थीं, क्योंकि विभिन्न परिवारों के परस्पर सम्बन्ध ग्रामीण समुदाय एवं जाति द्वारा निर्धारित किए जाते थे। ये तीनों संस्थाएँ व्यक्ति पर सैद्धान्तिक एवं नैतिक रूप से नियन्त्रण रखती थीं तथा व्यक्ति इनके द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करने को बाध्य था। ऐसे समाज में व्यक्ति अस्तित्वहीन था तथा जाति और परिवार की व्यवस्था में राज्य भी हस्तक्षेप नहीं करता था। सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध परम्पराओं व रूढ़ियों द्वारा तय होते थे।[4]

1. Ibid, PP. 55-58
2. Ibid, P 56—Footnote
3. Wadia and Merchant op. cit pp 71-72
4. O' Malley, Op. cit. P 355

(IV) उत्तराधिकार के नियम

आज से दो सौ वर्ष पूर्व तक पिता की सम्पत्ति की उसकी सन्तानों के मध्य वितरण की कोई समस्या नहीं थी। साधारण गावों मे भूमि पर ग्राम समुदाय का अधिकार माना जाता था तथा पारिवारिक सम्पत्ति के विभाजन की समस्या नहीं थी। लेकिन ब्रिटिश शासन काल में ऐसे अनेक नियम बनाए गए जिनके अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी सन्तानों का सम्पत्ति मे वैधानिक अधिकार मान लिया गया।

आज भारत मे हिन्दुओं के लिए उत्तराधिकार की दो प्रणालियाँ विद्यमान हैं

(१) मिताक्षरा प्रणाली—इस प्रणाली के अनुसार पिता की सम्पत्ति पर सभी पुत्रों का समान अधिकार होता है। यदि कोई जायदाद पूर्वजो की है तो उस पर परिवार के सभी पुरुष सदस्यों का अधिकार होता है तथा कोई भी सदस्य अपना हक किसी भी समय प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत पूर्वजो की न होकर यह जायदाद किसी व्यक्ति ने स्वयं अर्जित की है तो वह अपनी इच्छानुसार उसका उपयोग कर सकता है अथवा इसे बेचने या गिरवी रखने की कार्यवाही भी करने को स्वतन्त्र है। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सभी पुत्रों का जायदाद पर समान रूप से अधिकार होता है। **(२) दायभाग प्रणाली**—इस प्रणाली के अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् ही उसके पुत्र पूर्वजो की जायदाद का बटवारा कर सकते है। इसके विपरीत यदि पिता चाहे तो वह अपने जीवन-काल में ही सम्पत्ति को उपयोग मे ला सकता है बेच सकता है अथवा किसी भी पुत्र को दे सकता है। यह प्रणाली केवल बगाल में प्रचलित है जबकि मिताक्षरा प्रणाली शेष भारत मे प्रचलित है।

हाल ही के हिन्दू उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार पुत्र व पुत्रियां दोनों पिता की सम्पत्ति के समान अधिकारी माने जाने लगे है। मुसलमानों मे यह प्रणाली पहले से ही विद्यमान थी।

उत्तराधिकार के नियमों के गुण—उपरोक्त प्रणालियों का एक संक्षिप्त विवेचन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भारत मे इंगलैण्ड की भांति ज्येष्ठाधिकार (अथवा वयोज्येष्ठता) की प्रणाली नहीं है। पिता की सम्पत्ति पर सभी पुत्रों व पुत्रियों का समान अधिकार होने के कारण सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण काफी सीमा तक रुक जाता है। एक ही पुत्र अथवा पुत्री को सारी सम्पत्ति मिल जाने पर अन्य पुत्रों के समक्ष रोजगार की समस्या उठ सकती है। इस प्रकार की व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन हेतु साधन मिलने की सम्भावनाएँ रहती है। इस प्रकार उत्तराधिकार के इन नियमों का उद्देश्य लोगों मे स्वावलम्बन की प्रवृत्ति का विकास करना है।

उत्तराधिकार के नियमों के अवगुण लेकिन इन नियमों के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था पर जो कुप्रभाव हुए है उनसे विमुख होना अनुचित होगा। सम्पत्ति पर वैधानिक अधिकार जहा व्यक्ति को स्वावलम्बी बनने का अवसर प्रदान करता है दूसरी ओर अधिकांशत इन अधिकारों का दुरुपयोग होते देखा गया है। अनेक बार तो बटवारा करने पर व्यक्ति को इतना हिस्सा भी नहीं मिलता कि वह स्वतन्त्र रूप से एक छोटा सा व्यवसाय प्रारम्भ कर सके।

उत्तराधिकार के नियम से दूसरी हानि यह हुई है कि इनके कारण पूंजी का संचय नहीं हो पाता और वृहत् स्तरीय उत्पादन मे बाधाएं उत्पन्न हो जाती है। अनेक बार इसके विपरीत बहुत बड़े बड़े व्यावसायिक संगठन इसीलिए बरबाद होते देखे गए हैं जबकि उत्तराधिकारी पैतक सम्पत्ति का बंटवारा कर लेते है।

तीसरी हानि है **अभियोगवाद**। सम्पत्ति के बटवारे मे जिस व्यक्ति को न्याय नहीं मिलता वह अदालत के माध्यम से न्याय प्राप्त करने का प्रयास करता है। मुकद्दमेबाजी में कभी कभी मिलनेवाली सम्पत्ति के मूल्य से भी अधिक धन खर्च हो जाता है। यही नहीं इससे दोनों पक्षों के व्यवसाय तथा समृद्धि के मार्ग में भी अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

उत्तराधिकार के नियमों ने सर्वाधिक प्रभाव भारतीय कृषि पर डाला है। भूमि का उपविभाजन एवं अपखण्डन जोकि आज कृषि की सबसे बड़ी समस्या है इन नियमों का ही एक परिणाम है। कृषकों की ऋणग्रस्तता तथा दरिद्रता को मिटाने का एकमात्र उपाय यही है कि

कृषि को एक लाभप्रद व्यवसाय के रूप मे परिणत किया जाय और यह तभी सम्भव है जबकि भूमि की जोतें पर्याप्त आकार की हो।

उत्तराधिकार की उपरोक्त प्रणालियाँ समाजवाद की स्थापना में बाधक है, क्योंकि इनके कारण अकर्मण्य रहकर ही व्यक्ति को पैतृक सम्पत्ति का एक भाग मिल सकता है।

इस प्रकार अन्त मे यही कहा जा सकता है कि भारत के आर्थिक विकास को अधिक सुगम बनाने के लिए उत्तराधिकार की वर्तमान प्रणालियो मे सशोधन होना आवश्यक है।

(V) धर्म

धर्म का भारत के आर्थिक जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव पडा है। भारत मे प्रचलित सभी धर्मो (वैष्णव, शैव, जैन, बौद्ध व अन्य) ने हिन्दू-समाज को त्याग का जो आदर्श दिया उसके कारण धनोपार्जन के क्षेत्र में यहाँ के लोग कभी महत्वाकाक्षी नही रहे। जहाँ एक ओर अपरिग्रह का सात्विक सिद्धान्त व्याप्त था तो दूसरी ओर दान का महात्म्य बताया गया। 'सन्तोषी सदा सुखी' के आदर्श ने हिन्दू जनता की महत्वाकाक्षाओ को बढने से सदैव रोका। यहाँ के धार्मिक आदर्शों के अनुसार मनुष्य अपने साथ मृत्योपरान्त केवल पाप या पुण्य ही ले जाता है तथा सारी सम्पत्ति यही इसी ससार मे छूट जाती है। इस प्रकार धार्मिक आदर्शों ने भारतीय जनता की धन संग्रह की भावना को नही बढने दिया। डा० कैप लिखते हैं कि धर्म यहाँ के जीवन मे इतना व्याप्त था कि संभोग, पुत्र-जन्म, हवन, भोजन तथा खान-पान, पति-पत्नी के सम्बन्ध, पुत्रों व जामाताओ के कर्तव्य तथा विधवाओ की स्थिति आदि सभी की व्यवस्था धर्म के अनुरूप की जाती थी और आज भी की जाती है।[1]

डा० कैप ने अपनी पुस्तक मे एक अन्य स्थान पर लिखा है कि पश्चिमी यूरोप में धार्मिक सुधारो ने पूँजीवादी प्रवृत्तियों को जन्म दिया और लोगो की भावनाओ मे आमूल परिवर्तन करके आर्थिक क्षेत्र में उन्हे धर्म मे न चिपटे रहने की प्रेरणा दी। भारत में इसके विपरीत धार्मिक बन्धन अत्यन्त कठोर रहे है।[2]

भारत के धार्मिक गुरुओं—भगवान महावीर, गौतम बुद्ध, शकराचार्य, महाप्रभु चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस व स्वामी दयानन्द आदि ने भी यहाँ के हिन्दू समाज को आर्थिक तथा लौकिक विश्व से ऊपर उठकर आध्यात्मिक तथा आलौकिक जगत् की खोज हेतु आगे बढने की प्रेरणा दी। मलूकदासजी ने तो यहाँ तक कह डाला कि 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम। दास मलूका कह गये, सब के दाता राम' यानी अगर मनुष्य काम न भी करे तब भी भगवान हमारी जरूरतों को पूरा करेगा। भगवान के भक्तो की सुधि भगवान अवश्य लेता है, इस तर्क ने यहाँ के लोगो को ईश्वर की आराधना मे लीन रहने की प्रेरणा दी, फलस्वरूप जनसाधारण को भौतिकवाद से दूर रखा गया।

कुछ ऐसे भी विचारक थे, जिन्होने ईश्वर के अस्तित्व अथवा आध्यात्मिकता की भर्त्सना करते हुए कहा कि खाओ-पीओ और मौज करो तथा जब तक जीओ, सुख से जीओ, चाहे ऋण लेना पडे।[3]

सादा जीवन तथा उच्च विचार के आदर्श ने हिन्दू-समाज को सात्विक एवं सरल जीवन-यापन करने की प्रेरणा दी। यहाँ तक कि वर्तमान नेताओ ने भी—जिनमे महात्मा गाधी, विनोबा भावे तथा अन्य सर्वोदयी नेता अग्रणी हैं, धन अथवा सम्पत्ति को एक साधन के रूप में ग्रहण करने की शिक्षा दी। गाधीजी ने प्राचीन धार्मिक आदर्श को अगीकार करते हुए मनुष्य को सम्पत्ति का ट्रस्टी मानने को कहा।

भारतीय धर्मो की सबसे बडी विशेषता यह है कि इन्होने मानव को इच्छाओं का दमन करने की प्रेरणा दी। प्राचीन धार्मिक मान्यताओं के अनुसार आवश्यकताओ का आधिक्य तृष्णा को जन्म देता है तथा तृष्णा सभी प्रकार की सामाजिक बुराइयो तथा अनैतिकता की जन्मदात्री है।

---

1. Dr. William Kapp—op Cit. p. 30
2. Ibid. pp 5-7
3 येवत् जीवेत सुखम् जिवेत, ऋणम् कृत्वा धृतम् पिवेत्

भारतीय धर्मों के अनुसार जीवहिंसा एक महान पाप है। जीव हत्या के बदले व्यक्ति को मृत्योपरान्त अनेक प्रकार की यातनाएं (नरक मे) दी जाती है ऐसे हिन्दू धर्म तथा 'कर्म सिद्धान्त' के अन्य अनुगामी धर्मो मे बताया गया है। सबसे बडी बात तो यह थी कि राजा महाराजा तथा सामन्त आदि भी धर्म के अनुसार चलते थे और इससे समूची राजनैतिक आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था धर्म के अनुसार चलती थी।

धर्म के आर्थिक प्रभाद—[1] भारतीय धार्मिक आदर्शो ने जहा एक ओर अपरिग्रह दान व त्याग के महान सिद्धान्तो द्वारा भारतीय जनता को समान स्तर पर रखने का प्रयास किया, वही इन आदर्शो ने निम्न व मध्य वर्ग के लोगो की शोषण से रक्षा की। अनैतिकता तथा छल कपट के व्यवहार से धर्म-भीरु लोग दूर रहे और इस प्रकार धर्म के प्रभाव के कारण एक सात्विक अर्थव्यवस्था सदियो तक भारत मे चलती रही। लेकिन कालान्तर मे धर्म के नाम पर अधिकांशत आडम्बर शेष रह गया और पडितो, मुल्लाओ तथा अन्य प्रमुख व्यक्तियो की इच्छाएं ही धार्मिक आदर्श बनकर रह गईं। धर्म ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर निम्न कुप्रभाव डाले है

(१) लोगो में महत्त्वाकाक्षा का अभाव—भारतीय जनता को धार्मिक विश्वासो ने महत्वाकाक्षी नही बनने दिया, तथा आवश्यकताओ को कम करने की भावना ने आर्थिक क्रियाओ को विस्तृत नही होने दिया। भारत के लोगो की निर्धनता का एकमात्र रहस्य यही रहा है कि यहाँ उत्पादन की मात्रा अत्यन्त सीमित थी।

(२) स्वार्थी तत्वों का जन्म—धर्म की बागडोर कुछ हाथो मे केन्द्रित हो गई और फलस्वरूप अनेको स्वार्थी तत्वो ने जन्म लिया। परिग्रह अथवा त्याग का उपदेश देकर जनसाधारण को सम्पन्न बनने का अवसर नही दिया गया जबकि कतिपय वणिको के पास धन का केन्द्रीकरण होता गया। भारत मे आर्थिक विषमता का एक बहुत बडा कारण यह भी है कि व्यक्ति जितना अधिक निर्धन है उतना ही वह धर्मभीरु भी है।

(३) भाग्यवादिता का उद्गम—भाग्यवाद भी धर्म की ही देन है। आज भी भारत के करोडो व्यक्ति अपनी निर्धनता को पूर्वजन्म के कर्मो का फल ही मानते है। व्यापार उद्योग अथवा कृषि हर क्षेत्र मे लाभ को सौभाग्य तथा हानि को दुर्भाग्य की संज्ञा दी जाती है। यही कारण है कि यहा लोगो के साहस की भावना प्रस्फुटित नही हो सकी है।

(४) जनाधिक्य की समस्या—सन्तान की प्राप्ति को ईश्वर की कृपा का फल मानकर आज भी भारत के करोडो व्यक्ति जनसख्या की वृद्धि पर रोक लगाने के लिए तत्पर नही है। परिवार नियोजन की असफलता का कारण मुख्यत यही है।

(५) सिचाई योजनाओं का अभाव—कृषि-क्षेत्र मे सिंचाई की व्यवस्था का न होना भी धार्मिक अन्धविश्वासो का ही परिणाम है। इन्द्र भगवान का प्रकोप अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि के लिए उत्तरदायी माना जाता है तथा उसकी रोकथाम के प्रयत्न नही किए जाते।

(६) विनियोजन का अभाव—डा० कैप का यह भी मत है कि उत्पादन विनिमय तथा उपभोग की मात्रा सीमित रह जाने के साथ-साथ विनियोग का अनुपात कम रहने का भी एक कारण धार्मिक विश्वास है। धर्म आवश्यकताओ का दमन करने की राह तो दिखाता है लेकिन इस बचत का विनियोग करने के सम्बन्ध मे धर्म मौन है।

(७) अकर्मण्यता को प्रोत्साहन—श्रीमद्भागवत गीता मे मोक्ष प्राप्ति हेतु समस्त इच्छाओ के त्याग तथा फल की इच्छा किए बगैर कर्म की प्रेरणा दी गई है।[2] लेकिन इस प्रकार के उपदेश न केवल महत्वाकाक्षा पर रोक लगाते है, अपितु अकर्मण्यता को भी परोक्षरूप से प्रोत्साहन देते है।

(८) कृषि शत्रुओ को प्रोत्साहन—डा० वीरा एन्स्टे लिखती है कि धर्मान्धता के कारण कृषि के अनेक शत्रुओ, जैसे बन्दरो, लामडियो गिलहरियो, गीदडो और चूहो तथा कीडे मकोडो

---

1. William Kapp—Op cit pp 12 18
2 Dr S Radhakrishnan—*The Bhagwatgita* pp 119 138

को भारत में नही मारा जाता और फलस्वरूप करोडो रुपये के मूल्य की कृषि-उपज इनके द्वारा नष्ट कर दी जाती है ।[1]

(९) **औद्योगिक विकास में बाधा**—भारत मे वन-सम्पत्ति तथा अन्य प्राकृतिक साधनो के अगाध भंडार होने पर भी यहाँ उद्योगो का विकास दो कारणों से नही हो सका । प्रथम, लोग सतोषी होने के कारण अपनी महत्वाकांक्षाओं का दमन करते थे तथा द्वितीय, अनेक उद्योगों को धार्मिक दृष्टि से चलाना अनुचित था । व्यापार के विकास मे भी इन्ही कारणो से अवरोध उत्पन्न हुआ ।

(१०) **नवीन आविष्कारों के विकास में बाधा**—वीरा एन्स्टे के ही शब्दों में, "भारतीय जनता की रग-रग मे व्याप्त इस धर्मान्धिता ने, सभी युगो मे रुढिवादिता एव कट्टरता ने ही नवीन आविष्कारो के विकास में बाधाएँ उपस्थित की और प्राविधिक दृष्टि से भारत पिछड़ा हुआ रह गया ।"[2]

(११) **धार्मिक कट्टरता**—सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि से भी धर्म के कारण भारतीय जनता एक सूत्र मे नही पिरोई जा सकी । डा० देसाई के मत मे धार्मिक कट्टरता राष्ट्रीयता के विकास मे सबसे बडी बाधा रही है और इसीलिए उनके मत मे राष्ट्रीय आन्दोलन के पूर्व धार्मिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ ।[3] दुर्भाग्य से धार्मिक कट्टरता के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयो पर भी समस्त धर्मावलम्बी एकमत नही हो पाते ।

इस प्रकार भारत की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था धर्म से बहुत अधिक प्रभावित रही थी । ओमैले ने कहा है कि साहित्य तथा कला मे भी धर्म तथा धार्मिक आदर्शों की गहरी छाप रही है तथा प्राचीन ग्रन्थ, मूर्तियाँ एव शिलालेख इस तथ्य की पुष्टि करते है ।[4]

---

1. Vera Anstey—op. cit. p. 54.
2 Ibid, pp. 46-47
3. Dr A. R. Desai—op. cit pp. 259-63
4. O' Malley—op cit. p 2.

४

स्वतन्त्रता से पूर्व की भारतीय अर्थव्यवस्था
(Indian Economy before Independence)

प्रारम्भिक

पिछले अध्याय में हम भारत की वर्तमान अर्थव्यवस्था के लक्षण पढ़ चुके हैं। इनके आधार पर हमने यही निष्कर्ष निकाला था कि भारत आज के विश्व में एक अल्पविकसित देश है। वस्तुतः भारत का यह आर्थिक पिछड़ापन एक ऐतिहासिक तथ्य नहीं, अपितु यह तो १५० वर्षों के ब्रिटिश शासन का एक परिणाम मात्र है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व तक भारत विश्व के सर्वाधिक सम्पन्न देशों में से एक था। औरंगजेब के शासन काल तक भारत विश्व का सबसे अधिक धनी देश था। विश्व के अधिकांश देशों के व्यापारी भारत आकर यहाँ की कलात्मक वस्तुएँ ले जाते थे तथा इन वस्तुओं का वहाँ अत्यन्त गौरव के साथ उपयोग किया जाता था।

प्रस्तुत अध्याय में पहले हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि ब्रिटिश शासन प्रारम्भ होने से पूर्व अर्थात् १८वीं शताब्दी के अन्त तक भारत में कृषि, उद्योगों तथा व्यापार की क्या दशा थी। तत्पश्चात् हम उन सभी परिवर्तनों की समीक्षा करेंगे जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा १९वीं शताब्दी के मध्य से ब्रिटिश सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था में किए। अन्त में यह भी देखने का प्रयास किया जायगा कि इन सब परिवर्तनों ने हमारी अर्थव्यवस्था को किस सीमा तक प्रभावित किया।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारतीय अर्थव्यवस्था की स्थिति[1]

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, १८वीं शताब्दी के अन्त तक भारत आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न तथा समृद्ध देश था। यहाँ के कृषकों, शिल्पकारों तथा व्यापारियों की कार्यकुशलता विश्व-भर में प्रसिद्ध थी। सुविधा के लिए हम अर्थव्यवस्था के विभिन्न पक्षों तथा कृषि, उद्योग व व्यापार की स्थिति की विस्तृत समीक्षा करना चाहेंगे।

कृषि की स्थिति[2]—फ्रांसिस बुकेनन ने १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में देश के कुछ भागों का भ्रमण करने के बाद बताया कि भारत की कृषक जनता उस समय काफी सम्पन्न तथा परिश्रमी थी। १८वीं शताब्दी में भी भूमि व्यवस्था अत्यन्त सन्तोषप्रद थी। सामान्यतः जोतों का आकार बड़ा होता था। भूमि पर व्यक्ति को जोतने का अधिकार था पर यह उसका कर्तव्य भी था। सबसे

---

1. V V Bhatt—Aspects of Economics change and policy in India Ch 2 Englands debt to India by Lajpatrai edited by B M Bhatia की प्रस्तावना पर आधारित।
2. देखिए Ramesh Dutt–Indian Economic History of India Vol 1, Ch 12 & 13

महत्वपूर्ण बात यह थी कि खेती करने वाले सभी व्यक्तियो के पास भूमि थी तथा खेतिहर मजदूरो के रूप मे कार्य करने वालो की संख्या बहुत कम थी। यही कारण था कि इन श्रमिको की मजदूरी काफी ऊँची हुआ करती थी।

डा० राधाकमल मुकर्जी ने मुगल शासन काल और यहाँ तक कि औरगजेब के शासन काल तक की स्थिति का विश्लेषण करते हुए बताया है कि उस समय प्रत्येक सम्राट की नीति कृषि-क्षेत्र को बढाने तथा कृषि व्यवस्था मे सुधार की रहती थी। जिला अधिकारियो को इस आशय से फरमान जारी किए जाते थे कि वे प्रत्येक काश्तकार की स्थिति की जानकारी लें तथा जिनके पास पर्याप्त साधन हो उन्हे खेती करने की सब सुविधाएँ उपलब्ध करायें। जो कृषक जान-बूझकर जमीन को जोतना नही चाहते थे उन्हे जमीन जोतने के लिए बाध्य किया जाता था।

कुल मिलाकर १८वी शताब्दी के अन्त तक देश के विभिन्न भागो मे भिन्न-भिन्न भूमि व्यवस्था थी परन्तु दक्षिण मे ग्राम समुदाय व्यवस्था अधिक प्रचलित थी।

कुल मिलाकर भारतीय कृषक का कृषि-सम्बन्धी अनुभव तथा कृषि प्रक्रियाएँ पाश्चात्य कृषकों की तुलना मे श्रेष्ठ थी। यह स्थिति १९वी शताब्दी के अन्त तक भी चली। इसकी पुष्टि इंग्लैंड की शाही कृषि सोसाइटी के परामर्शदाता डा० वॉयलेकर ने अपने १८८९ के एक वक्तव्य मे की। उन्होने कहा कि भारतीय कृषि को पिछडी हुई तथा पुरातनवादी बताना सर्वथा अनुचित है। डा० वॉयलेकर ने भारतीय कृषक को ब्रिटिश कृषक की अपेक्षा अधिक अनुभवी तथा योग्य बताया। उन्होने भूमि को अनावश्यक झाडियो व घास से मुक्त रखने, खेतो मे पानी देने तथा फसल बोने व काटने के सम्बन्ध मे भारतीय कृषको के ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा, "मैंने कृषि का इतना पूर्ण चित्र नही देखा जिसमे साधनो की उत्पादकता तथा मानवीय परिश्रम का सम्मिश्रण कही नही देखा जितना भारत भ्रमण के समय विभिन्न स्थानो पर मैंने देखा है।" इसी प्रकार फसलो के हेर-फेर तथा मिश्रण का भी भारतीय कृषको को पर्याप्त अनुभव था।

उद्योगों की स्थिति—१९वी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत औद्योगिक क्षेत्र मे कितना उन्नत था यह भारतीय औद्योगिक आयोग (१९१६) के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है

"जिस समय आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के उद्गम-पश्चिमी यूरोप मे असभ्य जातियाँ निवास करती थी, भारत अपने शासको के वैभव तथा शिल्पकारो की उच्चकोटि की कला हेतु विख्यात था।"

बुकेनन एव माटगोमरी मार्टिन की यात्राओं[1] से इस बात की पुष्टि हो चुकी थी कि १९वी शताब्दी के प्रारम्भ तक देश के विभिन्न भागो मे उच्चकोटि की औद्योगिक व्यवस्था विद्यमान थी। इन उद्योगो मे वस्त्र उद्योग, बढईगिरी, चमडे की वस्तुओं का निर्माण, जरी का काम, कागज का निर्माण, इत्र, चाँदी सोने का काम, पत्थर की कटाई के अतिरिक्त राँगा व लोहे की वस्तुओ का उत्पादन तथा जहाज निर्माण भी सम्मिलित थे।

हाउस ऑफ कॉमन्स की एक समिति के समक्ष मार्टिन ने कहा था "भारत को कृषि-प्रधान देश कहना उसे सभ्यता के स्तर से गिराना होगा। वह एक औद्योगिक देश है तथा न्यायपूर्ण तरीको से दुनिया के किसी भी देश से वह अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे मात नही खा सकता।"

लोहा उद्योग १९वी शताब्दी के प्रारम्भ मे काफी विकसित था। इस्पात के आधुनिक स्वरूप का उस समय तक आविष्कार नही हुआ था लेकिन भारतीय लोहे की वस्तुएँ अत्यन्त टिकाऊ होती थी। विलसन ने अपने एक वक्तव्य मे कहा था, "हिन्दुओ (भारतवासियो) को अनादिकाल से लोहे को गलाने की कला का ज्ञान है।" दिल्ली का लौह-स्तम्भ लगभग १५०० वर्ष पूर्व बनाया गया था।

सूती वस्त्र उद्योग मे तो भारत विश्व का सबसे पुराना केन्द्र रहा है। वेटर्न इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया (Vol III पृष्ठ १९५) मे बताया कि बहुत प्राचीन समय से भारतीय

---

1. R K. Mukerjee—The Economic History of India (1600-1800) Ch 1. 1967.

वस्त्रों की बुनाई व रँगाई विश्व-भर में प्रसिद्ध रही है। ढाका की मलमल को अरब देशो मे आबे-हयात कहा जाता था। यूनान मे इसे गजेटिदा के नाम से सम्मान प्राप्त था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सूती वस्त्र का निर्माण आधुनिक सूती वस्त्र उद्योग के जनक इग्लैंड मे १७वी शताब्दी मे प्रारम्भ हुआ परन्तु भारतीय कारीगर २००० वर्ष पूर्व भी अत्यन्त बारीक सूती वस्त्रो का हाथ से ही निर्माण कर लेते थे।

डिग्बी ने अपनी पुस्तक प्रॉस्परस ब्रिटिश इण्डिया (१९०१) मे लिखा था कि १८वी शताब्दी के अन्त तक भी भारत ब्रिटिश जहाजो के समकक्ष जहाजों का निर्माण करता था। वाडरे तथा हांटन ने बताया कि १७वी शताब्दी मे भारत पूर्वी देशा मे सर्वश्रेष्ठ जहाजो का निर्माण करता था। बालकृष्ण के मत मे इस समय भारत मे ३ ५ लाख टन की जहाज क्षमता मौजूद थी जिसमे से २५% विदेशी व्यापार मे प्रयुक्त की जाती थी।[1]

१९वी शताब्दी के प्रारम्भ तक भारतीय जनता मे औद्योगिक उद्यम अनुभव तथा गहन प्रतिभा विद्यमान थी। कैम्पवेल ने भारतीय साहस तथा औसत भारतीय की बुद्धि की प्रखरता की भूरि-भूरि प्रशसा की।

विदेशी व्यापार—उपरोक्त पक्तियो मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि औद्योगिक विकास की दृष्टि से भारत १९वी शताब्दी के प्रारम्भ तक बहुत अधिक उन्नत अवस्था मे था। यहाँ के शिल्पकार न केवल स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओ का निर्माण करते थे अपितु पर्याप्त मात्रा मे यहाँ से वस्तुओ का निर्यात भी किया जाता था। मलमल, छीट, जरी के वस्त्र, लोहे व इस्पात की वस्तुएँ, तम्बाकू, नील, शाल, रेशम व रेशमी वस्त्र, एव गरम मसालो का भारत से काफी मात्रा मे निर्यात किया जाता था। इनके बदले विदेशी व्यापारी हमे जवाहरात, सोना तथा चाँदी देते थे। भारत का व्यापार सन्तुलन सामान्यतः काफी अनुकूल रहता था और यह भी भारत के वैभवशाली होने का प्रमुख कारण था।

रमेशदत्त ने बताया है कि १८वी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारतीय वस्तुओ, विशेष रूप से सूती वस्त्रो के उपयोग पर इग्लैड की सरकार ने भारी मात्रा मे कर लगा दिए, फिर भी भारत से १९वी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक काफी वस्त्र इग्लैड को निर्यात किए गए। इस प्रकार विदेशी व्यापार की दृष्टि से भारत विश्व मे सबसे अधिक लाभप्रद स्थिति मे था।

परन्तु १९वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही कुछ ऐसी परिस्थितियों ने जन्म लिया कि भारतीय अर्थव्यवस्था मे गतिरोध उत्पन्न होगया। ईस्ट इडिया कम्पनी की राजनैतिक महत्वाकाक्षाओ को मूर्त रूप देने के प्रयास प्रारम्भ हुए तथा भारतीय राजनीति मे कम्पनी सरकार सक्रिय रूप से भाग लेने लगी।

वस्तुत प्लासी के युद्ध (१७५७) के बाद से भारत मे केन्द्रीय प्रशासन शिथिल होगया था और तत्कालीन मुगल सम्राट ने ईस्ट इडिया कम्पनी को १७६५ मे बगाल की दीवानी देकर अपना पिंड छुडाने का प्रयास किया। यही भारतीय इतिहास मे सबसे महत्वपूर्ण घटना थी जिसने कालातर मे प्रशासनिक ही नही वरन् आर्थिक ढाँचे मे भी आमूल चूल परिवर्तन किए तथा जिसके कारण भारत १९४७ तक आर्थिक गतिरोध की स्थिति मे रहा।

ईस्ट इडिया कम्पनी ने जैसे-जैसे अपने अधिकारक्षेत्र का विस्तार करना प्रारम्भ किया, भारत के राजाओं, नवाबो व सामन्तो मे असतोष बढा। परन्तु "फूट डालो और राज्य करो" की नीति के फलस्वरूप सारे विद्रोहो को कुचल दिया गया। परन्तु १८५७ की असफल सैनिक क्रांति के बाद समूचे देश की बागडोर इग्लैंड की सरकार के नियत्रण मे दे दी गई। इस प्रकार १९वी शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर १९४७ तक भारत विदेशी शासको के नियत्रण मे रहा। इस अवधि मे अनेक ऐसी नीतियाँ अपनाई गई जिन्होने भारत के परम्परागत वैभव तथा यहाँ की अर्थव्यवस्था की सम्पन्नता को नष्ट कर देश को आर्थिक अधोगति के मार्ग पर डाल दिया।

---

1 R K *Mukerjee*—op. cit p. 133

अस्तु, अब हम उन परिवर्तनों की समीक्षा करेंगे जो १९वीं शताब्दी से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक किए गए।

भूमि व्यवस्था में किए गए परिवर्तन
(Changes in the Tenurial System)

यह ऊपर बताया जा चुका है कि १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भी देश के अनेक भागों मे भूमि पर ग्राम-समुदाय का स्वत्व था। कहीं-कहीं काश्तकार का राज्य से प्रत्यक्ष सपर्क भी था। भूमि का उपयोग करने वाला कृषक उपज का एक अश लगान के रूप मे उस प्रदेश के शासक को देता था। गाँव के पटेल को लगान की राशि राजकीय-कोष मे जमा करने का दायित्व निभाना होता था। परन्तु कुल मिलाकर शासक अथवा उनके प्रतिनिधि कृपको के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते थे, और यथासम्भव कृषि व्यवस्था मे कोई बाहरी शक्ति हस्तक्षेप नही करती थी।

परन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, १७६५ मे ईस्ट इंडिया कम्पनी को बगाल की दीवानी प्रदान की गई थी। इसके बदले कम्पनी ने दिल्ली के सम्राट को कुछ ४४ लाख रुपये प्रतिवर्ष देना स्वीकार किया था। इसका यह मतलब था कि कम्पनी जितना अधिक राजस्व कृपको से वसूल करती, उतनी ही उसे बचत होती। प्रारम्भ मे मालगुजारी की वसूली का भार मुगल शासन काल से चले आ रहे कर्मचारियों पर ही छोडा गया, और उन पर निरीक्षण हेतु अँग्रेज अधिकारी नियुक्त किए गए, परन्तु दोनो ही भ्रष्ट तथा कामचोर सिद्ध हुए और फलस्वरूप कम्पनी की भू-राजस्व से आय १७६५ से १७८० तक लगभग स्थिर ही रही।[1] पर कम्पनी को प्रशासन तथा विशेष रूप से सेना पर काफी व्यय करना पड रहा था और फलतः आय मे वृद्धि के सिवाय कोई विकल्प नही था। १७८४ मे पिट्स इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत कम्पनी का प्रशासन सीधे क्राउन के नियन्त्रण में ले लिया गया तथा लार्ड कॉर्नवालिस को जनरल बनाकर भारत भेजा गया। काफी समय तक विचार-विमर्श करने के पश्चात् १७९३ मे लार्ड कॉर्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त की घोषणा की।

स्थायी बन्दोबस्त—कॉर्नवालिस को स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) से तीन लाभ प्राप्त होने की आशा थी—(अ) राज्य को दीर्घकाल तक भू-राजस्व के रूप मे निश्चित आय की प्राप्ति, (आ) कृपको द्वारा कृषि मे अधिक पूँजी का विनियोग क्योंकि कृपक अपने दायित्व की सीमा से परिचित थे, तथा (इ) प्रशासनिक सुविधा।

वस्तुत ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारतीय जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करना उचित नही समझती थी और इसीलिए स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत राजस्व की वसूली का एकाधिकार जमींदारो या ऐसे व्यक्तियो को दिया गया जिनका गाँवो मे पर्याप्त प्रभाव था। विभिन्न क्षेत्रो मे लगान की दरें निश्चित कर दी गई। जमीदार को कुल मालगुजारी का १/१० स्वय रखकर शेष राजकीय कोष में जमा करने का दायित्व दिया गया। जो कृपक मालगुजारी नही दे पाता, उससे कुर्की द्वारा राजस्व की राशि वसूल करने का भी इन्हे अधिकार दे दिया गया। स्थायी बन्दोबस्त की सबसे बडी विशेषता यह थी कि मालगुजारी की वसूली अधिक होने पर जमीदार ही इस अतिरेक का स्वामी माना जाता था।

परन्तु जैसे-जैसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रशासन-क्षेत्र बढता गया, कम्पनी के प्रबन्धको ने यह अनुभव किया कि स्थायी बन्दोबस्त लोचहीन व्यवस्था थी। यह भी अनुभव किया गया कि कृषि मे सुधार तथा उत्पादन मे वृद्धि केवल तभी सभव हो सकती है जबकि जोतने वाले और राज्य के बीच मध्यस्थ न हो। फलस्वरूप १९वीं शताब्दी मे रैयतवाडी व्यवस्था नए प्रशासनिक क्षेत्रों मे प्रारम्भ की गई।

रैयतवाड़ी व्यवस्था (Ryotwari)—रैयतवाडी प्रथा का परीक्षण सर्व प्रथम मद्रास मे किया गया तथा तत्पश्चात् बम्बई एवं उत्तरी भारत के ब्रिटिश क्षेत्रों मे भी इसे लागू कर दिया

1. Ramesh C. Dutt—Vol. I, op. cit. pp. 39-40 & p 47

गया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत दो मुख्य विशेषताएँ होती हैं। प्रथम तो यह कि राज्य कृषक अथवा रैयत से मालगुजारी की सीधी वसूली करता है। स्थानीय राजकीय कर्मचारी प्रत्येक काश्तकार की भूमि का पूर्ण ब्योरा रखता है तथा राज्य द्वारा घोषित दरों के आधार पर कृषक को राजस्व जमा कराना होता है। द्वितीय, मालगुजारी की दरें २० से ३० वर्षों के लिए निश्चित् कर दी जाती हैं, तत्पश्चात् इनमें संशोधन कर दिया जाता है। यही कारण है कि इस व्यवस्था को **अस्थायी बन्दोबस्त** भी कहा जाता है।

महलवाड़ी प्रथा—उत्तर प्रांत, पंजाब तथा मध्य प्रांत के कुछ क्षेत्रों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने महलवाड़ी व्यवस्था लागू की। इस व्यवस्था के अंतर्गत स्थायी तथा अस्थायी दोनों प्रकार के बन्दोबस्त की विशेषताएँ होती हैं। कृषकों व सरकार के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क तो इसमें रखा गया परन्तु राजस्व के भुगतान का दायित्व एक व्यक्ति को न देकर गाँव के कुछ व्यक्तियों को दिया गया। इस प्रकार रैयतवाड़ी तथा जमींदारी दोनों के गुण इसमें थे। लगान चुकाने की जिम्मेदारी मनोनीत व्यक्तियों को व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों रूप में निभानी होती थी।

१८५८ में कम्पनी का राजनैतिक अस्तित्व समाप्त कर दिया गया तथा सारी सत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथों में सौंप दी गई। परिस्थितियों तथा प्रशासनिक सुविधा के अनुसार जमींदारी, रैयतवाड़ी तथा महलवाड़ी व्यवस्थाएँ ब्रिटिश भारत के विभिन्न प्रान्तों में चलाई जाती रहीं। परन्तु कुल मिलाकर इस अवधि में जो आमूल-चूल परिवर्तन भारतीय भूमि-व्यवस्था में हुए उन्होंने देश की कृषि पर व्यापक प्रभाव डाला।

१९वीं शताब्दी में भूमि व्यवस्था में हुए परिवर्तनों के प्रभाव

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, १८वीं शताब्दी तक कृषक को भूमि का उपयोग इच्छानुसार करने की छूट थी।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि नवीन भूमि-व्यवस्था के कारण भूमि के स्वामी तथा वास्तविक काश्तकार के बीच अन्तर होगया और धीरे-धीरे इनके बीच के मध्यस्थों की संख्या बढ़ती चली गई। जब कभी जमींदार या सरकार द्वारा (रैयतवाड़ी क्षेत्रों में) लगान की दरों में वृद्धि की जाती थे मध्यस्थ भी उसी या उससे ज्यादा अनुपात में अपने हिस्से की मांग करते और फलस्वरूप वास्तविक जोतने वाले पर लगान का भार बढ़ता चला गया। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश सरकार का प्रशासन काफी सीमा तक जमींदारों तथा रैयत से प्राप्त भूमि-करों पर ही निर्भर था। यही कारण था कि भूमिकरों के भार को बढ़ाया जाता रहा। डा० वी० वी० भट्ट द्वारा प्रस्तुत निम्न तालिका इस तथ्य की पुष्टि करती है।[1]

१९वीं शताब्दी में भू-राजस्व

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	भू-राजस्व	करों से प्राप्त कुल आय	(१) का (२) से प्रतिशत
१८६७-६८	२० ३	३३ ७	६० २
१८७७-७८	२० ०	३४ ९	५७ ३
१८९५	२६·२	५६ ५	४६ ४

कुल मिलाकर कृषक को शुद्ध उपज के ६०% से १००% तक लगान के रूप में देना होता था। रमेशदत्त ने लिखा, "कृषि से प्राप्त लाभ का ५०% लिया जाना किसी भी सभ्य सरकार के द्वारा शासित अन्य देश के भू राजस्व से कहीं अधिक भार-पूर्ण है।"

रमेशदत्त ने आगे बताया कि १९वीं शताब्दी में भारतीय भूमि कृषक पर भूमिकर के अतिरिक्त विशिष्ट करों का भार भी था। उनके मतानुसार न केवल भूमिकर देश के अधिकांश भागों में

---

1 V V Bhatt—op cit p 41

अत्यधिक थे अपितु वे अनिश्चित भी थे तथा राज्य कभी भी इनमे वृद्धि कर सकता था। उन्होंने आगे लिखा,

"इन नियमो के अतर्गत विश्व के किसी भी देश को रखा जाता, वहाँ की कृषि का ह्रास होना स्वाभाविक था। भारत के कृषक मितव्ययी, परिश्रमी तथा शातिप्रिय होने पर भी निर्धनता साधनहीनता तथा सदैव अकालो व भुखमरी की दशा मे पाए जाते हैं।[1]

१८५६ व १८७६ के बीच सरकार की भू-राजस्व प्राप्ति मे १५% वृद्धि कर दी गई। अवध में यह वृद्धि ३७%, बरार मे ३०%, बम्बई मे २३%, उत्तर-पश्चिमी प्रातों तथा मध्य प्रात मे १४%, मैसूर में १०% तथा मद्रास मे ५.१% हुई। इस प्रकार सरकार ने लगान की दरो मे काफी परिवर्तन किए फलस्वरूप कृषक पर भार बढ़ता चला गया।[2]

परन्तु उसे स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नही थे जिससे कृषक भूमि को बेचने या हस्तातरित करने का कोई अधिकार नही था। परन्तु जैसे-जैसे ग्राम समुदाय व कृषक के बीच चले आर हे संबन्धो को समाप्त कर दिया गया, कृषको को भूमि का स्वत्व भी दे दिया गया। रैयतवाडी व्यवस्था में कृषक को सर्वाधिक अधिकार दिए गए। वह अब भूमि को बेच सकता था अथवा हस्तातरित कर सकता था। दो कृषको के मध्य विवादो को जहाँ पहले ग्राम समुदाय द्वारा हल किया जाता था, अब वे अदालतो मे जाने लगे।

जनसख्या मे वृद्धि होने के साथ-साथ भूमि की माँग बढी तथा फलस्वरूप रैयतवाडी क्षेत्रो मे जहां एक ओर साझे पर जुताई की परम्परा का विस्तार हुआ वही दूसरी ओर भूमि का मूल्य बढ जाने के कारण कृषक की साख बढी जिससे उसने अधिक ऋण लेना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार रैयतवाडी से कृषि व्यवस्था पर निम्न प्रभाव हुए

(i) साझे पर जोतने की प्रणाली का विस्तार, (ii) भूमि का उपविभाजन, क्योकि अब कृषक को आशिक अथवा पूर्णरूप मे अपनी जोत को बेचने का अधिकार दे दिया गया था, (iii) कृषक की ऋण लेने की क्षमता मे वृद्धि जिससे ऋण ग्रस्तता मे वृद्धि हुई, (iv) लगान में वृद्धि के रैयतवाड़ी क्षेत्रो मे साधारणतया भी लगान की दरें अपेक्षाकृत अधिक थी परन्तु साझे पर भूमि को जोतने की प्रथा जैसे-जैसे बढती गई वास्तविक जोतने वाले पर लगान का भार बढता गया। (v) भूमि सम्बन्धी विवादो का प्रारम्भ तथा मुकदमे बाजी मे वृद्धि।

इसी प्रकार जमीदारी व्यवस्था (स्थायी बदोबस्त) वाले क्षेत्रो की कृषि पर निम्न प्रभाव हुए :

(i) जमीदार द्वारा कृषको से अमानुषिक व्यवहार, (ii) अनेक जमीदारो द्वारा भूराजस्व की वसूली के अधिकारो का हस्तातरण तथा फलस्वरुप उनका कृषि से कोई प्रत्यक्ष संबन्ध नही रह गया, (iii) भू-धारण की सुरक्षा की समाप्ति-जमीदार या उसका प्रतिनिधि किसी भी समय कृषक को बेदखल कर सकता था, (iv) मनमाने ढग से लगान की वसूली तथा लगान की दरो मे वृद्धि।

दोनो ही प्रकार की भूमि व्यवस्थाओ मे सरकार ने पूर्णतया देश की कृषि-व्यवस्था के प्रति उदासीनतापूर्ण नीति अपनाई। जमीदारी व्यवस्था मे तो मध्यस्थो के कारण सरकार की नीति तटस्थतापूर्ण हो गई जबकि रैयतवाडी के अंतर्गत कृषको की समस्याओ को समझने की आवश्यकता ही अनुभव नही की गई। **परिणामस्वरूप स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक कृषि के विकास हेतु ब्रिटिश सरकार ने कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाए।**

ब्रिटिश सरकार ने काश्तकारो को भू-धारण को सुरक्षा देने के लिए विशेष रूप से जमीदारी क्षेत्रो के लिए १८५९ मे एक कानून (Act X of 1859) बनाया, जिसमे यह व्यवस्था की गई कि यदि कोई कृषक किसी भूमि को १२ वर्ष या इससे अधिक समय से जोत रहा हो तो

---

1. Ramesh Dutt—The Eco. History of India Vol II p. X
2. B. M Bhatia—Famines in India, 2nd Ed. (1967) p. 129.

जमींदार न तो उसे बेदखल कर सकता था और न ही उससे अधिक दर पर लगान वसूल कर सकता था। परन्तु सभवत जमींदार सरकारी अधिकारियों से अधिक सुदृढ स्थिति मे थे और फलस्वरूप यह कानून न तो काश्तकारो को कोई सुरक्षा प्रदान कर सका और न ही इससे लगान मे वृद्धि को रोका जा सका।[1]

कुल मिला कर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि ब्रिटिश प्रशासन की रुचि भारतीय कृषि के विकास मे नही थी अपितु उनका प्रमुख उद्देश्य अधिकतम राजस्व वसूल करना था। इसका प्रमाण तो इसी तथ्य से मिलता है कि १८७० ८० मे २३० करोड रुपए से अधिक भू राजस्व के रूप मे वसूल किए गए परन्तु सिंचाई के साधनो के विकास पर राज्य ने इस अवधि मे केवल २५ करोड रुपए खर्च किए। यही सब भारतीय कृषि के विकास में गतिरोध लाने को पर्याप्त था। वास्तविक बात तो यह थी कि अंग्रेज अधिकारी सिंचाई अथवा कृषि व्यवस्था के अन्य सुधारो को पैसे की बरबादी मात्र मानते थे।[2]

औद्योगिक व्यवस्था मे परिवर्तन हस्तकलाओ का पराभव

यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि १८वी शताब्दी की समाप्ति तक भारत औद्योगिक दृष्टि से अत्यत विकसित अवस्था मे था। यद्यपि ये उद्योग आधुनिक तकनीकी पर आधारित नही थे तथा यत्रो व शक्ति का उपयोग इनमे नही था तथापि भारतीय शिल्पकार स्थानीय माग को पूरा करने के बाद काफी मात्रा मे वस्तुएँ अन्य देशो को भेजते थे। परन्तु १९वी शताब्दी के प्रारम्भ से ब्रिटिश सरकार की नीति तथा अन्य कारणो से इन उद्योगो का पराभव प्रारम्भ हुआ। रमेश दत्त ने लिखा

'(उद्योगो के विषय मे) ब्रिटेन की नीति भारत के प्रति वैसी ही थी जैसी कि अन्य उपनिवेशो के प्रति अपनाई गई थी—यानी भारतीय शिल्पकारो का दमन ब्रिटेन म इनकी वस्तुओ पर भारी आयात कर, तथा भारत के बाजारो मे ब्रिटेन म बनी वस्तुओं को थोपना।[3]

१८वी शताब्दी के अत तक भारतीय उद्योगो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूती वस्त्र उद्योग था। दुर्भाग्य से इग्लैंड मे भी सूती वस्त्र उद्योग मे ही सबसे पहले क्राति हुई। इसके दो प्रभाव हुए—प्रथम तो यह कि इग्लैंड भारत से जो वस्त्र मगाता था उसमे तेजी से कमी हुई और दूसरे भारतीय बाजारो मे येनकेन प्रकारेण ब्रिटेन मे बना कपडा थोपा गया। १९वी शताब्दी के प्रारम्भ तक इग्लैंड के बाजारो मे १३ से १४ हजार गाँठें भारतीय कपडे की जाती थी परन्तु तीन दशक के भीतर यह निर्यात ४सौ गाँठो से भी कम रह गया। दूसरी ओर जहा १८वी शताब्दी तक भारत सूती वस्त्र का आयात नही करता था। १८१४ तक ८ लाख वर्ग गज तथा १८३५ तक ५२ लाख वर्ग गज कपडा भारत मे इग्लैंड से मगाया जाने लगा।

सूती वस्त्र के साथ साथ रेशमी वस्त्रो शकर तथा अन्य उद्योगो म भी गतिरोध उत्पन्न हुआ। डा० गाडगिल ने कुटीर उद्योगो को गावो तथा शहरो के उद्योगो के रूप मे विभाजित करते हुए बताया कि शहरो के कुटीर उद्योग या हस्तकलाएँ ही विश्व मे सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखी जाती थी। गावो के कुटीर उद्योग कला-पूर्ण वस्तुओं का सृजन करने की अपेक्षा ग्रामीण जनता की आवश्यकताओ को पूरा करते थे। इन उद्योगो का आज भी देश की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था मे पर्याप्त महत्व है। परन्तु १९वी शताब्दी म जो भी घटनाएँ हुई उन्होने हमारी हस्तकलाओ या शहरो के कुटीर उद्योगो को नष्ट प्राय कर दिया। डा० गाडगिल ने बताया कि १८८० तक भारत की हस्तकलाओ का पराभव हो चुका था।[4]

हस्तकलाओ के पराभव के कारण

(१) राज दरबारो की समाप्ति—हस्तकलाओ के पारखी साधारणतया राजा महाराजा या सामन्त लोग ही हुआ करते थे। जैसे जैसे १९वी शताब्दी मे ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार

1 Ibid, pp 130 32
2 Ramesh Dutt (Vol II) op cit p 263
3 Ibid p vi
4 D R Gadgil—Industrial Evolution in India pp 40-41

हुआ यहाँ के अनेक राजाओं व नवाबों की स्वायत्तता और साथ ही इनकी आय भी सीमित होगई और फलस्वरूप कलाकारों को मिलने वाला राजकीय सम्मान तथा आय दोनों की भी समाप्ति होगई।

(२) **इंगलैंड में भारतीय वस्तुओं के आयात पर रोक**—औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ इंग्लैंड में उद्योगपतियों का प्रभाव बढा। धीरे-धीरे इन्हें यह आशंका होने लगी कि भारत से आने वाली वस्तुएँ, विशेष रूप से सूती वस्त्र आंग्ल उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकते हैं। फलस्वरूप १८१२ के बाद भारतीय वस्तुओं पर बहुत अधिक कर लगा दिए गए। किन्हीं-किन्हीं वस्तुओं पर ये कर ४००% तक भी थे।

विभिन्न प्रकार के सूती वस्त्रों पर ३७½ प्रतिशत से ६७·५% तक, शकर पर २००%, कालीन पर ५०% तथा बर्तनों पर ६२·५% कर लगाए गए।[1] रेशमी वस्त्रों का आयात तो पूर्णत बन्द कर दिया गया।

होरेस विल्सन ने इन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा, "**यदि ये कर नहीं होते तो शायद पैस्ले तथा मैंचेस्टर के कारखाने शैशवावस्था में ही बन्द करने पड़ते और फिर शायद ही उनका पुनर्जन्म हो पाता। इनका पोषण भारतीय हस्तकलाओं के बलिदान से हो सका।** आगे उन्होंने चेतावनी देते हुए कहा—"यदि भारत स्वतंत्र होता तो शायद ब्रिटिश सरकार से इसका बदला लेता, पर वह तो विदेशियों की दया पर निर्भर था।[2]

(३) **आयात पर नाम मात्र को कर**—श्री रमेशदत्त ने बताया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मुक्त व्यापार के नाम पर भारत में विदेशों से आने वाली वस्तुओं पर बहुत थोड़े कर लगाए। किसी भी वस्तु पर अधिक से अधिक आयात कर १०% था। परिणामस्वरूप भारत में विदेशी वस्तुओं का आगमन सुगम हो गया और यहाँ आयात बढ़ते गए।

(४) **शिल्पकारों पर अत्याचार**[3]- १८वीं शताब्दी में भी ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा नियुक्त ठेकेदार बंगाल के विशेषरूप से ढाका के शिल्पकारों को पेशगी रुपए देकर मनमाने ढंग से उन पर दबाव डालते थे। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने पर शिल्पकारों को जुर्माना देना पड़ता था। लेकिन १८वीं शताब्दी के मध्य में ठेका-प्रणाली को समाप्त कर दिया गया। अनेक निर्धन व साधनहीन शिल्पकारों को पेशगी रुपया देकर अब कम्पनी बाजार मूल्य से १५% से ४०% तक कम कीमत पर उनसे रेशमी व सूती वस्त्र खरीद लेती थी। प्रशासन का अधिकार मिलने पर यह दमन व शोषण की प्रक्रिया और तीव्र हुई तथा आंग्ल वस्त्र उद्योग को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से इन पर अमानुषिक अत्याचार भी किये जाने लगे। **इस प्रकार अनेक शिल्पकारों को दमन चक्र के माध्यम से भी अपना काम छोड़ने को बाध्य किया गया।** सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि बंगाल की दीवानी के बाद कम्पनी ने ऐसे कानून बना दिये थे जिनसे पेशगी लेकर कपड़ा अन्य किसी व्यक्ति को बेचने पर बुनकरों को अदालत द्वारा अनेक प्रकार की सजाएँ दी जा सकती थी।

(५) **भारतीय धनिक वर्ग द्वारा पाश्चात्य संस्कृति का अनुगमन**—जैसे-जैसे भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व बढ़ता गया, देश के धनिक वर्ग (जो हस्तकलाओं को प्रोत्साहन देने में सक्षम था) में से अधिकांश लोग अंग्रेज अधिकारियों का कृपापात्र बनने के लिए पाश्चात्य संस्कृति का अनुगमन करने लगे। गाडगिल के कथनानुसार यह वर्ग "हर विदेशी तौर-तरीके को अपनाने तथा हर भारतीय पद्धति का तिरस्कार करने में गौरव की अनुभूति करता था।"[4]

(६) **आधुनिक उद्योगों से प्रतियोगिता**—भारतीय शिल्पकारों को देश तथा विदेश के बाजारों में आधुनिक उद्योगों से प्रतियोगिता करनी पड़ रही थी। राज दरबारों की समाप्ति के कारण उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय होती जा रही थी। दूसरी ओर इंग्लैंड के उद्योगपति अधिक सम्पन्न व संगठित थे। इसके अतिरिक्त शिल्पकार हाथ से वस्तुएँ बनाते थे जिससे हस्तकला की

1. केशवदेव महारिया—ब्रिटिश भारत का आर्थिक विकास (१९२१)
2. James Mill—History of British India (1848) p. 385
3. R K Mukergee—op cit pp. 151-53
4. Gadgil op cit. p. 41

वस्तुएँ इंग्लैंड में शक्तिचालित यन्त्रों द्वारा निर्मित वस्तु की अपेक्षा महँगी पड़ती थी। फलस्वरूप साधारण नागरिक भी विदेशी वस्तुओं का उपयोग करने लगे।

(७) आंतरिक कर—मेजर बसु ने बताया कि विदेशी बाजार हाथ से निकल जाने के बावजूद हस्तकलाओं का पराभव नहीं होता। क्योंकि देश में ही इनके लिए विशाल बाजार उपलब्ध था। परन्तु १८३२ के बाद एक प्रांत में दूसरे प्रांत को वस्तुओं के आवागमन पर चुंगी लगादी गई ओर फलस्वरूप आंतरिक मांग की पूर्ति में भी इनका योगदान असम्भव हो गया।[1]

(८) यातायात के साधनों का विकास—मेजर बसु १९वी शताब्दी के उत्तरार्ध में रेलों व सड़कों के विकास को भी हस्तकलाओं के पराभव का एक मुख्य कारण मानते हैं क्योंकि इनके कारण अब इंग्लैंड में बनी हुई वस्तुएँ देश के प्रत्येक कोने तक पहुँचाई जा सकती थी।

यह था भारत की हस्तकलाओं का दुखद अंत, जिन्होंने भारत की ख्याति को विश्व के हर कोने तक व्याप्त कर दिया था, जिन्होंने यूरोप मिस्र, यूनान, फारस, अरब व चीन के लोगों को अपनी अद्वितीय कला के कारण आश्चर्यचकित किया हुआ था तथा जिन्होंने भूतकाल में भारत को "महान गौरवशाली हिंद" के रूप में प्रस्तुत किया हुआ था।

हस्तकलाओं के पराभव के परिणाम

जैसे-जैसे हस्तकलाओं का पराभव हुआ वैसे वैसे शिल्पकारों का आर्थिक संकट बढ़ता गया तथा शनैः-शनैः इसने समूची अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर लिया। हम अब इन्हीं प्रभावों की व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

(१) कृषि पर अधिक निर्भरता—पिछले पृष्ठों में यह बताया जा चुका है कि १८वी शताब्दी के अंत तक कृषि भारत का प्रमुख व्यवसाय होने पर भी उद्योगों व व्यापार की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण नहीं थी। कभी-कभी तो जमीन जोतने के लिए राजकीय कर्मचारी काश्तकारों पर दबाव भी डालते थे। अनुमानतः १८वीं सदी के अंत तक कृषि में संलग्न व्यक्तियों का अनुपात कुल कार्यशील जनसंख्या का ४५ से ५०% तक था। परन्तु जैसे जैसे हस्तकलाओं का लोप होता गया, शिल्पकारों के समक्ष जीविका यापन की समस्या प्रारम्भ हुई। वैकल्पिक रोजगार के अभाव में कृषि ही उन्हें आश्रय दे सकती थी। परिणामस्वरूप कृषि पर निर्भर व्यक्तियों का अनुपात बढ़ा और १८६१ तक यह ५५% तथा १९११ तक ७२% हो गया।[2]

(२) व्यापार की स्थिति में परिवर्तन—१८वी शताब्दी के अंत तक भारत अधिकांशतः तैयार वस्तुएँ बाहर भेजता था। केवल कच्चा रेशम पर्याप्त मात्रा में यहाँ से इंग्लैंड भेजी जाती थी। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कच्चे माल की मांग बढ़ी और भारत जैसा विशाल उपनिवेश ही वहाँ की कपास, जूट और अन्य कच्चे पदार्थों की मांग को पूरा कर सकता था। दूसरी ओर इंग्लैंड के कारखानों में बनी वस्तुओं के लिए विशाल बाजार भारत में उपलब्ध था। जैसे जैसे हस्तकलाओं का पराभव हुआ, भारत में इंग्लैंड से तैयार वस्तुएँ आने लगी और इसके बदले यहाँ से कच्चे माल का निर्यात बढ़ता गया। १९वी शताब्दी के प्रारम्भ तक १४ हजार गाँठ सूती कपड़ा भारत से केवल इंग्लैंड को भेजा जाता था परन्तु १८२९ तक यह मात्रा केवल ४३३ गाँठ रह गई। सूती वस्त्र का आयात १८१३ में १ लाख स्टर्लिंग पौंड का था, परन्तु १८५८ तक भारत में ४८ लाख स्टर्लिंग पौंड का कपड़ा बाहर से आने लगा।[3] इसी प्रकार लोहे की वस्तुएँ व मशीनें बाहर से आने लगी।

(३) भूमिहीन कृषकों की समस्या—१८वी शताब्दी तक भूमि की मांग बहुत अधिक नहीं थी। परन्तु जैसे-जैसे शिल्पकारों का कृषि क्षेत्र में प्रवेश हुआ, भूमि की मांग बढ़ी। उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक अकालों के कारण गांवों के कुटीर व्यवसायी भी अपनी जीविकायापन करने में

---

1 B D Basu—the ruin of Indian Trade & Industries pp 10 11
2 See Rajni P Dutt India Today & Tomorrow p 73
3 Ramesh C Dutt—Vol V, p 204 vol, II, p 11

४

असमर्थ हो चले थे। नगरों से आने वाले शिल्पकारों में से कुछ ही भूमि खरीदकर खेती करने की स्थिति में थे। परिणाम यह हुआ कि कृषि-क्षेत्र में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ती गई जो भूमिहीन थे और केवल श्रम द्वारा जीविकायापन करना चाहते थे।[1]

(४) निर्धनता—शिल्पकारों विशेषकर बुनकरों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त खराब होती गई। डा० फ्रांसिस बुकेनन के भ्रमण द्वारा प्रस्तुत तथ्य इस बात को प्रदर्शित करते है कि प्रसिद्ध औद्योगिक नगर (ढाका, मेरिया पट्टम, आनूर) मे १९वी शताब्दी के मध्य तक उजाड़ होने लगे थे तथा जो शिल्पकार वहाँ बचे भी थे उनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय थी।

इस प्रकार कुटीर उद्योगो के पतन ने भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया।

इस प्रकार १९वीं शताब्दी मे अँग्रेज प्रशासन की नीतियो के कारण कृषि तथा उद्योग दोनों पर प्रतिकूल प्रभाव हुए। लेकिन १९वी शताब्दी के मध्य से, विशेषरूप से १८५७ की असफल सैनिक क्रान्ति के बाद से रेलो का विकास प्रारम्भ हुआ। रेलो के विकास को ब्रिटिश सरकार की सृजनात्मक नीति का परिचायक माना जाता है। **हमे इसलिए अब यह देखना है कि रेलों के निर्माण की नीति क्या वास्तव में देश के आर्थिक विकास के उद्देश्य से बनायी गई थी, अथवा इसके पीछे राजनैतिक अथवा आर्थिक क्षुद्र-हितों की पूर्ति का लक्ष्य निहित था?**

रेलों का निर्माण
(Construction of Railways)

१९वी शताब्दी के मध्य से ही यह अनुभव किया जाने लगा था कि भारत मे रेल-मार्गो का विकास होना चाहिए। रमेशदत्त का कथन है कि इस समय इंगलैंड की संसद मे निरन्तर इस बात के लिए सरकार पर दबाव डाला जा रहा था कि वह भारत मे प्रशासनिक सुविधा के लिए रेलो का निर्माण प्रारम्भ कर। इसके लिए यह तर्क प्रस्तुत किया जा रहा था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के विभिन्न भागो मे प्रशासनिक समरूपता केवल परिवहन के विकास द्वारा ही ला सकती थी।

इंगलैंड की संसद मे एक दूसरा वर्ग भी था जो भारत में रेलो के निर्माण हेतु बल दे रहा था और यह था उद्योगपतियों का समूह, जिन्हे भारत मे वहाँ के कारखानों मे बनी वस्तुओ के लिए एक विशाल बाजार दिखाई देता था। इन उद्योगपतियो ने इस बात के लिए जोर दिया कि भारतीय बन्दरगाहो से देश के प्रमुख नगरों तक रेलो का जाल बिछाया जाय।

लेकिन इससे भी जरूरी बात जो रेलों के विकास मे सहायक हुई वह यह थी कि इस समय तक इंग्लैंड के अनेक पूंजीपतियो के पास अतिरिक्त पूंजी जमा हो गयी थी और वे इसका लाभप्रद विनियोग कही भी करना चाहते थे। इन पूंजीपतियो ने भी इंगलैंड की सरकार पर भारत मे रेलो के विकास हेतु हर सम्भव दबाव डाला।[2]

परन्तु लॉर्ड डलहौजी ने भारत आने के बाद यह अनुभव किया कि भारत के विभिन्न भागो मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बढते हुए राजनैतिक प्रभाव के प्रति विद्रोह की ज्वाला भड़क रही थी। ब्रिटिश साम्राज्य की नीव मजबूत बनाने के लिए सैनिक छावनियो में सुदृढ़ सुरक्षा-व्यवस्था रखना आवश्यक था और यह तभी हो सकता था जब रेल मार्गो द्वारा सारी छावनियों का सम्बन्ध जोड दिया जाता। **वस्तुत सैन्य व्यवस्था ही रेलों के निर्माण की पृष्ठभूमि में सबसे महत्वपूर्ण कारण था।**

जो आंग्ल पूंजीपति अपनी अतिरिक्त पूंजी को भारतीय रेलो के विकास हेतु लगाना चाहते थे वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी (तथा १८५८ के बाद ब्रिटिश सरकार) से न्यूनतम प्रतिफल की गारंटी चाहते थे और इसी गारंटी के पश्चात् रेलो का विकास भारत मे सम्भव हो सका।

---

1. D R Gadgil—op. cit. p 43
2. A R Desai—Social Background of Indian Nationalism pp. 118-19 also see Amba Prasad—Indian Railways (1960) pp 46-47.

लेकिन कालांतर में राज्य के दृष्टिकोण में परिवर्तन होते रहे । अब हम प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक के रेलो के विकास की समीक्षा करेंगे । सुविधा के लिए इस अवधि को हम तीन चरणों में बाँट सकते हैं

(१) पुरानी गारंटी प्रणाली (१८४६ से १८६९)
(२) राज्य द्वारा रेलो का निर्माण (१८६९ १८७९)
(३) नयी गारंटी प्रणाली (१८७६-१९१४)

पुरानी गारंटी प्रणाली (१८४९ से १८६९)

१८४५ में रेलों के निर्माण हेतु इंग्लैंड में दो कम्पनियों की स्थापना की गयी—ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी तथा ग्रेट इंडियन पेनन्सुला रेलवे कम्पनी । कुछ समय तक इन कम्पनियों तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सचालकों के बीच भारत में रेल निर्माण की शर्तों पर समझौता नहीं हो सका ।

पाठकों की जानकारी हेतु १९वीं शताब्दी में हुए रेलो के विकास का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है

(१) पुरानी गारंटी पद्धति ·

अगस्त, १८४९ में उपरोक्त दोनों कम्पनियों तथा इंग्लैंड के भारत सचिव के बीच प्रथम अनुबन्ध पर हस्ताक्षर किये गए । इसके पश्चात् अनेक दूसरी कम्पनियों की स्थापना की गई और उन्होंने भी भारत सचिव के साथ रेलों के निर्माण हेतु प्रसंविदों पर हस्ताक्षर किए । इन प्रसंविदों की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थी [1]

(i) मुफ्त भूमि की स्वीकृति, (ii) पूंजी पर ४, प्रतिशत से ५ प्रतिशत तक ब्याज की गारंटी, जिसका भुगतान २२ पैसे प्रति रुपये के हिसाब से किया जाता था (iii) गारंटी दी गई राशि (४½ से ५ प्रतिशत) से जितना लाभ अधिक होता था उसका वितरण कम्पनी तथा सरकार समान रूप से कर लेती थी (iv) कर्मचारियों की नियुक्ति के अतिरिक्त सभी महत्त्वपूर्ण मामलों में राज्य का एक सीमा तक नियन्त्रण रखा गया, (v) २५ अथवा ५० वर्ष के पश्चात् राज्य को यह अधिकार था कि वह रेलो को अपने नियन्त्रण में लेकर ३ वर्ष के औसत मूल्य (शेयरों पर) से कम्पनियों की क्षतिपूर्ति कर दे ।

इनके अतिरिक्त निम्न मुख्य बातें इन प्रसंविदों में और रखी गई थी

(vi) डाक तथा डाक-विभाग के कर्मचारियों से भाड़ा नहीं लिया जाएगा । (vii) रेलवे बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की बैठकों में सरकारी प्रतिनिधि डायरेक्टर के रूप में भाग लेगा तथा वह सभी मामलों पर निषेधाधिकार का उपयोग कर सकता था (viii) कम्पनी द्वारा निर्धारित पूंजी न लगाने अथवा कार्य को पूरा न करने पर राज्य स्वयं वह कार्य पूरा करके कम्पनी से आवश्यक राशि वसूल कर सकता था, (ix) ९९ वर्ष बाद स्वत. ही राज्य समस्त रेल-यातायात को खरीद लेगा ।

इस प्रकार रेलों के विकास की प्रारम्भिक अवधि में राज्य ने न्यूनतम लाभ की गारंटी देकर रेलो के निर्माण हेतु पूंजी को आकर्षित किया । १८५४ से १८५६ के बीच केवल तीन महत्त्वपूर्ण रेल-मार्गों का निर्माण किया गया । इनके उद्घाटन का समय व रेलमार्गों की लम्बाई इस प्रकार रहे थे

कम्पनी का नाम	नाम रेलमार्ग	पूरा होने का वर्ष	लम्बाई मील में
ग्रेट इंडियन पेनन्सुला रेलवे क०	बम्बई कल्याण	१८५४	३७
ईस्ट इंडियन रेलवे क०	कलकत्ता रानीगंज	१८५५	१२१
मद्रास रेलवे क०	मद्रास-अर्काट	१८५६	६५

1. Nalinakhsa Sanyal, *Development of Indain Railway* (1930), Chapter 2 and Dr. Amba Prasad, op cit pp 50 51

इन तीनों कम्पनियों ने पिछले पृष्ठ पर दिये हुए रेल-मार्गों के विस्तार हेतु भी कार्य जारी रखा और १८५७ तक बम्बई-कल्याण मार्ग में ५४ मील रेल-मार्ग और जोड़ दिया गया। इसके अतिरिक्त अन्य छोटी कम्पनियाँ भी उस समय थी, पर उनका कोई महत्त्व नही था।

परन्तु पुरानी गारंटी पद्धति भारत-स्थित ब्रिटिश सरकार के लिए एक भार बन गई और १८४९ से १८६९ तक औसत लाभ केवल ३ प्रतिशत तक रहे। फलस्वरूप भारत की जनता से अधिक कर वसूल करके शेष २ प्रतिशत राशि कम्पनियों को चुकाई गई। रमेशदत्त द्वारा प्रस्तुत एक विवरण के अनुसार १८४९ से १८५८ तक दस वर्ष में पिछले पृष्ठ पर दी गई तीनों कम्पनियों को गारन्टी के अन्तर्गत इस प्रकार राज्य द्वारा भुगतान किया गया :[1]

	(लाख पौंड में)
ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी	१५·२८
ग्रेट इंडियन पेनन्सुला रेलवे कम्पनी	४·५६
मद्रास रेलवे कम्पनी	२·६१

१८५८ में आंग्ल संसद ने एक विशेष समिति की नियुक्ति उपरोक्त घाटे की व्यवस्था तथा रेलों के निर्माण में होने वाले विलम्ब की जाँच हेतु की, लेकिन उस कम्पनी ने भारत सरकार की तत्कालीन नीति का समर्थन कर दिया और फलस्वरूप कोई परिवर्तन सम्भव नही हुआ। १८६० के पश्चात् रेलवे कम्पनियो की फिजूलखर्ची और भी बढ़ गई तथा लाभ की निम्नतम गारंटी होने के कारण यह भार भारतीय जनता पर पड़ता गया। अगस्त १८६७ में भारत के वाइसराय लार्ड लॉरेन्स ने बताया कि कम्पनियाँ रेल-मार्गों के निर्माण में ८·१ करोड़ पौंड व्यय करती थी. सरकार को उन्हीं रेल-मार्गों के लिए ७५ लाख पौंड की भूमि एवं देखरेख, १·४५ पौंड वास्तविक आय के आधिक्य के ब्याज तथा ४५ लाख गारन्टी के ब्याज आदि के लिए देना पड़ता था।[2]

राज्य द्वारा नियुक्त विभिन्न उच्च अधिकारियों ने रेलवे कम्पनियो के प्रशासन, अपव्यय और अव्यवस्था की कड़ी आलोचना की। विलियम थार्नटन ले० कर्नल चैस्ने, विलियम मैसे, लार्ड मेयो तथा लॉर्ड लॉरेन्स ने संसदीय समिति के समक्ष १८७२ में इन सब बुराइयों की चर्चा की और यह बताया कि १८६९ तक कम्पनियो के संचालको ने कभी लागतो को नियन्त्रित रखने का प्रयास नही किया। एक अनुमान के अनुसार तो भारत में ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी द्वारा एक मील रेल-मार्ग का निर्माण व्यय ३०,००० स्टर्लिंग पौंड आता था, जो सम्भवतः विश्व में सबसे अधिक लागत थी। डा० सान्याल के अनुमानानुसार एकलमार्गी रेलों का निर्माण-व्यय लगभग ९००० स्टर्लिंग पौंड प्रति मील था। बड़े मार्गों में दुहरे मार्गों पर प्रति मील औसत लागत २०,००० स्टर्लिंग पौंड थी।[3] कुल मिलाकर इस गारन्टी व्यवस्था के अन्तर्गत ९.५ करोड़ स्टर्लिंग पौंड का विनियोग हुआ। इस अवधि में सरकार ने कम्पनियों को प्रसंविदे के अनुसार ५४ लाख स्टर्लिंग पौंड चुकाए। इस प्रकार १ करोड़ पौंड से अधिक इस अवधि में रेलों के निर्माण पर व्यय किया गया।

१८६९ तक भारत में ११ बड़े रेल-मार्ग थे, जिनकी लम्बाई ४,८३२ मील थी। लेकिन इस वर्ष, जैसा कि ऊपर लिखा गया है, रेलवे बजट में घाटा बहुत अधिक होने के कारण विवश होकर सरकार ने १८६९ में रेलों का निर्माण-कार्य स्वयं ले लिया।

(२) सरकार द्वारा रेलों का निर्माण एवं प्रबंध (१८६९-७९).

कम्पनियों के अपव्यय तथा उसके कारण भारत सरकार पर पड़ने वाले भार के कारण १८६९ में भारत सचिव को भारत सरकार के लिए ऋण प्राप्त करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। इन ऋणों का उद्देश्य रेलों के निर्माण हेतु पूँजी प्राप्त करना था। चूँकि ये ऋण

1. Ramesh Dutt, op. cit vol II, p 128
2. Indian Railways, One Hundred Years 1853-1953, p 20
3. Dr. Sanyal, op cit. p. 45 & Ramesh Dutt, op. cit. p 258

४ प्रतिशत ब्याज पर मिलते थे जबकि कम्पनियों को ५ प्रतिशत लाभ (या ब्याज) की गारन्टी दी जाती थी, यह वस्तुत: एक बचत थी।

लेकिन रेल-मार्गों के निर्माण मे और भी मितव्ययिता करने के लिए १८७० में सरकार ने ५ फीट ६ इंच चौडा रेल-मार्ग (Guage) बनाने की अपेक्षा ३ फीट ३ इंच चौडा रेल-मार्ग बनाने का निश्चय किया। नई व्यवस्था की दो विशेषताएं थी—प्रथम समस्त नये रेल-मार्गों का निर्माण राज्य द्वारा किया जाएगा, तथा द्वितीय, पुरानी गारन्टी-वाली कम्पनियो को ६ मास की अग्रिम सूचना देकर राज्य खरीद सकेगा।

१८७१-७४ के बीच आंग्ल संसद की विशिष्ट समिति द्वारा स्थिति का अध्ययन करने के बाद सरकारी क्षेत्र मे रेलो के निर्माण हेतु तीन सिद्धान्त लार्ड सेलिस्बरी द्वारा निर्धारित किए गए

(i) रेलो के निर्माण का कोई कार्य विशेष सार्वजनिक कार्य के रूप मे नही किया जाएगा तथा ऋणो द्वारा निर्माण होने पर कम-से-कम उन ऋणों पर दिए जाने वाले ब्याज के समान आय प्राप्त की जाएगी।

(ii) अकाल-सहायता हेतु किये जाने वाले निर्माण-कार्य वर्ष के सामान्य राजस्व मे से पूरे किये जाएँगे तथा यह राशि कम होने पर ही ऋण लिए जा सकेंगे।

(iii) सार्वजनिक कार्यों के लिए सारे ऋण भारत मे ही लिए जाएँगे।

कुछ समय के पश्चात् ही रेलो के निर्माण कार्यों को उत्पादक तथा सुरक्षात्मक आदि दो श्रेणियो मे बाँट दिया गया। उत्पादक कार्य राजस्व के अतिरेक अथवा ऋणों द्वारा पूरे किये जाते थे, जबकि सुरक्षात्मक-कार्य केवल अकाल-ग्रस्त क्षेत्रो तक सीमित रहते थे।

१८७९ के अन्त मे कुल मिलाकर भारत मे ९,००० मील लम्बी रेलवे लाइनें थी, जिनमे से राज्य की रेलें २१७५ मील लम्बी थी तथा शेष संयुक्त रेलवे कम्पनियो की रेलें थी। इस समय तक रेलो की कुल पूँजी १२५ करोड पौंड थी जिसमें से राज्य की पूँजी २५ करोड पौण्ड के लगभग थी।

१८६९ व १८८१ के बीच रेल-मार्गों की कुल लम्बाई ४२६५ मील से बढकर ९,८७५ मील हो गई।

लेकिन राज्य द्वारा रेलो का निर्माण कार्य मितव्ययितापूर्वक किया गया। तथापि राज्य की रेलें पूँजी पर केवल २.१५ प्रतिशत लाभ प्रदान करती थी जबकि कम्पनियो का औसत लाभ ६.२० प्रतिशत होता था (कुल लाभ)। सरकार भी लगातार राज्य के कोष से धन विनियोग करने की स्थिति मे नही थी। इन्ही दिनो १८७४ से १८७९ के बीच अनेक भयंकर दुर्भिक्ष तथा अफगान-युद्धो के कारण सरकार की वित्तीय स्थिति कमजोर होने लगी थी। फलत: इंग्लैण्ड तथा भारत मे राज्य के वरिष्ठ अधिकारियों ने यही उचित समझा कि रेलो का स्वामित्व तथा सम्बन्ध राज्य के हाथ मे नही हो, यद्यपि व्यवस्था राज्य की देख-रेख मे हो। इन्ही दिनो (१८८०) मे प्रथम अकाल आयोग ने सुझाव दिया कि ५,००० मील लम्बे रेल-मार्ग भारत मे तत्काल बनाए जाएं, तथा २०,००० मील लम्बी रेलें (कुल) सुरक्षात्मक उद्देश्यो से बनाई जायें। १८८१ मे एक विशिष्ट की समिति ने निजी कम्पनियों को पुन: प्रोत्साहन देने का सुझाव दिया। यही नही, सीमा-युद्धो तथा उत्तरी पश्चिमी क्षेत्रो पर बाहरी आक्रमण होने के कारण मीटर गेज मार्ग को ब्रॉड गेज मार्ग के रूप मे बदल लेना आवश्यक था। १८८२ से नवीन गारण्टी पद्धति के अनुसार रेलो का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

(३) नयी गारण्टी प्रणाली (१८८२-१९१४)

यद्यपि आंग्ल संसद, भारत सचिव तथा भारत सरकार किसी सीमा तक इस पक्ष मे तो अवश्य थे कि सरकार का रेल-मार्गो का निर्माण तथा रेल-यातायात का प्रबन्ध दोषपूर्ण था और इसीलिए कम्पनियो को १८८२ मे पुनः रेलो का प्रबन्ध तथा निर्माण सौंप दिया गया। इस व्यवस्था मे भी एक प्रकार की गारण्टी रेल कम्पनियो को दी गई थी। लेकिन यह गारण्टी व्यवस्था पहले वाली व्यवस्था से भिन्न थी।

१८८२ से १८८४ के बीच बम्बई, बडौदा एण्ड सेन्ट्रल इण्डिया रेलवे कम्पनी, राजपूताना-मालवा मीटर गेज प्रणाली, बंगाल सेन्ट्रल रेलवे कम्पनी, रोहिलखंड-कुमायूँ रेलवे कम्पनी, बगाल तथा उत्तरी रेलवे कम्पनी और दक्षिण मराठा रेलवे कम्पनी आदि को राज्य ने अपने नियन्त्रण मे ले लिया। इन कम्पनियों के साथ-साथ अन्य रेल कम्पनियो पर भी राज्य का नियन्त्रण रखा गया। नवीन व्यवस्था मे निम्नलिखित विशेषताए थीं -

(i) उपरोक्त सारे रेल-मार्ग राज्य की सम्पत्ति समझे गए, तथापि रेल कम्पनियाँ पूँजी का विनियोग एव रेलो का प्रबन्ध करने हेतु आमन्त्रित की जाती रही। २५ वर्ष के उपरान्त राज्य को यह अधिकार था कि वह रेल-मार्गो का प्रबन्ध भी अपने हाथ मे ले ले।

(ii) कम्पनियो को विनियोग की गई पूँजी पर ३½ प्रतिशत ब्याज देने की घोषणा की गई।

(iii) लाभ (ब्याज का भुगतान करने के बाद) का तीन-चौथाई सरकार को दिया जाना तय किया गया।

इन्ही दिनो एक प्रवृत्ति और प्रारम्भ हुई और यह थी राज्य द्वारा कम्पनियो की खरीद करना तथा उनका प्रबन्ध कम्पनियो को सौप देना। लेकिन इन कम्पनियो मे से कुछ का प्रबन्ध राज्य के पास ही रखा गया और सार्वजनिक निर्माण विभाग (P W D) का ही इन्हे भी एक अग मान लिया गया।

गत शताब्दी के अन्त तक रेल-मार्गों की लम्बाई २४ ७६० मील हो गई थी। अनुमानत तृतीय अवधि (नवीन गारण्टी प्रणाली) मे रेल-मार्गो की लम्बाई ढाई गुनी अधिक हो गई थी। निम्न तालिका उन्नीसवी शताब्दी मे निर्मित रेल-मार्गो की प्रगति को सिद्ध करती है [1]

भारतीय रेल-मार्ग (मील में)

	१८५३	१८७१	१८८१	१९००
रेल-मार्गो की कुल लम्बाई	२०	५०७७	९,८९१	२४७६०

१९०१ मे रेल-मार्गो की कुल लम्बाई २५,३७३ थी और रेल-युग के प्रारम्भ से लेकर १९०१ के अन्त तक रेलो पर ३४० करोड रुपये अथवा २२ ७ करोड स्टर्लिंग पौण्ड खर्च किये जा चुके थे।

यहा यह बता देना उचित होगा कि रेलो मे प्रयुक्त पूँजी का लगभग ६०% राज्य द्वारा १८८० के पश्चात् (मुख्यतः) दिया गया था और कम्पनियो ने राज्य की रेलो पर कुल पूँजी का १२ ५% तथा निजी रेलों पर लगभग २२% अनुपात खर्च किया था।

१९०१ मे राज्य की रेलो के प्रबन्ध की जांच हेतु टॉमस रॉबर्ट्सन को एक विशेष आयुक्त के रुप में नियुक्त किया गया। इन्होने बताया कि भारतीय रेलों की व्यवस्था यूरोपीयन देशों के अतिरिक्त विश्व मे सर्वश्रेष्ठ थी। रॉबर्ट्सन के मत मे यद्यपि क्षेत्र की दृष्टि से रेलो का विकास पर्याप्त नही था तथापि जापान की अपेक्षा भारत मे एक मील लम्बा रेल-मार्ग अधिक लोगो की सेवा करता था।

इस अवधि मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए। प्रथम था रेलो के सम्बन्ध मे अधिनियम पारित किया जाना। १८९० मे रेल अधिनियम द्वारा भाडे की अधिकतम दरो का निर्धारण कर दिया गया, तथा निजी क्षेत्र की रेलो के विषय मे राज्य के नियन्त्रण की सीमाएँ निश्चित कर दी गई। द्वितीय, राज्य ने १८९६ मे निजी क्षेत्र की कम्पनियो पर एक केन्द्रीय सस्था का नियंत्रण करने हेतु यह घोषित कर दिया कि कोई भी कम्पनी भारत मे रेलों के निर्माण हेतु ऋण नही लेगी और राज्य स्वयं ऋण लेकर कम्पनियो मे वितरण की व्यवस्था करेगा।

परन्तु इस अवधि की रेल-व्यवस्था मे सबसे बडा दोष यह था कि सरकार द्वारा नियन्त्रित रेल-कम्पनियों का प्रबन्ध निजी कम्पनियो की रेलो से श्रेष्ठ नही था। १९०१ मे रॉबर्ट्सन ने भी इस विषय पर विस्तार से बताया था।

1. Ramesh Dutt, op. cit, p 548

इसके विपरीत निजी क्षेत्र की कम्पनियों की कार्य व्यवस्था मे तालमेल का अभाव था। राज्य द्वारा नियन्त्रित कम्पनियो तथा गारण्टी-प्राप्त कम्पनियो का विकास सामान्य राजस्व पर निर्भर करता था, क्योंकि रेलो का बजट पृथक् नही था।

१९०५ मे मैके समिति ने सुझाव दिया कि रेलो के विकास पर राज्य को कम से कम १ २५ करोड पौंड प्रति वर्ष पूँजीगत व्यय के रूप मे व्यय करने चाहिए। इसी वर्ष रेल विभाग को सार्वजनिक निर्माण विभाग से पृथक् करके रेलवे बोर्ड के नियन्त्रण मे दे दिया गया।

डॉ० जॉन्सन ने उक्त अवधि की एक बडी विशेषता यह बताई है कि इस अवधि मे १९०० के बाद से रेलो से राज्य को लाभ होने लगा। जहाँ प्रथम ४० वर्षो मे (१९०० तक) राज्य को अनुमानत ५८ करोड रुपए का घाटा हुआ था, १९०० के बाद तेजी से लाभ होने लगा। १९०० तथा १९१४ के बीच रेलो की जो प्रगति हुई उसका प्रमाण निम्न तालिका से मिल जाता है[1]

रेलो का विकास

वर्ष	रेल-मार्गों की लम्बाई	विनियोजित राशि (करोड रु० मे)
१९००	२४ ७५२ मील	३२९ ५३
१९१४	३४ ६५६ मील	४९५ ०६

डा० वीरा एन्स्टे भी बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे हुई रेलो की प्रगति पर सन्तोष व्यक्त करती हुई लिखती है कि किराए एवं भाडे की दरें कम रहने पर भी १९०० व १९१४ के मध्य भारतीय रेलो ने आशातीत विकास किया। इसीलिए १९०० से १९१४ तक के काल को रेलो के द्रुत विकास का काल कहा जाता है।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक रेल-व्यवस्था की आलोचनात्मक समीक्षा

१९वी शताब्दी के अन्त तक भारत मे २४ ७५८ मील लम्बा रेल-मार्ग बनाया जा चुका था और ३२९ करोड रुपए से अधिक राशि का इसमे विनियोग किया जा चुका था। तथापि रेलो के विकास को तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखने से ज्ञात होगा कि ब्रिटिश सरकार ने भारत की तत्कालीन परिस्थितियो के अनुसार यह नीति नही बनाई। लार्ड हैस्टिंग्स लार्ड लारेंस व आर्थर कॉटन ने समय-समय पर यह तर्क प्रस्तुत किया था कि भारत की तत्कालीन परिस्थितियो के अन्तर्गत सिंचाई के साधनो का विस्तार अन्य सभी कार्यो से श्रेष्ठ था। परन्तु आंग्ल संसद के दबाव के कारण भारतीय कृषकों के हितों की पूरी तरह उपेक्षा कर दी गई। इस विशाल देश मे करोडो कृषको के लाभ हेतु सिंचाई-व्यवस्था पर ब्रिटिश सरकार ने १९०० तक केवल २५ करोड स्टर्लिंग पौंड खर्च किए जबकि रेलो के निर्माण पर तथा कम्पनियो को न्यूनतम लाभ की गारटी पर २२२·८ करोड पौड खर्च किए गये।[2]

गारटी के फलस्वरूप रेल कम्पनियो की फिजूलखर्ची का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। राजकीय निर्माण की अवधि मे भी रेलो पर लाभ आशानुरूप नही हो सका क्योंकि रेल व्यवस्था मे चालू खर्चों का अनुपात बढता गया। परन्तु जैसा कि स्पष्ट है, ब्रिटिश सरकार न तो कृषि के विकास हेतु सिंचाई पर धन व्यय करना चाहती थी और न ही घाटे से डर कर रेलो के निर्माण को रोकने के पक्ष मे थी। एक गवाही मे (१८७२) सर आर्थर-कॉटन ने बताया कि उस समय तक रेलो के निर्माण पर १७ करोड स्टर्लिंग पौड का विनियोग हुआ था और सारे खर्चे निकालने के बाद सरकार को ३० लाख पौड का वार्षिक घाटा हो रहा था। दूसरी ओर १ ६ करोड पौंड का विनियोग नहरो तथा जल योजनाओ पर व्यय करके सरकार ५ लाख पौड का शुद्ध लाभ प्राप्त कर रही थी। वस्तुत देश की जनता के हित को उपेक्षित करके भी विचार

1 J Johnson—The Economics of Indian Rail Transport p 18
2 Ramesh Dutt—op cit Vol I, p 216, Vol II, p 265 and 402

किया जाता तो विवेकपूर्ण निर्णय सिंचाई के पक्ष मे होता क्योकि इससे सरकारी कोष मे धन जमा होने की आशा थी जबकि रेलो का निर्माण तो घाटे का सौदा मात्र था। पर यह सब नही हुआ और १९०० तक भारतीय करदाता को ४ करोड स्टर्लिंग पौंड रेलों के घाटे को पूरा करने हेतु देने पड़े।[1] **इस प्रकार भारतीय जनता का शोषण करके रेल कम्पनियों को न्यूनतम लाभ पहुँचाया गया।**

सरकार की रेल-निर्माण नीति का एक बहुत बडा दोष यह था कि रेलो के विकास हेतु देश मे उपलब्ध साधनो (लोहा आदि) का उपयोग नही किया गया। यदि रेलो का विकास भारत मे इस्पात उद्योग को जन्म देता तो इसे ब्रिटिश सरकार की सृजनात्मक नीति का परिचायक माना जा सकता था। डा० भट्ट ने सत्य ही लिखा है, "भारतीय रेलो के विकास ने भारत की अपेक्षा इंग्लैण्ड के लौह व इस्पात उद्योग के विकास मे सहायता की क्योंकि रेल यातायात की सारी सामग्री वहां से आयात की जाती थी।"[2]

रमेश दत्त का कथन है कि रेलो के निर्माण के फलस्वरूप भारत का विदेशी ऋण काफी बढा। १८५८ मे भारत का विदेशी ऋण कुल मिला कर ७ करोड स्टर्लिंग पौंड था, परन्तु १९०० तक यह राशि बढकर २२.५ करोड पौंड तक पहुंच गई। इस वृद्धि के पीछे रेलो मे बढता हुआ विनियोग तथा अफगान-युद्ध ये दो कारण थे।[3]

रेलों के अनुकूल प्रभाव

इस प्रकार रेलो के विकास की कहानी भारतीय करदाता के त्याग की कहानी है। लेकिन इन सबके बावजूद हमे यह स्वीकार करना होगा कि रेलो के विकास से भारत मे एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश सरकार का इसके पीछे कोई भी उद्देश्य क्यों न रहा हो, रेलों के विकास ने देश मे उद्योगों के विकास हेतु एक वातावरण उत्पन्न किया और इसीलिए १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उन औद्योगिक नगरों का विकास हुआ जहाँ रेल व्यवस्था उपलब्ध थी।

रेलों के विकास से दूसरा अनुकूल प्रभाव अकाल निवारण व्यवस्था पर हुआ। स्वय श्री रमेशदत्त ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि १९वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे देश के विभिन्न भागों मे जो भयकर अकाल हुए उनकी गभीरता को रेलों ने काफी सीमा तक कम किया तथा अकालग्रस्त जनता को अनाज की सामयिक पूर्ति उपलब्ध की।

रेलों से तीसरा लाभ यह भी हुआ कि इससे भारत मे आतरिक व्यापार तो बढा ही, हमारे विदेशी व्यापार मे भी काफी वृद्धि हुई। परन्तु इसके उत्तर मे डा० भट्ट आदि यह तर्क प्रस्तुत करते है कि रेलो के विस्तार के कारण ही विदेशी वस्तुएँ भारत के हर कौने तक पहुँच गई तथा यहां के कच्चे माल का निर्यात बाहर किया गया। पर प्रश्न यह है कि तकनीकी ज्ञान व पूँजी के अभाव मे कच्चे माल को बाहर भेजने के अलावा और चारा ही क्या था ?

रेलो के विकास का अन्तिम लाभ यह हुआ कि इनके कारण भारत मे राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने तथा छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयो को दूर करने मे काफी सहायता मिली।

---

1. Ramesh C. Dutt op. cit. Vol. I; Vol. II, pp. 265 & 402
2. V. V. Bhatt—op. cit. Ch 1.
3. Ramesh C. Dutt—op. cit Vol. II, p xii

५

१९वीं शताब्दी मे आर्थिक निकास अथवा सम्पत्ति का उत्सारण
(Economic Drain During the 19th Century)

कुटीर उद्योगा के पराभव तथा प्रतिकूल कृषि व्यवस्था से अधिक घातक आर्थिक निकास सिद्ध हुआ। वस्तुत आर्थिक निकास से हमारा आशय भारत स ब्रिटिश सरकार व नागरिको द्वारा स्वदेश ले जाये गये धन से है। यह धन निरन्तर देश के बाहर जाता रहा तथा आग्ल उद्योगो तथा वहाँ के सत्ताधारियो को लाभ पहुँचाता रहा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापार द्वारा लाभ कमाने की दृष्टि स भारत मे प्रारम्भ की गयी थी और यहाँ से जो वस्तुएँ निर्यात करके उन्होने लाभ कमाया वह भी देश के लिये एक क्षति ही थी फिर भी हम केवल इसे ही आर्थिक निकास नही मानते। आर्थिक निकास के अन्तर्गत प्रत्यक्ष रूप से बाहर भेजे गये धन को सम्मिलित किया जाता है। वस्तुत १७५७ मे प्लासी क युद्ध के बाद भारत के इतिहास मे एक नया मोड आया और इसके बाद से ही आर्थिक निकास प्रारम्भ हो गया। १७६५ मे बगाल की दीवानी मिल जाने पर अब कम्पनी दीवानी के लाभ को भी भारत से इगलैंड भेजने लगी। डा० जे० सी० सिन्हा का अनुमान है कि १७५७ से १७८० के बीच कुल मिलाकर ८ करोड स्टर्लिंग पौण्ड की धन राशि (स्वर्ण व चाँदी के सिक्को के रूप मे) भारत से इगलैंड भेजी गयी।[1] जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार हुआ, आर्थिक निकास मे प्रगतिशील रूप से वृद्धि होती गयी।

आर्थिक निकास को मात्रा—इतिहासकारो का अनुमान है कि १७५७ से १८३३ तक भारत से लगभग १५ करोड स्टर्लिंग पौण्ड का निकास हुआ। प्रोफेसर सी० एन० वकील के मतानुसार १८३४ से १९३९ तक होम चार्जेज के रूप मे कम से कम ८५ करोड स्टर्लिंग पौण्ड भारत से इग्लैंड भेजे गये। इसमे भारत मे रहने वाले अंग्रेजो द्वारा भेजी गयी राशि सम्मिलित नही थी। डा० वी० वी० भट्ट वर्तमान मूल्यो के आधार पर ब्रिटिश शासन काल मे हुए आर्थिक निकास की कुल राशि ६०० करोड पौण्ड बताते है।[2] रमेशदत्त इस अवधि (१७५७ १९३९) मे वार्षिक निकास ३० लाख स्टर्लिंग पौण्ड के लगभग बताते हैं।[3] उनका कथन है कि १९वी शताब्दी के अन्त मे भू-राजस्व १ ७५ करोड पौण्ड था और उस वर्ष (१९०० मे) भारत मे १ करोड पौण्ड की

---

1 See S Chakravarty —Drain theory of Dada Bhoy Naoroji paper presented to the Economic confrence Dec 1968 Other papers submited on drain theory by A C Minocha and O P Mahajan have also been used here

2 V V Bhatt—op cit p 52

3 Ramesh Dutt—Vol II, (pp xi—xiii)

राशि रेलो की पूँजी व अन्य ऋणो के ब्याज तथा सिविल एवं सैन्य खर्चो के बदले भारत से इंग्लैड भेजी गयी। वार्षिक निकास १८३५-३९ मे २७ ४ मिलियन पौण्ड तथा १९०२-३ तक ३४ मिलयन पौण्ड तक पहुँच गया।

आर्थिक निकास को यदि विभिन्न दृष्टिकोण से देखा जाय तो भारत से सम्पत्ति के बहिर्गमन की गम्भीरता और भी स्पष्ट हो जाती है। सर्व प्रथम हम विदेशी व्यापार के दृष्टिकोण को ले सकते हैं। ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत-इंग्लैड व्यापार पर एकाधिकार था। १९वी शताब्दी के मध्य तक (१८४७ तक) कम्पनी ने भारत से इंग्लैंड को ९५ लाख स्टर्लिग पौड की वस्तुएँ निर्यात की जबकि वहाँ से बदले मे ६० लाख पौंड की वस्तुएँ आयात की गईं। इस प्रकार निर्यात के आधिक्य के रूप मे आर्थिक निकास हुआ। फिर सबसे बडी बात यह थी कि यहाँ से भेजी जाने वाली वस्तुओं का मूल्य बहुत कम होता था। यदि बाजार मूल्यों के आधार पर निर्यात की गई वस्तुओं का मूल्य देखा जाय तो आर्थिक निकास (कवल व्यापार में) की रकम बहुत अधिक थी। रमेशदत्त द्वारा प्रस्तुत तालिका के अनुसार अकालों के कारण १९वी शताब्दी के अन्तिम दशक में निर्यात आशानुरूप नही बढ सके तथापि १८९७-१९०० मे १३ मिलियन स्टर्लिग पौड या २० करोड रुपए का निर्यात-आधिक्य था जो वस्तुत भारत से बाहर गया। रमेश दत्त ने निष्कर्ष दिया।[1]

'भारत का विदेशी व्यापार विदेशी लोगो द्वारा विदेशी पूँजी से किया जाता है। व्यापार के ये लाभ यूरोप (विशेषतः इंग्लैंड) मे लाए जाते है और भारत की जनता इनसे वंचित रह जाती है।" कुल मिलाकर १८७८ से १९०० तक २५० करोड रुपए मे अधिक निर्यात का आधिक्य था पर इसमें से अधिकाश विदेशी संस्थाओं को प्राप्त हुआ और यह धन देश के बाहर भेज दिया गया।

आर्थिक निकास का दूसरा रूप होम चार्जेज के रूप मे था। १८१३ के एक कानून के अनुसार मिलिट्री के खर्चे, सिविल तथा व्यावसायिक व्यय तथा भारतीय ऋणो के ब्याज का भुगतान ईस्ट इंडिया कम्पनी को करने को कहा गया। कम्पनी की आय सीमित थी और फलस्वरूप व्यय का अतिरेक (घाटा) बढ़ता गया जिसे कम्पनी ने ऋण लेकर पूरा किया। १८२९ तक ४ ७ करोड पौंड का ऋण इस व्यवस्था के लिए प्राप्त किया गया। १८५८ तक यह राशि ७ करोड पौड तथा १८७७ तक १४ करोड पौड तक पहुँच गई। यह उल्लेखनीय है कि रेलो के निर्माण हेतु भारत मे काफी पूँजी इंग्लैंड से लाई गई जिस पर न्यूनतम लाभ (ब्याज) की गारटी सरकार ने दी थी। इसी बीच १८५७ मे सैनिक क्रांति हुई और उसका व्यय ४ करोड पौंड भी भारत की जनता पर ही थोपा गया। रेल कम्पनियों की फिजूलखर्ची, अफगान व सिखो मे ब्रिटिश सरकार की लडाइयों, सिविल प्रशासन तथा दक्षिण अफ्रीका व चीन मे तैनात भारतीय सैनिकों को लाने ले जाने के खर्चो के फलस्वरूप १८७७ व १९०० के बीच भारत पर इंग्लैंड का ऋण १४ करोड पौड से बढकर २२ ५ करोड पौड (३५० करोड रुपए) होगया।[2]

१८७० मे होम एकाउन्ट्स को मिला दिया गया तथा २ शिलिंग=१ रुपए की विनिमय दर रखी गई। परन्तु रुपया रजतमान पर आधारित था और जैसे-जैसे १८७० के बाद चाँदी की कीमतें घटी, रुपए का वास्तविक मूल्य घटता गया और इस क्षति को निर्यात बढ़ाकर पूरा किया गया। दूसरी ओर अंग्रेज अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए सैन्यशक्ति पर जो भी खर्च कर रहे थे उसका सारा भार भारतीय जनता पर था। १८३८ व १८८६ के बीच अंग्रेजो ने ११ सैनिक अभियान देश की सीमा से बाहर किए जिनमे ३ पर तो असामान्य रूप से धन खर्च हुआ। इनके अतिरिक्त भारत मे भी ब्रिटिश साम्राज्य की नीव सुदृढ बनाने के लिए सैनिक प्रशासन पर बहुत धन खर्च हुआ। वस्तुतः इन सबकी पूर्ति हेतु भारत ने इंग्लैंड से ऋण लिया और उसके ब्याज के रूप मे लाखो रुपए भारतवासी चुकाते रहे।[3]

---

1. Ramesh Dutt—op. cit pp 385-391 डा० लोकनाथन लिखते हैं कि १८३४ के बाद तो यह स्थिति थी कि अधिकाश कृषको को इतना भी मूल्य नही दिया जाता था कि वे लागत को पूरा कर सकें।
2. Ibid, pp. (xiii)
3. See S. Chakravarty—op. cit

होम चार्जेज के रूप मे प्रशासको को दिए गए भुगतान की राशि भी बहुत अधिक थी। अंग्रेज अधिकारियों को अनावश्यक संख्या में भारत भेजा गया। इन अधिकारियों को उनकी योग्यता को दृष्टिगत रखे बिना उच्च पदो पर आसीन किया गया। जॉन शोर ने १८३७ में अपने नोट्स में स्वीकार किया था,

"निम्नतम पद भी, जिसे अंग्रेज अधिकारी स्वीकार करते थे, भारतीयों के लिए वर्जित था।" " हमारा आधारभूत सिद्धात अपने स्वार्थो को पूर्ति हेतु भारत का अधिकतम शोषण करना तथा सम्पूर्ण देश को गुलाम बनाना है।'[1]

रमेशदत्त ने लॉर्ड कर्जन को लिखे गए खुले पत्र मे लिखा था, "विश्व में सबसे महँगी विदेशी सरकार भारत में है तथा यहाँ के राजस्व का एक तिहाई देश में व्यय किए जाने की अपेक्षा बाहर भेज दिया जाता है।" १९वी सदी में भारत मे प्रशासन कितना महँगा था इसका प्रमाण इसी मे मिलता है कि अल्जीरिया में सर्वोच्च न्यायाधीश को ७२० पौंड दिया जाता था जबकि भारत में बगाल के मुख्य न्यायाधीश को ४६११ पौंड प्रतिमाह मिलता था। इस प्रकार उपनिवेशों में भारत अंग्रेज अधिकारियो के लिए सबसे अधिक आय प्रदान करता था।

केवल सिविल प्रशासक ही नही अंग्रेज सिपाहियो पर भी, जो भारतीय सैनिकों में अनुशासन रखने के लिए बुलाए गए थे, स्थानीय सैनिकों के औसत व्यय से ३-४ गुना खर्च किया गया। इसमें से अधिकाश धनराशि प्रशासको व अंग्रेज सिपाहियों द्वारा भारत में खर्च न करके इंग्लैंड भेज दी गई।

इस प्रकार १७५७ से १६०० तक पर्याप्त धन का उत्सारण भारत से किया गया। भारतीय धन से भारत को परतंत्र बनाया गया, विदेशी व्यापार से लाभ कमाया गया, यहाँ तक कि समीपवर्ती देशों मे भी युद्ध किया गया। अंग्रेज पूँजीपतियो की अतिरिक्त पूँजी भारत मे रेलो का निर्माण करने के बहाने विनियोजित की गई। इस अदूरदर्शितापूर्ण नीति के फलस्वरूप भारत पर ऋण का भार बढता गया और ब्याज के रूप मे हमे काफी धन सस्ते निर्यात के रूप मे चुकाना पडा।

पर इसके परोक्ष परिणाम और अधिक भयंकर सिद्ध हुए। भारत के कुटीर उद्योग पहले ही चौपट हो चुके थे, मूल्य-नीति की प्रतिकूलता के फलस्वरूप कृषि मे भी गतिरोध उत्पन्न हो गया। कृषको की विनियोग करने की शक्ति घटती गई और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे गतिरोध उत्पन्न होगया। यह गतिरोध समूची १९वी शताब्दी मे रहा तथा उसका प्रभाव स्वतन्त्रता के पूर्व तक भी रहा। साइमन कुजनेट्स का अनुमान है कि १६८८ में भारत के नागरिक की वार्षिक आय इंग्लैंड के एक नागरिक के समान या इससे थोडी कम थी पर १९२५-२६ तक जहाँ इंग्लैंड के नागरिको की औसत आय कई गुना बढी, भारत मे यह ३०% घट गई। डा० राधाकमल मुकर्जी का अनुमान है कि १८०७ व १९१६ के बीच उत्तर प्रदेश के कुशल मजदूरो की वास्तविक आय ५५% व अकुशल श्रमिकों की वास्तविक आय ६२% घट गई। यह सब १९वीं शताब्दी के आर्थिक गतिरोध का परिणाम मात्र था।

अब हम आर्थिक गतिरोध के कारणों की संक्षिप्त व्याख्या करेंगे।

आर्थिक गतिरोध के कारण
(Causes of Economic Stagnation)

पिछले पृष्ठो मे हमने १९वी शताब्दी की भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख प्रवृत्तियो की समीक्षा की। यह सब भारतीय अर्थ-व्यवस्था के गत्यावरोध या गतिरोध के लिए पर्याप्त था। लेकिन कुछ भारतीय एवं विदेशी लेखक इसके लिए अन्य घटको को भी उत्तरदायी मानते है। डा० वी० वी० भट्ट ने उन सभी कारणो की समीक्षा अग्रलिखित प्रकार की है[2]

1. Ramesh Dutt—op cit Vol I, p 286
2. V. V. Bhatt—op, cit ch 2

१. जनसंख्या की वृद्धि—श्रीमती वीरा एन्स्टे तथा वेडन पॉवल जनसंख्या की वृद्धि को संपूर्ण १९वी शताब्दी तथा उसके बाद भी काफी समय को आर्थिक गतिहीनता का प्रमुख कारण मानते है।

परन्तु इसका उत्तर १९वी शताब्दी मे दादाभाई नौरोजी ने दे दिया था। इंग्लैंड व वेल्स की जनसख्या गत शताब्दी मे ३ गुनो बढी तथा प्रति व्यक्ति आय ४½ गुनी हो गई जबकि भारत मे अपेक्षाकृत कम वृद्धि होने पर भी प्रति व्यक्ति आय कम हो गई। तथ्य यह है कि १९२१ तक भारत मे जनसख्या की वृद्धि बहुत कम (·३% से ०·४% तक) रही थी जबकि पश्चिमी देशो मे यह वृद्धि ०·६% से ० ८% तक थी। इस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि ने १९वी शताब्दी मे भारत के आर्थिक विकास को नही रोका।

(२) सामाजिक दृष्टिकोण—हवाबुक बुकेनन[1], तथा श्रीमती नोल्स का मत है कि भारत मे प्रचलित धार्मिक मान्यताओ तथा सामाजिक परम्पराओं ने यहां के निवासियो को उद्यमी बनाने से रोका और इसी कारण भारत आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गया। पर यह तर्क भी सर्वथा पक्षपातपूर्ण प्रतीत होता है। यह सही है कि बौद्ध व हिन्दू धर्मो ने भौतिकवाद का विरोध किया है परन्तु पौरुष तथा उद्यम को इस देश मे सदैव प्रोत्साहन दिया गया। यदि भारतीय धार्मिक मान्यताओ का विरोध रहा है तो वह शोषण तथा अनावश्यक सचय से रहा है, जो ईसाई धर्म मे भी समानरूप से निंदनीय माने गए है। आर्थर लेविस ने सत्य ही लिखा है कि जनसाधारण तो विश्व-भर मे अवसर की प्रतीक्षा करता है तथा प्रत्येक व्यक्ति अवसर मिलने पर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने को तैयार रहता है। यही बात सामाजिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। निधनता से प्रताडित व्यक्ति समाज या धर्म की परम्पराओं के प्रति विद्रोह करता है, फिर भारत मे १५० वर्ष तक उन्ही परम्पराओ से बँधे रहकर निर्धन भारतीय जनता और निर्धन होती रही, यह तर्क स्वय मे विरोधाभास प्रस्तुत करता है।

अस्तु आर्थिक गत्यावरोध के लिए उक्त कारण उत्तरदायी नही थे। यह एक भिन्न बात है कि बीसवी शताब्दी मे जब भारत की आर्थिक स्थिति काफी कमजोर हो गई थी, इन कारणो ने उसे अधिक दयनीय बनाया। पर १९वी शताब्दी मे जिन घटको ने भारत की आर्थिक प्रगति मे अवरोध उत्पन्न किया वे मूलरूप मे ब्रिटिश सरकार की कुटिलतापूर्ण नीति मे ही उत्पन्न हुए थे। यद्यपि इन कारणो का विस्तार से उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, तथापि हम उनकी संक्षिप्त व्याख्या यहां प्रस्तुत कर रहे है।

(१) ब्रिटिश सरकार द्वारा उद्योग व कृषि के प्रति उदासीनता—ब्रिटिश सरकार द्वारा भूमि व्यवस्था मे जो परिवर्तन किए गए उन्होने कृषि पर प्रतिकूल प्रभाव ही डाले। इसी प्रकार उसकी पक्षपातपूर्ण नीति से यहां के परम्परागत उद्योग नष्ट हो गए। इसके विपरीत सरकार ने कृषि या उद्योगों के प्रति पूर्ण उदासीनतापूर्ण नीति बरती। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक २ ५ करोड पौड ही सिंचाई के विकास पर खर्च किए गए। इस प्रकार कृषि की मानसून पर निर्भरता मे कम करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। यह उल्लेखनीय है कि उन्नीसवी शताब्दी मे उत्तम बीजो व खली का काफी मात्रा मे निर्यात किया गया जो भारत में प्रति एकड पैदावार बढ़ाने मे सहायक हो सकते थे।

ब्रिटिश सरकार ने कृषि वित्त की व्यवस्था अथवा कृषि-क्षेत्र मे अनुसधान हेतु कोई योगदान १९वी शताब्दी के अत तक नही दिया यद्यपि १८८० के अकाल आयोग ने इस दिशा मे सक्रिय नीति अपनाने का सुझाव दिया था। १८८३ व १८८४ मे दो कानून कृषको को दीर्घ व अल्पकालीन ऋण देने के लिए बनाए गए पर यह सब मात्र दिखावा था। इन सबकी स्वीकारोक्ति शाही कृषि आयोग ने १९२९ मे की।[2]

---

1. D. H. Buchanan—The Dev. of Capitalist enterprise in India (1934)
2. Report of the Royal Commission on Agriculture pp 17-18

उद्योगों के विषय में भी सूती वस्त्र, जूट, शक्कर सीमेंट व लोहा इस्पात उद्योग का आरम्भ १९वीं शताब्दी के चतुर्थांश में हो गया था पर सरकार की ओर से इन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया और इसीलिए प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक भी ये उद्योग शैशवावस्था में रहे।

(२) अकाल[1]—ब्रिटिश शासन काल में १८०१ से १८७५ के बीच १३ भयंकर अकाल देश के विभिन्न भागों में हुए परन्तु इनसे अधिक गम्भीर एवं व्यापक अकाल १८७६, १८७८ तथा १८९६ के बीच पड़े। इन अकालों से जहाँ एक ओर लाखों व्यक्तियों की मृत्यु हुई वहाँ वर्षों तक मीलों लम्बे क्षेत्र में कृषि नहीं की जा सकी। ऐसी अवधि में ब्रिटिश सरकार को चाहिए था कि कृषकों को लगान में छूट देती और विभिन्न उपायों द्वारा उन्हें खेती करने की प्रेरणा देती। पर यह सब नहीं हुआ बल्कि जिस समय १८७९-८० में करोड़ों व्यक्ति अन्न के लिए त्राहि त्राहि कर रहे थे। १० करोड़ रुपये का अनाज भारत से इंग्लैंड भेजा गया जो १८५९-६० की अपेक्षा तीन गुना था।[2] यदि सरकार अकालों के समय कृषकों की सहायता करती तो शायद कृषि की स्थिति बहुत खराब नहीं होती।

(३) आर्थिक विकास—ऊपर यह बताया जा चुका है कि आर्थिक विकास के रूप में अरबों रुपये की सम्पत्ति का भारत से निष्कासन कर दिया गया और जो वस्तुएं इनके अन्तर्गत निर्यात की गयीं उनके मूल्य भी बहुत कम थे। इस प्रकार विनियोग का वातावरण पूर्णतया अवरुद्ध कर दिया गया। फलस्वरूप पूंजी का आवर्तन नहीं हो सका और प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद उनका उपयोग नहीं हो सका।

इस प्रकार १९वीं शताब्दी के अन्त तक सरकार की उदासीनतापूर्ण नीति के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था जड़तापूर्ण स्थिति में रही। रमेशदत्त ने १९०३ में सत्य ही लिखा था

'यदि उद्योग पंगु हो जाएँ, यदि कृषि पर अत्यधिक कर भार हो और यदि देश के राजस्व का एक तिहाई देश के बाहर चला जाय तो विश्व का कोई भी देश स्थायी रूप से दरिद्र तथा अकालग्रस्त हो जाएगा। यदि ऐसी परिस्थितियों में भारत विकास कर लेता तो यह एक महान आश्चर्य होता। भारत आर्थिक नीतियों के कारण ही दरिद्र हुआ है।'[3]

१९०१ से स्वतन्त्रता-पूर्व की अर्थव्यवस्था

१९वीं शताब्दी के अन्त तक देश आर्थिक गत्यावरोध की स्थिति में रहा परन्तु वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से सरकार की नीति में थोड़ा-सा परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। कृषि के क्षेत्र में अनुसंधान तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रारम्भ हुई तथा १९०४ में सरकारी आन्दोलन का श्रीगणेश किया गया। १९२९ के बाद शाही कृषि आयोग की सिफारिशों के आधार पर कृषि पदार्थों की बिक्री आदि के सुधारने के लिए विभिन्न राज्यों में कदम उठाए गए।

उद्योगों के क्षेत्र में निजी क्षेत्र की सक्रियता बढ़ी। विदेशी विशेष रूप से ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत में पूंजी का विनियोग प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप भारतीय पूंजीपतियों का हौसला भी बढ़ा। जूट, सूती वस्त्र, लोहा इस्पात, कोयला, शक्कर, सीमेंट व कागज उद्योगों का वर्तमान शताब्दी से विकास प्रारम्भ हुआ। प्रथम महायुद्ध काल में इन उद्योगों की प्रगति और तीव्र गति से हुई। परन्तु युद्धोपरान्त (१९२२ के पश्चात्) विवेचनात्मक संरक्षण की मांग ने बल पकड़ा तथा १९२४ व १९३३ के बीच लोहा व इस्पात, सूती वस्त्र, भारी रसायन, शक्कर व कृत्रिम रेशम उद्योगों को संरक्षण दिया गया। संरक्षण की नीति के अन्तर्गत इन उद्योगों से सम्बन्धित वस्तुओं के आयात करों में वृद्धि की गई। कहा जाता है कि स्वतन्त्रता से पूर्व सीमेंट, शक्कर, जूट व सूती वस्त्र

---

1. विस्तृत विवरण के लिए आगामी ना अध्याय देखिए।
2. B. M. Bhatia—op. cit. pp. 38-39
3. Ramesh Dutt—op. cit. (Vol. II) (P. XIII)

उद्योग देश की आवश्यकता को पूरा करने में ही समर्थ नहीं थे अपितु जूट की वस्तुएँ व सूती वस्त्रों का तो निर्यात भी किया जाने लगा था। डा० लोकनाथन् के मतानुसार विवेचनात्मक संरक्षण की अवधि मे सीमेंट का उत्पादन ६ गुना, इस्पात का ७½ गुना, शकर का १२½ गुना, सूती वस्त्र व कागज का २½ गुना व लोह धातु का उत्पादन ३½ गुना हुआ। वे यह भी बताते हैं कि १९४० तक देशों में औद्योगिक युग का सूत्रपात हो चुका था तथा पर्याप्त मात्रा मे उपभोग्य वस्तुओं की अपेक्षा मशीनो का आयात किया जाने लगा था।[1]

इस प्रकार यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि विदेशी पूँजी तथा विवेचनात्मक संरक्षण ने १९०१ व १९४७ के बीच उस गतिरोध को समाप्त कर दिया जो समूची १९वीं शताब्दी मे चलता रहा। परन्तु इसके लिए भारत इंग्लैंड की सरकार या वहाँ के पूँजीपतियों के प्रति कृतज्ञ नहीं रहेगा क्योंकि एक सौ वर्ष मे किए गए शोषण के बदले उन्होंने भारत को जो कुछ लौटाया अथवा भारत के लिए उनकी प्रतिनिधि यहाँ की सरकार ने जो कुछ किया वह नगण्य था।

विदेशी पूँजी[2]—अनुमानत १९३९ तक रेलो, चाय-बागानों, उद्योगों व खानों आदि के विकास हेतु ६० करोड स्टर्लिंग पौंड की शुद्ध पूँजी लगी हुई थी। हम यह बता चुके है कि १७५७-१९३९ तक १२० करोड स्टर्लिंग पौंड (वर्तमान मूल्यों के आधार पर ६०० करोड़ पौंड) की धनराशि भारत से बाहर भेज दी गई। इस प्रकार जितना धन देश के बाहर गया उसकी तुलना में विदेशी पूँजी का आगमन बहुत थोड़ी मात्रा में हुआ। फिर, धन का निकास देश से सदा के लिए कर दिया गया था जबकि विदेशी पूँजी लाभप्रद विनियोग हेतु आंग्ल पूँजीपतियों द्वारा यहाँ भेजी गई। यह कहना अनुचित न होगा कि भारतीय जनता का शोषण करके बाहर भेजी गई पूँजी का एक अंश इसका देश में ऋणों के रूप में वापस भेजा गया ताकि वह आंग्ल पूँजीपतियों को पुन लाभ प्रदान कर सके।

एक उल्लेखनीय बात यह भी थी कि यह पूँजी जिन चाय के बागानों, खानों या जूट उद्योगों मे लगाई गई उनमे सारे उच्च अधिकारी अंग्रेज थे। इन कम्पनियों के लाभ पूँजी के ब्याज, अधिकारियों की पगार रॉयल्टी व लाभांश के रूप मे करोड़ो रुपये प्रतिवर्ष भारत से बाहर भेजे गए। यह धनराशि भी वस्तुओं के रूप मे ही बाहर भेजी गई। कुल मिलाकर विदेशी पूँजी ने देश मे ठोस औद्योगिक विकास की नीव नहीं डाली और केवल उन उद्योगों मे इसका विनियोग किया गया जो शीघ्र लाभ प्रदान कर सकते थे।

विवेचनात्मक संरक्षण—सरकार की इस नीति के अनुकूल प्रभावों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। परन्तु यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो संरक्षण की नीति सरकार की सहानुभूति का परिचायक नहीं थी। यदि राज्य की नीति भारत के उद्योगो को पूर्णतया स्वावलम्बन की ओर प्रेरित करने की होती तो कनाडा व आस्ट्रेलिया जैसे देशों मे हम नहीं पिछड़ते जिन्होंने भारत के साथ ही औद्योगिक युग मे प्रवेश किया था।[3]

संरक्षण की अवधि में न तो विभिन्न उद्योगों के विकास मे समन्वय रखा गया और न ही आधारभूत उद्योगो को (लोहा व इस्पात, इंजीनियरिंग, रसायन उद्योग आदि) विकसित करने का प्रयास किया गया। यदि भारी एवं आधारभूत उद्योगों का विकास होता तो देश में दीर्घ-कालीन औद्योगिक विकास की पृष्ठ भूमि का निर्माण होता। बुकेनन ने १९३४ मे लिखा, "प्राकृतिक दृष्टि से भाग्यशाली होने तथा इतना विशाल बाजार होने पर भी इस समय कारखानों मे देश की कार्यशील जनसंख्या का केवल २% संलग्न है।"[4] इस प्रकार संरक्षण ने न तो नये उद्योगों के विकास हेतु अवसर दिए और न ही औद्योगिक विकास की नीव मजबूत की।

---

1. P. S. Lokanathan Industrialization (Oxford Papers 1942) pp 6-8
2. V V. Bhatt—op. cit pp. 53-57
3. Dr. P S Lokanathan—op. cit p. 15
4. D. H. Buchanan—of cit. p p 450-51

इस प्रकार स्वतन्त्रता से पूर्व तक देश का विकास स्वयमेव हुआ और राज्य की नीति ने इसमें कोई उल्लेखनीय योगदान नही दिया। कपास, जूट, कोयला और लोहा भारत मे पर्याप्त मात्रा मे थे और यदि इनका उपयोग उद्योगों मे कर भी लिया गया तो कोई आश्चर्य की बात नही थी। दूसरी ओर साधनो की प्रचुरता के बावजूद अनेक उद्योग शैशवावस्था मे ही रह गये क्योंकि ब्रिटिश सरकार उनका विकास नही चाहती थी। भारत का स्थान लोहे व कोयले के मिश्रण तथा जल सम्पदा की दृष्टि से विश्व मे तीसरा तथा उत्तम लोहे की दृष्टि से सर्वोच्च है, तथापि स्वतन्त्रता के पूर्व तक ½% से १% लोहे व कोयले का तथा केवल १½% जल सम्पदा का यहां उपयोग किया जा रहा था। यह सब स्वतन्त्रता से पूर्व के आर्थिक गतिरोध का स्पष्ट प्रमाण है।

६

भारत की जनसंख्या
(Indian Population)

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि भारत प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से एक भाग्यशाली देश रहा है, लेकिन यह भी उस समय स्पष्ट कर दिया गया था कि विदेशी शासन होने के कारण १९४७ तक भारत के प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग नहीं किया गया और स्वतन्त्रता के पश्चात् ही आर्थिक विकास की योजनाएँ बनाकर यह सकल्प किया जा रहा है कि निकट भविष्य में ही इन सब साधनों का इष्टतम उपयोग करके हम जनता का जीवन-स्तर बढ़ा देंगे।

जब हम आर्थिक विकास तथा योजनाओं की चर्चा करते हैं तो स्वाभाविक रूप से हमारे समक्ष देश की जनसंख्या तथा जनसंख्या की वृद्धि की समस्या उपस्थित हो जाती है। उत्पादन की गति चाहे जितनी बढ़ा दी जाए, यदि जनसंख्या की वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक है, यदि अतिरिक्त उत्पादन की अपेक्षा अतिरिक्त उपभोक्ताओं की संख्या अधिक है तो हमारा आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जायगा तथा प्रगति के स्थान पर परागति हो सकती है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि भारत में जनसंख्या की वृद्धि बहुत अधिक रही है और फलस्वरूप विकास होने की अपेक्षा यहाँ बेकारी व भुखमरी की समस्याएँ वृहत् रूप में चलती रही हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात भी आर्थिक विकास की गति पंचवर्षीय योजनाओं के बावजूद इसीलिए नहीं बढ़ सकी कि जनसंख्या न केवल मूल रूप में बढ़ी, बल्कि इसकी वृद्धि की दर भी १.४% से बढ़कर २.५% हो गई। इसीलिए आर्थिक विकास का अध्ययन तथा आर्थिक विकास के प्रयास उस समय तक अपूर्ण रहते हैं जब तक कि जनसंख्या की समस्या का निराकरण नहीं हो जाता।

भारत में केवल जनसंख्या की वृद्धि ही एक समस्या हो सो बात नहीं है। वास्तव में भूख, कष्ट तथा वेदना जनसंख्या के आधिक्य से नहीं, बल्कि बहुत थोड़े उत्पादकों की तुलना में बहुत अधिक खाने वालों की उपस्थिति से प्रारम्भ होती है।[1] भारत इस कथन का अपवाद नहीं है और इसी कारण भारत में खाद्य समस्या आज तक भी विद्यमान है। रजनी पामदत्त के शब्दों में "जनसंख्या के आधिक्य से उत्पन्न खाद्यान्न के अभाव में श्रम की कार्यक्षमता घट जाती है। दुर्भाग्य से भारत में ३०% लोगों को समुचित एवं शक्तिप्रद भोजन नहीं मिलता।[2]

भारत की जनसंख्या—एक ऐतिहासिक समीक्षा

किंग्सले डेविस का अनुमान है कि भारत की जनसंख्या उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक

1. De Castro :– Geography of Hunger p. 260
2. Rajni P. Dutt ' India Today and To-morrow (1955). p. 13

तक लगभग स्थिर रही थी। उनके मत मे ईसा से ३०० वर्ष पूर्व से लेकर १८०० ई० तक भारत की जनसख्या १० से १२ करोड के बीच रही थी।[1]

जनसख्या मे इसके बाद भी जो कुछ वृद्धि हुई वह बहुत कम थी। १८०० ई० से लेकर १८७१ तक जनसख्या की वार्षिक वद्धि दर ० ४ प्रतिशत से लेकर ० ८ प्रतिशत तक रही थी। यद्यपि १८६७ व १८७१ के बीच जनसख्या मे अप्रत्याशित वृद्धि हुई, तथापि सामान्यत जनसख्या की वृद्धि भारत मे १८७१ तक बहुत कम थी। कार सॉडर्स का अनुमान है कि इसी अवधि मे यूरोप की जनसख्या मे १ ७ प्रतिशत तथा अफ्रीका की जनसख्या मे १ २ प्रतिशत वार्षिक वद्धि रही थी।[2]

१८७१ व १८९१ के बीच भारत की जनसख्या २५ ५ करोड से बढकर लगभग २८ करोड हुई, जिसका यह अर्थ था कि २० वर्ष की अवधि म केवल २ ५ करोड की कुल जनसख्या मे वृद्धि हुई। (वार्षिक वृद्धि १ २५ प्रतिशत औसत) १८९१ व १९०१ के बीच भारत को अनेक भयकर दुर्भिक्षो का सामना करना पडा। फिर भी जनसख्या मे विशेष कमी नहीं हो सकी।

१८९१ के बाद के जनसख्या के इतिहास को हम दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं प्रथम, १८९१ से १९२१ तक व द्वितीय, १९२१ के पश्चात् की अवधि। भारत की वर्तमान परिधि के आधार पर जनसख्या का विवरण इस प्रकार रहा था।[3]

१८९१ के पश्चात जनसख्या (करोडो में)

१८९१	२३ ५९
१९०१	२३ ५५
१९११	२४ ९०
१९२१	२४ ८१
१९३१	२७ ५५
१९४१	३१ २८
१९५१	३५ ६९

१९६१ मे भारत की जन-सख्या लगभग ४४ करोड थी।

१८९१ से १९२१ तक भी महामारियो एव अकालो के प्रकोप के कारण भारत की जनसख्या अधिक नही बढ सकी। ३० वर्ष की इस अवधि मे जनसख्या की कुल वृद्धि ५% ही थी, जिसके अनुसार वार्षिक वृद्धि ० १७% के लगभग रही। उपरोक्त तालिका के अनुसार १८९१ व १९०१ के बीच जनसख्या मे वृद्धि होने की अपेक्षा कमी का स्पष्ट सकेत मिलता है। इस कमी का कारण जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, महामारियो व अकालो का प्रकोप रहा था।[4]

परन्तु जैसा कि तालिका से स्पष्ट है १९२१ के बाद से ही भारत मे जनसख्या की वृद्धि अधिक तीव्र गति से हुई। वार्षिक वृद्धि इसके पुर्व ० २% से भी कम थी जो १९५१-६१ के दशक मे २ २% हो गई। अन्तिम अनुमानो के अनुसार १९६१ तथा १९६८ के बीच जनसख्या ४४ करोड से बढकर ५२ करोड हो गई। अन्य शब्दो म इस अवधि मे जनसख्या की वृद्धि १८% हुई।[5] इस प्रकार भारत मे जनसख्या की वृद्धि प्रगतिशील रूप मे हो रही है, जैसा कि अग्र तालिका मे स्पष्ट है।

---

1 Kings'ey Davis Population of India and Pakistan (1951)
2 Carr Saunders . World Population—(1936) p 42
3 Wadia & Merchant Our Economic Problem p 84
4 Coale & Hoover Population Growth & Eco Development in Low Income Countries, p 29
5 S Chandra Sekhar Population Curbs Imperative for India See Socialist Congressman March 20, 1969

जनसख्या की वृद्धि

अवधि	कुलवृद्धि (करोड़ मे)
१९०१-१९२१	१ ३
१९२१-१९४१	६·५
१९४१-१९६१	१२·७
१९६१-१९६८	८०

भविष्य की जनसंख्या के कुछ अनुमान

भारत की जनसंख्या भविष्य मे किस रूप मे बढ़ेगी, इस विषय पर अर्थशास्त्रियों मे मतैक्य नही हैं। जैसा कि स्पष्ट है, हमारी जनसख्या इस समय २·५ प्रतिशत प्रतिवर्ष की चक्र-वृद्धि दर से बढ रही है। यदि जनसंख्या की वृद्धि दर स्थिर रही तब भी २६-२७ वर्ष के भीतर जनसंख्या दुगुनी हो जाएगी। प्रो० मेलन बॉम ने केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा प्रस्तुत आंकड़ो को सूचीबद्ध करते हुए यह आशा व्यक्त की है कि १९७६ तक जनसंख्या की वृद्धि दर १·४७% रह जाएगी।[1] योजना आयोग ने स्वयं स्वीकार किया है कि १९६६-७१ के बीच जनसख्या की वृद्धि २ ५% रहेगी, फिर प्रो० मेलन बाम का उपरोक्त निष्कर्ष कहाँ तक व्यावहारिक होगा, नहीं कहा जा सकता। योजना आयोग का अनुमान है कि १९७१ तक देश की जनसंख्या ५५·५ करोड व १९७६ तक ६२·५ करोड हो जाएगी। अन्य शब्दों मे १९६६-७१ के बीच जनसंख्या की वृद्धि दर २ ५% रहेगी और १९७१-७६ के बीच भी इसमें कोई परिवर्तन होने की संभावना नही है।

परन्तु इन अनुमानों से सर्वथा भिन्न प्रो० विलेम होल्स्ट का अनुमान है। अपने एक खोजपूर्ण लेख[2] मे बताया है कि १९६५ व १९९१ के बीच भारत की जनसंख्या ४८·७ करोड़ से बढकर ९७ ५ करोड हो जाएगी। वे अनुमान लगाते है कि १९६०-६४ के बीच जनसख्या की चक्रवृद्धि दर २·४% रही थी पर १९७५-७९ के बीच यह बढकर २·८% हो जाएगी। उनके मत मे भारत की जनसंख्या की वृद्धि-दर मे १९८५ के बाद कमी हो सकती है। प्रो० होल्स्ट यह महसूस करते हैं कि १९६०-६४ व १९८५-८९ के बीच जन्मदर ४० प्रति हजार से घटकर ३५ रह जायगी जबकि मृत्युदर १६·५ से घटकर ८ प्रति हजार रहने की सम्भावना है। सर्वाधिक वृद्धि १९७५-८५ के बीच (२·८% प्रतिवर्ष) होगी, ऐसा उनका विचार है।

कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि जनसंख्या-विस्फोट (Population Explosion) की *समस्या भारत मे अभी कम से कम २० वर्ष तक रहेगी और यदि इस पर नियंत्रण नही किया* गया तो स्थिति और भयंकर हो सकती है। हमारे वर्तमान केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री डा० एस० चन्द्र-शेखर का कथन है कि १९६८ के मध्य में भारत की जनसंख्या ५२·० करोड़ थी और प्रतिवर्ष कम से कम १ ३ करोड की वृद्धि जनसंख्या मे होती है। उनका अनुमान है कि १९६७-९७ के बीच भारत की जनसंख्या १०० करोड हो जाएगी। लेकिन डा० सुखात्मे का अनुमान है कि सन् १९८१ तक भारत की जनसंख्या ६३ करोड से ६८ करोड के बीच होगी।[3] उन्हे यह आशा है कि १९६६ के पश्चात् जन्म-दर मे प्रगतिशील रूप से कमी होगी। यदि जनसख्या की वृद्धि १९७१ के बाद १ ८% की दर से हुई तो १९८१ तक देश की जनसख्या ६३ करोड होगी। परन्तु डा० सुखात्मे के ये अनुमान सही प्रतीत नही होते क्योंकि उन्होने जो मान्यता जनता के सुधरते हुए दृष्टिकोण के प्रति ली है, वह अनिश्चित है।

---

1. Malen Baum Prospects for Indian Development P. 118
2. Willem Holst . Planning for Self-Sufficiency in foodgrains—Economic & Political weekly July 8, 1967.
3 P.V. Sukhatme—Feeding India's Growing Millions (Asio) p.p. 101. & 126

इन्हीं अनुमानो से मिलता जुलता अनुमान संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट मे प्रस्तुत किया गया है।[1] इस रिपोर्ट के अनुसार तीन मान्यताएँ ली गई है : प्रथम के अनुसार १९८० के बाद जनसंख्या की वृद्धि मे कमी होगी, द्वितीय मान्यता के अनुसार १९६५ के बाद जनसंख्या की वृद्धि दर कम होगी और तृतीय मान्यता के अनुसार १९७० के बाद जनसंख्या की वृद्धि घटती दर पर होगी। इन तीनो मॉडल के आधार पर ऊँचे मध्यम तथा निम्न वृद्धि दरो को लेते हुए २००० ईस्वी तक जनसंख्या की वृद्धि इस प्रकार होगी

(जनसंख्या करोड मे)

	ऊँची दर (High Variant)	नीची दर (Low Variant)	मध्यम दर (Medium Variant)
	वृद्धि दर में कमी होने का वर्ष		
	१९८० से	१९६५ से	१९७० से
१९६०	४३ २७	४३ २७	४३ २७
१९७०	५४ ३२	५४ १०	५४ ३२
१९८०	६९ ६३	६६ १५	६८ २३
१९९०	८९ ६८	७८ २९	८३ १२
२०००	११२ १७	९० ८०	९८ ११

परन्तु १९६५ मे १९६७ तक की प्रवृत्तिया अनुकूल नही रही और इसलिए मध्यम वैरिएंट को लेने पर भी २०वी शताब्दी के अन्त तक भारत की जनसंख्या ९८ करोड होगी। लगभग इतना ही स्तर सुखात्मे, होल्कर और योजना आयोग ने भी अनुमानित किया है।

जन्म तथा मृत्यु दरें—वस्तुत जनसंख्या की वृद्धि दर जन्म तथा मृत्यु दरो के धनात्मक अन्तर का ही दूसरा नाम है। यदि यह अन्तर घटता चला जाय तो वृद्धि दर मे प्रगतिशील दर से वृद्धि होगी। अन्तर घटने का कारण मृत्यु दर मे कमी अथवा जन्म दर मे वृद्धि या दोनों ही हो सकते हैं।

पिछले १५ २० वर्षों मे आर्थिक विकास के साथ साथ चिकित्सा व्यवस्था म जो सुधार हुआ जिसके कारण भारत मे मृत्युदर तो काफी कम हो गई है परन्तु जन्म दर म केवल नाममात्र की ही कमी हो सकी है। १८९१ से १९२१ तक वार्षिक जन्मदर ४६ से ४९ तथा मृत्युदर ४३ से ४७ प्रति हजार रही थी। परन्तु १९२१ के पश्चात् से मृत्यु दर मे कमी प्रारम्भ हुई तथा १९३१-१९४१ के दशक मे यह घटकर ३१ प्रति हजार रह गई। १९४१ ५१ मे यह २७ ४ प्रति हजार तथा १९५१-६१ मे १८ प्रति हजार तक घट गई। दूसरी ओर जन्म दर मे होने वाली कमी अत्यन्त गौण है तथा १९६१ तक यह घट कर ४१ तक पहुँची थी। यही कारण है कि जनसंख्या की वृद्धि दर (जन्म व मृत्यु दरो का अन्तर) प्रगतिशील रूप से बढ रही है।

लेकिन यह सतोष का विषय है कि १९६१ के बाद से भारत के घने आबाद राज्यो मे जन्मदर भी तेजी से घटने लगी है। १९६१ व १९६८ के बीच अब राज्यो मे जन्मदर मे काफी ह्रास हुआ है [2]

---

1 See World Population Prospects , Population Studies No 14 pp 66 67

2. See Economic Times, 24th March, 1969 and Importance of Later Marriages Yojana, April 12, 1964

	जन्म दर (१९६१)	(प्रति हजार) (१९६८)
महाराष्ट्र	४१·२	३२·८
मैसूर	४१·६	३३·८
केरल	३८ ९	३४ ५
आंध्र प्रदेश	३९ ९	३३·२
पश्चिमी बगाल	४२ ९	३९·७
असम	४३ ४	२५·६

यदि अन्य राज्यों मे भी (जिनके विषय मे अन्तिम सूचनाएँ उपलब्ध नही हो सकी है) जन्मदर के ह्रास की प्रवृत्ति यही रहे तो भारत की जनसख्या वर्तमान विस्फोटक स्थिति से शीघ्र ही निकल सकती है इसमे कोई सदेह नही है।

जनसंख्या की आशातीत वृद्धि के कारण

भारत मे पिछले ८५ वर्षो मे जितनी जनसख्या बढी है उसके पूर्व के ३०० वर्षो मे उससे आधी भी वृद्धि नही हुई थी। जैसा कि ऊपर बताया गया है १९५१ व १९६८ के बीच ही जनसंख्या की वृद्धि १६ करोड की हो गई। इस आशातीत वृद्धि के कारणो को गम्भीरतापूर्वक समझे बिना जनसख्या की विस्फोटक समस्या का समाधान ढूंढना संभव नही होगा। ये कारण इस प्रकार हैं

(१) **जलवायु एव भौतिक वातावरण**—भारत की जलवायु गर्म होने के कारण लोगो को परिपक्व अवस्था भी जल्दी प्राप्त हो जाती है। शीघ्र परिपक्व होने के कारण विशेष रूप से लडकियो के विवाह यहां जल्दी किए जाते हैं। इसके अलावा जलवायु गर्म होने के कारण यहाँ प्रजनन की अवधि भी लम्बी होती है।

(२) वीरा एन्स्टे का कथन है कि १९वी शताब्दी के मध्य से जैसे-जैसे भारत मे शांति एव सुदृढ़ शासन व्यवस्था कायम होती गई जन-जीवन अधिक सुरक्षित हो गया। दूसरी ओर सती प्रथा को वैधानिक रूप से समाप्त कर दिया गया। इन दोनो कारणो से भी जनसंख्या की वृद्धि अधिक होना स्वाभाविक था।[1]

(३) **अशिक्षा एवं अज्ञान**—भारत मे स्वतत्रता से पूर्व केवल ११% व्यक्ति साक्षर थे और आज भी इनका अनुपात कुल जनसख्या के तीसरे भाग से कम है। महिलाओ मे साक्षर वर्ग का अनुपात तो २० से २२% तक ही है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि **साक्षरता का अर्थ भारत में अक्षर ज्ञान माना जाता है।** वस्तुतः अशिक्षा के कारण यहां के अधिकाश लोग अंधविश्वासो मे फँसे रहते है, उनमे दूरदर्शिता नही आ पाती तथा वे परिवार के आकार के सम्बन्ध में तटस्थ रहते है। आकार के सम्बन्ध मे उदासीन रहते है। उदाहरण स्वरूप १९२९ मे बाल-विवाह-निरोधक अधिनियम पारित हुआ तथा यह अप्रैल १९३० से लागू होना था। अशिक्षा के कारण इस बीच की अवधि मे विवाहित लडकियो की सख्या ड्योढी हो गई।

(४) **निर्धनता**—भारत मे अधिकाश परिवारो के आर्थिक साधन बहुत कम है। साथ ही, इन परिवारो का आकार भी प्राय बडा होता है। फलस्वरूप बालक छोटी उम्र ही में काम करने लगता है और मां-बाप सन्तान के आगमन मे कोई आपत्ति नही देखते। मनोविज्ञान के कुछ ज्ञाताओ का यह भी कथन है कि निर्धनता के कारण मनोरजन का वैकल्पिक साधन उन्हे उपलब्ध नही हो पाता और शादी तथा प्रजनन के सम्बन्ध में वे सावधान नही रह पाते।

(५) **विभाजन का प्रभाव**—भारत मे जनसख्या का भार १९४७ के बाद बढने का एक कारण यह भी हुआ कि देश के विभाजन के बाद अविभाजित भारत की जनसंख्या का ८१% भाग भारत मे रहा तथा केवल १९% पाकिस्तान मे गया, जबकि भारत को कुल क्षेत्र का केवल ७७%

---

1. Vera Anstey : The Economic Development of India pp. 38-39

एव पाकिस्तान को २३% भाग प्राप्त हुआ। इस प्रकार अपेक्षाकृत भारत मे जनसख्या का भार अधिक रहा।

(६) **सामाजिक परम्पराएँ**—भारत की अधिकाश जातियो मे विवाह ऐच्छिक नही अपितु अनिवार्य होता है। हमारी परम्परागत मान्यताओ के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए विवाह करना अनिवार्य है फिर विवाह के पश्चात् यदि दम्पत्ति को सतान प्राप्त नही हुई तो भी उनका निरस्कार होने लगता है। यह आश्चर्य की बात है कि आज भी अधिकाश भारतीय परिवारो मे सतान को ईश्वरीय देन माना जाता है तथा सतानहीन व्यक्ति का समाज मे तिरस्कार होता है।

(७) **नियोजन हुए विकास का प्रभाव**—स्वतत्रता के बाद, विशेषरूप से आर्थिक नियोजन की अवधि मे दो घटको ने जनसख्या की वृद्धि मे काफी योग दिया—प्रथम तो मृत्युदर मे कमी और द्वितीय आयु अनुमान का विस्तार। १९५१-६६ के बीच जहाँ जन्मदर ४२ प्रति हजार से घट कर ४० प्रति हजार हुई, चिकित्सा प्रणाली मे पर्याप्त सुधार होने से मृत्युदर २३ प्रति हजार से घट कर १६ प्रति हजार रह गई। इसी अवधि मे औसत आयु ३३ ५ वर्ष (पुरुषो की) व ३१·६ वर्ष (महिलाओ की) से बढकर क्रमश ५० वर्ष व ४७ ५ वर्ष हो गई।

(८) **आँकडो मे सुधार**—जनसख्या मे वृद्धि अधिक होने का एक कारण यह भी है कि गत पच्चीस-तीस वर्षो मे भारत की जनसख्या-सम्बन्धी आँकडो मे पर्याप्त सुधार हुआ है। १९५१ की जनगणना रिपोर्ट मे जनगणना आयुक्त ने स्वय यह स्वीकार किया कि जन्मदर के रिकार्ड मे १९४१-५१ के बीच जन्मे हुए शिशुओ मे ३२% नही लिये गए थे जबकि मृत्यु-सख्या मे २८% का रिकार्ड नही लिया गया। १९५२ के पश्चात जब १९६१ की जनगणना हुई तो आँकडो के इकट्ठा करने मे अधिक सावधानी बरती गई तथा जन्म व मृत्यु का अधिक सही ढग से रिकार्ड लिया गया। डा० ज्ञानचन्द तथा डा० घोष के मत मे भी जन्म व मृत्यु के आँकडे सही नही होने के कारण ही जनसख्या का सही अनुमान भूतकाल मे लगाना सम्भव नही था। किंग्स्ले डेविस ने भारत की जनसख्या के १९४१ तक के आकडो मे निम्न दोष बताए है (i) उस समय तक केवल ब्रिटिश भारत की जनसख्या के आँकडे दिए जाते थे तथा देशी रियासतो के आँकडो की उपेक्षा की जाती थी, (ii) १९३२ तक पिछली जनगणना के समय दी गई जन्मदरो के आधार पर ही जनसख्या की वृद्धि का अनुमान लगा लिया जाता था। साधारणतया चक्रवृद्धि जन्मदर नही ली जाती थी। (iii) जन्मदरो का प्रकाशन माताओ की आयु के आधार पर नही होता था। (iv) जन्म-सम्बन्धी सूचनाएँ देने की व्यवस्था अपर्याप्त तथा असन्तोषजनक थी।[1]

जनसख्या का आधिक्य—आर्थिक प्रभाव

उन्नसवीं शताब्दी के मध्य से जैसे-जैसे जनसख्या की वृद्धि तीव्रतर होती गई वैसे-वैसे खाद्य-समस्या विकट होती चली गई। परिवार का आकार बडा होने के साथ साथ आय के साधनो में वृद्धि नही हो सकी और फलस्वरूप जीवन-स्तर में आशातीत कमी हो गई। दूसरी ओर धनिक वर्ग में जनसख्या की वृद्धि अपेक्षाकृत कम हुई तथा उपभोग्य वस्तुओ की माँग बढने के कारण इनके मूल्यो में काफी वृद्धि हुई। इसका यह परिणाम हुआ कि जहाँ निर्धनो की स्थिति शोचनीय होती गई, दूसरी ओर धनिक वर्ग (व्यापारी तथा उद्योगपति) के पास धन का सचय होता चला गया।

जनसख्या की आशातीत वृद्धि के फलस्वरूप देश के कृषि-क्षेत्र का अधिकाश भाग खाद्यान्न उगाने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। १९५१ मे तो खाद्यान्नो के लिए कुल कृषि क्षेत्र ९०% प्रयुक्त किया गया था जबकि कपास के लिए यह अनुपात ५ २% था। १९६७ ६८ तक भी खाद्यान्नो के लिए कुल कृषि-क्षेत्र का लगभग ८०% से अधिक भाग प्रयुक्त किया जाता था। खाद्यान्नो को प्राथमिकता देने का आशय यह होता है कि हम व्यापारिक फसलो का उत्पादन तेजी से नही बढा सकते। भारतीय कृषक के लिए कृषि एक जीने का तरीका है और इसलिए वह पहले अपने व परिवार के भोजन की व्यवस्था करता है।

---

1. Kingley Davis op cit, p 67

जनसंख्या की वृद्धि अधिक होने का प्रभाव कृषि पर इसलिए भी अधिक हुआ कि भूमि पर जनसख्या का भार बढने के कारण भूमि उपविभाजन तथा ऋणग्रस्तता की समस्याएँ विकट होती गईं। इन समस्याओ का अगले अध्यायों मे विस्तार से वर्णन किया जाएगा, पर यहाँ इतना बता देना पर्याप्त है कि इनके लिए जनसंख्या की वृद्धि भी काफी सीमा तक उत्तरदायी है।

यह जनसंख्या का आधिक्य ही है, जिसके कारण भारत मे प्रति व्यक्ति आवश्यक वस्तुओ का उपभोग बहुत कम है और यहाँ लोगो का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। जीवन-स्तर नीचा होने के दो घातक परिणाम होते है। प्रथम तो यह कि लोगो का स्वास्थ्य पौष्टिक पदार्थो के अभाव मे ठीक नही रह पाता और इससे उनकी कार्यक्षमता निम्न स्तर पर रहती है। और दूसरा यह कि माँ-बाप का स्वास्थ्य ठीक नही होने के कारण बालक भी स्वस्थ नही होते।

हाल ही मे डा० एस० चन्द्रशेखर ने जनसख्या के आधिक्य तथा निम्न स्तरीय स्वास्थ्य की चर्चा करते हुए बताया है कि जहाँ विकसित देशो मे शिशुओ की मृत्यु-सख्या २० से २५ प्रति जार (प्रतिवर्ष) है, भारत मे यह अनुपात ९० प्रति हजार है। इसी प्रकार यहा प्रसवकाल मे प्रति हजार महिलाओ मे से ८ की मृत्यु हो जाती है, जबकि विकसित देशो मे यह अनुपात २ प्रति हजार है। (लेख AICC Economic Review, Jan 26, 1967)

डा० जार्ज सी० जैदान ने हाल ही मे प्रकाशित एक लेख[1] मे अल्प विकसित देशो की जनसंख्या-वृद्धि की समीक्षा करते हुए कहा कि इन देशो मे प्रति व्यक्ति आय के वर्तमान स्तर को बनाए रखने के लिए कुल विनियोग का ६५% प्रयुक्त करना होता है जबकि विकसित देशो मे कुल विनियोग का २५% ही वहाँ की उच्च स्तरीय आय को बनाए रखने के लिए पर्याप्त है। भारत के लिए उन्होंने बताया कि राष्ट्रीय आय का १०% से अधिक विनियोग करने तक तो भारत मे प्रति व्यक्ति आय स्थिर रहेगी। यदि आय को बढाना है तो विनियोग का राष्ट्रीय आय मे अनुपात १५ से २०% करना होगा। वस्तुतः यह जनसख्या की तीव्र वृद्धि के ही कारण है। डा० जार्ज जैदान ने कहा है कि भारत मे बढी हुई जनसख्या के लिए प्रति वर्ष कम से कम ५०७ करोड डालर की जरूरत होती है। (देखिए तालिका संख्या ४ व ५) वे आगे यह भी बताते है कि जैसे-जैसे जन्मदर भविष्य में कम होगी वैसे-वैसे यह समस्या और अधिक गम्भीर हो जाएगी।

जनसख्या अधिक होने के कारण बेकारी तथा अर्ध-बेकारी (disguised unemployment) की समस्याएँ भी विकट होती चली गई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समय कृषि-क्षेत्र के अलावा ५३ लाख व्यक्ति बेकार थे। द्वितीय योजना के अन्त तक इन व्यक्तियो की सख्या ९० लाख हो गई। वास्तव मे योजना आयोग ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि बेकारो की सख्या का यह अनुमान वास्तविकता पर आधारित नही है और इससे यह स्पष्ट होता है कि वास्तव मे बेकारों की सख्या इससे कही अधिक है। १९७६ तक अनुमानत भारत मे श्रमिको की सख्या मे उतनी वृद्धि हो जाएगी जितनी कि अमरीका की वर्तमान कार्यशील जनसंख्या है तथा यह वृद्धि ब्रिटेन की वर्तमान श्रम-शक्ति से ढाई गुनी होगी। निश्चय ही जनसंख्या की वृद्धि (डा० चन्द्रशेखर के मतानुसार) निकट भविष्य मे १-१·२ करोड प्रतिवर्ष हो जायगी, जबकि नवीन प्राविधियों के उपयोग से रोजगार की सम्भावनाएँ तदनुसार उपयुक्त नही रह पाएँगी। जहाँ तक अर्ध-बेकारों का प्रश्न है इनकी सही सख्या का अनुमान आज तक नही लग पाया है। ये वे बेकार है, जिन्हे पूरा काम नही मिल पाता। यह कहना काफी सीमा तक ठीक है कि अर्धबेकारो मे लगभग ५½ करोड खेतिहर मजदूर या कृषको के वे २०-२२ प्रतिशत परिवार सम्मिलित है, जिनके पास दो एकड से भी कम भूमि है तथा जो परिवार विवश होकर सीमित साधनो पर जीवन बसर कर रहे है। यह सब समस्या इसलिए है कि भारत मे वर्तमान साधनो की तुलना मे जनसंख्या बहुत अधिक है।

जनसंख्या का ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के आधार पर बँटवारा

किसी भी सतुलित अर्थव्यवस्था मे गाँवो तथा नगरो के मध्य जनसख्या का संतुलित वितरण होता है। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् जैसे-जैसे औद्योगिक नगरो तथा व्यावसायिक केन्द्रो

1. Population Growth and Development Economic Times 4-3 69

का विकास हुआ नगरो की जनसख्या का अनुपात वढता चला गया। पश्चिमी देशो का यत्रीकरण तथा वृहत स्तरीय उत्पादन के युग म नगरीकरण का सूत्रपात हुआ तथा तेजी से नगरो की जनसख्या वढने लगी।

भारत मे यद्यपि लाखो की जनसख्या म गाँव रहे तथा देश की अधिकाश जनसख्या भी गावो म ही रहती आई है तथापि १९वी शताब्दी के मध्य तक नगरो तथा गाँवो म जनसख्या का सतुलित वितरण था। लेकिन पाश्चात्य देशो के विपरीत सस्ते तथा यन्त्रो द्वारा निर्मित वस्तुओ के आविर्भाव ने यहाँ के नगरो मे स्थित कुटीर एव लघु उद्योगो पर घातक प्रभाव डाले तथा फलस्वरूप गावो की जनसख्या का अनुपात बढने लगा। १८९१ म गाँवो तथा शहरो की जनसख्या का अनुपात क्रमश ९० ५ तथा ९ ५ था। वीसवी शताब्दी म धीरे धीरे उद्योगो का विकास होने लगा और फलस्वरूप नगरो की जनसख्या बढने लगी। निम्न तालिका से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि १९६१ तक नगरो की जनसख्या का अनुपात किस सीमा तक बढ गया था

	ग्रामीण जनसख्या	नगरो की जनसख्या (प्रतिशत मे)
१९११	९० १	९ ९
१९३१	८७ ९	१२ १
१९४१	८६ १	१३ ९
१९५१	८२ ७	१७ ३
१९६१	८२ २०	१७ ८०

नगरो की जनसख्या का विवरण देते समय १९५१ की जनगणना रिपोर्ट म निम्न बात स्पष्ट की गई

(अ) ५००० से अधिक जनसख्या वाले केन्द्रो को ही नगर समझा जाएगा।

(ब) इन नगरो मे रहने वाले ७५ प्रतिशत प्रौढ स्त्री-पुरुष गैर कृषि कार्यो मे लगे हो।

(स) नगर की जनसख्या का घनत्व कम-से कम १०० व्यक्ति प्रति वर्गमील हो।

लेकिन देश के विभिन्न राज्यो मे नगर की जनसख्या का अनुपात भिन्न भिन्न है। राजस्थान आसाम व मध्य प्रदेश के नगरो मे लगभग १९ प्रतिशत व्यक्ति रहते हैं जबकि गुजरात महाराष्ट्र मैसूर मद्रास केरल उत्तर प्रदेश तथा बिहार मे लगभग २५ प्रतिशत (महाराष्ट्र मे लगभग २८ प्रतिशत) जनसख्या नगरो मे रहती है। १९३१ की जनगणना के अनुसार २ ०० ००० से अधिक जनसख्या वाले नगरो की सख्या १७ थी। १९५१ तक यह सख्या बढकर ३२ हो गई। १९६१ की जनगणना के अनुसार १०७ नगरो की जनसख्या १ ०० ००० से अधिक थी तथा नगरो की कुल जनसख्या का ४८ प्रतिशत भाग इनमे रहता था। १० लाख से ज्यादा आबादी वाले नगरो की सख्या सात थी तथा इनमे १७ प्रतिशत नागरिक जनसख्या रहती थी।[1]

उपरोक्त आकडो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत मे बडे नगरो म अधिक लोग रहते हैं तथा छोटे नगरो मे अपेक्षाकृत बहुत कम लोगो का निवास है। इसका मुख्य कारण यह है कि अत्यन्त छोटे नगरो में रोजगार प्राप्त करना इतना सरल नही है जितना कि बडे नगरो मे है। विकास की प्रारम्भिक स्थिति मे जनसख्या का छोटे नगरो की अपेक्षा बडे नगरो मे केन्द्रित होना स्वाभाविक भी है।

लेकिन किंग्सले डेविस ने यह विचित्र सत्य स्पष्ट किया है कि नगरो की जनसख्या बढने के साथ-साथ बडे नगरो मे मनुष्यो का छोटे-से क्षेत्र मे जमाव हो जाता है तथा गन्दगी एव अस्वास्थ्यकर वातावरण के कारण नगरो मे गावो की अपेक्षा मृत्युदर अधिक होती है।[2]

---

1 India 1966—p 21

2 Kingsley Davis Op cit pp 131 34

जनसंख्या का व्यवसाय के अनुसार विवरण

किसी भी देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि कुल जनता मे कितने लोग काम मे लगे हुए है तथा कितने लोग अन्य व्यक्तियो पर जीविका के लिए निर्भर है अथवा आंशिक रूप से वे जीविकायापन कर लेते है। जिस देश मे कार्यरत जनसंख्या का अनुपात अधिक होता है वहाँ धन का उत्पादन अधिक होगा तथा लोगो की आय एव जीवन-स्तर भी ऊँचे होंगे । इसके विपरीत जिस देश मे कार्यरत व्यक्तियो की संख्या बहुत कम है अथवा आंशिक रूप से काम करने वाले श्रमिको की संख्या अधिक है वहां आय कम होगी ।

कुछ लोगो की मान्यता है कि कृषि पर जहाँ अधिक निर्भरता होती है वहाँ लोग गरीब होते है, लेकिन यह सही नही है। अध्याय तीन मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कनाडा, न्यूजीलैण्ड एवं आस्ट्रेलिया आदि देशो मे प्रति व्यक्ति आय इगलैण्ड, जर्मनी व जापान जैसे औद्योगिक देशो से भी अधिक है। भारतीय जनता की निर्धनता का कारण अधिक लोगो का कृषि-कार्यों मे लगे रहना नही है बल्कि कृषि-प्रणालियां का पिछडा होना है।

१९३१ मे पहली बार जनगणना के समय जनसख्या का व्यवसाय के अनुसार वर्गीकरण किया गया तथा काम मे लगे हुए तथा बेकार व्यक्तियो मे स्पष्टत अन्तर प्रगट किया गया। इसके पूर्व साधारण रूप से चार श्रेणियो मे जनसख्या को बांटा गया था। १९०१ से १९२१ तक इन चार श्रेणियो मे जनसख्या का वर्गीकरण निम्न आधार पर किया गया :

	१९०१		१९११		१९२१	
	जनसख्या (करोड़ो मे)	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत
(अ) कच्चे माल का उत्पादन	१९ २	६७ ४	२२ १	७२ ७	२३ १	७३ १
(ब) तैयार वस्तुओं का उत्पादन	५ ६	१९ ७	५ ६	१८ ४	५ ६	१७ ७
(स) प्रशासनिक व अन्य सेवाएँ	१ ०	३ ५	१ ०	३ ३	१ ०	३ २
(द) विविध	२ ७	९ ४	१ ७	५ ६	१ ९	६ ०

१९३१ मे (विभाजित भारत के आधार पर) कुल जनसख्या २७ ५ करोड थी, जिसमे लगभग १० करोड ३० लाख (३७ ५ प्रतिशत) व्यक्ति पूर्ण रूप से कार्यरत थे—१ करोड ९० लाख व्यक्ति आंशिक रूप से काम मे लगे हुए थे तथा १५ करोड व्यक्ति (५४ ५ प्रतिशत) आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अन्य लोगो पर निर्भर थे यानी कोई काम नही करते थे ।

पिछले कुछ वर्षो मे, यद्यपि औद्योगीकरण की गति काफी बढी है तथापि कृषि का महत्व पूर्ववत् है। १९११ से १९४१ तक कार्यरत जनसख्या मे औद्योगिक श्रमिका का अनुपात १० व ११% के बीच रहा। आर्थिक नियोजन की अवधि मे निर्माण-कार्यो का पर्याप्त विस्तार होने से इनमे रोजगार बढा है।

१९५१ तथा १९६१ मे विभिन्न व्यवसायो के अनुसार जनसख्या का वितरण इस प्रकार रहा था :

	१९५१	१९६१
		(कुल कार्यशील जनसख्या का प्रतिशत)
(i) कृषि	६६ ८५	६४ ८८
(ii) जगल, खान खोदना व बागान	२ ७९	३·१०
(iii) घरेलू एव बडे उद्योग	९·८४	११ २७
(iv) भवन व सडक निर्माण	१ १९	१ ४१
(v) यातायात एव परिवहन	२ ०४	२ २८
(vi) सेवाएँ	११ ८०	११ ७७
(vii) अन्य	५ ४९	५ २९
	१००·००	१००·००

१९५१ से १९६१ के बीच जहां कृषि मे सलग्न व्यक्तियो का अनुपात कम हुआ है—बागाना, उद्योगो तथा यातायात व परिवहन मे लगे हुए व्यक्तियो का अनुपात काफी बढा है। फिर भी अन्य देशो की भांति यहाँ कृषि पर निर्भरता बहुत अधिक है। किंडलबर्जर के मतानुसार १८२० में अमरीका मे कृषि मे सलग्न व्यक्तियो की सख्या ७२ प्रतिशत (भारत मे लगभग ५२%) थी, १८८० मे यह घटकर ५० प्रतिशत (भारत मे ६२ प्रतिशत अनुमानित) रह गई तथा १९४० मे केवल १९ प्रतिशत रह गई (भारत ७० प्रतिशत)[1] इग्लैंड मे यह अनुपात लगभग ६ प्रतिशत है।

कृषि पर यह निर्भरता तो निकट भविष्य मे कम होनी सभव नही है, लेकिन जनसख्या का वह अनुपात, जो कृषि मे अनावश्यक रूप से सलग्न है, अतिरिक्त रोजगारो (विशेष रूप से उपभोग्य वस्तुएं बनाने वाले कुटीर व लघु उद्योगो) मे प्रयुक्त किया जा सकता है।

डा० वी० के० आर० वी० राव के मतानुसार १९५१ से १९८१ तक यदि २ ६० करोड अतिरिक्त लोगो को कृषि मे तथा ८ ८० करोड व्यक्तियो को गैर कृषि व्यवसायो मे काम दिया जाय तो कृषि मे सलग्न व्यक्तियो का अनुपात घटकर ५१% के लगभग रह जाएगा। यदि इस अनुपात को ५६% तक लाना है तो भी इस अवधि मे ४ करोड व्यक्तियो के कृषि तथा ७ ४ करोड लोगो को अन्य व्यवसायो मे प्रयुक्त करना होगा। पर यदि हम गैर कृषि क्षेत्रो मे आवश्यक पूंजी नही जुटा सके तो हमारी कृषि पर निभरता घटने की अपेक्षा बढती जाएगी।[2]

लिग अनुपात (Sex Ratio) इटली, फ्रास अमरीका तथा इगलैंड आदि देशो में पुरुषो की अपेक्षा महिलाओ का अनुपात अधिक है। निम्न तालिका से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है [3]

प्रति एक हजार पुरुषो पर महिलाओ का अनुपात

	१८८०	१९३९	१९५०-५१
इटली	—	—	१०५२
स० रा० अमरीका	६६५	९९३	१०३९
फ्रास	१०३३	१०८८	१०७०
इग्लैंड व वेल्स	१००५	१०७१	१०७७

भारत मे महिलाओ का अनुपात पुरुषो की अपेक्षा कम है तथा निरन्तर कम हो रहा है, जैसा निम्न तालिका से पता चलता है

भारत में महिलाओं का प्रति १००० पुरुषो पर अनुपात

वर्ष १९०१	१९११	१९२१	१९३१	१९५१	१९६१
समस्त भारत ९७२	९६४	९५५	९५०	९४६	९४१

इस औसत की अपेक्षा कम महिलाओ की सख्या राजस्थान, आसाम, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बगाल, पजाब तथा जम्मू एव कश्मीर मे है। उडीसा तथा केरल मे प्रति एक हजार पुरुषो के पीछे १००१ तथा १०२२ महिलाएं भी हैं। आध्र प्रदेश मे ९८१, बिहार म ९९४ तथा मद्रास मे ९२२ महिलाओ का अनुपात है। मनीपुर गोआ-दमन द्यु एव पाडिचेरी मे महिलाओ मे पुरुषो की अपेक्षा महिलाओ की सख्या अधिक है।

जिन राज्यो मे महिलाओं का अनुपात कम है वहां निर्धनता तथा अभाव के कारण प्रसव-काल मे महिलाओं की मृत्यु अधिक होती है।

---

1 Kindelberger Economic Development p 117
2 Dr V K R V Rao See article in Some Problems in Perspective Planning edited by S N Agarwal pp 88 104
3 India 1967 p 15

प्रत्याशित जीवनावधि
(Life Expectancy)

पाश्चात्य देशो की तुलना मे भारतीय (औसत) नागरिक की आयु कम है । लेकिन बीसवी शताब्दी के आरंभ से चिकित्सा-सुविधाओ का विकास होने के साथ-साथ औसत आयु मे भी वृद्धि हुई है :

	१९०१		१९११		१९३१		१९५१	
औसत आयु	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
अनुमान वर्षों मे	२३ ६३	२३·९६	२२ ५९	२३ ३१	२६ ९१	२६ ५६	३२ ४५	३१ ६६

१९६१ मे पुरुषो तथा महिलाओ की औसत आयु का अनुमान क्रमशः ४७ वर्ष तथा ४६ ३३ वर्ष माना गया था । १९६८ मे पुरुषो का औसत आयु अनुमान बढकर ५१ वर्ष हो गया। योजना आयोग का अनुमान है कि चिकित्सा प्रणाली एव स्वास्थ्य-व्यवस्था मे सुधार होने के साथ-साथ प्रत्याशित जीवनावधि और अधिक बढ़ेगी ।

वस्तुतः प्रत्याशित जीवनावधि मे वृद्धि के फलस्वरूप काम करने की आयु भी बढती है तथा बचत का अनुपात भी बढ जाता है । परन्तु इसके लिए यह भी जरूरी है कि देश मे काम के पर्याप्त नये अवसर उत्पन्न किए जाएं ताकि दीर्घकाल तक वर्तमान श्रमिक तथा नये श्रमिक उत्पादक कार्यों मे योगदान दे सकें । यह हमारा एक दुर्भाग्य है कि प्रत्याशित जीवनावधि के बढ़ने के साथ-साथ हम रोजगार के नए स्रोत उसी अनुपात मे नही जुटा पा रहे है ।

अवस्था-भेद –एक समाजशास्त्री के लिये अवस्था-भेद का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है । संडबर्ग नामक एक जनसख्या-विशेषज्ञ का कथन है कि साधारणतया १५ तथा ५० वर्ष के बीच देश की जनसख्या का ५० प्रतिशत अनुपात होना चाहिए । इससे अधिक तथा कम आयु वाले व्यक्तियो के आधार पर यह ज्ञात किया जा सकता है कि जनसख्या बढ रही है स्थिर है अथवा कम हो रही है । १५ वर्ष से कम आयु के व्यक्तियो का अनुपात बढने पर जनसख्या की वृद्धि का परिचय मिलता है, जबकि ५० वर्ष से ऊपर की आयु वाले व्यक्तियो का अनुपात बढने पर जनसख्या मे स्थिरता अथवा कमी का पता लगता है ।

लेकिन यह वर्गीकरण एक ऐसे देश के लिए उपयुक्त है जहाँ आर्थिक विकास परिपक्वता की स्थिति तक पहुँच गया हो । १९३१ की जनगणना रिपोर्ट मे यह तथ्य प्रकट किया गया कि १० वर्ष से १५ वर्ष की आयु के लडको की आयु वास्तविक आयु से अधिक तथा लडकियो की आयु वास्तविक आयु से कम बताई जाती है । विशेष रूप से इसलिए कि हिन्दू मान्यताओ के आधार पर माँ-बाप सही आयु बताने से डरते है, क्योकि ऐसा करने पर समाज उन्हे लडकी का विवाह जल्दी करने को मजबूर कर सकता है । प्रश्न है जहाँ आयु का अनुमान ही सही नही हो वहाँ अवस्था-भेद के आधार पर कोई भी अनुमान लगाना कहाँ तक उचित है ?

फिर भी अवस्था-भेद के जो कुछ आँकडे हमे मिलते है उनसे ज्ञात करना सरल हो जाता है कि देश मे काम करने योग्य आयु-श्रेणी मे कितने व्यक्ति हैं । भारत मे अवस्था-भेद का ज्ञान निम्न तालिका से हो जाता है :[1]

अवस्था-श्रेणियाँ (वर्ष)

वर्ष	०-१५	१५-४५	५५ तथा अधिक
१९३१	३९·९	५०·५	९ ६
१९६१	४१·०	४३ ०	१६·०

१९६१ मे १५ वर्ष में ४० वर्ष तक की श्रेणी मे भारत मे ४० प्रतिशत थे, लेकिन अनुमान है कि इनमे पर्दानशीन हिन्दू तथा मुस्लिम महिलाओ को अलग करने के बाद कुल ३० प्रतिशत

1 India, 1966 : p 15

स्त्री पुरुष काम करने योग्य थे। इसके विपरीत अमरीका मे लगभग ५० प्रतिशत व्यक्ति (कुल जनसख्या म १५ से ४० वष की आयु के) काम करने योग्य थे। भारत मे चार वष तक के शिशुओ का अनुपात १५ ० प्रतिशत है जबकि अमरीका मे यह अनुपात १० ८ प्रतिशत है। इसी प्रकार ५ वष से १४ वष तक की आयु वाले व्यक्तियो का अनुपात भारत मे २४ ८ है और अमरीका मे १६ ३ प्रतिशत। इससे यह सिद्ध होता है कि अमरीका जसे प्रगतिशील देशो की अपेक्षा यहाँ शिशुओ व काम नही करने योग्य लडके लडकियो का अनुपात भारत मे बहुत अधिक है।

अवस्था भेद का ज्ञान इसलिए भी आवश्यक है कि हम स्त्रियो व पुरुषो की सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता का इसके आधार पर पता लगा सकते है। सामायत १५ ४५ की आयु सन्तान प्राप्ति की अवस्था मानी जाती है। भारत मे १९६५ मे १० करोड दम्पत्ति थे जिनमे से उक्त आयु श्रेणी मे ९०% दम्पत्ति आते थे। इन ९ करोड दम्पतियो मे से ४ २ करोड दम्पतियो (४७%) के पास औसतन ४ या इससे अधिक सन्तानें थी १ ४ करोड दम्पति (१५ ५%) के पास तीन सन्तानें थी और केवल ३ ५ करोड परिवार सन्तान रहित थे या जिनके पास २ या इससे कम बच्चे थे।[1]

क्या भारत पर माल्थस का नियम लागू होता है ?

माल्थस ने जनसख्या के विषय मे यह विचार व्यक्त किया था कि जनसख्या की वृद्धि रेखागणित के प्रगतिशील अनुपात से होती है जबकि खाद्य सामग्री का उत्पादन अकगणित के अनुपात मे बढता है। उन्होंने कहा कि प्रत्येक २५ वष की अवधि मे जनसख्या दुगुनी हो जाती है। फलस्वरूप जनसख्या एव खाद्य सामग्री मे असन्तुलन की स्थिति मे पूव ही जनसख्या की वद्धि को नही रोका जाए तो प्रकृति स्वय अकाल बाढ युद्ध अथवा महामारियो के प्रकोप द्वारा जनसख्या के अतिरेक को मिटा देती है। भारत मे भी आज लगभग उसी स्थिति का आभास होता है। करोडो व्यक्तियो को जिस देश मे पर्याप्त भोजन प्राप्त नही हो सके तथा लाखो व्यक्ति जहा अभाव तथा बेकारी से पीडित हो स्पष्ट है उस देश मे जनाधिक्य है और यह विचार व्यक्त किया जाना अस्वाभाविक नही कि वहा माल्थस का नियम लागू होता है। इस मायता को पृष्ठभूमि मे निम्नाकित कारण प्रस्तुत किए जाते हैं

(१) **जनसख्या की आशातीत वद्धि**—जनसख्या की वृद्धि से सम्बन्धित ऊपर दिए आकडो से यह स्पष्ट होता है कि जनसख्या की वद्धि दर भारत मे बहुत अधिक है। १६०० ईस्वी से लेकर १८७१ तक जनसख्या लगभग २७० वर्षों मे दुगुनी हुई थी लेकिन १८७१ से १९५१ तक केवल ८० वष मे जनसख्या फिर दुगुना हो गई तथा डर यह है कि अब ४० वष मे शायद फिर जनसख्या दुगुनी हो जाएगी। तात्पय यह है कि जनसख्या की वद्धि-दर भी भारत म तेजी से बढ रही है—भले ही माल्थस द्वारा प्रस्तुत दर के आधार पर यह वृद्धि नही रही हो। आस्ट्रेलिया की जितनी जनसख्या है उससे अधिक जनसख्या तो हमारे यहा हर वष बढ जाती है।

(२) **महामारियाँ** भूतकाल मे महामारियो का अत्यधिक प्रकोप रहा तथा हैजा प्लग और मलेरिया से लाखो व्यक्तियो की प्रति वष मत्यु होती रही है। प्रो० रानाडिवे ने १९०१ से १९२१ तक प्लग तथा मलेरिया से हुई मत्यु का विवरण देते हुए बताया कि इस बीच ८२ ६ लाख व्यक्तियो की प्लग से तथा १ करोड ८४ लाख के लगभग व्यक्तियो को मलेरिया से मत्यु हुई।

डा० चन्द्रशेखर ने (अपने पूव उद्धृत लख मे) बताया कि चेचक व हैजे का आज भी भारत मे बहुत प्रकोप है। दुनिया मे १९६१ ६५ के बाच हैजे से जितने व्यक्ति प्रभावित हुए उनमे से ³ भारत मे थे और इस बीमारी स जितनी मत्यु हुई उसमे ८०% भारत मे हुई थी। इनके अतिरिक्त लप्रोसी क्षय व अन्य घातक बीमारियो से लाखा व्यक्तियो की हर साल मत्यु होती है। उधर देश मे इतने साधन नही है कि हम सभी के लिए चिकित्सा की व्यवस्था कर सक। अनुमानत ५० हजार लोगो के बीच भारत मे केवल एक डाक्टर है।

---

1 S Chandra Sekhar Family planning A Battle on Two Fronts (Times of India June 1967)

नगरो मे भीड अधिक होने से क्षय का प्रकोप अधिक होता है तथा भीड अधिक होने का कारण जनाधिक्य भी है। गाँवो मे इसके विपरीत मृत्यु का कारण सही नही लिखा जाता तथा बहुत सी बीमारियो की तो रिपोर्ट भी दर्ज नही होती। ओवरसीज इकॉनामिक सर्वे (१९५३) के अनुसार १९५२ तक भी प्रतिवर्ष मलेरिया से १० करोड आदमी पीडित होते हैं तथा १५ लाख की इससे मृत्यु होती है। क्षय से पीडित व्यक्तियो को वार्षिक संख्या २५ लाख है।

(३) **अकाल**—माल्थस ने पादरी होने के नाते यह मान्यता ली थी कि जनाधिक्य मानव समाज की स्वय की भूल का परिणाम है और प्रकृति इसके लिए अतिवृष्टि अनावृष्टि अथवा बाढ के रूप मे भी दंड दे सकती है। नैसर्गिक रोकों मे अकालो का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। अकालों का प्रकोप भारत मे पहले भी होता था, पर १९वी शताब्दी मे एक के बाद एक लगभग तीस अकाल पडे। इनमे से १८७६ से लेकर १९०० तक १८ अकाल पडे, जिनमे दो करोड सात लाख व्यक्तियो की मृत्यु हुई। बीसवी शताब्दी मे अकालो से ३० करोड से अधिक व्यक्ति प्रभावित हुए तथा ३ करोड व्यक्तियो से अधिक की मृत्यु हुई। स्पष्ट है, भारत मे अकालों का अत्यधिक प्रभाव रहा है और माल्थस ने जो कुछ कहा था वह काफी सीमा तक भारतीय परिस्थितियो के लिए प्रयुक्त होता है।

(४) **भुखमरी तथा अभाव**—माल्थस ने जनसख्या तथा खाद्य-सामग्री के जिस असन्तुलन की ओर इंगित किया था भारत उसका अपवाद नही है। ऊपर हम बता चुके हैं कि जनाधिक्य के कारण खाद्य का अभाव भारत मे बहुत समय से चला आ रहा है। १७७५ से १९०० तक भारत मे अनुमानत. ४ करोड व्यक्तियों की भूख से मृत्यु हुई। १९०० से लेकर १९४४ तक इसी प्रकार ३ करोड व्यक्ति भूख से मरे। पचवर्षीय योजनाओ द्वारा यद्यपि खाद्य समस्या पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है, फिर आजादी के बाद से अबतक लगभग ६ करोड टन से अधिक अनाज विदेशो से आ चुका है और यह जनाधिक्य का ही परिणाम है।

(५) **कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था**—प्रो० अलक घोष जनाधिक्य के लिए यह भी तर्क देते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान व्यवस्था तो है ही—अधिकाश लोगो को केवल जीने-भर के लिए साधन मिल पाते हैं (बहुतो को वे भी नही मिलते) उनका कथन है कि आर्थिक विकास की तुलना मे जनसख्या की वृद्धि अधिक होना जनाधिक्य का ही द्योतक है।

(६) **परिवार-नियोजन तथा निरोधक उपायों का आश्रय**—माल्थस ने जनाधिक्य की समस्या को रोकने के लिए निरोधक उपायो के विषय मे सुझाव दिया था। भारत मे भी गत कुछ वर्षो से परिवार नियोजन बंध्यीकरण तथा औषधियो के उपयोग की लोकप्रियता बढ रही है। इससे यह पता चलता है कि धीरे-धीरे भारतीय जनता को यह अनुभव हो रहा है कि उनकी सख्या बहुत अधिक है तथा उच्चतर जीवन-स्तर तक पहुँचने के लिए नियंत्रित वृद्धि होनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे माल्थस द्वारा बताई गई दिशा मे हम लोग चलने का प्रयास कर रहे हैं।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय परिस्थितियो मे माल्थस का नियम लागू होता है, यद्यपि उसी रूप मे नही जैसा कि माल्थस ने सोचा था।

राज्य की जनसंख्या-सम्बन्धी नीति[1]

यह ऊपर बताया जा चुका है कि जनसंख्या की आशातीत वृद्धि आर्थिक विकास की गति मे अवरोध उत्पन्न कर देती है। यदि क्षय के किसी रोगी को केवल पौष्टिक पदार्थ दिए जाएँ तो वह स्वस्थ नही हो सकता। रोग का निदान होने के साथ-साथ टॉनिक दिए जाने पर ही लाभ हो सकता है। भारत जैसे अल्पविकसित देशो मे आर्थिक पिछड़ापन तथा निम्न जीवन-स्तर आदि वे समस्यायें हैं, जिनका निदान केवल योजनाओ द्वारा ही सभव है। लेकिन साथ ही मुख्य रोग यानी जनसंख्या की वृद्धि दर पर भी नियन्त्रण पाना आवश्यक है। सभव है, नियोजन द्वारा हम उत्पादन दुगुना कर लें। पर उसी अवधि मे जनसख्या भी दुगुनी हो जाय तो नियोजन व्यर्थ है।

---

1. For Family Planning data see "Family Planning" : "Facts at a Glance" in Socialist Congress man March 20, 1969.

यही सब सोचते हुए पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत परिवार-नियोजन को भी एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। योजनाओ के पूर्व भी १९४६ मे भोर कमेटी तथा १९३८ मे तत्कालीन कांग्रेस के अध्यक्ष श्री सुभाषचन्द्र बोस ने जन्मदर को नियंत्रित करने के लिए परिवार-नियोजन की सिफारिश की थी, परन्तु विदेशी शासन होने के कारण उनके सुझाव निष्फल रहे।

प्रथम योजनाकाल मे १२६ शहरो तथा २१ गांवो मे परिवार-नियोजन केन्द्र खोले गए। द्वितीय योजना के अन्त तक ११०० गांवो तथा ५४९ शहरो मे इस प्रकार के केन्द्रों की स्थापना हो चुकी थी। प्रथम दो योजनाओ मे ५ करोड १८ लाख रुपये परिवार-नियोजन के लिए खर्च हुए।

तृतीय योजना के प्रारम्भ मे ही इस बात को अच्छी तरह समझ लिया गया था कि देश के आर्थिक विकास की गति बढाने के लिए परिवार-नियोजन के कार्यक्रमो को सर्वोपरि महत्व दिया जाय। जहां १९६१ मे १६४९ परिवार नियोजन केन्द्र तथा उपकेन्द्र थे। इनमे गांव के केन्द्रो की सख्या २४ २ हजार थी। इनकी सख्या १९६२ तक बढा कर लगभग २६ हजार कर दी गई। इनके अलावा गर्भ निरोधक औषधियो के वितरण हेतु ७०३० केन्द्र गांवो मे कार्य कर रहे थे। इन केन्द्रो मे औषधियो व सेवाओ के अलावा परिवार-नियोजन पर परामर्श भी दिया जाता है। परिवार-नियोजन कार्यक्रमो को अधिक सफल बनाने के लिए केन्द्रीय स्वास्थ्य मत्रालय का पुनगठन करके इसे केन्द्रीय स्वास्थ्य व परिवार-नियोजन मत्रालय कहा जाने लगा है। परिवार-नियोजन कार्यक्रमो के लिए राज्य सरकारो व केन्द्रीय मन्त्रालय के बीच बेहतर सम्पर्क के लिए क्षेत्रीय सचालको की नियुक्तियाँ की गई है। कुल मिलाकर गत योजना मे परिवार नियोजन पर २७ करोड रुपये खर्च हुए। ऐसा विश्वास किया जाता है कि १९६८ तक, सतान उत्पत्ति के योग्य दम्पत्तियो मे से ११ ६% को परिवार नियोजन के द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित किया जा चुका था तथा इससे १० लाख बच्चो के जन्म को प्रतिवर्ष रोका जा सकता था।

चौथी योजना काल मे परिवार नियोजन के कार्यक्रमो को और बढाया जायगा। इसके लिए पाच वर्ष की इस अवधि मे ९५ करोड रुपया खर्च करने का प्रावधान है। १९६९-७४ की अवधि मे लूप तथा वन्ध्यीकरण के व्यापक उपयोग द्वारा जन्मदर ४१ प्रति हजार से घटाकर ३२ प्रति हजार तक करने का लक्ष्य है। नगरो की घनी बस्तियो तथा गांवो मे इसी उद्देश्य से परिवार नियोजन अभियानो को और बढाया जाएगा। मेडीकल कॉलिज के वे विद्यार्थी जो अध्ययन समाप्ति के बाद इस अभियान मे सक्रिय रूप से भाग लेना चाहेंगे, वे इसके लिए राज्य से विशेष सहायता अध्ययन समाप्ति तक प्राप्त कर सकेंगे। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि १९६६-६७ की अवधि तक परिवार नियोजन के कार्यक्रमो पर ८४ करोड रुपए खर्च किए गए। १९६८ तक ४३ २ लाख व्यक्तियो का वन्ध्यीकरण किया जा चुका था तथा २७ लाख महिलाओ ने लूप धारण कर लिया था।

रेडियो सिनमा गृहो व अन्य रोचक कार्यक्रमो के माध्यम से जनता मे परिवार नियोजन आवश्यकता को बताया जाएगा। केन्द्रीय परिवार नियोजन विभाग ने इन सबके लिए अतिरिक्त १४४ करोड रुपये की स्कीम तैयार की है।

१९७३-७४ तक १० करोड दम्पत्तियो के लिए परिवार नियोजन की जरूरी सुविधाएँ उपलब्ध हो सकेंगी। इसके लिए ५,५०० ग्रामीण परिवार नियोजन केन्द्र, ४१,००० उप केन्द्र तथा १८०० शहरी केन्द्र उस समय तक स्थापित किए जा चुकेंगे। चौथी योजना मे परिवार नियोजन पर ५० करोड रुपए के व्यय का प्रावधान रखा गया है।

हमे यह अर्थ कदापि नही लगाना चाहिए कि जनसख्या की समस्या पर नियन्त्रण करना एक दुष्कर कार्य है। जनसख्या को रोकने के लिए यद्यपि परिवार नियोजन के कार्यक्रम आशानुसार सफल नही हो सके हैं, फिर भी धीरे-धीरे जनसाधारण इस बात को अनुभव करने लगा है कि छोटा परिवार एक सुखी परिवार होता है। जरूरत इस बात की है कि बन्ध्यीकरण तथा अन्य उपायों के प्रति प्रचलित भ्रान्तियों को दूर किया जाय।

डा० एस० एन० अग्रवाल ने एक लेख[1] मे बताया था कि यदि भारत मे लडकियो का विवाह १६ वर्ष की अपेक्षा १९ वर्ष के बाद किया जाय तो २० वर्ष के भीतर जन्म दर ४० प्रति हजार से घटकर २९ प्रति हजार रह जाएगी। क्योकि सन्तान उत्पन्न करने की आयु (१५ से ४५ वर्ष) मे इससे कमी हो जाएगी। भारत सरकार को चाहिए कि इस सुझाव पर गम्भीरता से विचार करके इसे कार्यान्वित करे। अनेक अर्थशास्त्री तथा समाजशास्त्री गर्भपात को कानूनी मान्यता देने का भी अनेक वर्षों से आग्रह कर रहे है, पर धार्मिक भावनाओ के दबाव मे ऐसा करना संभव नहीं होगा।

परन्तु इसके समानान्तर ही हमे रचनात्मक उपाय भी अपनाने होगे। नवीनतम साधनो द्वारा यदि हम कृषि-उत्पादन बढाए तथा रोजगार के नये स्रोत प्रारम्भ करें तो बढती हुई जनसंख्या हमारे लिए एक भयकर समस्या के रूप मे नही रह सकेगी। केवल जन्म दर को कम करके या मृत्युदर को बढ़ाकर जनसंख्या का हल खोजना पलायनवाद का ही प्रतीक होगा। हमे साथ ही अधिक उत्पादन भी करना होगा। डा० जैदान ने लिखा है कि नई किस्मों के बीजो द्वारा अल्पकाल मे खाद्यान्नों का उत्पादन दुगुना किया जा सकता है जबकि जनसंख्या को दुगुना होने मे ३५ वर्ष तक लग जाते हैं।[2] जरूरत है एक ओर परिवार नियोजन के कार्यक्रमो को सफल बनाने की और साथ ही अधिक उत्पादन करने की।

---

1. Importance of Later Marriages : S N Agarwal (Yojna—April 12, 1964)
2. G. C. Zaidan . op cit. p. 5 (Eco. Times)

७

भारत की खाद्य समस्या
(India's Food Problem)

प्रारम्भिक—महत्त्व

मनुष्य की तीन आधारभूत आवश्यकताएँ है : भोजन, वस्त्र तथा मकान । इनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता भोजन की है । यदि किसी देश के निवासियो को पर्याप्त भोजन की प्राप्ति नही हो पाती तो वहाँ श्रम की उत्पादकता एव तदनुसार प्रति व्यक्ति आय भी कम होगी । पर इसका यह आशय नही है कि पर्याप्त भोजन अथवा खाद्यान्नो का उस देश मे ही उत्पादन हो । देश मे खाद्यान्नो का उत्पादन कम होने पर विदेशो से आयात करके इस कमी को पूरा किया जा सकता है । पर इसके लिए आवश्यक है कि उस देश के पास पर्याप्त विदेशी विनिमय हो तथा विश्व के बाजारो मे अतिरिक्त खाद्यान्न हो ।

देश की वर्तमान जनसख्या के लिए ही पर्याप्त खाद्यान्न की उपलब्धि आवश्यक नही है । यह भी आवश्यक है कि बढती हुई जनसख्या के लिए खाद्यान्नो की उपलब्धि मे भी वृद्धि होती जाय । इसके अतिरिक्त यह भी जरूरी है कि देश की जनता को अपने भोजन मे पर्याप्त पौष्टिक पदार्थ भी प्राप्त हो ।

परन्तु भारत की स्थिति इन तीनो दृष्टिकोणो से प्रतिकूल है । जैसा कि आगे बताया जाएगा, भारतीय जनता को पर्याप्त भोजन उपलब्ध नही होता । जनसख्या की आशातीत वृद्धि के कारण खाद्यान्नो का अभाव बढता जा रहा है और इसके साथ ही यहा की जनता को सतुलित आहार नही मिल पाता ।

प्रस्तुत अध्याय मे हम भारत की खाद्य समस्या का विभिन्न दृष्टिकोणो से विश्लेषण करेंगे और फिर राज्य की खाद्य नीति की आलोचनात्मक समीक्षा की जाएगी ।

खाद्य समस्या के विभिन्न पहलू

जैसा कि ऊपर बताया गया है खाद्यान्नो की पर्याप्त उपलब्धि सबसे जरूरी है पर साथ ही सतुलित आहार का होना भी कम महत्वपूर्ण नही है । अर्थशास्त्रियो ने इसीलिए भारत की वर्तमान खाद्य समस्या को तीन रूपो मे प्रस्तुत किया है मात्रात्मक, गुणात्मक तथा प्रशासनिक ।

मात्रात्मक पहलू—भारत की P L ४८० पर बढती हुई निर्भरता इस बात की पुष्टि करती है कि भारत मे आवश्यकता से कम अनाज की उपलब्धि हो पाती है । परन्तु यह कहना गलत होगा कि अनाज का यह अभाव स्वतन्त्रता के पश्चात ही प्रारम्भ हुआ है क्योंकि इसी अवधि मे जनसख्या की वृद्धि प्रगतिशील रूप से हुई है । कुछ लोग (डा० गोपाल स्वामी भूतपूर्व जनगणना

कमिश्नर) यह तर्क प्रस्तुत करते है कि १९वी शताब्दी मे भारत अनाज का निर्यात करता था और इसलिए उस समय अनाज का अभाव नही था। (उदाहरण के लिए १८७७ में भारत से ९ करोड रुपये से अधिक का अनाज निर्यात किया गया था)। परन्तु श्री रमेश दत्त का कथन है कि अनाज का अभाव होने पर भी इनका निर्यात किया जाता था। यहां तक कि १८७८ से १९०० के बीच पड़े अनेक भीषण अकालो के समय भी भारत से अनाज का काफी निर्यात किया गया क्योंकि ब्रिटिश सरकार की मालगुजारी-नीति के कारण काश्तकारो को अनाज बेचना पड़ता था। यही अनाज व्यापारी लोग इंग्लैंड आदि देशों को निर्यात करते थे।[1] इस प्रकार यह तर्क गलत है कि भारत अनाज का निर्यात करता था अत यहां १९वी शताब्दी मे खाद्यान्न का अभाव नही था।

१९वीं शताब्दी मे खाद्यान्न का अभाव कितना अधिक था यह इस तथ्य से स्पष्ट हो सकता है कि १८७३ व १९०८ के बीच खाद्यान्नों के फुटकर मूल्य ढाई गुने से अधिक हो गये थे।[2] इसके बाद भी खाद्यान्नो का अभाव जारी रहा। श्री दयाशंकर दुबे ने अपने एक खोजपूर्ण लेख[3] मे प्रथम महायुद्ध काल तथा उसके कुछ समय पूर्व भारत मे विद्यमान खाद्य सकट की जो स्थिति बताई है वह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है

खाद्यान्न की मांग, पूर्ति व अभाव

(मिलियन टन मे)

	कुल मांग	पूर्ति	अभाव
१९११-१२	६४ ३३	५४ ८०	९ ५३
१९१२-१३	६३ ६०	५२ ९५	१०·६५
१९१३-१४	६३ ०३	४८ ४६	१४ ५७
१९१४-१५	६५ १६	५४·०४	११·१२
१९१५-१६	६५·८३	५६·३२	९ ५१
१९१६-१७	६६·१९	५७ ९०	८·२९
१९१७-१८	६६ ४०	५८ ०६	८ ३४

यदि २४ करोड जनसख्या के लिए ८३ लाख टन से १ ५ करोड टन खाद्यान्न का अभाव उस समय रहा हो तो आज की ५० करोड जनसख्या के लिए यदि इतना ही अभाव हो तो खाद्य समस्या का दायित्व स्वतन्त्र भारत की सरकार को देना अविवेकपूर्ण नही तो और क्या है ?

श्री दुबे ने अपने उक्त लेख मे यह भी बताया कि १९११ से १९१८ की इस अवधि में २५ लाख बड़ो तथा ८० से ८२ लाख बच्चों को ही पर्याप्त भोजन मिल पाता था और कम से कम १५ १६ करोड़ देशवासी ऐसे थे जिन्हें आवश्यकता का केवल ३/४ खाद्यान्न ही मिल पाता था। डा० राधाकमल मुकर्जी का अनुमान है कि १९३५-४० मे देश के ३ -३८ करोड व्यक्तियो में से १३-१४% ऐसे थे जिन्हे पर्याप्त भोजन नही मिल पाता था।

इसके बाद बर्मा तथा १९४७ मे पूर्वी बंगाल तथा पश्चिमी पंजाब के उपजाऊ क्षेत्र भारत से पृथक हो गए तथा फलस्वरूप खाद्यान्नो के अभाव की समस्या और दुरूह हो गई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् खाद्यान्न की पूर्ति

स्वतन्त्रता के पूर्व खाद्यान्न का अभाव होने पर भी ब्रिटिश सरकार ने मुक्त रूप से इसे स्वीकार नही किया। १९४७ के बाद से, जैसा कि हम जनसख्या के अध्याय मे स्पष्ट कर चुके हैं, जनसख्या तेजी से बढ़ी, और फलस्वरूप खाद्यान्न का अभाव और भी गुरुतर होता गया।

---

1. Ramesh Dutt Economic History of India Vol. I, p. 200 and Vol. II, pp. 534-35.
2 Surendra J Patel · Long Term Changes in output and Income in India (Indian Economic Journal).
3 Irdian Food problem (Indian Journal of Economic Vol. 3 & 4 1921)

वस्तुत जनसख्या की वृद्धि के अतिरिक्त आय मे वृद्धि होने के कारण भी खाद्यान्न की माँग मे वृद्धि होना स्वाभाविक है। विशेष रूप से भारत जैसे देशो मे खाद्यान्नों की माँग की आय-लोच (Income elasticity) काफी अधिक होती है। डा० राजकृष्ण ने भारत म खाद्यान्नों की माँग की आय-लोच ० ७ मानते हुए यह बताया है कि १९५१-६६ के बीच प्रति व्यक्ति आय मे १ ४६% वृद्धि हुई। फलस्वरूप खाद्यान्नो की माँग १ ०२२% प्रतिवर्ष के हिसाब से बढी। १९५१ मे भारत मे प्रति व्यक्ति खाद्यान्न का दैनिक उपभोग १३ ९ औंस था। इसी आधार पर खाद्यान्न की माँग व वास्तविक उपलब्धि का निरूपण उन्होने किया है।[1]

खाद्यान्नो की माँग तथा वास्तविक उपलब्धि

(मिलियन टन)

वर्ष	माँग	वास्तविक उपलब्धि	शेष
१९५१	५२ २७	४६ ४५	—५ ८२
१९५२	५३ ६६	४६ ८५	—६ ८४
१९५३	५५ १८	५२ ०८	—३ १०
१९५४	५६ ७४	६१ ०१	+४ २७
१९५५	५८ ३८	५७ ८४	—० ५४
१९५६	६० ०९	५८ ४५	—१ ६४
१९५७	६१ ९०	६१ १६	—० ७४
१९५८	६३ ७९	५६ २६	—७ ५३
१९५९	६५ ७९	६७ ४६	+१ ६७
१९६०	६७ ८८	६७ ११	—० ७७
१९६१	७० ०९	७१ ७५	+० ६६
१९६२	७२ ८४	७२ ३६	—० ०८
१९६३	७४ ८६	६८ ६०	—६ २६
१९६४	७७ ३५	७० २१	—७ १४
१९६५	७९ ९२	७७ ३५	—१ ५७
१९६६	८२ ५९	६३ २६	—९ ३३

जैसा कि स्पष्ट है, १९५१ से १९६६ तक केवल दो या तीन बार भारत मे माँग की अपेक्षा खाद्यान्नों की उपलब्धि अधिक रही। परन्तु कुल मिलाकर खाद्यान्नो का इस १५ वर्ष की अवधि मे अभाव ही रहा।

१९६५-६६ तथा १९६६-६७ के दो वर्ष खाद्यान्नो की उपलब्धि की दृष्टि से काफी प्रतिकूल रहे थे और इसी कारण १९६७ तथा १९६८ मे भी खाद्यान्नो की वास्तविक उपलब्धि माँग की तुलना मे काफी कम रही।[2]

ये सभी तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारत मे मात्रा की दृष्टि से खाद्यान्न का

---

1 Rajkrishna · Govt Operations in foodgrains (See Economi & Political Weekly—September 16, 1967) Table 6

नोट वास्तविक उपलब्धि उत्पादन का ८७ ५% मानी गई है—शेष पशु खाद्य, बीज तथा सामान्य क्षति के रूप म छोड दिया गया है।

२ आर्थिक सर्वेक्षण (इकोनॉमिक सर्वे १९६८-६९) के अनुसार १९६७ एव १९६८ मे खाद्यान्न की वास्तविक उपलब्धि (उत्पादन का ८७ ५%) क्रमश ६ ४ करोड टन रही थी। प्रति व्यक्ति दैनिक उपलब्धि १९६६-६७ तथा १९६७-६८ मे तदनुसार १४ औंस तथा १६ १ औंस रही। लेकिन १९६७-६८ की उपलब्धि १९६०-६१, १९६१ ६२ तथा १९६४-६५ की प्रति व्यक्ति उपलब्धि से भी कम थी।

See Economic Survey (1968-69 Table 1 19)

अभाव है। आर्थिक विकास के फलस्वरूप भारतीय जनता की आय मे वृद्धि होगी और यह आवश्यक है कि इससे उत्पन्न खाद्यान्न की अतिरिक्त माँग को पूर्ति हेतु आवश्यक कदम उठाए जाएँ। इसके अलावा प्रतिवर्ष १ करोड २० लाख अतिरिक्त व्यक्तियो के लिए भी खाद्यान्न की व्यवस्था हमे करनी होगी।

खाद्य समस्या का गुणात्मक पक्ष :

अर्थशास्त्र के विद्यार्थी यह भली-भाँति जानते है कि मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताओं मे कार्यक्षमता रक्षक वस्तुएँ भी सम्मिलित की जाती हैं। अनाज हमारे लिए जीवन रक्षक जरूरत है परन्तु इसके अतिरिक्त अपनी कार्यक्षमता बनाए रखने के लिए हमे चिकनी वस्तुएँ, खनिज, विटामिन तथा अन्य पौष्टिक तत्वो की भी जरूरत होती है। दुर्भाग्य से भारत मे इन पौष्टिक तत्वो की समुचित पूर्ति नही हो पाती।

विश्व कृषि तथा खाद्य सगठन (FAO) ने अनुमान किया है कि साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति को (सभी आयु वर्गों का औसत) अपने दैनिक भोजन में २१०० केलोरी की जरूरत होती है। काम करने वाले व्यक्तियो को २८०० से ३२०० केलोरी प्रतिदिन प्राप्त होना चाहिए। इनमें अनाज, दालें, चिकनाई, खनिज, तथा विटामिन सभी की सतुलित मात्रा मिलना आवश्यक है। भारत मे पौष्टिकता सलाहकार परिषद् ने अनुमान किया है कि एक भारतीय को १४ औंस अनाज, ३ औंस दालें, १० औंस सब्जी, २ औंस घी व तेल, १० औंस दूध, ४ औंस मछली-मास या अंडे, ३ औंस फल तथा २ औंस शकर की जरूरत है। जहाँ तक अनाज का प्रश्न है, भारत मे आवश्यकता से कम अनाज का उपभोग होने पर भी औसत उपभोग विश्व मे सर्वाधिक है। **परन्तु तथ्य यह है कि अन्य तत्व न मिलने के कारण ही भारतीय नागरिक अधिक अनाज खाता है।**

डा० सुखात्मे ने बताया है कि भारतीय नागरिको को जितने पौष्टिक तत्व मिलना चाहिए, अपने आहार में उनकी अपेक्षा उन्हें बहुत कम मिल पाते हैं।[1] यह समस्या विशेष रूप से पिछडे हुए राज्यो मे अधिक गम्भीर है। पजाब, मध्यप्रदेश, पश्चिमी बगाल व मद्रास में पौष्टिक तत्व अन्य राज्यो की अपेक्षा अधिक उपलब्ध होते हे। (देखिए सुखात्मे—पूर्व उद्धृत पृष्ठ १३१)

इस प्रकार भारतीय जनता को न तो पर्याप्त मात्रा मे भोजन मिलता है और न ही उस भोजन मे सामान्यत पर्याप्त पौष्टिक तत्वो की उपलब्धि हो पाती है। धन व आय के वितरण की विषमता के कारण देश के अधिकाश नागरिको को औसत मात्रा से भी कम आहार मिल पाता है।

खाद्य समस्या का प्रशासनिक पक्ष

खाद्य समस्या के प्रशासनिक पक्ष के अन्तर्गत हम देश मे उपलब्ध खाद्यान्नो के वितरण को लेते है। जैसा कि हम जानते है भारत के विभिन्न राज्यो मे जनसख्या का वितरण एक सा नही है और न ही खाद्यान्नो का प्रति व्यक्ति उत्पादन सभी राज्यों मे समान है। यही कारण है कि केरल, असम, गुजरात व बिहार सदैव अभावग्रस्त राज्य बने रहते है जबकि पंजाब, आध्रप्रदेश, महाराष्ट्र आदि राज्यों मे अनाज का अतिरेक रहता हे। यह अतिरेक अथवा अभाव की समस्या कृषि उत्पादन की वृद्धि दरों की असमानता के कारण और भी विकट होती जाती है।

चूंकि प्रकृति ने स्वय भूमि की उर्वराशक्ति मे भिन्नता रखी है, कृषि उत्पादन बढने पर अतिरेक वाले राज्यों में खाद्यान्न की उपलब्धि बढती जाती है और अभाव वाले राज्य और अभाव-ग्रस्त हो जाते हैं। प्रश्न है इस स्थिति मे खाद्यान्न का सन्तुलित वितरण किस प्रकार किया जाय? यदि राज्य इस दिशा मे विवेकपूर्ण नीति नही बनाए तो एक ही अनाज के मूल्य विभिन्न राज्यो मे भिन्न होंगे। दूसरी ओर सरकार यदि सन्तुलित वितरण का दायित्व स्वयं लेती है तो इससे स्वार्थी

---

1 See Feeding India's Growing Millions (Asia) 1965 p. 41. आवश्यक प्रोटीन का ८५%, लोहे का ७०%, चिकनाई का २०%, चूने का ४०%, विटामिन ए का १५%, तथा विटामिन सी व डी का नगण्य अनुपात एक औसत भारतीय नागरिक को प्राप्त होता है। विटामिन बी, बी-२ तथा बी-१२ का अभाव भी यहाँ एक आम बात है।

तत्वों को प्रतिकूल दिशा में कार्य करने का अवसर मिलता है और वे अनाज का "कृत्रिम अभाव" उत्पन्न कर देते है। सरकार अथवा प्रशासन द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से खाद्यान्न का सन्तुलित वितरण करना तभी सम्भव हो सकता है जबकि सरकार का अनाज के व्यापार व मूल्यों पर कठोर नियन्त्रण हो और जैसा कि हम जानते है, प्रजातन्त्र के अन्तर्गत यह एक दुरूह कार्य है।

अस्तु, खाद्य समस्या का एक पक्ष प्रशासनिक भी है। प्रशासनिक नीति के असफल होने का ही *यह परिणाम है कि खाद्यान्नों की उपलब्धि विभिन्न राज्यों में बराबर विषम बनी हुई है*।[1]

उपरोक्त तथ्यों से यह तो स्पष्ट हो चुका है कि भारत में खाद्य समस्या एक गम्भीर समस्या है। अब हमें यह देखना है कि भारत की वर्तमान खाद्य समस्या के कारण क्या हैं तथा इस दिशा में सरकार की क्या नीति रही है?

खाद्य समस्या के कारण

(१) **जनसंख्या की वृद्धि**—जैसा कि हमने पिछले अध्याय में स्पष्ट किया है, भारत की जनसंख्या पिछले बीस वर्षों में २ ४% से २ ६% की वार्षिक दर से बढा है। कुल मिलाकर पिछले कुछ वर्षों से १ २ करोड़ व्यक्ति देश में हर वर्ष बढ जाते है। यदि खाद्यान्न का उपभोग करने वाले व्यक्तियों की वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि का ७०% भी हो तब भी ८४-८५ लाख व्यक्तियों के लिए अतिरिक्त भोजन की हमें व्यवस्था करनी पड रही है। यदि प्रति व्यक्ति खाद्यान्न का औसत उपभोग (वार्षिक) १४० किलोग्राम हो तो लगभग १ २५ करोड़ टन अतिरिक्त खाद्यान्न की हमें प्रतिवर्ष आवश्यकता होती है।

१९२० तक भारत की जनसंख्या धीमी गति से तथा खाद्यान्न का उत्पादन उसकी तुलना में अधिक गति से बढा था। परन्तु १९२० से १९४९ के बीच जनसंख्या की वृद्धि पर ० ८% रही जबकि खाद्यान्नों का उत्पादन ० २५% की दर से बढा। यह सही है कि इसके बाद विशेष रूप से पिछले ४-५ वर्षों में हरी क्रान्ति के कारण खाद्यान्न के उत्पादन की दर जनसंख्या की अपेक्षा अधिक हो गई है, फिर भी पहले से चले आ रहे अभाव को हरी क्रान्ति दूर करने में सफल नहीं हो सकी है।

डा० लुई पालिंग ने १९६७ में दिल्ली में आज़ाद मेमोरियल लेक्चर के दौरान कहा था कि यदि भारत को खाद्य संकट से मुक्ति पानी है तो यहाँ उत्पादन बढाने के साथ-साथ १२ वर्ष में जनसंख्या की अधिकतम वृद्धि ५ करोड़ होनी चाहिए।

वस्तुतः जनसंख्या की वृद्धि ही हमारे खाद्य संकट का मुख्य कारण है। एक अनुमान के अनुसार १९७६ तक भारत की जनसंख्या ६३ करोड़ होगी तथा इसके लिए कुल १३ करोड़ टन खाद्यान्न की आवश्यकता होगी। वर्तमान ६ ५ करोड़ टन के स्तर को यदि १३ करोड़ टन तक नहीं बढाया गया तो निश्चय ही खाद्य संकट और गम्भीर हो सकता है। अतः जनसंख्या पर *नियन्त्रण होना अत्यन्त आवश्यक है*।[2]

(२) **खाद्यान्न उत्पादन की अनिश्चितता**—भारतीय कृषि मानसून का एक जुआ है। १९६४-६५ की रिकॉर्ड फसल के बाद दो वर्षों में प्रकृति के प्रतिकूल रहने से खाद्यान्न के उत्पादन में काफी कमी हुई। दूसरी तरफ जनसंख्या की वृद्धि जारी रही और फलतः खाद्यान्न का गम्भीर

---

1 यद्यपि सरकार की सहानुभूतिपूर्ण नीति के फलस्वरूप केरल बिहार तथा अन्य अभावग्रस्त राज्यों में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धि बढी है तथापि अन्तर्प्रान्तीय विषमता अब भी काफी है। १९६५ में केरल में प्रति व्यक्ति दैनिक उपलब्धि ११ ४ औंस थी। बिहार व आसाम में क्रमशः ११ ९ औंस तथा १३ २ औंस की प्रति व्यक्ति उपलब्धि थी। दूसरी ओर उसी वर्ष पंजाब में प्रति व्यक्ति दैनिक उपलब्धि १८ ३ औंस व राजस्थान में १६ औंस प्रति व्यक्ति प्रति दिन थी। देखिए M. L. Dantwala (Food Policy : displaced criticism—Times of India, February 10, 1966

2. See R. B I. Bulletin, January, 1967

संकट हमें देखना पड़ा। १९६७-६८ खाद्यान्न उत्पादन की दृष्टि से श्रेष्ठ वर्ष था और उस वर्ष ९.५ करोड टन उत्पादन होने के बाद यह आशा बनी थी कि १९६८-६९ मे उत्पादन १० करोड़ टन से अधिक होगा, परन्तु आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey) १९६८-६९ के द्वारा इस अनुमान को मौसम के आधार पर संशोधित करके ९.६ करोड टन कर दिया गया।

(३) **राजनैतिक कारण**[1]—प्रकृति की अनिश्चितता के अतिरिक्त खाद्यान्नो के उत्पादन सम्बन्धी अनुमान वास्तविकता की अपेक्षा राजनीति पर भी आधारित प्रतीत होते है। पिछले कुछ वर्षो से राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार को उत्पादन सम्बन्धी जो अनुमान भेजती है वे वास्तविक स्तर से कम के अनुमान होते है। इसका कारण यह है कि आयातित अनाज मे से प्रत्येक राज्य सरकार अधिक से अधिक अंश लेने का प्रयास करती है और इसके लिए उत्पादन का सही अनुमान केन्द्रीय सरकार को बताना उनके लिए आत्मघाती हो सकता है। यही कारण है कि खाद्यान्न का वास्तविक उत्पादन पर्याप्त होने पर भी राजनैतिक कारणो से खाद्य सकट को बनाए रखा जाता है।

(४) **फसलों की क्षति**—राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध परिषद का अनुमान है कि भारत मे कुल खाद्यान्नों का १५% भाग कीड़े-मकोड़ो, टिड्डियों व चूहों द्वारा खेत में ही खा लिया जाता है। १०% अश गोदामो मे कीडो द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार २५% खाद्यान्न अनावश्यक रूप से बर्बाद हो जाता है। यदि पशु खाद्य, बीज आदि के लिए १२½% अश पृथक कर दिया जाय तो कुल फसल का २/३ से भी कम मानवीय उपभोग हेतु उपलब्ध हो पाता है।[2] दुर्भाग्य से हमारे पौध सरक्षण के कार्यक्रम पूर्णरूपेण सफल नही हो पा रहे है और फलस्वरूप १५०० करोड रुपए की फसल कीडो व चूहो की भेंट चली जाती है।

(५) **खाद्यान्नों की मांग की आय-लोच**—भारत मे खाद्यान्नो की आय-लोच ०.७ से ०.८ अनुमानित की गई है। फलस्वरूप जैसे-जैसे आर्थिक विकास के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय बढी है, खाद्यान्नों की मांग मे भी काफी वृद्धि हुई है। विशेष रूप से गेहूं व चावल जैसे उत्तम अनाजो की मांग मे अपेक्षाकृत वृद्धि अधिक हुई है और इन्हीं का अभाव अधिक अनुभव किया गया है। श्री मदालगी का अनुमान है कि आय मे वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन वृद्धि दर की अपेक्षा गांवो में खाद्यान्नो की मांग की वृद्धि ऊंची रही है। यह वृद्धि १९६०-६१ से औसतन ४% रही है जबकि उत्पादन मे ३.४% प्रति वर्ष की दर से वृद्धि हुई है।[3] शहरो मे इसके विपरीत मांग की आय-लोच कम होने के कारण शहरीकरण के बावजूद खाद्यान्न की मांग का क्रम इतना अधिक नही रहा।

(६) **समस्या से अनभिज्ञता**—एडवर्ड मैसन तथा थियोडोर शुल्जी ने भारत के खाद्य संकट का एक कारण यह भी बताया है कि १९६४-६५ तक भारत की जनता तथा सरकार ने इस समस्या को गम्भीरतापूर्वक लिया ही नही। जिस सरलता से भारत को अमरीका से P.L ४८० का अनाज मिलता रहा है, उसके कारण कभी यहां स्वावलम्बन की ओर अल्पकाल मे ही बढने का प्रयास नही किया गया।

(७) **कृषि मूल्यों की अस्थिरता**—जिन देशो मे खाद्यान्नो का उत्पादन प्रगतिशील दर से बढ रहा हो वहां कृषकों को न्यूनतम मूल्यो की घोषणा द्वारा आश्वस्त किया जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका, इंग्लैंड, कनाडा आदि देशो मे ऐसा किया जाता रहा है। भारत मे न्यूनतम मूल्य राज्य द्वारा अनाज की खरीद हेतु घोषित किए जाते है पर वे इतने पर्याप्त नही होते कि कृषक को, उपज सरकार को बेचने की प्रेरणा प्राप्त हो। साथ ही ये मूल्य कृषक को अधिक उत्पादन करने की प्रेरणा भी नही दे पाते। अन्य शब्दो मे खाद्यान्नो के मूल्य उत्पादन के स्तर को प्रभावित नही कर पाते। उल्टे इस प्रकार के प्रमाण मिल रहे है कि खुले बाजार मे मूल्य बढने पर कृषक कम अनाज बेचने को लाते हैं। डा० सी० एच० हनुमतराव ने ठीक ही कहा है कि भारत मे खाद्यान्नो के मूल्य बढने पर भी उत्पादन-वृद्धि के लिए अनुकूल सुविधाएं उपलब्ध नही हो पारही है—उत्पत्ति के साधनों का अभाव है और उनमे से अनेक की (उर्वरकों व उत्तम बीज) कीमतें

1 See Politics of Food Estimates, Times of India May 4, 1968.
2. See Eastern Economist . Annual Number 1969
3. See R.B.I. Bulletin January, 1967

बहुत ऊँची हैं। फलत खाद्यान्नों का उत्पादन नही बढ पा रहा है। जरूरत इस बात की है कि मूल्य मे वृद्धि के साथ ही उत्पादन की वृद्धि हेतु भी पूरे साधन जुटा दिए जाएँ।[1]

(८) उपभोक्ताओं, उत्पादकों तथा व्यापारियो द्वारा अन्न का सचय—अभाव अभाव को जन्म देता है। अन्य शब्दो मे खाद्य समस्या का मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है। जब अनाज की कमी का अनुभव होता है तो एक ओर उत्पादक एव व्यापारी अधिक लाभ कमाने के लिए अनाज का सचय करने लगते है तो दूसरी ओर उपभोक्ता भविष्य को अधिक सुरक्षित बनाने के लिए अधिक अनाज खरीदने का प्रयास करते है। फलत एक ओर पूर्ति मे कमी होती है और दूसरी ओर माँग मे वृद्धि हो जाती है तथा समस्या की गम्भीरता बढ जाती है। एक छोटा सा उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट कर सकता है। १९५०-५१ व १९६६ ६७ के बीच खाद्यान्न का उत्पादन ४४% बढा जबकि जनसख्या की वृद्धि ३३% रही। १९६७-६८ मे १९६६-६७ की अपेक्षा खाद्यान्न का उत्पादन ३०% अधिक था और जनसख्या अनुमानत २ % बढी। १९६७ ६८ तथा १९६८ ६९ के श्रेष्ठ वर्षो मे भी १९६७ की अपेक्षा खाद्यान्नो के मूल्यो मे नाम मात्र की कमी हुई है।[2] मूल्यो की यह बेलोच प्रवृत्ति इसलिए है कि उत्पादन बढने पर भी उपभोक्ताओं को अधिक मात्रा मे खुले बाजार मे अनाज नही मिल पाता।

सरकार की खाद्य नीति

डा० राजकृष्ण ने अपने पूर्व उद्धृत लेख मे सरकार की खाद्य नीति के चार प्रमुख उद्देश्य बताए है :

(अ) प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धि म निरन्तर वृद्धि (आ) जनता विशेष रूप से निम्न आय वाले वर्ग, को उचित मूल्य पर खाद्यान्न का वितरण (इ) अतिरेक का सामाजीकरण अर्थात् सरकार द्वारा बाजार मे आने वाले खाद्यान्नो की अधिकाधिक खरीद एव बिक्री व्यवस्था, तथा (ई) आत्मनिर्भरता।

हम आगे के पृष्ठो मे यह देखने का यत्न करेंगे कि किस सीमा तक भारत सरकार इन उद्देश्यो की प्राप्ति मे सफल रही है। परन्तु इसके पूर्व हम यह बताना उचित समझते है कि सरकार ने खाद्य सकट के हल हेतु अनेक उपाय समानान्तर रूप मे अपनाए है। प्रथम, खाद्यान्न के अभाव को तुरत दूर करने हेतु आयात द्वारा पूर्ति का बढाया गया है। साथ ही, देश मे उत्पन्न अनाज का सग्रह करके इसे सतुलित रूप से विभिन्न राज्यो मे वितरित करने का प्रयास किया गया है। तीसरे, खाद्यान्नो का उत्पादन तीव्र गति से बढाने हेतु सुविधाएँ उपलब्ध की गई हैं। हम पहले राज्य द्वारा किए गए इन्ही प्रयासो की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

सरकार द्वारा खाद्यान्न का आयात

अध्याय के प्रारम्भ म ही यह बताया जा चुका है कि यदि देश मे खाद्यान्न का उत्पादन माँग की अपेक्षा कम हो तो उसकी पूर्ति आयात के द्वारा की जाती है। स्वतन्त्रता के बाद से ही हमें अनाज का आयात करना पडा। १९४८, १९४९ व १९५० मे भारत को काफी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पडा क्योकि अपेक्षाकृत अधिक उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गए थे। इन तीन वर्षो मे कुल मिलाकर ७३ लाख टन अनाज का आयात किया गया।

पचवर्षीय योजनाओ की अवधि मे भी काफी मात्रा मे खाद्यान्न का आयात करना पडा क्योकि जैसा कि पहले बताया जा चुका है १९५४ तथा १९५६ के अलावा अन्य वर्ष खाद्यान्नो की उपलब्धि की दृष्टि से काफी प्रतिकूल रहे थे। अग्र तालिका बताती है कि १९५१ से १९६८ तक की नियोजित अवधि मे भारत ने कितने खाद्यान्न का आयात किया।[3]

---

1 C H Hanumant Rao Incentive Price for Farm Produce, Economic Times November 14, 1967

2 See Economic Survey 1968 69

3 See (a) Currency & finance Report 1967-68,
(b) Economic Survey 1968-69 and
(c) Bulletin of Food Statistics 1966 1967 and 1968

खाद्यान्न का आयात (मिलियन टन मे)

वर्ष	आयात
१९५१	६·६
१९५२	६·३
१९५३	३·४
१९५४	१·९
१९५५	०·१
१९५६	०·१
१९५७	०·४
१९५८	०·७
१९५९	२·३
१९६०	१·७
१९६१	०·६
१९६२	०·६
१९६३	०·९
१९६४	१·७
१९६५	४·५
१९६६	५·५
१९६७	५·९
१९६८ (अनुमानित)	६·८

अनुमानत उक्त १८ वर्ष की अवधि मे भारत ने लगभग २७०० करोड रुपए के खाद्यान्न विदेशो से प्राप्त किए। केवल १९६७-६८ मे भारत ने ५१८ करोड रुपए के खाद्यान्नो का आयात किया था।

यह उल्लेखनीय है कि १९६८ के अत तक केवल अमरीका से २९६ करोड डालर का गेहूँ (मात्रा ४८ करोड टन) २६·४ करोड डालर की मक्का (मात्रा ५२ लाख टन) तथा २१ करोड डालर का चावल (मात्रा १७·५ लाख टन) प्राप्त करने के समझौते किए गए। इसमे से सितम्बर, १९६८ तक ४५४ करोड टन गेहूँ, ५०५ लाख टन मक्का तथा १७·६ लाख टन चावल भारत पहुँच चुका था।[1] वस्तुत. भारत सरकार की P.L ४८० के अतर्गत खाद्यान्न का आयात अमरीका से करने में सबसे बडा लाभ यह है कि लगभग ८०% राशि अमरीकी सरकार भारत मे ही या तो दूतावास और अन्य सस्थाओं के माध्यम से खर्च कर देती है या आर्थिक विकास हेतु ऋण अथवा अनुदान के रूप मे प्रदान कर देती है।

परन्तु अमरीका पर भारत की खाद्य समस्या के हल हेतु इतनी अधिक निर्भरता आत्मघाती ही सिद्ध हुई है। समय-समय पर अमरीका की सरकार का रुख कठोर हुआ है और खाद्य संकट की गम्भीरता को देखते हुए हमे उसका राजनैतिक दबाव सहन करना पडा है। वस्तुत खाद्यान्न का इतना अधिक आयात करने के लिए हमारे पास पर्याप्त विदेशी विनिमय नही है और इसीलिए हम अमरीका पर आश्रित है जो तुरन्त हमसे भुगतान नही चाहता और पर्याप्त मात्रा में अनाज अनुदान के रूप में दे देता है।

सरकार द्वारा अनाज का संग्रह तथा वितरण ·

राशनिग तथा मूल्य नियंत्रण के माध्यम से द्वितीय महायुद्ध काल से लेकर १९४७ तक अनाज के संतुलित वितरण का प्रयास किया गया। परन्तु इसके बाद काफी समय तक राज्य द्वारा व्यापक स्तर पर खाद्यान्नो के वितरण का कोई प्रयास नही किया गया।

---

1. Fact Sheet No. 19 (U.S. Eco. Assistance to India, June 1951 to January, 1969) pp. 3-4 & 24.

फिर भी विभिन्न राज्यो मे अनियमित रूप से राज्य सरकारो द्वारा अन्न की खरीद तथा वितरण जारी रहा। केन्द्रीय सरकार द्वारा नियमित रूप मे सग्रह १९५७ से प्रारम्भ हुआ है। १९४८-५६ की अवधि मे राज्य सरकारो ने लगभग २३ मिलियन टन खाद्यान्न का सग्रह किया। साथ ही इस अवधि मे केन्द्रीय सरकार ने आयात किए गए स्टाक मे से भी ३४ लाख टन खाद्यान्न राज्यो की जनता हेतु दिया। कुल मिलाकर नौ वर्ष की उक्त अवधि मे ४६ मिलियन टन खाद्यान्न केन्द्र व राज्य सरकारो द्वारा वितरित किया गया।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजनाकाल से खाद्यान्नो का अभाव अधिकाधिक अनुभव किया गया और इसके लिए राज्य सरकारो के साथ-साथ केन्द्रीय सरकार को भी खाद्यान्नों का काफी अधिक सग्रह एवं वितरण करना पडा। द्वितीय तथा तृतीय योजनाओ की अवधि मे राज्य द्वारा (केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो को मिलाकर) खाद्यान्नो का सग्रह तथा वितरण का विवरण निम्न तालिका मे प्रस्तुत है[1]

राज्य द्वारा खाद्यान्नो का सग्रह तथा वितरण

(हजार टन)

वर्ष	प्रारम्भिक स्टॉक	सग्रह	आयात	योग	वितरण	वर्ष के अन्त में स्टॉक
१९५६	९२१	३७	१४४३	२४०१	२०८२	३१९
१९५७	३१९	२९५	३६११	४२२५	३०५०	११७५
१९५८	११७५	५२६	३१८५	४८८६	३९८०	९०६
१९५९	९०६	१८०६	३८५०	६५६२	५१६४	१३९८
१९६०	१३९८	१२७५	५०६५	७७३८	४९३७	२८०१
१९६१	२८०१	५४१	३२७१	६६१३	३९७७	२६३६
१९६२	२६३६	४७९	३५३१	६६४६	४३६५	२२८१
१९६३	२२८१	७५०	४४०६	७४८७	५१७८	२२५९
१९६४	२२५९	१४३०	५९९२	९६८१	८६६५	१०१६
१९६५	१०१६	४०३१	७१११	१२१५८	१००७९	२०७९
१९६६	२०७९	४००९	१०२०५	१६२९३	१४०७७	२२१६

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि १९५६ के बाद प्रगतिशील रूप से खाद्यान्नो के सग्रह एव वितरण मे राज्य का योगदान बढा है। १९६६ मे १४ मिलियन टन खाद्यान्न का वितरण राज्य द्वारा देश के विभिन्न भागो मे किया गया। इसमे से ४० लाख टन देश के विभिन्न भागो मे सग्रहित खाद्यान्न थे।

१९६७ व १९६८ मे क्रमशः १३ मिलियन टन तथा १०.५ मिलियन टन खाद्यान्नो का वितरण जनता मे किया गया। परन्तु राज्य द्वारा खाद्यान्नों की खरीद व वितरण मे निरन्तर घाटा हो रहा है। १९६७-६८ में यह घाटा ९४.७ करोड रुपये का था।[2]

जैसा कि स्पष्ट है, खाद्यान्नो के वितरण हेतु हमे आयात के अतिरिक्त आन्तरिक सग्रह पर भी निर्भर रहना पडता है। सग्रह की नीति को सफल बनाने हेतु सरकार ने निम्न कदम उठाए हैं :

(अ) खाद्य क्षेत्रों का निर्माण—खाद्य क्षेत्र के अन्तर्गत अनेक राज्यो के भौगोलिक क्षेत्र को मिलाकर एक क्षेत्र का निर्माण किया गया है। इस प्रकार के अनेक क्षेत्र गेहूँ व चावल के लिए निर्मित किए गए है। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि एक क्षेत्र मे अतिरेक तथा अभाव दोनो प्रकार के राज्यो को सम्मिलित किया जाता है, तथा अनाज विशेष का आवागमन क्षेत्र के भीतर स्वतन्त्र रूप से किया जा सकता है। राज्य सरकार यदि चाहे तो मोटे अनाजो के आवागमन पर पाबन्दी लगा सकती है परन्तु चावल तथा गेहूँ के सम्बन्ध मे केन्द्रीय खाद्य मन्त्रालय की नीति का ही अनुगमन अनिवार्य है।

1. Raj Krishna op cit. table 10
2. Economic Times, May 17, 1969.

खाद्य क्षेत्रों के निर्माण द्वारा यह आशा व्यक्त की गई थी कि सरकार अतिरेक वाले क्षेत्र मे अनाज का संग्रह सरलतापूर्वक कर सकेगी। अर्थशास्त्रियों, विशेषकर डा० के० एन० राज, खुसरो, राजकृष्ण आदि ने क्षेत्रीय व्यवस्था का विरोध किया है तथापि अतिरेक वाले राज्यों मे जनता को कम कीमत पर खाद्यान्न मिलते रहे इस दृष्टि से राज्य सरकारें खाद्य क्षेत्रों को जारी रखना चाहती है।

(आ) भारतीय खाद्य निगम की स्थापना—भारतीय खाद्य निगम का प्रारम्भ जनवरी, १९६५ से १०० करोड़ रुपये की पूंजी से किया गया। इस निगम की स्थापना का उद्देश्य खाद्यान्नों का संग्रह तथा उसके वितरण की व्यवस्था करना है। प्रो० दांतवाला के कथनानुसार खाद्य निगम सरकार की खाद्यनीति को कार्यान्वित करने वाली राजकीय सस्था है।[1] निगम अतिरेक खाद्यान्न वाले राज्यों मे अनाज की खरीद करता है तथा इसके लिए प्रतिनिधियों की नियुक्ति की जाती है। यही कार्य राज्य खाद्य निगमों का भी है। इस दिशा मे सहकारी विपणन समितियों का सहयोग विशेष रूप से लिया जाता है।

१९६५, १९६६, १९६७ व १९६८ मे खाद्य निगम ने विभिन्न सस्थाओं व प्रतिनिधियों के माध्यम से १४ लाख टन, ४० लाख टन, ४४ ७ लाख टन तथा ६६ लाख टन खाद्यान्न का संग्रह किया।[2]

परन्तु यहाँ यह बता देना उचित होगा कि १९५१; तथा १९५२ मे तो सरकार ने वास्तविक उत्पादन का क्रमश ८% व ७ २% संग्रह किया था पर उसके पश्चात् सरकार द्वारा संग्रहित खाद्यान्नों का अनुपात तेजी से घटता गया। १९६४ मे भी यह अनुपात २% था। परन्तु खाद्य निगम की स्थापना के प्रथम वर्ष मे वास्तविक उत्पादन (कुल उत्पादन का ८७ ५%) का ५ २% संग्रहित किया गया। १९६६, १९६७ व १९६८ मे यह अनुपात क्रमश. ६·४%, ६ ९% तथा ७ ९% रहा।

(इ) खाद्यान्नों के संग्रह-मूल्य (Procurement Prices)—यह ऊपर बताया जा चुका है कि अनाज का संग्रह किसी न किसी रूप मे स्वतंत्रता के बाद से होता रहा है। १९६३ तक इस सम्बन्ध में देश-व्यापी स्तर पर कोई मूल्य नीति नही थी। १९६४ मे कृषि मूल्य आयोग की स्थापना की गई। यह आयोग तभी से रबी तथा खरीफ की फसलो (विशेष रूप से चावल, धान, ज्वार, बाजरा, मक्का, तथा गेहूँ) के संग्रह मूल्य फसल के बाजार मे आने से काफी समय पूर्व ही घोषित कर देता है। वस्तुत कृषि-मूल्य आयोग फसल विशेष के उत्पादन सम्बन्धी अनुमान लेकर न्यूनतम मूल्यों की घोषणा करता है। यदि फसल काफी अच्छी होने की आशा हो तो घोषित मूल्यों मे कमी की जा सकती है अलग-अलग खाद्य क्षेत्रों के लिए संग्रह मूल्य भी अलग-अलग होते हैं। यही नही अनाज की किस्मो के आधार पर भी मूल्यों की घोषणा की जाती है। वस्तुत संग्रह मूल्यों की घोषणा कृषकों के हितों की रक्षार्थ की जाती है एवं इनके माध्यम से उन्हे न्यूनतम प्रतिफल के लिए आश्वस्त कर दिया जाता है।

१९६९-७० की संग्रह नीति—खाद्यान्नो के संग्रह हेतु १९६९-७० मे गेहूँ के संग्रह मूल्य (Procurement prices) १९६८-६९ की भांति ७६ रुपये प्रति क्विंटल रखे गये है जबकि ऊँची क्वालिटी के गेहूँ का संग्रह मूल्य ५ रुपये प्रति क्विटल बढाकर ८१ रुपये कर दिया गया है। ९ मई, १९६९ से गेहूँ का निर्गमन-मूल्य (Issue price) ७८ रुपये कर दिया गया है। उत्तरी गेहूँ क्षेत्र को बड़ा बनाया गया है तथा अब इसमे उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, पजाब, हरियाणा, जम्मू व काश्मीर, चडीगढ, हिमाचल, दिल्ली तथा कलकत्ता शहर को छोड़कर, पश्चिमी बंगाल सम्मिलित है।

---

1 M. L. Dantwala : Problem of Buffer Stock (Review of Agriculture in the Economic & Political Weekly March 29, 1969)

2 Economic Survey 1968-69 (Table 1. 10) ये सब आँकडे कृषि वर्ष (सितम्बर-अगस्त) के है।

सरकार को आशा है कि इन सब उपायो द्वारा खाद्यान्न के संग्रह की नीति को सरलता-पूर्वक कार्यान्वित किया जा सकेगा ।

बफर स्टॉक[1]—सरकार की खाद्य नीति मे बफर स्टॉक का एक विशिष्ट महत्व है । बफर स्टॉक अर्थशास्त्री उस स्टॉक को मानते हैं जो अन्त मौसमी (Inter seasonal) मूल्यों मे उतार-चढाव को रोकने मे प्रयुक्त किया जा सके । उदाहरण के लिए गेहूं का खुले बाजार मे अभाव हो तथा तदनुसार मूल्यो मे वृद्धि की आशका हो तो बफर स्टॉक का उपयोग पूर्ति वढाने मे किया जा सकता है । यदि फसल अच्छी होने पर आवक काफी हो और मूल्यो के गिरने की आशका हो तो बफर स्टॉक को बढाया जा सकता है । इसीलिए इसे सुरक्षित स्टॉक भी कहा जा सकता है ।

कुछ ही समय पूर्व (नवम्बर, १९६८) बगलोर मे हुई अर्थशास्त्रियों की गोष्ठी मे यह बताया गया कि यद्यपि बफर स्टॉक का उद्देश्य मूल्यो मे अनाज विशेष की मांग व पूर्ति के असतुलन से उत्पन्न उतार-चढाव को रोकना है, फिर भी मूल्यों को कम करने मे इसकी व्यावहारिक सफलता कम होती है । सम्भव है मूल्य कम करने के लिए राज्य द्वारा निर्गमित सारा स्टॉक भी सफल न हो ।

भारत के सदर्भ मे बफर स्टाक कितना हो यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता । परन्तु यदि १९४९-५० से १९६४-६५ तक के खाद्यान्नो के उत्पादन के वार्षिक परिवर्तनो (वृद्धि व कमी) को देखा जाय तो ये ४ से ९% तक रहे हैं । अस्तु प्रति व्यक्ति दैनिक आवश्यकता को देखत हुए यदि ४ ३ मिलियन टन खाद्यान्नो का बफर स्टॉक रखा जा सके तो मूल्यो को स्थिर रखने मे काफी सहायता मिल सकती है ।

परन्तु प्रशासनिक और अन्य कारणो से बफर स्टॉक तथा कार्यशील स्टॉक (जिसमे से राज्य सरकारो को खाद्यान्न वितरण हेतु निर्गमित रूप से दिए जाते है) को अलग-अलग रखना सम्भव नही हो पा रहा है । यही कारण है कि प्रारंभिक स्टॉक १९४८ से १९६६ तक (केवल १९६१ को छोडकर) २ मिलियन टन से अधिक नही रहा ।

खाद्य नीति का दीर्घकालीन हल उत्पादन वृद्धि मे निहित है । इस दिशा मे पिछले ४-५ वर्षों से ऊँची उपज वाले बीजो का जिस रूप मे उपयोग बढाए जाने के प्रयास हो रहे हैं वे सराहनीय है । सिचाई, उर्वरकों तथा अन्य उपकरणो तथा पूँजी की उपलब्धि को बढाकर सरकार खाद्यान्नो का उत्पादन बढाने का प्रयास कर रही है ।

चतुर्थ योजना एवं खाद्यान्न का उत्पादन : [2]

१९६८ ६९ मे खाद्यान्नो का अनुमानित उत्पादन ९ ८ करोड टन था जिसे १९७३-७४ तक बढाकर १२ ९ करोड टन करने का लक्ष्य रखा गया है । उत्पादन के इस स्तर को प्राप्त करने के लिए उर्वरको की उपलब्धि को बढाने का प्रयास किया जा रहा है । पौध सरक्षण के कार्यक्रमो को ८ करोड हैक्टर क्षेत्र तक बढा दिया जाएगा । ऊँची उपज वाले बीजो का क्षेत्र २ ४ करोड हैक्टर तक बढाने की आशा है ।

सरकार की खाद्य नीति की समीक्षा[3]

सर्व प्रथम हम यह देखना चाहेंगे कि सरकार की खाद्य नीति किस सीमा तक पूर्व उद्धृत चार उद्देश्यो को पूरा कर सकी है ? सर्व प्रथम हम प्रति व्यक्ति खाद्यान्नो की

1 Based on M L Dantwala's article (Economic & Political Weekly-Review of Agriculture, March 29, 1969)
2 Yojana—April 20, 1969 p 14=
3 (a) Based mainly on the Dr V M Dandekar's lecture delivered at Rural Institute, Udaipur in february, 1968 and
(b) Dr Raj Krishna op cit
(c) K N. Raj article "Food Shortage" Times of India, January 20, 1966
(d) M L Dantwala Food policy--misplaced criticism, Times of India February 10, 1966

उपलब्धि को ले। इस दृष्टि से कुल मिलाकर जो स्थिति रही है वह अधिक निराशाजनक नही है। प्रति व्यक्ति दैनिक (औसत) उपलब्धि १९५०-५१ मे १३ ९ औंस थी जो १९६७-६८ मे बढकर १६·१ औंस हो गई। यहाँ तक कि १९६५-६६ व १९६६-६७ के कष्टप्रद वर्षों में भी प्रति व्यक्ति उपलब्धि १४ २ औंस तथा १३ ९ औंस रही। दूसरी ओर जनसंख्या का भार भी बढा है। अस्तु, प्रति व्यक्ति दैनिक उपलब्धि मे सुधार हुआ है।

परन्तु डा० के० एन० राज ने इस औसत को स्वीकार नही करते हुए भिन्न-भिन्न राज्यों में प्रति व्यक्ति उपलब्धि के आंकडे प्रस्तुत किए। इस विवरण के आधार पर १९६३-६४ मे प्रति व्यक्ति उपलब्धि मे इतनी विषमता थी कि केरल मे औसत १० औंस था जबकि पंजाब में २७औंस व राजस्थान में २२ ७ औंस का औसत था। डा० राज ने तत्कालीन परिस्थितियों मे राष्ट्रीय खाद्य नीति की अनुपस्थिति की कटु आलोचना की। परन्तु उनकी आलोचना को निरर्थक बनाते हुए प्रो० एम० एल० दातवाला ने कहा कि १९६१ के बाद से १९६५ तक भले ही केरल का औसत कम रहा हो, फिर भी विभिन्न राज्यो मे विद्यमान विषमता मे काफी कमी हुई है और लगभग सभी राज्य पर्याप्त उपलब्धि के समीप पहुँचे हैं। केरल मे भी यह उपलब्धि १९६१-६३ (औसत) व १९६५ के बीच ९ २ औंस से बढकर ११ ४ औंस हो गई।

परन्तु डा० राधाकृष्ण ने सही कहा है कि प्रति व्यक्ति उपभोग में स्थिरता का अभाव रहा है। फसल अच्छी होने पर या आयात सरलतापूर्वक होने पर उपलब्धि बढ जाती है और इनमें से एक भी प्रतिकूल होने पर उपलब्धि में कमी हो जाती है।

खाद्य नीति का दूसरा उद्देश्य जनता को विशेष रूप से निर्धन वर्ग को पर्याप्त मात्रा मे उचित मूल्य पर खाद्यान्न उपलब्ध होना चाहिए। इस दृष्टि से भारत सरकार की खाद्य नीति पूर्णतया सफल नही रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि खाद्यान्नो का वितरण निर्धन व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से नही किया गया। उचित मूल्य की दूकानों के माध्यम से खाद्यान्नों के वितरण की बड़े नगरो व (कुछ राज्यो के गांवो मे भी) व्यवस्था की गई है। परन्तु **इस प्रक्रिया में धनी-गरीब सभी को समान स्तर पर रखा गया है और फलस्वरूप राहत के वास्तविक अधिकारियों को कोई लाभ नहीं होता।** १९५१ एव १९५२ मे क्रमश: १५·२% व १३% खाद्यान्न की माँग सरकार द्वारा वितरित खाद्यान्नों से पूरी की गई थी। इसके बाद १९६३ तक यह अनुपात २ ५% से ८% रहा। **१९६५-६६ को फसल काफी खराब होने पर भी १९६६ के वर्ष में कुल जरूरत का केवल १९·२% सरकार द्वारा पूरा किया गया।** उसके अगले दो वर्षों मे यह अनुपात घटकर १२% रह गया। अन्य शब्दो मे सरकार द्वारा वितरित खाद्यान्न देश की अधिकाश जनता को उपलब्ध नही हो पाते और केवल शहरो के लोग ही इस नीति का लाभ उठा पाते है।

खाद्य नीति का तीसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य बिक्री योग्य अतिरेक का सामाजीकरण है। यह सही है कि खाद्य निगम के सतत् प्रयासों के फलस्वरूप काफी मात्रा मे अनाज का संग्रह सरकार द्वारा किया जा रहा है, तथापि सरकार द्वारा संग्रहित अनाज का अनुपात वास्तविक उत्पादन का ८% से अधिक नही रहा। यदि वास्तविक उत्पादन का ५०% भी बिक्रीयोग्य अतिरेक हो तब भी अतिरेक के सामाजीकरण की दिशा मे हम नही बढ सके है।

अंतिम परन्तु सर्वाधिक कसौटी आत्म निर्भरता की है। यहाँ भी हमारी खाद्य नीति सफल नही हो सकी है। हमारी P.L. ४८० पर बढती हुई निर्भरता इस बात को पुष्टि करती है कि **भारत सरकार देश में खाद्यान्नों का पर्याप्त संग्रह करने की अपेक्षा यह प्रयास करती रही है कि अमरीका से हमे अधिकाधिक गेहूँ प्राप्त हो जाए। कई बार यहां तक तर्क दिया जाता है कि अमरीकी किसान भारतीय जनता के लिए अन्न उगाता है।** जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हमें काफी अनाज P. L ४८० के अन्तर्गत सहायता व अनुदान के रूप मे मिलता है और इसीलिए देश में अनाज का उत्पादन बढाने के लिए जिस निष्ठा से प्रयास किए जाने थे उसका अभाव रहा।

इस प्रकार की भारत सरकार की खाद्य नीति अपेक्षित सीमा तक सफल नही हो सकी। यही नही, कृषि मूल्यो मे स्थिरता के अभाव मे न तो उपभोक्ता भविष्य के लिए आश्वस्त हो पाते हैं और न ही कृषकों को उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा मिल पाती है। अतिरेक वाले खाद्य क्षेत्रों में मूल्य काफी गिर जाते हैं जबकि अभाव वाले उपभोक्ताओं को अनाज ऊँची कीमतो पर

मिलता है। सबसे जरूरी एक बात यह भी है कि भारत सरकार ने खाद्य समस्या के गुणात्मक पक्ष को अब तक पूरी तरह उपेक्षा की है।

खाद्य समस्या के हल हेतु विभिन्न समितियों के सुझाव

खाद्य समस्या के समाधान हेतु सर्व प्रथम अशोक मेहता समिति ने १९५७ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। श्री मेहता ने देश में खाद्यान्नों के मूल्यों की विस्तृत समीक्षा करने के बाद बताया कि आर्थिक नियोजन के कारण साख का पर्याप्त विस्तार हुआ है और मौद्रिक आय बढ़ने के कारण अनेक वर्गों की खाद्यान्नों की मांग बढ़ी है। श्री अशोक मेहता ने मूल्यों की वृद्धि हेतु फसल की अनिश्चितता के साथ-साथ व्यापारियों की संग्रह-प्रवृत्ति को दोषी ठहराया।

मेहता समिति ने मूल्यों में स्थिरता रखने के लिए काफी समय तक आयात को जरूरी बताया और सुझाव दिया कि राज्य द्वारा इसका कम मूल्य पर वितरण करने से सामान्य बाजार मूल्यों (खाद्यान्नों के) में भी कमी होगी। परन्तु समिति की राय में न तो निर्बाध रूप से निजी व्यापार की छूट होनी चाहिए और न ही पूरी तरह अनाज के वितरण पर कंट्रोल होना चाहिए।

वस्तुतः भारत सरकार की खाद्य-नीति में इन्हीं सिफारिशों के आधार पर १९५७ से आमूल चूल परिवर्तन किए गए जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके है। लेकिन १९६६ में यह अनुभव किया गया कि खाद्य नीति में फिर आमूल परिवर्तन होने चाहिए। इसीलिए १९६६ में खाद्य नीति समिति की नियुक्ति की गई जिसे वैन्कटापिया कमेटी भी कहा जाता है।

वैन्कटापिया कमेटी ने निम्न सुझावों द्वारा खाद्य नीति को अधिक सफल एवं व्यावहारिक बनाने पर बल दिया[1]

(अ) खाद्य बजट—राष्ट्रीय खाद्य बजट द्वारा सारे देश में उपलब्ध खाद्यान्नों की मात्रा तथा माग की समीक्षा की जाय। खाद्य बजट का उद्देश्य उपलब्ध अनाज का समान वितरण करना हो। साथ ही इसके आधार पर अतिरेक वाले राज्यों को वहां उपलब्ध अतिरेक को संग्रह करने का दायित्व दिया जा सकता है। खाद्य बजट द्वारा देश के विभिन्न भागों में अनाज के मूल्यों के अंतर को भी कम किया जा सकेगा।

(आ) राष्ट्रीय खाद्य परिषद की स्थापना—इस परिषद का मुख्य कार्य राष्ट्रीय खाद्य बजट बनाने के अलावा आवश्यक आंकड़े एकत्रित करना भी हो। परिषद की अध्यक्षता प्रधान-मंत्री करें तथा केन्द्रीय योजना मंत्री खाद्य मंत्री व राज्य के मुख्य मंत्री इसके सदस्य हों।

(इ) खाद्यान्नों का वितरण जरूरतमंद लोगों में किया जाय। शहरों की जनता के अलावा गांवों में भूमिहीन कृषकों का भी उचित मूल्य की दुकानों द्वारा अनाज बेचा जाय।

(ई) वसूली एवं बफर स्टाक—समिति ने खुले बाजार की खरीद के अलावा उत्पादकों—धान, आटा व दाल मिलों से लेवी द्वारा अनाज वसूल किया जाय। लेकिन कुल मिलाकर कम से कम ४० लाख टन खाद्यान्न का बफर स्टॉक राज्य को रखना चाहिए। समिति ने वसूली तथा वितरण की नीति को सफल बनाने के लिए खाद्य क्षेत्र बनाए रखने का सुझाव दिया।

इसके अलावा खाद्य नीति समिति ने खाद्य निगम के प्रादेशिक संगठन तथा वसूली मूल्य एवं न्यूनतम मूल्य के बीच अंतर रखने की जरूरत पर भी बल दिया।

उपरोक्त सिफारिशों पर पूरी तरह अमल नहीं किया जा सका। उत्पादकों चावल तथा दाल मिलों एवं व्यापारियों से स्टॉक का एक अनुपात लेवी के रूप में लेने के लिए मध्य प्रदेश आन्ध्रप्रदेश, पंजाब, राजस्थान और अन्य कुछ राज्यों में राज्य सरकारों ने समय-समय पर आदेश जारी किये हैं। लेकिन राजनैतिक विरोध के कारण लेवी की नीति में न तो समरूपता है और न ही इस नीति को स्थायी रूप देना सम्भव हो सका है।

---

1 See R B I. Bulletin January, 1967 and V M Dandekar
—*Speech at Udaipur*

खाद्य बजट का सुझाव बुरा नही है। लेकिन जैसा कि प्रो० पाडेकर ने कहा है कि विश्वसनीय तथा सभी को स्वीकार्य उत्पादन अनुमानो के बिना बजट का निर्माण व्यर्थ होगा। फिर विभिन्न राज्यो मे आर्थिक स्थिति, एवं आय के वितरण के आधार पर खाद्यान्नो की सही माँग का अनुमान करना भी एक दुष्कर कार्य होगा। यही कारण है कि श्री सी० सुब्रह्मण्यम् के जमाने में (१९६७ के प्रारम्भ तक) केन्द्रीय खाद्य मंत्रालय से बार-बार राष्ट्रीय खाद्य बजट की चर्चा की जाती थी और अब तक खाद्य बजट की प्रारम्भिक रूपरेखा भी सामने नही आ सकी है।[1]

खाद्य समस्या के लिए सुझाव—खाद्य समस्या के इतने अधिक सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं कि प्रशासकगण उनके औचित्य मे ही उलझ कर रह गये है और वास्तविक समस्या अब भी काफी गम्भीर बनी हुई है। प्रो० एम एल दांतवाला ने सही कहा है कि खाद्यान्नों की माँग का अनुमान हमें वास्तविकता के धरातल पर उतर कर करना चाहिए। अर्थशास्त्रियों तथा पौष्टिकता परामर्शदाताओं ने जिस १३·५ औंस के औसत को आधारभूत जरूरत माना है, प्रो० दांतवाला के मत मे निरन्तर अभाव के संदर्भ में इस न्यूनतम स्तर को लेना असंगत है। पौष्टिकता ही नहीं, नैतिक तथा राजनैतिक आधार पर भी न्यूनतम आदर्श लेना और उसके आधार पर खाद्यान्न की माँग का अनुमान करना अर्थशास्त्रियो के लिए उचित नही है।[2] इस आधार पर हम यह सुझाव दे सकते हैं कि खाद्यान्न की जो भी मात्रा हमें सरलतापूर्वक (बिना हमारी सार्वभौमता तथा देश की जनता के मूलभूत अधिकारो का हनन किये मिल जाए) उसी आधार पर हमें उपभोग के स्तर को ढालना होगा। अन्य शब्दो मे खाद्यान्न का और अधिक समान वितरण किया जाना जरूरी है और इसके लिए केन्द्रीय सरकार को कठोर दृष्टिकोण अपनाना ही होगा।

वितरण व्यवस्था को ठीक करने के साथ-साथ हमे निम्न और भी कदम उठाने होंगे

१. **हरी क्रान्ति का विस्तार**—इसी पुस्तक के अगले अध्यायो मे हमने हरी क्रान्ति तथा उसके प्रभावो का विस्तार से विवरण किया है। यहाँ यह बता देना पर्याप्त होगा कि पर्याप्त सिंचाई एवं वर्षा वाले क्षेत्रो मे ऊँची उपज वाले बीजो एव उर्वरको की पूर्ति तुरन्त बढाई जाए ताकि अल्पकाल मे ही अनाज का उत्पादन आवश्यकतानुसार (या इससे भी ज्यादा) बढा लिया जाए।

२. **फसलो की रक्षा**—हम ऊपर यह बता चुके है कि खाद्यान्नो की कुल उपज का २५% कीड़ो द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। यदि पौध सरक्षण कार्यक्रमो को विस्तार से लागू किया जाए तो बिना अधिक यत्न किए हम न केवल अपनी जरूरत के मुताबिक खाद्यान्न प्राप्त कर सकते हैं अपितु अनाज का अतिरिक्त स्टॉक भी रख सकते है।

३. **खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि** हेतु सभी परोक्ष एव प्रत्यक्ष कदम उठाए जाएँ। भूमि सुधारो को कार्यान्वित करके काश्तकारों को अधिक काम करने की प्रेरणा दी जाय और साथ ही भूमि का इष्टतम उपयोग के अवसर उपलब्ध किए जाएँ। प्रत्यक्ष तरीको मे सिंचाई के साधनो का विस्तार, यन्त्रीकरण, खाद व अच्छे बीजों का उपयोग सम्मिलित है।

४ **आर्थिक जोतो की समाप्ति**—कृषि मूल्य किसी सीमा तक उत्पादन को प्रभावित करते है परन्तु काफी सीमा तक उत्पादन का परिवर्तन मूल्यो को प्रभावित भी करता है। उत्पादन कम होने पर मूल्य बढ़ते है, पर यह आवश्यक नही है कि उत्पादन बढने पर मूल्यो मे कमी हो। इसका कारण यह है कि भारत में अधिकाश कृषको के पास अनार्थिक जोत है और उत्पादन वृद्धि के बावजूद इन कृषको से अतिरिक्त उपज सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध होने की आशा निर्मूल ही है। खाद्य समस्या के हल हेतु एक ओर अनार्थिक जोतो को समाप्त किया जाय तो दूसरी ओर यह भी

---

१. श्री दांडेकर ने कहा है कि खाद्य बजट मे अतिरेक वाले राज्य हमेशा उत्पादन-अनुमान को कम करके बतायेंगे और लगभग सभी राज्य माँग को बढाकर प्रस्तुत करेंगे। इस तरह राजनैतिक,कारणों से हमेशा यह बजट घाटे का ही रहने की आशंका है।

2. Dantwala : refer to the article in Times of India op. cit.

जरूरी है कि वृहत स्तरीय पूँजीवादी (यन्त्रीकृत) कृषि को सहकारी क्षेत्र में (और यदि सम्भव हो तो निजी क्षेत्र में) प्रोत्साहन दिया जाय।

५. नैतिक आन्दोलन—समाज सेवी एव अन्य संस्थाओं को खाद्यान्न के दुरुपयोग (प्रीतिभोजों आदि में) को रोकने के लिए नैतिक आन्दोलन करना चाहिए ताकि खाद्यान्न की माँग का अनावश्यक अंश हटाया जा सके। शोधकर्ताओं को इस दिशा में समंक एकत्रित करना चाहिए कि भारत में सामाजिक एव धार्मिक औपचारिकताओं पर कितना खाद्यान्न प्रतिवर्ष प्रयुक्त किया जाता है।

६. उपभोग की आदतों में परिवर्तन—सरकार द्वारा जनता को इस बात की भी प्रेरणा दी जानी चाहिए कि गेहूँ, चावल आदि पर निर्भरता को कम करके शकरकन्दी व आलू का उपभोग बढ़ाए। यह उल्लेखनीय है कि पिछले कुछ वर्षों से इनका उत्पादन काफी बढ़ा है।

७. जनसंख्या पर नियन्त्रण—उपरोक्त सारे उपाय खाद्य समस्या का अल्पकालीन समाधान प्रस्तुत करते हैं। अतः रोग की जड़ (जनसंख्या की तीव्र वृद्धि) को समाप्त किए बिना दीर्घकाल तक भी इस समस्या का कोई हल नहीं खोजा जा सकेगा।

८. राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता—राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन दिया जाय। अतिरेक वाले राज्यों की सरकारें अपने दायित्व को समझें तथा राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु अभावग्रस्त राज्यों के साथ असहयोग न करें।



भारतीय कृषि—एक सामान्य अध्ययन

(Indian Agriculture—A General Review)

प्रारम्भिक :

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व विश्व के लगभग सभी राष्ट्रों मे कृषि तथा हस्तकलाएँ ही जनता की प्रमुख आर्थिक क्रियाएँ थी। यूरोप व एशिया महाद्वीप उस युग मे विश्व मे महत्वपूर्ण अस्तित्व रखते थे और इनमे भी आर्थिक चेतना की दृष्टि से भारत का स्थान अग्रणी था। जब अन्य राष्ट्रों की आदिम एव परम्परागत सस्कृति ने करवट भी नही ली थी, (यूनान व मिस्र को छोडकर) उस समय न केवल सास्कृतिक, साहित्यिक तथा धार्मिक क्षेत्र मे अपितु आर्थिक क्षेत्र मे भी भारत ने नेतृत्व ग्रहण किया हुआ था। यहाँ बनी हुई कलात्मक वस्तुओ की विश्वव्यापी माँग के कारण विदेशी व्यापार की दृष्टि से भारत समृद्ध एव सम्पन्न था, तथा स्वावलम्बी कृषि-व्यवस्था के आधार पर दृढता से प्रगति के पथ पर आरूढ हो रहा था।

लेकिन पश्चिमी यूरोप मे औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ तथा उन्ही दिनो भारत की राजनैतिक स्थिति मे मोड आया। शनैः-शनैः देश परतन्त्रता की बेडियो मे जकड दिया गया और यूरोप की बनी हुई वस्तुओ को हम पर थोपा जाने लगा। फलस्वरूप हस्तकलाओं का पतन हुआ और असहाय शिल्पी गावो मे जाकर बसने लगे। धीरे-धीरे कृषि का महत्व बढ़ता गया और जैसा कि भारत मे स्थित विदेशी सरकार चाहती थी, भारत एक 'प्राथमिक वस्तुओ का उत्पादक देश' बनकर रह गया। आज भारत को अल्पविकसित, तथा कृषि-प्रधान देश कहा जाता है। कृषि जो दो सौ वर्ष पूर्व हस्तकलाओ की पूरक थी, आज देश की अर्थव्यवस्था मे रीढ की हड्डी के रूप मे है और सम्भवत. अगले सौ साल तक भी कृषि का महत्त्व यथावत बना रहेगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्व

(Importance of Agriculture in Indian Economy)

इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि अत्यन्त प्राचीनकाल से कृषि का भारतीय अर्थव्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यद्यपि, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, दो सौ वर्ष तक हस्तकलाओ एव व्यापार की सम्पन्न स्थिति के कारण मात्र कृषि ही जीविका का स्रोत नही थी; दो सौ वर्षों की बदलती हुई राजनैतिक एव आर्थिक परिस्थितियों ने कृषि पर निर्भरता को प्रोत्साहन दिया और फलस्वरूप आज हम कृषि-प्रधान देश के रूप मे है। भारतीय अर्थव्यवस्था मे कृषि का कितना महत्त्व है। यह निम्नलिखित तथ्यो के रूप मे प्रकट किया जा सकता है:

(१) कृषि पर भारतीय जनता की निर्भरता—अठारहवी शताब्दी के पूर्व तक प्राप्त समा-

चारों के अनुसार उस समय अधिकांश गाँव स्वावलम्बी इकाइयों के रूप में विद्यमान थे। देश के विभिन्न भागों में सब कुल मिलाकर अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक भी आधे से अधिक प्रत्यक्षतः कृषि पर निर्भर थे। वैकल्पिक व्यवसायों का ह्रास होने के कारण धीरे-धीरे कृषि पर निर्भरता बढ़ने लगी। १८९१ में दो-तिहाई के लगभग व्यक्ति कृषि पर निर्भर थे। मोटेगू चेल्म्सफोर्ड (१९१८) के अनुसार प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक २० करोड़ ८० लाख व्यक्ति कृषि पर पूर्णतः निर्भर थे तथा इनके अतिरिक्त परोक्ष रूप से निर्भर व्यक्तियों की संख्या २ करोड़ से कुछ कम थी। १९२१ में लगभग तीन चौथाई व्यक्ति कृषि से जीविका प्राप्त करते थे। यद्यपि इसके बाद यह अनुपात कम हुआ है। पर आज भी लगभग ६५% व्यक्ति प्रत्यक्षतः कृषि पर निर्भर हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कृषि के साथ भारतीय जनता का भाग्य जुड़ा हुआ है।

(२) **राष्ट्रीय आय में महत्वपूर्ण योगदान**—राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में दादाभाई नौरोजी, डिग्बाई व अनेक अन्य लेखकों ने राष्ट्रीय आय में कृषि से प्राप्त अंश को लगभग ५५%-६५% माना था। १९४९ व १९५१ के बीच राष्ट्रीय आय समिति के अनुमान के अनुसार कृषि, पशु-पालन एवं सम्बन्धित कार्यों से प्राप्त आय का अनुपात ४८% था। हाल ही के एक अनुमान के अनुसार १९६७-६८ में कृषि व सम्बन्धित व्यवसाओं से प्राप्त आय लगभग १३००० करोड़ रुपये थी। यह कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ५१% भाग था। मानसून असफल रहने तथा फसल खराब हो जाने पर भी कृषि से प्राप्त राष्ट्रीय आय का अनुपात ४५% से ५०% रहा है। ये आँकड़े कृषि-व्यवसायों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं और सिद्ध करते हैं कि राष्ट्रीय आय के सृजन में कृषि का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

(३) **औद्योगिक विकास में योगदान**—प्राचीन समय में भी गाँवों में स्थित कुटीर उद्योगों जैसे चर्म उद्योग, लौह उद्योग, लकड़ी का काम अथवा मिट्टी के बर्तन बनाने का काम व अन्य कार्य मुख्यतः कृषि की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इसके अतिरिक्त कृषक स्वयं अवकाश के समय रस्सी बटने, चटाई बुनने या इस प्रकार के कार्य करते थे। सूत बनाने या कपड़ा बनाने का कार्य भी कपास की उपलब्धि से सम्बन्धित था। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योग मुख्यतः कृषि पर ही निर्भर थे तथा आज भी ये परम्पराएँ विद्यमान हैं।

वृहत् स्तरीय उद्योगों के इस युग में भी कृषि का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारत में लौह-इस्पात, सीमेंट व कागज आदि उद्योगों को छोड़कर शेष सारे बड़े उद्योग कच्चे माल की उपलब्धि के लिए कृषि पर निर्भर हैं। भारत का सबसे बड़ा उद्योग सूती वस्त्र उद्योग है, जो कृषि पर अवलम्बित है। इसके अतिरिक्त जूट उद्योग, शक्कर उद्योग ऊनी वस्त्र उद्योग, चाय, वनस्पति घी, चर्म-उद्योग कृषि पर ही कच्चे माल की पूर्ति हेतु निर्भर हैं। लघु उद्योगों में भी चावल, दाल, तेल व आटा आदि की मिलों के लिए कच्चा माल कृषि से ही प्राप्त होता है। वास्तव में यह कहना अनुचित न होगा कि भारतीय उद्योगों का विकास प्रधानतः कृषि की स्थिति पर ही निर्भर करता है। द्वितीय योजना के प्रारम्भ में ही यद्यपि उन उद्योगों के विकास का प्रयास किया जा रहा है, जो कृषि पर निर्भर नहीं है, फिर भी देश के सर्वांगीण विकास को दृष्टिगत रखते हुए उपरोक्त उद्योगों का महत्त्व काफी समय तक यथावत रहेगा।

(४) **विदेशी व्यापार**—भारत के विदेशी व्यापार में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही कृषि पदार्थों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। १९०१ में निर्यात की गई वस्तुओं में लगभग ७५% कृषि से प्राप्त वस्तुएँ थीं। यद्यपि इन वस्तुओं में अधिकांशतः चाय, कपास, जूट, चमड़ा, तिलहन, वनस्पति घी, तम्बाकू अफीम तिलहन और खाद्यान्न थे, तथापि इनसे भारत को पर्याप्त विदेशी विनिमय प्राप्त होता था। १९६७-६८ में कृषि-पदार्थों का मूल्य कुल निर्यात का लगभग ५७% था, चाय, तम्बाकू, कपास, जूट चमड़ा, तिलहन, कपड़ा, मेवों व मसालों का आज भी निर्यात तथा विदेशी विनिमय प्राप्ति की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

(५) **खाद्यान्न की पूर्ति**—एक अल्पविकसित देश की अकिंचन जनता अधिकांश आय का उपयोग अनिवार्यताओं, विशेषरूप से खाद्यान्नों पर करती है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ खाद्यान्न की माँग भी बढ़ती है और इसीलिए खाद्यान्न की दृष्टि से देश स्वावलम्बी हो यह जरूरी

है। इंग्लैंड मे औद्योगिक क्रान्ति हुई, बड़े उद्योगो का विकास हुआ। पर खाद्यान्न की पूर्ति हेतु वह देश उपनिवेशो पर निर्भर होता चला गया। भारत उस स्थिति मे नही है। हम यदि बढती हुई जनसंख्या के लिए खाद्यान्न का उत्पादन पर्याप्त रूप से नही बढा सके तो सम्भव है हमारी सारी योजनाएँ असफल हो जाएँ। श्री पी० टी० बॉर का यह कथन सही प्रतीत होता है कि कृषि का विकास एव विशेषकर खाद्यान्न की दृष्टि मे आत्म-निर्भरता प्रगतिशील भारत की सबसे आधारभूत आवश्यकता है और इसके अभाव मे विदेशी आयात के कारण पर्याप्त धन बाहर भेजना होगा, जिससे अन्य क्षेत्रो का विकास अवरुद्ध हो जाएगा।[1]

(६) **कृषि भारतीय जन-जीवन का प्राण है**—श्री बंकिमचन्द्र द्वारा रचित राष्ट्रगान वन्दे मातरम् मे भारत माता के शस्य श्यामल-रूप की कल्पना की गई है, जिसके अनुसार इस धरती पर लहलहाते हरे-भरे खेतो को देखने की कामना व्यक्त की गई प्रतीत होती है। रवीन्द्र व अनेक अन्य महान् कवियो, महात्मा गाधी जैसे देशभक्तो व अन्य लेखको ने भी कृषि की सम्पन्न स्थिति का स्वप्न संजोया है। यह कहना अनुचित न होगा कि कृषि भारतीय जन-जीवन की आत्मा है तथा यहाँ की सस्कृति का एक आवश्यक अंग है। कनाडा, डेनमार्क, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, रूस व अमरीका आदि देशो मे भी कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु भारत मे कृषि का महत्त्व आर्थिक दृष्टि की अपेक्षा इसलिए अधिक है कि यहाँ के लोगो के जीवन का एक क्रम है न कि व्यवसाय।

(७) **अन्य तथ्य**—कृषि राज्यो की आय मे भूराजस्व के रूप मे महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। प्रान्तीय बजटो में करो से प्राप्त आय का ३०-३५% अश तथा कुल आय मे लगभग आठवाँ भाग भू-राजस्व या मालगुजारी मे प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त रेलो, मोटरो व परिवहन के अन्य साधनो को प्राप्त होने वाली आय मे कृषि-पदार्थो के स्थानान्तरण से प्राप्त आय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कुल सम्पत्ति मे कृषि मे प्रयुक्त उपकरणो, पशु सम्पत्ति, सिंचाई के साधनो, वनो व चाय के अतिरिक्त बागानो का कुल मूल्य १९६०-६१ में, ८,७८३ करोड रु० था। भूमि का मूल्य २०,२४१ करोड रुपये माना गया था। इसके विपरीत कुल सम्पत्ति का मूल्य ५२४०५ करोड रु० था, जिसमे यातायात के साधनो, उद्योगो, खनिज सम्पत्ति (दृश्य) का मूल्य व व्यापार तथा बैंको आदि का मूल्य १९,००० करोड रुपये से अधिक नही था।[2]

१९६०-६१ मे ८,७०० करोड रुपये से अधिक के कृषि-पदार्थो मे से ५'६११ करोड रुपये के कृषि-पदार्थों का व्यक्तिगत उपभोग मे उपयोग किया गया। इस वर्ष ३०८ करोड रुपये के मूल्य के कृषि-पदार्थो का आयात व १०६ करोड रुपये के कृषि-पदार्थो का निर्यात किया गया। कुल उत्पादन मे से ३,१६८ करोड रुपये के कुल उपकरणो (भूमि यन्त्र, खाद, पशु व पूंजी आदि) को उत्पादन मे प्रयुक्त किया गया।[3]

इस प्रकार देश की सम्पत्ति मे कृषि-सम्पत्ति का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय कृषि की मुख्य विशेषताएँ

(१) **कृषि भारतीय जनता की जीविका का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है**—कार्यशील जनसंख्या का अधिकाश भाग कृषि पर ही जीविका हेतु निर्भर है। १८८१ मे केवल ६१% व्यक्ति कृषि मे संलग्न थे, पर १९५१ मे यह अनुपात लगभग ७०% था। इसके विपरीत जहाँ अमरीका मे १८५० मे लगभग ६४% कार्यशील व्यक्ति सलग्न थे, १९५० तक इसका अनुपात घट कर १०% रह गया।[4] किंडलबर्जर ने अमरीका के ही विषय मे कृषि मे रत कार्यशील व्यक्तियो का अनुपात अग्रलिखित प्रकार बताया है[5]

---

1. P. T. Bauer . Article in Capital Annual Number 1960.
2. Reserve Bank of India Bulletin, January, 1963 (Tangible Wealth in India)
3. W. B Reddaway : The Development of Indian Economy, p. 176.
4. W. Malenbaum : Prospects for Indian Development p. 128
5. Kindelberger : Economic Development, Chapter 7

१८२०	७२%
१८८०	५०%
१९४०	१९%

पिछले सौ वर्षों में जहाँ विश्व के महत्वपूर्ण देशों में कृषि में सलग्न व्यक्तियों का अनुपात घटा है, भारत में १९३१ तक यह ७०% के लगभग रहा है। इस तथ्य की पुष्टि निम्न तालिका से होती है

कृषि में सलग्न व्यक्तियो का अनुपात
(प्रतिशत में)

	१८७१	१९६१
भारत	६०% (अनुमानित)	६५
फ्रास	४२	२२
जापान	८०	३८
जर्मनी	३९ (१८८०)	१९
इ गलैंड	२५ (१८८०)	६

यद्यपि पचवर्षीय योजनाओ के अन्तगत औद्योगीकरण की जो लहर चल रही है उसके कारण आज कृषि में सलग्न व्यक्तियो का अनुपात ६५% से भी कम रह गया है तथापि विश्व के अन्य देशो की तुलना में यह बहुत ही अधिक है।

(२) भारतीय कृषि की प्रकृति पर निभरता—शाही कृषि आयोग ने सच ही कहा था कि भारतीय कृषि मानसून का जुआ है। कुल कृषि-योग्य भूमि में २२% की कृत्रिम साधनो से सिचाई की जाती है तथा ७८% भूमि को प्रकृति पर छोड दिया जाता है। प्रकृति प्रतिकूल होगी अथवा अनुकूल, यह कहा नही जा सकता। साधारणतया अतिवृष्टि या अनावृष्टि के कारण अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है एव अपवादस्वरूप ही मानसून उपयुक्त समय पर तथा उपयुक्त मात्रा में उपलब्ध होती है। यद्यपि गत १८ वर्षो मे राज्य के प्रयासो के फलस्वरूप सिंचाई-क्षेत्र का विस्तार हुआ है तथापि प्रकृति पर हमारी निभरता अब भी आश्चयजनक है और अनेक बार सूखा अथवा अतिवृष्टि के कारण बहुत क्षति होती है। सतह पर उपलब्ध जल सम्पदा का ४०% से भी कम सिंचाई हेतु प्रयुक्त किया जाता है।[1]

(३) भारतीय कृषि साधारणतया उपभोग के निमित्त होती है न कि विनिमय के निमित्त। अधिकाश भारतीय कृषक कृषि-व्यवसाय में उपभोग की आवश्यकताओ को प्राथमिकता देने की दृष्टि मे प्रविष्ट होते हैं। सदियो से कृषि स्वावलम्बी गांवो का आधारभूत व्यवसाय रहा है तथा उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से कपास जूट, तिलहन व तम्बाकू आदि कृषि पदार्थों का व्यापारीकरण प्रारम्भ हुआ। फिर भी औसत कृषक के दृष्टिकोण मे कोई परिवतन नही हो सका। केवल बडे किसान विनिमय के लिए खेती करने लगे और छोटे छोटे कृषक उपज को उपभोग के लिए रखकर शेष को गाव के बनिये को बेचने लगे। इसके तीन कारण रहे है—प्रथम जोत बहुत छोटी होने के कारण उपज का कम होना। द्वितीय कृषक की गरीबी जिसके कारण वह अनिवायता यानी खाद्य की आवश्यकता को पहले पूरा करता है तथा बचत नही कर पाता एव अन्तिम, बाजार की परिस्थितियो के प्रति कृषक को अज्ञानता। वस्तुत कृषि भारतीय जनता के लिए जीवन का एक ढग है न कि आर्थिक ढाचे का एक अग।

मेलनबाम के मतानुसार गावो में पैदा होने वाले पदार्थों में से ५० ६०% का वहीं उपभोग कर लिया जाता है।[2]

(४) खाद्यान्नों की अतुलनीय लोकप्रियता—यद्यपि अखाद्य पदार्थों जैसे कपास तम्बाकू

---

1 Dr K William Kapp Hindu culture Eco Development & Planning in India (1963) p 131

2 See Malenbaum op cit p 123

व तिलहन आदि की खेती भारत मे सदियो से होती रही है, फिर भी १६वी शताब्दी के मध्य तक इनका महत्त्व गौण था और अँग्रेज, जो ब्रिटेन की मिलो के लिए कच्चा माल चाहते थे, कुछ सीमा तक अखाद्य पदार्थो के उत्पादन को बढ़ाने मे सफल हो सके। जनसंख्या की वृद्धि, निर्धनता तथा औद्योगिक विकास की मन्द गति के कारण खाद्यान्नों की माँग मे पर्याप्त वृद्धि हुई। ब्रिटिश सरकार भी अनाज का निर्यात करके इंग्लैंड के श्रमिकों की आवश्यकताओ की पूर्ति करना चाहती थी। फलस्वरूप खाद्यान्नो का क्षेत्रफल बढता गया। १९६७-६८ मे कुल जोती गई भूमि का ८१% खाद्यान्नो के लिए प्रयुक्त किया गया था।

(५) **कृषि जोतों का अत्यन्त छोटा होना**—हमारे देश मे प्रति व्यक्ति औसत जोत १·५ एकड से भी कम है तथा प्रति परिवार जोत का अनुमान लगभग ■ ७ एकड़ लगाया गया है। कृषि जोतें न केवल छोटी है, अपितु अत्यन्त छोटे-छोटे खेतो के रूप मे दूर-दूर भी बिखरी हुई है। (विस्तृत विवरण के लिए 'भूमि के उपविभाजन एवं अपखण्डन की समस्या' का अध्याय देखिए) अन्य देशो की तुलना में हमारे देश मे कृषि की जोतें बहुत छोटी है और फलस्वरूप आधुनिक यन्त्रो, नवीन उपकरणो तथा प्राविधियो के प्रयोग की सम्भावनाएँ बहुत कम रह जाती है। २०% कृषक परिवारों के पास भूमि नही है, जबकि २२% परिवारो के पास एक एकड से भी कम भूमि नही है। कुल मिलाकर आधे से कुछ कम परिवारों के पास २.५ एकड से कम भूमि है।

(६) भारतीय कृषि के सुधारो का लाभ कृषकों को पूर्णतया नही मिल पाता है। मध्यस्थो के आधिक्य तथा कृषको की अज्ञानता के कारण कृषि-प्रणाली में किये गये सुधारो तथा बढते हुए मूल्यो का लाभ कृषको को नही मिल पाता। आज भी लगभग ६०% कृषक परिवार समुचित रूप से अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने मे असमर्थ हैं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, बढ़े हुए मूल्यों का लाभ भी अधिकाशत मध्यस्थ हड़प लेते है।

(७) **मुद्रा का सीमित उपयोग**—भारतीय कृषक उत्पादन एवं उपयोग मे मुद्रा का उपयोग अपवादस्वरूप ही करते है। हमारी कृषि मे मुद्रा का उपयोग गत शताब्दी से प्रारम्भ हुआ, जबकि व्यापारिक क्रान्ति के अन्तर्गत यातायात के साधनो का विकास हुआ तथा कृषि पदार्थो का पर्याप्त मात्रा मे यूरोपीय देशो को निर्यात प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रीय सैंपल सर्वे के अनुसार अब भी ६०% खाद्यान्न तथा ५५% दालो का विनिमय मौद्रिक रूप मे नही होता।

मेलनबाम ने भी कृषि-क्षेत्रों मे विद्यमान वस्तु-विनिमय की परम्परा पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उनके कथनानुसार गांवो में १५% परिवार ही समस्त महत्त्वपूर्ण कार्यों मे मुद्रा का उपयोग कर पाते हैं तथा कृषको में तो मुद्रा का उपयोग गौण है,[1] क्योंकि **श्रमिकों व अन्य व्यक्तियों को जो कृषि कार्यों में मदद देते हैं, अनाज या कृषि-पदार्थ ही पुरस्कार के रूप में प्रदान किये जाते हैं।** वस्तु-विनिमय, इस प्रकार, भारतीय कृषि की अलौकिक विशेषता है।

(८) **भारतीय कृषकों में भूमिहीन कृषकों का बाहुल्य है**—विश्व के अन्य कृषि प्रधान देशों मे खेतिहर मजदूर साधारणतया नहीं मिलते, क्योंकि वहाँ भूमि पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। भारत इसके विपरीत कृषक जनता मे से लगभग १८-२०% के पास भूमि नही है। इसके विपरीत करोड़ो एकड यहाँ भूमि कृषि-योग्य है, लेकिन पूँजी के अभाव मे उसका उपयोग नही हो पाता। यह विडम्बना की स्थिति भारत जैसे देशो मे ही पाई जाती है तथा जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ खेतिहर मजदूरों की सख्या बढती जाती है पर नई भूमि का उपयोग नही किया जाता। यदि पूँजी की सुलभ प्राप्ति सम्भव हो जाय तो भूमि-हीन कृषकों के लिए नई भूमि को उपयुक्त बनाया जा सकता है।

(९) भारतीय कृषि मे श्रमिको की उत्पादकता विश्व मे सबसे कम है। डा० बलजीतसिंह ने भारतीय कृषि-श्रमिक की उत्पादकता (वार्षिक) लगभग १०५ डालर मानी थी, जबकि अन्य देशो मे यह इस प्रकार मानी गयी थी : पश्चिमी जर्मनी ३४९५ डालर, न्यूजीलैंड ३४८१ डालर, आस्ट्रे-लिया २४४२ डालर, अमेरिका २४०८ डालर, जापान २२६५ डालर, कनाडा २१२६ डालर, इंगलैंड

1. Malenbaum : op cit. pp. 139-40

२०५७ डालर तथा नाव ९७३ डालर।[1] केवल कृषि मे १९६६ ६७ मे १५ ६ करोड व्यक्ति सम्लन थे तथा प्रति व्यक्ति उत्पादन का मूल्य ७४४ रुपए था।[2]

(१०) कृषि क्षेत्रों में विविधता—भारतीय कृषि की यह भी एक विशेषता है कि यहाँ भूमि व्यवस्था कृषि प्रणालियो एव फसलो मे अत्यधिक विविधता पायी जाती है। भू स्वामियो एव काश्तकारो के सम्बन्धो मे भी विभिन्न प्रदेशो में बहुत अन्तर रहा है। यद्यपि स्वतन्त्रता के पश्चात् भूमि व्यवस्था को समस्त देश मे एक ही स्वरूप देने के प्रयास किये गये हैं लेकिन फिर भी यह अन्तर पूर्णतया समाप्त नही हो सका है। बहुत बडा देश होने के कारण यहा जलवायु मे भी विविधता है और इसीलिए अनेक प्रकार के कृषि पदार्थ यहा उत्पन्न होते हैं। एक ही वस्तु की अनेक किस्मे मिट्टी व जलवायु की विभिन्नता के कारण उपलब्ध होती है।

(११) कृषि म व्याप्त अधबेकारी—सयुक्तराष्ट्र सघ के एक विशेष दल द्वारा यह बताया गया है कि भारत जसे अल्पविकसित देशो म अर्धबेकारी की समस्या एक मुख्य समस्या है। कृषि मे विशेष रूप मे यह समस्या इसलिए उत्पन्न हो जाती है कि भूमि की तुलना मे जनसख्या बहुत अधिक है तथा छोटे छोटे खतो मे बहुत से व्यक्ति काम करते हैं। न केवल भूमि पर जनसख्या का भार होने से ही अर्धबेकारी की समस्या उत्पन्न होती है बल्कि भारतीय कृषि की विशेष परम्पराओं के कारण यहा देश के विभिन्न भागो में कृषक १५० दिन से लेकर २७० दिन तक बेकार रहते हैं।

अनुमानत कृषि म अधबेकारो की सख्या इस प्रकार है

प्रतिदिन एक घटा बेकार व्यक्ति	१ ९ करोड
दो घण्टा बेकार व्यक्ति	२ ४ करोड
चार घण्टा वेकार व्यक्ति	४ ० करोड

इस प्रकार न केवल कृषि म आवश्यकता से अधिक व्यक्ति सम्लन हैं अपितु कृषकों को आवश्यकता से बहुत कम काम मिल पाता है। भारतीय कृषकों की दरिद्रता का यह भी एक रहस्य हो सकता है।

(१२) भारत में प्रति हेक्टर उत्पादन बहुत कम है—भारतीय कृषि की सबसे बडी विशेषता यह बताई जाती है कि यहा प्रति हेक्टर उत्पादन अन्य देशो से यहाँ तक कि अनेक अल्प विकसित देशो से भी कम है। १९६७ ६८ मे फसल बहुत अच्छी हुई थी उसके बावजूद भारत मे प्रति हैक्टर धान का उत्पादन १०३१ किलोग्राम हुआ जबकि जापान मे यह औसत ४५०० किलो ग्राम चीन मे २५०० किलोग्राम तथा आस्ट्रेलिया म ६१४० किलोग्राम था। ऊँची उपज वाले बीजो का उपयोग करने पर भी गेहू क उत्पादकता (प्रति हैक्टर उपज) स० राज्य अमरीका पाकिस्तान मक्सिको तथा फ्रास से भारत मे कम है। कपास की प्रति हैक्टर उपज ग्वाटेमाला स० अरब गणराज्य व अमरीका मे भारत की अपेक्षा ५ से ७ गुनी है। फिर ये औसत भी देश के सभी राज्यो मे एक से नही हैं।

(१३) भारतीय कृषि यन्त्रीकृत न होकर श्रम प्रधान है—भारत मे तीन चौथाई से अधिक जोतो का आकार ५ एकड से भी कम (लगभग २ हैक्टर) है। फलस्वरूप यहा के खेतो मे आधुनिक श्रम की बचत करने वाले यन्त्रो का उपयोग करना सम्भव नही है। जापान मे भी अधिकाश खेत छोटे हैं फिर भी यहा उनके आकार के अनुरूप यन्त्रो का अविष्कार कर लिया गया है। कुल मिला कर भारत मे १२ ५०० एकड पर एक ट्रैक्टर है जबकि अन्य देशो मे प्रति ट्रैक्टर औसत कृषि क्षेत्र इस प्रकार है जापान ९ पश्चिमी जर्मनी ३३ ३ ब्रिटेन १०६ डेनमार्क ५७।[4]

---

1 Wad a & Merchant Our Eco Problems p 619

2 Economic Times February 17 1969 article by J C Verma

3 Measures for the Eco Development of under developed Countries United Nations Publication (May 1951) pp 7 8

4 Role of Agricultural Machinery Article by P Ray Economic Times March 10 1969

विभिन्न राज्यो मे भी ट्रेक्टर के उपयोग की विषमता भारत मे बहुत अधिक पाई जाती है। क्षेत्रफल की दृष्टि से उडीसा, राजस्थान, मध्यप्रदेश तथा जम्मू व कश्मीर मे ट्रेक्टर बहुत कम हैं। १९६५-६६ तक पंजाब, उत्तर-प्रदेश व गुजरात इस दृष्टि से काफी आगे थे। इस वर्ष भारत में कुल मिलाकर ५० हजार ट्रेक्टर, १२०० पॉवर टिलर, ४००० पावर स्प्रेयर-कम-डस्टर, १० २५ लाख पम्पसैट (जिसमें ५ लाख विद्युत् चालित थे) तथा २,००० पॉवर थ्रेशर थे। इनकी मांग १९७०-७१ तक इस प्रकार होने की सम्भावना है ट्रेक्टर ३४,०००, पॉवर टिलर २०,००० पॉवर स्प्रेयर ३० ०००, पम्पसैट २ ८० लाख तथा पॉवर थ्रेशर २५,०००।

इनके लिए ५०० करोड रुपए की जरूरत होगी। यदि इतनी धनराशि का प्रबन्ध नही हो सका तो हम १९७०-७१ तक यन्त्रो की बढी हुई माग को पूरा करने मे असमर्थ रहेंगे।

इस प्रकार अन्य देशो की कृषि-व्यवस्था की तुलना मे भारतीय कृषि विलक्षण प्रतीत होती है। इनमे सबसे अधिक विचारणीय जो बात है वह प्रति हैक्टर उत्पादन का कम होना है। हम अब उन कारणों का विश्लेपण करेंगे जो इसके लिए उत्तरदायी रहे है।

प्रति हैक्टर पैदावार कम होने के कारण

(१) **प्राकृतिक प्रकोप**—ऊपर यह बताया जा चुका है कि भारतीय कृषको के प्रति प्रकृति सामान्यतया अनुदार रहती है। यह एक आश्चर्य की बात है कि जहाँ एक ओर मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त करता हुआ अतरिक्ष मे विश्रान्ति-गृह बनाने की कल्पना कर रहा है, भारतीय कृषक अंधविश्वास के आवरण में लिपटा रहना ही उचित समझता है। बाढ व अतिवृष्टि मे आज भी करोडो रुपयो की कृषि उपज एवं पशु संपत्ति नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त आज भी खेतो की सिंचाई के लिए इंद्रदेवता की कृपा से भारतीय कृषक निर्भर रहते हैं। फलस्वरूप अनावृष्टि या सूखे के दुष्परिणामो से वे स्वयं की रक्षा करने मे असमर्थ रहते है। **सिंचाई के साधनों का अभाव कृषि उपज के कम होने का सबसे बडा कारण है।**

(२) **दोषयुक्त प्रारम्भिक तैयारियाँ**—साधारणतया भारतीय किसान जुलाई के पूर्व खेत की समुचित रूप से सफाई नही करते और फलस्वरूप घास व गहरी जडो वाले पौधे खेतों मे यथावत् रहते हैं। यहाँ तक कि अनुभवी किसान भी इस ओर से उदासीन है तथा जुलाई के पूर्व की तैयारियों मे कम-से-कम मेहनत करते हैं। यही कारण है कि जिससे खेतो की जुताई ठीक ढंग से नही हो पाती और उपज कम होती है।

(३) **पुरातन जुताई**—शाही कृषि आयोग ने भारतीय कृषको द्वारा प्रयुक्त परम्परागत जुताई के तरीकों पर भी चिन्ता व्यक्त की थी। वास्तव मे जुताई ठीक ढग से नही होने के दो कारण हैं प्रथम, अनुपयुक्त हल तथा द्वितीय, दुर्बल पशु। भारतीय खेतो की जुताई मे प्रयुक्त लकडी के हल गहरी जुताई नही कर पाते और न ही भूमि मे स्थित काटो या प्राकृतिक जडो को समूल नष्ट ही कर पाते है। जहाँ तक पशुओ का प्रश्न है, चारे व पौष्टिक खाद के अभाव मे भारतीय पशु अत्यन्त दुर्बल रहते हैं तथा गहरी जुताई मे असमर्थ रहते हैं। भारतीय पशु कद मे छोटे, दुर्बल एवं अदक्ष हैं तथा भारी हलो को खीचने मे असमर्थ हैं। उनके मत मे पशुओ की उत्पादकता बहुत कम है तथा इसके श्रम से राष्ट्र की सम्पत्ति मे कोई विशेष वृद्धि नही हो पाती।

(४) **अच्छे बीजों का अभाव**—भारतीय कृपक अधिकाशतः जिन बीजो का उपयोग करते हैं वे इंडिका श्रेणी से सम्बद्ध हैं। चावल की अधिकाश जातियाँ ओरिजा "सेतिका" कुल की हैं। इसी प्रकार गेहूं, ज्वार तथा बाजरा की परम्परागत श्रेणियाँ यहाँ अधिकाशत प्रयुक्त की जाती हैं। इन्डिका श्रेणी के पौधे काफी लम्बे होते हैं जिसके कारण खाद तथा पानी की खुराक पौधे की सारी शाखाओ को नही मिल पाती। पौधो की लम्बाई अधिक होने के कारण सूर्य की रोशनी जडो तक नही पहुँच पाती।

यद्यपि पंचवर्षीय योजनाओ के अंतर्गत उत्तम बीजो की उपलब्धि बढाई जा रही है, तथापि कुल कृषि क्षेत्र के २५% भाग पर ही उत्तम बीजो का उपयोग किया जा सका है। ऊँची उपज वाले खाद्यान्नो का क्षेत्र १९६९-६८ मे ८५ लाख हैक्टर था। इस प्रकार ७५% भूमि पर आज भी परम्परागत बीजो का उपयोग होता है जिनसे उपज कम प्राप्त होना स्वाभाविक है। कपास,

मूंगफली तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यापारी फसलों में भी अच्छे बीजों का प्रयोग ५० से ६०% क्षेत्र में ही हो पाता है ।

(५) भूमि की उवरा शक्ति का ह्रास— अध्याय ४ में हम बता चुके है कि सदियों के निरंतर उपयोग के फलस्वरूप भारतीय मिट्टियों की उवराशक्ति काफी घट चुकी है । ऊँची उपज वाले बीजों के क्षेत्र ५८ लाख हेक्टर (१९६८ ६९) के अतिरिक्त लगभग इतना ही क्षेत्र रासायनिक खाद के अंतर्गत था । वस्तुत रासायनिक खाद का उपयोग तीन कारणों से नहीं बढ पा रहा है । प्रथम तो यह कि इसके लिए पर्याप्त सिंचाई होनी चाहिए जो हमारे देश के कुल कृषि क्षेत्र के पांचवें भाग पर ही उपलब्ध है । दूसरे रासायनिक खाद महँगी है और तीसरे इसके उपयोग का सही समय मात्रा एवं विभिन्न उवरकों के मिश्रण के समुचित अनुपात आदि के सम्बन्ध में भारत के अधिकांश कृषक अनभिज्ञ हैं ।

रासायनिक खाद के बाद दूसरा जो पौष्टिक तत्व कृषक को भारत में उपलब्ध हो सकता है वह गोबर है । भारत में ~४ करोड मवेशियों से निस्सन्देह हमें इतना नाइट्रोजन मिल सकता है कि हमें फसल के लिए पौष्टिक तत्वों की कोई चिन्ता नहीं हो । परन्तु जितना गोबर भारतीय कृषक को मिलता है उसका आधे से अधिक इंधन के रूप में प्रयुक्त कर लिया जाता है । प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह स्वीकार किया गया था कि १९५१ में प्राप्त ८० करोड टन गोबर में से आधे से अधिक इंधन के रूप में प्रयुक्त कर लिया गया ।[1] परन्तु प्रश्न है, इंधन के वैकल्पिक साधनों के अभाव में कृषक को गोबर का उपयोग करने से हम किस प्रकार रोकें ?

तीसरे प्रकार की खाद हड्डियों व मछली की हो सकती है । परन्तु प्रथम तो खाद की ये श्रेणियां काफी महँगी है और दूसरे धर्म भीरु भारतीय जनता शायद ही इनका उपयोग करे । कम्पोस्ट तथा मल की खाद पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध की जा रही है परन्तु पूंजी के अभाव में अथवा लापरवाही के कारण बहुत से कृषक इनका उपयोग नहीं करते ।

इस प्रकार उवराशक्ति की क्षतिपूर्ति न हो सकने से प्रति हैक्टर उपज में आशानुरूप वृद्धि नहीं हो पाती ।

(६) कीड़ों मकोड़ों व चूहों द्वारा क्षति—राष्टीय व्यावहारिक आर्थिक शोध परिषद (N C A E R) का अनुमान है कि भारत में कुल खाद्यान्न का १५% भाग कीड़े-मकोड़ों टिड्डियों व चूहों द्वारा खेतों में ही नष्ट कर दिया जाता है । इसके अलावा १०% अनाज गोदामों में कीटाणुओं व चूहों द्वारा समाप्त कर दिया जाता है । वास्तव में जितना खाद्यान्न हमें प्राप्त होता है वह कुल उपज का तीन चौथाई अंश ही है । पौध संरक्षण के कार्यक्रमों को देशव्यापी नहीं बनाया जा सका है । अनुमानत १५०० करोड रुपए की क्षति इस प्रकार प्रति वर्ष हो जाती है । हमारा यह अनुमान है कि यदि पौध संरक्षण के कार्यक्रम सारे कृषि क्षेत्र पर लागू कर दिए जाएँ तथा गोदामों में भी खाद्यान्नों को सुरक्षित रखने की व्यवस्था हो तो हमें उपज में ३३% वृद्धि तो स्वयमेव प्राप्त हो जाएगी और प्रति हैक्टर उपज का औसत भी उसी अनुपात में बढ जाएगा । परन्तु वर्तमान समय में पौध संरक्षण के कार्यक्रम कुल कृषि क्षेत्र के केवल १५ १६% क्षेत्र में लागू किए जा रहे हैं ।

(७) ऋण ग्रस्तता—ऋण ग्रस्तता का अभिशाप भी भारतीय कृषि के विकास में सबसे बड़ी बाधा है । क्योंकि ऋणी होने के कारण साधारणतया अधिकांश कृषकों को अग्रिम रूप से उपज साहूकार को बेचने के लिए वचनबद्ध होना पडता है और इससे उसकी सारी रुचि व उत्साह समाप्त होना स्वाभाविक है ।[2] ऋण-ग्रस्तता कृषक के श्रम का समुचित पुरस्कार प्राप्त करने में सबसे बड़ी बाधा बनकर आती है । दुर्भाग्य से भारतीय कृषकों में अधिकांश कृषक इस देश में ऋण-ग्रस्त हैं और इसीलिए वे नवीन उपकरणों उत्तम बीजों व खाद आदि का उपयोग करने में असमर्थ हैं । उनकी आय का एक बडा भाग ऋण तथा ब्याज चुकाने में व्यय हो जाता है और फलस्वरूप उपज बढाने या कृषि प्रणाली में सुधार करने के लिए वे समर्थ नहीं हो पाते ।

---

1 First Five Year Plan p 255
2 Malenbaum—op cit p 130

(८) छोटी जोतें एवं सुधार की सीमित सम्भावनाएं—उपविभाजन एवं अपखण्डन की समस्या पर लिखे गये अध्याय में इस तथ्य पर काफी विस्तार के साथ लिखा गया है। वास्तव में जोत अत्यन्त छोटी होने पर सिंचाई के साधनो का विकास सम्भव नही हो पाता और न ही कृषक को नवीन उपकरणो के उपयोग मे कोई लाभ दिखाई देता है। वह भूमि को प्रकृति की कृपा पर छोड देता है तथा परम्परागत प्रणालियो एवं उपकरणो मे परिवर्तन करने मे उसे कोई रुचि प्रतीत नही होती। छोटे तथा बडे खेतो मे बैलो तथा कृषको का जीवन-निर्वाह व्यय वही रहता है, पर कुँआ व बाड बनाने मे, सिंचाई की नालियो के निर्माण मे अन्य सुधारों के लिए छोटी जोतें अधिक खर्चीली होती हैं और इसीलिए इनकी व्यवस्था साधारणतया छोटी जोतों पर नही की जाती। इसी कारण विजनयन्त्र (विनोअर्स), थ्रेशर व ट्रैक्टरों आदि श्रम तथा समय बचाने वाले यन्त्रों का उपयोग भी छोटे खेतो में सम्भव नही हो पाता। १८८० के अकाल आयोग ने कृषकों की रुचिहीनता एव उपज कम होने का मुख्य कारण परम्परागत कृषि-प्रणालियों के रूप में बताया था। डा० हेरॉल्ड मान के मत में छोटी जोतें साहस की भावना को नष्ट करती है, श्रम के अपव्यय के लिए उत्तर-दायी है तथा कृषि मे पूंजी के विनियोग में बाधा उपस्थित करती है।[1]

(९) भूमि-व्यवस्था एवं कर—भारत की दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था भी कृषि पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत की लगभग ३०-३५% कृषि भूमि पर उन १०% कृषकों को अधिकार है, जिन्हे जमीदारो के रूप मे जाना जाता है और जो भूमि को खण्डो मे विभक्त करके अन्य व्यक्तियों को जोतने के लिए देते है। इसी रिपोर्ट के अनुसार १९५३-५४ मे लगभग एक चौथाई कृषक परिवारो ने अन्य लोगों की जमीन लेकर जोती थी। बडे जमीदार अपनी अधिकृत भूमि में से ४०-४२% काश्तकारो को देते है।[2] इसीलिए आजादी के बाद भू-धारण की सुरक्षा हेतु अधिकाश राज्यो मे अधिनियम पारित किये गए हैं तथा जमीदारो को इसी शर्त पर काश्तकार को बेदखल करने का अधिकार प्रदान किया गया है कि वे स्वयं भू-धारण करके खेती करें। राजस्थान मे स्वय की देखरेख मे कार्य करवाने तथा कृषि सम्बन्धी जोखिम उठाने को ही खुद काश्त माना गया है। इससे भी अनेक अनियमितताओ की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं तथा अनुचित बेदखली का अवसर जमीदारो को मिल सकता है।

(१०) दुर्बल तथा अनुपयोगी पशु—१९५१ मे भारत में कुल १९८ करोड पशु थे। विभाजन के समय भारत मे १७ ६ करोड तथा पाकिस्तान मे ३ करोड पशु प्राप्त हुए हैं। लेकिन अच्छी नस्ल के अधिकाश पशु पाकिस्तान मे चले गए और इससे भी भूमि की जुताई तथा दूध के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडे।

डा० विलियम कैप द्वारा प्रस्तुत एक तालिका के अनुसार ट्रैक्टर से एक एकड की जुताई करने पर केवल ३रु० १४ पैसे की लागत आती है, जबकि दुर्बल पशुओं द्वारा जुताई किये जाने पर ९ रु० ८३ पैसे का व्यय एक एकड पर आता है। इसमे बैलो की खुराक ६रु० ८८ पैसे होगी, जबकि ट्रैक्टर के पेट्रोल पर केवल १रु० व्यय होता है। इस प्रकार पशुओं द्वारा जुताई करने के कारण लागत अधिक आती है।[3]

(११) कृषि में शोध का अभाव[4]—आस्ट्रेलिया मे वैज्ञानिक शोध के बजट का ४०% भाग कृषि हेतु रखा जाता है जबकि भारत मे यह अनुपात केवल १०% है। वस्तुत ५-७ वर्ष पूर्व तक भी भारत मे कृषि शोध एक उपेक्षित विषय रहा था। यह एक प्रसन्नता की बात है कि अब कृषि शोध हेतु विभिन्न कृषि विश्वविद्यालय एव विशिष्ट संस्थाएँ काफी धन व्यय कर रही हैं।

(१२) अन्य कारण—सदियो से अकाल, बाढ़, तथा मानव-निर्मित बाधाओ ने भारतीय कृषक को इतना निराशावादी बना दिया है कि वह आज सरलता से नवीन उपकरणों के प्रयोग

---

1. Dr H Mann : Land & Labour in a Deccan Village 1917, (Vol I) p 154
2. M. L Dantwala : Article in Seminar, October 1962
3. K. William Kapp : Op. cit
4. See Economic Times, January 15, 1969.

अथवा उत्तम खाद व बीजों का उपयोग करने के लिए तत्पर नही हो पाता। भारतीय कृषक महत्त्वाकांक्षी नही है तथा धर्म एव जातिगत मान्यताओं ने उसे भाग्यवादी बना दिया है।

फसलों के हेरफेर के विषय में भी भारतीय कृषक को कोई रुचि नही है तथा प्रत्येक दृष्टि से वह प्रकृति पर निर्भर रहना ही उपयुक्त मानता है। राज्य की उदासीनता भी इस सम्बन्ध मे उत्तरदायी रही है। उपज में वृद्धि करने के लिए राज्य द्वारा किये गए प्रयास अपर्याप्त रहे हैं।

सबसे बडा कारण, जिससे प्रति एकड़ उपज बहुत कम है, भारतीय कृषकों की निर्धनता एव विपन्नता है। डा० सेन के शब्दो मे 'सर्वश्रेष्ठ सेना भी जिस प्रकार बिना उपयुक्त अस्त्र-शस्त्रों के युद्ध मे विजय नही पा सकती उसी प्रकार कृषि मे विकास के सारे प्रयास उस समय तक सफल नहीं होंगे जबतक कि कृषकों के लिए उत्तम बीज, खाद व उपकरण पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही हैं तथा जब तक कि कृषकों के पास पर्याप्त पूँजी इन सबको खरीदने के लिए विद्यमान नही हैं।[1]

राज्य की कृषि नीति—संक्षिप्त समीक्षा

कृषि के विकास एव प्रचलित पिछड़ेपन को दूर करने के लिए स्वतन्त्रता के पूर्व राज्य का योगदान महत्त्वपूर्ण कभी नही रहा। हिन्दू एव मुगल सम्राटों ने यदाकदा सिंचाई के लिए नहरों व तालाबों का निर्माण करवाया तथा अकाल एव अभाव के समय कृषकों को वित्तीय सहायता दी थी, लेकिन कोई नियमित प्रयास इस दृष्टि से नहीं किए गए कि कृषि प्रणाली में सुधार हो सके, अथवा कृषि का सुनियोजित विकास सम्भव हो जाए। अंग्रेजो की नीति बगाल की दीवानी (१७९३) से लेकर १९वीं शताब्दी तक यथासम्भव यही रही कि भारत मे कृषि का विकास स्वाभाविक रूप से होता जाए। वे यह चाहते थे कि भारत एक कृषि-प्रधान देश बन जाय। लेकिन १९वीं शताब्दी के मध्य तक उन्होंने कृषि के विकास हेतु कोई महत्त्वपूर्ण प्रयास नही किया। १७४८ से १८५४ के मध्य तक काफी कपास एव चाय की खेती तथा उत्पादन के विषय मे जानने के लिए कुछ समितियाँ बनाई गई थी। लेकिन इन समितियों की स्थापना का आशय कृषि-प्रणाली में सुधार हेतु कोई नीति बनाना नही था।

इसी प्रकार ब्रिटिश सरकार ने कहीं-कहीं नहरों व तालाबों का निर्माण करवाया लेकिन श्री रमेशदत्त के शब्दों मे सिंचाई के साधनों के विकास का एकमात्र उद्देश्य बढी हुई उपज से अधिक राजस्व प्राप्त करना था तथा अंग्रेजो ने भारतीय कृषि की आवश्यकताओं एव समस्याओ को समझने का काफी समय तक प्रयास भी नही किया। १९वीं शताब्दी मे किये गए छुटपुट प्रयासो मे भूमि-व्यवस्था से सम्बन्धित सुधारो का सर्वाधिक महत्व रहा है। ब्रिटिश सरकार ने कुछ क्षेत्रों मे जमींदारी प्रथा प्रचलित करके कृषक वर्ग मे ऐसे तत्त्वों को जन्म दिया, जो कृषि के सुधारों की अपेक्षा स्वय एव राज्य के लिए जुटाने मे निमित्त बने। रैयतबाडी क्षेत्र मे सामान्यत दरिद्र एव साधनहीन कृषकों का प्रवेश हो गया था और इसके फलस्वरूप कृषि की समस्याएँ बढती ही गई।

सर्वप्रथम कृषि-समस्याओ का व्यापक रूप से विश्लेषण प्रथम अकाल आयोग द्वारा १८८० म किया गया। आयोग ने कृषि के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की उदासीन नीति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके निम्न सुझाव प्रस्तुत किए

(अ) एक केन्द्रीय कृषि विभाग की स्थापना की जाए जो अकालो से रक्षा करने तथा कृषि में स्थायी सुधार करने का प्रयास करे।

(आ) प्रान्तों मे भी इसी प्रकार के कृषि विभाग स्थापित किए जाएँ।

(इ) राज्य कृषकों को भूमि खरीदने, कुँआ बनवाने, बैल खरीदने के लिए अल्प, मध्य व दीर्घकालीन ऋण देने की व्यवस्था करे। तथा,

(ई) कृषको की ऋण ग्रस्तता दूर करने के लिए विशेष न्यायालयो की स्थापना की जाय।

लेकिन जैसा कि शाही कृषि आयोग ने बताया, ब्रिटिश सरकार ने इन सुझावों पर काफी समय तक कोई ध्यान नही दिया। (रिपोर्ट पृष्ठ १७-१८)

---

1 Dr S R Sen The Strategy for Agricultural Development p 16

कृषि-अनुसंधान—१८८९ में डा० वालेकर, जो इंगलैंड की कृषि सोसायटी के सलाहकार-रसायन शास्त्री थे, भारत भेजे गये जिन्होंने देश के विभिन्न भागों का भ्रमण करने के पश्चात् १८९१ में एक रिपोर्ट 'भारतीय कृषि के सुधारों के लिए' प्रस्तुत की। डा० वालेकर ने तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन से कृषि-सम्बन्धी अनुसंधानों को प्रोत्साहन देने का अनुरोध किया। १८९२ में भारत सरकार ने पहली बार कृषि-रसायन शास्त्री की नियुक्ति की। १९०१ में कृषि-महानिरीक्षक (इन्सपैक्टर जनरल) तथा कृषि की उच्च शिक्षा तथा शोध हेतु १९०३ में पूसा इन्स्टीट्यूट की स्थापना की गई। पूसा की इस संस्था के लिए शिकागो के हेनरी फिप्स द्वारा २०,००० पौण्ड का अनुदान प्राप्त हुआ तथा लार्ड कर्जन के प्रयत्नों के फलस्वरूप २० लाख रुपये प्रतिवर्ष १९०५ से पूसा-संस्थान एवं प्रान्तों की कृषि में सुधारों के लिए दिया जाना प्रारम्भ हुआ।

धीरे-धीरे कृषि कालेजों का प्रारम्भ अन्य प्रान्तों में हुआ तथा बम्बई, मध्यप्रदेश, पंजाब और दक्षिण में अनेक कृषि कालेजों की स्थापना की गई। १९०५ में केन्द्रीय तथा प्रांतीय कृषि विभागों का गठन करने का प्रयास किया गया। प्रान्तीय कृषि विभागों का पुनर्गठन एवं विस्तार १९१५ में किया गया।

१९०५ में एक अ० भा० कृषि बोर्ड की स्थापना प्रान्तीय कृषि विभागों की गतिविधियों में समन्वय लाने की दृष्टि से की गई। १९१९ में प्रशासन सम्बन्धी अनेक सुधार हुए तथा कृषि को प्रधानतः प्रान्तों के नियन्त्रण में रख दिया गया तथा उच्च स्तरीय अनुसंधान तथा शोध के कार्यों को केन्द्रीय कृषि मंत्रिमंडल के नियन्त्रण में रखा गया। आज केन्द्रीय कृषि, तथा कृषि एवं खाद्य मन्त्रालयों, नियन्त्रण में कृषि तथा सम्बन्धित अनुसंधान (रिसर्च) के लिए निम्न मुख्य संस्थाएँ कार्य कर रही है :

(i) कृषि अनुसन्धानशाला, दिल्ली (जो १९३६ में पूसा से स्थानान्तरित किया गया था); (ii) भारतीय पशु चिकित्सा अनुसन्धानशाला, मुक्तेश्वर; (iii) पशुपालन एवं डेरी अनुसन्धानशाला, बंगलौर; (iv) भारतीय पशु-सुधार फार्म, करनाल; (v) मक्खनशाला, आनन्द; (vi) गन्ना उत्पादक केन्द्र, कोयम्बटूर; (vii) चीनी ब्यूरो, कानपुर; (viii) वन-अनुसन्धानशाला, देहरादून; (ix) शक्कर प्राविधिक संस्था, कानपुर; (x) केन्द्रीय चावल अनुसन्धान संस्था कटक; (xi) केन्द्रीय आलू अनुसन्धानशाला, पूना, (xii) केन्द्रीय सब्जी केन्द्र, कुलू; (xiii) केन्द्रीय समुद्रीतट मत्स्य केन्द्र, मंजयम; (xiv) केन्द्रीय आन्तरिक मत्स्य केन्द्र, मनीरामपुर तथा; (xv) गहन समुद्री मत्स्य केन्द्र, बम्बई।

इनके अतिरिक्त कोचीन का मत्स्य प्राविधिक केन्द्र, मैसूर केन्द्रीय खाद्य प्राविधिक केन्द्र तथा १९२९ में स्थापित इम्पीरियल (अब भारतीय) कृषि अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली (ICAR) भी उक्त मन्त्रालयों के अन्तर्गत कार्य कर रही है।

कृषि-अनुसंधान के लिए केन्द्रीय खाद्य तथा कृषि-विभाग संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) के संयुक्त तत्वावधान में भी प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में १९२८ के शाही कृषि आयोग का राज्य की नीति में हुए परिवर्तनों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रथम योजना में वैज्ञानिक कृषि (अनुसंधान) के लिए लगभग ४ करोड़ रु० व्यय किए गए, पर द्वितीय योजना में यह राशि बढ़ाकर १४ करोड़ १५ लाख रु० कर दी गई। १९५२ के आरम्भ में अमरीका के साथ एक प्राविधिक सहकार समझौता किया गया जिसके अनुसार एक अमरीकी विशेषज्ञों का दल कृषि मन्त्रालय को महत्त्वपूर्ण सुझाव देने के लिए प्रस्तुत रहता है।

प्रान्तीय कृषि-विभाग भी पिछले १५-२० वर्षों से काफी सक्रिय रूप से कार्य कर रहे है। कृषि-क्षेत्रों तथा प्रयोगशालाओं में प्रयोग तथा नवीन प्रणालियों व उपकरणों की लोकप्रियता में वृद्धि करने के उद्देश्य से ये विभाग यथासम्भव कृषि पद्धति में सुधार करके कृषि-क्षेत्र का विस्तार करते हैं। जथार एवं बेरी के कथनानुसार १९२८-२९ में सुधरी हुई फसलों का कुल क्षेत्रफल १ करोड़ २२ लाख एकड़ था, १९३७-३८ में यह बढ़कर २ करोड़ ४० लाख एकड़ हो गया।

१९४७ से कृषि एवं पशु सम्पत्ति के विकास हेतु क्षेत्रीय कार्यक्रम निर्धारित किए गए।

द्वितीय पचवर्षीय योजना-काल मे कपास तिलहन तथा मोटे अनाजो के सम्बन्ध मे शोध करने के लिए १७ केन्द्र स्थापित किए गए। प्रथम योजना-काल से अब तक भारतीय कृषि अनुसन्धानशाला तथा कृषि अनुसंधान परिषद् का पर्याप्त विस्तार किया गया है। तृतीय पचवर्षीय योजना मे परिषद् तथा शाला की ओर भी अधिक विस्तार किया गया। प्रत्येक बडी नदी घाटी योजना-क्षेत्र मे अनुसधान केन्द्र स्थापित किए गए है। जूट, कपास, अनाज व बहुत-सी अन्य वस्तुओं तथा रबड, चाय एव कॉफी की फसलो के विषय मे भी अनुसधान के कार्यक्रमो का विस्तार किए जाने की योजना थी परन्तु कोषो के अभाव मे यह सब सम्भव नही हो सका।

कृषि-अनुसधान के लिए पचवर्षीय योजनाओ मे भी काफी ध्यान दिया गया है तथा चावल, कपास, ज्वार, बाजरा, गेहूँ तथा मक्का आदि की नई फसलो के सम्बन्ध मे अनेक परीक्षण किए गए हैं। इनमे सुधरे हुए बीजो व खाद की मात्रा एव किस्म के विषय म जाँच की जाती है। तृतीय योजनाकाल मे केन्द्र तथा राज्यो के अनुसधान-कार्यक्रमो पर २८ करोड रुपये व्यय किए गए।

कृषि-उपकरणो में सुधार— यह हम ऊपर बता चुके है कि भारतीय कृषि के पिछडा रहने तथा प्रति एकड उपज कम होने का एक बडा कारण रूढिवादी उपकरणों का उपयोग भी है। सरजॉन रसल ने १९३७ मे इम्पीरियल (अब भारतीय) कृषि अनुसधान परिषद् के कार्यों पर रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए यह बताया था कि आधुनिक यत्र हल्के होते हैं तथा कम मनुष्यों तथा पशुओ द्वारा कम समय में वे कृषि-कार्य करने मे समर्थ हैं। दुर्भाग्य से अनेक बार सिफारिश होने के उपरात भी प्रातीय कृषि विभागो ने सुधरे हुए उपकरणो के वितरण मे बहुत उदासीनता बरती। शाही कृषि आयोग ने १९२८ मे बताया कि १९२५ २६ में सारे देश में कुल २ करोड ५० लाख हलो का उपयोग किया जा रहा था, जिसमे से केवल १७,००० सुधरे हुए हल थे। १९४५ मे भारतीय कृषि अनुसधान सस्था मे एक कृषि इन्जीनियरिंग कक्ष की स्थापना की गई। कृषि कार्यों के लिए नवीन उपकरणो के प्रयोग पर निरन्तर परीक्षण चलते रहे है। १९४५ मे हलो की सख्या ३ ७८ करोड थी तथा १९५६ मे सम्पूर्ण देश मे यह सख्या ३ ८ करोड तक पहुँच गई। ट्रैक्टरों का उपयोग भारत मे स्वतन्त्रता के पूर्व बहुत सीमित था। १९५१ मे केवल ९ ००० ट्रैक्टर सारे देश मे थे, पर नियोजित विकास के कारण १९६६ मे इनकी सख्या ५०,००० हो गई। यही नहीं आजादी के बाद गन्ना पेरने की मशीनो, तेल-इन्जनो विद्युत् पम्पो और अन्य यत्रो की सख्या मे भी काफी वृद्धि हुई। इस समय तक १२,००० पावर स्प्रेयर, ४,००० पॉवर स्प्रेयर-कम डस्टर, १० २५ लाख पम्पसेट तथा २,००० पॉवर थ्रेशर का देश के विभिन्न भागो मे उपयोग हो रहा था।

सुधरे हुए बीज—डाक्टर मैन के मत मे भारत जैसे देश मे, जहाँ प्रति एकड उपज इसी प्रकार की स्थितिवाले अन्य देशो की कृषि की अपेक्षा ⅓ या ½ पैदावार प्रति एकड होती हो, राज्य की नीति में अच्छे बीजो की पूर्ति का भी महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। श्री कीटिंग ने अच्छे बीजो के उपयोग से ही उपज मे १० प्रतिशत वृद्धि का अनुमान किया था। १९५७ मे अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति ने बताया कि अच्छे व सुधरे हुए बीजो का उपयोग आन्ध्र व पजाब मे क्रमशः धान तथा गेहूँ को छोडकर सारे भारत मे विभिन्न फसलो के अन्तर्गत प्रयुक्त भूमि के १०-१५ प्रतिशत भूमि मे ही किया जा रहा था।

लेकिन द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे अच्छे बीजो के उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए विकास-खण्डो मे बीज-क्षेत्र बनाये गए। १९६०-६१ तक लगभग ४००० बीज क्षेत्र बनाए जा चुके थे। तृतीय योजना-काल मे एक केन्द्रीय बीज निगम की भी स्थापना की गई है। १९६७-६८ मे कुल मिलाकर लगभग ४ २५ करोड हैक्टर क्षेत्र मे सुधरे हुए अथवा उन्नत बीजो का उपयोग किया गया। उस वर्ष कुल कृषि क्षत्र का लगभग २५% उत्तम बीजो के अन्तर्गत था।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन—बर्मा के पृथक् हो जाने के पश्चात् खाद्यान्नो के मूल्य अत्यधिक तेजी से बढने लगे। इस समस्या के सामयिक एव स्थायी निराकरण हेतु भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् ने चारसूत्री कार्यक्रम बनाया। प्रथम, नई भूमि को कृषि-क्षत्र के अन्तर्गत लाकर तथा दुहरी फसलो को प्रोत्साहन देकर कुल कृषि क्षेत्र का विस्तार करना। द्वितीय, कुओं, नहरो व तालाबों की मरम्मत तथा नई सिंचाई की सुविधाएं प्रदान करना। तृतीय, खाद का व्यापक उपयोग

किया जाना तथा अन्तिम, सुधरे हुए बीजो का उपयोग बढ़ाना। १९४३ से यह कार्यक्रम देशव्यापी आन्दोलन के रूप मे प्रारम्भ किया गया। इसे अधिक अन्न उपजाओ आदोलन (Grow More Food Campaign) इसलिए कहा गया, क्योंकि इसका उद्देश्य प्रधानतः खाद्यान्नों के उत्पादन मे वृद्धि करना था।

योजनाएँ तथा कृषि—सार्वजनिक व्यय का लगभग ३१% प्रथम योजना काल मे कृषि के विकास हेतु व्यय किया गया। द्वितीय योजना तथा तृतीय योजना काल मे यह अनुपात घट कर २० तथा २१% के बीच रह गया। तीनो योजनाओ मे कुल मिलाकर ३,३३६ करोड रुपये कृषि के विकास हेतु खर्च किए गए। इनमे सिचाई की मद पर किया गया व्यय भी शामिल था।

पिछले कुछ वर्षों मे ऊँची उपज वाले बीजो के लिये बहुत बड़े स्तर पर कार्य किया जा रहा है। सभव है इससे देश के सभी कृषि-क्षेत्रो मे हरी क्रांति का सूत्रपात हो जाय। तीसरी योजना तक कृषि उत्पादन की वृद्धि दर लगभग २% रही थी, पर नवीन कृषि नीति के फलस्वरूप चौथी योजना मे उत्पादन की वृद्धि दर ५% (वार्षिक) रहने की आशा है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे कृषि कार्यक्रमों पर सहकारी क्षेत्र मे १६६७ करोड रुपए तथा सिचाई पर ९५० करोड रुपए व्यय किए जाएँगे। यह उल्लेखनीय है कि तीसरी योजना मे यह व्यय क्रमशः १४०० करोड तथा ६५० करोड़ रुपए था।

१

भारत में भूमि व्यवस्था तथा सुधार
(Land Systems and Land Reforms in India)

प्रारम्भिक—भूमि व्यवस्था का महत्त्व

विद्वान् सुकरात के शब्दों में "खेती के पूर्णरूप से फलते फूलते समय ही सब धन्धे पनपते हैं, किन्तु भूमि को बन्जर छोड देने में अन्य धन्धों का भी विनाश हो जाता है।" कृषि उत्पादन को प्रभावित करने वाले विभिन्न घटकों में भूमि व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीमती एन्स्टे का यह कथन भी सही प्रतीत होता है कि किसी देश में कृषि उत्पादन तथा कृषि की स्थिति काफी सीमा तक इस बात पर निर्भर करती है कि वहाँ भूमि धारण एवं भूमि स्वामित्व के मध्य किस प्रकार के सम्बन्ध है।[1] यदि प्रधानत जोतने वाला ही भूमि का स्वामी है और राज्य को केवल लगान लेने का ही अधिकार है तो इससे भू धारण सुरक्षित रहता है तथा कृषक का कार्य करने का उत्साह बना रहता है। इसके विपरीत, यदि भूमि का स्वामी तथा कृषक दोनों पृथक-पृथक व्यक्ति होते हैं तो इससे कृषक का दमन होना प्रारम्भ हो जाता है तथा वह अपने आपको असुरक्षित महसूस करने लगता है जिसके परिणामस्वरूप उसमें कार्य करने का उत्साह नहीं रहने पाता। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में उचित भूमि व्यवस्था का होना परम आवश्यक है। उचित भूमि व्यवस्था का अभाव भारत के आर्थिक विकास में एक महत्त्वपूर्ण बाधा है।

भूमि व्यवस्था तथा भूमि सुधार का अर्थ

भूमि व्यवस्था का अर्थ .

भूमि व्यवस्था से अर्थ है कि भूमि पर स्थायी अधिकार किस व्यक्ति का है, उस पर खेती कौन करता है तथा लगान निर्धारित करने की क्या रीति है। दूसरे शब्दों में, "भूमि व्यवस्था से आशय भूमि के स्वामी तथा उसके जोतने वाले का भूमि के प्रति अधिकार एवं दायित्व तथा मालगुजारी देने के सम्बन्ध में राज्य से सम्बन्ध की व्याख्या से है।" भूमि पर अधिकार सरकार का हो सकता है अथवा निजी स्वामित्व हो सकता है, जैसे जमींदार, जागीरदार, अथवा कृषक आदि। पहली स्थिति में लगान सरकार को देना पडता है तथा दूसरी स्थिति में जमींदार अथवा जागीरदार लगान पाने का अधिकारी होता है। संक्षेप में, भूमि व्यवस्था से आशय उस व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत भूमि का स्वामित्व अधिकार एवं दायित्व निर्धारित होते हैं।

भूमि सुधार से आशय :

भूमि सुधार एक अत्यन्त व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत वे समस्त कार्य सम्मिलित किये जाते हैं जिनके द्वारा भूमि का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है तथा कृषि का उत्पादन

1 Vera Anstey Economic Dev. of India, p 97 (1957)

बढाया जा सकता है। अतएव लगान सम्बन्धी कानून, मध्यस्थो का उन्मूलन, जोतो की सुरक्षा, उचित लगान-निर्धारण व उसकी वसूली, भूसीमा निर्धारण, सहकारी कृषि, चकबन्दी, भूदान, कृषि का पुनर्गठन इत्यादि सभी कार्यक्रम भूमि सुधार के अन्तर्गत आते हैं।

आदर्श भूमि व्यवस्था—कैसी हो ?

यदि कृषक को भूमि जोतने तथा उसमें श्रम, पूँजी तथा जोखिम का इष्टतम उपयोग करने की प्रेरणा प्राप्त हो तो हम उसे आदर्श भूमि व्यवस्था की संज्ञा दे सकते हैं। ऐसी व्यवस्था निम्न गुणों से सम्पन्न होती है

(१) भूमि पर जोतने वाले का अधिकार होता है।

(२) यदि जोतने वाले को स्वत्व प्राप्त न हो और वह किसी अन्य व्यक्ति से भूमि लेकर जोत रहा हो उसे भूमि का उपयोग निर्बाध रूप मे करने का अधिकार हो। अन्य शब्दो मे काश्तकार को भू-धारण की सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए।

(३) स्वत्वाधिकार प्राप्त कृषक अथवा दूसरे व्यक्ति की भूमि जोतने वाले काश्तकार दोनो को ही यह ज्ञात होना चाहिए कि लगान के रूप में उन्हे उपज का कितना भाग देना है। इसके लिए यह जरूरी है कि भूमि पर मध्यस्थो की संख्या कम से कम हो।

(४) साझे पर कार्य करने वाले कृषको को भूमि से प्राप्त उपज का न्यायपूर्ण भाग प्राप्त होना चाहिए।

यदि ये गुण किसी देश की कृषि-व्यवस्था मे विद्यमान नही हैं तो वहाँ का कृषक सुखी नही रह सकता।

स्वतन्त्रता के समय भारत में भूमि-व्यवस्था

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत मे तीन प्रकार की (प्रमुख) भूमि व्यवस्थाएँ मौजूद थी (I) रैयतवाडी, (II) महलवाडी, (III) जमीदारी। कुल कृषि क्षेत्र के ५२% भाग पर रैयतवाडी, ४०% भाग पर जमीदारी तथा शेष पर महलवाडी व अन्य व्यवस्थाएं (जागीरदारी, विस्वेदारी आदि) विद्यमान थी।

(I) रैयतवाड़ी व्यवस्था
(Ryotwari System)

रैयतवाडी व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूमि पर राज्य का एकाधिकार होता है किन्तु व्यवहार मे प्रत्येक रजिस्टड धारी (रैयत) स्वामी होता है।

इसका टॉमस मुनरो ने सबसे पहले सन् १७९२ मे मद्रास मे श्रीगणेश किया था। धीरे-धीरे बम्बई (उत्तरी प्रान्तो) व अन्य प्रदेशो मे भी यह व्यवस्था लागू की गई। स्वतन्त्रता के पूर्व रैयतवाडी व्यवस्था देश के ५२% कृषि-क्षेत्र मे व्याप्त थी। 'अ' श्रेणी के ३८% क्षेत्र मे रैयतवाड़ी व्यवस्था विद्यमान थी।

रैयतवाडी व्यवस्था मे निम्नांकित विशेषताएं होती हैं[1] (अ) समस्त भूमि राज्य की सम्पत्ति होती है। (आ) भूमि धारणकर्त्ता तीन अधिकारो का प्रयोग कर सकता है भूमि का उपयोग, स्वत्व-हस्तान्तरण अथवा राज्य को लौटाना। (इ) लगान के भुगतान हेतु काश्तकार व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार होता है। एव (ई) लगान की दरो का निर्धारण २०-३० वर्ष की उपज के मूल्य के आधार पर होता है। पर समय-समय पर इसमे संशोधन किया जा सकता है।

रैयतवाडी व्यवस्था के अन्तर्गत लगान का निर्धारण भूमि की उर्वराशक्ति तथा पिछले २० या ३० वर्षों मे हुई उपज (वास्तविक) के मूल्य के आधार पर किया जाता है। वास्तविक उपज का एक भाग लगान के रूप मे दिया जाता है जो साधारणतया राज्य सरकारो द्वारा निर्धारित किया

---

1. Wadia & Merchant ibid, p 281

जाता है। महलवाडी व्यवस्था मे भी वास्तविक उपज का एक भाग लगान के रूप में लिया जाता है।

रैयतवाडी व्यवस्था वैधानिक रूप से दो-पक्षीय व्यवस्था है, जिसके अनुसार राज्य एव काश्तकार का सीधा सम्बन्ध होना चाहिए। लेकिन जनसख्या की वृद्धि के साथ-साथ जैसे-जैसे भूमि पर जन-भार बढता गया, वैसे-वैसे राज्य व अन्तिम काश्तकार के बीच मध्यस्थो की सख्या बढती गई। बहुत से कृपको ने राज्य से ली गई भूमि को पूर्ण अथवा आशिक रूप से अन्य व्यक्तियो को सीर या साझे पर देना प्रारम्भ कर दिया। नेशनल सेम्पल सर्वे रिपोर्ट के अनुसार १९५३-५४ मे कुल जोती गई भूमि का लगभग २४% भाग मध्यस्थो से प्राप्त हुआ था। यह और भी विचित्र बात है कि जो कृपक भूमि का इस प्रकार सीर या साझे मे देते है, उनमे से ⅔ एकड से भी कम भूमि अन्य व्यक्तियो को देते हैं।[1]

जिन व्यक्तियो के पास १० एकड या इससे कम है वे कुल सीर मे दी गई भूमि का ३०% देते हैं जबकि १०-२० एकड एव ५० एकड से अधिक जिनके पास है उनका योगदान क्रमश २०% एव २८% है। यही नही जिनके पास ५० एकड या इससे कम भूमि है। उनका ४२% भाग आशिक या पूर्णरूप से मध्यस्थो से लिया गया है।[2]

तृतीय पचवर्षीय योजना मे प्रस्तुत जोत सम्बन्धी आकडो से भी यह ज्ञात होता है कि बडे कृपक भूमि को पट्टे या साझे पर जोतने के लिए अधिक देते है।

भूमि को साझे पर देने की परम्परा के कारण रैयतवाडी क्षेत्रो मे भी लगान मे आशातीत वृद्धि हुई है। उत्तर प्रदेश मे यद्यपि जमीदारो का बाहुल्य नही था फिर भी रैयतवाडी क्षेत्रो मे भी मध्यस्थो की सख्या बढती गई और परिणामस्वरूप काश्तकारो द्वारा किए गए भुगतान की राशि राज्य के कोष मे न जाकर उन मध्यस्थो को प्राप्त होने लगी जिनमे केवल जमीदार ही नही, अपितु बडे काश्तकार भी थे। इससे तीन नुकसान हुए—प्रथम राज्य को आवश्यकता से कम आय प्राप्त हुई। द्वितीय, बडे कृपक व जमीदारो के पास धन का केन्द्रीयकरण हो गया तथा अन्तिम, अधिक लगान देने के कारण काश्तकार की स्थिति मे सुधार सभव नही हो सका।

रैयतवाडी प्रथा के गुण

यद्यपि उपरोक्त बुराइयो की उत्पत्ति का दायित्व किसी सीमा तक रैयतवाडी व्यवस्था पर डाला जाता है क्योकि इसमे समस्याओ के बढने अथवा भूमि को साझे पर दे डालने की अधिक गुजाइश रहती है, तथापि रैयतवाडी व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है। इसके निम्नलिखित कारण हैं

१ कृपक तथा सरकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध बना रहने से कृपक की शोषण से रक्षा हो जाती है।

२ सरकार कृषि स्थिति से परिचित होने के कारण कृषि के विकास के सम्बन्ध मे उदासीन नही रह सकती।

३ सरकार व कृपक के बीच मध्यस्थो की सख्या अपेक्षाकृत कम होने के कारण कृपक को लगान जमीदारी व्यवस्था से कम देना होता है जबकि राज्य के कोष मे अधिक राशि जमा होती है।

४ कृपक को अधिक श्रम करने का व अधिक पूँजी का विनियोग करने का अवसर मिलता है क्योकि इसमे भू-धारण की सुरक्षा रहती है।

५ मालगुजारी उपज के एक भाग के रूप मे रहने से लगान का निर्धारण सरल होता है और साथ ही नजराना भेंट या अनावश्यक भुगतान, जो जमीदारी व्यवस्था मे अनिवार्य माने जाते है, बच जाते है।

६ राज्य तथा काश्तकार की सक्रियता के कारण कृषि के विकास की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं।

---

1 M L Dantwala Article in Seminar, October, 1962
2 Ibid

रैयतवाड़ी प्रथा के दोष :

(१) इसमे लगान के निर्धारण मे सरकारी अधिकारियो द्वारा मनमानी होती है तथा साथ मे पक्षपात भी किया जाता है। (२) छोटे-छोटे किसानों से लगान की राशि वसूल करने में सरकार को एक बहुत बडी राशि व्यय करनी पड़ती है। (३) मनमाने ढंग से लगान बढाये जाने के डर से कृषक भूमि पर सुधार करने मे संकोच करने लगता है। (४) पूँजीपति भूमि को हथिया लेते है तथा वे स्वयं कृषि करने की बजाय नौकरो व अन्य व्यक्तियो से खेती कराते हैं। अतएव इसमें जमीदारी के दोष दिखलायी देने लगते है। (५) रैयत द्वारा भूमि उप-किसानो को दे दी जाती है।

(II) महलवाड़ी व्यवस्था
(Malwari System)

महलवाडी व्यवस्था भारत के किन-किन प्रान्तो मे लागू की गई थी, यह पिछले अध्याय में बताया जा चुका है। संक्षेप में यहाँ यह बता देना पर्याप्त होगा कि इस व्यवस्था को सर्वप्रथम सन् १८८३ मे लार्ड विलियम बैंटिक ने उत्तर प्रदेश के आगरा व अवध के जिलो में लागू किया था। इस व्यवस्था मे जमीदारी व्यवस्था के विपरीत बहुत-से व्यक्तियो को सामूहिक रूप से भूमि का स्वामित्व दिया जाता है तथा एक निश्चित राशि लगान के रूप मे निर्धारित कर दी जाती है। इसके अन्तर्गत गाँव की भूमि पर संयुक्त रूप से ग्राम समुदाय का अधिकार होता है। भारत के विभिन्न प्रान्तो मे काश्तकारो से वसूल किए गए धन मे से ४०% से लेकर ७०% तक राज्य के कोष मे जमा किया जाता था। इस सामूहिक रियासत को महल कहा जाता था तथा सभी भागीदार व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से निर्धारित लगान की राशि के भुगतान हेतु बाध्य थे। लगान की दरो मे एक निश्चित अवधि के पश्चात् संशोधन किया जा सकता था। कुछ इलाको में प्रत्येक भागीदार उस रियासत मे जितना अश उसके अधिकार मे होता था उसी के अनुपात से लगान अदा करता था।

पजाब मे साधारणतया बंजर भूमि पर इन भागीदारो का सामूहिक रूप से अधिकार माना जाता था और भूमि को पट्टे पर देने की परम्परा असामान्य थी। लेकिन मध्य प्रदेश व उत्तर प्रदेश मे सीर या साझे मे खेती करने का अधिक रिवाज था। सीर की जमीन को भागीदार या उसके परिवार की निजी सम्पत्ति माना जाता था। यह प्रणाली संयुक्त ग्राम प्रबन्ध के सिद्धान्तों पर आधारित थी, जिसके अनुसार भूमि पर एक व्यक्ति या परिवार की अपेक्षा सामूहिक स्वामित्व को मान्यता दी जाती थी।

महलवाड़ी व्यवस्था मे बन्दोबस्त के पूर्व भूमि का सर्वेक्षण किया जाता है तथा उसकी सीमाओ का विभिन्न व्यक्तियो या परिवारो के मध्य पूर्णरूपेण निर्धारण कर दिया जाता था। माल-गुजारी का निर्धारण भूमि तथा उपज के मूल्य के अनुसार किया जाता था। उपज का एक भाग अथवा एक निश्चिय राशि लगान के रूप मे राज्य के कोष मे जमा कराई जाती थी।

महलवाड़ी व्यवस्था काफी सीमा तक जमीदारी के दोषो से मुक्त थी, क्योंकि इसके अन्तर्गत गाँव की सार्वभौम सत्ता एक व्यक्ति के हाथो मे केन्द्रित न होकर विकेन्द्रित हो जाती थी। भागीदार लोगो मे साधारणतया जमीन को स्वय जोतने की भी परम्परा थी और इससे अकर्मण्यता को प्रोत्साहन नही मिल पाता था। इसमें शोषण की सम्भावनाएँ भी अत्यन्त सीमित हो जाती थी।

लेकिन महलवाडी व्यवस्था मे भी राज्य एव काश्तकारो के मध्य एक दीवार बनी रहती है, जिससे राज्य कृषि के विकास मे समुचित योगदान नही दे पाता। इसके अतिरिक्त मालगुजारी का निर्धारण अत्यन्त जटिल कार्य था और इसमे एकरूपता लाना सम्भव नही हो सका। मालगुजारो या 'भागीदारो' की मनमानी एव दमन-चक्र भी किसी सीमा तक चलते रहते थे।

महलवाड़ी प्रथा के सैद्धान्तिक लाभ .

(१) सामूहिक उत्तरदायित्व एव स्वामित्व ने सह-अस्तित्व एव सह-चिन्तन को भावनाओ को बढ़ाया है। (२) इसमे अपितु वैयक्तिकता एव सामूहिकता का सुखद समन्वय है अर्थात् भूमि पर स्वामित्व ग्राम समुदाय का होता है किन्तु कृषि की व्यवस्था करने मे प्रत्येक साझेदार स्वतन्त्र है। (३) मध्यस्थ न होने से शोषण की समस्या नही उठती है। (४) लगान अस्थाई रूप से निर्धारित होने के कारण, भूमि की उर्वरता या कीमत बढ़ने पर, सरकार की आय भी बढ सकती है।

महलवाडी प्रथा के दोष

(१) व्यावहारिक रूप मे यह देखा गया है कि इस प्रथा के अन्दर समस्त ग्रामीण समुदाय नही, अपितु कृषक ही व्यक्तिगत रूप से भूमि का स्वामी होता है। (२) लगान निर्धारण मे सरकारी अधिकारियो द्वारा पक्षपात एव मनमानी करने की आशका रहती है। (३) कुछ क्षत्रो मे उत्तर-प्रदेश व मध्य-प्रदेश) इमे जमींदारी प्रथा के समान लागू किया गया है जिससे इसमे जमींदारी के दोषो का अनुभव किया गया है।

(III) जमीदारी व्यवस्था
(Zamindari System)

जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत सरकार तथा कृषक का सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु कृषक तथा सरकार के बीच एक मध्यस्थ वर्ग होता है जो जमींदार कहलाता है। इस प्रथा के अनुसार जमीदार भूमि का स्वामी होता है तथा भूमि सम्बन्धी सभी अधिकार उसी के हाथ में होते हैं। प्रारम्भ में जमीदारो की हैसियत मालगुजारी एकत्रित करने वाला के समान थी। ये लोग मालगुजारी वसूल किया करते थे और इन्हे अपनी सेवाओ के बदले मे कमीशन मिलता था। मुगल साम्राज्य की पतनावस्था मे इन्होने अपने-अपने क्षत्रो में अपनी-अपनी स्थिति को सुदृढ कर लिया।

इसके अन्तर्गत प्रमुख राज्यो मे बगाल बिहार उडीसा एव मद्रास मुख्य थे। इनके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश, पजाब व मध्य प्रदेश मे भी जमींदारी व्यवस्था प्रचलित थी। जमीदारी व्यवस्था का प्रचलन किस प्रकार एव किस उद्देश्य से हुआ, यह अध्याय २ मे बताया जा चुका है। सक्षेप में यहा यह बता देना उचित होगा कि जमीदारो की नियुक्ति काश्तकारो से लगान इकट्ठा करके प्रारम्भ मे कम्पनी सरकार को तथा १८५८ के पश्चात् ब्रिटिश सरकार को देने के उद्देश्य से की गई थी। जमीदारो को उनकी सेवाओ के बदले कुल मालगुजारी का $\frac{1}{1}$, भाग मिलता था। स्थायी तथा अस्थायी बन्दोबस्त मे मिलाकर १९४७-४८ मे कुल क्षेत्र का ४८% अथवा २५ करोड एकड भूमि विद्यमान थी।

जमींदारी प्रथा के प्रभाव

(१) एक नवीन वर्ग का उदय—जमीदारी व्यवस्था ने व्यक्तिगत अधिकारो को मान्यता प्रदान करके एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया, जिसकी कृषि के विकास अथवा प्रचलित समस्याओ के समाधान मे कोई रुचि नही थी, अपितु जिनका एकमात्र ध्येय काश्तकारो से अधिकतम धन मालगुजारी के रूप में वसूल करना था।

(२) मध्यस्थो की सख्या में वृद्धि—जमीदारी व्यवस्था के फलस्वरूप राज्य तथा अन्तिम रूप से भूमि जोतने वाले काश्तकार के बीच मध्यस्थो की सख्या बढती गई। जमीदार स्वय भूमि जोतने मे अपनी प्रतिष्ठा की हानि समझते थे। यहाँ तक कि उनसे जमीन लेने वाले कृषक भी भूमि को आशिक या पूर्णरूप से अन्य कृषको को दे देते थे। इसका प्रभाव रैयतवाडी क्षेत्रो के कृषकों पर भी होने लगा और इन क्षेत्रों मे भी कृषक भूमि को आशिक या पूर्ण रूप से अन्य कृषको को देने लगे।

(३) लगान में वृद्धि—मध्यस्थो के बाहुल्य अथवा जमीदारो की धन-लिप्सा के फलस्वरूप लगान की दरों में वृद्धि होने लगी। उत्तर प्रदेश, मद्रास, बगाल एव बम्बई मे विशेष रूप से उन क्षेत्रो मे जो अधिक उपजाऊ थे, लगान की दरो मे आशातीत वृद्धि हुई। अनेक उप-जमीदारो ने इस शर्त पर भूमि अन्य काश्तकारो को दी कि वे उपज का एक भाग इन्हे देंगे। कही-कही तो उपज का आधे से अधिक भाग मध्यस्थो या जमीदारो के कोष मे चला जाता था।

(४) शोषण में वृद्धि तथा कृषको की निर्धनता—मध्यस्थो के आधिक्य के साथ-साथ भूमि के उपयोग का काश्तकार को अब अधिक मूल्य चुकाना पड़ा। यह एक विडम्बना ही रही है कि भारतीय कृषको का शोषण उस वर्ग ने किया, जो कृषि से सम्बन्धित नहीं। ये जमीदार कृषको से न केवल लगान वसूल करते थे, अपितु नजराना, बेगार या उपहार भी लेते थे। जमीदार का गाँव मे निरकुश शासन था तथा कानून भी उसी का पक्ष लेता था। कृषक साधारणतया जमीदार का विरोध नही कर सकते थे तथा थोडा भी विरोध करने पर कृषक को भूमि से बेदखल कर दिया जाता था तथा उन पर अमानुषिक अत्याचार किए जाते थे।

डा० मुकर्जी के अनुसार एक ओर तो कृषक को आय का बहुत बडा भाग जमीदार लेकर उसे विपन्नता की भट्टी मे जीवन-पर्यन्त जलने को छोड़ देते थे, जबकि दूसरी ओर वे स्वयं कृषि-क्षेत्र से परे हटकर कृषको से प्राप्त आय को मुक्त रूप से विलासिता की मदो के लिए प्रयुक्त करते थे। जमीदार ही नही उनके मुख्तार भी विलासिता पूर्ण जीवन व्यतीत करने में समर्थ थे जबकि कृषक को अथक परिश्रम करने के बावजूद केवल उतनी आय मिलती थी जो जीवन-निर्वाह के लिए काफी थी।[1]

(५) कृषि के विकास में अवरोध—बगाल मे जमीदारी-व्यवस्था का सबसे पहले श्री गणेश हुआ और वही के विषय मे द लैंड रेवेन्यू कमीशन ने जमीदारी व्यवस्था को कृषि के विकास मे सबसे बडी बाधा बताया था। जमीदार कभी कृषि कार्यो मे स्वयं योगदान नही देते तथा रियासत का प्रबन्ध साधारणतया क्रूर-हृदय प्रतिनिधियो के हाथो मे छोड़कर विलासिता मे लिप्त रहते थे। कृषक साधन-हीन होने के कारण कृषि-कार्यों मे कोई भी सुधार करने की स्थिति मे नहीं थे जबकि जमीदार कृषि के विकास के सम्बन्ध मे उदासीन होने के कारण धन का विनियोग करना ही नही चाहते थे।[2] डा० वीरा एन्स्टे के मतानुसार ये जमीदार जोक के समान थे, जिनका कृषि के विकास से कोई प्रयोजन नही था।[3]

(६) राज्य की उदासीनता—स्थायी बन्दोबस्त ने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया था जो स्वय तो अकर्मण्य एव अनुत्पादक था, पर जो राज्य के प्रति विश्वास-पात्र एव स्वामिभक्त था। ब्रिटिश सरकार (या इसके पूर्व कम्पनी सरकार) को बगाल की दीवानी के पश्चात् लगभग सौ वर्ष तक कृषि तथा कृषको की दयनीय स्थिति का ज्ञान नही हो सका और परिणामस्वरूप कृषि के विकास हेतु १८८० के पूर्व राज्य ने कोई महत्त्वपूर्ण प्रयास नही किया। राज्य की उदासीनता का प्रमुख कारण सम्भवत यह रहा था कि स्थायी बन्दोबस्त के कारण राज्य को निश्चित आय प्राप्त होती थी। यहाँ तक कि भयकर अकालो के समय भी राज्य द्वारा कृषकों को कोई सहायता प्रदान नही की जाती थी, क्योंकि अंग्रेज अधिकारियो को जमीदारो से इस समस्या के विषय मे पूरी जानकारी प्राप्त नही होती थी।

(७) भूमि के उप-विभाजन में वृद्धि—जमीदारी व्यवस्था ने भूमि के उपविभाजन की समस्या को बढने मे भी सहायता की। एक ओर भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ रहा था दूसरी ओर जमीदार यह अनुभव करने लगे थे कि कुछ ही कृषको को लम्बे समय के लिए भूमि देने पर उन्हें अधिक लाभ नही हो सकता था जबकि भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े अलग-अलग व्यक्तियो को देन से उन्हे अधिक आय प्राप्त हो सकती थी। फलस्वरूप भूमि छोटे-छोटे टुकडो मे बँटती गई जिन पर अपेक्षाकृत लगान भी बहुत अधिक था। डा० बी० एम० भाटिया द्वारा उद्धृत डब्लू क्विटन के भाषण के अनुसार भारत का एक काश्तकार उस समय तक भी भूमि को जोतने के लिए तत्पर हो जाएगा जब तक कि उसे जीने का लेशमात्र भी सहारा खेती से मिलता है।[1] जमीदार काश्तकारो की इस प्रवृत्ति से परिचित थे और इसीलिए छोटे-छोटे खेतो का उन्होने मनमाना लगान वसूल किया।

(८) समाज में फूट एवं असंतुलन की स्थिति—एक और प्रभाव जमीदारी प्रथा ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर डाला और वह था समाज मे असतुलन की उत्पत्ति। जमीदारो को एक निश्चित क्षेत्र पर सार्वभौमिक अधिकार देकर उन्हे अपनी स्थिति सुधारने का पूरा अवसर दिया गया जबकि कृषको के अधिकारो की रक्षा का समुचित प्रबन्ध न होने से उनकी स्थिति दयनीय होती गई। जमीदारो के प्रति राज्य की नीति सौहार्दपूर्ण थी और कृषको के प्रति उदासीनतापूर्ण। इससे ग्रामीण समाज मे फूट उत्पन्न हुई एव बगाल के कृषि-क्षेत्रो मे असतुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई।

(९) मालगुजारी की वसूली में सुविधा—सर जॉर्ज क्लर्क व अनेक अन्य अंग्रेज अधिकारी भी यह मानते थे कि जमीदारी व्यवस्था के कारण राज्य को बिना किसी असुविधा के प्रतिवर्ष एक

---

1. R K Mukerjee : Land Problem in India pp. 147-48
2 Report of the Land Revenue Commission (Bengal)
3. Vera Anstey The Economic Development of India p. 99

निश्चित राशि मालगुजारी के रूप मे मिल जाती थी तथा कृषको से जमीदार स्वय निपट लेते थे ।[1] लेकिन ये सब तर्क एकपक्षीय हैं एव जमीदारी व्यवस्था के दुष्प्रभावो की तुलना मे मिथ्या प्रतीत होते हैं। इसीलिए स्वतन्त्रता के पूर्व जब भूमि सुधारो का सुनिश्चित कार्यक्रम बनाया गया तो जमीदारी उन्मूलन उनमे सर्वोपरि रखा गया ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् किये गये भूमि-सुधार

जैसा कि स्पष्ट है, आजादी के समय देश के अधिकाश कृषि क्षेत्र मे वास्तविक काश्तकार तथा भूमि के स्वामी के बीच मध्यस्थो की एक बडी सेना विद्यमान थी । इनके कारण जहाँ एक ओर काश्तकार को भूमि की उपज का एक बडा भाग मध्यस्थो को देना पडता था वही दूसरी ओर वह इन पर पूरी तरह आश्रित था । भू-धारण को उसे कोई गारटी नही दी जाती थी और लगान की दरो मे भी निश्चितता का अभाव था ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बहुत समय पूर्व से भूमि-सुधारो के लिए काँग्रेस द्वारा विचार किया जा रहा था । आजादी के बाद 'जानने वाले को भूमि (Land to the Tiller) के नारे को वास्तविकता मे बदलने के लिए भूमि-सुधार किए गए । सब प्रथम उत्तर प्रदेश मे इसके लिए कानून बनाया गया ।

भूमि-सुधारो का स्वरूप—सुविधा के लिए भूमि सुधारो की हम निम्न शीर्षकों के अतर्गत समीक्षा कर सकते है

(i) मध्यस्थो की समाप्ति । (ii) काश्तकारो के लिए स्वामित्व की व्यवस्था (iii) काश्तकारो के लिए भू-धारण की सुरक्षा । (iv) लगान का नियमन । (v) सीमा निर्धारण । (vi) भूदान व ग्रामदान ।

इसी सदर्भ मे हम यह भी देखना चाहेगे कि सहकारी कृषि किस सीमा तक आदर्श भूमि व्यवस्था की स्थापना मे सहायक हो सकती है तथा भारत मे इसकी कितनी प्रगति हुई है ।

(I) मध्यस्थो की समाप्ति

भूमि का वास्तविक स्वामित्व प्रत्येक देश मे राज्य का होता है लेकिन व्यक्ति अथवा सस्था विशेष को इसका स्वत्व दिया जा सकता है । यदि जोतने वाले को यह स्वत्व प्राप्त न हो तो यह भूमि व्यवस्था दोषपूर्ण मानी जाती है । भारत मे जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं जोतने वाले व राज्य के बीच (जमीदारी व्यवस्था मे विशेष रूप से) मध्यस्थो की एक बडी फौज विद्यमान थी । राजस्थान में जागीरदारी तथा देश के अनेक दूसरे भागो मे बिस्वेदारी आदि व्यवस्थाएँ भी प्रचलित थी । इसीलिए स्वतन्त्रता के बाद सबसे पहले विभिन्न राज्यो मे इन मध्यस्थो को समाप्त करने के लिए कानून बनाए गए ।

सरकार का ऐसा अनुमान था कि जमीदारी व्यवस्था की समाप्ति के कानूनो से १७ ५ करोड एकड क्षेत्र से मध्यस्थो को हटाया जा सकेगा । यह भी अनुमान था कि इन मध्यस्थो को हटाने पर ५०० करोड रुपये क्षतिपूर्ति के रूप मे देने होगे । १९६६ (मार्च) तक मध्यप्रदेश, पजाब, आसाम, राजस्थान, गुजरात, मद्रास (तमिलनाड) आध्रप्रदेश महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी-बगाल, उडीसा, बिहार व केरल मे जमीदारी व्यवस्था को समाप्त किया जा चुका था ।

जमीदारो को हटाने के कानून भिन्न भिन्न राज्यो मे भिन्न भिन्न आधार पर बनाये गये । क्षति-पूर्ति की दरें भी समान नही थी । उदाहरण के लिए प्रति एकड मुआवजे की दर मध्यप्रदेश मे, ३ रु० थी जबकि यह बिहार मे ३८ रु० रखी गयी । अधिकाशत मुआवजे की दरें जायदाद की, वास्तविक आय के निश्चित गुणन के बराबर रखी गयी थी ।[2] यह उल्लेखनीय है कि सर्वाधिक

1 R C Dutt Eco History of India

2 कुछ राज्यो मे क्षतिपूर्ति की दरें इस प्रकार थी उत्तर प्रदेश १ से २० गुनी, बिहार व उडीसा ३ से १५ गुनी, पश्चिमी बगाल २ मे २० गुनी, राजस्थान २ से ११ गुनी, मध्यप्रदेश १ से १२ गुनी, आध्र प्रदेश १२½ मे ३० गुनी, हैदराबाद मे १० से ३० गुनी, वस्तुत. क्षतिपूर्ति की दरो मे प्रगतिशीलता रखी गयी तथा बडे जमीदारा को दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की दरें कम थी ।

मुआवजा बिहार में (२४० करोड़ रुपये) दिया गया जबकि उत्तर प्रदेश व पश्चिमी बंगाल में यह राशि क्रमशः १६८ करोड रुपये तथा ७० करोड़ रु० निर्धारित की गयी। राजस्थान में क्षतिपूर्ति की राशि ५० करोड़ रुपये तय की गयी। कुल क्षति-पूर्ति की राशि ६३१ करोड रु० थी, जिसका भुगतान नकद तथा बाडों के रूप में किया जा रहा है। अनुमानतः सम्पूर्ण राशि का भुगतान चतुर्थ योजना के अन्त तक कर दिया जायगा।

जमींदारी उन्मूलन के प्रभाव[1]— जमींदारी-उन्मूलन से भारतीय कृषि व्यवस्था पर निम्न प्रभाव होने की आशा थी।

(१) समूची ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं कृषकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होगा तथा कृषकों में सहकारिता की भावना बढ़ेगी।

(२) राज्य को सारे देश में भूमि का अधिकार मिल जाने से छोटी जोतों की चकबन्दी सरलतापूर्वक की जा सकेगी।

(३) जमींदार के कर्मचारियों को वैकल्पिक रोजगार प्राप्त हो जायेगा, तथा

(४) क्षतिपूर्ति के रूप में दी गयी राशि के साथ ही उपभोग्य वस्तुओं की मात्रा भी बढ़ेगी जिससे मुद्रा-स्फीति नहीं होगी।

सरकार का दावा है कि जमींदारी-उन्मूलन के फलस्वरूप २ करोड़ काश्तकारों का राज्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया है, तथा इनकी जमींदारों के दमन चक्र से मुक्ति हो गई।

(II) काश्तकारों के लिए स्वामित्व की व्यवस्था :

"जोतने वाले को जमीन" (Land to the tiller) के स्वप्न को साकार करने के लिए यह आवश्यक था कि रैयतवाड़ी तथा जमींदारी दोनों क्षेत्रों में कार्य कर रहे काश्तकारों को भूमि का स्वत्व प्राप्त करने का अवसर दिया जाता। विभिन्न राज्यों में इसीलिए ऐसे कानून बनाये गये जिनके अन्तर्गत काश्तकारों को निर्धारित क्षतिपूर्ति के बाद भूमि पर स्वत्वाधिकार प्राप्त करने की छूट थी।

काश्तकारों को यह कहा गया कि वे जमीन के मालिकों को निर्धारित दर से भूमि का मूल्य चुकायें। इनके फलस्वरूप मार्च, १९६६ तक ३० लाख काश्तकारों ने ७० लाख एकड़ भूमि पर स्वामित्व के अधिकार प्राप्त किये। प्रमुख राज्यों में कृषकों द्वारा स्वामित्व प्राप्ति की दिशा में प्रगति इस प्रकार रही थी[2]

राज्य का नाम	काश्तकारों की संख्या हजार में	कृषि क्षेत्र जिस पर अधिकार हुआ (लाख एकड़)
उत्तर प्रदेश	१५००	२०
महाराष्ट्र	६१८	१६·७
गुजरात	४६२	१४·१

सरकार का यह भी विश्वास है कि तीन पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में "जोतने वाले को भूमि" के आदर्श की दिशा में इतनी उल्लेखनीय प्रगति हुई है कि १९६६ (मार्च) तक ७६% व्यक्ति अपनी भूमि पर तथा केवल ८% अन्य लोगों की भूमि पर खेती करने लगे थे। १६% व्यक्ति आंशिक रूप से काश्तकार (owner-cum-tenant cultivators) थे।

काश्तकारों को भूमि का स्वामित्व तीन प्रकार से दिया गया :

(अ) काश्तकार, जो दूसरों की भूमि जोत रहे थे, स्वमेव भूमि के मालिक घोषित कर दिए गए और जैसा कि ऊपर बताया गया है उनसे जमीन के मालिकों को मुआवज़ा देने को कहा गया।

---

1. Alak : Ghosh—Indian Economy—pp 232-33 (1968)
2. Fourth : plan—A Draft outline (Orig nal) p. 126.

मुआवजा न चुका सकने पर सरकार ने इसकी वसूली का दायित्व लिया। यह व्यवस्था गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश व राजस्थान मे लागू की गई।

(आ) सरकार ने स्वयं भूमि के मालिको का मुआवजा दिया तथा काश्तकारो से किश्तो मे भूमि का मूल्य वसूल किया। ऐसी व्यवस्था दिल्ली मे लागू की गई।

(इ) सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से काश्तकारो से सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इन्हे दो विकल्प दिए गए—या तो भूमि का पूरा मूल्य देकर स्वामित्व के अधिकार प्राप्त कर लें, या सरकार को लगान देते रहे। ऐसा केरल व उत्तर प्रदेश मे हुआ।

(III) भू-धारण की सुरक्षा

इससे हमारा तात्पर्य उन सब उपायो से है जिनके माध्यम से देश के विभिन्न भागो मे काश्तकारो के भूमि जोतने के अधिकार को सुरक्षा दी गई है। विशेषतया उन लोगो के लिए यह व्यवस्था की गई है जो दूसरे लोगो की जमीन पूर्ण या आंशिक रूप से जोतते हैं।

भू-धारण की सुरक्षा के अन्तर्गत यह व्यवस्था रखी गई कि यदि काश्तकार ऐच्छिक रूप से भूमि का परित्याग करना चाहे तो उसे इसकी छूट होगी और उस स्थिति मे भूमि का मालिक स्वमेव भूमि को ले सकता है। इसके विपरीत यदि जमीन का मालिक भूमि को लेना चाहे तो उसे ऐसा करने का अधिकार तभी होगा जबकि वह खुदकाश्त के लिए ऐसा करना चाहता हो।

खुदकाश्त मे निम्न विशेषताएँ रखी गई

(अ) निजी श्रम, (आ) उसी गाँव या पडौस के गांव मे रहना, (इ) निजी देखरेख तथा (ई) कृषि व्यवसाय की जोखिम उठाना। परन्तु सभी राज्यो मे ये चारो शर्ते मान्य नही रखी गई है।

अस्तु, भूमि का मालिक केवल खुदकाश्त के लिए ही काश्तकार से जमीन ले सकता है। लेकिन उत्तर प्रदेश, दिल्ली तथा पश्चिमी बगाल के छोटे काश्तकारों से भूमि लेने का अधिकार भू-पति को नही दिए गए। अन्य राज्यो मे इस प्रकार की व्यवस्था रखी गई

(१) भू-पति को काश्तकार के पास न्यूनतम क्षेत्र छोडना होगा। यह शर्त बिहार गुजरात, केरल, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर, उडीसा, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश व मणीपुर मे रखी गई।

(२) पजाब व आसाम मे राज्य ने काश्तकार को अन्यत्र भूमि दिलाने का दायित्व लिया।

(३) आध्रप्रदेश व मद्रास मे सीमा निर्धारण के स्तर तक भूमि का पुनर्ग्रहण करने का अधिकार भू-पति को दिया गया परन्तु काश्तकार को न्यूनतम क्षेत्र देने की कोई व्यवस्था नही रखी गई।

(IV) सीमा निर्धारण :

जोतो के अधिकतम क्षेत्र का निर्धारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दो उद्देश्यो से किया गया प्रथम तो भूमि के अनावश्यक केन्द्रीकरण को रोकने के लिए ताकि भूमि का इष्टतम उपयोग हो सके और द्वितीय, इसलिए कि सीमा-निर्धारण के बाद अतिरिक्त भूमि को खेतिहर मजदूरों के बीच वितरित करके उनकी आर्थिक दशा सुधारी जा सके। इस प्रकार एक ही उपाय द्वारा दोनो उद्देश्यो की पूर्ति का लक्ष्य रखा गया।

सीमा निर्धारण के अन्तर्गत निम्न बाते और उल्लेखनीय है

(१) कुछ राज्यो मे भूमि को स्टैन्डर्ड एकड के रूप मे परिगणित किया गया है। इसके अनुसार क्षेत्र नही अपितु उपज के आधार पर सीमा निर्धारित की गई है। इनमे राजस्थान, पजाब, मद्रास, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश, दिल्ली, त्रिपुरा, मैसूर व उडीसा सम्मिलित है।

(२) सिंचित क्षेत्र की अधिकतम सीमा तथा असिंचित क्षेत्र की अधिकतम सीमा के बीच जिन राज्यो मे अन्तर रखा गया है वे है मनीपुर, आसाम, जम्मू व कश्मीर, केरल एव पश्चिमी बगाल। जैसा कि स्पष्ट है यह अन्तर उन राज्यो मे ही रखा गया है जहाँ स्टैन्डर्ड एकड मान्य नही है।

(३) आंध्र प्रदेश मे पारिवारिक जोत को ४½% गुने तक सीमा निर्धारित की गई है।

(४) कुछ राज्यो मे परिवार के सदस्यों का ध्यान अधिकतम सीमा के अन्तर्गत रखा गया है। सदस्य यदि पाँच से अधिक हो तो इन राज्यों मे सीमा भी उसी हिसाब से बढाई गई है। केवल इन राज्यों मे परिवार के सदस्यों का ध्यान नही रखा गया है आसाम, जम्मू व कश्मीर, गुजरात, पंजाब तथा पश्चिमी बंगाल।

विभिन्न राज्यों मे सीमा निर्धारण के दो पहलू रखे गए है : वर्तमान जोतो पर सीमा निर्धारण, तथा भावी जोतो पर सीमा निर्धारण।

परन्तु **मैसूर, उत्तरप्रदेश तथा आंध्रप्रदेश को छोड़कर वर्तमान तथा भावी सीमाओं में अन्य राज्यों में कोई अन्तर नहीं है।** मैसूर मे भावी जोतो की सीमा १८ से १२६ एकड तथा वर्तमान जोतों की सीमा २७ से २१६ एकड रखी गई है। उत्तर प्रदेश मे ये सीमाएँ क्रमशः १२½ एकड़ (भावी जोत पर) एवं ४० से ८० एकड (वर्तमान जोत पर) रखी गई है। आध्रप्रदेश मे भावी जोत की सीमा १८ से २१६ एकड तथा वर्तमान जोत की सीमा २७ से ३२४ एकड रखी गई है। अन्य राज्यों मे कृषि जोतो की अधिकतम सीमाएँ इस प्रकार रखी गई है :[1]

राज्य का नाम	वर्तमान तथा भावी जोत की सीमाएं
आसाम	५० एकड़
बिहार	२० से ६० एकड
गुजरात	१९ से १३२ एकड
हरियाणा	३० स्टैंडर्ड एकड
जम्मू व काश्मीर	२२ ७५ एकड
केरल	१५ से ३६ एकड
मध्यप्रदेश	२५ से ७५ एकड
तामिलनाड (मद्रास)	२४ से १२० एकड
महाराष्ट्र	१८ से १२६ एकड
उडीसा	२० से ८० एकड
पंजाब	३० स्टैंडर्ड एकड
राजस्थान	२२ से ३३६ एकड़
पश्चिमी बंगाल	२५ एकड
दिल्ली	२४ से ६० एकड
मणीपुर	२५ एकड
त्रिपुरा	२५ से ७५ एकड

अनेक राज्यों मे सीमा-निर्धारण के कानूनो को सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया गया है। जम्मू तथा काश्मीर मे सीमा-निर्धारण का कार्य पूरा हो चुका है तथा ४ ५ लाख एकड भूमि इसके फलस्वरूप राज्य को प्राप्त हुई है। जिन राज्यो मे सीमा मे अधिक पर्याप्त भूमि की घोषणा हुई है वे इस प्रकार है :

(भूमि लाख एकड मे कोष्ठक मे दी गई है)

महाराष्ट्र (२ ४६); पश्चिमी बंगाल (७ ९), उत्तर प्रदेश (२ ३); मध्यप्रदेश (०·७५)

पूरे देश मे सीमा निर्धारण के फलस्वरूप २·५ करोड एकड भूमि अतिरिक्त घोषित की गई है और इसका अधिकाश भाग क्षतिपूर्ति के बाद राज्य द्वारा अधिकृत कर लिया गया है।

सीमा निर्धारण के अपेक्षित प्रभाव—(१) पर्याप्त अतिरिक्त भूमि की प्राप्ति से एक ओर भूमि का केन्द्रीकरण कम होगा और दूसरी ओर भूमि हीन कृषकों को जमीन दी जा सकेगी।

---

1. India 1968 pp. 248-49

(२) गाँवों मे निम्न आर्थिक स्तर के लोगो को भूमि प्राप्त होने से उनमे आत्मविश्वास व चेतना जाग्रत होगी।

(३) बहुत बडी जोतें जो पूर्ण या आशिक रूप से उपयोग मे नही आ रही हैं, सीमा निर्धारण के बाद उपयोग मे लाई जा सकेंगी। इस प्रकार भूमि का इष्टतम उपयोग हो सकेगा।

(४) आर्थिक स्थिति मे सुधार के साथ-साथ ग्रामीण जनता मे सहकारिता की भावना बढ़ेगी।

वास्तविक प्रभाव—३१ मार्च, १९६६ तक २० लाख एकड भूमि सीमा से अधिक घोषित की गई थी तथा उस पर राज्य सरकारो ने उनके स्वामियो को समुचित क्षतिपूर्ति देकर अधिकार कर लिया था। पश्चिमी बगाल मे ७·७६ लाख एकड, जम्मू तथा कश्मीर मे ४·५ लाख एकड व पजाब मे ३ ७ लाख एकड भूमि इस प्रकार प्राप्त हुई। अन्य शब्दों मे भूमि का वितरण अन्य राज्यो की अपेक्षा इन राज्यो मे अधिक था।

(IV) लगान का नियमन[1]

लगान-नियमन के कानून बनने से पूर्व काश्तकार को सामान्यत कुल उपज का आधा भाग लगान के रूप मे (जमीन के मालिक को) देना पडता था। प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे कुल उपज का $\frac{1}{3}$ या $\frac{1}{4}$ भाग लगान के रूप मे स्वीकृत किया गया। महाराष्ट्र में अधिकतम अनुपात $\frac{1}{6}$ रखा गया जबकि आंध्रप्रदेश व मद्रास मे ४० तथा ४५% भाग अधिकतम सीमा के रूप मे रखा गया। महाराष्ट्र के साथ-साथ मैसूर, आसाम, उडीसा, राजस्थान हिमाचल तथा गुजरात मे भी लगान की सीमा उपज के $\frac{1}{6}$ भाग के रूप मे रखी गई है।

परन्तु आंध्र, मद्रास, पजाब व पश्चिमी बगाल मे लगान की दरें काफी ऊँची रखी गई हैं। इन राज्यों में ३५ से ४०% तक उपज लगान के रूप मे ली जा सकती है। लगान की दरो मे भिन्नता होने पर भी लगान नियमन का यह लाभ हुआ है कि काश्तकार को अब पूर्वापेक्षा कम उपज जमीन के मालिक को देनी पडती है। यही नही, लगान की निश्चितता भी इसका एक बडा लाभ हुआ है।

(६) भूदान व ग्रामदान[2]

यदि जमीदारी उन्मूलन तथा सीमा निर्धारण द्वारा भारत मे वैधानिक रूप से भूमि-सुधार किया गया है तो इसी के समानान्तर रूप मे भूपतियो द्वारा स्वेच्छा से भूमि की भेंट देने का भी भारत मे बेजोड उदाहरण मिलता है। आचार्य विनोबा भावे ने १९५१ मे भूदान आन्दोलन का प्रारम्भ कर सभी भू-पतियो से यह अपील की कि वे स्वेच्छा से जोत का एक भाग भूमि हीन कृषकों के लिए दें। विनोबाजी ने भूपतियों से अपनी जोत का $\frac{1}{6}$ भाग दान मे देने की अपील की है।

विनोबाजी के भूदान आन्दोलन के कुछ समय बाद ही ग्रामदान आन्दोलन भी प्रारम्भ हुआ। इसके अन्तर्गत यदि किसी गाँव के सभी लोग सहमत हो तो गाँव की अर्थ व्यवस्था के प्रबन्ध हेतु सरकारी अधिकारियो की नियुक्ति नही होगी। इसकी अपेक्षा गाँव के लोग मिलकर ही इसकी व्यवस्था कर सकते है।

मार्च, १९६७ तक भूदान मे ४२ ७ लाख एकड भूमि प्राप्त हो चुकी थी जिसमे १२ लाख एकड क्षत्र का भूमिहीनो मे वितरण किया जा चुका था। ग्रामदान आन्दोलन मे अगस्त, १९६७ तक ३९,६७२ गाँव शामिल हो चुके थे। अनेक राज्यो मे भूमि के प्रबन्ध एव हस्तान्तरण को सुविधाजनक बनाने हेतु ग्रामदान एव भूदान से सम्बद्ध कानून बनाए जा चुके है।

---

1. लगान से इस स्थान पर हमारा तात्पर्य उस राशि से है जो काश्तकार भूमि के मालिक को देता है। यदि यह भुगतान सीधा राज्य के कोष मे जमा किया जाय तो इसे भू-राजस्व कहा जाएगा।

2 India 1968 p 251

भारत में भूमि सुधारों को आलोचनात्मक समीक्षा

इसमे तो कोई सन्देह नहीं कि भूमि सुधारो के पीछे राज्य का उद्देश्य काश्तकारी को अधिकतम लाभ पहुँचाता रहा है। परन्तु व्यवहार में ये कानून सफल नही हो सके है। डा० राज ने सत्य ही लिखा है कि भूमि सुधारों की सीमित सफलता ही भारतीय कृषि-अर्थव्यवस्था की धीमी प्रगति के लिए उत्तरदायी रही है।[1] उन्होंने भावी योजनाओं मे कृषि के विकास हेतु भूमि सुधारों के व्यवहारिक कार्यान्विन को एक आवश्यक शर्त माना है।

यदि हम विभिन्न भूमि-सुधारो की समीक्षा करें तो यह तर्क सिद्ध हो जाता है कि भूमि सुधार केवल कागजों तक सीमित रह गए है और इनसे अपेक्षित लाभ कृषक को नही मिल सके है।

(१) **मध्यस्थों की समाप्ति**—सर्वप्रथम मध्यस्थों की समाप्ति को ही लिया जाय। जमींदारो को वैधानिक रूप से देश के लगभग सभी राज्यों में समाप्त कर दिया गया है। लेकिन क्या काश्तकारों की स्थिति में परिवर्तन हुआ है? जमीदारी व्यवस्था को समाप्त करना तथा काश्तकार को भूमि का स्वामित्व देना एक ही चित्र के दो पहलू हैं। परन्तु काश्तकार के पास इतनी पूँजी नही थी कि वह जमींदारों से ली गई भूमि को सरकार से ले पाता। **कोटोवस्की** ने सत्य ही लिखा है कि उत्तर प्रदेश तथा देश के अन्य राज्यों मे जमीदारी उन्मूलन से काश्तकार को कोई लाभ नही हो सका। जमीदारो को दिया गया मुआवजा भी किसी-किसी राज्य मे बहुत ही अधिक है। यही नहीं, कही तो मुआवजा जमीदार के भू-राजस्व का एक गुणन है और कही एक निश्चित राशि के रूप मे।[2]

मध्यस्थो, विशेषकर जमींदारो की समाप्ति के कानून बनने तथा उन्हे औपचारिक रूप से लागू करने के बीच बहुत लम्बी ढील दी गई। राजस्थान व बिहार मे भू-स्वामियो को हटाने की प्रक्रिया मे ८ वर्ष का समय लगा। इसका कारण **डा० के० एन० राज व डा० ज्ञानचन्द** ने बताया है "भूतपूर्व" जमींदारो का प्रभाव। वे लिखते हैं, "सामन्तवाद आज भी मृत नही हुआ है,''''आज भी तीन चौथाई काश्तकार भय एवं त्रास के वातावरण मे रह रहे है।" संक्षेप में, मध्यस्थो की समाप्ति अपने आप मे भूमि-व्यवस्था के विद्यमान दोषो का समाधान नही है—इसके साथ ही जो व्यवस्था की जानी चाहिए थी वह विभिन्न राज्यो मे नही की गई।

(२) **काश्तकारों को स्वामित्व**—**काश्तकारों को स्वामित्व दिलाने की बात भी दिवा-स्वप्न बनकर** रह गई है। यदि २ करोड़ कृषक जमीदारी क्षेत्र में थे और अनुमानतः इससे आधे कृषक परिवार रैयतवाडी क्षेत्र मे दूसरा की भूमि जोत रहे थे, तो फिर केवल ३०'लाख काश्तकार ही क्यो १५ वर्षो मे भूमि का स्वामित्व प्राप्त कर सके?

कुछ राज्य सरकारो ने जमीन के मालिको को काश्तकार से भूमि लेने (काश्तकारी पुन-र्ग्रहण) का जो अधिकार दिया, वह एक भूल सिद्ध हुई है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, कई राज्यो मे तो काश्तकार को अन्यत्र भूमि देने की भी कोई व्यवस्था नही रखी गई है। राजस्थान के विषय मे भू-राजस्व आयोग ने एक न्यादर्श सर्वेक्षण के बाद बताया कि खातेदारी (स्वामित्व या स्वत्व) प्राप्ति के लिए काश्तकारों से आवेदन प्रस्तुत करने को कहा गया था उनमें से (१९६५ के अन्त तक) केवल १७·५% ने आवेदन प्रस्तुत किया। २७% काश्तकारो ने जमीन के मालिको के दबाव मे आकर अर्जियाँ पेश नही की, २०·५% के पास पूँजी नही थी तथा शेष को इस व्यवस्था का ज्ञान ही नही था।

वोल्फ लेडजिस्की ने १९६४ मे योजना आयोग को प्रस्तुत एक रिपोर्ट मे भी इसी बात की चर्चा की है। अनेक काश्तकारो को यह नही बताया गया कि उन्हे स्वामित्व प्राप्त करने की छूट भी दी गई है (जिन्हे पता है उनमें अधिकाश के पास पूँजी नही है)। लेडजिस्की ने आरोप लगाया है कि राज्य कर्मचारियों को उदासीनता के कारण ही (मुख्यत) जोतने वाले को जमीन नही

---

1. K. N. Raj: Paper read at the Second Rajasthan Economic Conference (Jaipur) October, 1968.
2. G. Kotovsky: op. cit. pp 45 & 58

मिल सकी है। कोटोवस्की ने भी बताया है कि उत्तर प्रदेश म हजारो काश्तकार भूमि के स्वामित्व हेतु इसीलिए आवेदन प्रस्तुत नही कर सके कि उनके पास जमीन की कीमत चुकाने को पूँजी नही थी।

(३) भू-धारण की सुरक्षा—भू धारण की सुरक्षा के लिए लैड्जिस्की ने स्पष्ट कहा है कि "सज्जन काश्तकार" (Gentlemen Farmers) बहुधा कानून की अवहेलना करते है और यही कारण है कि काश्तकारो के अधिकार आज भी सुरक्षित नही हे। चौथी पचवर्षीय योजना के मूल प्रसविदे में इस बात को स्वीकार किया गया था कि अनेक काश्तकारो के रिकार्ड ही उपलब्ध नही है। फिर ऐच्छिक परित्याग के बहाने से बडे कृषको ने छोटे छोटे काश्तकारो से जमीनें लेली हैं।

खुदकाश्त की परिभाषा को भी जमीन के मालिको ने इच्छानुसार तोड-मरोड दिया है। उन्होने अच्छी तथा उपजाऊ भूमि को स्वय रखकर बजर भूमि काश्तकारों को दी है। यही कारण है कि जमीन मिल जाने पर भी काश्तकार की आर्थिक दशा पूर्ववत् रही है। डा० के० एन० राज ने बताया कि भूमि की माँग इतनी अधिक व पूर्ति इतनी कम है कि असहाय कृषक भूमि के मालिक से दबा रहता है और अपने अधिकारो की प्राप्ति का दावा नही कर सकता।[1]

बहुधा यह भी देखा गया है कि कानून के डर से जमीन का मालिक काश्तकार को ज्यादा से ज्यादा एक या दो वर्ष के लिए भूमि जोतने का अधिकार देता है। इसके फलस्वरूप वे काम करने से भी बच जाते है और कानून के मुताबिक जमीन के मालिक भी बने रहते है। ऐसी स्थिति में काश्तकार को भू-धारण की सुरक्षा नही मिल पाती।

(४) सीमा निर्धारण—सीमा निर्धारण के कानूनो की भी प्राय अवहेलना की गई है। सीमा निर्धारण के अन्तर्गत भी बजर व कम उपजाऊ भूमि राज्य को मिल सकी है। यह भी देखा गया है कि एक ही परिवार के लोग सीमा निर्धारण के कानूनो से बचने के लिए अपने परिवार को प्रगट मे अनेक इकाइयो मे बाट देते है और फलस्वरूप कानून का सरलतापूर्वक उल्लघन कर सकते हैं। वर्तमान तथा भावी जोतो पर सीमा-निर्धारण पृथक् रूप मे स्वीकार किया जाना तथा अनेक राज्यो मे वर्तमान जोतो की सीमा निर्धारण करके अतिरिक्त भूमि को भू पति से लेने मे हुआ विलम्ब आदि सरकार की इस दिशा मे हुई असफलता के ही द्योतक है।

(५) लगान का नियमन—लगान नियमन के कानूनो का भी भूमि के स्वामियो ने बिना कठिनाई के उल्लघन किया है। जनसख्या का बढता हुआ भार कृषक को किसी भी लगान पर जमीन लेने को विवश करता है। वस्तुत लगान के विषय मे काश्तकार व जमीन के मालिक के बीच एक अनौपचारिक समझौता हो जाता है। काश्तकार जमीन जोतता है और कुल उपज का इस समझौते के अनुसार एक बडा भाग जमीन के मालिक को दे देता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसे कभी-कभी बेदखल किया जा सकता है। डा० राज ने सत्य ही बताया है कि आज भी कुल कृषि क्षेत्र का बडा भाग काश्तकारी प्रथा के अन्तर्गत है तथा इस पर वैधानिक दरो से बहुत अधिक लगान लिया जाता है। डा० राज इसे अनौपचारिक तथा दमनकारी बटाई व्यवस्था की सज्ञा देते हैं।[2]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भूमि सुधारो के सम्बन्ध मे हमे व्यावहारिक सफलता नही मिल सकी है। यह भी बताया जाता है कि भूमि सुधारो के साथ ही सिंचाई के साधनो, बीज खाद उपकरणो व साख की उपलब्धि मे कोई सुधार नही हो सका है।[3] डेनियल तथा एलिस थानर ने लिखा है कि अधिकाश राज्यो मे कानून बनाकर ही सुधार करने तथा कृषि व्यवस्था के सुधारने का प्रयास किया गया है, परन्तु जो सक्रियता इनको कार्यान्वित करने मे दर्शायी जाती थी उसका भारत मे अभाव रहा है।[4]

---

1 K N Raj Indian Economic Growth (1965) p 11
2 Ibid
3 K William Kapp Hindu Culture, Economic Development & Economic Planning India p 131
4 Daniel & Alice Thorner Land & Labour in India pp 4-7

संक्षेप मे भूमि सुधारो की अपेक्षाकृत प्रभावहीनता के कारण ये हो सकते है :

(१) जमीदारो व बड़े कृषको का ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं समाज पर प्रभाव, जिसके कारण वे कानून की सरलता से अवहेलना कर सकते हैं,

(२) सामान्य कृषक वर्ग की अशिक्षा तथा उन्हे दिए गए अधिकारो के प्रति अनभिज्ञता,

(३) काश्तकारो की निर्धनता एवं साधनहीनता जिसके कारण कानून द्वारा दी गई सुविधाओं व अधिकारों का उपयोग करने मे वे असमर्थ है।

(४) जनसंख्या का बढता हुआ भार जिसके कारण जमीन का मालिक हमेशा भूमिहीनो का शोषण करता रहा है।

(५) राज्य कर्मचारियो की अकर्मण्यता अथवा भूपतियो एवं जमीदारो के साथ उनके ऐसे सम्बन्ध जिनके कारण वे कानून का पालन नही करना चाहते।

परन्तु फिर भी निराशा की कोई बात नही है। कृषको मे चेतना का सचार हुआ है। पश्चिमी बगाल, बिहार, आध्र प्रदेश व केरल मे नक्सलवादियों द्वारा भूपतियों के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान भले ही हमें रुचिकर प्रतीत न हो, पर इस बात का प्रतीक अवश्य है कि भूमिहीन तथा छोटे काश्तकार अब अपने अधिकारो के प्रति जागरूक होने लगे है। इसके पूर्व कि राजनैतिक स्तर पर कृषक या निहित स्वार्थी तत्व इस स्थिति को आगे बढ़ाएँ, सरकार को चाहिए कि तुरन्त काश्तकार को सारी जरूरी सुविधाएँ प्रदान करे ताकि कृषि का विकास तो हो ही, प्रतिक्रियावादी तत्वो का पोषण भी नही होने पाए और ऐसा भूमि सुधारो को पूरी निष्ठा के साथ लागू करने पर ही हो सकता है।

राजस्थान में भूमि सुधार[1]

वर्तमान राजस्थान राजपूताना की १९ रियासतो, अजमेर-मेवाडा एव मध्यभारत के थोड़े से क्षेत्र का मिश्रित स्वरूप है। राजस्थान का औपचारिक गठन १९४९ मे हुआ। उस समय राज्य के ८३६ लाख एकड कृषि क्षेत्र मे से ६०% जागीरदारी व्यवस्था के अन्तर्गत तथा २०% क्षेत्र जमीदारी व्यवस्था के अन्तर्गत था। राज्य के शेष भाग मे रैयतवाडी व्यवस्था विद्यमान थी।

स्वतन्त्रता और विशेष रूप से राज्य के पुनर्गठन के बाद अन्य राज्यो की भाँति राजस्थान मे भी भूमि सुधारो की दिशा मे कानून बनाए गए। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि १९४९ से पूर्व देशी रियासतों को मत्स्य सघ तथा वृहत् राजस्थान के रूप में गठित किया गया था और इन दोनो ही राज्यो मे काश्तकारो के अधिकारो की रक्षार्थ (१९४९ के पूर्व भी) कानून बनाए गए थे। १९४६ में पुनर्गठन के बाद राजस्थान (काश्तकारों की सुरक्षा) कानून बनाकर काश्तकारो को भू-धारण की पूर्ण सुरक्षा दी गई। इसके पश्चात् बनाए गए अधिनियमो की संक्षिप्त रूपरेखा नीचे दी जाती है।

(१) लगान नियमन—राजस्थान के विभिन्न भागो में (रैयतवाडी क्षेत्र) काश्तकारो द्वारा भू-पति को दिए जाने वाले लगान की सीमा निश्चित करने हेतु १९५१ मे राजस्थान उपज लगान अधिनियम पारित किया गया। इसमे लगान की अधिकतम सीमा उपज का $\frac{1}{6}$ भाग के रूप में रखी गई। १९५२ मे जमीदारी क्षेत्रों के लिए इसी प्रकार का अधिनियम बनाया गया। अन्ततः १९५४ मे राजस्थान लगान नियमन कानून बनाया गया जिसके अनुसार भू-राजस्व की दो गुनी राशि लगान की सीमा निश्चित् कर दी गई।

(२) भूमि-सुधार एव जागीर पुनर्ग्रहण कानून (१९५२)—इस अधिनियम के अन्तर्गत जागीरों को समाप्त कर दिया गया तथा इन क्षेत्रो मे कार्यरत कृषको को राहत दी गई। जागीरदारों द्वारा वैधानिक आपत्ति उठाए जाने के कारण इसे काफी समय तक लागू नही किया जा

1. See the Pamphlet Land Reforms in Rajasthan, and the Reports of the Rajasthan Revenue Laws Commission

सका। १९५४ मे नेहरू अवार्ड के बाद ही इसे कार्यान्वित किया जा सका। इस कानून मे निम्न विशेषताएँ थी :—

(१) जागीर क्षेत्रो मे लगान का निर्धारण राज्य सरकार द्वारा किया जाएगा।

(२) जागीरदार को खुदकाश्त के लिए भूमि रखने की छूट होगी।

(३) जागीर-पुनर्ग्रहण के साथ ही जागीरदारो को मुआवजा दिया जाएगा। मुआवजे की राशि जागीरदार द्वारा एकत्रित भू राजस्व की ७ गुनी रखी गई तथा इसका भुगतान १५ वार्षिक किश्तो मे करने का निर्णय लिया गया। ३१ मार्च, १९६७ को तक उक्त प्रावधान के अन्तर्गत लगभग ६ करोड रुपए का भुगतान किया गया। इस समय तक लगभग २ ८२ जागीरो का राज्य सरकार द्वारा पुनर्ग्रहण किया गया।

(३) **जमींदारी उन्मूलन** जमीदारी व्यवस्था अलवर, भरतपुर, कोटा तथा श्रीगंगानगर क्षेत्रो मे अधिक प्रचलित थी। इसकी समाप्ति हेतु १९५४ मे कानून बनाया गया। इसे १९५९ मे लागू किया गया। जमीदारो के मुआवजे का निर्धारण जागीरदारो के अनुरूप ही किया गया। अत्यन्त छोटे जमीदारो के पुनर्वास हेतु राज्य सरकार ने पृथक् से अनुदान दिए।

(४) **राजस्थान काश्तकारी कानून (१९५५)**— यह एक बडा कानून है जिसमे काश्तकारी से सम्बद्ध समस्त वैधानिक प्रावधान रखे गए है। इस कानून मे आसामियों को चार श्रेणियो मे बाँटा गया :—

(अ) **खातेदार**—इस श्रेणी मे उन सभी आसामियो को रखा गया जो १९५५ मे भूमि जोत रहे थे। इन लोगों को तुरन्त खातेदारी (स्वत्व) के अधिकार दे दिए गए।

(आ) **मालिक-काश्तकार**—रैयतवाडी व्यवस्था जिन क्षेत्रो मे पहले से मौजूद थी वहाँ फसलो की साझेदारी (बटाई) को मान्यता दी गई।

(इ) **खुदकाश्त-आसामी**— खुदकाश्त आसामियो को भूमि बटाई पर जोतने का अधिकार नही दिया गया।

(ई) **गैर खातेदार आसामी**—इनका भूमि पर कोई स्वत्व स्वीकार नही किया गया। लेकिन इन आसामियो को भू-धारण की सुरक्षा १९१९ के पूर्व उद्धृत अधिनियम के अन्तर्गत प्रदान की गई।

काश्तकारी कानून के अन्तर्गत काश्तकारो और भू-पतियों के मध्य हुए विवादों के लिए न्यायिक व्यवस्था भी की गई है। इस कानून मे अब तक अनेक सशोधन किए गए हैं। १९६३ तक इसके अन्तर्गत १ ३७,८३१ काश्तकारो को लगभग ८ लाख एकड भूमि पर खातेदारी अधिकार दिए गए।

(५) **सीमा-निर्धारण**—राजस्थान मे जोतो की सीमा निर्धारण हेतु १९५९ मे कानून बनाया गया था।

इसके अनुसार पाँच व्यक्तियो तक के एक परिवार को ३० स्टैंडर्ड एकड भूमि (अधिक से अधिक रखने की अनुमति दी गयी। स्टैंडर्ड एकड का आशय एक ऐसे क्षेत्र से लिया गया जिसमें १० मन गेहूँ या इसके मूल्य के समान अन्य दूसरी उपज होती हो। सीमा से अतिरिक्त भूमि पर मुआवजा देकर राज्य अधिकार कर सकता है। मुआवजे को प्रथम २४ एकड पर भू-राजस्व का ३० गुना, २५ एकड पर २५ गुना तथा शेष पर २० गुना रखा गया है।

सीमा निर्धारण के कार्य को चार चरणो मे बाँटा गया। प्रथम चरण में १५० एकड या इससे अधिक की जोतों पर यह अधिनियम लागू करने का प्रावधान था। द्वितीय व तृतीय चरणो मे क्रमशः ७५-१४० एकड एव ५०-७४ एकड की जोतों पर सीमा-निर्धारण करना था जबकि अन्तिम चरण मे ३० एकड से ४९ एकड तक की जोतो का सीमा-निर्धारण किया जाना था।

अनेक कठिनाइयों (प्रशासनिक व राजनैतिक) के पश्चात् १९६४ में कार्यक्रम के प्रथम चरण को संपादित करने की दृष्टि से परिपत्र जारी किए गए। परन्तु राजस्थान के उच्च न्यायालय के आदेशों द्वारा इस परिपत्र मे वर्णित आदेशो का पालन संभव नही हो सका। अंततः फरवरी १९६५ के एक अध्यादेश द्वारा यह घोषित किया गया कि ३० एकड से अधिक की सारी जोतो पर १ नवम्बर के पश्चात राज्य अधिकार करने को स्वतन्त्र होगा। अन्य शब्दो मे सीमा निर्धारण का अधिनियम १ अप्रैल, १९६५ से लागू किया गया तथा कृषको को यह कहा गया है कि वे सीमा से अधिक भूमि के विषय मे ६ माह के भीतर उप जिला अधिकारी को सूचना दे दें। अन्तिम सूचना के अनुसार राजस्थान मे वर्तमान तथा भावी दोनो जोतो की अधिकतम सीमा २२ से ३३६ एकड रखी गई है।[1]

भूमि-सुधारों की आलोचनात्मक समीक्षा—उपरोक्त विवरण से यह आभास हो सकता है कि राजस्थान मे भूमि-सुधारो की दिशा मे बहुत अधिक प्रगति हो रही है। लेकिन वास्तविक स्थिति उतनी सन्तोषप्रद नही है। हाल ही मे योजना आयोग की शोध कार्यक्रम समिति ने भूमि-सुधारो के विषय में जो रिपोर्ट प्रस्तुत की है उसमे यह सिद्ध हो गया है कि राज्य मे अब तक पारित किए गए भूमि-सुधार अधिनियम अपेक्षित रूप में सफल नही हो सके है। इस समिति की अध्यक्षता डॉ० दुलसिंह ने की थी। उक्त समिति ने स्पष्टतः बताया है कि **राजस्थान में भूमिकर तथा भू-राजस्व का ढांचा वैज्ञानिक नहीं है तथा भूमि-कानून जटिल तथा भ्रामक हैं।** समिति ने बताया कि कृषकों की सुविधा के लिए काश्तकारी कानून हिन्दी में प्रकाशित होने जरूरी हैं। समिति ने अपनी सर्वेक्षण रिपोर्ट मे भूमि कानूनो को सरल बनाने, राजस्व कर्मचारियों को प्रशिक्षण एवं समुचित पुरस्कार देने तथा भू-राजस्व की दरो में संशोधन करने की सिफारिश की है। रिपोर्ट मे राजस्व कर्मचारियो के पुरस्कार, पदोन्नति और सजा आदि के विषय मे एक प्रगतिशील नीति अपनाने को भी कहा गया है।

इसी प्रकार भूमि-व्यवस्था को न्यायशील एवं राज्य के आर्थिक विकास में सहायक बनाने के लिए राजस्थान भू-राजस्व आयोग ने १९६५ मे महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए हैं। आयोग की यह मान्यता है कि पटवारियो व नायब तहसीलदारो के पदो को समाप्त करके इन कर्मचारियो की सेवाऐं कृषि-विभाग द्वारा ली जायें। प्रशासनिक कार्यो के लिए भू-प्रबन्ध एवं विकास मण्डल की स्थापना का सुझाव दिया गया है। आयोग की सबसे महत्त्वपूर्ण सिफारिश यह है कि—**यदि कोई कृषक भूमि का उपयोग ठीक ढंग से करने में असमर्थ है, अथवा राष्ट्रीय हित में किसी फसल का उत्पादन करना आवश्यक तो है, पर यदि कृषक ऐसा नहीं चाहता, तो सरकार भू-प्रबन्ध एवं विकास मण्डल के माध्यम से उसका प्रबन्ध स्वयं करे।**

आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि भूमि सम्बन्धी रिकार्ड अपटूडेट होने चाहिए। रिकार्ड मे सुधार करना पंचायतों के वश की बात नही है, अतएव आयोग ने यह कार्य तहसीलदार द्वारा किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया है। आयोग ने इस बात के लिए भी बल दिया है कि राजस्व तथा कृषि विभाग मे तालमेल हो। भू-राजस्व आयोग के मतानुसार सारे राज्य मे लगान की दरें पुनः निश्चित की जाएँ तथा उप-विभाजन को रोकने के लिए आय के आधार पर निम्नतम स्टैण्डर्ड क्षेत्र निर्धारित किये जायें। चकबन्दी के विषय में आयोग ने जबर्दस्ती न करने की सिफारिश की है आयोग की एक महत्त्वपूर्ण सिफारिश यह भी है कि **अनेक भूमि-विधेयकों के स्थान पर एक ही परन्तु प्रभावशाली भूमि-विधेयक होना चाहिए।** कृषक को उसके श्रम का पूरा लाभ मिले यह भी जरूरी है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अब तक पारित किए गए भूमि सुधार अधिनियम राज्य मे न्यायशील भू-व्यवस्था कायम करने मे असमर्थ रहे हैं। लेकिन यह प्रसन्नता की बात है कि राज्य सरकार अब भूमि-व्यवस्था मे सुधार हेतु गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगी है।

---

1. India 1968 p 249.

भारत मे भूमि-व्यवस्था पर अमीरीकी दल की रिपोर्ट अगस्त, १९६४[1]

कुछ समय पूर्व वोल्फ लैंच लेडजिन्स्की के नेतृत्व मे एक अमरीकी दल ने भारत की भूमि-व्यवस्था, विशेष रूप से पैंकेज प्रोग्राम से सम्बन्धित व्यवस्था का विस्तार से अध्ययन किया था। इस दल ने चार प्रतिनिधि जिला की समूची व्यवस्था का गहन अध्ययन करने के पश्चात् अगस्त, १९६४ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इन प्रतिनिधि जिलो के नाम इस प्रकार है : (१) अलीगढ (उत्तर प्रदेश), (२) लुधियाना (पजाब), शाहबाद (बिहार), (४) तजौर (मद्रास) एव पश्चिमी गोदावरी (आध्र प्रदेश)। इन जिलो मे पैकेज कार्यक्रम काफी सफल माना जाता रहा है।

उक्त अध्ययन दल ने भारत की भूमि-व्यवस्था का एक अत्यन्त निराशाजनक चित्रण प्रस्तुत किया है। दल के मतानुसार भारत मे भूमि-सुधार के अधिनियम अत्यन्त दोषपूर्ण हैं, तथा राज्य, जिला, विकास खण्ड और गाव आदि सभी स्तरो पर राज्य कर्मचारियो का दृष्टिकोण अत्यन्त उपेक्षापूर्ण है। फलस्वरूप जिन जिलो मे पैकेज कार्यक्रम चल रहे है, वहा भूमि-व्यवस्था अत्यन्त निराशाजनक बन गई है।

दल के मुख्य निष्कर्ष – (१) अमरीकी अध्ययन दल ने बताया है कि तजौर, पश्चिमी गोदावरी तथा शाहबाद जिलो मे रैयत (tenants) अथवा **काश्तकारो के विषय में अत्यन्त अपर्याप्त सूचना उपलब्ध है।** बहुत से कृषको का जमीन पर कोई स्वत्व नही है तथा प्रतिवर्ष ऊँची लगान की दर पर वे भू-स्वामियो से जमीन जोतने के लिए लेते है। यही नही, दल ने यह पाया है कि इन काश्तकारो की वास्तविक स्थिति क्या है, यह वे स्वय भी नही जानते और भूस्वामी की दया पर वे किसी प्रकार गुजारा भर कर रहे है ।

(२) ग्राम्य-स्तर पर राज्य कर्मचारी काश्तकारो अथवा जो व्यक्ति जमीन राज्य से लेकर स्वय जोतते हैं, किसी के सम्बन्ध मे भी उत्पादन की योजनाएं नहीं बनाते और इस प्रकार गाँवो मे किसी वर्ष कितनी फसल उगाने का निश्चय किया गया है इस सम्बन्ध मे कोई लक्ष्य निर्धारित नही किये जाते।

(३) जमीन्दार या भूस्वामी कृषक को मौखिक सम्मति द्वारा ही जमीन जोतने के लिए देते है और फलस्वरूप सहकारी समितियाँ काश्तकारो को ऋण नहीं दे पातीं। दल ने कहा कि **काश्तकार की साधन-हीनता तथा सहकारी समितियों की असमर्थता के कारण यह असम्भव है कि पैकेज कार्यक्रम हर खेत तक पहुँच सके।**

(४) भूमि-सुधारो के कानून भी प्रभावशाली नही है। अध्ययन दल ने बताया है कि मद्रास तथा आध्र प्रदेश मे वर्तमान भूमि-सुधार अधिनियम मात्र एक अस्थायी उपचार की व्यवस्था करता है जबकि बिहार मे १८८५ से चल रहे कानून मे जो सशोधन हुए हैं वे अपर्याप्त हैं। पजाब मे भूमि सुधार के कानून दोषपूर्ण है तथा उनमे आमूल परिवर्तन किए जाने चाहिए।

(५) स्वत्वहीन काश्तकारो तथा खेतिहर मजदूरो की सख्या दक्षिण भारत मे तेजी से बढ रही है। दल ने बताया कि **तजौर में देश की निकृष्टतम-भूमि-व्यवस्था है,** जहाँ भू-धारण की कोई सुरक्षा नही है और स्वत्वहीन काश्तकारो तथा कृषि-मजदूरो की एक बडी सेना तैयार हो रही है।

(६) छोटे और बडे भू-स्वामी **'सज्जन काश्तकार'** (Gentlemen Farmers) **हैं तथा जमीन दूसरे लोगों से जुतवाकर उपज का ६० से ६५% तक हडप लेते हैं,** जबकि कानून (१९५६ के लगान अधिनियम) के मुताबिक वे ४०% से अधिक नहीं ले सकते। पश्चिमी गोदावरी मे भी उपज का दो-तिहाई भू-स्वामी ले लिया करते हैं, जबकि कानून के मुताबिक वे ६०% से अधिक नही ले सकते।

इस प्रकार दल ने भारत के भूमि-सुधारो से सम्बन्धित राज्य सरकारो की नीति की धज्जियाँ उडा दी हैं, और निष्कर्ष दिया है कि यदि भू धारण को पैकेज कार्यक्रम का आधार बनाया

---

1. Times of India The 24th August, 1964

जाए तो पश्चिमी गोदावरी तथा तंजौर से चल रहे वर्तमान कार्यक्रम को तुरन्त बन्द कर दिया जाना चाहिए। दल का कथन है कि अधिकतम लगान के कानून दोषपूर्ण है, तथा जैसा कि ऊपर बताया गया है, इनका पालन कठोरता से नही हो रहा है।

(७) दल ने यह भी पाया है कि भू-धारण की कोई सुरक्षा अलीगढ़ को छोड़कर उपरोक्त जिलो मे कही नही है। जमीदार मौखिक रूप से सारा कार्य करते हैं इसलिए उनकी स्थिति सुरक्षित है। दल के मत मे भूमि-सीमा-निर्धारण के अधिनियम 'कागजी कार्रवाई' के अलावा कुछ नही हैं। शाहबाद में जमींदारी-उन्मूलन केवल राजपत्रों तक ही सीमित हैं तथा अब भी एक-तिहाई से अधिक काश्तकारो का भूमि पर कोई स्वत्वाधिकार नही है। कानून द्वारा दी गई भू-धारण की सुरक्षा भ्रामक, अवास्तविक तथा प्रभावहीन है।

(८) राज्य कर्मचारियों की उदासीनता भी दल के कथनानुसार अत्यन्त खेदपूर्ण है। वे समझते हैं कि कानून का पालन करवाना उनका काम नही है। यहाँ तक कि वरिष्ठ राजकर्मचारी भी उपरोक्त समस्याओं से अनभिज्ञ बने रहने का प्रयास करते हैं तथा यथा-सम्भव अपने उत्तरदायित्व से विमुख रहते है।

(९) पजाब मे भूमि-सुधारो के सम्बन्ध मे दक्षिण भारत के जिलो की अपेक्षा किसी सीमा तक स्थिति ठीक है। स्वत्वहीन काश्तकारो को वर्तमान क्षेत्रो से बेदखल करके उन्हे अतिरिक्त भूमि पर बसाने की जो व्यवस्था १९५३ के भू-धारण अधिनियम मे दी गई है, उसके अनुसार लगभग ५ लाख कृषको को एक क्षेत्र मे बसाया जाएगा। दल उक्त व्यवस्था को हास्यास्पद मानता है।

दल द्वारा प्रस्तुत सुझाव —

(१) आँकड़ों का सकलन—दल का सबसे पहला सुझाव यह है कि काश्तकारी से सम्बन्धित आधारभूत आँकड़े तैयार किये जायँ ताकि भू-धारण की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो सके। प्रत्येक गाँव या छोटे-छोटे गावो को मिलाकर एक समिति का गठन किया जाए जिसमें दो काश्तकार (पूर्णतया स्वत्वहीन), एक अर्ध भू-स्वामी तथा अर्ध काश्तकार (जिसके पास थोडी भूमि स्वयं की तथा थोडी दूसरे व्यक्ति की हो), तथा एक भू-स्वामी (जमीदार) सदस्यो के रूप में हों। इन सूचनाओं के तैयार होते ही हरेक काश्तकार को एक प्रमाण-पत्र इस आशय से दिया जाए कि उसके पास कितनी भूमि है। इसी के आधार पर दल के मतानुसार भू-धारण की सुरक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

(२) जमींदारो पर नियत्रण जो जमीदार खुदकाश्त के बहाने से छोटे-छोटे काश्तकारो से भूमि वापस ले लेते हैं, उन पर कठोरतापूर्वक नियंत्रण लगा दिया जाए। जो व्यक्ति कृषि में सलग्न नहीं हैं, या जो खुद जमीन नहीं जोतते, अमरीकी दल के मत मे उन्हे जमीन वापस लेने का कोई अधिकार नही होना चाहिए। प्रत्येक काश्तकार के पास कम से कम इतनी जमीन रहनी चाहिए कि पारिवारिक जोत के आकार से वह कम न हो।

(३) स्वत्वाधिकार को देना—जिन क्षेत्रो मे भू-स्वामियो द्वारा भूमि के पुनर्ग्रहण की कोई आशका नही है, वहाँ काश्तकारो को अविलम्ब रूप से स्वत्वाधिकार दे दिए जाने चाहिए। स्वत्व के हस्तान्तरण का यह तरीका सरल हो तथा इसका प्रचार किया जाए, ताकि गरीब काश्तकारो के साथ कोई अनुचित एव अन्यायपूर्ण व्यवहार होने की सम्भावना नही रहे।

(४) तकावी ऋणो का वितरण—दल के मत मे यदि सहकारी समितियाँ नियमो के अनुसार स्वत्वहीन काश्तकारो को ऋण नही दे सकें तो राज्य को चाहिए कि वह तकावी ऋणों की राशि सहकारी समितियो के माध्यम से काश्तकारो मे वितरित करे।

अमरीकी दल के उपरोक्त निष्कर्ष वस्तुत: भारत मे चल रहे भूमि सुधारो के विभिन्न अधिनियमो की असफलता का स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करते हैं। राज्य सरकारो को चाहिए कि इन निष्कर्षों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके काश्तकारो के भू-धारण के अधिकार की रक्षा करे तथा यथा सम्भव शीघ्र ही उन्हे स्वत्वाधिकार देने की व्यवस्था करे। दल के सुझावो पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार करने तथा उन पर अमल करने की आवश्यकता है।

भू-दान आन्दोलन अथवा भू-दान यज्ञ
(Bhoodan Movement)

भू-दान का अर्थ :

गत कुछ वर्षों से भारतीय कृषि के इतिहास मे हम जिस नवीन घटना को देख रहे हैं वह है 'भू-दान आन्दोलन', जिसके प्रणेता हैं सन्त विनोबा भावे। भूदान शब्द दो शब्दों के योग से बना है, 'भू' और 'दान'। 'भू' का अर्थ है जमीन, जो किसी एक अथवा कुछ लोगों की नहीं वरन् मानव मात्र की है। हम इसी से जीवन ग्रहण करते तथा अन्त में इसी मे अपने पार्थिव अस्तित्व को विलीन करते है। धन्य है जन्म-भूमि। 'दान' से तात्पर्य है कि स्वय अपनी स्वतन्त्र इच्छा से देना या समर्पण करना। जिसके पास सग्रह है वही तो दान या समर्पण कर सकता है। अत यह एक प्रकार से सग्रह का प्रायश्चित है जिससे भूमि का समान एव न्यायपूर्ण वितरण हो जाता है। इस प्रकार भू-दान एक प्रकार का यज्ञ है जिसका तात्पर्य है धार्मिक अनुष्ठान की भावना से प्रेरित होकर सबके द्वारा सबके लिए त्याग अथवा बलिदान। चूँकि भूमि प्रकृति की नि शुल्क देन है अत इस पर हम सबका—गरीब अथवा अमीर—समान अधिकार है। इस आन्दोलन के अन्तर्गत गरीब, अमीर, जवान अथवा वृद्ध सभी स्वेच्छा से अपनी भूमि का दान करते है ताकि इसका असहाय भूमिहीन खेतिहर श्रमिको मे वितरण किया जा सके।

भू-दान आन्दोलन क्यों ?

प्रश्न उठता है कि इस आन्दोलन की आवश्यकता क्यो हुई ? हमारे देश मे लगभग ५ करोड व्यक्ति भूमिहीन कृषक हैं जो दिन-रात सख्त परिश्रम करने पर भी निम्न जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्हे राष्ट्रीय आय का केवल ८ ३ प्रतिशत ही भाग प्राप्त हो पाता है। परिणामस्वरूप उनकी वार्षिक औसत आय केवल १०४ रु० पडती है। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि ये लोग कितने निर्धन और तिरस्कृत है। उन्हे पर्याप्त भोजन तक नहीं मिलता। दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनके पास अत्यधिक जमीन है। अतः वे दूसरे (भूमिहीन कृषको) से अपनी जमीन जुतवाते हैं। फलत. एक ओर बढी हुई अमीरी का अट्टहास है तो दूसरी ओर असीम गरीबी का अभिशाप। इस अमीरी और गरीबी के तनाव ने समाज मे बडी कठिन और विषम समस्याएँ ला खडी की हैं। "बुभुक्षित कि न करोति पापम्" जैसी बातें चरितार्थ होने लगी है। घोर से घोर अपराध और अधर्म के बडे से बडे काम इसी कारण होने लगे है। एक ओर असीम भूमि का सग्रह तो दूसरी ओर भूमिहीन किसान और मजदूर।

आन्दोलन का श्रीगणेश .

सन् १९५१ की १८ अप्रैल की घटना है कि जब सन्त विनोबा भावे पैदल यात्रा करते हुए हैदराबाद से ३४ मील दूर तेलगाना के नलकुण्डा जिले के पोचमपल्ली गाँव मे पहुँचे तो वहाँ के हरिजन निवासियो ने अपने दु ख-दर्द की कहानियाँ सुनाते हुए उनसे कहा कि न उनके पास न जमीन है और न काम, फिर वे पेट कैसे भरें ? जमीन के लिए उनकी तीव्र उत्कण्ठा देख विनोबा जी ने उनसे प्रश्न किया कि उन्हे कितनी जमीन चाहिए ? फौरन उत्तर मिला—"८० एकड भूमि, ४० सूखी और ४० भीगी।" पास ही गाँव वाले भूमिपति मौजूद थे। सन्त ने उसी समय पूछा—"है कोई दाता जो इस माँग को पूरी करेगा ?" होनहार की बात, श्री वी० आर० रेड्डी नामक एक विशाल हृदय वाला जमीदार खडा हो गया और १०० एकड भूमि अर्पण की। विनोबा मस्त होकर भगवान् का कीर्तन करने लगे और सोचा कि भगवान को मुझसे यही कार्य करवाना है। उसी दिन से एक गाँव से दूसरे गाँव पैदल यात्रा करके भूमि को दान म प्राप्त करने लगे। बस यही भू-दान की गगोत्री का उद्गम था। इस प्रकार भूमि प्राप्त करने को 'भू-दान आन्दोलन' कहा गया। उस तेलगाना जिले मे ही उन्हे ५१ दिनों के अन्दर १२,२०१ एकड भूमि प्राप्त हुई। अब तो उनका साहस और बढा और फिर क्या था, भूदान आन्दोलन चल पडा। लोग स्वय आ-आकर जमीन देने लगे। १५ सितम्बर, १९५१ को विनोबा जी ने अपने एक प्रवचन मे कहा "जब तक ईश्वर मेरे अन्दर शक्ति रखेगा तब तक मैं देश मे घूम-घूम कर भूमिहीनों के निमित्त भू-दान की याचना करता रहूँगा।" इस प्रकार उन्होने अपना शेष जीवन इसी पुण्य कार्य मे व्यतीत करना निश्चित किया।

आन्दोलन :

सन्त विनोबा भावे ने भिन्न-भिन्न समय पर दिये गये भाषणों में भूदान आन्दोलन के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला है। सर्वप्रथम इससे असाधारण आर्थिक विषमता के कारण उत्पन्न होने वाली हिंसक क्रान्ति से बचने का उपाय निकल आवेगा। इस विनाश और हिंसा से बचने का एक ही उपाय है और वह है प्रेम से हृदय परिवर्तन, जो भूदान यज्ञ से ही सम्भव हो सकेगा। द्वितीय, *हमारे राष्ट्र में दरिद्रता, भुखमरी तथा बेकारी का बोलबाला है।* भूदान आन्दोलन से भूमिहीन लोगों को जोतने के वास्ते भूमि मिलेगी जिससे कि बेकारी दूर होगी तथा जीवन स्तर ऊँचा होगा। उत्पादन में वृद्धि होगी। तृतीय, यह अहिंसा का दर्पण है तथा समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा में यह अन्तिम कदम है। चतुर्थ, इसके द्वारा देश का नक्शा बदलेगा, नया देश बनेगा, नया समाज और नया इन्सान बनेगा। भूदान का असली उद्देश्य समाज में क्रान्ति करना है। समाज में भीषम असमानताएँ दूर होंगी, देश में वैमनस्य और संघर्ष की कमी होगी और लोगों में सुख शान्ति की वृद्धि होगी। यह आन्दोलन ऊँच-नीच व छोटे-बड़े के भेद-भाव को दूर करता है। 'मानव का मानव के द्वारा शोषण नहीं होगा।'

लक्ष्य :

मध्य प्रदेश के सागर नगर में २ अक्टूबर, १९५१ को सन्त विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन के अन्तर्गत पाँच करोड एकड़ भूमि (50 million acres) प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया था। इस पर कुछ लोगों ने उनसे प्रश्न किया कि आप इतनी अधिक भूमि का क्या करेंगे? इसका उत्तर उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में दिया :—

"यद्यपि मेरा पेट बहुत छोटा है। दरिद्रनारायण का पेट बहुत बड़ा है। इसलिए मेरी माँग ५ करोड़ एकड भूमि की है। यदि किसी परिवार में पाँच सदस्य हों तो वे मुझको उस परिवार का छठवाँ सदस्य मानलें, तभी मैं उस परिवार की कुछ भूमि का पाँचवाँ या छठवाँ भाग माँगता हूँ।"

आज तक की प्रगति :

इस आन्दोलन को प्रारम्भ हुए आज लगभग १९ वर्ष हो गये हैं और इस समय में सन्त विनोबा भावे ने बिहार, उत्तर प्रदेश, आसाम, आंध्र, उड़ीसा, केरल, तामिलनाड, पंजाब, पेप्सू, दिल्ली, बम्बई, बंगाल, मध्य प्रदेश, मैसूर, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश आदि सभी राज्यों की पैदल यात्रा पूरी कर ली है। अब तक उन्होंने इस आन्दोलन के अन्तर्गत ४२७ लाख एकड़ से भी अधिक भूमि एकत्रित कर ली थी। भूमि वितरण से करीब चार लाख से भी अधिक परिवारों को लाभ पहुँचा है। इसके अतिरिक्त ग्रामदान आन्दोलन के परिणामस्वरूप अब तक ६८०८ समूचे गाँव ग्रामदान के रूप में प्राप्त हो चुके हैं। ग्रामदान आन्दोलन के सम्बन्ध में विनोबा जी का मत है कि "ग्रामदान आन्दोलन आत्म दर्शन की खोज है। यदि ग्राम राज्य में से गर्व का 'ग' निकल जाय तो शेष रहता है 'राम राज्य', ग्रामदान उसी की ओर एक यत्न है।" यही नहीं, सैकड़ों स्त्री-पुरुषों ने अपना जीवन तक दान दे रखा है। इस प्रकार आज भूदान आन्दोलन केवल भूमि के ही दान का आन्दोलन नहीं है, वरन् इसके अन्तर्गत, सम्पत्ति दान, ग्राम दान, जीवन दान, श्रमदान, बुद्धि दान आदि भी सम्मिलित हो गये हैं। यही कारण है कि इस आन्दोलन का सन्देश न केवल भारत तक सीमित है, बल्कि पश्चिमी राष्ट्र जैसे इग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी आदि सभी इससे प्रभावित हैं।

भूदान की महिमा :

भूदान आन्दोलन की प्रशंसा करते हुए श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने अपने एक लेख में लिखा है कि इस आन्दोलन के फलस्वरूप भूमिहीन कृषकों के पास छोटे-छोटे खेत हो जायेंगे। उनका मत है कि बड़े-बड़े खेतों की अपेक्षा छोटे-छोटे खेतों पर खेती करना अधिक लाभप्रद है क्योंकि इन छोटे-छोटे खेतों में तन, मन, धन से कार्य करके हमारे कृषक सुविधा से अपनी पारिवारिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि कर सकते हैं। यही नहीं, आगे जाकर कृषक आसानी से सहकारी समिति बनाकर सामूहिक रूप से बीज, खाद, धन, सिंचाई तथा बिक्री आदि का प्रबन्ध कर सकते हैं। यह आन्दोलन ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता को जन्म देगा। अशान्ति के स्थान पर शान्ति, एकता, प्रेम, धर्म, सत्य, अहिंसा, सहयोग की भावना उत्पन्न होगी। श्री भगवानदास केला के अनुसार "यह पद्धति अहिंसक क्रान्ति का मार्ग प्रस्तुत करती है। इसके पीछे विकेन्द्रीकरण और स्वावलम्बन की प्रेरणा है।"

भूदान आन्दोलन से लाभ :

इससे बहुत बडा लाभ होगा कि लोगो मे कर्तव्य-शक्ति की वृद्धि होगी तथा वे स्वावलम्वी बनेंगे। सेवा व नैतिकता की भी वृद्धि होगी। भूदान यज्ञ के रूप मे होने वाली अहिंसक क्रान्ति से सर्वोदयी कल्याणकारी समाज का निर्माण होगा। सारी असमानता दूर होगी। हमारा कल्याणकारी राज्य की स्थापना का स्वप्न और अधिकार साकार होगा।

कुछ सुझाव

भूदान आन्दोलन को तीन भागो मे बाँट देना चाहिए। प्रथम भाग का कार्य भूमि एकत्रित करने तक ही सीमित रहना चाहिए। दूसरे भाग का कार्य प्राप्त की गई भूमि को उपजाऊ बनाना होना चाहिए ताकि भूमिहीन किसान तुरन्त उस पर खेती करके अपने परिश्रम का फल प्राप्त कर सकें। चूँकि प्रत्येक आन्दोलन को सफलतापूर्वक चलाने के वास्ते धन की आवश्यकता होती है। इसलिए तीसरे भाग का कार्य आन्दोलन के वास्ते धन एकत्रित करना होना चाहिए। यह धन प्राप्त की गई भूमि को उपजाऊ बनाने व अन्य कार्यों मे प्रयोग में लाया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भूमि के वितरण मे देरी होना वास्तव मे एक दुख की बात है। इससे आन्दोलन में शिथिलता आ जाती है। अत भूमि वितरण का कार्य तुरन्त किया जाना चाहिए। किन्तु इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा कि भूमि सिर्फ उन्ही भूमिहीन व्यक्तियो को मिले जिनको कि उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। यह भी देखना चाहिए कि क्या वह व्यक्ति उस पर फौरन खेती करने की अवस्था मे है ? खेती कि आर्थिक इकाइयां ही रहनी चाहिए।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना में भूमि सुधार

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे भूमि सुधारो को कृषि विकास योजना का एक महत्वपूर्ण अग माना गया है। चतुर्थ योजना काल में भूमि सुधारो की दिशा में निम्न कदम उठाये जायेंगे— (i) योजना काल भूमि सुधारो को कार्यान्वित करने पर विशेष जोर दिया जायगा। (ii) राज्य सरकारें लगान के प्रचलित स्तरो एव पट्टेदारी से सम्बन्धित अन्य शर्तों मे आवश्यक सशोधन करेंगी जिससे कि उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़े। (iii) योजना काल मे भूमि के अधिकारो का अभिलेखा तैयार करने की विशेष व्यवस्था की गयी है। (iv) राज्यो की योजनाओं मे भूमि की छोटी-छोटी इकाइयो को मिलाने पर २८ ४ करोड रु० के व्यय करने की व्यवस्था की गयी है। (v) कृषि श्रमिक को बसाने पर राज्यों की योजनाओ मे ५ ५४ करोड रु० की व्यवस्था की गई है। (vi) योजनाकाल मे भूमि सुधार कार्यक्रम का सामयिक मूल्याकन किया जायगा।

१०

भूमि के उपविभाजन एवं अपखण्डन की समस्या

(Problem of Subdivision and Fragmentation)

प्रारम्भिक :

पिछले अध्यायों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत की तीन चौथाई जनता का भाग्य प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कृषि के साथ सम्बद्ध है। पर्याप्त कृषि-उत्पादन होने पर देश में चारो ओर खुशहाली तथा सम्पन्नता दिखाई देने लगती है। जबकि कृषि-उत्पादन कम होने पर सर्वत्र अभाव एवं निराशा व्याप्त हो जाती है। कृषको की स्थिति तथा कृषि का भाग्य किसी भी देश मे जिस तथ्य पर मुख्यतः निर्भर करते हैं, वह है कृषि की जोत। जोत अत्यन्त छोटी होने पर बहुत अधिक श्रम करने पर भी अपेक्षाकृत उत्पादन कम प्राप्त होता है, जबकि अत्यधिक बडी जोत व्यवस्था तथा प्रबन्ध की दृष्टि से अनुपयुक्त रहती है। भारत मे दुर्भाग्य से अधिकाश कृषक-परिवारो के पास बहुत ही छोटी जोते हैं। यद्यपि कतिपय जमीदारो व राजाओ के पास बहुत बडे खेत भी हैं, पर इसका अनुपात बहुत थोडा है। जोत बहुत छोटी होने के कारण अधिकाश कृषको के लिए कृषि एक अनार्थिक एव अलाभप्रद व्यवसाय रह जाता है, उनके श्रम का उन्हे पूरा पुरस्कार नही मिलता तथा पूँजी का विनियोग बढाने मे उन्हे रुचि नही रहती।[1]

कृषि की जोत बहुत समय से इसी स्थिति मे रही हो सो बात नही है। यह पिछले अध्यायो मे स्पष्ट किया जा चुका है कि उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक देश की जनता का ५५% कृषि में सलग्न था। लेकिन कुटीर उद्योगो के पराभव तथा अन्य कुछ कारणो से कृषि पर भार बढने लगा। फलस्वरूप भूमि का उप-विभाजन प्रारम्भ हुआ तथा आज एक कृषक के पास औसतन एक एकड़ जमीन से भी कम है। अनेक कारणो से, जिनका विश्लेषण आगे किया जायेगा, कृषक की भूमि छोटे-छोटे टुकडो मे विभक्त होने लगती है तथा यह क्रम फिर चलता रहता है। इसके सिवाय कृषक के विभिन्न स्थानो पर स्थित खेतों का विभाजन होने से अपखण्डन की समस्या भी विशिष्ट रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। नानावती तथा अजारिया के मतानुसार भारतीय कृषि के निम्नतम स्तर के लिए भूमि के उप-विभाजन एवं अपखण्डन की समस्याएँ ही प्रधानतः उत्तरदायी है।[2]

---

1. Dr. H. Mann : Land & Labour in a Deccan Village Vol. I. P. 43
2. M. B. Nanawati & J. J. Anjaria - Indian Rural Problem, P. 45

उप-विभाजन तथा अपखण्डन का अर्थ
(Meaning of Sub-division and Fragmentation)

उप-विभाजन का अर्थ :

उप-विभाजन का अर्थ परिवार के विभाजन अथवा अन्य कारणो से भूमि का दो या अधिक व्यक्तियो के बीच विभाजन किया जाना है। हमारे देश मे यह परिपाटी ही चली आई है कि भू-स्वामी की मृत्यु के उपरान्त उसकी भूमि उसके सभी उत्तराधिकारियो के बीच बट-जाती है। अनेक पीडियो से चली आ रही उप-विभाजन की इस प्रक्रिया न बडी-बडी जोता को भी कितने ही छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजित कर दिया है जिसके परिणामस्वरूप वे अनार्थिक हो गये है।

अपखण्डन का अर्थ :

अपखण्डन का अर्थ एक ही व्यक्ति की कुल भूमि का अनेक छोटे-छोटे टुकड़ो में विभाजित होना है जो एक ही स्थान में न होकर यत्र-तत्र बिखरे रहते हैं। इस प्रकार अपखण्डन के अन्दर भूमि के टुकडे एक ही स्थान पर स्थित न होकर विभिन्न स्थानो पर बिखरे हुए होते हैं। उदाहरण के लिए, मान लो कि एक परिवार के पास भूमि के चार टुकडे है जो विभिन्न स्थानो पर स्थित हैं। परिवार के मुखिया की मृत्यु हो जाने के कारण इस भूमि का विभाजन उसके चार बच्चो मे होता है। प्रत्येक बालक चारो टुकडो मे अलग-अलग हिस्सा लेना चाहता है। परिणामस्वरूप वह भूमि १६ भागो मे अपखण्डित हो जाती है। यह भूमि का अपखण्डन कहलायेगा।

समस्या का आकार

डा० हैरॉल्ड मान ने पूना के किसी गाव का अध्ययन करने के पश्चात् १९१७ मे बताया था कि १७७१ मे वहाँ औसत जोत (प्रति कृषक परिवार) ४० एकड थी। १८१८ मे यह घटकर १७½ एकड थी तथा १९१५ मे ७ एकड रह गई। उन्होने यह भी बताया कि १९१५ मे ६० प्रतिशत खेत ५ एकड मे छोटे थे। जबकि १० एकड से कम क्षेत्र वाली जोतो का अनुपात ८१% था।[1] डा० मान ने अपनी इस खोज के बाद यह निष्कर्ष दिया था कि १८५० के बाद कृषि-जोतो की स्थिति व आकार म आमूल परिवर्तन हुए थे। जहाँ पहले ९-१० एकड मे छोटे खेत अपवादस्वरूप थे, १९१५ तक (दक्षिण के अधिकाश गाँवो मे) अधिकाश खेतो का आकार ९-१० एकड से कम हो गया था। कोकण के एक गाँव का अध्ययन करने के पश्चात् जी० जी० रानाडे ने अपनी रिपोर्ट (Economic & Social Survey of a Konkan Village) मे बताया कि उस क्षेत्र मे ७७ प्रतिशत जोतें अनार्थिक थी—यानी तीन-चौथाई से अधिक कृषक-परिवारो को कृषि-व्यवसाय से लाभ प्राप्त नही हो रहा था।[2]

इसी प्रकार श्री ए० डी० पटेल ने १९३७ मे प्रकाशित अपनी पुस्तक मे यह बताया था कि गुजरात मे १९०१ मे जहाँ ५ एकड से छोटे खेतो का अनुपात ५८% था, १९२१ मे यह अनुपात बढकर ८२% हो गया। डा० भगत ने बम्बई राज्य के भिवाडी तालुका का अध्ययन करके बताया कि १८८६ मे ५ एकड से छोटे खेतो का अनुपात ४९.७% था १९०३ मे यह ६२.७% तथा १९२१ मे बढकर ७४.२% हो गया।[3]

१९४० में टॉमस तथा रामाकृष्णन की एक रिपोर्ट के अनुसार दक्षिण के गाँवो मे औसत जोत का क्षेत्र २.१ एकड था। इनमे ६८% जोतें एक एकड से तथा ४२% आधी एकड से छोटी थी।[4]

---

1 Dr. H Mann Quoted by Vera Anstey Eco Dev of India, p 100
2 A R Desai ibid, p 50
3 Wadia & Merchant ibid, pp 210-1
4 Thomas & Ramkrishnan South Indian Villages—A Resurvey pp 301 & 339

स्वतन्त्रता के पश्चात् के अध्ययन

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा १९५० में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार कानपुर जिले मे १९२५ तथा १९४५ के मध्य औसत जोत (प्रति कृषक परिवार) ३·१ एकड से घटकर २·७ एकड़ रह गई थी ।[1]

प्रथम पंचवर्षीय योजना के एक परिशिष्ट मे प्रस्तुत निम्न तालिका भी इस तथ्य की ओर सकेत करती है कि भारत मे कृषि जोते कितनी छोटी हैं ।[2]

राज्य	५ एकड़ से छोटी जोतों का प्रतिशत	कुल कृषि-क्षेत्र का प्रतिशत
उत्तर प्रदेश	८१·२	३८·८
बम्बई	५२ ३	१४·०
आसाम	६६ २	२६·०
मैसूर	६६ २	२५ ६
हिमाचल प्रदेश	९५ ०	७१·०
उड़ीसा	७४ २	३०·१
बिहार	८३ ३	उपलब्ध नही
मध्य प्रदेश	५१ ५	१०·०
ट्रावनकोर-कोचीन	९४ १	४४

इस तालिका को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि १९५० के पूर्व तक अधिकाश कृषको के पास ५ एकड से कम भूमि थी। हमे साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि हिमाचल प्रदेश को छोडकर अन्य राज्यो मे भूमि का बहुत कम भाग छोटे किसानो के पास था।

१९५१ में प्रकाशित जनगणना रिपोर्ट में प्रति व्यक्ति औसत जोत १८९१ व १९५१ के बीच निम्न प्रकार से पाई गई थी .[3]

वर्ष	एकड़ (प्रति व्यक्ति)
१८९१	१ ०९
१९०१	१·०३
१९११	१ ०९
१९२१	१ ११
१९३१	१ ०४
१९४१	०·९४
१९५१	०·८४

प्रो० महलनवीस ने १९५५ मे लगभग १४२५ गांवो का सर्वेक्षण करके निम्न तालिका प्रस्तुत की

जोत का आकार (एकड़ में)	कृषक परिवारो का अनुपात (प्रतिशत)	कुल जोती गई भूमि का अनुपात (प्रतिशत)
०-२ ५	४४	१० } १७ प्रतिशत
२ ५-५	३०	७ }
५ १०	१३	१६
१०-२०	८	२४
२० से अधिक	५	४०

प्रो० महलनवीस के मत मे १९५५ मे औसत जोत प्रति परिवार ४·७२ एकड थी।

---

1 Bulletin No. 16, Deptt. of Economics & Statistics (U. P.)
2. First Five Year Plan, pp 199-202
3. Mallenbaum, Prospec.s for Indian Development, P. 123

एक अन्य सर्वेक्षण (N S S) के अनुसार १९५८ में ६ करोड ६० लाख कृपक परिवारो के पास ३१ करोड एकड भूमि थी । इनमे ७० ७ प्रतिशत कृषक परिवारो के पास ५ एकड से भी कम भूमि थी तथा कुल जोती गई भूमि का केवल १६ ८ प्रतिशत भाग इन परिवारो के पास था । जोती गई भूमि का २० प्रतिशत भाग केवल १ प्रतिशत कृपक परिवारो के अधिकार मे था तथा औसतन इसके पास ४० एकड से अधिक बडे खेत थे । ५-१० एकड की जोतो का अनुपात केवल ९ प्रतिशत् था तथा कुल क्षेत्र का २० प्रतिशत इनके अन्तगत था ।[1]

प्रो० दाँतवाला ने एक लेख मे यह बताया कि देश के २३ प्रतिशत कृपक परिवारो के पास भूमि नही है । अन्य परिवारो के विपय मे उन्होंने निम्न तालिका प्रस्तुत की है [2]

जोत का आकार (एकड में)	परिवारों का प्रतिशत	कुल क्षेत्र का अनुपात (प्रतिशत में)
० ०१-२ ४९	३८ १५	६ २३
२ ५०-४ ९९	१३ ४९	१० ०९
५·००-९ ९९	१२ ५०	१८ ४०
१०·००-४९ ९९	११ ८३	४७ ७४
५० ००-९९ ९९	० ७६	१० ३४
१०० से अधिक	० १८	७ २०

स्पप्ट है कि अधिकाश कृपक परिवारो के पास बहुत ही छोटे खेत है । यदि औसत जोत को ४ ५ एकड भी मान लें तब भी यह देखकर आश्चर्य होता है कि अन्य देशों की तुलना मे भारत की औसतन जोत बहुत छोटी है । प्रो० जैन का मत है कि औसत जोत, इग्लैंड मे ६२ एकड, डेन्मार्क मे ४० एकड, हालैंड मे २६ एकड स्विट्जरलैण्ड मे २५ एकड तथा जर्मनी मे २१ एकड है ।[3] केवल जापान मे औसत जोत ३ एकड के लगभग है । लेकिन आधुनिक ढग से खेती करने के कारण वहाँ उपज खूब होती है ।

डा० भट्टाचार्य के मतानुसार अमरीका मे निम्नतम जोत का आकार १५० एकड है, जबकि औसतन ५०० एकड के ही खेत वहाँ दिखाई देते है ।

रिजर्व बैंक के एक सर्वेक्षण के अनुसार आज भी केरल मे ८६ ५% जोतो का क्षेत्र २५ एकड से कम है, जबकि उत्तर प्रदेश, राजस्थान व मद्रास मे यह अनुपात क्रमश ६८ ९%, ३४ ३६% तथा ४५% है ।

१९६१ की जनगणना के अनुसार देश के ४६९ लाख कृपक परिवारो मे से लगभग ११% के पास एक एकड से भी कम भूमि थी । २ ५ एकड से कम जोत वाले परिवारो का अनुपात कुल परिवारो मे ४३% था, और कुल मिलाकर ६० परिवारो के पास ५ एकड से भी कम भूमि थी ।[4]

एस० एस० मदाल्गी के एक लेख[5] मे जोतो के आकार की दृष्टि से कृपक परिवारो को छोटे मध्यम व बडे कृपको की तीन श्रेणियो मे बाटा गया है । श्री मदाल्गी का अनुमान है कि यदि २ ५ एकड से कम जोत वाले परिवारो को छोटे कृपक के रूप मे लिया जाय तो कुल परिवारो मे उनका अनुपात १९६१ मे ३४ ५% था । २ ५ से ७ ५ एकड तक के मध्यम श्रेणी के कृपको का अनुपात ३७ १% था तथा ७ ५ एकड से अधिक जोत वाले (बडे) कृपक परिवारो का अनुपात कुल मे २८ ४% पाया गया ।

---

1 Raj Krishan, Article in Economic Dev and Cultural Change (April 1959)
2 M. L Dantwala, Article in Seminar, October 1962
3 [redacted] P. Jain, Agricultural Holdings in U P, pp 26 27
4. Census of India (Vol India Part III (ii) House hold Economic Tables pp 18-19
5 S [redacted] Madalgi – Small Farmers Problem of Indentification (Eco and Pol Weekly March 29, 1969)

१९६१ की जनगणना रिपोर्ट के आधार पर ही यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि भारत मे प्रति परिवार औसत जोत का आकार ७ ७ एकड है। परन्तु फिर भी घने आबाद राज्यो मे औसत पारिवारिक जोत औसत से बहुत कम है। इस तथ्य की पुष्टि निम्न तालिका से होती है :[1]

अ० भा० औसत से अधिक जोत

औसत पारिवारिक जोत (एकड़)

राजस्थान—१६; पजाव—१३ ८; महाराष्ट्र—१२ ९, गुजरात—१२ ५; मध्य प्रदेश—१०·६; मैसूर—१०·५; आन्ध्र प्रदेश—८

अ० भा० औसत से कम जोत

उत्तर प्रदेश—५·३; उडीसा—५·२; बिहार—४·८; आसाम—४ ७; पश्चिमी बंगाल—४·९; मद्रास—४·६; जम्मू तथा कश्मीर—३·८ एव केरल १ ८

लेकिन यह उल्लेखनीय है कि राजस्थान के उन क्षेत्रो मे औसत पारिवारिक जोत बहुत अधिक है जहां भूमि अपेक्षाकृत बहुत कम उपजाऊ है। इसलिए कृषि उत्पादकता राजस्थान मे अन्य प्रान्तों की अपेक्षा कम है। यद्यपि भूमि के आकार के साथ-साथ भूमि की प्रकृति का भी महत्व होता है, तथापि यदि जोत अनार्थिक है तो कृषक उसमे पूँजी लगाने में असमर्थ रहता है। दुर्भाग्य से भारत मे जोतें तो छोटी हैं ही, उनकी उर्वराशक्ति भी बहुत कम है।

सोवियत रूस मे बहुत बडे क्षेत है। अमरीका मे भी औसत खेतो का आकार लगभग १५० एकड है, फिर भी ३ एकड की औसत आकार वाले जापान की तुलना मे वहां प्रति एकड उत्पादन बहुत कम है।

जोतों का विभिन्न परिवारों में वितरण

हमारे नियोजक देश को समाजवादी समाज की स्थापना के पुनीत लक्ष्य की ओर ले जाना चाहते है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कृषि मे अब भी पर्याप्त विषमता विद्यमान है। हमारे कहने का आशय यह नही है कि समस्त भूमि को सारे कृषक परिवारो मे समान रूप से बाँट देना ही समानता का द्योतक है। फिर यह जरूरी है कि कृषकों के पास कम से कम इतनी भूमि हो कि वे न केवल अपने परिवारो का भरण-पोषण कर लें, अपितु देश की शेष जनता के लिए पर्याप्त खाद्यान्न व औद्योगिक कच्चा माल भी जुटा सकें।

यदि इस तथ्य को दृष्टिगत रखा जाय तो निम्न तालिका द्वारा यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि भारत मे कृषि जोतो का वितरण अत्यन्त दोषपूर्ण है [2]

कृषक परिवार	कुल कृषि भूमि का अनुपात
प्रथम २० प्रतिशत	०·
अगले १० प्रतिशत	० १
अगले १० प्रतिशत	० ६
अगले १० प्रतिशत	२ १
अगले १० प्रतिशत	४ ७
अगले १० प्रतिशत	६ ६
अगले १० प्रतिशत	११ ०
अगले १० प्रतिशत	१९ ०
अंतिम १० प्रतिशत	५५·६

1. P. S. Sharma : Article in Journal of Agricultural Economics October-Dec. 1965
2. Economic Times : February 17, 1966

उपरोक्त सभी आँकडे यह बताते है कि भारत मे अधिकाश कृषको के पास बहुत ही छोटी जोतें हैं तथा श्रम व पूँजी का समुचित उपयोग ऐसी स्थिति में सम्भव नही है। भूतकाल से लेकर अब तक कृषि की जोतो के विभाजन का क्रम चल रहा है तथा यदि दृढतापूर्वक इस प्रवृत्ति को रोका नही गया तो सम्भव है इससे कृषि का विकास कुछ वर्षो मे पूर्णत अवरुद्ध हो जाय, क्योकि कृषको को यदि जीविका-यापन के लिए पर्याप्त पुरस्कार प्राप्त नही होता तो उन्हे श्रम तथा पूँजी की मात्रा बढाने मे कोई रुचि नही होगी।

खेतों का अपखण्डन अथवा बिखरा होना

भारत मे न केवल कृषि-जोत छोटे-छोटे टुकडो मे बँटी हुई है, वल्कि एक ही कृषक की जोत बिखरी हुई भी हैं। इस समस्या को अपखण्डन की समस्या कहा जाता है। वास्तव मे जैसा कि कीटिंग का मत है, किसी भी पिता की सम्पत्ति का उचित वितरण तभी माना जाता है, जबकि उसकी अच्छी व खराब दोनो प्रकार की जमीन को भी समान रूप से बाँटा जाय।[1] भारत मे पिता की सम्पत्ति पर अधिकाशत सभी पुत्रो का (अब सभी सन्तानों का) समान अधिकार माना जाता रहा है। जमीन का बँटवारा करते समय अलग-अलग स्थानो पर स्थित भूमि को समान टुकडो मे बाँट लिया जाता है। इस प्रकार एक पुत्र को भिन्न-भिन्न स्थानो पर भूमि प्राप्त होती है और श्रमिकों, हलो व बैलो को लेकर वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जुताई-बुआई या कटाई के लिए जाता है।

खुसरो व अग्रवाल ने निम्न तालिका द्वारा यह बताने का प्रयास किया है कि उत्तर प्रदेश व पश्चिमी बगाल मे जोतें भिन्न-भिन्न खेतो के रूप मे किस प्रकार बिखरी हुई है[2]

उत्तर प्रदेश			पश्चिमी बगाल		
जोत का आकार	जोतो की सख्या		जोत का आकार	जोतो की सख्या	
एकड मे	प्रति खेत	प्रति एकड	एकड मे	प्रति खेत	प्रति एकड
०१-२·५	३ ६०	२ ०२	० ०१-१ २५	३·६	५·३
२ ५-५	६ २६	१ ६७	१ २६ २५०	७ ६	३ ९
५ ०-७ ५	८ ६४	१ ४४	२ ५१ ३ ७५	९ ४	३ ०
७ ५-१० ०	१ ९०	१ ३४	३ ७६-५·००	१२ १	२ ८
१० ०-१५ ०	११ ७६	१.०२	५ ०१-७ ५०	१४ ३	२ ४
१५ ०-२० ०	१६ १०	०·९७	७ ५१-१० ००	२२·३	२·६
२० ०-२५ ०	२२ ८९	१ ०२	१० ०१-१५ ००	१७ ३	१ ४
२५ से अधिक	२४ ८५	० ६०	१५ से अधिक	३५ ७	१ ४

स्पष्ट है छोटी जोतें अधिक बिखरे हुए खेतो के रूप मे हैं, जबकि बडी जोतो के खेत बिखरे हुए बहुत कम है।

भूमि का उपविभाजन तथा अपखण्डन : कारण

(१) **कृषि-जोत में व्यक्तिगत स्वामित्व का प्रवेश**—यह हम पिछले एक अध्याय मे बता चुके है कि ब्रिटिश शासन के आरम्भ होने से पहले भारत मे कृषि की जोतो पर ग्राम-समुदाय का अधिकार था। लेकिन अंग्रेज सरकार ने भूमि को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे परिवर्तित कर दिया तथा भूमि के स्वत्व को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से हस्तातरित करने के भी अधिकार व्यक्ति को प्रदान किए गए। प्रो० देसाई का मत है कि इस प्रकार के अधिकारो के मिलने पर यह स्वाभाविक था कि परिवार के सभी सदस्य, जो पहले सयुक्त रूप से कार्य करते थे, अब इन अधिकारो का प्रयोग करते तथा भूमि का बँटवारा करके स्वतन्त्र रूप से खेती करते।[3]

---

1 G. Keatinge Quoted by Vera Anstey—Ibid, p 101 (footnote)
2. Khusro & Agrawal . The Problem of cooperative farming in India—p 9
3 A R Desai · Social Background of Indian Nationalism, pp. 47-48

(२) **कृषकों द्वारा भूमि का आंशिक रूप से हस्तांतरण**—प्रो० शेल्वेंकर का कथन है कि १९वीं शताब्दी के मध्य से जैसे-जैसे जनसख्या के वृद्धि के कारण कृषि पदार्थों के मूल्य तथा भूमि के लगान में वृद्धि हुई बहुत से कृषकों ने अपनी जोतों को आंशिक रूप से दूसरे ऐसे व्यक्तियों को कृषि हेतु देना प्रारम्भ कर दिया, जिनके पास भूमि नहीं थी। यद्यपि इससे भूमि के स्वत्व में तो परिवर्तन नहीं हुआ, पर कृषि की जोत छोटे-छोटे टुकडों में बँटती चली गई।[1]

(३) **जनसंख्या में वृद्धि**—जनसंख्या के अध्याय में यह बताया जा चुका है कि १८५० के बाद जनसख्या की वृद्धि अधिक तेजी से हुई है। इसके अतिरिक्त वैकल्पिक आय के स्रोत समाप्त हो जाने के कारण कृषि पर निर्भरता बढती गई। कितनी विचित्र बात थी कि जब पाश्चात्य जगत सुप्त अवस्था मे था, भारत व्यापार एवं उद्योगों की दृष्टि से उन्नतिशील था तथा जब पाश्चात्य देशो में औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ हुई, भारतीय जनता कृषि पर निर्भर होती गई। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य मे जहाँ केवल ५५% व्यक्ति कृषि पर प्रत्यक्षत. निर्भर थे—१९३१ तक ७५% व्यक्ति कृषि द्वारा जीविका प्राप्त करने लगे थे। जनसंख्या की वृद्धि तथा कृषि की निर्भरता बढने के साथ-साथ भूमि की कुल जोत मे वृद्धि नही हुई। अनुमानत १८५० के आसपास २० करोड एकड भूमि जोती जाती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अनेक अकाल पड़े, लेकिन जनसख्या फिर भी बढती गई। जनसख्या १९०१ तक २३ ५ करोड हो गई लेकिन कृषि क्षेत्र बढकर केवल २२ करोड़ एकड हुआ। निम्न तालिका जनसख्या तथा कृषि-क्षेत्र का अनुपात बताती है तथा यह सिद्ध करती है कि किस प्रकार प्रति व्यक्ति औसत जोत कम होती गई।[2]

वर्ष	कृषि की कुल जोत (करोड़ एकड़ मे)	जनसंख्या (करोड़ों में)
१८९१-९५	२१·४	२३·६
१९०१	२२ १	२३ ६
१९११	२३ ०	२४·९
१९२१	२३·२	२४ ८
१९३१	२३ ८	२७ ६
१९४१	२४ ९	३१ ३
१९५१	३० १	३५ ७
१९६१	३३·४०	४३ ९
१९६८	३५ ०	५२ ०

आर्थिक नियोजन के पिछले १९ वर्षों मे भी कुल कृषि-क्षेत्र मे से १५% ही वृद्धि हो सकी। स्पष्ट है, यदि जनसंख्या की वृद्धि तथा कृषि-क्षेत्र के विस्तार का क्रम इसी प्रकार चलता रहा तो डर है १९८० तक प्रति व्यक्ति कृषि-क्षेत्र का औसत ·४ एकड से भी कम हो जाएगा।

(४) **उत्तराधिकार के नियम**—डा० राधाकमल मुकर्जी का मत है कि भूमि के उप-विभाजन तथा अपखण्डन की जो समस्या पिछले ५०-६० सालों से प्रबल हो उठी है, वह मुख्यतः अंग्रेज न्यायाधीशों द्वारा हिन्दू एवं मुसलमान उत्तराधिकार के नियमों के अनुचित अनुवाद का ही परिणाम है।[3] हिन्दू मान्यताओं के अनुसार (बंगाल को छोडकर) पिता की सम्पत्ति पर सभी पुत्रों का, तथा इस्लामिक परम्पराओं के अनुसार सम्पत्ति पर पुत्रों व पुत्रियों का अधिकार था। क्लो नामक अंग्रेज लेखक ने एक बार बताया कि भारत मे पिता की मृत्यु के पश्चात जमीन का कहना ही क्या, पेड़ पर लगे शहद के लिए और यहाँ तक कि पेड़ की छाया के विभाजन के लिए भी

---

1. K. S. Shelvenker : The Problem of India, pp 106-7 (1940)
2. See B. M Bhatia, Famines in India (1963) pp 218-19
Mallenbaum, Prospects for Indian Development, p 120 & p 123 Eastern Economist, 30-8-63 for getting more details.
3. Dr. R K. Mukerjee : Land Problems of India p. 55

उसके पुत्रों को लड़ते देखा जा सकता है।[1] भूतकाल मे जनसख्या कम थी और साधारणतया १९वी शताब्दी के अन्त तक भूमि का विभाजन अपवाद स्वरूप ही किया जाता था। लेकिन बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से उत्तराधिकार के नियमो का उपयोग विदेशी न्यायाधीशो ने इस दृष्टि से किया कि भूमि का विभाजन एक आम रिवाज बनता चला गया।

(५) कुटीर उद्योगो का पराभव—भूमि पर जनाधिक्य के लिए कुटीर उद्योगो का पराभव भी काफी सीमा तक उत्तरदायी रहा है। कुटीर तथा लघु उद्योगो के अध्याय मे इस तथ्य पर काफी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यहाँ इतना बता देना पर्याप्त है कि आय के वैकल्पिक साधनो के नष्ट हो जाने के कारण कृषि पर निर्भर लोगो की सख्या बढती चली गई। फलस्वरूप भूमि की माँग एव मूल्य मे वृद्धि हुई और कृषको ने अपनी जोतो को आशिक रूप से पट्टे पर देना प्रारम्भ कर दिया।[2] कुटीर उद्योगो का पराभव होने के बावजूद यदि बडे उद्योगो का पाश्चात्य देशो की भाँति विकास प्रारम्भ हो जाता तो भूमि के उपविभाजन की आवश्यकता नही पडती।

(६) ऋण-ग्रस्तता—भारतीय कृषक के बारे मे कहावत है कि वह ऋण मे जन्म लेता है तथा ऋणो का भार लेकर ही इस दुनिया से चला जाता है। प्रकृति की कोप दृष्टि अथवा अन्य किसी भी कारण से जब भी उसे ऋण की आवश्यकता होती है वह अपनी एक मात्र सम्पत्ति यानी भूमि का एक भाग गिरवी रख देता है। शाही कृषि आयोग (१९२८) तथा ग्रामीण साख सर्वेक्षण (१९५४) की रिपोर्टों द्वारा यही ज्ञात होता है कि अधिकाशत कृषक ऋण लेते समय साहूकार के पास अपनी जोत का एक अश गिरवी रख देता है। बहुधा प्राकृतिक प्रकोपो से पीडित रहने के कारण वह पुरानी गिरवी भूमि को छुडाने मे असमर्थ रहता ही है, अपने व परिवार के भरण-पोषण के लिए उसे बार-बार भूमि का थोड़ा अश गिरवी रखना पडता है। फलस्वरूप भूमि अलग-अलग टुकडो मे बँट जाती है। यदि यह भी मान लिया जाय कि कृषक समय पर एक ही साहूकार के पास जमीन गिरवी रखता है तब भी वह साहूकार चूँकि उन भू-खण्डो को अलग अलग व्यक्तियो को जोतने के लिए देता है, भूमि का उपविभाजन नही रुक पाता।

(७) भारतीय कृषक का भूमि से मोह—अनेक विदेशी विद्वानो ने, जिनमे बुचानन, कौटिंग तथा वीरा एन्स्टे आदि है जिस बात पर मुख्यत आश्चर्य प्रकट किया है वह है भारतीय कृषक का भूमि के प्रति आकर्षण। किसी कृषक की मृत्यु होने पर उसके पुत्र समस्त जायदाद मे हिस्सा बँटाना चाहते है और भूमि का भी विभाजन कर लिया जाता है। यदि विवेकपूर्ण विभाजन पद्धति हो तो एक सीमा के बाद भूमि का बँटवारा करने की अपेक्षा उतने ही मूल्य का अश जायदाद के दूसरे हिस्से मे लिया जा सकता है तथा एक पुत्र मकान का दूसरा भूमि का स्वामी हो सकता है। यही नही, पैतृक सम्पत्ति मे भूमि के प्रति भारतीय कृषको मे सर्वाधिक मोह होता है, चाहे वह कितना ही छोटा भूखण्ड क्यो न हो। एक विचित्र बात और बहुधा देखी जाती है और वह है भारतीय जनता मे (नगरों की जनता मे भी) भूमि के स्वामित्व के प्रति एक गौरवानुभूति का होना। बहुधा लोग बडे गर्व के साथ कहते सुने जाते है कि उनकी अमुक गाँव मे जमीन है। भले ही वह जमीन अत्यन्त छोटी जोत के रूप मे ही हो।

(८) भूमिहीन किसानो की बढती हुई सख्या—भूमिहीन कृषको की बढती हुई सख्या भी उपविभाजन के लिए उत्तरदायी है। यह हम ऊपर बता चुके हैं कि आज २०% भारतीय कृषकों के पास भूमि नही है। इसके विपरीत बडे-बडे भू-स्वामियो मे अकर्मण्यता बढ रही है और वे साझेदारी या पत्तीदारी के आधार पर भूमि अन्य लोगों को देने लगे हैं। यद्यपि भूमिहीन कृषको की सख्या १८५० के बाद बहुत तेजी से बढी है, तथापि जहा भी जिस किसी भूमिहीन कृषक को अवसर मिला, उसने बडे भू-स्वामो से एक छोटा भू-खण्ड पत्ती या साझे पर लेकर जोतना शुरू कर दिया। थॉर्नर एव थॉर्नर ने अनेक व्यक्तियो से भेंट करने के बाद बताया कि उत्तर प्रदेश, राजस्थान पजाब, आध्र एव मैसूर मे साझे पर खेती करने की यह प्रणाली बहुत लोकप्रिय है और अनेको भू-स्वामियो ने जमीन को उपखण्डो मे बाँटकर पत्तीदारो को जोतने के लिए दे दिया है।[3] यद्यपि

---

1 Jathar & Beri Indian Economics, Vol I p 186
2 Wadia & Joshi, Wealth of India, p 244
3. Daniel & Alice Thorner : Land & Labour in India (1962) pp 5-7

इससे बहुत-से भूमिहीन कृषकों को भूमि प्राप्त हो गयी है, पर भूमि बहुत-से छोटे-छोटे खण्डों में भी बँट गई है।

(९) **कृषकों की अज्ञानता एवं प्रशिक्षण**—कृषि भूमि के उपविभाजन एवं अपखण्डन की समस्या के लिए भारतीय कृषकों की अज्ञानता एवं अशिक्षा भी किसी सीमा तक उत्तरदायी है। अज्ञानता एवं अशिक्षा के कारण भारतीय कृषक कृषि भूमि के उपविभाजन एवं अपखण्डन से उत्पन्न होने वाले गम्भीर दोषों से अनभिज्ञ रहते हैं इसलिए वे चकबन्दी तथा सहकारी कृषि जैसी लाभप्रद योजनाओं तक का विरोध करते हैं।

कृषि भूमि के उपविभाजन तथा अपखण्डन के आर्थिक प्रभाव

(Economic effects of Sub-division and Fragmentation of Agricultural Holdings)

उपविभाजन एवं अपखण्डन के लाभ

(१) **सीमित साधनों का सर्वोत्तम उपयोग**—एक सदर्भ में हम ऊपर यह बता चुके हैं कि जापान में औसत जोत लगभग ३ एकड़ की है जबकि भारत में औसत जोत ७.७ एकड़ के लगभग मानी जाती है। छोटी जोत होने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि **कृषक अपने सीमित साधनों का सर्वोत्तम एवं इष्टतम उपयोग कर सकता है।** छोटे खेत प्रशासन की दृष्टि से काफी सुविधाजनक रहते हैं। जापान में खेत छोटे होने पर भी उपज काफी अधिक होती है। यह हम जानते हैं कि भारत के अधिकांश कृषक निर्धन हैं और ८-१० एकड़ से बड़ा खेत जोतने के लिए उनके पास पर्याप्त साधन नहीं हैं।

(२) **आत्म-निर्भरता**—पिता की सम्पत्ति का सभी पुत्रों में वितरण होने से सबको जीविका-यापन हेतु स्वतन्त्र साधन मिल जाते हैं और अन्य पश्चिमी देशों की भाँति छोटे भाइयों को अँग्रेजों की कृपा पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं होती। भूमि उसकी है तथा श्रम का समूचा पुरस्कार उसे प्राप्त होगा, यह भावना कृषक को उत्साहित करती है तथा उसकी कार्य-क्षमता सहज ही बढ़ जाती है। सम्पत्ति विशेषकर भूमि का स्वत्व कुछ हाथों में केन्द्रित होने की अपेक्षा सबको प्राप्त होता है और इस प्रकार पूँजीवादी तत्वों का विकास नहीं हो पाता।

(३) **मानसून के विरुद्ध सुरक्षा**—जे० बी० शुक्ला ने गुजरात के एक तालुका का अध्ययन करके यह बताया कि खेतों का छोटी-छोटी इकाइयों में तथा दूर-दूर स्थित होना एक अन्य दृष्टि से भी लाभदायक है। अनेक बार गाँव के एक छोर पर वर्षा होती है और दूसरा छोर सूखा रह जाता है। दोनों क्षेत्रों में खेत होने पर कृषक अपने समय, श्रम तथा बैलों का उपयोग कम-से-कम उस क्षेत्र में तो अवश्य कर लेता है जहाँ वर्षा हुई है।[1]

(४) **विविधता का लाभ**—डा० मुकर्जी अपनी पुस्तक (Rural Economy of India) में भूमि के अपखण्डन का एक और लाभ बताते हैं। उनकी राय में भिन्न-भिन्न भूखण्डों की उर्वरा शक्ति एवं प्रकृति भिन्न प्रकार की रहने से इनमें विविध प्रकार की फसलें बोई जा सकती हैं। कृषक को इस प्रकार एक ही समय में अथवा अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त हो जाते हैं तथा वह सभी ऋतुओं में व्यस्त रह सकता है।

(५) **रोजगार का साधन**—आय का वैकल्पिक साधन नहीं होने से छोटे कृषकों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो सकती है। खेत भले ही छोटे क्यों न हों, कृषक का जीवन-निर्वाह तो किसी न किसी प्रकार हो जाता है। यही नहीं, भूमि का स्वत्व उसकी प्रतिष्ठा का प्रत्याभू है। भूमिहीन कृषक की कोई प्रतिष्ठा या साख नहीं होती। यदि आज दो एकड़ से छोटे खेतों को छीन लिया जाय तो करोड़ों कृषकों को वैकल्पिक रोजगार देने की समस्या उपस्थित हो सकती है।

(६) **गहरी कृषि के लिए प्रोत्साहन**—भूमि का उपविभाजन एवं अपखण्डन होने से कृषि भूमि छोटे-छोटे खेतों में विभाजित हो जाती है। इन छोटे-छोटे खेतों में गहरी खेती द्वारा अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना सम्भव हो जाता है। सभी जानते हैं कि वर्तमान दशाओं में भारत में गहरी खेती की सबसे अधिक आवश्यकता है।

---

1. J. B Shukla : Land & Labour in a Gujrat Taluka, p. 106

(७) उपज के विपणन में सुविधा—भूमि को छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजित करने से जो उत्पत्ति प्राप्त होती है वह मात्रा मे इतनी कम होती है कि उसे सरलता से आस-पास के भागो मे बेचा जा सकता है। परिणामस्वरूप विपणन के व्ययो मे बचत हो जाती है। उपज को सग्रह करने, पास की मण्डो तक ले जाने आदि व्यय बच जाते है।

(८) भारतीय कृषि पद्धति के अनुकूल—यह सर्वविदित है कि भारतीय कृषक अशिक्षित, अज्ञानी तथा निर्धन हैं। उसके पास कृषि के यन्त्रो का अभाव है। उसकी कृषि पद्धतियाँ भी पुरानी घिसी-पिटी हैं जो कि छोटे-छोटे खेतो के लिए ही अधिक उपयुक्त है। खेत का आकार छोटा रहने के कारण कम पूँजी से ही काम चल जाता है। छोटे खेतो के लिए बडे बडे यन्त्र भी अनुपयुक्त एव अनार्थिक रहते है। अत स्पष्ट है कि कृषि भूमि का उपविभाजन एव उपखण्डन भारतीय कृषि पद्धति के अनुकूल है।

(९) अन्य लाभ—छोटे-छोटे खेतो पर कृषि करने मे परिवार के सदस्यो को अधिक समय तक व्यस्त रखा जा सकता है, निरीक्षण व्ययो मे कमी हो जाती है तथा पूँजीवादी कृषि पद्धति का विनाश होता है।

उपविभाजन एव उपखण्डन के दोष

(१) कृषि के विकास मे बाधक—डा० हैराल्ड के अनुसार भारतीय कृषि के विकास मे सबमें बडी बाधा छोटी जोतो के रूप मे आती है। यन्त्रो का उपयोग छोटे खेतो मे नही किया जा सकता और फलस्वरूप समय तथा श्रम की बचत सम्भव नही हो पाती।[1] इसी प्रकार डा० अहमद का कथन है कि छोटे खेत समृद्धिशाली कृषि के विकास मे बाधा डालते हैं, क्योकि वैज्ञानिक उपकरणों एव उत्तम किस्म के बीजो का इनमे उपयोग नही किया जा सकता।[2]

(२) चारे के अभाव का कारण—प्रो० देसाई के मतानुसार भारतीय पशुओ की निकृष्ट उपादेयता एव निम्नतर उत्पादकता के लिए चारे की कमी उत्तरदायी है, तथा चारे के अभाव का मुख्य कारण कृषि-जोतो का अत्यन्त छोटा होना है।[3] बडी जोत होने पर खेत का एक भाग चारे के लिए छोडा जा सकता है। वैसे भी फसल कट जाने के बाद बडी जोत होने पर पर्याप्त चारा उपलब्ध हो जाता है।

(३) अर्धबेकारी की समस्या—भारत मे कृषि-जोत बहुत छोटी होने के कारण कृषक के समूचे परिवार को काम नही मिल पाता। वीरा एन्स्टे का कथन है कि यदि खेत बहुत छोटे हैं तो इस पर निर्भर सभी व्यक्तियो को काम नहीं मिल पाता तथा उन्हे जीविकायापन के लिए या तो अन्यत्र काम करना पडता है (जो साधारणतया कठिनाई मे मिलता है) अथवा उपज कम होने के कारण उधार लेकर गुजारा करना पडता है।[4] वे यह मानती है कि कृषक का श्रम एव बैलो तथा पूँजी के अन्य साधनो का इष्टतम उपयोग तभी हो सकता है जब कि जोत पर्याप्त रूप से बडी हो। लेकिन जोत छोटी होने पर कृषक परिवार के सदस्य काम मे रत तो रहते हैं, उन्हे जरूरत से बहुत काम मिल पाता है। डा० मुकर्जी के मत मे भूमि का अत्यधिक उपविभाजन कृषक की अकर्मण्यता तथा उसकी ऋणग्रस्तता का एक मुख्य कारण है।[5]

(४) लागत मे वृद्धि—छोटा खेत होने पर भी कृषक को बैलो, हलो व कुएँ की वही व्यवस्था करनी पडती है, जो उचित आकार के बडे खेत के लिए उसे करनी चाहिए। फलस्वरूप उत्पादन की लागत बडे खेतों की तुलना मे अधिक आती है। दूर दूर खेतो के होने से श्रम तथा समय का अपव्यय भी काफी होता है और कृषि की लागत बढ जाती है। बी० पी० मिश्रा के मत मे ५०० मीटर की दूरी पर खेत होने पर लागत मे अग्रलिखित प्रकार से वृद्धि होती है।[6]

1. H Mann op cit p 48
2. Dr Z A Ahmed The Agrarian Problem in India (1936), pp 2-3
3. A R Desai ibid, p 48
4. Vera Anstey ibid, p 100
5. R K Mukerjee Rural Economy of India, p 63
6. Hanery Leibenstein "The Theory of Underemployment in Backward Economics (The Journal of Political Economy April, 1957)

कार्य	लागत में वृद्धि
जुताई हेतु श्रम का आवागमन	५ ३ प्रतिशत
खाद का परिवहन-व्यय	२०·३५ ,,
फसल का परिवहन-व्यय	१५·३२ ,,
	४०—७२·३ प्रतिशत

इसके सिवाय चौकीदारी व अन्य व्यवस्था-सम्बन्धी सभी व्यय बढने के कारण लागत मे काफी वृद्धि हो जाती है।

(५) **कृषक की रुचिहीनता**—जब खेत की इकाइयाँ बहुत छोटी अथवा/एवं बिखरी हुई हो तो सिंचाई के साधनो, उत्तम कृषि-प्रणालियो एवं अन्य सुधारो के सम्बन्ध मे कृषक कोई रुचि नही ले पाता। सभी खेतो मे सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो सके यह भारतीय कृषक के सामर्थ्य की बात नही है। वह प्रकृति पर ही सारी कृषि को छोड देता है और जैसा कि हम जानते है, प्रकृति भारतीय कृषक के प्रति कृपालु नही है। डा० अहमद ने श्री विश्वेश्वरैया द्वारा प्रस्तुत विवरण के आधार पर बताया है कि प्रति एकड औसत उपज का मूल्य जापान मे १५० रु० है, जबकि यह भारत में केवल २५ रु० है।[1] स्पष्ट है कि कृषक की रुचिहीनता का कारण तथा प्रभाव कम उपज के रूप मे प्रगट होता है तथा इसकी पृष्ठभूमि मे उपज की लघु इकाइयाँ विद्यमान है। कृषि-प्रणाली मे कृषक उस समय तक सुधार नही करना चाहेगा जब तक कि उसकी जोत पर्याप्त आकार की नही हो जाती।

(६) **भूमि का अपव्यय**—अत्यधिक छोटी जोत होने पर भी बाड बनाने व खेत की सीमा-निर्धारण मे भूमि का काफी अपव्यय हो जाता है तथा छोटा खेत और भी छोटा लगने लगता है। फलस्वरूप भूमि का जितना अच्छा उपयोग होना चाहिए, वह सम्भव नही हो पाता और बहुधा कृषक जमीन को परती छोड देता है। पंजाब के एक अनुमान के अनुसार ६ प्रतिशत भूमि का उपयोग इसलिए नही हो पाता कि वह बहुत ही छोटी इकाइयो मे है, क्योकि १० प्रतिशत भूमि बाड़ व सीमा बनाने मे खर्च हो जाती है।

भारत मे जितनी भूमि इस समय कृषि के अन्तर्गत है, यदि ठीक ढग से इसका ही उपयोग किया जाय तो खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चे माल का वर्तमान अभाव निस्सन्देह ही समाप्त हो जाएगा।

(७) **सिंचाई में क्षति**—छोटे खेतो मे कृषको को प्रत्येक स्थिति मे हानि होती है चाहे व सिंचित क्षेत्र हो या नही। डा० कैप द्वारा प्रस्तुत तालिका इस कथन की पुष्टि करती है कि छोटे खेतो मे सिंचित क्षेत्र मे भी कृषक को बहुत घाटा रहता है[2]

जोत	प्रति एकड़ लागत	प्रति एकड उपज का मूल्य	प्रति एकड़ घाटा
	रु०	रु०	रु०
०-५	२८८	१७३	५५
५-१०	२०८	१८४	२४
१०-२०	१८४	१८१	३
२०-२५	१७८	१७६	२
५० से अधिक	१४१	१४७	१

(८) **अन्य हानियाँ**—जितने कृषि-सम्बन्धी अभियोग न्यायालयो मे प्रस्तुत किए जाते है, अधिकांशतः वे भूमि की सीमा से सम्बन्धित होते है। बाड या सीमा के विवाद को लेकर कृषको मे

1. Dr. Ahmed : op. cit. p. 8
2. Dr K Willam : Hindu Culture, Eco. Dev. & Planning in India (1963) p. 117

जो मुकदमेबाजी होती है तथा अनेक बार जो झगडे होते हैं उनके प्रभाव में वह जीवन भर मुक्त नही हो पाता।

इसके अतिरिक्त जब भूमि की इकाई बहुत छोटी होने के कारण उपज बहुत कम होती है तो कृषक के लिए अपने व परिवार के भरण पोषण तथा लगान की अदायगी के लिए ऋण लेना अनिवार्य हो जाता है। वह अपनी जोत का एक भाग गिरवी रखता है तथा इस प्रकार ऋण ग्रस्तता एव उपविभाजन का कुचक्र (vicious circle) प्रारम्भ हो जाता है।

इसके अलावा उपज का स्तर अत्यन्त छोटा होने के कारण आज भी कुल कृषि-उपज का दो तिहाई से अधिक भाग मण्डी म बिक्री के लिए नही आ पाता। लघु-स्तरीय उत्पादन के कारण अधिकाश कृषको के लिए आज भी कृषि उपभोग के साध्य मे सम्बद्ध है लाभ अथवा विनिमय के साध्य से नहीं। और जो कुछ उपज मण्डी तक आती है उसका लाभ अधिकाशत बिचौलियो या मध्यस्थो को प्राप्त होता है जो छोटे-छोटे अशो मे गावो से इस उपज को इकट्ठा करते है।[1]

समस्या का समाधान

उपरोक्त हानियो को देखने के बाद यह अनुभव होने लगता है कि भूमि के उपविभाजन पर अविलम्ब रोक लगाना तो आवश्यक है ही वतमान लघु इकाइयो को बडी जोतो के रूप में परिवर्तित करना भी अनिवाय है ताकि कृषि एक लाभप्रद व्यवसाय बन जाय तथा एक प्रगतिशील कृषि-व्यवस्था का देश मे आविर्भाव व्यावहारिक रूप मे हो सके। उन उपायो को जिनके द्वारा इस समस्या का निराकरण हो सकता है हम मुख्यत निम्न भागो मे बाट सकते है

(१) चकवन्दी
(२) न्यूनतम जोत
(३) आर्थिक जोत या इष्टतम जोत
(४) उत्तराधिकार के नियमो मे परिवतन
(५) सहकारी कृषि

(१) चकबन्दी—जोतो की चकवन्दी का अथ है बिखरे हुए खेतो के स्थान पर कृषक को एक चक अथवा उन खेतो के कुल मूल्य के बराबर एक खेत प्रदान करना। छोटे एव बिखरे खेतो की समस्या का एक मात्र समाधान चकबन्दी ही है। चकवन्दी का काय कृषको द्वारा ऐच्छिक रूप से सहकारी सस्थाओं के माध्यम से अथवा सरकारी अधिकारियो द्वारा ग्राम पचायत के सहयोग से सपादित किया जाता है।

चकवन्दी का काय सव प्रथम १९२१ म पजाब मे श्री डार्लिंग के निर्देशन मे प्रारम्भ हुआ। वहा छोटे व बिखरे खेतो के एकीकरण हेतु सहकारी समितियो का गठन किया गया। यह ऐच्छिक चकवन्दी थी। उत्तर प्रदेश में भी ऐच्छिक स्तर पर चकबन्दी के प्रयास किए गए, पर वे सफल नही हुए। धीरे धीरे प्रान्तीय सरकारो ने बहुत छोटी जोतो की चकबन्दी के लिए दबाव की नीति अपनाली। देशी रियासतो मे भी चकबन्दी के लिए विभिन्न सरकारो ने कानून बनाए। लेकिन इतने पर भी कृषको के विरोध के कारण चकबन्दी की नीति बहुत सफल नही हो सकी।

स्वतन्त्रता के बाद इस दिशा मे काफी प्रगति हुई है। केन्द्रीय सरकार ने द्वितीय योजना के मध्य में राज्य सरकारो को चकवन्दी का आधा व्यय देना प्रारम्भ किया है। द्वितीय योजना के अन्त तक २ ६६ करोड एकड भूमि की चकबदी हो चुकी थी, जबकि तृतीय योजना के अन्तर्गत २८ करोड एकड भूमि मे चकवन्दी हुई। इस प्रकार कुल मिलाकार तीन योजनाओ मे लगभग ६ करोड एकड भूमि की चकवन्दी की गई। १९६६-६७ तथा १९६७ ६८ मे कुल मिलाकर ८४ लाख एकड म अधिक भूमि की चकबन्दी की गई। १९६८-६९ मे ५० लाख एकड भूमि की चकवन्दी करने का प्रावधान था।

---

1 Malenbaum op cit p 130-31

(२) न्यूनतम जोत—स्वतन्त्रता के पश्चात् खेतो के उपविभाजन को एक सीमा के पश्चात् रोकने के लिए अनेक राज्यो मे कानून बनाए गए हैं। इसके अन्तर्गत न्यूनतम सीमा का निर्धारण किया गया है। सीमा से छोटे खेतो का विभाजन अथवा आंशिक रूप से अंतरण अवैधानिक माना जाता है। पिछले १५ वर्षो मे कानून द्वारा कुछ राज्यो मे न्यूनतम भूमि-सीमा का निर्धारण किया गया है। इसके बाद भूमि के उपविभाजन को अवैध माना गया है। उत्तर प्रदेश मे न्यूनतम सीमा ३½ एकड़, मध्यप्रदेश मे सिंचित व गैर सिंचित क्षेत्रो के लिए क्रमश. ५ व १० एकड तथा असम मे ५ बीघा क्षेत्र को न्यूनतम माना गया है। इन सीमाओ का निर्धारण स्टैण्डर्ड, क्षेत्र के आधार पर किया जाता है।

परन्तु योजना आयोग ने स्वीकार किया है कि वैकल्पिक रोजगार के अभाव मे ये कानून प्रभावशाली नही हो सके हैं और भूमि का उपविभाजन जारी है।

(३) आर्थिक जोत एवं इष्टतम जोत—आर्थिक जोत का साधारण एवं सरल भाषा मे अर्थ है, वह जोत जो कृषक व उसके परिवार को पर्याप्त आय प्रदान कर सके। आर्थिक जोत कितने बड़े आकार की होनी चाहिए, यह कहना तो सम्भव नही है। फिर भी पर्याप्त आय-प्राप्ति को एक आदर्श मापदण्ड माना जा सकता है। इसका निर्धारण भूमि की किस्म एवं कृषक परिवार के आकार के आधार पर सुविधापूर्वक किया जा सकता है। बड़े खेतो के विपरीत आर्थिक जोत के अन्तर्गत साधारणतया छोटे खेतो को सम्मिलित किया जाता है, जिनमे उत्तम किस्म के औजारो, बीजो व खाद आदि का उपयोग किया जा सके। यदि जोत बडी है तथा उत्पादन हेतु उपकरण एवं साधन अपेक्षाकृत कम है, तो वृहत्स्तरीय कृषि लाभप्रद नही हो सकती। पूँजी की पर्याप्त उपलब्धि के कारण अमरीका मे १५० एकड का खेत तथा इंगलैंड मे ५०-६० एकड का खेत बहुत बड़ा नही होगा, लेकिन पूँजी के अभाव के कारण भारत मे ५० एकड का खेत एक अनार्थिक जोत बन जाएगा, क्योंकि यह बहुत बडा है।[1]

कीटिंग ने अपनी पुस्तक (Rural Economy in Bombay Deccan—पृष्ठ ५२-३) मे बताया है कि एक कुएँ तथा छोटे-से मकान के साथ ४०-५० एकड भूमि किसी परिवार के लिए आर्थिक जोत हो सकती है। डा० मान ने २० एकड का एक खेत आर्थिक जोत के रूप मे माना है।[2] उत्तर प्रदेश के लिए कांग्रेस ग्राम्य-समिति ने १५ से २० एकड की जोत को आर्थिक जोत माना था। लेकिन फ्लाउड कमीशन ने बगाल के लिए २½ एकड ही आर्थिक जोत माना है, क्योंकि बगाल की भूमि अपेक्षाकृत अधिक उपजाऊ है तथा वहां अनेक जिलो मे दुहरी खेती होती है। श्री टी० विजय-राघवाचारी ने ४ से ६ एकड के खेत को, जिसमे पर्याप्त साधन प्रयुक्त किये जा रहे हो, एक साधारण आकार के कृषक-परिवार के जीवन-निर्वाह हेतु पर्याप्त माना है।

१९३१ की जनगणना रिपोर्ट (Vol xviii Pt 1) मे आर्थिक जोत के निर्धारण हेतु निम्न तथ्य बताए गये थे :

(अ) खेत की स्थिति एवं प्रकृति—उपयुक्त स्थिति एवं सिंचाई की समुचित व्यवस्था होने पर छोटा खेत भी आर्थिक जोत की श्रेणी मे आ सकता है।

(आ) कृषक का श्रम एवं निपुणता—छोटे खेत पर भी यदि काफी श्रम किया जाए तथा कृषि-प्रणाली अच्छी हो तो वह कृषि लाभप्रद हो सकती है।

(इ) कृषक का जीवन-स्तर—कृषि-व्यवसाय उस परिवार के जीवन स्तर हेतु पर्याप्त होना चाहिए। उच्चवर्ग के लिए बडा खेत होना जरूरी है।

लेकिन आज, जबकि हम जन साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिए कटिबद्ध हैं तो ऐसी स्थिति मे समाज को उच्च व नीच वर्ग मे विभक्त करना उचित नही है।

वास्तव मे आर्थिक जोत का निर्धारण इस आधार पर होना चाहिए कि इसमे कृषि के सभी साधन, भूमि, श्रम, पूँजी व संगठन का इष्टतम संयोग हो।

---

1. Wadia & Merchan—Our Economic Problem P. 219
2. Dr Mann—op. cit. Vol. II, p 43

कांग्रेस की ग्राम्य-सुधार समिति के अनुसार आर्थिक जोत मे निम्न तीन बातें सम्मिलित होनी चाहिए ।[1]

(i) इससे कृषकों को उपयुक्त जीवन-स्तर हेतु साधन उपलब्ध होने चाहिए ।
(ii) सामान्य आकार के परिवार को इस जोत पर पूर्ण रोजगार प्राप्त होना चाहिए ।
(iii) उप क्षेत्र की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव हो ।

अन्त मे यही कहा जा सकता है कि वह जोत आर्थिक जोत है, जो साधारण आकार की हो तथा प्राप्त साधनो के प्रयोग द्वारा जिस पर परिवार के सभी सदस्यो को लाभप्रद रोजगार मिल जाता हो ।

इष्टतम जोत

कुछ अर्थशास्त्रियो ने आर्थिक जोत की अपेक्षा इष्टतम जोत के सिद्धान्त को मान्यता दी है। उनके मत मे इष्टतम जोत वह है जिस पर कृषक-परिवार से सदस्यों के श्रम व कृषक के पास उपलब्ध साधनों का इष्टतम उपयोग हो जाय तथा कृषक-परिवार को जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त आय प्राप्त हो जाय। प्रोफेसर दांतवाला ने लन्दन मे हुए (१९५०) अन्तर्राष्ट्रीय कृषि अर्थशास्त्री सम्मेलन मे इष्टतम अथवा उपयुक्त आकार के खेत का तर्क प्रस्तुत किया था। उपयुक्त आकार मे भी वे ही बाते शामिल होनी चाहिए जो आर्थिक जोत या इष्टतम खेत मे होती है ।

परन्तु इष्टतम, उपयुक्त आकार या आर्थिक जोत के सिद्धान्त भारतीय कृषि मे कोई अर्थ नही रखते। हमारे यहां ७७% कृषको के पास ५ एकड से भी छोटे खेत है। यदि खेत का इष्टतम आकार हम चाहते हैं तो इसके लिए मिट्टी की उर्वरा शक्ति के आधार पर भूमि का पुनर्वितरण करना होगा जो एक अव्यावहारिक बात होगी।

फिर ये सब तर्क इसलिए भी महत्वहीन है कि हमारे यहाँ सब खेतो के लिए पर्याप्त सख्या मे हल व बैल भी नही हैं, राष्ट्रीय सेम्पल सर्वे की रिपोर्ट सख्या ७४ के अनुसार भारत मे १९५५ मे ६ करोड १७ लाख खेत थे और प्रति खेत औसतन ०.७ हल थे। साधनो (हल व बैल) के आधार पर भूमि का उपयुक्त आकार निश्चित करना रोमांच तो है, पर यह वास्तविकता से काफी दूर होगा।[2]

डा प्रफुल्ल सरकार पारिवारिक श्रम के आधार पर खेत के इष्टतम आकार का निर्धारित करना भी अव्यावहारिक मानते है। क्योकि जब वर्षा ठीक होने पर फसल अच्छी होती हैं तो एक ४-५ एकड के खेत पर भी दूसरे मजदूरो को रखना जरूरी हो जाता है जबकि फसल अच्छी न होने पर एक छोटा परिवार भी निष्क्रिय रहता है। फिर यदि इस दिशा मे एक आदर्श (नॉर्म) निश्चित हो भी जाय तो श्रमिको की कार्यक्षमता का अन्तर इष्टतम आकार का निर्धारण करने में बाधा डालता है।

यदि इष्टतम जोतो का निर्माण बडे खेतो की सीमा निश्चित करने से प्राप्त अतिरेक भूमि के कारण किया जाय तो सम्भव है मानवीय श्रम व पूंजी के एक बडे भाग को जो बडे खेतो से मुक्त होगी, उपयोग मे लाना एक समस्या बन जाय।

अन्तिम बात यह है कि चाहे आर्थिक जोत हो या इष्टतम जोत, उत्पादन के अन्य साधनो (भूमि के अलावा) व परिस्थितियों (जीवन स्तर, मूल्य स्तर आदि) मे परिवर्तन होते ही इष्टतम आकार में भी परिवर्तन करना होगा। अस्तु इष्टतम आकार निश्चित नहीं रह सकता।

समान खेतो का तर्क—उपविभाजन की समस्या का एक हल यह भी है कि कृषि भूमि के वितरण मे व्याप्त विषमता को कम कर दिया जाय। प्रो बलजीतसिंह इस मान्यता को लेकर बताते है कि इससे कृषि मे उत्पादकता बढ़ेगी क्योंकि जोतो का आकार ठीक होने पर साधनो का बेहतर आयोग सम्भव हो जाएगा।[3] पर यह आवश्यक नही है कि कृषि जोतो मे व्याप्त विषमता

---

1. Committee Report pp 21-22
2. Prafulla C Sarkar : The Planning of Agriculture in India pp 57 58
3. Baljit Singh . Next Step in Village India (1961) pp 42-45

कम करने पर उत्पादकता में वृद्धि हो जाएगी। इससे तो अच्छा यह है कि जिनके पास ज्यादा बड़े खेत हैं और जो उनका पूरा उपयोग नहीं करते उनसे भूमि लेकर छोटे काश्तकारों को दे दी जाय।

(४) **उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन**—उत्तराधिकार के नियमों में संशोधन किए जाएँ कि पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी संतान यदि समस्त सम्पत्ति का वितरण करे तो खेतों का आकार न्यूनतम सीमा से कम नहीं होना चाहिए। छोटे काश्तकारों की सम्पत्ति का वितरण ही यदि रोक दिया जाय तो यह समस्या सुलझ सकती है। तथापि न्यूनतम जोतों का निर्धारण हुए बिना सम्पत्ति के वितरण को रोकना व्यावहारिक नहीं होगा। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

(५) **सहकारी कृषि**[1]—वैसे तो सहकारी कृषि के अनेक रूप हो सकते हैं परन्तु इसका बहुचर्चित रूप सहकारी संयुक्त कृषि है। इसी के अन्तर्गत कृषक अपनी छोटी २ जोतों को मिलाकर संयुक्त रूप से खेती करते हैं। यही कारण है कि सहकारी सयुक्त कृषि को भी छोटी जोतों की समस्या के समाधान हेतु सुझाया जाता है।

सहकारी सयुक्त कृषि के लिए प्रथम एवं द्वितीय योजनाओं में अपेक्षाकृत अधिक प्रयास नहीं किये गए। तृतीय योजना काल में इसके लिए एक व्यापक-स्तरीय कार्यक्रम बनाया गया। इस अवधि में ३१८ पाइलट प्रोजेक्ट बनाए गए जिनमें प्रत्येक के अन्तर्गत १० सहकारी कृषि समितियों की राजकीय सहायता से स्थापना होनी थी। वस्तुतः इस अवधि में २७४६ समितियों की स्थापना पाइलट प्रोजेक्ट के अन्तर्गत की गई। इनमें ५७,३६४ सदस्य थे और इनके अन्तर्गत २·७८ लाख एकड़ जमीन थी। इनके अलावा व्यक्तिगत प्रयासों द्वारा २३५२ सहकारी समितियाँ स्थापित की गई थी जिनमें ६१,४७१ सदस्य थे और ३ लाख एकड़ कृषि-क्षेत्र था।

१९६६-६७ में ५२१ सहकारी सयुक्त कृषि समितियों की स्थापना की गई। जून, १९६७ तक देश में ८२५४ सहकारी सयुक्त कृषि समितियाँ स्थापित की जा चुकी थीं जिनके पास ११ लाख एकड़ कृषि क्षेत्र था।

जनवरी, १९६८ में सहकारी कृषि सलाहकार बोर्ड ने राज्य सरकारों को निम्न सुझाव प्रेषित किए .

(१) नई सहकारी कृषि समितियाँ केवल उन्हीं क्षेत्रों में बनाई जाएँ जहाँ इसके लिए अनुकूल वातावरण हो, (२) प्रत्येक समिति के पास समस्त भूमि के एकीकरण का निश्चित कार्यक्रम हो, (३) समिति की सारी भूमि पर सयुक्त रूप से खेती हो तथा (४) राज्य द्वारा इन्हें वित्तीय सहायता दी जाय।

---

1. विस्तृत विवरण के लिए २०वां अध्याय देखें।

११

भारत मे कृषि-उत्पादन तथा विकास
(Agricultural Production and Growth Rate in India)

प्रारम्भिक

पिछले अध्याय मे हम भारतीय अर्थव्यवस्था मे कृषि के महत्त्व की व्याख्या कर चुके हैं। प्रस्तुत अध्याय मे तीन बातो का अध्ययन किया जाएगा भूमि का उपयोग, देश मे विभिन्न कृषि पदार्थों का उत्पादन तथा कृषि मे विकास की दर। वस्तुत किसी भी देश की कृषि के विकास हेतु कृषि क्षेत्र मे वृद्धि ही पर्याप्त नही होती। यह भी आवश्यक है कि प्रस्तुत अध्याय मे विभिन्न फसलो की उत्पादकता की प्रवृत्ति की भी समीक्षा की जायेगी।

भूमि का उपयोग तथा कृषि क्षेत्र

किसी भी देश मे समस्त उपलब्ध भूमि कृषि योग्य नही होती। वनो, चरागाहो, मकानो, सडको और अनेक दूसरे उपयोगो के लिए भूमि छोडने के अतिरिक्त हमे वह भी छोडनी होती है जो किसी भी स्थिति मे फसलो के लिए प्रयुक्त नही की जा सकती अथवा जिस पर खेती करना लागत की दृष्टि से सर्वथा व्यावहारिक नही है। भारत मे कुल भौगोलिक क्षेत्र ३२ ७ करोड हैक्टर है जिसमे से लगभग ५ करोड हैक्टर क्षेत्र की सूचनाएँ उपलब्ध नही है और लगभग १६ करोड हैक्टर क्षेत्र पर कृषि नही की जाती अथवा उपरोक्त कारणो से कृषि करना सम्भव नही है। इस प्रकार कुल भौगोलिक क्षेत्र में से लगभग ५९% कृषि हेतु उपलब्ध नही है। शेष १४ ७ हैक्टर भूमि का उपयोग इस प्रकार होता रहा है [1]

(करोड हैक्टर मे)

	१९५०-५१	१९६५-६६	१९६७ ६८	
विशुद्ध कृषि-क्षेत्र	११ ८७	१३ ५८	१३ ८	(अनुमानित)
एक से अधिक बार कृपित क्षेत्र	१ ३२	१ ९१	२ २	
कुल कृषि क्षेत्र	१३ १९	१५ ४९	१६ ०	
चालू परती	१ ०७	१ ११	० ९	

इस प्रकार १९५० ५१ तथा १९६७-६८ के बीच विशुद्ध कृषि क्षेत्र (कुल क्षेत्र का) ८१% से बढकर लगभग ९४% होगया। अन्य शब्दों मे कृषि उत्पादन बढाने के लिए नई भूमि को जोतने की गुंजाइश अब समाप्त हो चली है और हम केवल प्रति हैक्टर उत्पादन (उत्पादकता)

1. See India 1967 p 207, Eastern Economist Annual Number, 1969 pp 1147-48

बढ़ाकर ही अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त कर सकते हैं। उत्पादकता में वृद्धि साधनों के उपयोग को बढ़ाकर ही की जा सकती है। एक से अधिक फसलें बोई जाएँ तब भी उत्पादन में आशानुसार वृद्धि की जा सकती है। तीन या अधिक फसलों की खेती अभी भारत मे अत्यन्त सीमित क्षेत्र मे सम्भव है। १९६७-६८ के अनुकूलतम वर्ष मे भी केवल ७२ लाख हैक्टर भूमि मे तीन या अधिक बार फसलें बोई गई। इस प्रकार कुल कृषि क्षेत्र का केवल १४% एक से अधिक फसलें प्रदान कर पाता है।

विभिन्न फसलों का प्रारूप
(Cropping Pattern)

यह हम पिछले अध्यायो मे स्पष्ट कर चुके हैं कि भारत मे कृषि एक व्यवसाय न होकर जीने का तरीका मात्र है। परिणामस्वरूप भारतीय किसान पहले खाने के लिए अनाज उगाता है और तत्पश्चात् ही साधनो (भूमि व पूँजी) की उपलब्धि के आधार पर अन्य फसलो के लिए सोचता है। यह भी हमे स्मरण रखना है कि भारत का ८०% कृषि क्षेत्र प्रकृति की कृपा पर (वर्षा पर) निर्भर है और इस कारण भी व्यापारिक फसलो की खेती व्यापक स्तर पर नही की जा सकती। निम्न तालिका १९५०-५१, १९६०-६१, १९६५-६६ तथा १९६७-६८ मे विभिन्न प्रकार के फसल-समूहों मे प्रयुक्त भूमि का विवरण प्रस्तुत करती है :[1]

(लाख हैक्टर)

	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६७-६८
१. अनाज	९७८२	९२०	९११	९८८
२. दालें	१९१	२३५	२२१	२२७
३. कुल खाद्यान्न क्षेत्र	९७३	११५५	११३२	१२१५
४ तिलहन	१६६	२१४	२२८	२३६
५. रेशे वाली फसलें	६६	९२	९०	९२

इस प्रकार भारतीय कृषि मे सर्वाधिक क्षेत्र खाद्यान्नो के लिए प्रयुक्त किया जाता है। १९५०-५१ मे इनका अनुपात कुल क्षेत्र का लगभग ७४% था परन्तु १९६७-६८ मे यह बढ़कर ८१% होगया। इस अवधि मे तिलहन का क्षेत्र १२·५% से बढ़कर १४ ७५% तथा रेशे वाली फसलों के क्षेत्र का अनुपात ५% से बढ़कर लगभग ६% हुआ।

विभिन्न फसलों के उत्पादन की प्रवृत्ति[2]

सुविधा के लिए हम भारत की प्रमुख फसलो को निम्न पाँच भागो मे बाँट सकते हैं :

१ खाद्य फसलें : अनाज व दालें

२ तिलहन मूँगफली, तिल, अलसी, अण्डी, सरसो, बिनोले आदि

३ रेशे वाली फसलें : कपास, जूट, मेस्ता

४. बागान वाली फसलें : चाय, कॉफी रबर आदि

५ अन्य ' विशेष रूप से गन्ना, तम्बाकू, मिर्च आदि

इनमे से २९ प्रमुख फसलों तथा ५ गौण (केला, काजू, लाख, कार्डेमम एवं टेपेइका) के विषय में नियमित रूप से समंक प्रकाशित किये जाते है। प्रमुख फसलो में सभी फसलों का अध्ययन एव विश्लेषण की दृष्टि से महत्त्व नही है, अतएव हम केवल मुख्य फसलो के विषय मे विवरण प्रस्तुत करेंगे।

---

1. Eastern Economist op cit. pp. 1320-22.
2 See Eastern Economist Annual Number, 1961 and Agricultural Situation—(Various Issues)

खाद्य फसलें—खाद्य फसलें देश के ८१% कृषि क्षेत्र में बोई जाती हैं, यह ऊपर लिखा जा चुका है। इनमें अनाज व दालें मुख्य हैं। अनाज की श्रेणी मे चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा एव मक्का का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है जबकि दालो में अधिक महत्त्वपूर्ण चना, अरहर हैं।

चावल—चावल देश की ६० से ७०% जनसख्या का आहार है। इसकी खेती उर्वरा भूमि में, जहा पर्याप्त सिंचाई व्यवस्था विद्यमान है, की जा सकती है। इस दृष्टि से पश्चिमी बंगाल बिहार, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश व मद्रास चावल की खेती के लिए अधिक उपयुक्त है।

भारत मे चावल की खेती के लिए सर्वाधिक कृषि क्षेत्र प्रयुक्त किया जाता है। अनुमानत कुल कृषि क्षेत्र का लगभग १/४ तथा कुल खाद्यान्नो के क्षेत्र का ३८% केवल चावल के लिए प्रयुक्त होता है। निम्न तालिका १९५०-५१ से १९६७ ६८ तक की प्रवृत्ति का चित्र प्रस्तुत करती है।

चावल क्षेत्र तथा उत्पादन

	१९५०-५१	१९६४-६५	१९६५-६६	१९६७-६८
क्षेत्र (लाख हैक्टर)	३०८	३६४	३५३	३६७
उत्पादन (लाख टन)	२०६	३४५	३०६	३७९
प्रति हैक्टर उत्पादन (किलोग्राम)	६६८	९७३	८६९	१०३१

उपरोक्त तालिका से यह सकेत मिलता है कि चावल के उत्पादन मे पिछले १७-१८ वर्षों मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। प्रति हैक्टर उत्पादन मे हुआ सुधार भी काफी सतोषजनक है। यद्यपि १९६४-६५ इस दृष्टि से एक रिकॉर्ड वर्ष था पर उसके बाद के दो वर्षों मे सूखे के कारण उत्पादन मे काफी कमी हुई। लेकिन १९६७ ६८ मे पुन उत्पादन तथा इस वर्ष केवल प्रति हैक्टर उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई।

परन्तु आज भी चावल की औसत उपज भारत में अन्य बहुत से देशो मे कम है। जापान मे ४५०० किलो ग्राम चीन मे २५०० किलोग्राम तथा आस्ट्रेलिया मे ६,१४० किलोग्राम चावल प्रति हैक्टर प्राप्त होता है जबकि भारत मे यह औसत १ हजार किलोग्राम ही है।[1]

देश के विभिन्न राज्यो मे १९५८-५९ से १९६७-६८ के बीच जहा चावल का उत्पादन बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र व मध्यप्रदेश मे कम हुआ है पजाब मे इसकी वृद्धि चक्रवृद्धि दर से ५ ३५% मैसूर में २ २७% मद्रास मे २ ८% और पश्चिमी बगाल व आंध्रप्रदेश मे लगभग २% रही है।

गेहूँ—उत्तर प्रदेश हरियाणा, पजाब तथा गुजरात मे गेहूं जन साधारण का तथा राजस्थान, महाराष्ट्र व मध्य प्रदेश में धनिक वर्ग का आहार गेहूँ ही है। गेहूँ के लिए उर्वरा मिट्टी, सामान्य वर्षा तथा फसल पकने के समय सूखी हवाओं का चलना आवश्यक है।

जहाँ चावल खरीफ की फसल है, गेहू रबी की फसल कहलाती है। लेकिन गेहूँ के लिए जो क्षेत्र प्रयुक्त किया जाता है वह चावल की तुलना मे बहुत कम है। निम्न तालिका १९५० ५१, १९६४ ६५, १९६५-६६ तथा १९६७ ६८ की इस सदर्भ मे प्रवृत्ति बताती है

गेहूँ (क्षेत्र तथा उत्पादन)

	१९५०-५१	१९६४-६५	१९६५-६६	१९६७-६८
क्षेत्र (लाख हैक्टर)	९७ ५	१३ ५	१२ ७	१४ ९
उत्पादन (लाख टन)	६४ ६	१२२ ९	१०४ २	१६५ ७
प्रति हैक्टर उत्पादन (किलोग्राम)	६६३	९१३	८२४	११११

---

1 Commerce Annual Number, 1968 p 5

इस प्रकार गेहूँ की उत्पादकता में पिछले १७-१८ वर्षों मे काफी वृद्धि हुई है। इसका अधिकांश श्रेय उत्तम श्रेणी के बीजों को दिया जा सकता है। कुल मिलाकर ऊँची पैदावार वाले बीजो का क्षेत्र १९६६-६७ से १९६८-६९ तक इस प्रकार रहा था :

ऊँची उपज वाले बीजों का क्षेत्रफल[1]

(गेहूँ, चावल, ज्वार, बाजरा व मक्का) (हजार हैक्टर में)

	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९ (लक्ष्य)
चावल	८८७	१७८४	३४४०
गेहूँ	५४०	२९४२	२०२३
बाजरा	५६	४२०	१०१२
मक्का	२०७	२८९	१०१२
ज्वार	१९०	५९९	१०१२

यह उल्लेखनीय है कि गेहूँ की ऊँची उपज वाले बीजो की किस्मे १९६७-६८ मे केवल १४१६ लाख हैक्टर मे बोने का लक्ष्य था परन्तु वास्तव मे २९·४ लाख हैक्टर पर इसकी खेती की गई और यही उत्पादकता के १९६७-६८ मे अधिकतम होने का प्रमुख कारण था।

परन्तु पिछले १७-१८ वर्षों मे देश को जिस खाद्य सकट का सामना करना पड रहा है उसके अन्तर्गत हमें गेहूँ का आयात बहुत अधिक करना पड़ा है। १९६७ मे करीब ६४ लाख टन गेहूँ विदेशो से, विशेषकर स० रा० अमेरिका से मँगाया गया था।

१९५८-५९ व १९६७-६८ के बीच कुल मिलाकर वार्षिक (चक्र वृद्धि) उत्पादन की वृद्धि दर ३ ०५% रही थी। यह वृद्धि गुजरात व पजाब मे जहाँ क्रमश ९ ८५% रही, मध्य-प्रदेश मे ५% तथा महाराष्ट्र मे २% की दर (वार्षिक चक्रवृद्धि) से उत्पादन घटा। राजस्थान मे भी गेहूँ के उत्पादन मे उक्त अवधि मे उत्पादन घटा है।

बाजरा—बाजरा राजस्थान, आन्ध्रप्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा पजाब-हरियाणा के दक्षिणी जिलो मे अधिक उगाया जाता है। यह अनाज ऐसी परिस्थितियो मे अधिक उत्पन्न हो सकता है जहाँ सूखी जलवायु हो। इसके लिए वर्षा अथवा सिंचाई की आवश्यकता भी बहुत कम होती है। चूँकि बाजरे की फसल वर्षा पर ही निर्भर है, इसका प्रति हैक्टर उत्पादन भी गेहूँ या चावल की तुलना मे बहुत कम होता है। १९५०-५१ मे बाजरे का कुल क्षेत्र ९० लाख हैक्टर था (जिसमे से ४०% राजस्थान मे था) जो १९६७-६८ तक बढकर १२५ लाख हैक्टर हो गया। (राजस्थान में अनुपात ४०% ही रहा)। इस अवधि मे उत्पादन २६ लाख टन से बढकर ५१ लाख टन तथा प्रति हैक्टर उत्पादन २८८ किलोग्राम से बढकर ४०९ किलोग्राम हो गया। जैसा कि ऊपर दी गई तालिका से स्पष्ट है, उपज की यह वृद्धि मुख्यतया ऊँची उपज वाले बीजो के बढते हुए उपयोग का ही परिणाम है।

ज्वार—महाराष्ट्र, राजस्थान, मद्रास, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की निर्धन जनता ज्वार ही का प्रमुख खाद्यान्न के रूप मे उपभोग करती है। खाद्यान्न के अतिरिक्त ज्वार का उपयोग पशु खाद्य के रूप में भी किया जाता है। ज्वार की खेती के लिए भी साधारण मिट्टी, सामान्य वर्षा तथा शुष्क जलवायु की आवश्यकता होती है।

ज्वार के लिए कुल खाद्यान्न-क्षेत्र का लगभग २०% प्रयुक्त किया जाता है। लेकिन उपज कुल उत्पादन की १० से १२% तक ही होती है क्योंकि ज्वार का प्रति हैक्टर उत्पादन काफी कम होता है। अग्र तालिका इस तथ्य की पुष्टि करती है

---

1 Eastern Economist op cit p 1156

ज्वार का क्षेत्र, उत्पादन एवं उत्पादकता

	१९५०-५१	१९६४-६५	१९६७-६८
क्षेत्र (लाख हैक्टर मे)	१५६	१७९	१८६
उत्पादन (लाख टन मे)	५५	९७	१००
प्रति हैक्टर उत्पादन (किलोग्राम)	३५३	५४३	५४३

यह उल्लेखनीय है कि १९५२ से १९६८ के बीच जहाँ बाजरे के उत्पादन मे औसतन २% प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई, ज्वार के उत्पादन मे यह वृद्धि १ ४% थी।

मक्का—मक्का भी पशु खाद्य एव मानवीय आहार दोनो मे प्रयुक्त की जाती है। परन्तु मक्का की खेती के लिए १५ से ३० इच वर्षा अथवा पर्याप्त सिंचाई-व्यवस्था आवश्यक है। दक्षिण राजस्थान, पजाब, उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश मक्का के खेती के लिए अधिक उपयुक्त हैं। १९५०-५१ मे मक्का की खेती ३१६ लाख हैक्टर भूमि मे की गई थी तथा कुल उत्पादन उस वर्ष १७ लाख टन था। १९६७-६८ मे मक्का का क्षेत्र लगभग ५६ लाख हैक्टर तथा उत्पादन ६३ लाख टन था। इस प्रकार मक्का के उत्पादन की वृद्धि १७ वर्ष मे सर्वाधिक थी। इस अवधि मे प्रति हैक्टर उत्पादन दुगुना हो गया, और वार्षिक उत्पादन वृद्धि ३ ५% रही। ज्वार व बाजरे की भाँति ऊँची उपज वाले बीजो का उपयोग मक्का के लिए भी निरन्तर बढ रहा है।

अन्य खाद्यान्न—उपरोक्त खाद्यान्नो के अतिरिक्त जौ, तथा दालें भी भारत की खाद्य फसलो मे प्रमुख स्थान रखती है। दालो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण चना है। लेकिन १९५०-५१ से १९६७-६८ के बीच इनके क्षेत्र मे बहुत उल्लेखनीय वृद्धि नही हुई है। निम्न तालिका से इसका पता चल सकता है

	१९५०-५१	१९६४-६५	१९६५-६६	१९६६-६८
१ जौ क्षेत्र (लाख हैक्टर)	३१	२७	२६	३३
उत्पादन (लाख टन)	२४	२५	२४	३५
प्रति एकड उपज (किलोग्राम)	७६४	९४०	९०३	१०४३
२ चना क्षेत्र (लाख हैक्टर)	७५	८९	८०	८२
उत्पादन (लाख टन)	३७	५८	४२	६०
प्रति एकड उपज (किलोग्राम)	४८२	६५०	५२६	७३४
३ अरहर क्षेत्र (लाख हैक्टर)	२२	२५	२५	२७
उत्पादन (लाख टन)	१७	१९	१७	१७
प्रति एकड उपज (किलोग्राम)	७८८	७५६	६९९	६४७
४ अन्य दालें क्षेत्र (लाख हैक्टर)	९४	१२४	११६	१४५
उत्पादन (लाख टन)	३०	४७	३९	४५

इस प्रकार सभी प्रकार की खाद्य फसलों मे प्रति हैक्टर उपज आर्थिक नियोजन के पिछले १७-१८ वर्षों मे काफी सुधार हुआ है।

अखाद्य फसलें

रेशे वाली फसलें (१) कपास—कपास की खेती भारत मे बहुत प्राचीन काल से की जाती रही है। परन्तु भारत मे केवल कुछ क्षेत्रो को छोडकर जहाँ भी कपास की खेती की जाती है, लम्बे रेशे वाली कपास उत्पन्न नही होती। वस्तुत कपास की खेती के लिए ज्वालामुखी की लावा मिट्टी (चिकनी काली मिट्टी) आदर्श मिट्टी होती है जो मध्यप्रदेश, गुजरात व मद्रास के कुछ ही जिलों मे पाई जाती है। फिर भी जैसा कि आगे बताया गया है, लम्बे रेशे वाली कपास की अधिकाश पूर्ति हमे आयात द्वारा ही करनी होती है।

कपास (क्षेत्र, उत्पादन तथा उपज)

	१९५०-५१	१९६४-६५	१९६५-६६	१९६७-६८
क्षेत्र (लाख हैक्टर)	५९	८३	७९	८०
उत्पादन (लाख गाँठों में)	२९	५७	४८	५६
प्रति हैक्टर उपज (किलोग्राम)	८८	१२३	१०८	१२४

इस प्रकार प्रति हैक्टर उपज के क्षेत्र मे बहुत अधिक प्रगति नही की जा सकी है। भारत की तुलना मे ग्वाटेमाला, मिश्र, संयुक्त राज्य अमरीका आदि देशों मे ५ से ७ गुनी कपास प्रति हैक्टर प्राप्त होती है।[1] पिछले कुछ वर्षो मे कपास के संदर्भ मे दो प्रमुख परन्तु परस्पर सम्बन्धित समस्याएँ हमारे समक्ष उपस्थित हुई है—प्रथम उच्चकोटि की कपास की कमी तथा द्वितीय प्रति हैक्टर उपज। उपज की कमी के फलस्वरूप उत्पादन आशानुरूप नही बढ पाता तथा यदा-कदा प्रकृति के रोष के फलस्वरूप उत्पादन उल्टे कम होता है और कपास के अभाव का संकट और गम्भीर हो जाता है।

अच्छी कपास का १९५०-५१ के बाद से निरन्तर अधिकाधिक आयात किया जाता रहा है। औसतन इस अवधि मे प्रतिवर्ष ६ से ७ लाख गाँठ कपास बाहर से मँगाई गई। १९६७ मे ९·७६ लाख गाँठो का आयात हुआ। १९६४ मे भी ९ ३ लाख गाँठ कपास बाहर से आई थी जबकि १९६५ मे ५ ३ लाख गाँठो का आयात हुआ।[2]

परन्तु दूसरी ओर भारत से छोटे रेशे वाली कपास का निर्यात भी किया जाता है। १९५१ के बाद हमारे देश से प्रति वर्ष (औसत) २ से २½ लाख गाँठ कपास बाहर भेजी गई है। कपास का उत्पादन तेजी से बढाकर देश को इस दिशा मे आत्मनिर्भर होने के लिए गहरी खेती की जा रही है।

वस्तुत कुल कपास-क्षेत्र का ८०% से अधिक पूर्णतया वर्षा पर निर्भर है तथा कपास की खेती भी इस देश मे परम्परागत तरीको से की जाती है। परन्तु १९५०-५१ से सरकार (केन्द्रीय) ने **कपास विस्तार कार्यक्रम** प्रारम्भ किए। इनके अन्तर्गत जिन क्षेत्रो मे उत्पादन बढाने की सभी सुविधाएँ थी वहां अच्छे बीजो का परीक्षण के तौर पर उपयोग किया गया। १९६६ तक सरकार ने ऊंची उपज वाले बीजो का उपयोग करने वाले काश्तकारो को आंशिक रूप से सहायता प्रदान की। १९६७ से केन्द्रीय सरकार ने ऐसे क्षेत्रो (पैकेज क्षेत्र) मे स्टॉफ का शत-प्रतिशत तथा पौध सरक्षण का ५०% देना प्रारम्भ किया है। इसके फलस्वरूप पैकेज कार्यक्रम वाले क्षेत्र मे बहुत वृद्धि हुई है।

कपास का पैकेज-कार्यक्रम-क्षेत्र[3]

(हजार हैक्टर मे)

	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९ (लक्ष्य)
कुल क्षेत्र	५०५	८०८	९६६
महाराष्ट्र	९०	१९२	२२६
पंजाब	१४१	२८६	२८६
गुजरात	९५	९५	११५

इस प्रकार कपास के अभाव को दूर करने के लिए केन्द्रीय सरकार सतत् प्रयत्न कर रही है।

1. प्रति एकड कपास का उत्पादन (पौंड में) सोवियत रूस ६९२, मैक्सिको ६१४, स० अरब गणराज्य ५९१, (१९६६-३७ मे) सं० राज्य अमरीका ५०८, पीरू ४८५, विश्व का औसत ३०४, पाकिस्तान २३५ तथा भारत ११४ (See the Pamphlet op cit, p. 21)
2. See Currency & finance Reports 1967-68
3. Economic Times : January 8, 1969

रेशे वाली फसलें - (२) **जूट तथा मेस्ता**[1]—जूट उद्योग विदेशी विनिमय प्राप्ति की दृष्टि से देश का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्योग है। परन्तु इस उद्योग का भविष्य विदेशी माँग के अतिरिक्त कच्चे माल (जूट) की उपलब्धि पर भी निर्भर होगा। जूट की उपलब्धि केवल अत्यधिक उपजाऊ क्षेत्रो मे (जहाँ पानी की भी प्रचुरता हो) हो सकती है। इस दृष्टि से आदर्श स्थिति पश्चिमी बगाल, पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार व उडीसा की है।

१९५०-५१ मे केवल ५ ७ लाख हैक्टर भूमि मे जूट की खेती की गई थी तथा इस वर्ष ३३ लाख गाठ जूट का उत्पादन हुआ। तबसे लेकर १९६७-६८ तक जूट के क्षेत्र मे अनेक उतार-चढाव हुए है। १९६७ ६८ मे पहली बार लगभग ९ लाख हैक्टर क्षेत्र मे जूट की खेती की गई तथा अनुमानत ६३ ७ लाख गाँठ का उत्पादन हुआ। प्रति हैक्टर उत्पादन १९५०-५१ मे १०४३ किलोग्राम था जो १९६७ ६८ तक बढकर लगभग १३०० किलोग्राम हो गया। परन्तु कुल मिलाकर १९५८-५९ के बाद प्रति हैक्टर उत्पादन लगभग स्थिर रहा है।

कपास की भाति जूट का उत्पादन भी माँग के अनुरूप नही बढाया जा सका है और फलस्वरूप भारत को विदेशो पर निर्भर रहना पडता है। १९५० ५१ मे लगभग २८ करोड रुपये की जूट बाहर से मँगाई गई परन्तु इसके अगले वर्ष ६७ करोड रुपए की जूट का आयात हुआ। इसके बाद १९५५-५६ तक १४ से १८ करोड रुपए की जूट प्रतिवर्ष आयात की गई। १९५५-५६ से १९६५-६६ तक भी बहुत कम मात्रा मे जूट का आयात हुआ पर फसल खराब होने के कारण १९६६-६७ मे पुन २१ करोड रुपए की जूट बाहर से मँगाई गई।

जूट की कमी को दो प्रकार से पूरा करने का प्रयास किया जा रहा है। प्रथम जूट की गहरी खेती द्वारा, तथा द्वितीय, मेस्ता का उपयोग बढाकर।

पिछले कुछ वर्षों मे जूट तथा मेस्ता उत्पादक क्षेत्रो मे जूट मिल्स द्वारा १००-१०० एकड के खेतो मे गहरी खेती द्वारा अधिक उपज प्राप्त करने के प्रयास किए जा रहे है। इसके लिए किसानो को मिलो द्वारा समुचित प्रशिक्षण दिया जाता है तथा उन्हे अन्य सुविधाए प्रदान की जाती है। कुछ ही समय पूर्व जूट अनुसन्धान संस्थान ने जूट की एक ऐसी संकर किस्म या बीज आविष्कृत किया है जिसमे १३ से १४ गाठ प्रति हैक्टर का उत्पादन हो सकता है। फिलहाल जूट की गहरी खेती पश्चिमी बगाल तक सीमित है परन्तु आशा है बिहार, उडीसा व आन्ध्रप्रदेश के सिंचित क्षेत्रो मे भी इसका विस्तार हो सकेगा।

मेस्ता जूट का प्रतिस्थापन कर सकता है। प्रथम योजना काल मे जूट का बहुत अधिक अभाव था और उसकी पूर्ति मेस्ता द्वारा की गई। तभी से मेस्ता का उपयोग बढ रहा है। १९५५ ५६ मे २-३ लाख हैक्टर क्षेत्र मे मेस्ता की खेती की गई थी, १९६७-६८ मे यह क्षेत्र बढकर ३ १ लाख हैक्टर हो गया। इस अवधि मे मेस्ता का उत्पादन ११ ६ लाख गाँठ से घटकर ११ ३ लाख गाँठ हो गया। इस प्रकार मेस्ता की उत्पादकता १९६७ ६८ की अपेक्षा १९५०-५१ मे अधिक रही थी। परन्तु जूट के अभाव मे इसके उपयोग के सिवाय कोई विकल्प शेष नही रह जाता।

तिलहन

जैसा कि अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठो मे बताया गया है, कुल कृषि क्षेत्र का १४ से १५% तक तिलहन के लिए प्रयुक्त होता है। भारत मे उगाए जाने वाले तिलहनो मे प्रमुख इस प्रकार है मूँगफली, सरसो, अलसी तिल (सेसायम) अरडी, तथा बिनौले। वस्तुत: बिनौले कपास के साथ ही प्राप्त हो जाते है, अत इनका क्षेत्र कपास के क्षेत्र के समान ही रहता है। नीचे दी गई तालिका से यह ज्ञात हो जाता है कि तिलहन मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूँगफली है। इन सबसे तेल निकालने के बाद खली का उपयोग पशु खाद्य व खाद के रूप मे तथा तेल का उपयोग मानवीय भोजन के लिए किया जाता है। तिलहन से प्राप्त खली का पर्याप्त मात्रा मे निर्यात भी किया जाता है।

---

1 Eastern Economist op cit pp 1270-73

नोट—१९६७-६८ मे जूट के क्षेत्र का ५६% पश्चिमी बगाल व १८% बिहार मे था। कुल उत्पादन का ६१% तथा १३% क्रमश इन दोनो राज्यो मे हुआ।

तिलहन—क्षेत्र, उत्पादन एवं प्रति हैक्टर उपज

		१९५०-५१	१९६५-६६	१९६७-६८
१. मूंगफली :	(अ) क्षेत्र	४५	७४	७६
	(ब) उत्पादन	३५	४२	५८
	(स) उपज	७७५	५७०	७७२
२ अरंडी :	(अ) क्षेत्र	६	४	४
	(ब) उत्पादन	१	०·८	१
	(स) उपज	१८६	१९५	२७५
३ तिल :	(अ) क्षेत्र	२२	२५	२७
	(ब) उत्पादन	४	४	४
	(स) उपज	२०२	१७१	१५७
४. सरसों :	(अ) क्षेत्र	२१	२९	३२
	(ब) उत्पादन	८	१३	१५
	(स) उपज	३६३	४४२	४६३
५. अलसी :	(अ) क्षेत्र	१४	१७	१७
	(ब) उत्पादन	४	३	४
	(स) उपज	२६२	१९४	२३८
६ बिनौले :	(अ) क्षेत्र	५९	७९	८०
	(ब) उत्पादन	१०	१७	२०
	(स) उपज	१७२	२१२	२४९

[(अ) क्षेत्र—लाख हैक्टर में; उत्पादन लाख टन में; उपज किलोग्राम प्रति हैक्टर में]

इस प्रकार मूंगफली व तिल की प्रति हैक्टर उपलब्धि में सुधार की अपेक्षा कमी होती जा रही है। अलसी के सन्दर्भ में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। फिर भी तिलहन का उत्पादन कुल मिलाकर बढ़ रहा है यह एक सन्तोष की बात है।

बागान वाली फसलें

बागान वाली फसलों में चाय, कॉफी तथा रबड़ का स्थान महत्वपूर्ण है। चाय इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसके निर्यात द्वारा हमें लगभग १५० करोड़ रुपए की विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। १९६७-६८ में तो भारत से लगभग १८० करोड़ रुपए की चाय का निर्यात हुआ था।

चाय की खेती साधारणतया पहाड़ी ढलानों पर ही की जा सकती है जहाँ पर्याप्त वर्षा हो तथा मिट्टी काफी उपजाऊ हो। पूर्वी भारत (आसाम, पश्चिमी बंगाल तथा हिमालय की निचली शृंखलाएँ) में चाय का लगभग ८०% क्षेत्र तथा उत्पादन केन्द्रित है जबकि शेष दक्षिणी भारत में।

१९५०-५१ में चाय का कुल क्षेत्र ३ १ लाख हैक्टर था तथा उत्पादन २७ ५ करोड़ किलोग्राम था। १९६७-६८ तक चाय का क्षेत्र ३ ५ लाख हैक्टर तथा उत्पादन ३८ ३ करोड़ किलोग्राम तक बढ़ गया। इस प्रकार चाय के क्षेत्र में केवल १३% वृद्धि हुई जबकि कुल उत्पादन में ३९% वृद्धि हो गई। प्रति हैक्टर उत्पादन इस अवधि में ८७६ किलोग्राम से बढ़कर ११०० किलोग्राम हो गया। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि चाय की उपज में यह वृद्धि दीर्घकाल तक नहीं चल सकेगी। क्योंकि चाय की फसल प्रतिवर्ष नहीं उगाई जाती, अपितु चाय की झाड़ियों से निरन्तर कई वर्षों तक पत्तियाँ चुनी जा सकती हैं। जैसे-जैसे झाड़ियाँ पुरानी होती जाती हैं चाय की उपलब्ध मात्रा में उत्तरोत्तर कमी होती जाती है। नई झाड़ियाँ लगाने के लिए सरकार अनुदान देती है पर अनुदान की राशि देना ही पर्याप्त नहीं है।

१९६४ में चाय-वित्त (वारी) समिति ने बताया था कि उस समय २१% झाड़ियाँ ६० वर्ष से अधिक तथा ३०% अन्य झाड़ियाँ २५ से ६० वर्ष पुरानी पाई गई थीं। अस्तु, आधी

भाड़ियाँ ही २५ वर्ष से कम आयु की थी। दूसरी ओर पूर्वी अफ्रीका व ब्राजील मे (जो हमारे विश्व के बाजार मे प्रतियोगी है) अधिकाश चाय की झाडियां १२ वर्ष से कम आयु की है।

एक बात और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—और वह है, चाय के निर्यात का प्रश्न। लगभग १५ वर्ष पूर्व विश्व के कुल निर्यात का लगभग आधा भाग भारत से निर्यात किया जाता था। परन्तु १९६६-६७ तक यह अनुमान घटकर ३३% रह गया। इसके कारणों का विश्लेषण विदेशी व्यापार के अध्याय मे किया गया है। यहाँ केवल यह बता देना पर्याप्त होगा कि भारत का चाय उद्योग काफी सीमा तक विदेशी मॉग पर निर्भर है और विदेशी माँग की प्रतिकूल प्रवृत्ति इस उद्योग के लिए अशुभ ही सिद्ध होगी, क्योंकि भारत कुल उत्पादन का ५२ से ५५% तक निर्यात कर देता है।

कॉफी तथा रबड—कॉफी तथा रबड की मांग पिछले २० वर्षो मे काफी अधिक हुई है। निम्न तालिका मे इनके क्षेत्र व उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई है।[1]

		१९५०-५१	१९६४-६५	१९६५-६६
कॉफी	वास्तविक क्षेत्र	८३	१११	उपलब्ध नही
	उत्पादन	२ ५	४ ३	उपलब्ध नही
रबड	वास्तविक क्षेत्र	४२	१०७	१११
	उत्पादन	१ ४	४ ४	५ ०

(क्षेत्र हजार हैक्टर मे, उत्पादन करोड किलोग्राम मे)

इस प्रकार चाय की भाँति कॉफी व रबड का उत्पादन भी माँग के अनुरूप बढ रहा है। कॉफी की प्रति हैक्टर उपज २९८ किलोग्राम (१९५० ५१) से बढकर १९६४-६५ तक ४२६ किलोग्राम तथा रबड की उपज ३४२ किलोग्राम प्रति हैक्टर मे बढकर १९६४-६५ तक ४०८ किलोग्राम हो गया।

अनुमानत १९६८-६९ मे ७ करोड किलोग्राम कॉफी देश मे उत्पन्न होगी जिसमे से १९६९-७० के वर्ष मे ३ २ करोड किलोग्राम का निर्यात किया जा सकेगा।[2]

अन्य व्यापारिक फसलें

(अ) **तम्बाकू**—धूम्रपान हेतु तम्बाकू का उपयोग भारत मे बहुत प्राचीन समय से होता रहा है। विशेष रूप से महाराष्ट्र गुजरात व आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के कुछ भागो की मिट्टी तम्बाकू की खेती के लिए उपयुक्त है। यह उल्लेखनीय है कि तम्बाकू (अनमैन्युफेक्चड) के निर्यात से हमें ३० से ३५ करोड रुपए की विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। १९६७-६८ मे लगभग ४ लाख हैक्टर भूमि प्रयुक्त की गई थी तथा ३ ४४ लाख टन तम्बाकू का उत्पादन हुआ था। १९५०-५१ मे तम्बाकू का क्षेत्र तथा उत्पादन क्रमश ३ ६ लाख हैक्टर तथा ५ ६ लाख टन था। इस प्रकार प्रति हैक्टर उपज उक्त अवधि मे ७३१ किलोग्राम से बढकर ८६५ किलोग्राम हो गयी। १९६७ ६८ मे भारत से ३४ ७ करोड रुपए की तम्बाकू बाहर भेजी गई।

(आ) **गन्ना**—गन्ना भी भारत की प्रमुख व्यापारिक फसलो मे से एक है। इसकी उत्पत्ति के लिए उबरा मिट्टी, पर्याप्त पानी तथा गर्मी की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश, पजाब, महाराष्ट्र तथा आन्ध्र प्रदेश भारत के प्रमुख गन्ना उत्पादक राज्य है। अनुमानत उत्तर प्रदेश मे देश की कुल उपज का ४०%, महाराष्ट्र मे १८% तथा आन्ध्र प्रदेश व पजाब मे १० व १२% गन्ना उत्पन्न होता है। यह उल्लेखनीय है कि बीस वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश मे कुल उत्पादन का लगभग ६०% उत्पन्न होता था।

---

1 कॉफी का कुल क्षेत्र १९६५ मे १५८ हजार हैक्टर था। वास्तविक क्षेत्र मे हम उस क्षेत्र को शामिल करते हैं जिसमे से कॉफी निकाली गई है। रबड का कुल क्षेत्र उस वर्ष १५४ हजार हैक्टर था।

2 Economic Times January 16, 1969

गन्ने के उत्पादन की समीक्षा गन्ने के वजन तथा उससे प्राप्त गुड की मात्रा दोनो ही आधार पर की जानी चाहिए। इस दृष्टि से १९५०-५१ व १९६७-६८ के बीच प्रति हैक्टर गन्ने की उपज ३३४ क्विंटल से बढकर ४७६ क्विंटल (वृद्धि ४२%) तथा प्रति हैक्टर गुड की उपलब्धि ३·३ क्विंटल से बढकर ४ ९ क्विंटल हो गई। इस प्रकार गुड की उपलब्धि पूर्वापेक्षा बढ़ी है।

(ई) अन्य फसलें अन्य महत्वपूर्ण व्यापारिक फसलो का क्षेत्र, प्रति हैक्टर उत्पादन तथा कुल उत्पादन १९५०-५१ तथा १९६६-६७ के बीच इस प्रकार रहा

	१९५०-५१			१९६६-६७		
नाम फसल	क्षेत्र	उत्पादन	उपज	क्षेत्र	उत्पादन	उपज
१. काली मिर्च	८०	२१	२६३	१०२	२३	२२२
२ काजू[1]	७७	८२	१०६५	२०२	१६०	७८९
३. आलू	२४०	१६६०	६९१७	५०४	४२३३	८३९९

[नोट—क्षेत्र हजार हैक्टर मे, उत्पादन हजार टन मे तथा उपज किलोग्राम प्रति हैक्टर]

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में महत्त्वपूर्ण कृषि उत्पादन लक्ष्य

(Main Targets of Agricultural Production during Fourth Plan Period)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे कृषि उत्पादन लक्ष्य सम्भावित प्रति व्यक्ति आय, उपभोग तथा जनसंख्या में वृद्धि की दर को ध्यान मे रखकर किये गये है। यह आशा व्यक्त की गयी है कि चतुर्थ योजना के अन्त मे भारत खाद्यान्न के क्षेत्र मे पूर्ण आत्मनिर्भर हो जायेगा। केवल लम्बे रेशे वाली रुई के आयात को छोड़कर अन्य सभी कृषि पदार्थों का आयात या तो बन्द हो जायगा अथवा न्यूनतम रह जायगा। चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाकाल मे कृषि उत्पादन के महत्त्वपूर्ण निर्धारित लक्ष्यों को निम्न तालिका द्वारा प्रदर्शित किया गया है

क्रम संख्या	कृषि उत्पत्ति का नाम	इकाई (Unit)	१९६८-६९ में संभावित उत्पादन	१९७३-७४ के लिए निर्धारित लक्ष्य
१	खाद्यान्न उत्पादन	मिलयन टनो मे	९८	१२९
२.	गन्ने का उत्पादन	,, ,,	१२	१५
३.	बिनौले	,, ,,	८·५	१० ५
४	कपास	मिलियन गाँठो मे	६	८
५.	जूट	,, ,,	६ २	७·४
६	चाय	हजार टनो मे	४१८	४५०
७.	तम्बाकू	,, ,,	३८०	४८०

Targets of High Yielding Varieties Programme

S. N.	Crop		Additional Target in Million hectores
1.	Paddy	....	6·6
2.	Wheat	... .	4 0
3.	Maize	....	1·0
4	Jowar	....	2·2
5.	Bajara	....	1·8

1. काजू के आंकडे १९५५-५६ एव १९६६-६७ के हैं।

कृषि की विकास दर[1]—चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि-उत्पादन की वृद्धि दर ५% रखने का लक्ष्य रखा गया है। ऊँची उपज वाले बीजो, उर्वरको तथा पर्याप्त सिचाई के साधनो के माध्यम से यह सब असम्भव प्रतीत नही होता। परन्तु हमे कृषि की अब तक की प्रगति एव विकास की प्रक्रिया मे अनुभव की गई कठिनाइयो को भी दृष्टिगत रखना चाहिए।

कृषि की विकास दर का अनेक रूप मे देखा जा सकता है। खाद्य व अखाद्य फसलो के उत्पादन की प्रवृत्ति (Trend) के रूप मे, विभिन्न राज्यो की विकास दरो के रूप मे व्यक्तिगत फसलो की प्रवृत्ति के रूप मे तथा क्षेत्र एव उत्पादकता की प्रवृत्ति के रूप मे। हम इन सभी के आधार पर भारतीय कृषि के विकास की समीक्षा करेंगे।

कृषि की सामान्य विकास दर—अधिकाश अर्थशास्त्रियो ने कृषि की विकास दर का १९५२-५३ से १९६४-६५ के बीच विश्लेषण किया है। किन्ही दो अर्थशास्त्रियो ने १९६७-६८ तक की विकास दर का भी अनुमान किया है। परन्तु दो कारणो से १९६४-६५ तक की कृषि विकास दर अधिक वास्तविक प्रतीत होती है। प्रथम १९६४-६५ के रिकार्ड उत्पादन के बाद दो वर्ष भयकर सूखे के कारण कृषि के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले थे। द्वितीय, १९६७-६८ की उपज (कुल) की वास्तविक मात्रा हमे ज्ञात नही है और ये अनुमान केवल फसलो के अतिम अनुमानो पर ही आधारित है।

यदि उक्त दो वर्षो को छोड दिया तो १९५२-५३ तथा १९६७-६८ के बीच खाद्यान्नो का उत्पादन १ ५% की वार्षिक दर (सेमी लॉग लीनियर) से बढा। सम्भवत जापान के आर्थिक विकास के स्वर्ण युग (मीजो शासन काल—१८८० से १९१५) मे कृषि की विकास दर (१ ८%) मे यह वृद्धि बहुत अधिक रही थी।[2] चक्रवृद्धि दर से १९५१ ५२ एव १९६७-६८ के बीच (दोनो वर्षो १९६६ ६७ को मिलाकर) केवल खाद्यान्नो के उत्पादन की वृद्धि २ २५% प्रतिवर्ष रही थी। सभी फसलो के उत्पादन मे इस अवधि मे १ ७% की दर से वृद्धि हुई।

यदि १९४९ ५० को आधार वर्ष माना जाय तो १९६७-६८ तक खाद्यान्नो के उत्पादन की कुल वृद्धि ६०% अ-खाद्य वस्तुओ के उत्पादन मे ६४ ७% तथा सभी फसलो के उत्पादन मे ६१ ८% वृद्धि हुई। अखाद्य फसलो के उत्पादन की यह वृद्धि अधिक इसलिए दिखाई देती है कि १९४९-५० तक विभाजन का प्रभाव कृषि व्यवस्था पर था और उस वर्ष जूट, कपास आदि वस्तुओ का उत्पादन बहुत कम था जो १९५२-५३ तक काफी बढ गया।

यदि १९५० ५१ एव १९५६-५७ १९६४-६५ तथा १९६७-६८ के बीच की खाद्यान्नो के उत्पादन के वृद्धि पर (चक्रवृद्धि) देखी जाय तो यह इस प्रकार रही थी[3]

	वार्षिक चक्रवृद्धि दर (प्रतिशत)
१९५० ५१ से १९५६-५७	५ ४%
१९५०-५१ से १९६४-६५	२ ९८
१९५०-५१ से १९६७ ६८	२ २५

इसका यह अर्थ हुआ कि प्रथम योजना काल म खाद्यान्नो का उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक तेजी स बढा।

द्वितीय योजना मे (१९५७-५८) १९६४-६५ तक उत्पादन वृद्धि की दर २ ७८% रही परन्तु १९६७ ६८ की अवधि के बीच चक्रवृद्धि दर १ ४% ही रह गई। इन सबका यह अर्थ हुआ कि खाद्यान्नो के उत्पादन मे वृद्धि दर मे सामान्य और असामान्य मौसम के कारण असाधारण रूप से कमी या सुधार हो जाता है।

---

1 See Review of Agriculture Economic and Political Weekly Nov 1968

2. Pranab Bardhan Agriculture in China & India See Economic & Political Weekly Annual No 1969

3 Eastern Economist op cit p 1323

१९५१-५२ तथा १९६४-६५ के बीच उत्पादन की प्रवृत्ति की भी समीक्षा की जा सकती है क्योंकि १९६४-६५ एक ऐसा रिकार्ड वर्ष है जिस तक हमें उत्पादन के संशोधित अनुमान मिल जाते है। चूँकि १९६४-६५ मे अनुकूलतम परिस्थितियाँ उपलब्ध थीं, उस वर्ष कृषि क्षेत्र का उत्पादन बहुत अधिक हुआ और इस कारण भारतीय कृषि की उत्पादन वृद्धि दर मे एक दम सुधार हुआ। फलस्वरूप यह दावा किया जाने लगा कि भारतीय कृषि का विकास अन्य बहुत से विकसित देशों से कहीं अधिक दर पर हो रहा है। नीचे दी गई तालिका इसकी पुष्टि करती है।[1]

(१९५१-५२ से १९६४-६५ उत्पादन की रेखीय (Linear) वृद्धि दर (प्रतिशत वार्षिक)

	खाद्यान्न	अ-खाद्यान्न
भारत	३ ४२	२ ७५
सं० राज्य अमरीका	१ ७७	१ ९९
ब्रिटेन	३ ५५	३ ५९
जापान	३ ५२	३ ७५
कनाडा	१ ५५	१ ४९
इटली	१·८७	२ ०७
सं० अरब गणराज्य	४ ०८	४·६२
पाकिस्तान	२·५७	२ ६३

इस प्रकार १९६४-६५ तक भारतीय कृषि की विकास दर अत्यन्त सतोषप्रद रही। परन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इसके बाद दो वर्ष अत्यत प्रतिकूल रहे और फलस्वरूप विकास-दर मे एकदम कमी हो गई। राज्यो मे कृषि की विकास-दरो का अनुमान १९६४-६५ तक के लिए किया गया है। इनसे ज्ञात होता है कि भारत के विभिन्न राज्यो मे कृषि की विकास दर एक सी नही रही है। निम्न तालिका से यह स्पष्ट होता है

कृषि विकास दर (१९५२-५३ से १९६४-६५)

(प्रतिशत चक्रवृद्धि दर)

	उत्पादन		क्षेत्र		प्रति हैक्टर उपज	
	सभी फसलें	अ-खाद्य फसलें	सभी फसलें	अ-खाद्य फसलें	सभी फसलें	अ-खाद्य फसलें
आन्ध्रप्रदेश	२ ८	२ २	० ४	—१ ०	२ ३	३·२
आसाम	१ १	१ ५	१ २	१ २	—० १	० ३
बिहार	२ ५	२ ३	० ६	१·६	२ ०	० ७
गुजरात	३ ८	५ ७	० ३	४ ६	३ ५	१ २
हिमाचल प्रदेश	३·२	१ ६	० ७	२ ९	२ ५	—१ ३
केरल	२ ३	१ ७	१ २	१·९	१·०	—० १
मध्यप्रदेश	२ ३	३·९	१ ३	१ ६	१·०	२ ३
मद्रास	४ ०	३ ९	१·०	२·३	३ ०	१·७
महाराष्ट्र	२ ५	४ ०	८·४	० ९	२·१	३·०
मैसूर	३·५	४·४	० ९	० ८	२ ७	३ ५
उडीसा	२ ३	३ १	०·९	१·८	१ ४	१ ६
पंजाब	४ ४	६ ९	२ ०	४ ४	२ ३	२ २
राजस्थान	२ ४	२ ४	२ ९	२ ९	० ४	—० ८
उत्तरप्रदेश	१ २	३ ३	० ७	० ७	० ६	१ २
पश्चिमी बंगाल	१ ७	३ ३	०·५	३ ७	१·१	—० ३

1. R S Chaddha : All.India and state Linear Growth Rates of agricultural production in agricultural situation in India, January, 1967

इस प्रकार १९५२-५३ व १९६४-६५ के बीच चक्रवृद्धि दर से कृषि का विकास केवल गुजरात, पजाब, महाराष्ट्र, आध्रप्रदेश तथा मद्रास मे सन्तोषप्रद रहा। यह उल्लेखनीय है कि उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, पश्चिमी बगाल, गुजरात तथा आध्र व बिहार मे जनसख्या का घनत्व अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण कृषि क्षेत्र मे उपरोक्त अवधि मे अधिक वृद्धि नही हुई अपितु इन राज्यो मे उत्पादन की वृद्धि प्रधानतया उपज की वृद्धि के कारण हुई है। राजस्थान, पजाब, तथा मध्य प्रदेश मे उत्पादन की वृद्धि प्रधानतया क्षेत्र के विस्तार के कारण हुई।

जहां तक फसलो की उत्पादन-वृद्धि का प्रश्न है, पजाब, गुजरात व महाराष्ट्र मे व्यापारिक फसलो के उत्पादन की वृद्धि-दर काफी सतोषप्रद रही है। लेकिन आलोच्य अवधि मे खाद्य फसलो की उत्पादन वृद्धि (चक्रवृद्धि) दर अपेक्षाकृत अधिक रही है। १९५०-५१ व १९६४-६५ के बीच प्रमुख खाद्यान्नो के उत्पादन मे ३ ०% से ३ ६% तक प्रतिवर्ष वृद्धि हुई, (औसत वृद्धि ३ १% सभी खाद्यान्नो मे) गैर खाद्यान्नो के उत्पादन मे यह वृद्धि केवल रबड, मेस्ता, कपास व मूंगफली मे सतोषप्रद थी। परन्तु खाद्य फसलो की प्रति हैक्टर उपज इस अवधि मे १ ९५% प्रतिवर्ष की दर से बढी जबकि अ-खाद्य फसलो मे यह वृद्धि १ ०६% ही थी। इसका यह अर्थ हुआ कि कुल मिलाकर १९५०-५१ से १९६४-६५ के बीच कृषि क्षेत्र की वृद्धि का योगदान कृषि की विकास दर में उपज की अपेक्षा अधिक रहा है।

अस्तु भारत मे कृषि के विकास हेतु जो भी योजनाएँ बनाई जायें उनमे उपज (प्रति-हैक्टर) की वृद्धि को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। सौभाग्य से ऊंची उपज देने वाले बीजो के बढते हुए उपयोग के कारण चावल गेहूँ, मक्का ज्वार बाजरा व कपास की उपज पिछले वर्षों मे बढी है पर अन्य फसलो के क्षेत्र मे उपज की वृद्धि अपेक्षाकृत कम रही है। आवश्यकता इस बात की है कि उन्नत बीजो का उपयोग अन्य महत्त्वपूर्ण फसलो मे भी बढाया जाय तथा इनके लिए समुचित प्रयास राजकीय एव निजी स्तर पर किये जायें। भारत मे जनसख्या के बढते हुए भार को देखते हुए कृषि का विकास केवल उपज की वृद्धि मे ही निहित है।

१२

नवीन कृषि नीति तथा पैकेज कार्यक्रम
(New Agricultural Strategy & Package Programmes)

प्रारम्भिक :

पिछले अध्यायो मे देश के खाद्य-सकट को विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की जा चुकी है। परन्तु, जैसा कि हम उस सन्दर्भ मे पढ चुके है, स्वतन्त्रता से पूर्व राज्य की नीति कृषि के क्षेत्र मे सामान्य आर्थिक नीति की भांति तटस्थतापूर्ण थी। उत्पादन बढाने के लिए राज्य द्वारा किए गए प्रयास केवल प्रदर्शन मात्र थे और १९०० से १९४५ के बीच कृषि का कुल उत्पादन १२ ६ प्रतिशत ही बढ सका।

१९४७ मे देश का विभाजन हुआ और इसके साथ ही पजाब तथा बगाल की अत्यधिक उर्वरा भूमि का एक बडा भाग पाकिस्तान का दे दिया गया। इसके फलस्वरूप कृषि-उत्पादन पर और भी प्रतिकूल प्रभाव हुआ। परन्तु जब हमने आर्थिक विकास की नीति बनाई, तो १९५०-५१ के बाद से नियोजित रूप से कृषि का विकास प्रारम्भ हुआ है।

आर्थिक नियोजन एवं कृषि का विकास
(Economic Planning and Agricultural Development)

प्रथम पंचवर्षीय योजना से ही कृषि के विकास हेतु व्यापक स्तर पर प्रयास किए गए है। प्रथम योजना काल मे कृषि कार्यक्रमो (सहकारिता सहित) २११ करोड रुपए, तथा सिंचाई के ३०० करोड रुपए खर्च किए गए। सामुदायिक विकास तथा बाढ नियन्त्रण जैसे कार्यक्रमो पर क्रमशः ७९ करोड तथा १४ करोड रुपए व्यय किए गए। इस प्रकार कृषि के प्रत्यक्ष एव परोक्ष विकास हेतु लगभग ६०० करोड रुपये खर्च किए गए। द्वितीय योजना काल मे कृषि कार्यक्रमो पर ३२३ करोड रुपए, सामुदायिक विकास पर २२६ करोड रुपए, सिंचाई पर ३८० करोड रुपए तथा बाढ नियन्त्रण पर ४९ करोड रुपए खर्च हुए। प्रथम योजना काल मे कुल सार्वजनिक व्यय का ३०·८% तथा **द्वितीय पंचवर्षीय योजना** काल में २० ८% कृषि के विकास हेतु व्यय किया गया।

तृतीय योजना काल में कृषि के विकास को बहुत अधिक प्राथमिकता दी गई। कुल व्यय का २०·४% (लगभग १७२६ करोड रुपए) सभी कृषि विकास कार्यक्रमो पर खर्च किया गया।

परन्तु भारत मे सरकार द्वारा कृषि के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से जो धनराशि योजनाओ के अन्तर्गत खर्च की गई है वह हमारे पडौसी देशो—विशेषतया पाकिस्तान व चीन में बहुत कम है। अग्र तालिका इसकी पुष्टि करती है :[1]

1. J. C. Varma · Agricultural Development in India, Pakistan and China : (Economic Times)

		कृषि पर सार्वजनिक क्षेत्र के कुल व्यय का %	पिछली योजना से वृद्धि %
भारत	प्रथम योजना	३० ८	—
	द्वितीय योजना	२० ८	५८ ५
	तृतीय योजना	२० ४	८३ ५
पाकिस्तान	प्रथम योजना	३४ २	—
	द्वितीय योजना	३३ २	४४ ८
	तृतीय योजना	३५ ६	१६८ ०
चीन (साम्यवादी)	प्रथम योजना	७ ६	—
	१९५८ एव प्रथम योजना के बीच वृद्धि	९ ९	२१८ ८

इस प्रकार कुल मिलाकर भारत म कृषि पर जितना धन व्यय किया गया है पाकिस्तान तथा चीन मे कही अधिक अनुपात मे इसमे वृद्धि हुई। इतन पर भी केवल उत्पादन बढाने सम्बन्धी कायक्रमो पर पिछले ४ ५ वर्षो मे आशातीत रूप म धन व्यय किया गया है।

निम्न तालिका तृतीय योजना काल तथा उसके पश्चात् कृषि सम्बन्धी कायक्रमो पर व्यय की गई राशि का विवरण प्रस्तुत करती है [1]

कृषि कायक्रमो पर राज्य द्वारा किया गया व्यय

(करोड रुपयो म)

	तृतीय योजना	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९ (बजट प्रावधान)
१ कृषि कायक्रम	७२५	२५४	२८५	२७०
२ सहकारिता	७५ ५	३३ ५	३६ ३	३३ ८
३ सामुदायिक विकास	२८८ ५	४० ०	३३ ७	२३ ७
३ सिचाई तथा बाढ नियन्त्रण	६६४ ७	१४४ ०	१४७ ०	१५४ ७
५ कुल व्यय का प्रतिशत	२० ६	२२ १	२२ ४	२० ७

इस प्रकार कुल योजना-व्यय का ⅕ से अधिक कृषि के विकास हेतु व्यय किया जा रहा है। सरकार की इसी सक्रिय नीति का परिणाम है कि भारतीय कृषि मे उत्पादन की वृद्धि १९४९ ५० तथा १९६७ ६८ के बीच लगभग ६२% हुई जबकि १९०० व १९४५ के बीच उत्पादन की वृद्धि १२ ६% ही थी। इसका यह अथ हुआ कि स्वतन्त्रता के पश्चात् देश का कृषि व्यवस्था मे एक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ है। यद्यपि जनसख्या की आशातीत वृद्धि के फलस्वरूप हम आज भी खाद्य सकट से सवथा मुक्त नही हो सके है फिर भी हमे यह तो स्वीकार करना ही होगा कि देश की कृषि नए युग मे प्रवेश कर चुकी है।

कृषि अथव्यवस्था मे विकास के कुछ प्रमाण

ऊपर हमने १९४९ ५० से लेकर गत वष तक की समूची कृषि व्यवस्था के विकास का एक मापदण्ड प्रस्तुत किया था। यदि नियोजन की अवधि मे हुई प्रगति का विस्तृत विवरण लिया जाय तो भी यह कहा जा सकता है कि पिछले १७ १८ वर्षो म कृषि क्षत्र ने काफी विकास किया है।

पहले सिचाई के क्षेत्र मे ही लिया जाय। १९५० ५१ मे कुल सिचित क्षेत्र २ २६ करोड हैक्टर (कुल कृषि क्षेत्र का लगभग १७%) था परन्तु १९६७ ६८ तक सिचित क्षेत्र बढकर ३ ५३ करोड हैक्टर (कुल क्षेत्र का २२%) हो गया। १९६८ ६९ तक सिचित क्षेत्र ४ २० करोड हैक्टर तक बढ गया था। (Yojana April 20 1969)

1 Economic Survey 1968 69

आर्थिक नियोजन की अवधि मे उर्वरको का उपयोग भी काफी बढा है। १९५०-५१ मे नत्रजन पोटाश तथा फॉस्फेटिक उर्वरको की अत्यन्त थोडी मात्रा (७० हजार टन) का भारत मे उपयोग किया जाता था। १९६७-७८ तक १७·५ लाख टन उर्वरको (११·५ लाख टन नत्रजन) का उपयोग किया जाने लगा, और ऐसी आशा है कि १९६८-६९ मे २८ लाख टन उर्वरक भूमि मे प्रयुक्त किए जायेंगे।

१९५०-५१ तक कृमि नाशक औषधियो का उपयोग नगण्य था तथा अरबो रुपए के मूल्य की कृषि उपज कीडो व चूहों द्वारा नष्ट कर दी जाती थी। परन्तु १९६५-६६ तक १·८ करोड़ हैक्टर भूमि को आधुनिक पौध सरक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत लाया जा चुका था।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह हुई है कि प्रति हैक्टर उपज (Yield) मे पिछले वर्षो मे काफी वृद्धि हुई है। १९४९-५० व १९६७-६८ के बीच खाद्यान्नो की प्रति हैक्टर उपज ३०% बढ़ी जबकि कुल कृषि उपज की वृद्धि २६·६% रही। ये सब तथ्य इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि हमारी कृषि-नीति काफी सीमा तक सफल रही है।[1]

परन्तु कृषि नीति मे जो परिवर्तन तृतीय योजना काल मे हुए वे अपेक्षाकृत अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध हुए हैं। तृतीय योजना के प्रारम्भ से देश के विभिन्न भागो मे गहन कृषि कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए हैं। पिछले दो तीन वर्षो से ऊँची उपज वाले बीजो का उपयोग बढाने का भी नारा दिया जा रहा है। वस्तुतः ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि आज भारतीय कृषि "हरी क्रान्ति" (Green Revolution) के दौर से गुजर रही है और अब जरूरत इस बात की है कि इस हरी क्रान्ति का इष्टतम सीमा तक विस्तार किया जाय।

गहन कृषि कार्यक्रम (पैकेज प्रोग्राम)

द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे ही फोर्ड फाउन्डेशन के एक दल ने भारतीय खाद्य संकट के हल हेतु गहन कृषि कार्यक्रम अथवा पकेज प्रोग्राम अपनाने का सुझाव दिया था। १९६०-६१ में इस कार्यक्रम को सात जिलो मे प्रारम्भ किया गया। तृतीय योजना के प्रारम्भ तक गहन कृषि कार्यक्रम ९ जिलो मे लागू कर दिया गया था। तृतीय योजना के मध्य तक यह कार्यक्रम १५ जिलो मे लागू किया जा चुका था।

परन्तु १९६४ मे गहन जिला कार्यक्रम की अपेक्षा गहन-कृषि-क्षेत्रीय कार्यक्रम को प्राथमिकता देने का निणय किया गया। गहन-कृषि क्षेत्र के अन्तर्गत विस्तृत क्षेत्र मे साधनों को पर्याप्त मात्रा मे जुटाने की व्यवस्था की गई। गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम निम्न प्रकार से प्रारम्भ किया गया

नाम फसल	प्रारम्भ किये गये जिलो की सख्या	प्रारम्भ किये गये खण्डों को संख्या
१. धान	७५	६४६
२. मोटे अनाज	५४	३५६
३ गेहूँ	३०	२००

गहन जिला तथा गहन क्षेत्रीय दोनो प्रकार के कार्यक्रमो मे कुछ चुने हुए क्षेत्रो मे परीक्षण के तौर पर विशिष्ट फसलो की खेती प्रारम्भ की जाती है। क्षेत्रो अथवा जिलो के चुनाव हेतु चार बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है

(अ) उस क्षेत्र विशेष मे पर्याप्त वर्षा होती हो अथवा सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध हों।

(आ) उस क्षेत्र मे प्राकृतिक प्रकोप कम से कम होते हैं। यानी, बाढ व मिट्टी के कटाव आदि की समस्याएं न हों।

---

1. कृषि की सामान्य विकास दर तथा विशिष्ट फसलो के क्षेत्र, उत्पादन एव उपज की वृद्धि दर के लिए भूमि के उपयोग तथा कृषि उत्पादन का अध्याय देखिए।

(इ) गांवो मे ग्राम पंचायत तथा सहकारी संस्थाएँ आदि विद्यमान हो ताकि क्षेत्र के कृषकों मे स्वस्थ नेतृत्व का विकास हो सके। तथा,

(ई) अल्पकाल मे कृषि उत्पादन बढा सकने की क्षमता विद्यमान हो।

क्षेत्र अथवा जिले का चुनाव करने के पश्चात् सरकार इस बात का प्रयास करती है कि विशिष्ट फसलों के उन्नत बीज, उर्वरक, कृमिनाशक औषधियां तथा आवश्यक उपकरणों की व्यवस्था वहाँ कर दी जाय ताकि कृषक सुविधापूर्वक उत्पादन-प्रक्रिया को पूरा कर सकें।

उक्त कार्यक्रम अथवा पैकेज प्रोग्राम को तीन चरणो मे बांटा गया। प्रथम चरण मे परीक्षण के तौर पर ७ जिलो मे यह कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। द्वितीय चरण मे गहन कृषि-क्षेत्रीय कार्यक्रम के रूप मे ११४ जिलो मे इसे अपनाया गया। तृतीय चरण के अन्तर्गत यह तय किया गया था कि अन्ततोगत्वा इस कार्यक्रम को सम्पूर्ण देश मे लागू कर दिया जाएगा। कार्यक्रम की सफलता हेतु निम्न मान्यताएँ रखी गई :[1]

(अ) उत्तम बीज तथा रासायनिक उर्वरक जैसे दुर्लभ कृषि-साधनों का चुने हुए क्षेत्र मे अधिक मात्रा मे उपयोग किया जाएगा। (आ) उर्वरकों की अधिक मात्रा से आनुपातिक प्रतिफल प्राप्त होगा। (इ) बढते हुए प्रतिफल से उन कृषकों को भी प्रेरणा मिलेगी जो इस कार्यक्रम मे राज्य द्वारा सम्मिलित नही किए गए हैं। (ई) उत्पादन बढने से ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा अन्ततः समूची अर्थव्यवस्था पर स्वस्थ प्रभाव होगा।

ऐसी आशा प्रकट की गई कि गहन खेती प्रणाली देश को खाद्यान्न की दृष्टि से आत्म-निर्भर बना देगी।

तृतीय योजना की समाप्ति तक ८२ लाख हैक्टर क्षेत्र (कुल कृषि क्षेत्र का २%) पैकेज प्रोग्राम के अन्तर्गत लाया जा चुका था। परन्तु इस बीच तृतीय योजना की मध्यावधि रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिससे यह ज्ञात हुआ कि जिस रूप मे कृषि कार्यक्रमों में आमूल चूल परिवर्तन आवश्यक हैं और शीघ्र उपज देने वाली फसलों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए, उधर अनेक अर्थ-शास्त्रियों तथा विशेषज्ञों ने भी गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रमों तथा गहन कृषि जिला कार्यक्रमों की व्यवस्था को दोषपूर्ण बताना प्रारम्भ किया।[2]

राबर्टसन सैनी तथा शर्मा ने अपने लेखों[3] मे बताया कि पैकेज प्रोग्राम सभी जिलो मे सतोषप्रद ढंग से प्रगति नही कर सका है तथा केवल कुछ क्षेत्रों में कृषकों की अनुकूल प्रतिक्रिया दिखाई दी है। उन्होंने यह भी बताया कि पैकेज प्रोग्राम मे सबसे महत्वपूर्ण घटक सिंचाई है, पर अनेक जिलो मे इसकी सतोषजनक व्यवस्था नही हो सकी है। इसी प्रकार इन लेखो मे यह भी बताया गया कि उर्वरकों का उपयोग जिस रूप मे अपेक्षित था, उस रूप मे नहीं हो सका और न ही इन क्षेत्रों में ऐसी संस्थाओं का विकास किया गया है जो कृषकों को पर्याप्त साख दे सकें।

सिन्हा तथा श्रीनिवासन ने अपने एक लेख मे बताया कि यदि सामान्य स्थिति मे पुराने किस्म के बीजों का उपयोग किया जाय तथा साधारण मात्रा मे उर्वरकों को प्रयुक्त किया जाय तो भी उन्नत बीजों की अपेक्षा अधिक उपज प्राप्त हो सकती है। ये लेखक यहां इस बात को मानने को तैयार नही हैं कि अधिक उर्वरक से ही अधिक उपज मिलती है।[4] इनके मत मे यह उर्वरकों की फिजूलखर्ची ही है।

---

1. Economic Times January, 22, 1967 "New Production Strategy in Indian Agriculture"
2. For Details See as 'Intensive Agricultural Approach under I. A. D. P.' Indian Journal of Agricultural Economic, Conference Number, October, 1966, article by S. M. Pathak and J. B. Singh
3. Economic and Political Weekly articles by Robertson, Sharma and Saini, Aug 27 and September 3, 1967
4. Yonja Jan 26, 1966

कुल मिलाकर पैकेज प्रोग्राम सैद्धान्तिक रूप से श्रेष्ठ होने पर भी व्यावहारिक रूप में पैकेज-प्रोग्राम के कृषक वर्ग को पूरी तरह प्रभावित नही कर सका है। इसका कारण सम्भवत यही है कि जिस निष्ठा के साथ इसका श्रीगणेश किया गया था, उसी निष्ठा के साथ इसकी सफलता हेतु पृष्ठभूमि का निर्माण नही किया गया। सिंचाई के साधन, उन्नत बीज तथा उर्वरक जैसे साधनों की पूर्ति पर्याप्त हो तथा कृषक के पास इनके उपयोग हेतु पूंजी हो (अथवा उसे इतनी साख मिल सके) तभी पैकेज प्रोग्राम से अपेक्षित लाभ मिल सकते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, तृतीय योजना के मध्य से ही यह अनुभव किया जाने लगा था कि कृषि कार्यक्रमो की दिशा मे परिवर्तन आवश्यक था। विशेष रूप से खाद्यान्नो की दृष्टि से देश को आत्म-निर्भर बनाने के लिए एक ऐसे व्यूह की रचना आवश्यक समझी गई जिसमे अल्पकाल मे ही उत्पादन वृद्धि सम्भव हो सके। इसे नवीन कृषि-नीति (New Agricultural Strategy) के नाम से पुकारा जाता है।

सरकार की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि देश के विभिन्न अनुसन्धान तथा परीक्षण केन्द्रो मे शीघ्र उपज देने वाले बीजो पर सफल परीक्षण किए जा चुके थे तथा इन बीजो का व्यापक स्तर पर उपयोग करना अधिक दुष्कर नही था।

नई कृषि नीति की विशेषताएं[1]

नई कृषि नीति की मुख्य विशेषता ऊँची उपज देने वाले बीजो को प्रयुक्त करना है। परन्तु इसके लिये उर्वरको का उपयोग बहुत अधिक बढाना जरूरी समझा गया है। संक्षेप मे नई नीति के अन्तर्गत खाद्यान्नो की उपज तीन आधारभूत घटको द्वारा निर्धारित की जाती है: ऊँची उपज वाले बीज, उर्वरक तथा सिंचाई। हम इनमे से प्रत्येक घटक पर विस्तार से विचार प्रस्तुत करेंगे।

(१) **ऊँची उपज वाले बीज**[2]— नई नीति के अन्तर्गत चावल, गेहूं, बाजरा, ज्वार तथा मक्का के लिए ऊँची उपज देने वाले बीजो की उपलब्धि बढाई जाएगी। ये बीज (High Yielding Varieties) परम्परागत बीजो से कई मायनो मे श्रेष्ठ होते हैं। उदाहरण के लिए चावल की अधिकांश भारतीय किस्में ओरिजा "सेतिवा" कुल की इण्डिका श्रेणी से सम्बद्ध है। इण्डिका श्रेणी के पौधे काफी लम्बे होते हैं जिससे मिट्टी अच्छी होने पर भी उर्वरको का उपयोग लाभपद नही हो सकता। इस श्रेणी का एक दोष यह भी है कि विस्तृत खेती होने के कारण पौधो से प्राप्त धान मे केलोरी की मात्रा कम रहती है। इसका तीसरा दोष यह है कि अधिकांश इण्डिका श्रेणी के चावल केवल एक विशिष्ट मौसम (खरीफ—अगस्त-नवम्बर) मे ही बोए जा सकते है। इनके अलावा पौधो की लम्बाई अधिक होने के कारण सूर्य की रोशनी निचली पत्तियो तक नही पहुंच पाती। अन्तिम कमी इन श्रेणियो मे यह है कि इनमे कृमि नाशक औषधियो का उपयोग पौधों के रोग के निदान हेतु अधिक प्रभावपूर्ण नही होता। इन सब दोषों के कारण परम्परागत धान की प्रति हैक्टर उपज बहुत कम रहती है। करीब-करीब ये ही दोष परम्परागत गेहूं तथा बाजरा, मक्का व ज्वार के पौधो मे पाए जाते हैं।

उक्त फसलो के क्षेत्र मे भारतीय कृषि-अनुसन्धान संस्था तथा भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद ने ड्वार्फ किस्म के बीजो पर परीक्षण किए। इनके पौधो की लम्बाई कम होती है तथा वे दोष साधारणतया इनमे नही पाए जाते जो परम्परागत पौधो मे होते हैं। इनके क्षेत्रो मे उर्वरको का पर्याप्त उपयोग भी संभव है और यही कारण है कि प्रति हैक्टर २२०० से २५०० किलोग्राम धान, १८०० से २००० किलोग्राम गेहूं, ८०० से १००० किलोग्राम बाजरा, १२०० से

---

1. B. S Minhas & T.N. Srinivasan. "New Agricultural Production Strategy" in Readings in Agricultural Development edited by A M Khusro (1968)

2. M. S. Swaminathan Scientific Implications of NYU Programme in the Economic & Political Weekly Annual Number 1969

१३०० किलोग्राम ज्वार तथा इतनी ही मक्का उन क्षेत्रों मे उत्पन्न की जा सकी है जहाँ इन बीजो का प्रयोग वैज्ञानिक आधार पर किया गया है। यह उल्लेखनीय है कि परम्परागत बीजो से ६०० से ८०० किलोग्राम चावल, ५०० से ७०० किलोग्राम गेहूँ तथा ३०० से ४०० किलोग्राम ज्वार, बाजरा व मक्का प्रति हैक्टर प्राप्त हो पाता है।

पजाब मे, विशेषकर लुधियाना जिले मे ४० से ४५ मन प्रति एकड (४००० किलोग्राम प्रति हैक्टर) बाजरा ऊँची उपज वाले बीजो से प्राप्त किया गया। गेहूँ के क्षेत्र में लुधियाना जिले का औसत ऊँची उपज के बीज वाले क्षेत्रो में सर्वाधिक रहा है। लगभग २९ मन प्रति एकड (लगभग ३००० किलोग्राम प्रति हैक्टर) गेहूँ वहाँ इन क्षेत्रों मे प्राप्त किया गया जबकि मैक्सिको में जहाँ सर्वाधिक उपज अब तक मानी जाती थी, यह औसत अब तक २७ ६ मन ही था।[1]

गेहूँ के क्षेत्र मे मैक्सिकन श्रेणियाँ (सोनोरा-६४ तथा लरमा रोजो) कल्याण S २२७, PV-18 तथा चावल के क्षेत्र में ताइचुंग नेटिव-१, ताइनान ३ ताइचुंग ६५ तथा काओश्युंग ६८ श्रेणियाँ काफी सफल रही हैं। मक्का, ज्वार तथा बाजरा मे सकर किस्मों पर काफी सफल प्रयोग किए गए है।

१९६५ मे भारतीय कृषि अनुसन्धान सस्था (IARI) ने लगभग ३०० प्रयोग कृषको के खेतो मे किए और उनका इतना अनुकूल प्रभाव हुआ कि १९६६ में S-६४ तथा लरमा रोजो श्रेणी के लगभग १८,००० टन बीज का मैक्सिको से आयात करना पडा। सक्षेप में अब हम इन सब श्रेणियो के बीजो के प्रयोग से होने वाले लाभो का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

ऊँची उपज वाले बीजो के प्रयोग से लाभ :[2]

(१) जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है इन बीजो के उपयोग के साथ पर्याप्त मात्रा मे उर्वरको का उपयोग किया जाता है और फलस्वरूप पौधो का पूर्ण विकास होता है।

(२) पौधे आकार मे छोटे होते हैं जिससे खाद तथा पानी की खुराक वे आसानी से प्राप्त कर लेते हैं। यही नही, सूर्य की किरणें आसानी से पौधो की जडो तक पहुँच सकती हैं।

(३) ये पौधे कीडों से इतनी जल्दी प्रभावित नहीं होते, यदि पर्याप्त उर्वरक समय पर मिल जाएँ।

(४) सबसे बडी बात तो यह है कि इन बीजो के द्वारा मिट्टी की निष्क्रियता (Soil dormancy) समाप्त हो जाती है और फलस्वरूप फसल कटने के तुरन्त बाद दूसरी फसल बोई जा सकती है।

इन सबके फलस्वरूप उपज बहुत अधिक होती है और यही कारण है कि ये बीज देश के विभिन्न भागों मे काफी लोकप्रिय सिद्ध हो रहे है।

(२) उर्वरक—सामान्यत भारतीय कृषक रासायनिक खाद का उपयोग परम्परागत फसलो के लिए नहीं करते। परन्तु ऊँची उपज वाले बीजो से पर्याप्त उपज तभी मिल सकती है जबकि समय पर पर्याप्त मात्रा में उर्वरक प्रयुक्त कर दिए जाएँ। उर्वरको की मात्रा मिट्टी की प्रकृति के अनुसार निर्धारित होती है परन्तु साधारणतया नाइट्रोजन (N) फॉस्फेट (P_2O_5) तथा पोटाश (K_2O) का मिश्रण इनमें अधिक उपयोग मे आता है। गेहूँ व चावल के लिए ११२ किलोग्राम नाइट्रोजन तथा ५४ किलोग्राम फॉस्फेट प्रति हैक्टर की साधारणतया सिफारिश की जाती है। डा० स्वामिनाथन का दावा है कि पर्याप्त मात्रा मे उर्वरको का उपयोग करने पर १ करोड हैक्टर भूमि मे १० करोड टन खाद्यान्न उत्पन्न किया जा सकता है। उन्होने दिसम्बर १९६५ मे फर्टीलाइजर एसोसिएशन ऑफ इण्डिया की राष्ट्रीय सेमीनार में एक शोध लेख प्रस्तुत करते हुए कहा

1 Agriculture in Punjab Ashok Thapar See Times of India, Nevember 24 & 25, 1968.

2 See Swaminathan (Eco and Pol Weekly—op cit)

कि यदि प्रत्येक एकड़ के पीछे १०० पौंड नाइट्रोजन, ५० पौंड फॉस्फेट तथा ३० पौंड पोटाश का उपयोग किया जाय, तथा सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हों तो वर्ष में दो फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं, तथा प्रति हैक्टर १० टन अनाज की प्राप्ति की जा सकती है।[1] वस्तुत पिछले तीन चार वर्षों मे भारत के विभिन्न भागो मे उर्वरको की मॉग इसी कारण बढी है कि इन क्षेत्रों मे ऊँची उपज वाले बीजो का उपयोग व्यापक रूप से किया गया है।

(३) सिंचाई—गेहूँ तथा चावल के लिए पर्याप्त सिंचाई की व्यवस्था अथवा निश्चित वर्षा होने पर ही ऊँची उपज देने वाले बीजो का उपयोग लाभप्रद हो सकता है। सम्भव है पानी की समुचित मात्रा न मिलने पर पूरी फसल ही नष्ट हो जाय। मक्का के लिए भी पर्याप्त मात्रा में पानी की उपलब्धि होनी चाहिए, परन्तु ज्वार तथा बाजरे के संकर बीज साधारण वर्षा अथवा साधारणतया सिंचित क्षेत्रो में भी अच्छी उपज दे सकते हैं।

परन्तु विभिन्न परीक्षणो[2] से यह सिद्ध हो चुका है कि ऊँची उपज वाले बीज कम वर्षा वाले इलाको मे भी सफल हो सकते है। वर्षा के समय ऐसे क्षेत्रो मे नमी को सुरक्षित (Conservation of Moisture) रख लिया जाता है। ऐसे खेतों मे खाद का उपयोग भी नए ढंग से ही किया जाना चाहिए। यूरिया की खाद का फॉलियर स्प्रे अथवा हैलीकॉप्टरो द्वारा छिड़काव इन क्षेत्रो मे अधिक मितव्ययतापूर्ण होता है।

इस प्रकार उन्नत बीज उर्वरक तथा पर्याप्त पानी के द्वारा ही उपज में अपेक्षित वृद्धि की जा सकती है।

नवीन नीति की सफलताएँ तथा भावी कार्यक्रम[3]

राष्ट्रीय स्तर पर नई कृषि नीति पर केवल १९६३ से ही अमल किया जाने लगा है। निम्न तालिका यह स्पष्ट करती है कि १९६६-६७ एवं १९६७-६८ में ऊँची उपज वाले बीजों का उपयोग कितने क्षेत्र मे किया गया

(क्षेत्र हजार हैक्टर मे)

	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९ (लक्ष्य)
चावल	८८७	१७८४	३४४०
ज्वार	१९०	५९९	१०१२
बाजरा	५९	४२०	१०१२
मक्का	२०७	२८६	१०१२
कुल खरीफ की फसलें	१३४३	३०९२	६४७६
गहूँ	५४०	२९४२	२०२३
कुल खाद्यान्न	१८८३	६०३४	८४९९

1. See B S Minhas & T N. Srinivasan—op. cit P. 174
यदि एक किलो नत्रजन का उपयोग चावल की खेती मे किया जाय तो २० किलो अतिरिक्त फसल प्राप्त होती है। गन्ने का अतिरिक्त प्रतिफल १७७ किलोग्राम तथा गेहूँ का ११½ से १६½ किलोग्राम होता है। See Crop Response to Fertilizer use by T. R. Chaddha (Economic Times 10-3-69)

2 See article by M S. Swaminathan in the Eastern Economist, Annual Number, 1969

3. (a) Economic & Political Weekly, March 29, 1969 (Article—The New Agricultural Strategy: Its contribution to 1967-68 Production by Ralpt W. Connings Jr. and S. K Ray)
(b) Eastern Economist Annual Number—1969

इस प्रकार १९६६-६७ व १९६७-६८ के बीच ही ऊँची उपज देने वाले बीजो का क्षेत्र ३$\frac{1}{4}$ गुना हो गया तथा १९६८-६९ तक यह १९६६ ६७ की अपेक्षा ४$\frac{1}{2}$ गुने से अधिक हो जाने की आशा है।

अनुमान है कि मार्च १९६८ तक चावल के कुल क्षेत्र का लगभग ६ ५%, गेहूँ के क्षेत्र का लगभग ८ ५% तथा ज्वार, बाजरा व मक्का के क्षेत्र का १५% इन फसलों के अन्तर्गत आ चुका था। उस वर्ष (१९६७-६८) २० लाख टन चावल, ७ ४ लाख टन ज्वार, ३ १ लाख टन बाजरा, ४ ५ लाख टन मक्का तथा ४२ ३ लाख टन गेहूँ (कुल ७७ ३ लाख टन खाद्यान्न) इन कार्यक्रमो के अन्तर्गत प्राप्त हुए। इस प्रकार १९६७-६८ में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कुल कृषि क्षेत्र (१२ १५ करोड हैक्टर) का ५% था, और कुल खाद्यान्नो की उपज का उस वर्ष ८ ५% इन क्षेत्रो से प्राप्त हुआ। १९६८-६९ मे अनुमानत ८५ लाख हैक्टर भूमि पर ये कार्यक्रम लागू किए गए तथा इनसे ९० से ९२ लाख टन खाद्यान्न प्राप्त हुआ।[1] कनिंघम तथा रे का तर्क है कि यह ऊँची उपज वाले बीजो के व्यापक उपयोग का ही परिणाम था कि १९६७-६८ मे ९ ५ करोड टन खाद्यान्न का उत्पादन हुआ। क्योंकि १९६४-६५ मे इससे बेहतर प्राकृतिक वातावरण (वर्षा आदि) होने पर भी ९·२ करोड टन ही खाद्यान्न उत्पन्न हो सका था।

१९६७-६८ मे उक्त कार्यक्रमों के अन्तर्गत तमिल नाडु (मद्रास), आन्ध्र प्रदेश तथा बिहार मे चावल तथा पजाब एव उत्तर प्रदेश मे गेहूँ की उपज बढाने के लिए विशेष रूप से प्रयास किए गये हैं। दूसरी ओर ज्वार, बाजरा तथा मक्का की सकर किस्मो का उपयोग कम वर्षा वाले राज्यो मे लगभग समान स्तर पर किया गया। अधिकाश राज्यो मे ऊँची उपज वाले (High Yielding Varieties) बीजो की उपलब्धि बढाने हेतु राज्य सरकारो की ओर से या तो बीज-फार्म वृहत् स्तर पर प्रारम्भ कर दिए गए है अथवा इनके लिए निजी क्षेत्र के कृषको को सुविधाएँ दी जा रही हैं।

सूरतगढ तथा जैतसर के अतिरिक्त उडीसा मे केन्द्रीय सरकार की ओर से बीज फार्म प्रारम्भ किए गए है। दो बीज-फार्म केन्द्रीय सरकार द्वारा ही हरियाणा व पजाब मे शीघ्र प्रारम्भ किए जाएँगे। सरकार का विचार है कि शीघ्र उपज देने वाले बीजो का उपयोग बढाकर दो या अधिक फसलें अधिकाधिक क्षेत्रो मे उत्पन्न की जानी चाहिए। तीन या इनसे अधिक फसलो के अन्तर्गत १९६७-६८ मे ३॥ लाख हैक्टर क्षेत्र था जो १९६८-६९ मे ६१ लाख हैक्टर तक बढने की आशा है।

इस प्रकार देश के विभिन्न भागों मे एक हरी क्रान्ति का सूत्रपात हो चुका है। इसी से आशान्वित होकर योजना आयोग ने चौथी पचवर्षीय योजना की समाप्ति तक ऊँची उपज वाले बीजो के क्षेत्र को लगभग ६ करोड एकड (२ ४१ करोड हैक्टर) तक बढाने का लक्ष्य रखा है जिससे अनुमानत ३ ५ करोड टन अतिरिक्त खाद्यान्न प्राप्त होने की आशा है। इसमे से २ ५ करोड एकड क्षेत्र मे चावल, १ ५ करोड एकड क्षेत्र मे गेहूँ, तथा २ करोड एकड क्षेत्र मे ज्वार, बाजरा व मक्का की खेती की जाएगी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि १९६८-६९ मे इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ८५ लाख हैक्टर क्षेत्र ही था। इस प्रकार उक्त क्षेत्र को ५ वर्ष के भीतर तीन गुना करने का संकल्प किया गया है।[2]

परन्तु अर्थशास्त्री तथा कृषि-विशेषज्ञ दोनो इस दिशा मे सरकार के समान ही आशावादी नही है। डा वी वी भट्ट ने कुछ समय पूर्व अपने एक लेख मे बताया कि १९५०-५१ से १९६७-६८ तक कृषि उत्पादन मे जो भी वृद्धि हुई है उसमे क्षेत्र-वृद्धि का उपज-वृद्धि (rise in productivity) की अपेक्षा अधिक योगदान रहा है। आने वाले वर्षो मे हमारे लिए कृषि-क्षेत्र को बढाना सम्भव नही होगा जबकि नए बीजो के बल पर उपज को बढाना भी एक सीमा के बाद सम्भव नही हो सकता। उनके मतानुसार चतुर्थ पचवर्षीय योजना काल मे नई कृषि-नीति की अपेक्षित सफलता अग्रलिखित मान्यताओ पर निर्भर होगी [3]

---

1. R R Vaish How High Yielding Varieties are new Varieties of seeds .— *Economic Times Jan 1969*
2. Economic Times Jan 17 1969
3. V V Bhatt : Agriculture in the Fourth Plan—Feasible Growth rate in Economic and Political Weekly, October 26, 1968

(१) ऊँची उपज वाले बीजो का क्षेत्र आशानुसार (६ करोड एकड तक) बढ जाएगा। (२) उन क्षेत्रो मे, जहाँ ऊँची उपज वाले बीजो का उपयोग किया जाता है, प्रकृति अनुकूल रहेगी। (३) नई प्राविधियो के प्रति कृषक अल्पकाल मे ही अनुकूल प्रतिक्रिया प्रदर्शित करेंगे। परन्तु इन मान्यताओ के विषय मे डा० भट्ट अधिक आश्वस्त नही है। वे यह कहते हैं कि प्रकृति की अनुकूलता भारत जैसे देश मे ऐतिहासिक संदर्भ मे ही मान्य होनी चाहिए। नई प्राविधियो के प्रति कृषक का दृष्टिकोण अल्पकाल मे नही बदल सकता और इसलिए, ६ करोड़ एकड का लक्ष्य शायद ही पूरा हो सके।

शिथिल मान्यताओ के अतिरिक्त नई नीति की सफलता मे इसलिए भी सन्देह व्यक्त किया जाता है कि यह नीति उर्वरको के प्रयोग पर बहुत अधिक बल देती है, जबकि इस दिशा में हमारे समक्ष अनेक सीमाएँ (limitations) है। प्रथम तो उर्वरको की पूर्ति हमारे देश में बहुत कम है और विदेशो से निरन्तर उर्वरको का आयात करने हेतु हमारे पास पर्याप्त विदेशी विनिमय नही है। गुजरात का मीठापुर प्रॉजेक्ट आदि पर अभी कोई निर्णय नही लिया गया है और साधनों के अभाव में अन्य परियोजनाएँ भी अनिश्चित स्थिति मे हैं। उदाहरण के लिए १९६७-६८ मे ११.५ लाख टन नत्रजन, ४ लाख टन फास्फेट तथा २ लाख टन पोटाश का देश मे उपयोग हुआ जबकि इनका उत्पादन कुल मिलाकर ६ लाख टन ही था। १९७३-७४ तक नत्रजन की माग ३७ लाख टन, फास्फेट की १७.३५ लाख टन तथा पोटाश की माग ११ लाख टन तक बढने की आशा है क्योंकि हम ऊँची उपज वाले बीजो का क्षेत्र ६ करोड़ एकड तक बढाना चाहते है। उर्वरको का उत्पादन १९७३-७४ तक ६ लाख टन से ६५.३ लाख टन बढ जाएगा यह तो कल्पनातीत है ही, इसका एक तिहाई भी देश में तैयार हो जाए तो पर्याप्त मानना चाहिए। जहाँ तक आयात का प्रश्न है, १९६७-६८ मे हमने १३४ करोड रुपए के उर्वरक बाहर से मँगाए थे, जबकि चतुर्थ योजना के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु हमें लगभग ४५० करोड रुपए के विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी (जबकि देश मे २४ लाख टन उर्वरक उत्पन्न किए जाएँ।)

तीसरा सन्देह सिचाई के विषय मे प्रकट किया जाता है। विशेषतया गेहूँ के सन्दर्भ मे कुल क्षेत्र का केवल ३०% सिंचित क्षेत्र है। नमी को सुरक्षित रखने की प्राविधि अभी तक कृषक को ज्ञात नही है। अस्तु, सिंचाई के साधनो के अभाव मे ऊँची उपज वाला क्षेत्र अपेक्षित सीमा तक नही बढ़ सकेगा।

मिन्हास तथा श्रीनिवासन् ने बताया है कि उर्वरको का उपयोग तथा उससे संभाव्य उत्पादन की वृद्धि के आँकड़े सीमित अनुभवो पर ही आधारित हैं। कोई भी फसल विशेष पर उर्वरको का प्रभाव कितना अनुकूल है यह निरन्तर उपयोग के पश्चात ही कहा जा सकता है। विशेषतया गेहूँ के विषय मे वे यह बताते हैं कि परम्परागत किस्मे सिंचित क्षेत्र मे सामान्य उर्वरक की खुराक के बाद नई किस्मो से अधिक उपज दे सकती है।[1] फिर उर्वरको के उपयोग में काश्तकारों के अधिकारो की सुरक्षा भी एक समस्या है। बटाई या साझेदारी की व्यवस्था के कारण काश्तकार उपज अधिक बढाने में अधिक रुचि अनुभव नही कर सकता।

उर्वरको के प्रयोग मे एक बाधा यह भी हो सकती है कि इनकी पूर्ति तथा माँग के बीच सामंजस्य न होने के कारण कृषको को बहुधा काला बाजार मे उर्वरक खरीदने पडते है। फलस्वरूप उर्वरकों के उपयोग से कृषक को अपेक्षित लाभ नही हो सकता। एक बाधा यह भी है कि उर्वरको के लिए कृषक को भुगतान मुद्रा मे करना पडता है। तरल पूँजी की उपलब्धि पर्याप्त मात्रा मे उसके स्वयं के साधनो से नही हो सकती। इसी प्रकार बीज के लिए भी उसे मुद्रा मे भुगतान करना होता है। जब तक सहकारी संस्थाओ या अन्य स्रोतो का पर्याप्त विकास नही हो जाय, वित्तीय साधनो के अभाव मे हरी क्रान्ति का विस्तार अधिक नही हो सकेगा।

डा० स्वामिनाथन ने भी यह स्वीकार किया है कि ड्वार्फ किस्म का धान कीडो मे विशेष रूप से बैक्टीरियल बीमारियो से जल्दी प्रभावित हो जाता है। लेकिन अब इस दोष को दूर करने के सफल प्रयोग किए जा चुके है। इस चावल की क्वालिटी तथा स्वाद भी परम्परागत

1. B. S. Minhas and T. N. Sriniwasan—op. cit. p. 179-182

चावल की अपेक्षा अच्छा नहीं होता। यही अनुभव गेहूँ की मैक्सीकन किस्मों तथा संकर बाजरा, मक्का एवं ज्वार के लिए भी बताए गए है। परिणामस्वरूप इन किस्मों के अनाज का मूल्य कृषक को परम्परागत अनाज की अपेक्षा कम प्राप्त होता है। चूंकि बहुत से कृषक इन बीजों का उपयोग सही ढंग से नहीं कर पाते (प्राविधिक ज्ञान के अभाव में) उन्हें उपज की वृद्धि भी अपेक्षाकृत कम प्राप्त होती है। उपज की अपेक्षित वृद्धि का न होना और दूसरी ओर मूल्य कम मिलना, ये दोनों बातें ऊँची उपज वाले बीजों के लिए प्रतिकूल वातावरण बनाने को पर्याप्त है।

इन कार्यक्रमों के लिए देशों की वर्तमान भूमि-व्यवस्था भी एक बाधा उपस्थित करती है। जैसा कि हम जानते हैं, लगभग ७५% कृषकों के पास ५ एकड़ से कम जोत है। जोत छोटी होने के कारण इच्छा तथा रुचि होने पर भी कृषक नई किस्म के बीजों का उपयोग नहीं कर सकता।

फिर भारत जैसे समाजवादी देश में नवीन कृषि नीति आय के केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहन देगी। क्योंकि नवीन नीति केवल उन्हीं क्षेत्रों में लागू की जाएगी जहाँ के किसान साधन जुटाने की स्थिति में है। पंजाब का किसान पहले से ही केरल या आसाम के कृषक की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। नई नीति इस क्षेत्रीय विषमता को और अधिक बढ़ावा देगी। इसी प्रकार एक ही क्षेत्र में भी सम्पन्न कृषक और सम्पन्न होते जाएँगे।

इन बाधाओं के कारण ही नई नीति का प्रसार पिछले वर्षों में आशानुसार नहीं हो सका। १९६६-६७ में क्रमशः २८.६ लाख हैक्टर क्षेत्र में ये कार्यक्रम लागू करने का लक्ष्य था, परन्तु वर्षा की कमी के कारण केवल १८.८ लाख हैक्टर में ही ये कार्यक्रम लागू किए जा सके। १९६७-६८ में भी लक्ष्य से कुछ कम क्षेत्र में ये कार्यक्रम लागू किए गए और वह भी १३४ करोड़ रुपये का विदेशी विनिमय उर्वरकों पर व्यय करने के बाद सम्भव हुआ।

निष्कर्ष—परन्तु एक दृढ़ निश्चय प्रशासन व्यवस्था में इन सब बाधाओं को दूर करना कठिन होने पर भी असम्भव नहीं है। हमें यदि खाद्यान्न की दृष्टि से देश को आत्म-निर्भर बनाना है तो संस्थागत परिवर्तन करना जरूरी होगा। यदि नई नीति आर्थिक विषमता बढ़ाने के साथ-साथ उत्पादन बढ़ाने में सहायक होती है तो हमें कुछ दिनों के लिए समाजवाद के आदर्श को छोड़ना होगा। कृषकों के दृष्टिकोण को बदलने के लिए प्रसार व्यवस्था में भी आमूल चूल सुधार करने होंगे। कुल मिलाकर कृषि के विकास हेतु हरी क्रान्ति को सफल बनाने के अतिरिक्त हमारे समक्ष और कोई विकल्प नहीं है।

१३

ग्रामीण साख
(Rural Credit)

ग्रामीण साख का महत्त्व

प्रारम्भिक :

एक पुरानी भारतीय कहावत के अनुसार कृषक के लिए वही गाँव उपयुक्त है जहाँ जरूरत के समय उधार देने के लिए एक साहूकार, शारीरिक व्याधियों के उपचार हेतु एक वैद्य, मंत्रोच्चारण द्वारा आत्मा की शुद्धि करने वाला एक ब्राह्मण पुजारी तथा सदैव भरा रहने वाला एक तालाब विद्यमान हो।[1] इस कहावत से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि बहुत पहले से ही भारत में कृषि-कार्यों के लिए साख के महत्त्व को स्वीकार किया जाता रहा है।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण (Rural Credit Survey) में कहा गया है कि "साख कृषि को उसी प्रकार सहायता पहुँचाती है जिस प्रकार फांसी पर लटकते हुए व्यक्ति को जल्लाद की रस्सी।"

प्रो० किंडलबर्जर कृषि-क्षेत्र में पूँजी अथवा साख के महत्त्व को एक दूसरे ही ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनके कथनानुसार, "बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए अधिक उत्पादन की आवश्यकता होती है। अधिक उत्पादन के लिए अधिक पूँजी (साख) की आवश्यकता होना स्वाभाविक है क्योंकि भूमि के क्षेत्र को बढ़ाना सम्भव नहीं है।"[2] उपरोक्त कथन से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि कृषि के विकास हेतु वित्त, साख अथवा पूँजी की व्यवस्था का होना भी अनिवार्य है। भारत में अधिकांश कृषकों के पास पर्याप्त पूँजी नहीं है और इसलिए उन्हें अन्य व्यक्तियों अथवा संस्थाओं पर साख की पूर्ति हेतु निर्भर रहना पड़ता है। प्रस्तुत अध्याय में ग्रामीण साख की व्यवस्था तथा तत्सम्बन्धी समस्याओं का ही विवरण प्रस्तुत किया गया है।

ग्रामीण साख का श्रेणीकरण

ग्रामीण साख को अनेक श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। मोटे तौर पर ये श्रेणियाँ इस प्रकार हैं (१) प्रयोजन के अनुसार, (२) अवधि के अनुसार, (३) जमानत के अनुसार, तथा (४) पूर्ति के स्रोतों के अनुसार।

---

1. All India Rural Credit Survey Report, Vol II. p. 151
2. "Credit supports the farmer as the hangs man's rope supports the hanged."
3. Kindelberger—Economic Development, P. 35

(१) **प्रयोजन के अनुसार**—इसमे यह देखा जाता है कि ग्रामीण जनता, विशेष रूप से कृपको को किस उद्देश्य की पूर्ति हेतु साख की आवश्यकता है, उत्पादक कार्यों हेतु अथवा उपभोग हेतु। उत्पादक कार्यों को पुन निम्न श्रेणियो मे विभाजित किया जाता है :

(अ) पूँजीगत व्यय हेतु—(i) भूमि खरीदने हेतु (ii) कुए के निर्माण हेतु, (iii) भारी कृपि यन्त्र जैसे ट्रैक्टर आदि की खरीद हेतु, (iv) कृपि उपकरण एव पम्प सैट के लिए (v) खेत पर मकान बनवाने के लिए तथा (vi) बैलो व गाडी की खरीद हेतु।

(आ) चालू व्यय हेतु (i) बीज, खाद तथा कृमिनाशक औषधियो की खरीद के लिए, (ii) मजदूरी का भुगतान, (iii) भूमि को ठीक करने के लिए (iv) कुए, कृपि, यन्त्र, उपकरणो या गाडी की मरम्मत हेतु। (v) गाडी की मरम्मत हेतु।

(इ) अन्य व्यावसायिक खर्चे।

अनुत्पादक कार्यों के लिए कृपक जो ऋण लेते हैं वे इस प्रकार हैं

(अ) उपभोग हेतु (आ) पर्व त्योंहारो के लिए, (इ) मृत्यु भोज, विवाह, मुडन आदि प्रथाओ के लिए, (ई) तीर्थयात्रा के लिए (उ) बच्चो की शिक्षा व चिकित्सा के लिए, (ऊ) मुकदमेबाजी हेतु।

जैसा कि पिछले अध्यायो मे बतलाया जा चुका है भारत के अधिकाश कृपक निर्धन हैं और उनमे से बहुतो को कृपि व्यवसाय से जीने योग्य आय भी नही मिल पाती। यही कारण है कि यहाँ अधिकाश कृपि साख अनुत्पादक कार्यों के लिए ही ली जाती है।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण ने १६५१-५२ के लिए कृपको द्वारा विभिन्न प्रयोजनो हेतु लिए गए ऋणो की विस्तार से समीक्षा प्रस्तुत की थी।

सर्वेक्षण के अनुसार सभी ग्रामीण परिवारो ने लगभग ७५० करोड रुपए के ऋण १९५१-५२ मे लिए। इनमे से २८% ऋण पूँजीगत व्यय हेतु तथा ५०% उपभोग या पारिवारिक व्यय के लिए लिया गया। कृपको ने कुल ऋण का ३२% पूँजीगत व्यय के लिए तथा १०% चालू खर्चों को पूरा करने के लिए प्राप्त किया। गैर कृपकों द्वारा लिये गए ऋण का ७०% पारिवारिक खर्चों के लिए था जब कि कृपकों के सदर्भ मे यह अनुपात ४७% पाया गया था। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि १९५१-५२ मे कृपको ने जितने ऋण लिये उसका आधे से अधिक भाग उत्पादक कार्यों के लिए प्राप्त नही किया गया।

१९६१-६२ में रिजर्व बैंक की एक और समिति ने ग्रामीण ऋण एव विनियोग सर्वेक्षण आयोजित किया। इस सर्वेक्षण के अनुसार १९६१ ६२ मे ग्रामीण क्षेत्रो म १०३४ करोड रुपए के ऋण लिए गए। अन्य शब्दों मे ग्रामीण साख की वार्षिक आवश्यकता १९५१ ५२ व १९६१-६२ के बीच ७५० करोड रुपए से बढकर १०३४ करोड रुपए (वृद्धि ३८%) हो गई। विभिन्न प्रयोजनो के लिए कृपको द्वारा लिए गए ऋणो का अनुपात इस प्रकार रहा था।[1]

ऋण का प्रयोजन	कृपक	सभी ग्रामीण परिवार
खेत पर पूँजीगत व्यय	२२ १	१९·५
खेत पर चालू व्यय	१३ ५	११ ५
अन्य व्यावसायिक पूँजीगत व्यय	१ २	१ ३
अन्य व्यावसायिक चालू व्यय	५ ५	१० ३
घरेलू खर्चे	४६ ६	४७ ०
पुराने ऋणो का भगतान	५ ८	५ ५
अन्य	७ ३	४ ९
	१०० ०	१०० ०

1 RBI Bulletin September, 1965 p 1312 (Table XII)

इस प्रकार १९५१-५२ व १९६१-६२ के बीच कृषकों द्वारा पारिवारिक खर्चों के लिए प्राप्त ऋण ४७% के लगभग ही रहा। यदि उत्पादक ऋणों का अनुपात देखा जाय तो कृषको ने जहाँ १९५१-५२ मे ४७% ऋण उत्पादक कार्यों के लिए प्राप्त किए थे, १९६१-६२ मे यह अनुपात घटकर ४२% रह गया। स्पष्ट है ग्रामीण साख, विशेष रूप से कृषि साख का आधे से अधिक भाग आज भी अनुत्पादक कार्यों के लिए प्राप्त किया जाता है।

(२) **अवधि के अनुसार**—अवधि के आधार पर जो ऋण लिए जाते हैं उन्हे तीन रूप मे प्रस्तुत किया जाता है

(अ) **अल्पकालीन ऋण**—ये ऋण १५ महीने तक के लिए प्राप्त किए जाते है। पिछले ४-५ वर्षों से फसली ऋण (Crop Loan) की जो व्यवस्था देश के विभिन्न राज्यो में की जा रही है उसके अनुसार ६ माह तक और किन्ही राज्यो मे १ वर्ष तक इन ऋणो की अवधि रखी गई है। साधारणतया ये ऋण बीज, खाद, उर्वरको या कृषि के चालू व्यय जैसे मजदूरी आदि के भुगतान हेतु प्राप्त किए जाते हैं। फसली ऋण के अन्तर्गत उपभोग की जरूरतों के लिए भी अल्पकालीन ऋण ही प्राप्त किए जाते है।

(आ) **मध्यकालीन ऋण**—इन ऋणो की अवधि १ वर्ष से लेकर ५ वर्ष तक की होती है। साधारणतया बैलो या पम्प सैट की खरीद हेतु ये ऋण कृषको द्वारा लिए जाते है।

(इ) **दीर्घकालीन ऋण**—५ वर्ष से अधिक की अवधि हेतु लिए जाने वाले ऋण दीर्घकालीन ऋण कहलाते हैं। साधारणतया दीर्घकालीन ऋण भूमि, ट्रैक्टर या किसी बड़ी रकम के विनियोग हेतु प्राप्त किए जाते है जिसका भुगतान कृषक एक या दो फसलो से प्राप्त आय से ही नही कर सकता और जिसके लिए किश्तो मे भुगतान करना ही सुविधापूर्ण रहता है।

१९६६-६७ मे लिए गए कृषि-ऋणो की कुल राशि ९५३ करोड़ रुपए अनुमानित की गई थी जिसमे से ७७% से अधिक ऋण अल्पकालीन, ९% ऋण मध्यकालीन तथा शेष ऋण दीर्घकालीन ऋण थे।[1]

(३) **जमानत के अनुसार ऋण**—जमानत के अनुसार ऋणो की समीक्षा इस कारण महत्वपूर्ण है कि ऋणदाता किस सीमा तक ऋणो की वापसी के प्रति आश्वस्त है, इसका निर्धारण इसी से होता है। दूसरी बात यह भी है कि जमानत सुरक्षित एवं ठोस होने पर ऋण लेने वाला उसका उपयोग विवेकपूर्वक करने का प्रयास करता है। ग्रामीण साख के लिए इसीलिए इस बात पर समय-समय पर जोर दिया गया है कि भारत मे कृषको की स्थिति बहुत पुष्ट नही है और इस कारण ऋणदाता अपने मूलधन व ब्याज की वापसी के लिए बहुत अधिक आश्वस्त नही रहता। एम० लुई ने पर्याप्त सुरक्षा या जमानत को ठोस कृषि साख व्यवस्था की एक आवश्यक शर्त बताया है।[2]

जैसा कि ऊपर कहा गया है, भारतीय कृषक की आर्थिक स्थिति बहुत ठोस नही है और यही कारण है कि अधिकाश ऋण ऋणदाता तथा ऋणी के आपसी सम्बन्धो के आधार पर ही दिये जाते हैं। वस्तुत भारत मे कृषकों के पास जमानत देने के लिए पर्याप्त साधन ही नहीं है। १९६१-६२ में दिए गए १०१४ करोड रुपयों मे से (कुल ग्रामीण साख) ७८% निजी जमानत पर दिए गए थे। ८% ऋण स्थायी सम्पत्ति के आधार पर तथा ४% ऋण ऋणदाता की सम्पत्ति पर पहले दावे (First Charge) के आधार पर दिए गए थे। तृतीय पक्ष की जमानत पर ६ ३% ऋण तथा फसल की जमानत पर १% से भी कम ऋण प्राप्त किए गए।[3] परन्तु राजस्थान व जम्मू तथा कश्मीर मे ९३% से अधिक अनुपात व्यक्तिगत सुरक्षा पर दिए गए। उडीसा, बिहार, पजाब, पश्चिमी बंगाल व मध्यप्रदेश में व्यक्तिगत जमानत पर कुल ऋणो का ८०% से अधिक भाग प्राप्त किया गया।

---

1. M. R Bhide . Role of Commercial Banks in Agricultural Finance (article in Khadi Gramodyog. Oct 1968)
2. M. louis Report on Systems of Agricultural Credit and Insurance (1938) p. 35
3. R. B I Bulletin op. cit

(४) **पूर्ति के स्रोत के आधार पर ऋण**—पूर्ति के स्रोत का विश्लेषण इसलिए किया जाता है कि इससे ऋणदाता द्वारा सम्भावित शोषण का अनुमान किया जा सकता है। शाइलॉक ने जिस रूप मे साहूकार का चित्रण प्रस्तुत किया है उससे शोषण का वीभत्स रूप हमारे सामने उभर आता है। यही कारण है कि उत्पादक, विशषरूप से कृपि कार्यों के लिए प्राप्त किए जाने वाले ऋणो का सस्थागत होना आवश्यक माना जाता है। सस्थाएँ कृपक का शापण नही करती जबकि साहूकार उसी उद्देश्य को लेकर काश्तकार को ऋण देता है। शोषण के अभाव के अतिरिक्त सस्थागत ऋणो पर ब्याज की दर भी कम होता है और उनके द्वारा दिए जाने वाले ऋण साधारणतया उत्पादक कार्यों के लिए ही होते हैं।

भारत मे ग्रामीण साख की पूर्ति हेतु जो सस्थाएँ कार्यशील हैं वे इस प्रकार हैं (१) सरकार (२) सहकारी सस्थाएँ, तथा (३) व्यापारी बैंक।

व्यक्तिगत स्रोत इस प्रकार हैं—(१) साहूकार, इनमे पेशेवर तथा कृपक-साहूकार दोनो शामिल हैं (२) जमीदार, (३) व्यापारी तथा आढतिए (४) रिश्तेदार, व (५) अन्य।

१९५१ ५२ मे ग्रामीण साख सर्वेक्षण ने बताया था कि ९३% से अधिक ऋण व्यक्तिगत स्रोतो से प्राप्त होते हैं। इनमे से उस वप लगभग ७०% ऋण साहूकारों ने दिए थे और १४% ऋण कृपको के रिश्तेदारो ने दिए थे। १९५१ ५२ तथा १९६१-६२ मे **ग्रामीण ऋण तथा विनियोग सर्वेक्षण** मे विभिन्न स्रोतो का अनुपात इस प्रकार पाया गया

ग्रामीण साख को पूर्ति (१९६१-६२ व १९५१-५२)

स्रोत	कुल प्राप्त ऋण का प्रतिशत	
	(१९६१ ६२)	(१९५१-५२)
सरकार	२ ६	३ ३
सहकारी सस्थाएँ	१५ ५	३ १
व्यापारी बैंक	० ६	० ९
जमीदार	० ६	१ ५
कृपक साहूकार	३६ ०	२४ ९
पेशेवर साहूकार	१३ २	४४ ८
व्यापारी व आढतिये	८ ८	५ ५
रिश्तेदार	८ ८	१४ २
अन्य	१३ ९	१ ८
	१०० ०	१०० ०

इस प्रकार १० वप की अवधि मे सहकारी सस्थाओ द्वारा दिए जाने वाले ऋणो के अनुपात मे काफी अधिक वृद्धि हुई है। कुल मिलाकर सस्थागत ऋणो का अनुपात इस अवधि मे ७ ३% से बढकर १८ ७% हो गया। अब हम विभिन्न स्रोतो मे से प्रत्येक का विस्तार से विश्लेषण करेंगे।

१ साहूकार अथवा महाजन

यह ऊपर बताया जा चुका है कि भारतीय कृपको की आवश्यकताओ की पूर्ति साहूकार अथवा महाजनो द्वारा ही की जाती है। लेकिन बहुत प्राचीन काल से ही महाजन की स्थिति इतनी अधिक महत्वपूर्ण रही हो ऐसी बात नही है। अंग्रेजो के आगमन से पूव महाजन कभी-कभी ही कृपको को ऋण देते थे। यद्यपि इनकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी, क्योकि ये सकट के समय कृपको की मदद करते थे, फिर भी कृपको को बार बार इनसे ऋण लेने की आवश्यकता नही पडती थी। डा० देसाई ने बताया है कि उस समय (अनुमानत १६वी १७वी शताब्दी मे) महाजनो द्वारा लिए जाने वाले ब्याज की दरों का पचायतो द्वारा निर्धारण किया जाता था।[1]

1 Dr A R Desai Social Background of Indian Nationalism, p 162

लेकिन १७९३ मे जब स्थायी बन्दोबस्त प्रारम्भ हुआ तथा मुद्रा के रूप मे धीरे-धीरे लगान लिया जाने लगा तो लगान के भुगतान हेतु कृषक को उधार अधिक लेना पडा। इसके अतिरिक्त १९वीं शताब्दी मे अकालो की अधिकता के कारण भी महाजनो पर कृषको की निर्भरता बढती चली गई।

प्रारम्भ मे महाजनो के अतिरिक्त अन्य ऋणदाता बहुत नाममात्र को थे। धीरे-धीरे राज्य ने तकावी ऋणो की व्यवस्था करना प्रारम्भ किया। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से सहकारी समितियो तथा व्यापारिक बैंको का विकास हुआ, लेकिन इनकी ब्याज दरें कम होने के बावजूद साहूकार का प्रभाव पूर्ववत् बना रहा। इसके कई कारण रहे है (१) साहूकार की कार्य-प्रणाली अत्यन्त सरल है और इसके विपरीत सरकार अथवा सहकारी समितियो से ऋण लेने के लिए अनेक औपचारिकताओं की पूर्ति करनी पडती है। (२) साहूकार किसी भी समय कृपक को ऋण देने को तत्पर रहते है, जबकि राज्य सहकारी सस्थाओ या बैंको का कार्यकाल निश्चित रहता है और उस अवधि मे उपस्थित होने पर ही ऋण दिया जा सकता है। (३) सबसे बड़ा कारण यह है कि साहूकार अनेक बार जमानत के बिना भी ऋण दे देते है, जबकि अन्य संस्थाएं जमानत को अनिवार्य तो मानती ही है, जमानत का अनुपात बहुत अधिक होता है। (४) साहूकार, महाजन अथवा जिसे राजस्थान मे बोहरा भी कहा जाता है, कृपक से न केवल आर्थिक दृष्टि से वरन् सामाजिक दृष्टि से भी सम्बन्धित रहता है। पीढियो से जिस महाजन से कृपक का सम्बन्ध रहा है और जो 'दुखदर्द' मे उसका साथ देता है, उसे कृपक कैसे छोड दे? (५) महाजन ऋण देते समय इस बात की कोई जाँच-पडताल नही करते कि ऋण का प्रयोजन क्या है? (६) ऋण देने मे जहाँ अन्य सस्थाएं अप्रत्याशित रूप से विलम्ब कर देती हैं और जहाँ अनेक बार जरूरत का वक्त निकल जाने पर ऋण की स्वीकृति कृपक को प्राप्त होती है, महाजन माँगने पर तुरन्त ही कृपक को ऋण दे देता है। (७) अन्तिम कारण यह है कि ऋण देते समय ऋण-प्रसंविदे मे महाजन शर्तों को इस रूप मे संयोजित कर देता है कि उसके जाल मे कृपक फँसने के उपरान्त जीवन पर्यन्त नही निकल पाता।

साहूकारों की श्रेणियाँ—मोटे तौर पर साहूकार अथवा महाजनो को दो श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है—क्षेत्र के अनुसार तथा व्यवसाय के अनुसार। क्षेत्र के अनुसार महाजन दो प्रकार के होते है—ग्रामीण महाजन तथा शहरी महाजन। व्यवसाय के अनुसार महाजन दो प्रकार के हो सकते हैं—प्रथम वे महाजन है, जिनका मुख्य व्यवसाय ऋण देना है तथा द्वितीय वे हैं जो ऋण देने का कार्य सहायक व्यवसाय के रूप मे करते हैं। लेकिन सर्वेक्षण के बाद यह ज्ञात हुआ कि अधिकाश महाजन उधार देने का कार्य सहायक व्यवसाय के रूप मे ही करते है और अपवाद स्वरूप ही महाजन केवल उधार देने का कार्य करते है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने बताया कि गाँवों व शहरों मे जितने महाजन है उनमें से क्रमशः ३८% तथा ७८% दूकानदारी, आढत अथवा अन्य कोई व्यवसाय करते हे तथा गाँवो मे केवल २% तथा शहरो मे केवल ६% महाजन ऐसे हैं, जिनके पास कोई दूसरा व्यवसाय नही है।[1]

व्यावसायिक महाजनो तथा कृपक महाजनो मे केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति ने यह अन्तर बताया था कि कृपक महाजन कृषि कार्यो के अतिरिक्त ऋण देने का कार्य करते हैं और इनकी ब्याज की दरें व्यावसायिक महाजनो से कम रहती हैं। विभिन्न प्रान्तीय बैंकिंग जाँच-समितियों द्वारा दिए गए विवरण के अनुसार पेशेवर महाजनों की अपेक्षा कृपक महाजन अधिक शोषण करते हैं।[2]

ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति ने बताया कि आसाम, पश्चिमी बंगाल, बिहार व उत्तर प्रदेश के चावल-उत्पादन क्षेत्रो मे कृपक साहूकारो द्वारा अचल सम्पत्ति के विरुद्ध अधिक ऋण दिए गए, जबकि पेशेवर महाजनो ने जेवरो, जमीन व मकान के विरुद्ध ऋण दिए थे।

महाजनों की दोषपूर्ण नीति—आगे के एक अध्याय मे यह बताया गया है कि महाजन कृपक का शोषण करने के लिए अनेक प्रकार की गडबडियाँ करते हैं। उनका वास्तविक उद्देश्य येनकेन प्रकारेण कृपक की सम्पत्ति को वैधानिक दृष्टि से स्वय के अधिकार मे करना ही होता है

1. Report, p. 170
2 The Indian Central Banking Enquiry Committee 1931. pp 75-76

ताकि कृषक व उसका परिवार जीवन-पर्यन्त ऋण के उस भार को ढोते रहे और साहूकार के पास धीरे धीरे सारे स्वत्व-सम्बन्धी अधिकार केन्द्रित हो जाए"। वैधानिक आर्थिक व सामाजिक वातावरण को अपनी स्थिति के कारण प्रभावित करके महाजन किसी भी प्रकार का दबाव कृषक पर डालकर उसे अपने इशारे पर नचाता रहता है।

यही नहीं महाजनो द्वारा लिए जाने वाले ब्याज की दरें बहुत अधिक होने के कारण भी कृषक का शोषण होता है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के मतानुसार उड़ीसा मे ७०%, त्रिपुरा व पश्चिमी बगाल मे क्रमश ४९% व ४०% तथा उत्तर प्रदेश मे कही कही २९% तक ब्याज की दर पाई गई थी। कही कही ब्याज की दर ५०% तक थी। लाइसेंस के विषय मे समिति ने बताया कि देश के विभिन्न भागो मे साहूकारो मे से अधिकाश ने लाइसेंस नही लिए है और जिनके पास लाइसेंस है भी वे ऋणो का पूर्ण विवरण तैयार नही रखते।[1]

ब्याज की दर अधिक होने के अतिरिक्त भी साहूकार का दमन चक्र आगे बढता है और ऋणी की फसल को साधारणतया वह अग्रिम रूप से खरीद लेता है। वस्तुत साहूकार को भारतीय कृषि के लिए एक जोंक की सज्ञा दी जा सकती है लेकिन फिर भी जो सुविधाएं कृषक को साहूकार प्रदान करते हैं जब तक अन्य व्यक्ति या सस्थाएं उतनी ही सुविधाएं देने का पूर्ण आश्वासन नही दे देते है, महाजनों तथा साहूकारो का भारतीय ग्रामीण साख व्यवस्था मे महत्व यथावत् बना रहेगा। और जैसा कि ऊपर बताया गया है १९६१ ६२ तक भी कुल ऋणो का लगभग आधा भाग साहूकारो द्वारा दिया जाता था।

२ सरकार

राज्य द्वारा कृषि साख की जो व्यवस्था अब तक की गई है। वह तकावी ऋणो के रूप मे है। सर्वप्रथम राज्य द्वारा कृषको के लिए वित्तीय व्यवस्था करने का सुझाव प्रथम अकाल आयोग (१८८०) ने दिया था और फलत दो अधिनियम क्रमश भूमि-सुधार अधिनियम (१८८३) तथा कृषक ऋण अधिनियम (१८८४) बनाए गए थे। अकाल आयोग ने यह स्पष्टत सुझाव दिया था कि साधारण समय मे दो उद्देश्यो को लेकर राज्य को कृषको की सहायता करनी चाहिए। अकाल के समय सहायता का अनुपात बढाने का भी सुझाव अकाल आयोग ने दिया था।

इन अधिनियमो के उद्देश्य भारतीय कृषि मे स्थायी सुधार करना तथा वित्तीय कठिनाइयो से कृषक की रक्षा करना ही थे। कृषक आवश्यकता के समय जिलाधीश के माध्यम से तकावी ऋणो को प्राप्त करने का प्रयास करता था।

लेकिन राज्य की कृषि साख नीति मे बहुत से दोष उत्पन्न हो गये। राज्य कर्मचारियो की अफसरशाही के कारण बहुत कम लोग तकावी ऋणो को प्राप्त कर सके। डा० वीरा एन्स्टे का कथन है कि यद्यपि मुगल सम्राटो तथा बाद मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश सरकार आदि सभी ने कृषको की सहायतार्थ ऋण दिए थे तथापि ये ऋण अधिकाशत आर्थिक सकट के समय दिए जाते थे, जबकि कृषको के पास कोई जमानत नही होती थी और फलत वे राज्य द्वारा दी जाने वाली सहायता का लाभ नही उठा पाते थे। वह आगे बताती हैं कि राज्य तथा कृषको मे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होने से भी राज्य द्वारा दिए जाने वाले तकावी ऋणो की उपादेयता पर्याप्त रूप से सिद्ध नही हो पाती थी।[2]

डा० भाटिया द्वारा प्रस्तुत विवरण से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। अनेक अंग्रेज अधिकारियो ने उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे यह अनुभव किया कि राज्य को ऋण हेतु आवेदन प्रस्तुत करने वाले व्यक्तियो मे अधिकाश जमीदार, व्यापारी अथवा बडे कृषक होते थे और सुरक्षा (जमानत) के अभाव मे गरीब किसान सरकार से ऋण प्राप्त करने मे असमर्थ रहते थे।[3] एक अन्य स्थान पर डा० भाटिया बताते हैं कि यद्यपि १८८३ व १८८४ के अधिनियमो के उद्देश्य कृषको को

---

1 Report ibid pp 173 76
2 Dr Vera Anstey The Indian Economic Development (1957) pp 188-90
3 Dr B M Bhatia Famines in India (1963) pp 119 20

अल्प, मध्य तथा दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना था, तथापि वस्तुतः न तो राज्य कृपकों को ऋण देना चाहता था और न ही राज्य के कोष मे पर्याप्त धन ऋणों के लिए मौजूद था। कृपको को दिए जाने वाले ऋण अपर्याप्त तो थे ही, इनकी स्वीकृति मे अप्रत्याशित विलम्ब हो जाता था। १८८३ से १८९६ तक केवल १ करोड़ रुपए के दीर्घकालीन ऋण दिए गए और इस प्रकार राज्य द्वारा तकाबी ऋणों की जो व्यवस्था १९वी शताब्दी के अन्त तक की गई थी, वह अत्यन्त अपर्याप्त एवं जटिल थी। कुछ अँग्रेज अधिकारियों ने कृपि बैंको की स्थापना के सुझाव भी दिए थे पर वे भी कार्यरूप मे परिणत नही हो सके। इसी सुझाव को शताब्दी के अन्त में अनेक अधिकारियों ने फिर दोहराया, पर राज्य की उदासीनता कम नही की जा सकी।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भी डा० विलियम वेडर्बर्न ने भारत सरकार से कृपि बैंक की स्थापना का आग्रह किया था, पर उन्हे भी इसमे सफलता नही मिली।

श्री गोपालकृष्ण गोखले ने भी कृपि-साख की उचित व्यवस्था हेतु कृपि बैंको की स्थापना की सिफारिश १९०६ के बजट भापण मे की, लेकिन सरकार ने उनके इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया।

वर्तमान शताब्दी मे काफी समय तक तो सहकारी साख आन्दोलन को सफल बनाने के प्रयास किये जाते रहे और प्रत्यक्षतः राज्य ने कृपको को कोई विशेप साख-सुविधाएँ प्रदान नही की। १९२१ से जब कृपि एक प्रान्तीय विपय बना दिया गया तो केन्द्रीय सरकार ने पूर्ण रूप से कृपि-साख से मुँह मोड लिया। यही स्थिति द्वितीय महायुद्ध तक भी चलती रही और राज्य द्वारा कृपि-साख की आवश्यकता का बहुत थोडा अनुपात दिया जाता रहा। 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' (१९४३) तथा आत्मनिर्भरता आन्दोलन (१९४९) के अन्तर्गत कृपको को ऋण दिये गए, पर यह एक अल्पकालीन प्रवृत्ति ही थी।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने १९५१-५२ के ग्रामीण साख के सम्बन्ध मे राज्य द्वारा दिये गए योगदान को अपर्याप्त एवं असन्तोषजनक बताया है। समिति ने, जैसा कि ऊपर दी गई तालिका से ज्ञात होता है, बताया कि राज्य कुल ग्रामीण साख का केवल ३·२% भाग ही दे पाता है। विभिन्न राज्यो का विस्तृत विवरण देते हुए समिति ने बताया कि कुल ऋणो मे से विभिन्न प्रान्तो मे राज्य द्वारा इस प्रकार ऋण दिये गए।[1]

पजाब १४·६%; मध्यप्रदेश १२·८%; मध्य भारत ८·७%; आसाम ६·२%; बिहार ४·७%; बम्बई ४·६%; मद्रास २·३%, पश्चिमी बंगाल तथा हैदराबाद १·८%; उडीसा १·४%; विन्ध्यप्रदेश १·२%, उत्तर प्रदेश ०·९%, राजस्थान ०·६%; मैसूर ०·०२%।

इस प्रकार केवल दो प्रान्तो मे ही राज्य द्वारा कुछ सीमा तक सन्तोषजनक अनुपात मे ऋण प्रदान किये गए।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने राज्य द्वारा की गई ग्रामीण साख-व्यवस्था मे निम्न अन्य दोष बताए हैं:

(i) **ऋणों के वितरण में विषमता**—समिति के मतानुसार राज्य द्वारा जो ऋण दिए जा रहे है, आज भी इसका लाभ अधिकांशतः बडे कृपक ही उठा पाते हैं तथा छोटे कृपक आज भी इससे वंचित रहते हैं।

(ii) **जमानत का अभाव**—राज्य द्वारा ८०-९० प्रतिशत ऋण अचल सम्पत्ति की जमानत पर दिए जाते है और चूँकि अधिकाश भारतीय कृपको के पास पर्याप्त भूमि नही होती, इसलिए वे पर्याप्त राशि ऋण के रूप में भी प्राप्त नही कर पाते। जिन कृपकों के पास अपनी भूमि नही है, उन्हे तो ऋण मिलने का प्रश्न ही नही उठता, चाहे वे स्वयं भूमि को जोतते रहे हो।

(iii) **अनावश्यक विलम्ब**—सरकारी विभाग ऋण देने के पूर्व अनेक प्रकार की जाँच-पड़ताल करना अनिवार्य समझते हैं। यही नही वित्तीय वर्ष की अवधि, ऋण को स्वीकृति तथा

---

1. Report op. cit. p. 200

इसकी प्राप्ति आदि ये सब इतने जटिल कार्य है कि आवेदनकर्त्ता को जरूरत का वक्त निकल जाने पर ही साधारणतया ऋण मिल पाता है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण के अध्ययन के अनुसार आधे से अधिक ऋण ३ ४ महीनो के बाद स्वीकृत हो पाते है और २२ २४ प्रतिशत ऋण तो ८ महीने बाद स्वीकृत होते हैं। इसके विपरीत महाजन तुरन्त ऋण दे देता है।

(iv) **ऋणो की स्वीकृति एव वितरण सम्बन्धी दोष**—समिति ने बताया है कि ऋणो की स्वीकृति मे विभिन्न राजकीय विभागो का तालमेल नही बैठ पाता तथा काम निकल जाने के बाद ऋण स्वीकृत होते हैं। यही नही ऋणो की राशि बहुत कम होने के कारण अन्तत महाजन की ही शरण मे जाना पडता है।

(v) **लाल फीताशाही का बोलबाला**—ऋणों के लिए आवेदन पत्र प्रस्तुत करने ऋणो की स्वीकृति हो जाने पर उसकी रकम प्राप्त करने तथा ऋणो की अदायगी के समय जो अफसरशाही या लालफीताशाही चलती है उसके कारण ब्याज की दर अधिक होने पर भी साहूकार से लोग ऋण लेना ज्यादा उचित समझते है।

इन दोषो के अतिरिक्त भी अनेक अन्य दोष राज्य की ग्रामीण साख व्यवस्था मे हैं।

(vi) सरकार केवल विशिष्ट (विशेष रूप से उत्पादक) कार्यो के लिए ऋण देती है।

(vii) किश्तो की वसूली के समय राजकीय कर्मचारी अनावश्यक रूप से सख्ती बरतते है।

इन्ही सब कारणो से राज्य एक साखदाता सस्था के रूप मे लोकप्रिय नही हो सका है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से तकावी ऋणो का वितरण सहकारी सस्थाओ के माध्यम से किया जा रहा है और इससे सरकारी ऋण व्यवस्था के काफी दोष समाप्त होने की आशा है।

३ व्यापारिक बैंक एव ग्रामीण वित्त

१९५१ ५२ मे जब ग्रामीण साख सर्वेक्षण किया गया था व्यापारी बैंको ने कुल ग्रामीण साख का १% से भी कम प्रदान किया। १९६१ ६२ तक यह अनुपात और भी कम हो गया। परन्तु पिछले ४ ५ वर्षो से व्यापारी बैंको द्वारा कृषि वित्त व्यवस्था मे योगदान बढा है। १९६६ ६७ मे इनका (कुल ग्रामीण साख की पूर्ति मे) योगदान बढकर पुन ० ९% हो गया। व्यापारी बैंको द्वारा प्रदत्त ऋणो (advances) का २% से अधिक आज कृषि-साख हेतु दिया जाता है। इस पर भी व्यापारी बैंको का योगदान इस दिशा म बहुत ही अपर्याप्त रहा है। इसके लिए निम्न घटक उत्तरदायी रहे है [1]

(१) व्यापारी बैंक मूल रूप मे गैर कृषि सस्थाओ के रूप मे रहे हैं। इसके पास न तो कृषि साख व्यवस्था का अनुभव है और न ही प्रत्येक कृषक से व्यावसायिक व्यवहार हेतु योग्य कर्मचारी हैं।

(२) कृषको की आर्थिक स्थिति की पूर्णरूपेण जाँच करने उनकी साख सीमा आदि निर्धारित करने तथा ऋण की राशि के उपयोग के औचित्य को जाचने के लिए व्यापारी बैंको का गावो मे कोई सम्पर्क नही है और न ही स्थानीय नेताओ तथा राज्य कर्मचारियो से उन्हे इसके लिए अभीष्ट सहयोग मिल पाता है।

(३) ऋणो की सुरक्षा का प्रश्न भी काफी महत्वपूर्ण रहा है। व्यापारी बैंक व्यक्तिगत जमानत पर निर्भर नही रह सकते। भूमि व्यवस्था हमारे देश मे आज भी काफी दोषपूर्ण है। अनेक कृषको को भूमि पर स्वत्व प्राप्त नही है क्योंकि वे बटाई पर भूमि जोत रहे हैं। भूमि के अतिरिक्त दूसरी जो जमानत हो सकती है वह फसल है। परन्तु व्यापारी बैंको को खडी फसल गिरवी रखने का अधिकार नही है। जिन कृषको को भूमि पर स्वत्व प्राप्त है भी उनकी भूमि या तो गिरवी रखी हुई है या वे भूमि की जमानत पर छोटी छोटी रकम अल्पकालीन साख के रूप मे लेना नही चाहते।

---

1 M R Bhide op cit pp 86 87

(४) भारतीय कृषि मे अनिश्चितता आज भी बहुत अधिक है। मानसून पर अत्यधिक निर्भर होने के कारण काश्तकार को कितना प्रतिफल प्राप्त होगा यह बताना भी अत्यन्त कठिन है। व्यापारी बैंको को कृषि-वित्त देने मे यही आशंका रहती है कि ऋण की वापसी समय पर हो सकेगी या नही।

(५) अब तक सहकारी सस्थाओ को ग्रामीण साख की पूर्ति हेतु उत्तरदायी माना जाता रहा है और यह समझा जाता रहा है कि व्यापारी बैंकों का कार्य-क्षेत्र औद्योगिक तथा व्यावसायिक जगत है। यही कारण है कि देश के ७०% गाँवो के समीप व्यावसायिक बैंको की शाखाएँ नही है। अधिकाश व्यापारी बैंको की शाखाएँ शहरो या कस्बो मे ही है।

(६) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अथवा सरकार ग्रामीण साख की पूर्ति मे विद्यमान कठिनाइयों को जानते हुए भी व्यापारी बैंको को विशिष्ट दरो पर अनुदान या गारण्टी देने को तैयार नही है। दीर्घकालीन ऋणो पर कृषि पुनर्वित्त निगम जो पुनर्वित्त की व्यवस्था करता है उससे व्यापारी बैंक तकनीकी कारणो से पर्याप्त लाभ नही उठा पा रहे है।

लेकिन फिर भी बागानो (चाय, रबड व कॉफी) गन्ने के खेतों तथा विशाल यन्त्रीकृत खेतो मे से अनेको इकाइयो को व्यापारी बैंको ने साख प्रदान की है। इस दिशा मे सर्वप्रथम सिंडीकेट बैंक ने पहल की थी पर अब सभी अनुसूचित बैंक इस ओर कदम बढ़ा रहे हैं। परन्तु ट्रैक्टरो व पम्पसैटो के अलावा साख की व्यवस्था अन्य प्रयोजनो हेतु नही की जा सकी है। यह भी बताया जा रहा है कि कुछ प्रतिष्ठित कृषक, जमीदार या पूँजीपति ही व्यापारी बैंको से लाभ उठा पा रहे है और साधारण कृषक आज भी इनके द्वारा हाल मे प्रारम्भ की गई सुविधाओ से वंचित हैं।

वस्तुत व्यापारी बैंको द्वारा जिन औपचारिकताओ की अपेक्षा कृषक से की जाती है उनकी पूर्ति उसकी अशिक्षा के कारण सम्भव नही है। अधिकाशत व्यापारी बैंको की कार्य-प्रणाली भी काफी जटिल है और फलस्वरूप कृषक बैंक की अपेक्षा साहूकार को अधिक पसंद करता है।

एक बात और भी है। व्यापारी बैंक कृषक को १० से १२% ब्याज पर ऋण देते है। जब तक उनके ऋणो को घटी ब्याज दर पर देने की व्यवस्था नही होगी, व्यापारी बैंक के प्रति कृषक आकृष्ट नही हो सकेंगे। यह भी जरूरी है कि बैंको के व्यवस्थापक कृषको के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाएँ।

४. रिजर्व बैंक तथा ग्रामीण वित्त ·

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना भारत के केन्द्रीय बैंक के रूप मे १९३५ मे की गई थी। सरकार के अनुरोध पर १९३५ मे रिजर्व बैंक द्वारा एक रिपोर्ट तैयार की गई, जिसमे बैंक ने भारत के सहकारी बैंकों को वित्तीय सहायता देना स्वीकार किया था, लेकिन साथ ही सहकारी बैंको की कार्यप्रणाली मे सुधार करने का आग्रह भी किया गया था।

१९३५ से ही रिजर्व बैंक के अन्तर्गत एक कृषि साख विभाग स्थापित कर दिया गया था। रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार इस विभाग के दो मुख्य कार्य थे .

(i) केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो, प्रान्तीय सहकारी बैंको तथा अन्य बैंको को कृषि साख के सम्बन्ध मे मार्ग-प्रदर्शन देने हेतु अनुभवी कर्मचारियो की नियुक्ति करना।

(ii) रिजर्व बैंक तथा प्रान्तीय सहकारी बैंको व अन्य बैंको के बीच कृषि-साख सम्बन्धी कार्यो मे तालमेल स्थापित करना।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि रिजर्व बैंक प्रत्यक्ष रूप से कृषको को ऋण नही देता। सहकारी बैंको तथा अन्य अनुसूचित बैंको द्वारा कृषि कार्यो हेतु दिए गए ऋणो के आधार पर रिजर्व बैंक इन सस्थाओ को ऋण प्रदान कर सकता है।

रिजर्व बैंक के सुझाव पर १९४५ मे भारत सरकार ने ग्रामीण बैंकिंग जाँच-समिति की

नियुक्ति की। इस समिति ने ग्रामीण क्षेत्रों मे बैंकिंग सुविधाएं बढाने का सुझाव दिया।[1] १९५१ से १९५३ तक अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण किया गया। इस सर्वेक्षण समिति की सिफारिशो का आगे वर्णन किया गया है।

१९५१ तथा १९५३ मे रिजर्व बैंक को अधिक ग्रामीण साख की व्यवस्था करने के अधिकार दिए गए। रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा १७ (२) अ, धारा १७ (२) ब, धारा १७ (२) बब एव धारा १७ (४ अ) मे इसी आशय से सशोधन किए गए। इन सशोधनों के पश्चात् अब रिजर्व बैंक द्वारा कृषि साख के विषय मे की जाने वाली व्यवस्था इस प्रकार है -

(अ) अल्पकालीन साख की अवधि १५ माह रखी गई है, लेकिन साधारणतया अल्पकालीन ऋण ९ से १२ माह के लिए दिए जाते हैं।

(आ) धारा १७ (४ अ) के अनुसार राज्य सरकार की गारण्टी पर रिजर्व बैंक ५ करोड रुपये तक के मध्यकालीन ऋण सहकारी बैंको को द सकता है। इन ऋणो की अवधि १ से ५ वर्ष तक रहती है।

(इ) धारा १७ (२) ब के अनुसार कृषि-कार्यों मे मिश्रित कृषि-कार्यों तथा फसलो के परिनिर्माण हेतु भी ऋण दिये जाने लगे है। इनके अतिरिक्त फसलो तथा कृषि-पदार्थों के विपणन हेतु भी ऋण प्रदान किये जाते हैं।

(ई) धारा १७ (२) बब के अनुसार रिजर्व बैंक को सहकारी बैंको तथा राज्य वित्त निगमो की उन प्रतिभूतियो पर ऋण देने का अधिकार प्राप्त है, जिनके विरुद्ध इन सस्थाओ ने कुटीर उद्योगो की क्रियाओ हेतु ऋण दिए है।

रिजर्व बैंक द्वारा दिए जाने वाले ऋणो पर सामान्य बैंक दर से २ प्रतिशत कम ब्याज लिया जाता है तथा इन पर पर्याप्त प्रतिभूतियो की सुरक्षा रखी जाती है।

(उ) रिजर्व बैंक को १९५० से केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको द्वारा जारी किये जाने वाले डिबेन्चरो का २० प्रतिशत खरीदने का अधिकार प्राप्त हो गया था और १९५३ मे भारत सरकार के सानिध्य मे ४० प्रतिशत डिबेन्चर तक खरीदने का भी अधिकार प्राप्त हुआ, लेकिन अप्रैल, १९५६ मे कोष के अभाव मे इस योजना को रद्द कर दिया गया।

कोष—रिजर्व बैंक अधिनियम मे १९५५ मे सशोधन किए गए और तदनुसार १९५६ मे दो कोष स्थापित किये गए : (i) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन क्रियाएं) कोष तथा (ii) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरता) कोष।

दीर्घकालीन ऋण २० वर्ष तक की अवधि के लिए राज्य सरकारो को इस आशय से दिये जाते हैं कि वे सहकारी सस्थाओं (बैंको अथवा भूमि बधक बैंको) द्वारा नियमित शेयरों, बाण्डो अथवा डिबेन्चरो का एक निश्चित अनुपात खरीद सकें। प्रथम (दीर्घकालीन) कोष मे प्रारम्भ मे रिजर्व बैंक ने १० करोड रुपये दिए थे लेकिन प्रतिवर्ष कम-से-कम ५ करोड रुपये देने का प्रावधान रखा गया है। जून १९६६ तक १९० करोड रुपये इस कोष मे जमा हुए थे।

द्वितीय (स्थिरता) कोष केवल मध्यकालीन ऋणों के लिए १ करोड रुपये की प्रारम्भिक पूंजी से स्थापित हुआ था। जून १९६६ तक इस कोष मे १२ करोड रुपये जमा हो गये थे।

अन्य सुविधाएं—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अल्प, मध्य व दीर्घकालीन साख सुविधाओ के अतिरिक्त अनेक अन्य सुविधाएं भी प्रदान की हुई हैं। ये सुविधाएं इस प्रकार हैं

(i) स्थायी परामर्शदाता समिति (कृषि साख)—रिजर्व बैंक द्वारा १९५१ मे कृषि साख विभाग के अन्तर्गत एक स्थायी परामर्शदाता समिति की स्थापना कृषि साख के सम्बन्ध मे मार्ग-प्रदर्शन हेतु की। इस समिति मे १४ सदस्य हैं।

---

1 For details see A I Rural Credit Survey Report, p 285

(ii) सहकारी विभागों तथा संस्थाओं के कर्मचारियों का प्रशिक्षण—सहकारी संस्थाओं तथा राजकीय सहकारी विभागो के अधिकारियो के प्रशिक्षण हेतु रिजर्व बैंक ने दो प्रकार की व्यवस्था की है। प्रथम अल्पकालीन प्रशिक्षण कोर्स है जिसके अनुसार सहकारी विभागों के उच्च कर्मचारियों को ६ मास का प्रशिक्षण दिया जाता है। द्वितीय, दीर्घकालीन कोर्स है जिसमें सहकारी बैंको के अधिकारी एक वर्ष के लिए प्रवेश लेते है। १९५३ से रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार के संयुक्त तत्वावधान में एक केन्द्रीय प्रशिक्षण समिति की स्थापना की गई। इस समिति द्वारा देश के विभिन्न भागो मे सहकारी संस्थाओं के कर्मचारियो के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है।

जून, १९६७ के अन्त में राज्य सहकारी बैंको मे रिजर्व बैंक की बकाया रकम १६२.७ करोड रुपए थी।

(५) सहकारी संस्थाएँ तथा ग्रामीण साख—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है सहकारी संस्थाओ का ग्रामीण साख मे योगदान ३% से बढकर १९६१-६२ तक १५.५% हो गया। १९६६-६७ मे इन संस्थाओ, यानी प्राथमिक सहकारी कृषि साख समितियों ने कृषकों को अल्प व मध्यकालीन ऋणों के रूप मे ३६५ करोड रुपए प्रदान किए जो संभवत. कुल साख का लगभग एक चौथाई भाग था।

वैसे सहकारिता के अध्याय के अन्तर्गत सहकारी साख के विषय मे विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की गई है लेकिन यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि ग्रामीण साख के क्षेत्र मे सहकारी समितियों का क्या योगदान रहा है।

कृषि सहकारी साख सस्थाओ को सगठन की दृष्टि से शीर्ष, केन्द्रीय तथा प्राथमिक संस्थाओं के रूप मे विभाजित किया जा सकता है। ये सस्थाएँ कृषको को अल्प व मध्यकालीन ऋण प्रदान करती है। दीर्घकालीन ऋण की उपलब्धि हेतु केन्द्रीय तथा प्राथमिक भूमि विकास (बन्धक) बैंको की देश के विभिन्न भागो मे स्थापना की गई है। पहले हम अल्प व मध्यकालीन कृषि साख का विश्लेषण करेंगे और बाद मे दीर्घकालीन साख व्यवस्था का। हम इस सन्दर्भ मे यह भी देखना चाहेंगे कि ग्रामीण साख की व्यवस्था मे इनकी वास्तविक सफलता किस सीमा तक रही है?

अल्प व मध्यकालीन ग्रामीण साख

कृषकों को अल्प तथा मध्यकालीन साख देने के लिए देशव्यापी स्तर पर प्राथमिक सहकारी कृषि साख समितियो का गठन किया गया है। १९६५-६६ से सारे देश मे इन संस्थाओ द्वारा फसली ऋण (Crop Loan) की व्यवस्था प्रारम्भ की गई है। इसके पूर्व कृषक की फसल सम्बन्धी चालू पूँजी की पूर्ति का उद्देश्य नही था। परन्तु फसली ऋण के अन्तर्गत कृषक को नगद पूँजी के अलावा बीज व खाद के लिए भी जिस के रूप मे ऋण दिया जाता है।

१९५१-५२ मे सहकारी (प्राथमिक) साख समितियो ने केवल २३ करोड़ रुपए की साख कृषि-कार्यों के लिए दी थी परन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया है, १९६६-६७ तक इनके ऋणो की राशि बढकर ३६५ करोड रुपए हो गई। १९६७-६८ मे सहकारी संस्थाओं ने अनुमानत. ४०० करोड रुपए ग्रामीण वित्त के रूप मे दिए।

यहाँ यह बता देना उल्लेखनीय होगा कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त तक प्राथमिक समितियो की सख्या निरन्तर बढाई गई और इसके फलस्वरूप अनेक बोगस समितियो का गठन करके राज्य से सहायता के रूप मे लाखों रुपए ऐंठे जाते रहे। समय-समय पर अनेक जाँच समितियो ने सरकार व रिजर्व बैंक का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और इसके फलस्वरूप बोगस तथा निष्क्रिय समितियो को समाप्त करके समूचे सहकारी आन्दोलन का पुनर्गठन प्रारम्भ किया गया। जून, १९६१ के अन्त मे जहाँ प्राथमिक साख (कृषि) समितियो की संख्या २.३४ लाख थी, जून, १९६७ के अन्त तक यह घट कर २ लाख रह गई। इस समय तक देश के ९०% गाँव तथा ३०% ग्रामीण जनसंख्या सहकारिता से प्रभावित हो चुकी थी।

प्राथमिक समितियो को वित्तीय सहायता देने के लिए जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी

बैंको तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी (शीर्ष) बैंको का गठन किया गया है। जून १९६७ के अन्त तक शीर्ष बैंको की सख्या २२ तथा केन्द्रीय बैंको की सख्या ३४६ थी।[1]

दीर्घकालीन साख—दीर्घकालीन साख के लिए राज्य स्तर पर केन्द्रीय भूमि विकास (बन्धक) बैंको की तथा स्थानीय स्तर पर प्राथमिक भूमि विकास (बन्धक) बैंकों की स्थापना की गई है। जून, १९६७ के अन्त मे १९ केन्द्रीय भूमि विकास बैंक थे। इस समय प्राथमिक बैंको की संख्या ७०७ थी। इनकी बकाया ऋणो की राशि क्रमश २०७ करोड रुपए एव १५५ करोड रुपए थी। १९६६-६७ मे केन्द्रीय भूमि विकास बैंको ने ५९ करोड रुपए तथा प्राथमिक बैंको ने ४१ करोड रुपए दीर्घकालीन ऋणो के रूप मे दिए।

उपरोक्त तथ्य इस बात की पुष्टि करते है कि ग्रामीण साख की पूर्ति मे सहकारी संस्थाओ का योगदान आज बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु फिर भी सहकारी साख आन्दोलन का विकास ठोस आधार पर नहीं हो रहा है। सक्षेप मे सहकारी कृषि साख व्यवस्था में निम्न दोष विद्यमान हैं -

(१) सहकारी संस्थाओ मे स्वावलम्बन का अभाव है—प्राथमिक समितियो की कार्यशील पूँजी १९६६-६७ के अन्त मे ६२५ करोड रुपए थी परन्तु इसमें इनके अपने कोषो का अनुपात २७% से भी कम था। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंको व शीर्ष बैंको की कार्यशील पूँजी मे उनके अपने कोषो का अनुपात २०% से भी कम था। भूमि विकास बैंक तो कार्यशील पूँजी का केवल १०% अपने साधनो से जुटा पाते हैं। यह परावलम्बन ग्रामीण साख व्यवस्था को दीर्घकाल तक आगे नहीं ले जा सकता।

(२) सहकारी कृषि साख आन्दोलन केवल कुछ राज्यों तक सीमित है। आज भी आधे सहकारी ऋण (कृषि) महाराष्ट्र, गुजरात एव उत्तर प्रदेश मे ही वितरित होते हैं।

(३) सहकारी समितियो के सदस्य बनने पर भी उनके प्रति कृषको मे आस्था नहीं बढ सकी है। १९६३-६४ मे तथा १९६६-६७ के बीच निष्क्रिय सदस्यो का अनुपात ५४% से बढकर ६०% हो गया।

(४) अवधि पर ऋणों का बढता हुआ अनुपात—राजनैतिक और आर्थिक कारणो से अनेक कृषक ऋणो की वापसी समय पर नही कर पाते। इन अवधि पार ऋणो का अनुपात निरन्तर बढ रहा है। १९६६-६७ के अन्त तक बकाया ऋणो का एक तिहाई भाग अवधि पार हो चुका था। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस समय तक प्राथमिक समितियो के अपने कोषो का ९७% अवधि पार ऋणो के रूप में डूब चुका था और वे केवल उधार ली हुई पूँजी से काम कर रही थीं।

(५) फसली ऋण के अन्तर्गत जिस के रूप मे ऋण देने की जो व्यवस्था है वह लगभग असफल हो रही है। केवल उर्वरको का वितरण एकाधिकार के कारण सहकारी समितियो के माध्यम से पर्याप्त रूप मे किया जा रहा है। बीज कृमिनाशक दवाइया तथा उपकरणो का साख पर वितरण कृषको मे लोकप्रिय नही हो सका है।

(६) सहकारी कृषि साख के समुचित उपयोग की प्रभावपूर्ण जाँच नहीं की जाती। योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्याकन सगठन (P E O) ने बताया कि १९६३-६४ मे प्राथमिक कृषि साख समितियो द्वारा दिए गए ऋणो का लगभग एक चौथाई उन कार्यो म प्रयुक्त नही हुआ जिनके लिए ऋण दिए गए थे।[2]

(७) सहकारी सस्थाओं मे आज भी अनेक औपचारिकताएँ विद्यमान है। यहाँ तक कि फसली ऋण के अन्तर्गत भी हैसियत ब्योरा, साख सीमा, उत्पादन-योजना आदि के विषय मे कृषक

---

1. ये सारे तथ्य रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित Statistical Statements Relating to the Co-operative Movement in India Part I (Credit Societies (1966-67) से प्राप्त किए गए हैं।
2. See A Study on the Utilization of Co operative Loans (1965) P E O — Planning Commission

को पूरा विवरण देना पड़ता है। अनेक बार कृषक सही सूचना समिति को नही देता और फलत फसली ऋण का वास्तविक उद्देश्य पूरा नही हो पाता।

ग्रामीण साख तथा विभिन्न समितियाँ

ग्रामीण साख के विषय में यद्यपि छुटपुट सुझाव अनेक संस्थाओं ने दिए थे, लेकिन ग्रामीण साख के सम्बन्ध मे विशिष्ट रूप से किसी अधिकारी अथवा संस्था ने स्वतन्त्रता के पूर्व तक विचार नही किया। यद्यपि १९३९-४० से राष्ट्रीय नियोजन समिति ने कृषि साख के विषय मे अध्ययन किया था तथा १९४७ में समिति की रिपोर्ट मे विस्तार से रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी बैंकों के माध्यम से दी जाने वाली साख के विषय मे सन्तोष भी व्यक्त किया था तथापि वह सब महत्व-पूर्ण सिद्ध नही हो सका। समिति के इस सुझाव की ओर कोई ध्यान नही दिया गया जिसमें सहकारी संस्थाओ की व्यवस्था को सुधारने के विषय मे कहा था।

१९४९-५० मे भारत सरकार ने एक ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने तत्कालीन परिस्थितियो मे तीन परिवर्तन करने के सुझाव दिये :[1]

(i) सहकारी बैंको को नगरों व कस्बों से आगे बढ़कर गाँवो में तथा व्यापारी बैंको को बड़े नगरो से बढकर छोटे नगरों में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार करना चाहिए।

(ii) इम्पीरियल बैंक को बैंकिंग ट्रेजरी से बढ़कर नॉन बैंकिंग ट्रेजरी मे व्यवसाय करना चाहिए। तथा

(iii) रिजर्व बैंक को अ श्रेणी के राज्यो (अब कोई अन्तर नही है) से बढकर ब श्रेणी के राज्यो मे भी कार्य करना चाहिए।

विशेष रूप से समिति ने इम्पीरियल बैंक व रिजर्व बैंक की व्यवस्था मे सुधार करने की सिफारिश की। ग्रामीण साख पर हुई अनौपचारिक कान्फरेंस मे सहकारी ग्रामीण साख की व्यवस्था मे रिजर्व बैंक के द्वारा दिए जाने वाले योगदान पर विस्तार से विचार किया गया। कान्फरेंस की सिफारिशो के अनुसार रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी बैंको को प्रदान की जाने वाली साख सुविधाओं मे वृद्धि की गई और १९५१ व १९५३ मे रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन किए गए।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति

इस समिति की नियुक्ति रिजर्व बैंक द्वारा अगस्त १९५१ मे की गई थी। समिति के अध्यक्ष श्री ए० डी० गोरवाला थे और ४ अन्य सदस्यो को मिलाकर इसका गठन किया गया था। समिति ने देश-भर के ७५ जिलों को सर्वेक्षण के लिए चुना तथा ग्रामीण ऋणग्रस्तता की सीमा, कृषि साख की मौजूदा व्यवस्था के सम्बन्ध मे विस्तार से अध्ययन करके १९५४ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

समिति ने सर्वप्रथम साख के विभिन्न स्रोतो के योगदान का विस्तृत विवरण किया। हम इसी अध्याय मे यह बता चुके हैं समिति के अध्ययन के अनुसार आज भी लगभग ६९.७% ग्रामीण साख की पूर्ति व्यावसायिक या कृषक-साहूकारो द्वारा की जाती है जबकि सरकार द्वारा दिए जाने वाले ऋणो का अनुपात ३.३ प्रतिशत एवं सहकारी संस्थाओ द्वारा दिए जाने वाले ऋणो का अनुपात ३.१ प्रतिशत है।

समिति ने काफी विस्तार से सहकारी साख की स्थिति का अध्ययन किया और बताया कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था मे अनेक आधार-भूत दोष उत्पन्न हो गए है जिनके कारण सहकारिता का पर्याप्त प्रसार भारत मे नही हो सका है। समिति के मत में सहकारिता की सफलता उसी स्थिति में प्राप्त हो सकती है जबकि सहकारिता के पक्ष में कार्य करने वाली शक्तियो तथा इसके विरुद्ध चलने वाली निजी साख व्यवस्था में तालमेल बैठा दिया जाए। समिति ने सहकारी साख आन्दोलन के पिछले ५० वर्षो के साथ असफलता शब्द को जोडा है। इस असफलता के कारणो के लिए ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने सहकारी नियोजन समिति (१९४५) द्वारा दिए गए विवरण पर अपनी सहमति व्यक्त की है। सहकारी नियोजन समिति ने सहकारी आन्दोलन की असफलता के मुख्य

कारण राज्य की तटस्थतापूर्ण नीति, जनता की अशिक्षा तथा आन्दोलन के दोषपूर्ण प्रारम्भ को बताया था।[1]

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने यह भी बताया कि गाँवों में सामाजिक तथा आर्थिक नेतृत्व पटेल, पचायतदार महाजन तथा व्यापारी के पास केन्द्रित रहता है और गांव के सारे अन्य व्यक्ति सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से इन्ही के द्वारा प्रभावित होते है। सहकारी साख आन्दोलन की सफलता का प्रमुख कारण यही है।[2]

समिति ने बताया कि ग्रामीण साख केवल गाँव के लोगों के दृष्टिकोण में सुधार करके ही उपलब्ध नही की जा सकती। इसके लिए व्यापारिक बैंको, रिजर्व बैंक तथा राज्य सभी के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन करने होंगे। समिति ने आगे यह भी बताया कि ग्रामीण साख की सर्वोत्तम व्यवस्था सहकारी समितियों द्वारा ही की जा सकती है और इनकी व्यवस्था में सुधार हेतु राज्य को सहकारी संस्थाओं की स्थापना एवं विकास में सक्रिय सहयोग देना चाहिए।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने निम्न सुझाव प्रस्तुत किए

(१) **ग्रामीण साख की एकीकृत योजना**—इस योजना के अन्तर्गत सहकारी शीर्ष बैंको, केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा इनकी शाखाओं तथा भूमि बन्धक बैंकों की व्यवस्था में वित्तीय, प्रशासकीय एवं प्राविधिक पुनर्गठन के पश्चात् इनमें तालमेल बिठाए जाने की सिफारिश की गई। साथ ही वृहत्-स्तरीय प्राथमिक सहकारी साख समितियों की स्थापना का सुझाव दिया गया। इसके विपरीत सहकारी विपणन एवं परिनिर्माण समितियों की स्थापना करके साख एवं विपणन के मध्य एकीकरण करने पर बल दिया गया। जहा एक ओर इस योजना का उद्देश्य आवश्यकतानुसार कृषकों को सहकारी संस्थाओं से साख उपलब्ध कराना था दूसरी ओर उनकी उपज के लिए सहकारी समितियों द्वारा विपणन करके उचित मूल्य प्राप्त करना भी आवश्यक समझा गया। इनके एकीकरण के फलस्वरूप साख समितियों को विपणन समितियों से दिया गया ऋण सरलता से ब्याज सहित प्राप्त हो जाता है।

(२) **रिजर्व बैंक** को कम-से-कम ५ करोड रुपए प्रति वर्ष राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष में तथा १ करोड रुपए प्रतिवर्ष राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरता) कोष में जमा करना चाहिए। प्रथम कोष में बैंक को प्रारम्भ में ही ५ करोड रुपए देने का सुझाव दिया गया। रिजर्व बैंक को दीर्घकालीन कोष में से राज्य सरकारों को इस उद्देश्य से साख प्रदान करना चाहिए कि वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहकारी साख संस्थाओं के पूँजी निगमन में सहयोग दें। यह भी सुझाव दिया गया कि रिजर्व बैंकों को अल्पकाल हेतु दी जाने वाली साख को जारी रखे और भूमि बन्धक बैंकों को दीर्घकालीन के लिए ऋण दे अथवा उनके डिबेंचरों को खरीदे। स्थिरता कोष का उपयोग मध्यकाल ऋणों के लिए करते रहने का सुझाव दिया गया।

(३) **स्टेट बैंक आफ इण्डिया**—समिति ने देश के तत्कालीन सबसे बडे व्यापारी बैंक—इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके इसमे दस राज्यों द्वारा सहायता प्राप्त बैंकों को मिला देने का सुझाव दिया ताकि यह बैंक देश भर में फैली अपनी शाखाओं के माध्यम से ग्रामीण साख की और अधिक उत्तम व्यवस्था कर सके। स्टेट बैंक आफ इण्डिया की लगभग ४०० शाखाएँ और स्थापित करने का सुझाव दिया जाए।

(४) समिति ने बडे आकार की प्राथमिक साख समितियों की स्थापना का सुझाव दिया।

(५) समिति ने गोदामों व भण्डार-गृहों की और अधिक उत्तम व्यवस्था के लिए केन्द्रीय तथा राज्य-स्तरीय गोदाम निगम बनाने का भी सुझाव।[3]

(६) अ० भा० ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने खाद्य व कृषि मन्त्रालय के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय कृषि साख (सुविधा व गारण्टी) कोष बनाने का भी सुझाव दिया ताकि अकाल आदि

---

1 Report of the Co-operative Planning Committee (1946) pp 11-12
2 Summary of Report Vol II pp 12-13 (R B I)
3 विस्तार के लिए कृषि-पदार्थों की बिक्री वाला अध्याय देखें।

के कारण न वसूल को जा सकने वाली वकाया रकम को राज्य सरकारों के माध्यम से चुकाया जा सके।

(७) इसके अतिरिक्त समिति ने शीर्ष, जिला तथा ग्राम स्तर पर कार्य करने वाली सहकारी संस्थाओं की व्यवस्था मे सुधार करने तथा सहकारी संस्थाओं के कर्मचारियों के प्रशिक्षण हेतु व्यवस्था करने का भी सुझाव दिया।

सुझावों की आलोचनात्मक व्याख्या

(१) समिति ने ग्रामीण साख क्षेत्र मे जहाँ एक ओर राज्य के अधिक सहयोग की अपेक्षा की है, दूसरी ओर यह भी आशा व्यक्त की है कि सहकारी संस्थाओं के द्वारा ही ग्रामीण साख की अधिकाश पूर्ति की जा सकेगी। प्रो० अलक घोष के मत मे राज्य द्वारा अल्प-विकसित देशों मे 'प्रशासन अधिक तथा वित्त का प्रवन्ध कम' होने की आशका सदैव बनी रहती है।[1]

(२) यह एक कटु सत्य है कि भारत मे ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता की समस्या एक बहुत भयंकर स्वरूप लिये हुए है। इसके अतिरिक्त कृषको की अशिक्षा तथा सहकारिता के सिद्धान्तों को समझने की अक्षमता आदि ऐसी बाधाएँ है जिन पर विजय प्राप्त किए बगैर सहकारी साख आन्दोलन सफल नही हो पाएगा। प्रो० अलक घोष लिखते है कि दुर्भाग्य से ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति इन बातो पर विस्तार से विचार नही कर सकी।

(३) वास्तव मे एक प्रगतिशील राष्ट्र के लिए औद्योगिक विकास के साथ-साथ कृषि प्रणाली मे भी आमूल परिवर्तन किए जाने आवश्यक हैं। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के प्रयत्नों से सम्भव है ग्रामीण साख के पूर्ति पक्ष मे सुधार हो जाए, लेकिन यह सन्देहास्पद है कि स्टेट बैंक एवं सहयोगी बैंको की १,००० से अधिक शाखाएँ भी ग्रामीण जनता की बचत संयोजित कर सकेगी। जब तक महाजनो का प्रभाव भारतीय गाँवो मे विद्यमान है, ऐसा होना असम्भव प्रतीत होता है।

(४) श्री वेस्टर सी-डेविस ने १९५७ के प्रारम्भ मे योजना आयोग के अनुरोध पर भारत की ग्रामीण साख व्यवस्था का अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया था कि इस देश मे संस्थागत वित्त की अपेक्षा व्यक्तिगत वित्त अधिक सफल हो सकता है। उन्होंने ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के सूझावो के विपरीत निजी तथा अनौपचारिक सस्थाओं की स्थापना की सिफारिश की जो व्यक्तिगत वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके।

(५) साख की एकीकृत योजना मे स्टेट बैंक व रिजर्व बैंक तथा सरकारी बैंकों का जो योगदान है उसके लिए तो समिति ने विस्तार से विवेचना प्रस्तुत की है लेकिन स्पष्टतः समिति द्वारा व्यापारी बैंको की इस सम्बन्ध मे उपेक्षा की गई है।

(६) समिति की इस सिफारिश को भी उपयुक्त नही जाना सकता कि भारत में बडे आकार की समितियाँ होनी चाहिए। वहुत-से गाँवों के पीछे एक सहकारी समिति होने पर यह असम्भव-सा प्रतीत होता है कि विभिन्न गाँवों मे रहते हुए सदस्यगणो मे सहकारिता की भावना का विकास हो जाए।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के सुझावों पर अमल

भारत सरकार ने ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के लगभग सभी सुझावो को मान लिया और फलस्वरूप निम्न महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए

(१) **स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना**—१ जुलाई, १९५५ को इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई। स्टेट बैंक को ४०० नई शाखाएँ खोलने का निश्चय किया गया। १९६०-६१ तक आठ ऐसे बैंको को स्टेट बैंक से संवद्ध कर लिया गया, जिन्हें रियासतों द्वारा प्रश्रय प्राप्त था।

---

1 Alak Ghosh : Indian Economy (1968).

(२) रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन करके १० करोड रुपये की प्राथमिक पूंजी से राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष बनाया गया और इसमे प्रति वर्ष ५ करोड रु० की पूंजी डालने का निश्चय किया गया।

(३) केन्द्रीय गोदाम निगम व राज्य गोदाम निगमो की स्थापना भी की जा चुकी है।

ग्रामीण ऋण एव विनियोग सर्वेक्षण[1] (१९६१-६२)

ग्रामीण साख सर्वेक्षण के १० वर्ष बाद *ग्रामीण ऋण एव विनियोग सर्वेक्षण (१९६१-६२ मे) किया गया।* इस सर्वेक्षण से प्राप्त प्रमुख तथ्य ये थे ·

(१) **बकाया ऋण**— कृपको व गैर कृपको पर जून, १९६२ मे कुल बकाया ऋण २७८९ करोड रुपए के थे। इनमें कृपको पर २३८० करोड रुपये शेष थे और शेष गैर कृपको पर बकाया थे। कृपको पर बकाया ऋणो मे से कृषक साहूकारो की ओर ३५%, पेशेवर साहूकारो की ओर १२% तथा व्यापारियो की ओर ८% ऋण थे। सरकार के ऋण ६ ४% *तथा सहकारी समितियो के* बकाया ऋण १२ २% थे। इस प्रकार कृपको पर शेष ऋणो मे संस्थाओ का अनुपात १९% से भी कम था।

प्रयोजन के आधार पर कृपको पर जितने ऋण शेष थे उनमे से ४०% उत्पादक कार्य के लिए प्राप्त किए गए थे। शेष ऋण अनुत्पादक कार्यो के लिए प्राप्त किए गए थे। कृपको पर शेष ऋणों मे से ७०% व्यक्तिगत जमानत पर प्राप्त किए गए थे। स्थायी सम्पत्ति को गिरवी रखकर जो ऋण बाकी रहे थे उनका कुल शेष ऋणों मे अनुपात ११% था।

(२) १९६१ ६२ मे जो १०३४ करोड रुपए ग्रामीण साख के रूप मे लिए गए थे उसमे से ४३% उन परिवारो ने प्राप्त किए जिनके पास दस हजार या इससे अधिक की सम्पत्ति थी। *परन्तु जिनका अनुपात कुल ग्रामीण परिवारो मे केवल १३% था।*

(३) *सहकारी ऋणो मे से ५५% उन परिवारो को प्राप्त हुए जिनके पास १० हजार* रुपये या इससे अधिक मूल्य की सम्पत्ति थी। दूसरी ओर ५८% ग्रामीण परिवारो का कुल ऋणो का केवल ११% प्राप्त हुआ।

(४) कुल ऋणो का ३४% भाग १२½% प्रतिवर्ष से अधिक की ब्याज दर पर (१९६१-६२ मे) *प्राप्त किया गया।*

अखिल भारतीय ग्रामीण साख समीक्षा समिति (अन्तरिम) रिपोर्ट[2]

१९६७ मे रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख व्यवस्था की समीक्षा तथा चौथी पचवर्षीय योजना काल मे साख की पूर्ति हेतु सुझाव देने के लिए वैंकटापिया कमेटी की नियुक्ति की थी। विशेष रूप से गहन खेती कार्यक्रमो मे साख की पूर्ति हेतु इस समिति को अपने विचार देने को कहा गया था। समिति ने १९६९ के प्रारम्भ मे अपनी अन्तरिम रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस अन्तरिम रिपोर्ट मे प्रस्तुत की गई सिफारिशो को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है

(१) छोटे कृपको के लिए एक विकास एजेंसी की स्थापना।

(२) ग्रामीण विद्युतीकरण निगम की स्थापना।

(१) छोटे कृपको के लिए विकास एजेन्सी

वैंकटापिया कमेटी ने यह स्पष्ट किया कि ऊँची उपज वाले बीजो तथा गहन कृषि कार्यक्रमो का अब तक केवल बडे कृपको ने लाभ उठाया है। शोधकर्ताओ ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि छोटे कृपक किस प्रकार साधनो के अभाव मे इन सुविधाओ से वंचित रह जाते है। यदि किसी प्रकार छोटे कृपको को सिचाई, उवरको तथा अन्य उपकरणो के लिए पर्याप्त साधन प्रदान कर दिए जाए तो नई कृषि व्यवस्था यानी हरी क्रान्ति का पूरा लाभ इन्हे भी प्राप्त हो सकता है।

---

1 R B I Bulletin, Sep 1965
2 See State Bank of India Monthly Review, February, 1969

इसके लिए वैंकटापिया (ग्रामीण साख समीक्षा) समिति ने देश भर मे छोटे कृपकों की विकास एजेन्सियों की स्थापना का सुझाव दिया। पाइलट प्रोजेक्ट के रूप में ये एजेंसियां ३० चुने हुए जिलों मे प्रारम्भ की जाएं। समिति ने कहा कि इस प्रकार की विकास एजेंसी का प्रमुख कार्य-क्षेत्र के छोटे परन्तु ठोस आर्थिक स्थिति वाले कृपको की समस्याओं का अध्ययन करके कृपि के साधन (बीज, खाद, पानी, सेवाएं) तथा साख उपलब्ध कराना हो। जहाँ तक सम्भव हो यह सारी व्यवस्था वर्तमान सार्वजनिक तथा निजी संस्थाओ के माध्यम से की जाय तथा स्थानीय अधिकारियों से इसमे पूरा सहयोग लिया जाय।

एजेंसी सहकारी सस्थाओं (केन्द्रीय बैंक, प्राथमिक समितियो तथा भूमि विकास बैंको) को पूंजी प्रदान करे ताकि छोटे कृपको को आवश्यकतानुसार साख उपलब्ध हो सके। यह एजेंसी छोटे कृपको को दी गई साख की जोखिम के लिए भी अनुदान दे सकती है। यह एजेंसी छोटे कृपको के विनियोग एव उत्पादक कार्यो के लिए मॉडल प्लान भी बनाएगी। प्रत्येक मॉडल प्लान कृपक की परिस्थितियो के आधार पर बनाया जाएगा।

वैंकटापिया कमेटी ने यह भी सुझाव दिया कि एजेंसी के अलावा छोटे कृपको में से कमजोर वर्ग की सहायतार्थ राज्य की कृपि योजनाओ मे भी प्रावधान रखा जाना चाहिए।

(२) ग्रामीण विद्युतीकरण निगम की स्थापना

वैंकटापिया कमेटी ने कृपि कार्यक्रमो की सफलता मे ग्रामीण विद्युतीकरण को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताया है। समिति का अनुमान है कि चौथी पचवर्षीय योजना की अवधि में १२·५ लाख अतिरिक्त पम्प सैटो को शक्ति की आवश्यकता होगी। इनसे ७० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी तथा ३५ लाख टन अतिरिक्त अनाज प्राप्त होगा। समिति ने कहा कि इन लक्ष्यो की प्राप्ति तभी सम्भव होगी जबकि गांवो मे विद्युत शक्ति की पूरी व्यवस्था हो। परन्तु दूर-दूर तक बिखरे हुए गांवो मे बिजली की व्यवस्था करने मे बहुत अधिक विनियोग की आवश्यकता होगी। इतने अधिक धन की व्यवस्था राज्यो के विद्युत निगम नही कर सकेंगे। समिति ने अनुमान किया कि सारे वर्तमान साधनो को जुटाने पर भी ग्रामीण विद्युतीकरण के कार्यक्रमों में ३०० करोड़ रुपए का घाटा रहेगा जिसकी पूर्ति हेतु ग्रामीण विद्युतीकरण निगम की स्थापना करके की जानी चाहिए। इस निगम मे पूंजी की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार को करनी होगी और इन कोपो का उपयोग प्राथमिकता वाले क्षेत्रो के विद्युतीकरण तथा विशिष्ट ग्रामीण विद्युतीकरण बांड खरीदने के लिए किया जाय। य बांड विद्युत मंडलो (बोर्ड) द्वारा निर्गमित किए जाएंगे। निगम ग्रामीण क्षेत्रों मे सहकारी विद्युत समितियो को भी सहायता दे।

वैंकटापिया कमेटी ने प्रोजेक्ट प्रणाली अपनाने का सुझाव दिया जिसके अनुसार निगम द्वारा जिन विद्युतीकरण के कार्यक्रमो के लिए पूंजी दी जानी है, उनकी पूरी जांच-पड़ताल की जाय। समिति ने आशा प्रकट की कि कृपक विद्युत शक्ति प्राप्त करने को आतुर है अतएव राज्य विद्युत मंडलो द्वारा निर्गमित बोडो (ऋण पत्र) की बिक्री सरलतापूर्वक की जा सकेगी। सरकार ने चौथी योजना काल मे ४५ करोड़ करोड रुपए की अधिकृत पूंजी से एक ग्रामीण विद्युतीकरण निगम स्थापित करने का निश्चय कर लिया है।

(३) कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना

भूमि का विकास, मत्स्य पालन बागान, सिंचाई तथा यत्रीकृत फार्म आदि के विकास हेतु दिए गए ऋणों के पुनर्वित्त की व्यवस्था के लिए १ जुलाई, १९६३ को कृपि पुनर्वित्त निगम की स्थापना की गई थी। तब से लेकर ३० जून १९६८ तक इस निगम ने १२८ विभिन्न कार्यक्रमो के लिए ९१ करोड रुपए पुनर्वित्त के रूप में स्वीकृत किए। इन कार्यक्रमो का कुल प्रस्तावित विनियोग १०८ करोड रुपए था। इन १२८ कार्यक्रमो का विवरण इस प्रकार था :

लघु सिंचाई हेतु ५४; बागान आदि हेतु ३७; भूमि के विकास हेतु २४; मत्स्य पालन हेतु ५; मुर्गी पालन हेतु ४; तथा भूमि संरक्षण, ट्रैक्टर की खरीद तथा शक्ति चालित हलो मे प्रत्येक के लिए २, पुनर्वित्त निगम पुनर्वित्त की व्यवस्था केवल व्यापारी बैंको, राज्य सहकारी बैंको तथा भूमि विकास बैंको के माध्यम से ही की जाती है। १९६७-६८ मे पुनर्वित्त निगम ने केन्द्रीय तथा

शीर्ष सहकारी बैंको द्वारा निर्गमित विशेष विकास ऋण-पत्रो के लिए निर्धारित राज्य के अंश को २५% से घटाकर १०% कर दिया। विद्युतीकरण के कार्यक्रमो हेतु प्रदत्त ऋणो के पुनर्वित्त की स्वीकृति भी १९६८ मे प्रदान की गई।

इतने पर भी वेंकटापिया कमेटी ने यह अनुभव किया कि कृषि पुनर्वित्त निगम कृषकों की अपेक्षित सहायता नही दे पा रहा है। इसलिए कमेटी ने सुझाव दिया कि कृषि पुनर्वित्त निगम को सहकारी तथा अनुसूचित बैंको को पुनर्वित्त देने के अलावा कार्यक्रम की प्राविधिक सम्भावना, तथा आर्थिक स्थायत्तता की भी परख करनी चाहिए। निगम को देखना चाहिए कि पुनर्वित्त जिन कार्यक्रमो के लिए दिया गया है उनके लिए जरूरी उपकरण आदि उपलब्ध हो सके हैं या नही। इसके लिए रिजर्व बैंक के विशेष कोषो के माध्यम से कृषि पुनर्वित्त को कार्य करना चाहिए। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे निगम द्वारा २०० करोड रु० के पुनर्वित्त प्रदान करने की आशा की जाती है।

ग्रामीण साख की भावी आवश्यकताएँ व सुझाव[1]

कृषि विकास के कार्यक्रमो को पूरा करने तथा उत्पादन वृद्धि के सभी लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए भविष्य मे हमे बहुत अधिक साख की आवश्यकता होगी। इसमे हमे जहाँ पर्याप्तता का ध्यान भी रखना है वही यह भी ध्यान मे रखना होगा कि कृषक को सरलतापूर्वक एव उचित शर्तो तथा ब्याज पर यह ऋण प्राप्त हो जाय। योजना आयोग, केन्द्रीय मन्त्रालय एव रिजर्व बैंक ने संयुक्त रूप से एक दल द्वारा ग्रामीण साख की भावी आवश्यकताओ का अनुमान किया है। इसके अनुसार १९६६ ६७ व १९७० ७१ के बीच कुल साख की मांग ९४३ करोड रुपए से बढकर १४१५ करोड रुपए होने की आशा है। इनमे से १९७० ७१ मे मध्यकालीन साख की मांग १०८ करोड रुपए, अल्पकालीन साख की मांग ११०० करोड रुपए तथा शेष दीर्घकालीन साख की मांग होगी। कुछ अन्य अनुमानो के अनुसार कृषि क्षेत्र मे अपेक्षित वृद्धि को देखते हुए १९७०-७१ तक १३०० करोड रुपए की अल्पकालीन साख की जरूरत होनी चाहिए।

ऊँची उपज वाले बीजो या हरी क्रान्ति के बढते हुए प्रभाव को देखते हुए चौथी योजना काल मे ८०० करोड रुपए की मध्यकालीन (पाच वर्ष का योग) साख की जरूरत होगी। १९७३-७४ मे अल्पकालीन साख की मांग २,००० करोड रुपए मध्य कालीन साख की मांग २०० करोड रुपए व दीर्घकालीन साख की मांग ४०० करोड रुपए होगी।

प्रश्न है चौथी योजना के अन्त तक इतनी अधिक धन राशि की व्यवस्था कौन करेगा? जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है सहकारी सस्थाओं की वित्तीय स्थिति दिन प्रतिदिन शोचनीय हो रही है। अवधि पार ऋणो तथा पूंजी के अभाव मे सहकारी सस्थाएँ अधिक से अधिक ग्रामीण साख का ३०% (चौथी योजना के अन्त तक) भाग दे सकेंगी। व्यापारी बैंको की स्थिति हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है। अस्तु, हमे काफी सीमा तक ग्रामीण साख की पूर्ति हेतु साहूकारो पर ही निर्भर रहना होगा। लेकिन जरूरत इस बात की है कि साहूकारो पर इस प्रकार से नियन्त्रण रखा जाय कि वे कृषक का शोषण नही कर सकें। यही नही विभिन्न ऋणदाता सस्थाओं के बीच समन्वय होना भी जरूरी है। कुछ भी हो कृषि-उत्पादन बढाने के लिए पर्याप्त साख की व्यवस्था होना बहुत आवश्यक है। लेकिन साथ ही यह भी जरूरी है कि साख का उपयोग अधिकाधिक उत्पादक कार्यों के लिए किया जाय ताकि ऋण की वापसी हेतु कृषक पर्याप्त क्षमता का सृजन कर सकें।

---

1 M R Bhide—op cit pp 81 82

१४

कृषि पदार्थों का विपणन
(Marketing of Agricultural Produce)

प्रारम्भिक . कृषि पदार्थों के विपणन की आवश्यकता

पिछले अध्यायो मे भारतीय कृषि से सम्बद्ध कुछ समस्याओ का अध्ययन किया जा चुका है । उनमे यह बताने का प्रयास किया था कि भारतीय कृषक के समक्ष भूमि व साख सम्बन्धी कौन-कौन सी कठिनाइयां रही है और उनके निवारण हेतु कौन-कौन से उपाय अब तक उठाए गए हैं । वस्तुत साख की उचित व्यवस्था तथा उत्तम भूमि व्यवस्था ही देश के कृषकों की स्थिति को नही सुधार सकती। जब तक कृषक के पास खेत में इतनी उपज नही हो जाती कि वह जीवन निर्वाह कृषि (subsistance farming) की स्थिति से निकल कर इतना अतिरेक प्राप्त नही कर लेता कि जीवन स्तर सुधर सके, कृषि विकास का कोई कार्यक्रम सफल नही माना जाएगा। अन्य शब्दो मे, उत्पादन बढाने मात्र से कृषक की स्थिति मे सुधार नहीं हो सकता। इसके लिए बढी हुई उपज का उचित मूल्य भी उसे मिलना चाहिए। यदि उपज मे वृद्धि के साथ उसे बाजार में उचित मूल्य भी मिलता है तो इससे दो लाभ होगे। प्रथम तो यह कि काश्तकार को लाभ होने पर कृषि मे पूँजी निर्माण की प्रवृत्ति बढ़ेगी, और द्वितीय, कृषक के जीवन स्तर मे सुधार होने पर उसकी कार्यक्षमता मे वृद्धि होगी। **इस प्रकार कृषि के दीर्घकालीन विकास के लिए कृषि पदार्थों का वितरण न्यायपूर्ण एवं कृषक के लिए लाभप्रद होनी चाहिए।**

लेकिन इसके पूर्व कि भारत मे कृषि उपज के विपणन की विस्तृत विवेचना की जाय, हम कृषि पदार्थों के विपणन की उपादेयता के विषय में बताना उचित समझते है। यदि समस्त देश मे उत्पादन की घरेलू प्रणाली (domestic system) हो और कृपक अपने जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त खाद्यान्न उत्पन्न करें तो विपणन का कोई प्रश्न ही नही होगा। ऐसी स्थिति मे शिल्पकार व कृपक बहुत छोटे पैमाने पर वस्तुओ का उत्पादन करेंगे। परन्तु यह एक परम्परागत व्यवस्था मे ही सम्भव है। जैसे-जैसे देश आर्थिक विकास करता है, औद्योगीकरण बढता है और कृषि तथा उद्योगो मे वृहत् स्तरीय उत्पादन प्रारम्भ होता है। ऐसी स्थिति मे कृपको के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि गैर कृपक जनता के लिए भी पर्याप्त खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चा माल प्रदान करें। **उस सब अतिरेक को जिसे कृषक वर्ग अन्य वर्गों के उपयोग हेतु प्रस्तुत करता है हम विपणन योग्य अतिरेक (marketable surplus) की संज्ञा देते हैं।**

कुछ अर्थशास्त्रियो की मान्यता है कि अल्पविकसित देशो में जैसे-जैसे आर्थिक विकास होता है, और मूल्यो में वृद्धि होती है, विक्री योग्य अतिरेक में कमी होती जाती है। विशेष रूप से **श्री पी० एन० माथुर** एव **एजकोल** यह मानते है कि भारत जैसे देश में जहाँ काश्तकारो की सीमित मौद्रिक जरूरतें होती हैं, मूल्य वद्धि के कारण अब थोडी सी उपज (पूर्वापेक्षा) बेचकर ही वे अपनी

मौद्रिक जरूरतो को पूरा कर लेते है । इसी कारण मूल्य वृद्धि के साथ-साथ बाजार में बिक्री हेतु आने वाली उपज की मात्रा कम होती जाती है ।[1]

भारत भी एक अल्प विकसित देश है और खाद्यान्न के बढते हुए मूल्यो की पृष्ठ भूमि मे माथुर एजकील का तर्क यहा की परिस्थिति म भी महत्व रखता है। यदि कृषको की विपणन व्यवस्था इसी आधार पर है तो इस देश में बिक्री योग्य अतिरेक का सही अनुमान कभी नही लगाया जा सकेगा क्योंकि मूल्यों मे थाडा भी परिवर्तन होने पर उसी दिशा मे खाद्यान्न का विपणन कम होगा या बढ जाएगा ।

बिक्री योग्य अतिरेक के अनुमान[2]—कुछ समय पूव केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रकाशित एक रिपोट मे बताया गया कि खाद्य फसलो का ७५% कभी बाजार तक नही पहुँच पाता । डा० केहलोन व रीड के मत में अनाज के बिक्री योग्य अतिरेक का कोई भी सही अनुमान करना सम्भव नहीं है क्योंकि यह कृषको की भोजन सम्बन्धी आदत पर निर्भर है। हैदराबाद मे गेहूँ का ३/४ बाजार मे बेच दिया जाता है क्योंकि वहाँ सामान्य भोजन चावल है जबकि गेहू पर आश्रित पजाब का किसान आधे से ज्यादा चावल और केवल $1/_4$ गेहूँ बाजार मे बेचता है। एक अन्य लेखक ने बताया कि १९५९ में कुल खाद्यान्न का २८% बाजार मे बेचा गया था। लेकिन माथुर-एजकील के विपरीत इनमे से कुछ लेखकों की यह मान्यता है कि जैसे-जैसे अधिक विकास होता है और काश्तकार की आय बढती है वैसे वैसे उसका उपभोग बढता है। फलत बाजार में आने वाले अतिरेक मे कमी होती है। परन्तु हम इस तर्क से सहमत नहीं हैं। भारत जैसे देश की कृषि व्यवस्था मे केवल बढा हुआ उपभोग ही अतिरेक को कम नही करता । काश्तकार की सुधरती हुई आर्थिक दशा उसे इस योग्य बना देती है कि खाद्यान्न की पूर्ति फसल के तुरन्त बाद न करके स्टाक का सग्रह करले। सहकारी सस्थाओ के ऋणो ने भी इस प्रवृत्ति को बल दिया है।

लेकिन जितना विवाद एव अनिश्चितता खाद्यान्नो के बिक्री योग्य अतिरेक के विषय मे है उतनी व्यापारिक फसलो के लिए नही होती। क्योंकि कृषक न तो इनका उपयोग स्वय करता है और न ही इनको रोकने मे उसका अधिक लाभ है। वस्तुत व्यापारिक फसलो का उत्पादन ही विपणन की दृष्टि से किया जाता है और इसीलिए इनका बिक्री योग्य अतिरेक काफी अधिक होता है। तिलहनो के उत्पादन का ८० से ९०% तक काजू का ६७% तम्बाकू का ६२ ५% तथा कपास का ९५% बाजार म बेच दिया जाता है। गन्ना विशुद्ध रूप मे न बेचा जाकर गुड के रूप म बेचा जाता है और इसका अनुपात ८०% है।[3]

अब प्रश्न यह है कि कृषि पदार्थों का विपणन किन व्यक्तियो या सस्थाओ के माध्यम से किया जाता है इस प्रक्रिया मे सामान्यत गाव के व्यापारी तथा कच्चे व पक्के आढतियो का योगदान होता है। परन्तु कुछ समय से सहकारी विक्रय समितिया भी इस दिशा में सक्रिय हो गई हैं। इनका आगे विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इसके पूव कि हम भारत मे कृषि उपज के विपणन का विस्तार से वर्णन करें इसका ऐतिहासिक विश्लेषण करना उपयुक्त होगा। इसके पश्चात् इस प्रणाली मे विद्यमान दोषों की समीक्षा की जाएगी।

कृषि उपज की बिक्री व्यवस्था के दोष

यद्यपि स्वतत्रता प्राप्ति क बाद कृषि पदार्थों की बिक्री व्यवस्था मे सुधार हेतु सरकार द्वारा काफी प्रयास किया गया है फिर भी इसमे निम्न दोष आज भी पाए जाते है

(१) कृषको में सगठन का अभाव—बाजार का सामान्य नियम यह है कि क्रेताओ तथा

1 P N Mathur & H Ezkiel Martetable Surplus and Price Fluctuations in a Developing Economy article in Kyklos Vol XIV 1961

2 See articles by Bansil Bala Subramaniam A S kahlon Read and B Natarajan Indian Journal of Agricultural Economics, Jan March 1961

3 Indian Agriculture in Brief p 56

विक्रेताओं दोनों के बीच शक्ति सन्तुलन होने पर ही विनिमय द्वारा दोनों पक्षों को लाभ हो सकता है। परन्तु भारत में कृषि उपज के अधिकांश विक्रेता (कृषक) मण्डी या बाजार में क्रेताओं (व्यापारियों) की तुलना में कम संगठित हैं। व्यापारी परस्पर सहयोग द्वारा माँग को नियन्त्रित रखने में सफल हो जाते हैं जबकि उत्पादक (कृषक) पूर्ति पर कोई नियमन या नियन्त्रण नहीं लगा पाता। अस्तु, संगठन के अभाव में क्रेता उसका शोषण करने में सफल हो जाते हैं।

(२) **विवशतापूर्ण बिक्री**—वस्तुत भारतीय कृषक स्वेच्छा से उपज को नहीं बेचता। इसके विपरीत तीन ओर से उसे अपनी उपज फसल काटने के तुरन्त बाद गाँव में ही बेचनी पड़ती है। ये कारण हैं: उस साहूकार का तकाजा जिसने कृषक को रुपया उधार दिया है; बिक्री योग्य उपज की बहुत थोड़ी मात्रा, जिसके कारण वह मण्डी तक इसे ले जाना नहीं चाहता तथा मण्डी तक उपज पहुँचाने के साधनों का अभाव। मण्डी व गाँवों के बीच सड़कें साधारणतया कच्ची हैं इसलिए बैल व गाड़ी होने पर भी कृषक उपज को गाँव में बेचना ही पसन्द करता है। विशेष रूप से खाद्यान्न के अतिरेक का ६५% गाँवों में ही बिक जाता है जबकि कपास का ३५ से ४०%, जूट का ९०% व तिलहन का ५०% गाँवों में ही बिक जाता है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण के अनुसार बिक्री योग्य अतिरेक का $\frac{1}{2}$ भाग कृषक गाँव में ही बेच देता है।[1] इस विवशता के कारण उसे जो भी मूल्य मिल जाय उसी में सन्तोष करना पड़ता है।

(३) **मध्यस्थों का आधिक्य**—डा० देसाई ने भारतीय कृषक की तुलना सिंधवाद जहाजी से की है। वे लिखते हैं कि निर्जन टापू में सिंधवाद की पीठ पर तो केवल एक बूढ़ा चढ़ा था, परन्तु भारतीय कृषक को मध्यस्थों की एक विशाल सेना का भार ढोना पड़ रहा है। यही कारण है कि अन्तिम उपभोक्ता उपज के लिए मूल्य देता है उसका काफी बड़ा अंश ये मध्यस्थ हड़प लेते हैं। अनुमानत उपभोक्ताओं द्वारा चुकाए जाने वाले मूल्य का ५७-५८% ही उत्पादक को मिलता है और शेष मध्यस्थों को प्राप्त हो जाता है।[2]

(४) **अनियन्त्रित बाजार**—यद्यपि सरकार द्वारा जिन मण्डियों को नियमित बनाया गया है वहाँ कुछ सुधार हुआ है। परन्तु अधिकांश कृषि बाजार (मण्डियाँ) आज भी नियमित नहीं हैं। कृषि उपज की बिक्री इन बाजारों में व्यापारियों की सुविधा तथा इच्छा के अनुसार की जाती है। कई बार कृषक यह जान भी नहीं पाता कि उपज किस दर पर बेची गई और कुल राशि में से जो कटौतियाँ की गई हैं उनका क्या औचित्य है?

(५) **कृषि उपज में प्रमाणीकरण का अभाव**—भारतीय कृषक उपज को बेचने से पूर्व उसका प्रामाणीकरण या श्रेणीकरण नहीं कर पाता। गेहूँ में जौ या चने का मिश्रण साधारण सी बात मानी जाती है। इसी प्रकार कंकर, कचरा या हल्की क्वालिटी की उपज का मिश्रण भी एक आम बात है। इसका कारण यह है कि मण्डी में लाने से पूर्व कृषि उपज का ठीक प्रकार से परि-निर्माण नहीं किया जाता। परन्तु मिलावट या अशुद्धियों के कारण कृषक को वही मूल्य स्वीकार करना पड़ता है जो व्यापारी उसे दे दे।

(६) **तोल के नियमन की अव्यवस्था**—यद्यपि भारत सरकार ने हाल ही में दशमलव तोल प्रणाली का प्रारम्भ करके सम्पूर्ण देश में एक ही तोल-व्यवस्था लागू कर दी है, फिर भी ऐसी अनेकों मण्डियाँ आज भी हैं, जहाँ परम्परागत तोल के आधार पर कृषि उपज बेची जाती है। राजस्थान के उत्तर-पूर्वी जिलों में कहीं-कहीं आज भी १०० तोले का एक सेर माना जाता है। जबकि दक्षिण के गुजरात से मिले हुए जिलों में सेर से अभिप्राय ४० तोले से है। कृषि-पदार्थों का विक्रय परम्परागत तोल के आधार पर होने से बिक्री-व्यवस्था में बाधाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। नवीन तोल-प्रणाली के अन्तर्गत जिन बाटों की आवश्यकता है, वे पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाते और इसीलिए कृषक तथा व्यापारी पुराने बाटों से आज भी काम चला रहे हैं। शाही कृषि आयोग ने १९२८ में ही सरकार को यह स्पष्ट बता दिया था कि तोल-व्यवस्था ठीक नहीं होने तक कृषि-उपज की बिक्री ठीक ढंग पर नहीं हो सकेगी। लेकिन राज्य के दृढ़ निश्चय के बावजूद

---

1. Rural Credit Survey Committee Report p 182
2. See Agricultural Situation in India, January, 1962 pp. 1023-24

तोल-व्यवस्था सन्तोषप्रद नहीं है तथा आज भी अशिक्षित व भोले कृषकों को व्यापारी ठगने में सफल हो जाते हैं। यहाँ तक कि नये बाटों की व्यवस्था को समझने में कृषक असमर्थ रहता है और फलस्वरूप इस दृष्टि से भी उसके ठगे जाने की पूरी सम्भावनाएँ रहती है।

(७) यातायात के साधनों का अभाव—कृषि-उपज की दोषपूर्ण बिक्री का सबसे प्रमुख कारण है, यातायात के साधनों का अभाव। उपज पर्याप्त मात्रा में हों तथा कृषक के पास परिवहन के साधन हों, फिर भी अच्छी सड़कों के अभाव में कृषि उपज मण्डी तक नहीं लाई जा सकती। भारत में आज भी हजारों गाँव ऐसे हैं, जिन तक वर्ष में चार महीने तक नहीं पहुँचा जा सकता। कच्ची सड़कें होने के कारण इनकी उपादेयता अपेक्षाकृत कम रहती है।

(८) मण्डियों में प्रचलित कपटपूर्ण पद्धतियाँ—भारत की मण्डियों में विशेषतः जो अनियन्त्रित हैं, प्रचलित धोखेबाजियों के कारण भी कृषक-विक्रेताओं को बहुत हानि सहनी पड़ती है। शाही कृषि आयोग एवं राष्ट्रीय नियोजन समिति दोनों ही ने इसे स्वीकार किया था। कपटपूर्ण पद्धतियों के प्रमुख उदाहरण निम्न है—कम तोलना, नमूने के रूप में उपज का पर्याप्त अंश ले लेना, मण्डी के दलाल द्वारा व्यापारियों के साथ पक्षपात करना, गुप्त रूप से मूल्य तय होने में किसान के साथ धोखा, चुंगी व रवन्ना, आढ़त तुलाई, बोराबन्दी पल्लेदारी, पाठशाला, गौशाला, प्याऊ मेहतर, रसोइया, भिखारी आदि के नाम से अनुचित कटौतियाँ, जिनके बारे में शाही कृषि आयोग ने कहा था कि 'ये किसी भी प्रकार खुली चोरी से कम नहीं हैं।"

(९) मध्यस्थों की एक लम्बी शृंखला—भारत में कृषक तथा अन्तिम उपभोक्ता के बीच मध्यस्थों की एक लम्बी शृंखला विद्यमान है, जैसे—गाँव का बनिया, महाजन, कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया, दलाल, थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारी, सहकारी विक्रय समिति। ये विभिन्न स्तरों पर कार्य करते हैं तथा अपना-अपना कमीशन ले लेते हैं जिसके परिणामस्वरूप बेचारे कृषक को उपभोक्ता द्वारा दिये जाने वाले मूल्य का एक अल्प भाग ही मिल पाता है।

(१०) कृषि उपज को सुरक्षित रखने की व्यवस्था का अभाव—यदि उपज को बाजार में माँग के अनुसार प्रस्तुत किया जाय तो उससे उपभोक्ताओं तथा विक्रेताओं दोनों को लाभ होता है। सबसे विचित्र बात भारतीय कृषि विपणन व्यवस्था में यह है कि यहाँ उपज का उत्पादक उपभोक्ता के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं रहता। कृषक को सामान्य मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु फसल कटने के तुरन्त बाद उपज को बाजार में लाना पड़ता है और इसी जल्दबाजी के कारण व्यापारी उस उपज को कम मूल्य पर खरीद लेते हैं। जो कृषक बिक्री-योग्य अतिरेक को रोकना भी चाहते हैं उनके पास गोदामों की समुचित व्यवस्था नहीं है और वे इसे मिट्टी की कोठियों, गड्ढों या खत्तियों में रख देते हैं। उपज की इन स्थानों पर कोई सुरक्षा नहीं रहती तथा कीड़ों (घुन) के कारण वह खराब हो जाती है। विशेषरूप से खाद्यान्नों व तिलहनों में कुछ समय बाद ही घुन या कीटाणु लगना प्रारम्भ हो जाता है। यही कारण है कि जो कृषक उपज को रोकने में समर्थ हैं वे भी फसल कटने के तुरन्त बाद इसे बेच देते हैं।

दूसरी ओर व्यापारियों के पास भी अच्छे गोदाम नहीं है और सीलन-भरी कोठरियों में वे कृषि-उपज को रखते हैं। फलस्वरूप वहाँ भी कीटाणुओं का प्रकोप प्रारम्भ हो जाता है।

(११) बाजार मूल्य तथा अन्य सूचनाओं से अनभिज्ञता—अशिक्षा एवं अज्ञानता के कारण अधिकांश कृषक बाजार सम्बन्धी (विशेषरूप से मूल्य-सम्बन्धी) सूचनाएँ प्राप्त नहीं कर पाते (बहुत से कृषक आढ़तिए पर इतना अधिक विश्वास करते है कि इसकी जरूरत नहीं समझते। फलस्वरूप उनका शोषण व्यापारियों द्वारा सरलता से किया जा सकता है।

कुल मिलाकर भारतीय कृषि उपज की विपणन व्यवस्था को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है

बहुत थोड़ा बिक्री योग्य अतिरेक होने, साहूकारों तथा मध्यस्थों के दबाव के कारण, परिनिर्माण तथा गोदामों की अव्यवस्था के कारण तथा संगठित न होने के कारण भारतीय कृषक को अपने श्रम का पर्याप्त प्रतिफल नहीं मिल पाता।

कृषि-उपज की बिक्री-सम्बन्धी राज्य की नीति

यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष तरीको द्वारा इस प्रकार के प्रयास किए कि कपास, जूट, तम्बाकू, अनाज व चाय आदि कृषि पदार्थ आंग्ल उद्योगों तथा आंग्ल जनता के उपयोग हेतु अधिकाधिक मात्रा मे भारत से जाएँ, फिर भी इससे कृषि-उपज की बिक्री-पद्धति मे मूलभूत परिवर्तन नही हो सके । केवल अकाल के समय राज्य अनाज की मण्डियों में मूल्य निर्धारित करने का उत्तरदायित्व लेता था । लेकिन १८६०-६१ में बेअर्ड स्मिथ तथा जॉन स्ट्रेचे आदि ने राज्य के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप को अनुचित बताया तथा यह अपील की कि राज्य को अनाज खरीदने या बेचने के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिए ।[1] राज्य की कृषि-उपज की बिक्री के सम्बन्ध में यह उदासीनता प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भी काफी समय तक बनी रही ।

सबसे पहले इस सम्बन्ध मे विस्तार से राज्य का ध्यान आकर्षित किया । शाही कृषि आयोग ने, जिसने कृषि-उपज के दोषपूर्ण विपणन को कृषि की सबसे बडी समस्याओ मे एक बताया। शाही कृषि आयोग ने निम्न सुझाव कृषि-पदार्थों की सुचारु बिक्री के लिए प्रस्तुत किए

(i) यातायात व परिवहन के साधनों का विकास, (ii) कृषि-उपज पर रेल-भाडे मे कमी तथा अन्य सुविधाएं प्रदान किये जाना, (iii) हैदराबाद तथा बरार की भाँति समस्त देश में नियन्त्रित बाजार स्थापित हो, (iv) तोल का प्रमाणीकरण, (v) मिलावट व अन्य बुराइयों को दूर किया जाए, (vi) वस्तुओ के स्टैंडर्ड तथा श्रेणियो का निर्धारण, (vii) सहकारी बिक्री को प्रोत्साहन, (viii) श्रेष्ठतर बीजो व पद्धतियो का उपयोग करने के बाद कृषकों को पूरा लाभ प्राप्त हो, इसके लिए राज्य के कृषि-विभाग द्वारा कृषि-उपज की नीलामी द्वारा बिक्री (ix) बाजार मे कृषि-पदार्थों की बिक्री का सर्वेक्षण करवाया जाए, तथा (x) कृषि-विभाग के अन्तर्गत एक विशेष समिति की नियुक्ति द्वारा कृषि-उपज की समुचित बिक्री की व्यवस्था। शाही कृषि आयोग के पश्चात् प्रान्तीय बैंकिंग जांच-समितियो तथा केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (क्रमश १९३० व १९३१) ने कृषि उपज की बिक्री-सम्बन्धी अनेक सुझाव प्रस्तुत किए । फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार की नीति मे आमूल परिवर्तन हुए । नियन्त्रित बाजारो की स्थापना, केन्द्रीय कृषि-उपज बिक्री परामर्शदाता मंडल की नियुक्ति तथा कृषि-पदार्थों का प्रमाणीकरण तथा श्रेणीकरण इस दिशा मे राज्य के क्रान्तिकारी कदम कहे जा सकते है । अब हम विस्तार से उन सब उपायो का वर्णन करेंगे, जिनके माध्यम से कृषि-उपज की बिक्री मे १९३५ से अब तक सुधार करने का प्रयास किया गया है ।

(१) नियमित बाजार व्यवस्था (Regulated Markets)—कृषि बाजारो पर नियन्त्रण के प्रयास १८९७ से प्रारम्भ हो गए थे जबकि बरार मे कॉटन एण्ड ग्रेन मार्केट्स ला पारित हुआ । बम्बई तथा हैदराबाद मे भी कपास की नियन्त्रित बिक्री के लिए १९२३ के पश्चात् कुछ अधिनियम पारित किये गए । लेकिन सर्वप्रथम सारे देश मे नियन्त्रित बाजारो की स्थापना के लिए शाही कृषि आयोग ने सुझाव प्रस्तुत किया । चूंकि १९२१ से ही कृषि के विकास का दायित्व राज्यों पर छोड दिया गया था, अतएव राज्य की सरकारो ने शाही आयोग की सिफारिशो पर विचार प्रारम्भ किया । फलस्वरूप सबसे पहले हैदराबाद मे नियमित बाजारो की स्थापना हेतु १९३० मे पुराने अधिनियम मे सशोधन किया गया । उसके पश्चात् मद्रास (१९३३), मध्यप्रदेश (१९३५), बम्बई (१९३९), पजाब (१९३९) एवं मैसूर (१९३९) मे अधिनियम पारित किये गए । मद्रास के अधिनियम में १९३९ व १९४० में सशोधन किए गए जबकि पंजाब का अधिनियम अक्टूबर १९४१ से लागू हुआ ।

इस प्रकार के बाजारो मे निम्न विशेषताएँ होती हैं (i) कृषि-उपज की बिक्री पर एक मण्डी-समिति का नियन्त्रण होता है, जिसमे उत्पादकों तथा व्यापारियो के प्रतिनिधि सम्मिलित होते है, (ii) दलालों तथा व्यापारियों को लाइसेंस लेना होता है, (iii) आढत, दलाली एव अन्य कटौतियाँ सीमित तथा अधिकृत होती हैं, (iv) तोल व माप पर मण्डी एवं राज्य द्वारा नियुक्त

1. B. M Bhatia . Famines in India—pp. 104-7

अधिकारियों को निगरानी रहती हैं, तथा (v) मन्त्री-समिति कृषि पदार्थों की मूल्य-सम्बन्धी सूचनाएँ देने के लिए उत्तरदायित्व लेती है।

यद्यपि इस प्रकार स्थापित किये गए बाजारो मे कृषक को पूरा न्याय मिलना चाहिए, फिर भी ऐसा देखा गया है कि नियन्त्रित बाजारो मे भी अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण कृषक उपज के लिए उचित मूल्य प्राप्त करने मे असफल रहते है एव चतुर व्यापारीगण उन्हे गुमराह कर सकते है।[1] मडी कमेटी में प्रतिनिधित्व होने के बावजूद कृषकों की आवाज नियन्त्रित बाजार मे महत्त्वहीन रहती है।

समस्त भारत की २५०० बडी मण्डियों में मे १९५०-५१ तक केवल २६५ ही नियन्त्रित मण्डियाँ थी। प्रथम योजना के पूर्व योजना आयोग ने यह निश्चय किया कि यथासम्भव इन मडिया की सख्या उतनी पहुँचा दी जाय जितनी कुल बडी मंडियाँ हैं।

प्रथम पचवर्षीय योजना की समाप्ति के समय नियन्त्रित मण्डियों की सख्या ४७० थी। द्वितीय योजना काल में केन्द्रीय सरकार के निर्देशन के अनुसार बहुत से राज्यो मे नियन्त्रित बाजार स्थापित करने के सम्बन्ध मे अधिनियम पारित किये गए। १९६०-६१ तक इन बाजारो की सख्या बढकर ७२५ हो गई यद्यपि तृतीय योजनाकाल मे शेष (लगभग १७७५) बाजारों को भी नियन्त्रित बाजारो मे परिवर्तन कर देने का निश्चय किया गया था। परन्तु योजना की समाप्ति तक १६०० मण्डियो को ही नियन्त्रित किया जा सका। मार्च १९६८ तक इनकी सख्या १८१० तक बढा दी गई।[2] वस्तुत राज्य सरकारो की शिथिलता के कारण ही इस दिशा में धीमी प्रगति रही है।

(२) **कृषि-पदार्थों का श्रेणीकरण** शाही कृषि आयोग ने कृषि-पदार्थों के श्रेणीकरण अथवा कोटिक्रम (Grading) की आवश्यकता पर भी काफी बल दिया था। ब्रिटिश सरकार ने प्रारम्भ मे फलो, अण्डो, आटा व घी आदि पदार्थों की किस्म मे सुधार करने के लिए कदम उठाए, पर धीरे-धीरे अन्य कृषि-पदार्थों एव विशेषतया खाद्य-पदार्थों को भी इस सूची मे सम्मिलित कर लिया गया। १९३७ मे केन्द्रीय सरकार ने कृषि-उपज (श्रेणीकरण एव विक्रय) अधिनियम पारित किया। इसके अनुसार प्रान्तीय सरकारो व भारतीय कृषि अनुसधान परिषद (I C A R) की सलाह से १९३५ में नियुक्त केन्द्रीय कृषि-उपज बिक्री सलाहकार को श्रेणीबद्ध वस्तुओ के लिए प्रमाण-पत्र प्रदान करने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार की वस्तुएँ जिन्हे प्रमाण-पत्र दिया जाता था, एगमार्क (Agmark) की वस्तुएँ कहाने लगी। आज एगमार्क की वस्तुओ मे फल, सब्जियाँ, अण्डे, दूध व सम्बन्धित पदार्थ, तम्बाकू, कॉफी, आटा, वनस्पति घी, तिलहन कपास, चावल, गेहूँ, गन्ना, गुड, लाख तथा पशुओ से प्राप्त वस्तुएँ जैसे चमडा व ऊन आदि शामिल हैं। परन्तु चौथी योजना के अन्त तक सभी महत्त्वपूर्ण खाद्य पदार्थों का एगमार्क प्रामाणीकरण करने का लक्ष्य रखा गया है।

१९५२ मे योजना आयोग की सिफारिश पर निर्यात हेतु प्रस्तुत कृषि पदार्थों का श्रेणीकरण अनिवार्य कर दिया गया तथा आन्तरिक व्यापार हेतु प्रयुक्त कृषि उपज के श्रेणीकरण को ऐच्छिक माना गया। इन वस्तुओ मे, जिनका निर्यात हेतु श्रेणीकरण अनिवार्य है तम्बाकू, सन, चन्दन का तेल, बकरी के बाल, मिर्च, व ऊन आदि हैं। योजना आयोग का अनुमान था कि इस प्रकार के श्रेणीकरण से कृषि-पदार्थों के निर्यात मे १०% वृद्धि होगी।[3]

श्रेणीकरण की प्रक्रिया को अधिक सरल एव सुविधाजनक बनाने के लिए तृतीय पचवर्षीय योजना-काल मे नागपुर मे एक केन्द्रीय प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) तथा आठ क्षेत्रीय प्रयोगशालाएँ गुंटूर, मद्रास, कोचीन, कानपुर, राजकोट, अमृतसर, कलकत्ता व बम्बई मे स्थापित की गई हैं। यहाँ

---

1 लेखक ने स्वय रतलाम मडी, जो मध्य प्रदेश मे एक नियन्त्रित बाजार है, का १९५९ मे सर्वेक्षण किया था तथा अनुभव के आधार पर ही उपरोक्त विचार प्रस्तुत किये गए हैं।

2 India 1968 p 233

3 First Five Year Plan, p 248

यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि द्वितीय योजना के अन्त तक चार प्रयोगशालाएँ कोचीन, राजकोट, कानपुर व बम्बई में स्थापित की चुकी थी, पर इन्हे तृतीय योजना काल मे क्षेत्रीय संस्थाओ के रूप मे बदला गया। १९६८ मे पटना व बगलोर मे भी क्षेत्रीय प्रयोगशालाएँ स्थापित की गयी।

सरकार ने यह अनुभव किया है कि श्रेणीकरण से काश्तकार को लाभ तथा उपभोक्ता को सुविधा होती है अतः चौथी योजना काल मे ६०० नई श्रेणीकरण-इकाइयाँ स्थापित की जाएँगी। इस समय लगभग ३५० ऐसी इकाइयाँ नियन्त्रित बाजारों मे कार्य कर रही हैं। कपास, जूट, फलों, सब्जियो व पशुओ से प्राप्त वस्तुओ मे श्रेणीकरण हेतु विशिष्ट सुविधाएँ दी जाएँगी।

(३) **बिक्री-सर्वेक्षण**—भारत सरकार ने १९३५ मे एक कृषि-बिक्री सलाहकार की नियुक्ति की थी, यह ऊपर लिखा जा चुका है। आज तक भी केन्द्रीय कृषि-बिक्री सलाहकार व अन्य बिक्री अधिकारी कृषि-मन्त्रालय के अन्तर्गत कार्य कर रहे है। सर्वप्रथम इंग्लैंड के कृषि-मन्त्रालय के बिक्री-विभाग के वरिष्ठ अधिकारी श्री ए० एम० लिविंगस्टन इस पद पर नियुक्त किये गए, परन्तु आजादी के बाद से यह पद भारतीय अधिकारियो को ही मिलता रहा है। केन्द्र की भाँति बम्बई, मद्रास, पश्चिमी बंगाल, बिहार, पंजाब, आन्ध्र व मैसूर में भी इसी प्रकार के प्रान्तीय सलाहकारों की नियुक्ति की गई है। केन्द्रीय सलाहकार के दो मुख्य कार्य हैं—(१) विभिन्न कृषि-पदार्थों की बिक्री से सम्बन्धित सर्वेक्षण करवाना तथा विस्तृत रिपोर्ट प्राप्त करना एवं (२) वस्तुओं के श्रेणीकरण की व्यवस्था करना। द्वितीय कार्य की विवेचना ऊपर की जा चुकी है।

सर्वप्रथम १९३७ मे गेहूँ की बिक्री के विषय मे एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जिसमे बिक्री-प्रणालियो, विभिन्न मण्डियो की स्थिति व बिक्री-पद्धति के दोषों की विस्तृत विवेचना को गई। इसके पश्चात् चावल, कपास, आलू, चना, जौ, मक्का, फल, तिलहन, चमड़ा, घी, अण्डा, कॉफी, दूध व सम्बन्धित पदार्थ व अनेक अन्य वस्तुओ के विषय मे केन्द्रीय बिक्री एवं निरीक्षण सचालन विभाग (जिसमे बिक्री सलाहकार का कार्यालय स्थित है) की ओर से १९५६-५७ तक ७० सर्वेक्षण किए गए। वस्तुओं से १९६३ की मार्च तक सर्वेक्षण रिपोर्टों की संख्या १३१ हो गई थी, लगभग ४० महत्त्वपूर्ण वस्तुओ की बिक्री का सर्वेक्षण एक से ज्यादा बार हुआ है।

(४) **माप-विधि तथा बाँटों में सुधार**—शाही कृषि आयोग ने प्रत्येक नियन्त्रित बाजार मे एक काँटा (Weight-bridge) लगाने की सिफारिश की थी, जिस पर कृषि-उपज लेकर आने वाली गाडियों का तोल किया जा सके। भरी तथा खाली गाडी के वजन का अन्तर उपज का भार माना जाय, ऐसी आयोग की मान्यता थी। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि अनियन्त्रित बाजारो मे भी अनिवार्य रूप से ऐसे काँटो की व्यवस्था की जाय। जहाँ काँटो की व्यवस्था नहीं हो सके, आयोग की सिफारिश के अनुसार वहाँ लाइसेंस प्राप्त मापक एवं तोल करने वाले हो। इन उपायों से काफी सीमा तक तोल में की जाने वाली गड़बड़ को रोका जा सकता है, ऐसा आयोग का मत था।

आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि सारे देश में एक प्रकार का तोल होना चाहिए तथा इस व्यवस्था को सुविधापूर्ण एवं सरल बनाने के लिए राज्य द्वारा प्रामाणिक बाँट प्रदान किये जाएँ। इसी उद्देश्य से १९३९ में केन्द्रीय सरकार ने बाट-प्रमाणीकरण अधिनियम पारित किया। यह अधिनियम १ जुलाई, १९४२ से लागू किया गया तथा मिंट मास्टर, बम्बई द्वारा तैयार किए गए बाँटो की बिक्री का इसमे प्रावधान रखा गया। राज्य द्वारा प्रमाणित बाँटो का उपयोग अनिवार्य रूप से करने के लिए बम्बई, बिहार, मध्यप्रदेश, बरार, हैदराबाद, मैसूर व पटियाला मे अधिनियम पारित किए गए।

लेकिन इन बाँटो की पूर्ति अपर्याप्त एवं अनियमित थी और फलस्वरूप स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय प्रमाण सस्था (I. S. I.) ने देश मे बाँटो के प्रमाणीकरण हेतु दशमलव प्रणाली अपनाने की सिफारिश की। १ अक्टूबर, १९५८ से देश के कुछ भागो मे दशमलव तोल प्रणाली लागू की गई। १ अप्रैल, १९६२ से सारे भारत मे यह प्रणाली प्रयुक्त कर दी गई है तथा राज्य स्वयं वृहत स्तर पर बाँट दिलाने की व्यवस्था कर रहा है।

तोल व माप का प्रमाणीकरण एव दशमलव प्रणाली के उपयोग से मण्डियो मे तोल व माप-सम्बन्धी अनियमितताएँ सरलता से दूर की जा सकेंगी।

(५) **बाजार सम्बन्धी सूचनाएँ**—शाही आयोग ने विभिन्न कृषि पदार्थों के मूल्यो से सम्बन्धित सूचना के प्रसारण पर भी बल दिया था। स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रारम्भ मे कलकत्ता, बम्बई व दिल्ली से जूट, कपास व महत्त्वपूर्ण अनाज के मूल्यो के विषय मे आकाशवाणी से सूचनाएँ प्रसारित की जाने लगी। कालान्तर मे विभिन्न प्रान्तो मे स्थानीय समाचारो के साथ साथ बडी-बडी (प्रान्त की) मण्डियो मे प्रचलित महत्त्वपूर्ण कृषि पदार्थों के मूल्य प्रकाशित किये जाने लगे हैं।

द्वितीय योजनाकाल मे कृषको व उपभोक्ताओ को बाजार की हलचल से अवगत कराने के लिए अखिल भारतीय बाजार समाचार-सेवा प्रारम्भ की गई। महत्वपूर्ण समाचार पत्रो मे भी कृषि-पदार्थों के मूल्य प्रकाशित किए जाते हैं। विकेन्द्रीकरण के पश्चात् ग्राम पचायतो को रेडियो प्रदान किए जाकर चौपालो पर कृषको के लिए महत्त्वपूर्ण समाचार सुनने की व्यवस्था की जा रही है, जिसमे मूल्य-सम्बन्धी समाचार भी हैं।

बहुत से नियन्त्रित बाजारो मे मूल्यो की वृहत सूची प्रकाशनार्थ तैयार की जाती है। शिक्षा व ज्ञान के प्रसार के साथ-साथ कृषक अब कृषि पदार्थों के मूल्यो के सम्बन्ध मे पहले से अधिक जानने लगे हैं।

(६) **यातायात एव परिवहन के साधनो का विकास**—गावो को मडी से मिलाने की आवश्यकता को ब्रिटिश सरकार ने भी अनुभव किया था, क्योकि सभी परिस्थितियाँ अनुकूल रहने पर भी यातायात के साधन अपर्याप्त होने पर कृषि-उपज को गाव मे बेचना अनिवार्य हो जाता है। सडको का विकास इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सडको के विकास हेतु राज्यो मे अलग से कार्यक्रम तैयार किये गए हैं, जिन सबका विवरण सडक यातायात के अध्याय मे विस्तार से दिया गया है। यहाँ इतना बता देना पर्याप्त होगा कि राज्य द्वारा सडको के विस्तार के पश्चात् कृषि उपज को सरलता से मडी तक लाया जा सकेगा तथा कृषक अत्यल्प मूल्य पर गाँव के व्यापारी या साहूकार को कृषि उपज बेचने के लिए बाध्य नही होगा।

(७) **गोदामो की व्यवस्था**—किसी भी वस्तु के न्यायपूर्ण मूल्य निर्धारण के लिए यह आवश्यक है कि माग व पूर्ति मे सामजस्य हो। कृषि उपज का हमारे देश मे उचित मूल्य इसलिए भी नही मिल पाता कि फसल कटते ही अधिकाश उपज को व्यापारियो या बनियो के हाथ बेच दिया जाता है। गोदामो का अभाव इसका प्रमुख कारण है, यह हम ऊपर बता चुके है। यहा तक कि मडियो या बाजारो मे स्थित गोदाम भी सुरक्षित नही है। ब्रिटिश सरकार को यद्यपि गोदामो की समुचित व्यवस्था के लिए शाही कृषि आयोग एव बैंकिंग जाँच समितियो ने सुझाव दिए थे पर सरकार की उदासीनता के कारण कोई प्रयास इस दिशा मे काफी समय तक नही किया गया। लेकिन द्वितीय महायुद्ध काल मे खाद्यान्नो के अभाव को दूर करने की दृष्टि से अन्न भडार स्थापित करने का निश्चय किया गया और १९४४ मे एक स्टोरेज निर्देशनालय स्थापित किया गया। इस विभाग के निम्न मुख्य कार्य थे (अ) तत्कालीन गोदाम-व्यवस्था का सर्वेक्षण करना, (आ) अनाज की सुरक्षा के लिए वैज्ञानिक ढग बताना, (इ) जिन क्षेत्रो मे गोदाम व्यवस्था अपर्याप्त थी, वहा गोदामो के निर्माण की रूपरेखा तैयार करना, (ई) गोदाम-अधिकारियो का प्रशिक्षण (उ) गोदाम व व्यापार के मध्य समन्वय स्थापित करना, एव (ऊ) अनुसधान।

उपरोक्त उद्देश्यो को दृष्टिगत रखकर सरकार ने बबई, विशाखापटनम्, कोयबटूर आदि नगरो तथा उडीसा व मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रो मे बडे-बडे गोदामो का निर्माण किया।

लेकिन राज्य द्वारा गोदामो की व्यवस्था के लिए १९५४ की ग्रामीण साख सर्वे रिपोर्ट बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। सर्वे समिति ने कृषि-उपज (विकास एव भडार) निगम बनाने तथा इसके अतर्गत बडे-बडे भडार-गृहो का निर्माण करने का सुझाव दिया। फलस्वरूप १९५६ मे राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भडार बोर्ड एव १९५७ मे केन्द्रीय भडार निगम स्थापित किये गए। १९५७ के पश्चात् अनेक राज्यो मे भी इसी प्रकार के निगम बनाए गए हैं।

संसद ने इस संदर्भ मे १९५६ मे कृषि उपज (विकास एवं वेयर हाउसिंग) अधिनियम पारित किया। इस कानून के अंतर्गत राज्यों व केन्द्रीय स्तर पर गोदाम निगम बनाए जाने की व्यवस्था रखी गई। परन्तु १९६२ मे इस अधिनियम को राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम अधिनियम द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया। पूर्व अधिनियम के अंतर्गत केन्द्रीय गोदाम निगम की स्थापना की गई थी जिसे मार्च, १९६३ में नये कानून के अंतर्गत पुनर्गठित किया गया।

भारत में कृषि पदार्थों के वैज्ञानिक ढंग से सुरक्षित रखने के अतिरिक्त उपरोक्त कानूनों द्वारा बाजार सम्बन्धी सूचनाओ के प्रसारण, मूल्यो के स्थिरीकरण तथा कृषि साख की एकीकृत योजना को सफल बनाने हेतु प्रावधान रखा गया था। यह भी स्पष्ट किया कि यथासंभव इस कानून के अंतर्गत सहकारी क्षेत्र मे कार्य किया जाएगा।

द्वितीय योजना के अंत में केन्द्रीय गोदामो की सख्या ४० थी तथा इनकी कुल संग्रह क्षमता ८० हजार टन से भी कम थी। राज्य गोदाम निगमो द्वारा निर्मित गोदामों की संग्रह क्षमता इस समय ३·२ लाख टन थी। तृतीय पचवर्षीय योजना के अंत तक दोनो प्रकार के गोदामो की क्षमता १४ लाख टन तक बढा ली गई। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि केन्द्रीय गोदाम निगम का उद्देश्य प्रमुख बदरगाहो, रेल्वे स्टेशनो या अन्य महत्वपूर्ण स्थानो पर गोदामो का निर्माण कराना है, जबकि राज्यो के निगम राज्य स्तर पर ही कार्य करते है।

मार्च १९६७ के अत मे केन्द्रीय गोदामो की संख्या १०० तथा संग्रह क्षमता १५ लाख टन थी। इस समय राज्यों के गोदामो की सख्या ५६६ तथा सग्रह-क्षमता ८ लाख टन थी।

सहकारी संस्थाओ (प्राथमिक व केन्द्रीय दोनो) द्वारा निर्मित गोदामो की संग्रह क्षमता तृतीय योजना के अत तक २० लाख टन थी। मार्च, १९६७ के अंत तक सहकारी बिक्री समितियों के गोदामो की सख्या ३२८१ तक बढ गई थी। इस समय ग्रामीण क्षेत्रों में १४,१९५ गोदाम थे। कुल मिलाकर १९६६-६७ तक ८ करोड रुपए ग्रामीण क्षेत्रों के गोदामो के लिए, तथा ५·२ करोड़ रुपए सहकारी बिक्री समितियों के गोदामो के लिए खर्च किए गए। १९६१ व १९६६ के बीच सहकारी गोदामो की सग्रह-क्षमता ७·५ लाख टन से बढाकर २५ लाख कर दी गई।

(८) **सहकारी बिक्री**—शाही कृषि आयोग के सुझावो के उपरान्त भी ब्रिटिश सरकार ने सहकारी बिक्री को प्रोत्साहन देने हेतु प्रयास नही किया। १९५४ मे ग्रामीण साख सर्वे कमेटी ने पहली बार साख व बिक्री के एकीकरण की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की। उसके बाद ही केन्द्रीय व राज्य सरकारों ने सहकारी विपणन (कृषि क्षेत्र मे) को प्रोत्साहन देना प्रारंभ किया है।

इसके पूर्व कि हम सहकारी विपणन की प्रगति की समीक्षा करें, सहकारी विपणन के लाभ तथा भारत मे इसके वर्तमान ढाँचे का वर्णन करेंगे।

सहकारी बिक्री के लाभ—(i) सहकारी बिक्री के फलस्वरूप कृषक को उपज का उपयुक्त मूल्य मिल सकता है तथा मध्यस्थो द्वारा हड़प जाने वाले अंश को टाला जाकर उपभोक्ता व कृषक दोनो को लाभ पहुँचाया जा सकता है।

(ii) संगठन के कारण उत्पादकों मे सौदा करने की शक्ति विकसित होती है तथा शोषण की सभावना कम रहती है।

(iii) मंडियो मे प्रचलित अनुचित परम्पराओ से कृषक बच जाते हैं।

(iv) जहां उपभोक्ताओ को समय पर उचित मूल्य पर आवश्यक वस्तुएं मिल जाने से उनका जीवन-स्तर बढता है, वहीं कृषको की आय में वृद्धि होने से उनका जीवन-स्तर भी ऊँचा होता है।

(v) औद्योगिक कच्चा माल उचित मूल्य पर पर्याप्त मात्रा मे मिल सकता है।

(vi) बिक्री का लाभ थोड़े-से बड़े व्यापारियों को न मिलकर कृषकों (उत्पादकों) को मिलता है फलस्वरूप कृषि-कार्यों के सुधार की सम्भावना बढ़ जाती है।

(vii) साख व बिक्री के समन्वय (एकीकरण) से कृषकों की विवशता को समाप्त करके उनकी ऋणग्रस्तता को कम किया जा सकता है।

(viii) साधन-सम्पन्न होने के कारण सहकारी समितियाँ कृषि-उपज को अधिक समय तक गोदामों में सुरक्षित रख सकती हैं।

सहकारी कृषि-विपणन व्यवस्था—भारत में इस समय पिरामिड के आकार की सहकारी विपणन व्यवस्था है। शीर्ष स्तर पर राष्ट्रीय कृषि (सहकारी विपणन) संघ है, राज्य-स्तर पर राज्य विपणन संघ, जिला स्तर पर जिला विपणन संघ तथा स्थानीय-स्तर (ग्राम) पर प्राथमिक विपणन समितियाँ हैं। परन्तु सहकारी साख की भांति ये संस्थाएं एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं है। कुछ वस्तुओं से सम्बन्धित विशिष्ट सहकारी संस्थाएं राज्य स्तर पर हैं तो कुछ संस्थाएं राष्ट्रव्यापी हैं। अन्य शब्दों में विभिन्न स्तरों पर विद्यमान सहकारी बिक्री समितियों में कोई तालमेल नहीं है।

परन्तु इन सबमें राष्ट्रीय विपणन संघ (नफेड) का अपना विशिष्ट महत्व है। इस संघ की स्थापना १९६४ में निम्न उद्देश्यों को लेकर की गई

(१) कृषि वस्तुओं के निर्यात व आयात हेतु राज्य व्यापार निगम तथा सहकारी संस्थाओं के बीच सम्बन्ध बनाए रखना,

(२) सहकारी संस्थाओं के बीच अन्तर्राज्यीय व्यापार को प्रोत्साहन देना,

(३) मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का संकलन एवं प्रसारण करना, एवं

(४) उपभोक्ता सहकारी भण्डारों व सहकारी विपणन संघों के बीच तालमेल स्थापित करना।

इस संघ ने एक विशेष मूल्य परिवर्तन जोखिम कोष का निर्माण किया है जिसके माध्यम से मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों से सहकारी संस्थाओं की हुई क्षति को पूर्ण या आंशिक रूप से पूरा किया जा सकेगा। इसी प्रकार के कोष अन्य सहकारी बिक्री संस्थाओं में भी बनाए जाने की सम्भावना है।

१९६४-६५ में नफेड ने केवल ९० लाख रुपए के मूल्य की कृषि वस्तुओं का निर्यात किया था परन्तु १९६६-६७ में यह राशि बढ़कर २ करोड़ रुपए हो गई।

सहकारी विपणन की प्रगति[1]—पिछले कुछ वर्षों में, विशेषरूप से कृषि साख व विपणन के एकीकरण के बाद से सहकारी विपणन संस्थाओं ने काफी प्रगति की है। जहाँ प्रथम योजना के अन्त तक सहकारी विपणन शैशवावस्था में था, तृतीय योजना की समाप्ति तक सहकारी विपणन काफी प्रगति कर चुका था। जून, १९६७ तक विभिन्न स्तरों पर सहकारी संस्थाओं की स्थिति इस प्रकार थी :

प्राथमिक सहकारी विपणन समितियाँ	३३००
केन्द्रीय सहकारी जिला-स्तरीय विपणन समितियाँ	१७०
शीर्ष विपणन समितियाँ	२०९
केन्द्रीय वस्तु संघ	३

प्राथमिक सहकारी समितियों की कार्यशील पूँजी इस समय १७ करोड़ रुपए के लगभग थी। जहाँ १९५५-५६ में सहकारी समितियों ने कुल मिलाकर ५३ करोड़ रुपए की कृषि उपज का विपणन किया, १९६७-६८ में इनके द्वारा ४०० करोड़ रुपए की कृषि उपज बेची गई। इनके

1 Co-operative Marketing & Processing . Retrospect & Prospect—S K S Chib article in the Indian Co-operative Review—October, 1968

अतिरिक्त १९६७-६८ में सहकारी समितियों द्वारा लगभग १५० करोड़ रुपए के खाद्यान्नों का संग्रह किया गया। १९७३-७४ तक अनुमानत. सहकारी संस्थाओं द्वारा ९०० करोड रुपए के मूल्य की कृषि उपज बेची जा सकेगी तथा ४०० करोड रुपए के मूल्य के खाद्यान्नो का संग्रह किया जा सकेगा। इनमे ८० लाख टन खाद्यान्न ३·६ करोड टन गल्ला तथा ५६ लाख टन मूंगफली होगी।

आलोचनात्मक समीक्षा :

उपरोक्त विवरण यह बताता है कि सहकारी विपणन आज किस स्थिति मे है। यह सही भी है कि आज कुल बिक्री योग्य अतिरेक का १५% सहकारी समितियो द्वारा बेचा जाता है। लेकिन इस पर भी सहकारी विपणन मे कुछ कमियाँ है जिन्हे तुरन्त दूर करना आवश्यक है। १९६३-६४ मे केन्द्रीय सहकारी विभाग की रिपोर्ट मे यह स्वीकार किया गया था कि सहकारी सस्थायें अनेको व्यापारियों के नियन्त्रण मे है। १९६५ मे मिर्धा समिति रिपोर्ट में भी इसी बात की पुष्टि की गई। १९६४ मे ही धान के सहकारी विपणन की समीक्षा हेतु नियुक्त एक समिति ने यह बताया कि सहकारी समितियां व्यापारियों से प्रतिस्पर्धा करने मे समर्थ नही हैं।[1]

श्री गंगालाल कसेवा के एक लेख मे यह स्वीकार किया गया कि सहकारी संस्थाएँ कृषको को वे सुविधाएँ देने में असमर्थ है जो व्यापारी द्वारा दी जाती हैं। उनके मत में सहकारी विपणन ने जटिल भारतीय कृषि को केवल ऊपरी सतह को ही खरोचा है।[2] श्री कसेवा का सुझाव है कि काश्तकार को बाजार मे प्रचलित अनुचित परम्पराओं से बचाना ही इन समितियों का कार्य नही होना चाहिए। इसके विपरीत इनका यह कर्तव्य है कि कृषक को अधिक अतिरेक बाजार में लाने की प्रेरणा दें। सहकारी विपणन समितियाँ केवल कमीशन एजेण्ट ही नहीं हैं, उनका कार्य व्यापार की जोखिम उठाना भी होना चाहिए।

कृषि पदार्थो के मूल्य तथा मूल्य नीति

अध्याय के इस खण्ड मे हम यह देखने का प्रयास कर रहे है कि कृषि वस्तुओ के मूल्यों के विषय में सरकार की नीति क्या होनी चाहिए तथा भारत मे यह किस प्रकार की रही है। जहाँ तक कृषि-मूल्य नीति का प्रश्न है, विभिन्न देशो मे यह भिन्न-भिन्न उद्देश्यो पर आधारित रही है। पश्चिमी देशो मे (अमरीका व कनाडा को मिलाकर) इस नीति का उद्देश्य मूल्यो में स्थिरता बनाए रखना है ताकि उपभोक्ता व उत्पादक दोनो को लाभ हो सके। दूसरी ओर समाजवादी देशो मे मूल्य नीति निम्न उद्देश्यो पर आधारित रहती है :

(अ) गैर कृषि क्षेत्रो के लिए पर्याप्त कच्चा माल व खाद्यान्न सुविधापूर्वक मिल जाएं, तथा

(आ) कृषि पदार्थों के मूल्य गैर कृषि जनता के लिए भारपूर्ण न हों।

इसी कारण इन देशों मे कृषि वस्तुओ के मूल्य जानबूझ कर काफी कम रखे जाते है। कृषि व उद्योग के बीच व्यापार की शर्तें कृषि के लिए प्रतिकूल होना ही समाजवादी देशो की कृषि मूल्य नीति की मुख्य विशेषता है। परन्तु भारत मे हम मूल्य नीति को समाजवादी समाज के अनुरूप निर्धारित नही कर सकते। हमे कृषको तथा उपभोक्ताओ दोनो के हितो की रक्षा करनी है।

भारत मे इसी कारण कृषि-मूल्य नीति का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य मूल्यो मे निश्चितता बनाए रखना है। खाद्यान्नो की माँग भारत जैसे देशो मे लगभग ४% प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है जबकि पूर्ति की वृद्धि आयात को मिलाकर भी अपर्याप्त है। यही नही, हमारे देश मे अधिकाश मतदाता कृषक है और इसलिए फसल बहुत अच्छी होने पर भी हमे उनके हितो की रक्षार्थ धनात्मक (Positive) मूल्य नीति बनानी पडती है।[3]

---

1. Co-op. Marketing : Problems & Prospects—G. S. Joshi (Indian Co-operative Review October, 1964)
2. Gangalal Casewa : Obstacles to Development of Co-operative Marketing (Above Journal)
3. Agricultural Price Policy : Rajkrishna (See Readings in Agricultural Development ed by A. M. Khusro)

कृषि मूल्यों की निश्चितता से लाभ :

कृषि मूल्यों की निश्चितता से निम्न लाभ होते हैं

(१) काश्तकार को न्यूनतम मूल्य का आश्वासन प्राप्त होने पर वह उत्पादन वृद्धि के कार्यक्रम सफलतापूर्वक चलाता है क्योंकि उसे अधिक उत्पादन होने पर कम मूल्य प्राप्त होने का भय नही रहता।

(२) उपभोक्ता को अधिकतम मूल्य निश्चित हो जाने के कारण अभाव के समय भी हानि नही होती।

(३) मूल्य की निश्चितता के कारण बाजार मे बिक्री योग्य अतिरेक नियमित रूप से आता है।

(४) देश के विभिन्न भागो मे मूल्यो की विषमता अधिक नही होगी। प्रो० गाडगिल के कथनानुसार मूल्य-नीति का औचित्य इसी मे निहित है कि परिवहन व अन्य व्यय के सिवाय सारे देश में कृषि वस्तुओ के मूल्य समान हो। वे यह मानते हैं कि इसी नीति के आधार पर हम उत्पादन के लक्ष्यो को प्राप्त कर सकते है।[1]

(५) देश मे मूल्य स्तर की स्थिरता के लिए कृषि पदार्थों के मूल्यो मे स्थिरता आवश्यक है। कृषि पदार्थों के मूल्य निश्चित रहने पर अन्य क्षेत्रों मे भी मूल्यो के उतार-चढाव अधिक नही होते।

प्रो० दातेवाला ने अपने एक लेख मे बताया है कि भारत मे काश्तकार की अतिरिक्त उपज को रखने की क्षमता कम है, अतएव यहां जो भी न्यूनतम मूल्य निश्चित किए जायें वे उत्पादन वृद्धि मे सहायक हो, यह आवश्यक है। प्रो० दातवाला ने बताया है कि विकसित देशो मे न्यूनतम मूल्य बाजार मूल्य के समान होता है और इसलिए वहां पर्याप्त मात्रा मे उपज बाजार मे विपणन हेतु आती है परन्तु भारत मे न्यूनतम मूल्य वास्तविक (बाजार) मूल्य से काफी कम होता है। फिर भी काश्तकार को नई प्रविधि का उपयोग करने की प्रेरणा देने के लिए न्यूनतम मूल्य होना ही चाहिए।[2]

परन्तु प्रो० दातेवाला ने इस तथ्य की उपेक्षा कर दी है कि भारत मे लगभग १५ वर्षों से खाद्यान्न व कच्चे माल का निरन्तर अभाव चल रहा है और इसलिए न्यूनतम मूल्य का वर्तमान स्थिति मे कोई महत्व नही है। फिर, जैसा कि वे भी स्वीकार करते हैं, बाजार मूल्य व न्यूनतम मूल्य मे बहुत अन्तर है और इस दृष्टि से भी इनका अधिक बिक्री योग्य अतिरेक प्राप्त करने मे कोई महत्व नही है।

खाद्यान्न व अन्य कृषि पदार्थो के न्यूनतम मूल्यो के निर्धारण के लिए सरकार ने १९६५ के प्रारम्भ मे कृषि-मूल्य आयोग की नियुक्ति की थी। आयोग समय-समय पर कृषि पदार्थों के मूल्यो से सम्बन्धित नीति मे संशोधन हेतु सरकार को सुझाव देता है।

समय-समय पर कृषि-मूल्य आयोग जो मूल्य निर्धारित करता है। उन पर राज्य सरकारें तथा केन्द्रीय खाद्य निगम खाद्यान्नों की खरीद करने को स्वतन्त्र है।

लेकिन न तो केन्द्रीय खाद्य निगम और न ही सरकार कृषि पदार्थों के मूल्यो मे होने वाले उतार-चढाव को रोकने मे सफल हो सकी है। पिछले बीस वर्षों मे खाद्यान्नो के मूल्य लगभग तीन गुने हो गए है। यदि मूल्यों की इस वृद्धि से कृषक को लाभ होता तो कृषि मे पूंजी का निर्माण

---

1 D R Gadgil · Agricultural Price Policy—A stable basis for achieving Targets Yojua, Republic Day Number, 1961 and his article in Political & Economic Weekly Annual Number 1967 (Planning without Policy from weekly)

2. M L. Dantwala Minimum Price for Farm Produce (Agricultural Situation in India, August, 1925)

बढ सकता था। परन्तु शायद ऐसा नहीं हो सका और फलस्वरूप मूल्यो की आशातीत वृद्धि के बावजूद कृषकों की स्थिति में बहुत सुधार नहीं हुआ है।

हमे हमारी विपणन व्यवस्था को इस रूप मे डालना चाहिए कि कृषक को अधिकाधिक प्रतिफल मिल सके और साथ ही उपभोक्ताओ को भी मूल्य वृद्धि का अनावश्यक भार नही ढोना पडे।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विपणन व्यवस्था

प्राथमिक उत्पादक को आवश्यक प्रोत्साहन देने के लिए चतुर्थ योजनाकाल में कृषि पदार्थों के विक्रय की व्यवस्था मे आवश्यक सुधार करने के लिए विभिन्न कार्यक्रमो को लागू किया जायगा। इन कार्यक्रमो मे नियन्त्रित बाजारो का विस्तार, कृषि उत्पत्ति का श्रेणीयन, सहकारी विपणन, संगठन का विकास, कृषि के बाद की तान्त्रिक विधियो में सुधार आदि सम्मिलित हैं। चतुर्थ योजना काल में शेष तीन राज्यो—अर्थात् आसाम, केरल तथा नागालैण्ड मे भी नियन्त्रित बाजारो से सम्बन्धित कानून लागू किये जाने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त ६०० श्रेणीयन की इकाइयाँ भी स्थापित की जायेंगी। मार्च, १९६८ मे नियन्त्रित बाजारो की संख्या १८५५ थी। चतुर्थ योजना मे १५०० बाजार और नियन्त्रित बाजार अधिनियम के अन्तर्गत आ जायेंगे।

१५

भारत में सिचाई के साधन
(Sources of Irrigation in India)

प्रारम्भिक —सिचाई का महत्त्व

एक कृषि प्रधान देश म सिचाई के साधनो का उतना ही महत्त्व है जितना कि स्वस्थ शरीर के लिए रक्त सचालन का। कृषि का एक लाभप्रद व्यवसाय बनाने के लिए यह आवश्यक होगा कि प्रकृति पर कम निभर रहा जाए तथा कृत्रिम उपायो द्वारा खेतो को जल की सामयिक पूर्ति दी जाए। भारत मे कृषि के पिछडे रहने एव कृपको के निधन बने रहने का सबसे बडा कारण है भारतीय कृपको की प्रकृति पर निभरता। अनावृष्टि या सूखे के समय उनके पास बरबादी को रोकने का कोई उपाय नही है। सच ही कहा है कि यदि कृपक को पानी तथा खाद दे दिया जाए तो वह पत्थर पर भी फसल उगा लेगा।

सर चाल्स ट्रेवल्यान के मत म भारत म सिचाई ही सवस्व है। जल का महत्व यहा भूमि से भी अधिक है क्योकि इससे भूमि की उत्पादकता मे ६ गुनी वृद्धि हो जाती है जबकि इसके अभाव मे भूमि कुछ भी उत्पन्न नही कर सकती।[1]

भारत की वर्षा का मानचित्र देखने पर सरलता से ज्ञात हो जाता है कि वर्षा का वितरण भारत मे अत्यन्त विषम है। आसाम की पहाडियो तथा पश्चिमी घाट के इलाको मे जहा एक ओर ३००" के लगभग वर्षा होती है राजस्थान के कुछ इलाको मे यह औसत १०" से भी कम है। विशेषज्ञो का यह अनुमान है कि सिचाई के साधनो के न होने पर साधारण मिट्टी पर पर्याप्त फसल उगाने के लिए कम से कम ४०" वर्षा होनी चाहिए। वस्तुत २५% वर्षा कम होने पर फसल पर बुरा प्रभाव होता है और ४०% कमी होने पर तो अकाल की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। यह एक आश्चर्य की बात है कि आज भी भारत की लगभग ८०% कृषि भूमि जल की पूर्ति के लिए प्रकृति पर छोड दी जाती है। प्रस्तुत अध्याय मे यही बताने का प्रयास किया जाएगा कि भारत म सिचाई की व्यवस्था किस प्रकार की जाती रही है।

भारत मे सिचाई की आवश्यकता क्यो और कैसे ?

भारत मे सिचाई के साधनो के विकास की नितान्त आवश्यकता है। इसके निम्न प्रमुख कारण है —(१) वर्षा का अभाव—भारतीय कृषि वर्षा का जुआ है। भारत मे अधिकाश वर्षा मानसून से होती है जो न केवल अनिश्चित है अपितु अपर्याप्त भी है। इसी कारण देश के विभिन्न भागो म अनावृष्टि अतिवृष्टि अथवा असामयिक वृष्टि के कारण अनेक फसलें नष्ट हो

1 See V B Singh Economic History of India (edited) p 164

जाती है। इनमें से अधिकांश फसलें वर्षा के अभाव के कारण सूख जाती है। अतएव विशेषत: कम वर्षा वाले क्षेत्रो मे सिंचाई के साधनो की विशेष आवश्यकता है। (२) **वर्षा का असमान वितरण**—भारत के विभिन्न भागो मे वर्षा का वितरण समान नही है। उदाहरण के लिए, यदि एक ओर चेरापूंजी जैसे क्षेत्र है। जहाँ सबसे अधिक वर्षा (४००" तक) होती है। वहाँ दूसरी ओर राजस्थान व दक्षिण के पठार जैसे क्षेत्र हैं जहाँ १०" से भी कम वर्षा होती है। इस प्रकार जहाँ एक ओर वर्षा की बहुतायत है वहाँ दूसरी ओर वर्षा की भारी कमी है। अतएव अपर्याप्त वर्षा एवं सूखा वाले क्षेत्रो मे सिंचाई के साधनो के विकास की नितान्त आवश्यकता है। (३) **अधिक पानी चाहने वाली फसलें**—भारत मे कुछ ऐसी फसलें है, जैसे—गन्ना, चावल व कपास, जिनके लिए अधिक पानी की आवश्यकता होती है। अतएव इनकी उपज के लिए सिंचाई के साधनो की आवश्यकता है। (४) **समय की दृष्टि से भी असमान वितरण**—हमारे देश मे केवल स्थान की दृष्टि से ही नही अपितु ऋतु की दृष्टि से भी वर्षा का असमान वितरण है। अधिकांश वर्षा जुलाई से सितम्बर तक के इन तीन महीनो में होती है। जाडो मे वर्षा बहुत कम होती है। अतएव जाडो की फसलो के लिए कृत्रिम सिंचाई के साधनो की व्यवस्था होना आवश्यक है। (५) **चरागाहों के लिए**—भारत में जहाँ एक ओर पशुओं की भारी संख्या है वहाँ दूसरी ओर चरागाहो के अभाव के कारण चारे का अभाव है। इसका प्रमुख कारण वर्षा का अभाव है। अतएव चरागाहों के विकास के लिए सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था होना परम आवश्यक है। (६) **कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए**—अन्य प्रगतिशील देशो की तुलना मे भारत मे भूमि की प्रति एकड उपज बहुत कम है। इसका मुख्य कारण सिंचाई के साधनो का अभाव है। विद्वानो के मतानुसार सिंचाई के साधनो के विकास से विभिन्न क्षेत्रों मे कृषि उपज मे ५०% से १००% तक की वृद्धि की जा सकती है। (७) **वर्ष में एक से अधिक फसलें उपजाने के लिए**—देश मे तेजी से जनसंख्या मे वृद्धि हो रही है। इस बढती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए एक ही वर्ष मे दो या तीन फसलें उपजाना परम आवश्यक है। इसके लिए सिंचाई के कृत्रिम साधनो का विकास होना आवश्यक है। (८) **अकालों का निवारण**—खाद्यान्न की कमी के कारण प्रति वर्ष भारत के किसी न किसी क्षेत्र मे अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाया करती है। सिंचाई के कृत्रिम साधनों के विकास से भारतीय कृषि की मानसूनी निर्भरता को समाप्त करके अकाल की आशंका को सदैव के लिए मिटाया जा सकता है। (९) **परिवहन की सुविधाओं का विकास**—भारत मे परिवहन सम्बन्धी सुविधाओ का अभाव है। कृत्रिम सिंचाई योजना के अन्तर्गत बनाई गयी बडी-बडी नहरों मे नाव व स्टीमर्स चलाये जा सकते है जिसमे यातायात की सुविधाओ का विकास हो सकता है। (१०) **अन्य कारण**—उपरोक्त के अतिरिक्त सिंचाई की सुविधाओं के विकास मे सरकार की आय मे वृद्धि हो सकती है, कृषको एवं अन्य वर्गों के जीवन-स्तर मे सुधार हो सकता है तथा कृषि उपज मे वृद्धि होने से विदेशी विनिमय के संकट को दूर किया जा सकता है।

सिंचाई के प्रभाव

अनुकूल प्रभाव—डा० विलियम कैप[1] ने सिंचाई के निम्नलिखित अनुकूल प्रभाव बताये है :

(i) **कृषि-उत्पादन की व्यवस्था में परिवर्तन**—डा० कैप के कथानुसार सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था होने पर खाद्य फसलो की अपेक्षा व्यापारिक फसलों की लोकप्रियता बढने लगती है। पंजाब के एक सर्वेक्षण का उद्धरण देते हुए उन्होंने बताया है कि सिंचित क्षेत्रो मे ५५ प्रतिशत पर ही खाद्य फसले उगाई जाती है जबकि प्रकृति की दया पर निर्भर क्षेत्रो मे ९४ प्रतिशत क्षेत्र इनके लिए प्रयुक्त होता है। उनका दृढ विश्वास है कि कृषको की आय मे वृद्धि करने के लिए अखाद्य या व्यापारिक फसलो के लिए अधिक क्षेत्र प्रयुक्त करना जरुरी है।

(ii) **अधिक सुव्यवस्थित विनिमय हेतु**—डा० कैप ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सिंचित क्षेत्र मे अधिक उत्पादन होने के कारण अथवा व्यापारिक फसलो की उत्पत्ति

---

1. Dr William Kapp Hindu Culture, Economic Development & Planning, Chapters V & VI

के कारण उपज का अधिक अनुपात विनिमय हेतु प्रस्तुत किया जाता है। डा० गाडगिल ने बताया कि १९३८-३९ के एक सर्वेक्षण के अनुसार पूना जिले मे सिंचित क्षेत्र की ७० प्रतिशत तथा असिंचित क्षेत्र की ४३ ५ प्रतिशत विनिमय हेतु प्रस्तुत की गई[1]। उन्होंने यह भी बताया कि औसतन सिंचित क्षेत्र मे कृषक को उपज के बदले १५०० रुपये वर्ष भर मे मिलते थे जबकि असिंचित क्षेत्र मे यह राशि केवल २०० रु० थी।

(iii) कृषि-उपज में स्थिरता लाना—भारत की सबसे बडी आज की आवश्यकता है कृषि उपज मे वृद्धि करने की। लेकिन वर्षा की अनिश्चितता या मानसून की कोप दृष्टि से वृद्धि होने की अपेक्षा कृषि उपज के अत्यन्त कम रह जाने की आशका निरन्तर बनी रहती है। डा० कैप ने बताया है कि १९३९-५४ के बीच के एक सर्वेक्षण के अनुसार पजाब के एक जिले मे तीन वर्षों मे ही उपज प्राप्त हुई, ७ वर्षों में लगभग ३० ५८ प्रतिशत उपज हुई जबकि केवल एक वर्ष मे ही ८८ २ प्रतिशत उपज अपेक्षा के अनुसार प्राप्त हो सकी। इसके विपरीत एक अन्य जिले में जहाँ (अमृतसर) ९० प्रतिशत फसलो मे सिंचाई होती है इसी अवधि के मध्य फसलो की कमी केवल ७ ३ प्रतिशत हुई। इस प्रकार सिंचाई व्यवस्था द्वारा कृषकों को तबाही से बचाया जा सकता है।[2]

(iv) अधिक कार्य एव अधिक आय—प्रकृति पर निर्भर रहने की स्थिति मे कृषक, मजदूर, बैल तथा उपकरणो का उपयुक्त उपयोग नही हो पाता। विशेष रूप से दिसम्बर से जनवरी तक असिंचित क्षेत्रो में कोई काम नही होता। इन क्षेत्रो मे वर्ष मे औसत १५४ दिन का काम होता है अथवा प्रतिदिन ३ ३७ घण्टे ही काम होता है। सिंचाई के साधनो का विकास और इस अकमण्यता को दूर करके अधिक उत्पादन किया जा सकता है, जिससे कृषको की आय मे वृद्धि हो सकती है।

डा० कैप का विश्वास है कि मानवीय तथा पशु-शक्ति का सिंचित क्षेत्रो मे गहरा उपयोग किया जा सकता है। १९५४-५५ के एक सर्वेक्षण के अनुसार निम्न तथ्य स्पष्ट हुए

	पशु व मानवीय श्रम	(८ घटे प्रतिदिन)
	सिंचित क्षेत्र	असिंचित क्षेत्र
बैल	१८७ दिन	११ ६ दिन
मनुष्य	१२० दिन	२४ दिन

वे यह भी बताते है कि सिंचित क्षेत्रो मे असिंचित क्षेत्रो की अपेक्षा तीन गुने श्रमिको को काम दिया जा सकता है।[3]

(v) अधिक उत्पादकता—पजाब का एक उदाहरण देते हुए खाद्य एव कृषि मन्त्रालय की एक रिपोर्ट में बताया गया कि असिंचित क्षेत्र मे औसतन गेहूँ की उपज ४ ३ मन से लेकर ७ ७ मन प्रति एकड उपज होती है, लेकिन इसके विपरीत सिंचित क्षेत्र मे प्रति एकड १३-१३ ५ मन प्रति एकड उपज होती है।[4] इसी प्रकार मद्रास मे सिंचित क्षेत्र व असिंचित क्षेत्रो के धान की उपज (प्रति एकड) का अतर ११६८ पौंड से १६९४ पौंड तक है।

(vi) जोत के आकार में वृद्धि—सिंचाई की व्यवस्था होने पर कृषको के लिए यह उचित होगा कि वे सामान्य आकार की जोत बनाएँ। उपरोक्त रिपोर्ट के अनुसार सिंचित क्षेत्र मे ५ एकड से छोटी जोत होने पर ५५ रु० प्रति एकड की हानि कृषक को भुगतनी होती है। इसीलिए खेत का आकार बडा करना जरूरी हो जाता है। अन्य शब्दो मे सिंचित क्षेत्रों मे अनार्थिक जोतो के तत्त्व नही रह पाते।

(vii) एक प्रत्यक्ष प्रभाव यह भी होता है कि सिंचाई-व्यवस्था होने से मनुष्यो व पशुओं के लिए पीने का पानी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो जाता है।

---

1 D R Gadgil Economic Effects of Irrigation (Poona) 1948 p 74
2 Dr Kapp ibid pp 107 8
3 Idid, p 110
4 Studies in Economics of Farm Management in Punjab (1957), pp 85 & 95

प्रतिकूल प्रभाव—अशिक्षा के कारण यह अनेक स्थानो पर देखा गया है कि कृषक नहरो के पानी का अनुचित उपयोग करना प्रारम्भ कर देते है। इससे फसल को क्षति होती है। ये अनुभव पिछले १० वर्षों में अनेक स्थानो पर किए गए। डा० कैंप ने सुझाव दिया है कि नहरो के जल के उपयोग पर सम्बन्धित अधिकारियो को कड़ी निगरानी रखनी होगी।

बाँधो के निर्माण से पानी के इकट्ठा हो जाने पर मलेरिया का प्रकोप होने की अशंका बढ़ जाती है।

इस सम्बन्ध मे भी मलेरिया उन्मूलन के कार्यक्रम को व्यापक बनाना अधिक आवश्यक होगा।

भारत में सिंचाई व्यवस्था :

भारत में सदियो से नहरो, कुओं तथा तालाबो का उपयोग सिंचाई हेतु किया जाता रहा है। गुप्त, मौर्य तथा अन्य सम्राटो ने नहरों, तालाबो व कुओं के निर्माण हेतु पर्याप्त सहायता दी थी। यह प्रवृत्ति मुगल सम्राटो के शासनकाल मे भी चलती रही। हुमायूँ, शेरशाह सूरी, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और यहाँ तक कि औरंगजेब के शासनकाल मे भी अनेक नहरो, तालाबो व कुओं का निर्माण हुआ और उनमें बहुत से आज भी प्राचीन भारतीय सिंचाई-व्यवस्था के स्मारको के रूप में विद्यमान हैं।

उत्तर भारत मे नहरो व कुओ का आधिक्य था। जिन क्षेत्रों मे चावल की खेती होती थी, वहाँ सिंचाई अनिवार्य समझी जाती थी। बंगाल प्रांत तथा शाहबाद, पटना, भागलपुर, दिनाजपुर, पूर्निया और आगरा तथा प्रयाग जिलो में नदियो का आधिक्य होने से बहुत सी नहरें बनाई गई थी और १९वी शताब्दी के प्रारम्भ तक इनका व्यापक रूप से उपयोग किया जा रहा था।[1]

सिंचाई का देश की अर्थव्यवस्था मे सर्वाधिक महत्त्व होने पर भी ब्रिटिश सरकार ने नहरो, कुओ या तालाबो के विकास हेतु कोई रुचि नही ली। इसके विपरीत रेलो के निर्माण में सरकार की विशेष रुचि थी, क्योंकि रेलें तो आंग्ल व्यापारियों के भारत के साथ व्यापार में योग देती थी जबकि नहरो से राज्य को कोई प्रत्यक्ष लाभ नही था। सम्पूर्ण १९वी शताब्दी मे सिंचाई के विकास पर ४ ५ करोड स्टर्लिंग पौड (४५ करोड रुपये) खर्च किये।[2] १९ वी शताब्दी के अन्त में कुल कृषि क्षेत्र १९·७ करोड एकड था जिसमें से ३ करोड एकड (१५%) सिंचित क्षेत्र था।

परन्तु २०वी शताब्दी के प्रारभ से ही ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण मे परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। वस्तुतः विभिन्न अकाल आयोगो तथा कृषि विशेषज्ञो ने सरकार से इस दिशा में सक्रिय नीति बनाने का आग्रह किया था। १९०१ मे एक सिंचाई आयोग की स्थापना की गई जिसने सिंचाई के साधनो का विकास करने के लिए दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाए। नहरों, कुओ व नलकूपो का विकास किया गया। लेकिन कुल मिलाकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक पजाब, उत्तर प्रदेश व बंगाल मे ही सिंचाई व्यवस्था संतोषजनक रूप मे थी और अन्य प्रदेश इस दृष्टि से काफी पिछड़े हुए थे।

१९०१ एव १९५०-५१ के बीच सिंचित क्षेत्र ३ करोड एकड (१·२ करोड हैक्टर) से बढ़कर ५·४ करोड एकड (२ २ करोड हैक्टर) हो गया था पर १९५१ के बाद से हुई प्रगति इसकी अपेक्षा बहुत तीव्र रही है। इसका कारण यही है कि १९५१ से राष्ट्रीय सरकार ने सिंचाई के साधनो का विस्तार करने हेतु काफी धन व्यय किया है।

इसके पूर्व कि हम १९५१ के बाद सिंचाई व्यवस्था मे हुई प्रगति की समीक्षा करें, विभिन्न सिंचाई के साधनों का उल्लेख कर देना अधिक उचित होगा।

---

1. R. C. Dutt : Economic History of India—Vol I pp. 152-78
2. Ramesh Dutt : Eco History of India Vol. II pp 223

भारत मे सिचाई के साधन

परपरागत रूप मे सिंचाई के साधनो को उनके द्वारा सभाव्य सिंचित क्षेत्र के आधार पर पहचाना जाता था। आर्थिक नियोजन की अवधि मे विनियोग के आधार पर सिचाई के साधनो का वर्गीकरण किया जाने लगा है। इस दृष्टि मे तीन प्रकार के सिचाई के साधन होते है

(१) **लघु सिचाई कार्यक्रम**—जिस साधन पर कुल विनियोग की राशि १० लाख रुपए या इससे कम हो उसे छोटी या लघु सिंचाई परियोजना कहते है। पक्के कुए, नलकूप आदि इसके अतगत आते है।

(२) **मध्यम सिचाई परियोजनाएँ**—यदि किसी परियोजना पर १० लाख रुपए से अधिक परन्तु ५ करोड रुपए से कम व्यय हो उसे मध्यम परियाजना कहते है। छोटे सिचाई बाँध आदि इस श्रेणी मे सम्मिलित किए जा सकते है।

(३) **बडी सिचाई परियोजनाएँ**—इन पर ५ करोड रुपए से अधिक व्यय होता है। परन्तु २० करोड रुपए से अधिक विनियोग वाली परियोजना साधारणतया बहुमुखी परियोजना होती है। ऐसी परियोजनाएँ सिचाई, बिजली उत्पादन, बाढ नियत्रण मत्स्यपालन आदि अनेक उद्देश्यो को लेकर बनाई जाती हैं। इनका अगले अध्याय मे वर्णन किया गया है।

सुविधा के लिए हम परपरागत रूप मे ही सिचाई के साधनो का वर्णन करेंगे। ये साधन तीन है नहरें, कुए व नलकूप तथा तालाब।

(१) **नहरें**—जैसा कि अध्याय के प्रारम्भ मे बताया गया है, नहरो का निर्माण १९वी शताब्दी के प्रारम्भ मे हो गया था। परन्तु २० वी शताब्दी मे इनके निर्माण मे अपेक्षाकृत अधिक प्रगति हुई। १९२१ से नहरो का निर्माण राज्य सरकारो द्वारा किया जाने लगा। स्वतत्रता के बाद बडी तथा बहुमुखी परियोजनाओ के अतगत नहरो का बहुत अधिक विकास किया गया है। १९५०-५१ मे नहरो के अन्तर्गत कुल सिंचित क्षेत्र ८३ लाख हैक्टर था जो कुल सिंचित क्षेत्र का ३८% था। १९६५ ६६ मे यह क्षेत्र बढकर १ १ करोड हैक्टर हो गया। स्वतन्त्रता से पूर्व बाढ नियत्रण हेतु नहरो का निर्माण अधिक प्रचलित था परन्तु आर्थिक नियोजन की अवधि मे सिचाई तथा बाढ नियत्रण दोनो उद्देश्यो मे इनका निर्माण हुआ है। साधारणतया नहरो का निर्माण नदियों पर बाँध बनाकर किया जाता है, परन्तु दक्षिण (तमिलनाडु आदि) मे बरसाती पानी को रोक कर भी नहरो के माध्यम से सिचाई हेतु इसका उपयोग किया जाता है।

(२) **कुए व नलकूप**—कुओ का उपयोग भारत मे अत्यत प्राचीन काल से किया जाता रहा है। कुए पक्के तथा कच्चे दोनो प्रकार के ही हो सकते हैं। परन्तु भारत मे अधिकाश कुए कच्चे हैं क्योकि इनका निर्माण ८०० से १५०० रुपए की राशि मे हो जाता है। पक्के कुओ के लिए ३५०० स ६००० रुपए तक की आवश्यकता होती है। वस्तुत किसान का सच्चा मित्र कुआ ही है क्योकि खेत छोटे होने के कारण बडे साधन का निर्माण करना पूँजी का अपव्यय ही है। दूसरी ओर, कुआ होने पर कृषक स्वावलम्बी रहता है जबकि नहर या नलकूप होने पर उसे जल-दाय अधिकारियों पर आश्रित रहना पडता है।

नलकूपो का प्रारभ १९४४ के अकाल आयोग के सुझावो के आधार पर बढाया गया। इसमे पूर्व उत्तर प्रदेश व बिहार मे नलकूप बनाए गए थे। एक नलकूप पर ५० हजार से ८० हजार रुपए खर्च होते है तथा इसके द्वारा ३०० एकड क्षेत्र म सिचाई की जा सकती है। १ पिछले ३ ४ वर्षो मे नलकूपो के लिए अधिक तजी से काय किया जाने लगा है तथा केन्द्रीय नलकूप सग-ठन (E T O) इस दिशा म विशेष रूप से प्रयत्नशील है।

कुल मिलाकर कुओ व नलकूपो से १९५० ५१ मे ६० लाख हैक्टर क्षेत्र मे सिचाई की जाती थी। १९६५-६६ तक यह क्षेत्र बढकर ८५ लाख हैक्टर हो गया। इस अवधि मे नलकूपो की सख्या ३,५०० से बढकर ३२,४०० होगई। आर्थिक सर्वेक्षण १९६८-६९ के अनुसार १९६०-६१ व १९६७-६८ के बीच १ ४६ लाख प्राइवेट नलकूपो व फिल्टर प्वाइन्ट्स तथा ४,०००

सरकारी नलकूपों का निर्माण किया गया तथा १ ९७ लाख कुओ का निर्माण या सुधार किया गया । कुल मिलाकर १९६१-६८ की अवधि मे १० लाख से अधिक पंपसेटो की संस्थापना हुई ।

इस प्रकार कुओ व नलकूपो की उपादेयता पिछले कुछ वर्षो मे काफी बढी है । अप्रेल १९६८ मे इनके द्वारा सिंचित क्षेत्र लगभग १ २५ करोड हैक्टर था ।

(३) तालाब—तालाबो का उपयोग रजवाडो मे अधिक किया जाता था । दक्षिण भारत मे पथरीली भूमि होने के कारण कुओ का निर्माण दुष्कर था । ढलान अधिक होने के कारण वहाँ वर्षा के पानी को रोक कर अनेक तालाबो का निर्माण किया गया । स्वतन्त्रता से पूर्व विशेष रूप से हैदराबाद व मैसूर के शासको ने इसमे अधिक रुचि ली । राजस्थान के उदयपुर व मध्यप्रदेश के भोपाल क्षेत्रो मे भी अनेक तालाबो का निर्माण किया गया ।

परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् आर्थिक नियोजन की अवधि मे तालाबो का महत्व घट गया है । बहुमुखी व बडी परियोजनाओ एवं नलकूपो का आज अधिक महत्व माना जाता है । १९५०-५१ तथा १९६५-६६ के बीच तालाबो द्वारा सिंचित क्षेत्र ३७ लाख हैक्टर से बढकर ४४ लाख हैक्टर तक ही पहुँच सका ।[1]

इनके अतिरिक्त सिंचाई के अन्य साधनो से १९५०-५१ मे ३० लाख हैक्टर कृषि क्षेत्र मे सिंचाई होती थी । यह क्षेत्र तृतीय योजना के अंत तक घट कर २७ लाख हैक्टर रह गया ।

आर्थिक नियोजन एव सिंचाई व्यवस्था

आर्थिक नियोजन से पूर्व देश का कुल सिंचित क्षेत्र २ २ करोड हैक्टर था जो कृषि क्षेत्र के पाँचवें भाग से भी काफी कम था । तीन पंचवर्षीय योजनाओ में बडी, मध्यम, तथा छोटी सिंचाई परियोजनाओ पर कुल मिलाकर १८३० करोड रुपए व्यय किए गए । विभिन्न प्रकार की सिंचाई परियोजनाओ का व्यय इस प्रकार रहा था :[2]

सिंचाई पर व्यय (करोड रुपयों में)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
लघु सिंचाई कार्यक्रम	७०	२५०	२६०
मध्यम व बडी परियोजनाएँ	३००	३८०	५७२

१९६६-६८ के दो वर्षों की अवधि मे २६७ करोड रुपए सिंचाई व्यवस्था पर खर्च किए गए ।[3] इस प्रकार १७ वर्ष की अवधि में २,१०० करोड रुपए सिंचाई के विकास पर व्यय किए गए । यह राशि योजनाओ मे किए गए कुल व्यय की ९% थी ।

उक्त अवधि मे कुल सिंचित क्षेत्र २·२ करोड हैक्टर, से बढकर ३ ५ करोड हैक्टर हो गया । तीन योजनाओ मे १ ४५ करोड हैक्टर तथा बाद के वर्षो मे ३६ लाख हैक्टर भूमि की सिंचाई हेतु अतिरिक्त क्षमता का निर्माण किया गया था, लेकिन जैसा कि स्पष्ट है १·८० करोड हैक्टर की अतिरिक्त क्षमता मे से केवल तीन चौथाई क्षमता का ही उपयोग किया गया ।

१९६८-६९ मे सार्वजनिक क्षेत्र मे कुल मिला कर १४२ करोड रुपए व्यय करने का प्रावधान था और इसके द्वारा २३ ७ लाख हैक्टर अतिरिक्त क्षेत्र मे सिंचाई क्षमता का सृजन करने का लक्ष्य था ।[4] परन्तु ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि अतिरिक्त सिंचाई क्षमता सम्बन्धी

---

1. For details See The Eastern Economist, Annual Number, 1969 (pp 1201-3)
2. Draft Fourth Five Year plan (Original 1966) p. 214
3 Yojna, July 7, 1968
4. Economic Survey 1968-69—१९६७-६८ व १९६८-६९ मे क्रमशः १३·८ लाख हैक्टर तथा १५ लाख हैक्टर क्षेत्र मे केवल लघु परियोजनाओ द्वारा अतिरिक्त सिंचाई क्षमता का सृजन किया गया ।

आंकडे न्यूनानुमान (underestimates) है। मार्च, १९६६ तक देश मे कुल सिंचाई-क्षमता ६ करोड हैक्टर (४५ करोड हैक्टर बडी व मध्यम परियोजनाओ तथा शेष लघु सिंचाई कार्यक्रमो द्वारा) तक पहुँच गई थी। अनुमानत १९५१-६६ के बीच १ ८६ करोड हैक्टर मे अतिरिक्त सिंचाई क्षमता का बडी व मध्यम परियोजनाओ द्वारा एव ८१ लाख हैक्टर मे लघु सिंचाई कार्यक्रमो द्वारा सृजन किया गया।[1] इस अवधि मे सतह पर उपलब्ध जल स्रोतो (surface water) का उपयोग १७% से बढाकर ३७% तक कर दिया गया। १९६८-६९ मे वास्तविक सिंचित क्षेत्र ४ २ करोड हैक्टर था।

यहाँ यह बता देना महत्त्वपूर्ण होगा कि भारत मे उपलब्ध जल स्रोतो मे सतह-स्रोतो की अधिकतम सिचाई क्षमता ६ करोड हैक्टर तथा भूगर्भ जल-स्रोतो की सिचाई क्षमता २ २ करोड हैक्टर है। कुल मिलाकर इस प्रकार भारत में उपलब्ध जल-स्रोतो से ८ २ करोड हैक्टर क्षेत्र (कुल कृषि योग्य क्षेत्र का ५०%) ही सींचा जा सकता है और इससे अधिक सिचाई व्यवस्था के लिए हमें वैकल्पिक उपायों का आश्रय लेना ही होगा। सम्भव है वर्षा के पानी को सुरक्षित रखकर नए जल स्रोतो की खोज द्वारा या पानी के मितव्ययतापूर्ण उपयोग द्वारा किसी सीमा तक हम दीर्घकाल मे ८ २ करोड हैक्टर भूमि से अधिक पर सिचाई कर लें फिर भी देश की कृषि भूमि का ३५ से ४०% तक वर्षा पर भी निर्भर रहेगा, इसमें कोई सदेह नही है।

चतुर्थ योजना एवं सिचाई कार्यक्रम[2]

तृतीय योजना के बाद दो वर्ष तक देश के अनेक राज्यो मे सूखे की भयकर स्थिति हो गई थी उसने केन्द्रीय सरकार को अपनी सिचाई नीति मे सशोधन करने को विवश कर दिया। इसके पूर्व, जैसा कि पिछले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है, बडी तथा मध्यम सिंचाई परियोजनाओ को अधिक महत्व दिया गया था। यह अनुभव किया जाने लगा कि वर्षा की अनिश्चितता को बडी नही अपितु लघु सिंचाई परियोजनाओ के द्वारा शीघ्र कम किया जा सकता है। तृतीय व चतुर्थ योजनाओ के बीच की अवधि मे इसी कारण कुओ व नलकूपो के विकास पर अधिक बल दिया गया।

कृषि पुनर्वित्त निगम तथा केन्द्रीय सरकार के नलकूप सगठन (Exploratory Tube-wells Organization) ने नलकूपो के विकास हेतु विशेष रूप से कार्य किया है। नलकूप संगठन ने मार्च, १९६९ तक ७०,००० वर्गमील क्षेत्र मे (हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, आन्ध्र प्रदेश, मद्रास व उडीसा मे) भूगर्भीय जल की खोज करके नलकूप खुदवाए है। कृषि पुनर्वित्त निगम ने अप्रैल, १९६७ से भूमि विकास बैंको के ऋण पत्रों का ९०% मूल्य देना इस शर्त पर स्वीकार किया है कि इस पूँजी का उपयोग नलकूपा या सिचाई परियोजनाओ के लिए किया जाएगा। फरवरी, १९६९ तक निगम ने ११२ सिंचाई परियोजनाओ (छोटी व मध्यम) के लिए पूँजी प्रदान की जिन पर कुल व्यय ११२ करोड रुपए हुआ था। १९६९-७० मे नलकूप सगठन ४०० नलकूपो की खुदाई करेगा जिनमें से १५० सिंचाई हेतु उपयोग मे लाए जा सकेंगे।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना काल मे भी उपरोक्त प्राथमिकताओ के आधार पर ही कार्य किया जायेगा। योजना काल मे कुल मिलाकर १३३३ करोड रुपए सिंचाई हेतु व्यय किये जाएँगे। इस अवधि मे बडी व मध्यम परियोजनाओ पर ८५७ करोड रुपए तथा छोटी परियोजनाओ पर ४७६ करोड रुपए खर्च होंगे।

बडी व मध्यम परियोजनाओं के लिए प्रस्तावित विनियोग मे से ७१७ करोड रुपए वर्तमान मे अधूरे कार्यक्रमो पर खर्च होंगे तथा ९७ करोड रुपए नये कार्यक्रमो पर। शेष राशि का उपयोग शोध एव पर्यवेक्षण पर व्यय किया जायेगा। लघु परियोजनाओ के लिए निर्धारित धनराशि मे से ३६१ करोड रुपए राज्य सरकारो द्वारा व्यय किया जाएगा। इसके आलवा ६५० करोड रुपए

1. See Irrigation & Flood Control in IV Plan Economic Times April 21, 1969 p. 3
2. Ibid.

के ऋण सहकारी सस्थाओ, कृषि पुनर्वित्त निगम तथा भूमि विकास बैंकों द्वारा कुओ, नलकूपो व पम्प-सैटो के निर्माण या इनके सुधार हेतु उपलब्ध कराए जाएंगे। अनुमानतः इस अवधि मे कृषक स्वयं भी ३०० करोड रुपए का विनियोग सिंचाई के साधनो पर करेंगे।

चतुर्थ योजना के पहले चार वर्षो में बडी सिंचाई परियोजनाओ के अन्तर्गत नये कार्यक्रम प्रारम्भ नही किए जाएंगे। परन्तु ६५० करोड रुपये की कुल लागत वाली परियोजनाओ के प्रथम चरण पर १९७३-७४ मे कार्य प्रारम्भ कर दिया जाएगा तथा इन पर ६७ करोड रुपए खर्च होगे। यह भी प्रस्ताव है कि सारे अधूरे मध्यम सिंचाई कार्यक्रमो को १९७३-७४ तक पूरा कर दिया जाय।

नलकूपो व कुओ की सिंचाई क्षमता के इष्टतम उपयोग हेतु ग्रामीण विद्युतीकरण पर चौथी योजना के अन्तर्गत ३६३ करोड रुपए खर्च किए जायेंगे। इसके लिए केन्द्रीय सरकार के सान्निध्य मे ग्रामीण विद्युतीकरण निगम की स्थापना की जाएगी। कुल मिलाकर १९७३-७४ तक ७·४ लाख पम्पसैटो व नलकूपो का विद्युतीकरण किए जाने की आशा है।

कुल मिलाकर १९७३-७४ तक सिंचित क्षेत्र ४·६२ करोड हैक्टर तक बढ जाने की आशा है।

राजस्थान में सिंचाई व्यवस्था[1]

राजस्थान मे कुल कृषि योग्य क्षेत्र ६·६२ करोड एकड (अथवा २·६६ करोड़ हैक्टर) है जो देश के कृषि योग्य क्षेत्र का १३·७% है। इनमे से लगभग ३·६५ करोड एकड (अथवा १½ करोड़ हैक्टर) क्षेत्र वास्तविक कृषि क्षेत्र है। इस प्रकार कृषि योग्य क्षेत्र का ५६·५% ही उपयोग मे लाया जा रहा है।

१९५० मे राजस्थान की विभिन्न रियासतो एवं ब्रिटिश शासित प्रदेश मे कुल मिलाकर ३० लाख एकड़ (१२ लाख हैक्टर) क्षेत्र मे नहरो, कुओ व तालाबो से सिंचाई होती थी परन्तु १९६८ (मार्च) तक यह क्षेत्र बढ़कर ५६ लाख एकड (२२·६ लाख हैक्टर) हो गया। इस प्रकार राजस्थान के सिंचित क्षेत्र मे लगभग ९०% वृद्धि हुई है जबकि सम्पूर्ण भारत की वृद्धि ६०% से कुछ कम थी।

नहरो व तालाबो द्वारा सिंचित क्षेत्र इस अवधि मे ३·६ लाख हैक्टर से बढकर १० लाख हैक्टर हो गया जबकि कुओं द्वारा सिंचित क्षेत्र ८·५ लाख हैक्टर से बढकर १२·६ लाख हैक्टर हुआ। कुल मिलाकर सिंचाई के विकास पर राज्य सरकार ने १९५१-१९६८ के बीच १६३ करोड रुपए खर्च किए।

परन्तु राजस्थान मूल रूप मे एक सूखा प्रदेश है। देश का १३·८% कृषि योग्य क्षेत्र राजस्थान मे होने पर भी सतह पर उपलब्ध जल सम्पदा का केवल १·३५% यहाँ उपलब्ध है। अनुमानत. जल सम्पदा (सतह तथा भूगर्भीय दोनो) का शत प्रतिशत उपयोग करने पर भी राजस्थान मे ८७ लाख एकड (३५ लाख हैक्टर) से अधिक भूमि पर सिंचाई व्यवस्था सम्भव नही होगी। अन्य शब्दो मे हमारे कुल कृषि योग्य क्षेत्र का ३३% सिंचित क्षेत्र का उच्चतम स्तर हो सकता है। यही कारण है कि राजस्थान सरकार समीपवर्ती राज्यो से पानी प्राप्त करके सिंचाई व्यवस्था कर रही है। पजाब व मध्य प्रदेश, मे निर्मित भाखडा नागल तथा चम्बल परियोजनाओं आदि से पानी प्राप्त करने के लिए हमने कुल विनियोजित राशि का एक अश वहाँ की सरकारो को दिया है। गुजरात, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश व हरियाणा के सहयोग से गुडगांव, भरतपुर, यमुना, माही, नौहर एवं सिन्धमुख परियोजनाएं प्रारम्भ की जा रही है। राजस्थान नहर पर भी तेजी से काम चल रहा है। इन सबके पूरा हो जाने पर राजस्थान मे कुल सिंचित क्षेत्र लगभग १६० लाख एकड (६४ लाख हैक्टर) तक बढ जाने की आशा है। फिर भी कृषि योग्य भूमि का बहुत बडा भाग (५८%) प्रकृति पर ही निर्भर रहेगा।

---

1. See article by Shri Ram Prasad Laddha : Yojana, July 7, 1968

विभिन्न परियोजनाओ की प्रगति

उपरोक्त परियोजनाओ मे से जवाई, भाखडा तथा चबल के दो चरणा का काय काफी समय पूर्व ही पूरा हो गया था जिससे राजस्थान की लगभग २ ५ लाख हैक्टर भूमि को पानी मिलने लगा है। गुडगाँव परियोजना १९६९ तक पूरी होने की आशा है। अन्य परियोजनाओं पर पडौसी राज्यो की सरकारो से विचार-विमर्श चल रहा है।

वैज्ञानिको का ऐसा विश्वास है कि उपरोक्त सारो परियोजनाओ के पूरे हो जाने के बाद राजस्थान के वर्तमान रेगिस्तानी क्षेत्र मे ५० लाख से अधिक व्यक्तियों को सरलतापूर्वक बसाया जा सकेगा तथा राजस्थान पडोस के राज्यो को पर्याप्त अनाज दे सकेगा।

सिचाई आयोग की नियुक्ति

सिचाई के साधनो की लागत, अन्तर्राज्यीय पानी के वितरण सम्बन्धी विवाद तथा सिचाई की परियोजनाओ के विषय मे विस्तार से समीक्षा करने के लिए श्री अजीत प्रसाद जैन की अध्यक्षता मे अप्रैल, १९६६ मे **सिचाई आयोग** की नियुक्ति की गई है। आयोग निम्न बातो पर विचार करेगा

(१) १९०३ के बाद से अब तक सिचाई की प्रगति की समीक्षा करना। १९०३ मे भी एक सिचाई आयोग नियुक्त किया गया था। (२) सूखा तथा अभावग्रस्त क्षेत्रो मे सिचाई की व्यवस्था को जाँचना तथा सुधार हेतु सुझाव देना। (३) खाद्यान्न की दृष्टि से देश को आत्म निर्भर बनाने हेतु विभिन्न प्रकार के सिचाई के साधनो के सम्भावित योगदान पर विचार करना। (४) विभिन्न सिचाई परियोजनाओ के लिए पानी की उपलब्धि को देखना। (५) सिचाई व्यवस्था (स्टाफ) को देखना। (६) सिचाई के कार्यक्रमो पर राज्य से धन लेने पर पूर्व स्वीकृति देना।

१६

भारत की नदी-घाटी योजनाएँ
(River-valley Projects in India)

परिचय—नदी-घाटी योजनाओ का महत्व :

पिछले अध्याय मे भारत की विभिन्न सिंचाई योजनाओ का वर्णन किया जा चुका है। वस्तुत. नदी-घाटी या बहुउद्देशीय योजनाओ के अन्तर्गत केवल सिंचाई का लक्ष्य ही नही होता, अपितु विद्युत-उत्पादन, बाढ नियंत्रण, नौकायन तथा भू-संरक्षण आदि अनेक उद्देश्य की पूर्ति भी साथ-साथ की जाती है। स्पष्ट है, अनेक उद्देश्यो की पूर्ति मे बहुत अधिक धनराशि की आवश्यकता होती है तथा परियोजना के पूर्ण होने मे काफी समय भी लग जाता है। यही कारण है कि नदी घाटी योजनाओं के चुनाव में काफी सावधानी बरती जाती है। परन्तु योजना के पूरा होने पर सिंचाई, बिजली तथा बाढ़ नियंत्रण के जो लाभ देश को प्राप्त होते हैं वे देश के आर्थिक विकास हेतु बहुत महत्वपूर्ण भी है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत मे बहुमुखी नदी घाटी योजनाएँ प्रारभ की गई हैं। इन लाभो का भारतीय कृषि के संदर्भ में आगे वर्णन किया गया है।

१९५०-५१ मे छोटी व मध्यम सिंचाई परियोजनाओ से लगभग १ करोड हैक्टर क्षेत्र मे सिंचाई की जाती थी। हमारे देश की एक सौ से अधिक नदियो मे से बडी एव सदा बहने वाली नदियों की संख्या ४५ है। इन सब की जल संपदा का इष्टतम उपयोग करने पर लगभग ३७ करोड हैक्टर क्षेत्र मे सिंचाई की जा सकती है यदि बडी व मध्यम परियोजनाओ का कार्य सन्तोषजनक रूप से चलता रहा तो निकट भविष्य मे कृषि क्षेत्र लगभग २५% केवल इन परियोजनाओं द्वारा सींचा जा सकेगा।

इसी प्रकार जल सपदा के द्वारा भारत मे (वर्तमान स्थिति के आधार पर) ४०० मिलियन किलोवाट से अधिक शक्ति का निर्माण सम्भव है। (India 1967 p 261)

बाढ से १९५० तक करोडों रुपये की बहुमूल्य सम्पत्ति ही नष्ट नही होती थी, अपितु लाखों एकड़ कृषि क्षेत्र भी दीर्घकाल तक अनुपजाऊ इलाकों के रूप मे परिवर्तित कर दिया जाता था। इन्ही सब कारणो से पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत बहुमुखी परियोजनाएँ बनाई गई।

प्रस्तुत अध्याय में केवल महत्वपूर्ण परियोजनाओ का वर्णन किया जाएगा।[1]

---

1 See Yojana, July 7, 1968 and Alak Ghosh : Indian Economy, Its Nature & Problems (1968) pp 132-147

भारत की प्रमुख परियोजनाएँ

(१) **भाखडा नागल योजना**—भाखडा नागल देश की सबसे बडी नदी घाटी योजना है। स्वतन्त्रता से कुछ समय पूर्व ही इस परियोजना पर कार्य प्रारम्भ कर दिया गया था जो अक्टूबर १९६३ को पूर्ण हुआ। भाखडा परियोजना को निम्न भागो मे बाँटा जा सकता है।

(i) सतलज के आर-पार भाखडा बाँध, (ii) भाखडा बाँध से दक्षिण की ओर ८ मील दूर नागल बाँध, (iii) नागल हाइडल चैनल, (iv) नागल विद्युत घर, (v) भाखडा की नहरें एव (vi) कोटला तथा गगूवाल विद्युत घर।

भाखडा नागल परियोजना पर कुल १७५ करोड रुपये से अधिक राशि खर्च की गई। इसकी कुल सिंचाई क्षमता लगभग १४·५ लाख हैक्टर है तथा विद्युत-सृजन क्षमता ६ लाख किलोवाट है। भाखडा नागल परियोजना ने हरियाणा, पजाब व राजस्थान के काफी बडे क्षेत्र की सिचाई सम्बन्धी समस्या को हल कर दिया है। भाखडा-नागल के बिजली घरो से प्राप्त शक्ति का राजस्थान पजाब, हरियाणा व दिल्ली मे वितरण किया जा रहा है।

(२) **दामोदर घाटी योजना**—अमरीका की टिनेसी घाटी के अनुरूप ही यह योजना भी है। इसके पूर्व दामोदर नदी की बाढ से पश्चिमी बगाल का बहुत बडा क्षेत्र जलमग्न हो जाता था और करोडो रुपये की सम्पत्ति नष्ट हो जाती थी। दामोदर घाटी परियोजना चार उद्देश्यो पर आधारित थी। (अ) बाढ नियन्त्रण, (आ) सिंचाई, (इ) विद्युत शक्ति का उत्पादन एव वितरण, (ई) वर्ष भर नौकायन की व्यवस्था। इसके अन्तर्गत निम्न कार्य किए गए।

(i) तिलैया, कोनार, माइथोन तथा पचेत पहाडियो पर बाँधो का निर्माण, (ii) इनमे प्रत्येक बाँध के साथ बिजली घर का निर्माण, (iii) ८०० मील लम्बे क्षेत्र मे शक्ति प्रवाहक केन्द्र का निर्माण, (iv) दुर्गापुर के पास एक बैराज का निर्माण जहाँ से १५५० मील लम्बी नहरें निकाली गई है। द्वितीय योजना के अन्त तक इस परियोजना पर १४८ करोड रुपये व्यय किए जा चुके थे तथा उक्त सारे निर्माण कार्यों को पूरा कर लिया गया था। तृतीय योजना काल मे १० करोड रुपये इन कार्यों पर खर्च हुए।

दामोदर घाटी योजना की प्रगति निम्न तथ्यो से स्पष्ट होती है

(अ) तिलैया बाँध, शक्तिगृह तथा बोकारो थर्मल शक्ति गृह का काय १९५३ मे पूरा हो गया था। इन पर ३ ६ करोड रुपये व्यय हुए।

(आ) बोकारो थर्मल शक्ति गृह को ठडा जल प्रदान करने के लिए कोनार बाँध को १९५५ मे पूरा कर लिया गया।

(इ) माइथोन बाँध व शक्ति गृह १९५७ मे पूरे हुए।

(ई) पचेत पहाडी बांध व शक्ति गृह का कार्य दिसम्बर, १९५९ मे पूरा हुआ। (उ) दुर्गापुर शक्ति गृह (थर्मल) तथा बोकारो की चतुर्थ इकाई मे नवम्बर, १९६० से शक्ति का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। (ऊ) १९५५ मे दुर्गापुर बैराज का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ। ६६६७ के अन्त तक बायी नहर का १३७ किलोमीटर लम्बा भाग पूरा बन चुका था।

चन्द्रपुरा थर्मल शक्ति पर तीन इकाइयो की प्रस्थापना की गई है जिनकी कुल क्षमता ४ २ लाख किलोवाट होगी।

दामोदर परियोजना के बाँधो से बाढ को रोकने मे सहायता मिलेगी। सभी नहरो के पूरा हो जाने पर उडीसा व पश्चिमी बगाल मे १० लाख एकड (४ १ लाख हैक्टर) मे सिंचाई की जा सकेगी। १९६७-६८ मे ७ २ लाख हैक्टर भूमि मे सिंचाई की गई। अनुमानत १५ करोड रुपये की अतिरिक्त कृषि उपज इससे प्राप्त हुई।

परियोजना की विद्युत शक्ति का उपयोग बिहार, उडीसा व पश्चिमी बगाल की मैंगनीज, लोहा व कोयला खानो तथा कारखानो मे किया जा रहा है। इस समय इस्पात के कारखानो व कोयले की खानो को कुल उत्पादित विद्युत शक्ति (९ लाख किलोवाट) का ३६% प्रदान किया जा रहा है।

इनके अतिरिक्त बाढ व मलेरिया के नियंत्रण से जो लाभ पश्चिमी बंगाल को हुआ है वह आँकड़ो मे दर्शाना सम्भव नही है।

(३) **हीराकुन्ड परियोजना**—हीराकुन्ड परियोजना पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कार्य प्रारम्भ हुआ। इसमें दो विशेषताएँ हैं : महानदी के आर-पार बाँध बनाकर जो जलाशय (रिजंवॉयर) बनाया गया है वह देश में सबसे बड़ा है। द्वितीय हीराकुन्ड बाँध की लम्बाई विश्व मे सबसे अधिक है।

इस परियोजना को दो सोपान मे पूरा किया गया। प्रथम सोपान मे सम्बलपुर व बोलनगीर जिलो मे सिंचाई हेतु नहरो की व्यवस्था की गई है। इसी के अन्तर्गत हीराकुन्ड शक्ति गृह का निर्माण किया गया है। दोनो सोपान १९६४ व १९६५ मे पूरे हुए। इस समय परियोजना के अन्तर्गत कुल विद्युत उत्पादन क्षमता २ लाख किलोवाट है।

तृतीय योजना काल मे महानदी के डेल्टा मे सिंचाई हेतु एक परियोजना का प्रारम्भ किया गया। इसके १९७४ तक पुरा होने की आशा है।

हीराकुन्ड बाँध परियोजना से निम्न लाभ हुए हैं. (अ) कटक व पुरी जिलो के ८,००० वर्गमील क्षेत्र मे बाढ के खतरे को कम कर दिया गया है। (आ) रूरकेला के इस्पात कारखाने, अलूमिनियम फैक्ट्री ब्रजराज नगर के कागज के कारखाने तथा राजगंगपुर की सीमेंट फैक्ट्री को शक्ति मिलने लगी है। कटक, पुरी, सम्बलपुर राजगढ और अन्य शहरो को भी बिजली प्राप्त हुई है। (इ) सम्बलपुर व बोलनगीर जिलो के लगभग ३·८ लाख एकड़ भूमि क्षेत्र (१·७ लाख एकड) मे सिंचाई व्यवस्था हो गई है।

तृतीय योजना के अन्त तक इस परियोजना पर लगभग १०० करोड़ रुपये खर्च हो चुके थे। वर्तमान मे चल रहे सिंचाई कार्यक्रमो पर लगभग ३४ करोड रुपये व्यय होंगे।

(४) **कोसी परियोजना**—नेपाल तथा भारत की यह एक संयुक्त परियोजना है। इसका प्रमुख उद्देश्य बाढ नियन्त्रण था, परन्तु परियोजना के पूरा होने पर सिंचाई तथा विद्युत उत्पादन के लक्ष्य भी पूरे किए जाएँगे।

कोसी परियोजना को तीन इकाइयो मे बाँटा गया है। प्रथम मे, जो कि १९६५ में पूरा हो गया था, बैराज तथा तत्सम्बन्धी निर्माण कार्य रखे गये। द्वितीय मे कोसी शक्ति गृह का निर्माण होगा जिससे उत्पन्न १० हजार किलोवाट शक्ति को नेपाल व बिहार में समान रूप से वितरित किया जाएगा। इसी मे पश्चिमी कोसी नहर का निर्माण होगा जिससे दरभंगा (बिहार) व नेपाल के कुछ जिलो में सिंचाई होगी। तृतीय इकाई मे पूर्वी कोसी नहर का निर्माण होगा जिससे बिहार के पूर्णिया व सहरसा जिलों में सिंचाई होगी।

कोसी नदी के दोनो ओर २४२ किलोमीटर लम्बी पालो का निर्माण १९५९ में ही पूरा हो गया था। द्वितीय व तृतीय इकाइयो पर कार्य चल रहे है। कुल मिलाकर इस परियोजना पर ६४ करोड रुपए व्यय होंगे तथा लगभग ६ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी। इसमे से भारत ४० करोड रुपये देगा।

(५) **तुंगभद्रा परियोजना**—द्वितीय योजना काल मे मैसूर तथा आन्ध्रप्रदेश की सरकारों ने संयुक्त रूप से इसे प्रारम्भ किया था। इसके अन्तर्गत तुंगभद्रा नदी के आर-पार एक बाँध बनाया जा रहा है जो १४६ वर्गमील मे फैला हुआ है। जलाशय से निकाली जाने वाली दो नहरो से ४ लाख हैक्टर क्षेत्र में सिंचाई की जा सकेगी। परियोजना के अन्तर्गत तीन शक्ति गृह बनाए जा रहे हैं जिनकी कुल प्रस्थापित क्षमता १ लाख किलोवाट है।

तुंगभद्रा बाँध पर १९५३ मे काम पूरा हो चुका था। शेष कार्य १९६७ मे पूरा हुआ। इस परियोजना पर आन्ध्रप्रदेश ने १९ करोड रुपए तथा मैसूर ने लगभग ४१ करोड़ रुपए (कुल ६० करोड़ रुपए) व्यय किए।

(६) **रिहांड परियोजना**—उत्तर प्रदेश के पिछड़े हुए जिलो के लिए रिहाड परियोजना बहुत महत्वपूर्ण है। इस पर अमरीकी सहायता से १९५५ मे कार्य प्रारम्भ हुआ। इसके अन्तर्गत रिहांड नदी पर एक बाँध तथा शक्तिगृह का निर्माण किया गया है। बाँध की लम्बाई ३०६५ फीट

व ऊंचाई ३०० फीट है, तथा इससे निकाली गई नहरो से १९ लाख एकड़ क्षेत्र मे सिंचाई सम्भव होगी।

शक्तिगृह की प्रस्थापित क्षमता २५ लाख किलोवाट है। इस शक्ति का उपयोग उत्तर प्रदेश के विभिन्न कारखानो के अलावा रेल मार्ग के एक भाग का विद्युतीकरण करने तथा १४ लाख एकड़ भूमि मे सिंचाई करने वाले नलकूपों के लिए किया जा सकेगा। नगरो व गांवो को भी बिजली दी जाएगी। कुल मिलाकर रिहांड परियोजना से उत्तर प्रदेश के २½ करोड़ लोगो को लाभ मिलने की आशा है।

रिहांड परियोजना पर ४६ करोड़ रुपए व्यय किए गए जिसका ६२% भाग अमरीकी सरकार से प्राप्त हुआ।

(७) नागार्जुन सागर परियोजना—यह आंध्रप्रदेश की एक महत्वपूर्ण परियोजना है। इस पर प्रथम योजना मे कार्य प्रारम्भ हो गया था। इसके अन्तर्गत कृष्णा नदी के आर-पार एक बांध बनाया गया है। सिंचाई व्यवस्था हेतु नहरो का निर्माण प्रगति पर है जिनके पूरा होने पर आंध्रप्रदेश के अकालग्रस्त क्षेत्रो मे ८ लाख हैक्टर भूमि मे सिंचाई हो सकेगी। आगे चलकर इस परियोजना के अन्तर्गत बिजली भी उत्पन्न की जाएगी। कुल मिलाकर इन कार्यक्रमो पर १६५ करोड़ रुपए खर्च होगे।

(८) गण्डक परियोजना—यह बिहार की महत्वपूर्णपरियोजना है। इसका स्वरूप १९५१ मे तैयार किया गया था परन्तु निर्माण कार्य द्वितीय योजना मे प्रारम्भ हुआ। इसके लिए भी नेपाल व भारत (उत्तर प्रदेश व बिहार राज्य) के बीच समझौता हुआ है। गण्डक परियोजना के अन्तर्गत भैसालोटन के पास एक बांध बनाया जायगा। इस बांध का आधा भाग नेपाल की सीमा मे होगा। बांध से निकाली जाने वाली पश्चिमी नहरो से बिहार (छपरा जिला) में १२ लाख एकड़ (५·२ लाख हैक्टर) व उत्तर प्रदेश मे ६ लाख एकड़ (२·६ लाख हैक्टर) भूमि मे सिंचाई होगी। पूर्वी नहरो से मुजफ्फरपुर, चम्पारन व दरभंगा जिलो की १५ लाख एकड़ भूमि मे तथा नेपाल की १ लाख एकड़ भूमि मे सिंचाई होगी। इस प्रकार गण्डक परियोजना द्वारा लगभग १४ लाख हैक्टर क्षेत्र मे सिंचाई होगी। पश्चिमी (मुख्य) नहर पर शक्तिगृह का निर्माण होगा जिसकी प्रस्थापित क्षमता १५ हजार किलोवाट होगी। इस शक्ति का अनुदान के रूप में नेपाल मे वितरण किया जाएगा। कुल मिलाकर गण्डक परियोजना पर ८९ करोड़ रुपए व्यय होगे।

(९) अन्य महत्वपूर्ण परियोजनाएं—इनके अलावा उत्तर प्रदेश की रामगंगा परियोजना, मैसूर की भाद्रा जलाशय परियोजना, महाराष्ट्र की कोयना परियोजना, व गुजरात की उकाई व माही परियोजनाएँ हैं। **रामगंगा परियोजना** पर ९२ करोड़ रुपए खर्च होगे तथा इससे उत्तर प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी जिलो के २ लाख एकड़ क्षेत्र मे सिंचाई होगी। इसके अन्तर्गत एक विशाल पार्क का निर्माण होगा जो यात्रियो के लिए आकर्षण का बड़ा केन्द्र होगा। द्वितीय योजना मे इस पर कार्य प्रारम्भ हुआ था पर यह पांचवी पचवर्षीय योजना मे पूरा होगा। **भाद्रा जलाशय** पर पहली योजना मे कार्य प्रारम्भ हुआ था और यह लगभग पूरी होने को है। इससे लगभग १ लाख हैक्टर भूमि मे सिंचाई होगी तथा ३३ हजार किलोवाट शक्ति का उत्पादन होगा। भाद्रा जलाशय परियोजना पर ३४ करोड़ रुपए व्यय होगे।

कोयना परियोजना मुख्यत: एक विद्युत-परियोजना है। कोयना नदी के आर-पार बांध बनाकर एक सुरंग द्वारा पानी को गिराकर शक्ति उत्पन्न की जाएगी। शक्तिगृह भूमिगत होगा और इसकी प्रस्थापित क्षमता २.४ लाख किलोवाट होगी। यह इसकी पहली अवस्था होगी और चौथी पचवर्षीय योजना मे इस पर कार्य प्रारम्भ किया जाएगा। दूसरे चरण या अवस्था मे बांध की संग्रह क्षमता को बढ़ाया जाएगा जिससे ३ लाख किलोवाट की प्रस्थापित क्षमता और जोड़ी जा सके। कुल मिलाकर इस पर ५६ करोड़ रुपए व्यय होगे। **उकाई परियोजना** एक बहुउद्देश्यीय परियोजना है। ताप्ती नदी पर एक बांध व शक्तिगृह का निर्माण इसमे सम्मिलित है। परियोजना पर ४६ करोड़ रुपए खर्च होंगे। इस पर द्वितीय योजना मे कार्य प्रारम्भ हुआ था तथा पूरा होने पर १.६ लाख हैक्टर क्षेत्र मे सिंचाई, तथा १.६ लाख किलोवाट शक्ति की उपलब्धि सम्भव हो सकेगी। माही के प्रथम चरण पर प्रथम योजना में ही कार्य प्रारम्भ हो गया था तथा यह पूरी होने को है। इस

पर २४·६ करोड़ रुपए खर्च होंगे तथा अन्ततः दोनों चरणों के पूरा होने पर ७·५ लाख एकड़ क्षेत्र (३ २ लाख हैक्टर) में सिंचाई हो सकेगी । इससे राजस्थान के दक्षिणी जिलो को भी लाभ होगा ।

राजस्थान की नदी घाटी योजनाएँ

(१) **भाखड़ा नांगल परियोजना**—इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है । यहाँ हम यह बताना चाहेंगे कि भाखड़ा नागल से राजस्थान को कितना लाभ होगा । गंगानगर जिले के लगभग ६ लाख एकड़ क्षेत्र में भाखड़ा-सिंचाई व्यवस्था द्वारा सिंचाई सम्भव होगी । इसके बदले पूरी परियोजना का १५·२% व्यय राजस्थान सरकार देगी । सिंचाई व्यवस्था के लिए प्रदेश के भीतर बनाई जाने वाली नहरों का व्यय राजस्थान सरकार पृथक् से वहन करेगी । १९६६-६७ में जितनी नहरें तैयार हो सकी थी उनसे २·३४ लाख हैक्टर क्षेत्र मे सिंचाई की गई ।

भाखड़ा-विद्युत व्यवस्था से भी राजस्थान को लाभ हो रहा है । कुल मिलाकर भाखड़ा नागल परियोजना से लाभ प्राप्त करने के लिए राजस्थान सरकार को ३३ करोड रुपए खर्च करने होंगे ।

(२) **चम्बल परियोजना**—राजस्थान तथा मध्यप्रदेश की यह एक संयुक्त योजना है । प्रारम्भ में इस योजना पर ७७·५ करोड रुपए व्यय होने का अनुमान था, लेकिन अनुमान से अधिक व्यय हो जाने, तथा जवाहर सागर की योजना के सम्मिलित हो जाने के परिणामस्वरूप अब व्यय की अपेक्षित राशि बढ गई है । कुल परियोजना की प्रस्तावित धनराशि १०९ करोड़ रुपए है जिसमे से सितम्बर १९६८ तक ९५ करोड रुपए तो खर्च हो गया ।

चम्बल राजस्थान की भगीरथी है और एकमात्र बडी तथा अविरल बहने वाली नदी है । इस पर भानपुरा के नजदीक एक बांध बनाने का कार्यक्रम प्रारम्भ मे होल्कर स्टेट में तैयार किया गया और बाद मे उदयपुर (राजपूताना) रियासत के शासको ने भी इसमे भाग लेने का निश्चय किया । अन्ततः प्रथम पंचवर्षीय योजना के समय इसे अन्तिम रूप से दे दिया गया ।

चम्बल योजना के तीन सोपान हैं : प्रथम सोपान में, जो पूर्ण हो चुका है, भानपुरा के समीप गांधी सागर बाँध, शक्ति गृहो का निर्माण तथा कोटा के समीप कोटा बैराज का निर्माण सम्मिलित है । कोटा बैराज से दो नहरें, क्रमशः दाई मुख्य नहर व बाई मुख्य नहर निकाली गई जो मध्यप्रदेश व राजस्थान के लगभग ११ लाख एकड़ क्षेत्र मे सिंचाई की व्यवस्था करेंगी । गांधी सागर शक्ति गृह की शक्ति-उत्पादन-क्षमता ४०,००० किलोवाट है । इस सोपान मे ४८ करोड़ रुपए व्यय हुए ।

द्वितीय सोपान मे कोटा से १८ मील दक्षिण मे राना प्रताप सागर बाँध व एक शक्तिगृह का निर्माण सम्मिलित है । शक्तिगृह की क्षमता १,२९,००० किलोवाट होगी तथा बांध बनाने पर लगभग ३ लाख एकड भूमि मे सिंचाई की जा सकेगी । इस पर अभी २०% कार्य शेष रहा है ।

अन्तिम सोपान मे राणाप्रताप सागर से १५ मील नीचे जवाहर सागर बांध तथा एक शक्तिगृह का निर्माण सम्मिलित है । यह बाँध ११०२ फीट लम्बा व ११० फीट गहरा होगा । इसके साथ के शक्तिगृह मे ३ इकाइयां होंगी जिनमे प्रत्येक की क्षमता ३३ हजार यूनिट होगी ।

केन्द्रीय सरकार ने राणा प्रताप सागर के समीप एक अणु शक्ति केन्द्र स्थापित किया है । इसी प्रकार भूमि, शक्ति, जल तथा यातायात की सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण कोटा नगर मे अनेक बडे उद्योगो का प्रारम्भ किया गया है । चम्बल योजना राजस्थान व मध्यप्रदेश के कृषि क्षेत्रो के लिए जहाँ सिंचाई की समुचित व्यवस्था करेगी, दूसरी ओर औद्योगिक विकास की पृष्ठभूमि भी तैयार करके इन क्षेत्रों का आर्थिक विकास करने मे योगदान देगी । परियोजना के पूरा होने पर राजस्थान व मध्य प्रदेश के ५·७ लाख हैक्टर क्षेत्र को जल प्राप्त होगा । सन् १९६६-६७ मे लगभग १ लाख हैक्टर भूमि पर चम्बल परियोजना की नहरो द्वारा सिंचाई की गई । इस पर राजस्थान को अब तक ३८ करोड रुपए व्यय करने पड़े हैं । गाधी सागर, प्रताप सागर तथा जवाहर सागर की विद्युत उत्पादन क्षमता २·३ लाख किलोवाट होगी । चतुर्थ व अन्तिम शक्ति उत्पादक इकाई का उद्घाटन शीघ्र होने वाला है । चम्बल के वर्तमान सिंचित क्षेत्र में से ३·५ लाख एकड़ भूमि राजस्थान मे तथा २·५ लाख एकड भूमि मध्य प्रदेश मे है ।

राजस्थान नहर[1]—केन्द्रीय जल तथा विद्युत आयोग ने १९५१ मे एक सर्वेक्षण के पश्चात् यह सुझाव दिया था कि राजस्थान के मरुस्थल को लहलहाते हुए खेतो मे बदलने के लिए हरिके से जैसलमेर तक एक नहर का निर्माण होना चाहिए। आयोग ने अनुमान लगाया था कि पजाब की नदियों से यदि पर्याप्त मात्रा मे राजस्थान को पानी मिल जाये तो राज्य के ५० लाख एकड क्षेत्र मे सिंचाई की जा सकती है। परन्तु इस परियोजना पर बहुत अधिक विनियोग की सम्भावना थी। अत १९५७ मे ही उसे स्वीकार किया गया। यह राजस्थान नहर परियोजना का प्रथम प्रारूप था जिसमे १७ लाख एकड क्षेत्र की सिंचाई हेतु लगभग ६६ ५ करोड रुपए का प्रावधान रखा गया।

१९६३ मे इस परियोजना मे सशोधन किया गया और सिंचित क्षेत्र का लक्ष्य २९ लाख एकड तक बढा दिया गया। सशोधित व्यय की प्रस्तावित राशि १३९ करोड रुपए रखी गई। इसके अतिरिक्त राजस्थान सरकार को ४५ करोड रुपए व्यास पर बनने वाले पोग बाँध, व्यास माधोपुर कडी तथा हरिके बाँध के लिए चुकाने को कहा गया।

सम्पूर्ण परियोजना को निम्न सूत्रो मे प्रस्तुत किया जा सकता है :

(१) राजस्थान (मुख्य) नहर जो पाकिस्तान व राजस्थान की सीमा के समानान्तर निर्मित होगी। इसकी कुल लम्बाई २५० मील होगी। (२) राजस्थान फीडर, जिसकी कुल लम्बाई १३४ मील होगी। (३) सहायक नहरें, जिनके द्वारा राज्य के उत्तरी व उत्तरी पश्चिमी जिलो मे सिंचाई होगी। इनकी कुल लम्बाई ४,५०० मील होगी।

राजस्थान फीडर का एक भाग पजाब मे होगा तथा इसमें पानी की पूर्ति हेतु हरिके बाँध को रावी तथा व्यास नदियो से पानी प्राप्त होगा।

राजस्थान नहर के अपेक्षित लाभ—राजस्थान नहर के पूरा हो जाने पर देश तथा विशेष रूप से राज्य की जनता को निम्न लाभ प्राप्त होंगे

(१) **अतिरिक्त खाद्यान्न**—सशोधित परियोजना के अनुसार २९ लाख एकड रेगिस्तानी क्षेत्र मे सिंचाई-व्यवस्था हो जाने पर राजस्थान मे ३० लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न होगा। अन्य शब्दो मे १५० करोड रुपए प्रतिवर्ष का प्रतिफल इस नहर से प्राप्त हो सकेगा।

(२) **समृद्धि दायक**—जैसलमेर, बीकानेर तथा गगानहर जिलो मे सूखा पडना एक सामान्य बात है और यही कारण है कि इन जिलो की अधिकाश जनता अत्यधिक निर्धन है। राजस्थान नहर के बन जाने पर भूमि की उत्पादकता बढेगी तथा अकाल से मुक्ति मिलने के कारण जनता की समृद्धि बढ सकेगी।

(३) **तस्करी की रोकथाम**—राजस्थान नहर जिस क्षेत्र मे बनाई जा रही है, अब तक उसका उपयोग तस्करो द्वारा व्यापक स्तर पर होता था। दूर तक रेगिस्तान होने के कारण वहाँ तस्करी की रोकथाम आसानी से नही हो सकती थी। परन्तु यह इलाका जब आबाद हो जाएगा तो तस्करी को भी रोकने मे सहायता मिलेगी।

(४) **प्रतिरक्षा में महत्व**—मीलो तक बस्ती न होने से, तथा सडको व अन्य आवश्यक सुविधाओ के अभाव मे राज्य का उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र घुसपैठियो तथा शत्रुओं के लिए एक सुगम मार्ग बना हुआ है। अनुमान है कि राजस्थान नहर के बन जाने पर बीस लाख व्यक्तियों को इलाके मे बसाया जा सकेगा। इससे सुरक्षा-व्यवस्था मे सुधार होगा।

प्रगति—परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्थान नहर के महत्व से परिचित होने पर भी केन्द्रीय सरकार इसे प्राथमिकता नही देना चाहती। प्रारम्भ मे केन्द्रीय सरकार ही इसके निर्माण का समस्त व्यय-भार लेने को तैयार थी पर तृतीय योजना मे इसका सम्पूर्ण दायित्व राज्य सरकार को सौंप दिया गया। १९६८-६९ तक मुख्य नहर का १२२ मील लम्बा टुकडा (ऑफ-टेक चैनल्स

---

1. See Times of India : may 3, 1969. (Aid for Rajasthan Canal Cut—Project in Peril by T. N Kaul)

को मिलाकर) पूरा किया जाना था। इस पर कुल ६५ करोड़ रुपए का प्रावधान था। मुख्य नहर का शेष भाग १९७७-७८ तक पूरा किया जाना था और इस पर ६४ करोड़ रुपए खर्च करने की योजना थी। परन्तु कुछ ही समय पूर्व मुख्य नहर एवं सहायक नहरो को पक्का करने का निर्णय लिया गया और इसके फलस्वरूप पहले चरण पर ९२ करोड़ रुपए तथा द्वितीय चरण पर ८५ करोड रुपए की संशोधित राशि निर्धारित की गई। (संशोधित प्रावधान १७७ करोड़ रुपए हो गया) परन्तु राज्य सरकार को १९६८-६९ तक केवल ५७ करोड़ रुपए ही प्राप्त हो सके। सीमेंट व अन्य पदार्थों के मूल्यों मे भी वृद्धि हुई और फलस्वरूप मुख्य नहर का ३१ मार्च, १९६९ तक केवल ६० मील लम्बा टुकड़ा ही पूरा किया जा सका। वैसे राज्य के कुछ इलाको की सिचाई राजस्थान नहर की सहायक नहरो से प्रारम्भ हो चुकी है।

१९६०-६१ से राज्य सरकार को केवल ५ से ६ करोड रुपए की धनराशि केन्द्रीय सरकार से मिल रही थी। परन्तु १९६६-६९ से यह अनुदान केवल ३ करोड रुपए रह गया और फलतः राजस्थान नहर की प्रगति (कर्मचारियों की सख्या मे कमी किए जाने से) धीमी हो गयी।

राजस्थान नहर के शेष भाग को पूरा करने के लिए अभी (१९६९-७० से) १२० करोड रुपए की और आवश्यकता है। चौथी पचवर्षीय योजना काल मे सम्भवतः २७ करोड़ रुपए राजस्थान नहर पर व्यय होगे। परन्तु जिस गति से इस परियोजना के लिए साधन जुटाए जा रहे हैं, खर्च की विभिन्न मदो मे वृद्धि न होने पर भी राजस्थान नहर परियोजना २५ वर्ष से पहले पूरी नही हो सकेगी। अस्तु, राजस्थान नहर निकट भविष्य में तभी महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है जबकि इसके लिए हमें पर्याप्त पूंजी मिल सके। यह प्रसन्नता की बात है कि केन्द्रीय सिंचाई मन्त्रालय अब वित्त मन्त्रालय पर इस आशय का दबाव डाल रहा है कि राजस्थान नहर के लिए तुरन्त ४० करोड रुपए उपलब्ध कराए ताकि १९७० तक पौंग बांध पूरा किया जा सकें। यहां यह बता देना उचित होगा कि अब तक सिन्धु जल समझौते के अन्तर्गत भारत पाकिस्तान को १०० करोड़ रुपए दे चुका है और जितना जल्दी हम राजस्थान नहर एवं सम्बद्ध परियोजनाओ को पूरा करें, वह देश हित मे ही होगा।

(४) **जवाई परियोजना**—जोधपुर जिले के मरुस्थल के लिए यह एक महत्वपूर्ण परियोजना है। जवाई लूनी की एक सहायक नदी है। इस परियोजना के अंतर्गत सुमेरपुर के पास एक बांध बनाया गया है जिससे लगभग ५० हजार एकड (२६ हजार हैक्टर) भूमि में सिंचाई होने की आशा है। इसके अतिरिक्त जवाई जलाशय से जोधपुर नगर को पानी की पूर्ति की जाती है।

(५) **ब्यास परियोजना**—यह पजाब व हरियाणा के सहयोग से बनाई गई है। इस परियोजना के अतर्गत तृतीय योजना मे कार्य प्रारम्भ किया गया। ब्यास परियोजना मे दो इकाइयां होगी। पहली इकाई के अतर्गत सतलज-ब्यास कडी का पजाब मे निर्माण होगा जबकि दूसरी इकाई के अतर्गत पोग बांध बनाया जाएगा। पहली इकाई के अंतर्गत एक बांध, दो सुरगें, सात मील लम्बी हाइडल चैनल एवं शक्ति सयंत्र होगे। शक्ति सयंत्र की प्रस्थापित क्षमता ६·६० लाख किलोवाट होगी। कुल मिलाकर प्रथम इकाई से ३·२ लाख हैक्टर क्षेत्र मे सिंचाई होगी जिसमे से कुछ क्षेत्र राजस्थान में होगा। यहां यह व्यवस्था राजस्थान नहर के अंतर्गत होगी।

पोग बांध से राजस्थान नहर को पानी दिया जाएगा। इसके द्वारा कुल मिलाकर २·४ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति तथा २० लाख हैक्टर भूमि मे सिंचाई क्षमता का सृजन किया जाएगा।

ब्यास परियोजना पर कुल २४० करोड रुपए खर्च होगे जिसमे से ६५ करोड़ रुपए राजस्थान को देने होगे।

(६) **अन्य कार्यक्रम**—राजस्थान सरकार हरियाणा की गुडगांव परियोजना का पानी लेने का प्रयास कर रही है। भरतपुर फीडर योजना पर भी विचार विमर्श चल रहा है। इन दोनो से राजस्थान के १५ लाख एकड क्षेत्र मे पानी मिल सकेगा। उत्तर प्रदेश की नर्मदा परियोजना (विचाराधीन) से भी राजस्थान के ५ लाख एकड क्षेत्र मे सिंचाई होने की आशा है। पंजाब की प्रस्तावित सिधमुख तथा नोहर स्कीमो से ३ लाख एकड क्षेत्र की सिंचाई होगी।

बहुमुखी नदी घाटी योजनाओ के लाभ :[1]

उपरोक्त सभी तथा भावी बहुमुखी नदी घाटी योजनाओ की सफलता हमारे नियोजन को सफलता की कसौटी होगी । इन परियोजनाओ से देश की अर्थव्यवस्था को निम्न लाभ हो सकेंगे :

(अ) सिचाई के लाभ :

(१) खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि—हरी क्रांति को सफल बनाने या उन्नत बीजों के सफल प्रयोग हेतु यह आवश्यक है कि देश के विभिन्न भागों मे पर्याप्त सिचाई व्यवस्था हो। पानी की अपर्याप्त पूर्ति भूमि को उत्पादकता को बढाने की अपेक्षा नष्ट कर सकती है।

(२) व्यापारिक फसलो के उत्पादन में वृद्धि—गन्ना, तम्बाकू व जूट आदि का वर्तमान अभाव पर्याप्त सिचाई व्यवस्था होने पर दूर किया जा सकेगा ।

(३) नए कृषि क्षेत्र का उपयोग—बजर भूमि तथा मरुस्थल को पर्याप्त सिचाई व्यवस्था होने पर कृषि-उपज बढाने हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है ।

(४) मानवीय तथा पशु श्रम का इष्टतम उपयोग—वर्षा पर निर्भर क्षेत्रो मे कृषको के पास अपेक्षाकृत कम काम रहता है और वे मानसून की प्रतीक्षा मे कोई काम नही कर पाते। परन्तु पर्याप्त सिचाई व्यवस्था होने पर उपलब्ध मानवीय तथा पशु-श्रम का इष्टतम उपयोग हो सकता है ।

(५) उत्पादकता मे वृद्धि होगी तथा फलस्वरूप कृषको की आय भी बढाई जा सकेगी।

(आ) शक्ति को प्राप्ति

(१) नदी घाटी योजनाओ के अंतर्गत उत्पन्न की जाने वाली जल विद्युत की प्रति इकाई लागत बहुत कम होती है। इस प्रकार सस्ती बिजली की उपलब्धि इनका एक बडा लाभ है।

(२) पर्याप्त मात्रा मे सस्ती शक्ति का सिचाई, नलकूपों या पपसैटो के विद्युतीकरण मे उपयोग सभव है ।

(३) उद्योगो तथा शहरो की जनता के उपयोग हेतु भी इस शक्ति का उपयोग किया जा सकता है।

(इ) बाढ-नियत्रण द्वारा करोडो रुपए की बहुमूल्य सम्पति तथा लाखो एकड भूमि को नष्ट होने से रोका जा सकता है।

(ई) उपभोक्ताओ को बहुमुखी योजनाओं के अन्तर्गत प्रारम्भ किये गये मत्स्य पालन के कार्यक्रमो से मछली पर्याप्त मात्रा में मिल सकती है। इसके अतिरिक्त पीने का पानी भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो सकता है ।

(उ) नौकायन की व्यवस्था द्वारा सस्ती परिवहन व्यवस्था की जा सकती है।

प्रो० अलक घोष ने सत्य ही लिखा है, "बहुमुखी परियोजनाओं का विकास आर्थिक विकास को पृष्ठ भूमि का निर्माण करता है तथा देश के सामाजिक व आर्थिक कल्याण मे अभिवृद्धि करता है ।"

---

1 (a) Alak Ghosh . op cit pp 132-33, (b) William Kapp Hindu Culture, Economic Development and Planning Chapters V and VI

१७

कृषि श्रमिक अथवा खेतिहर मजदूर
(Agricultural Labour)

प्रस्तावना—कृषि श्रमिकों से आशय :

भारतीय कृषि की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि यहाँ कृषि कार्यों में रत जनता का एक बडा भाग भूमिहीन है। इन तथाकथित कृषको के पास न तो स्वय की भूमि है और न ही उनकी इतनी सामर्थ्य है कि वे जमीदारो या बड़े कृषकों अथवा सरकार से भूमि लेकर उसे जोत सकें। इसका मुख्य कारण है उनकी निर्धनता। फलत ये व्यक्ति कृषि-कार्यों में कृषको को आवश्यकतानुसार सहायता देते हैं और इसके बदले उन्हें पारिश्रमिक प्राप्त होता है। भारत में कुल ग्रामीण परिवार के लगभग ३०.४% भाग खेतिहर मजदूर हैं जिनमे से आधे भूमिहीन मजदूर हैं।

१८वी शताब्दी के अन्त तक भारत के अधिकाश गाँव स्वावलम्बी इकाइयों के रूप मे थे तथा भूमि पर ग्राम समुदाय का अधिकार होने के कारण भूमिहीन कृषको की कोई समस्या विद्यमान नहीं थी। लेकिन अंग्रेजो के आगमन और नवीन भूमि व्यवस्था ने भूमि पर व्यक्तिगत अधिकारो को पूर्ण मान्यता दे दी तथा इससे निर्धन व छोटे कृषको का भूमि पर कोई अधिकार नही रहा। दूसरी ओर नगरों व गाँवो मे प्रचलित कुटीर-उद्योगो व हस्तकलाओं का पराभव भी १९वीं शताब्दी मे प्रारम्भ हुआ और फलस्वरूप कृषि पर भार मे वृद्धि तो हुई पर केवल साधनहीन व्यक्तियो के रूप में ही। यह सख्या धीरे-धीरे बढ़ती गई और आज एक विकट एव गम्भीर समस्या के रूप मे हमारे समक्ष है।

खेतिहर मजदूरों या कृषि श्रमिकों की परिभाषा

१९५०-५१ की प्रथम खेतिहर मजदूर जांच समिति ने कृषि श्रमिको की श्रेणी में उन व्यक्तियों को शामिल किया था जो एक वर्ष के कुल काम के दिनो मे से ५०% से अधिक समय अन्य किन्ही लोगो के खेतो पर काम करें। १९५६-५७ की जाँच समिति ने काम की अपेक्षा आय को आधार माना। इसके अनुसार वह व्यक्ति खेतिहर मजदूर है जो खेती (दुग्ध व्यवसाय, मुर्गीपालन, बागवानी तथा मधु-मक्खी पालन आदि को मिलाकर) से प्राप्त मजदूरी के द्वारा अपनी आय का अधिकाश भाग प्राप्त करे। इस प्रकार खेतिहर मजदूरो मे वे लोग भी शामिल है जिनके पास बहुत कम जमीन है और जिन्हे भरण-पोषण के लिए अन्यत्र काम करना पडता है। कुल मिलाकर कृषि श्रमिक खेती की जोखिम नही उठाता और उसका मुख्य प्रयोजन केवल मजदूरी से होता है।

कृषि श्रमिकों की श्रेणियाँ—कांग्रेस की ग्राम्य सुधार समिति ने कृषि-श्रमिको को तीन श्रेणियो में बांटा है: **कृषि श्रमिक, साधारण श्रमिक तथा कुशल श्रमिक**। कुशल श्रमिक साधारणतया वे हैं जो बढई, लुहार आदि के रूप मे कृषकों के लिए कार्य करते हैं। साधारण श्रमिको का कार्य

भूमि को साफ करना या चौकीदारी करना है। कृषि-श्रमिक जुताई, बुआई, कटाई आदि का कार्य या खेतो को सींचने का काम करता है।

कृषि श्रम जॉच समिति (१९५०-५१) ने कृषि मजदूरो को दो श्रेणियों मे बाँटा है स्थायी श्रमिक तथा अस्थायी श्रमिक। स्थायी श्रमिक निश्चित अवधि के लिए निश्चित एव परम्परागत मजदूरी पर काय करते हैं तथा इनके क्षेत्र पूव निश्चित होते हैं। अस्थायी श्रमिक काम की तलाश मे घूमने वाले श्रमिक हैं जिनकी मजदूरी व कार्यावधि निश्चित् नही है। प्रोग्राम एवेल्युएशन ऑर्गेनाइजेशन की एक रिपोर्ट के अनुसार ऐसे श्रमिको को वष मे १५० से १८० दिन तक कार्य मिलता है। स्थायी श्रमिक भी २०० से २५० दिन तक व्यस्त रहते है।[1] लेकिन देश के विभिन्न भागो मे इनकी कार्य प्रणाली तथा सम्बद्ध मजदूरी की दरें भिन्न है। उदाहरण के लिए मद्रास में स्थायी श्रमिक ३ से ६ महीने के लिए कृषि कार्यों के लिए अनुबन्धित किए जाते है, जबकि अस्थायी श्रमिको को आवश्यकतानुसार बुला लिया जाता है। दूसरी ओर पजाब मध्य प्रदेश, राजस्थान व उत्तर प्रदेश के कुछ भागो मे स्थायी या अस्थायी श्रमिको का अन्तर मजदूरी व कार्यावधि दोनो के आधार पर माना जाता है। अस्थायी श्रमिको को दैनिक मजदूरी दी जाती है।

खेतिहर मजदूरो की सख्या के अनुमान

१९वी शताब्दी के पूर्वाध मे कृषि मजदूरो की सख्या बहुत कम थी तथा सामान्य रूप मे इनकी स्थिति ठीक थी।[2] लेकिन जनसख्या की वृद्धि के साथ साथ तथा जमीदारो की छोटे काश्तकारो के साथ बढ़ती हुई प्रताडना के कारण गत शताब्दी मे उत्तरार्ध मे इनकी सख्या काफी बढ गई। १८८१ व १९२१ के बीच खेतिहर मजदूरों की सख्या ७५ लाख से बढकर २.१६ करोड हो गई। १९५१ मे इनकी सख्या २.७५ करोड थी जो १९६१ मे बढकर ३.१५ करोड होगई। इस प्रकार दस वर्षों मे कृषि मजदूरो की सख्या मे १०% वृद्धि हुई। लेकिन क्षेत्रीय दृष्टि से उत्तर प्रदेश मे यह वृद्धि ६१%, मद्रास म ४५% आन्ध्र प्रदेश में ३९% आसाम में ४६% व मैसूर मे ३१% थी। परन्तु मध्यप्रदेश में इनकी सख्या ३५% कम हुई। इसी प्रकार राजस्थान व पजाब मे खेतिहर मजदूरो की सख्या मे क्रमश ३५% व २३% कमी हुई।[3]

१९५१ मे खेतिहर मजदूरो को मिला कर कृषि मे रत कुल व्यक्तियो की सख्या लगभग ९.८ करोड थी जो १९६१ मे बढकर १३.१ करोड हो गई।

कृषि श्रमिक जाँच (१९५०-५१ तथा १९५६-५७)[4]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् दो बार क्रमश १९५०-५१ तथा १९५६-५७ मे कृषि-श्रमिको के सम्बन्ध मे जाच की जा चुकी है। इस सात वष की अवधि मे कृषि-श्रमिको की सख्या १.७९ करोड से घटकर १.६३ करोड रह गई। १९५१ की जनगणना के अनुसार यह सख्या २.७५ करोड थी परन्तु यह अन्तर परिभाषा सम्बन्धी अन्तर के साथ साथ कृषि-श्रमिक जाँच के सीमित क्षेत्र के कारण भी उत्पन्न हुआ। १९५६-५७ मे भी खेतिहर मजदूरो की परिभाषा मे परिवर्तन किया गया और फलस्वरूप सरकारी सूत्रों के अनुसार जैसा कि ऊपर बताया गया है, कृषि मजदूरो की सख्या १९५६-५७ मे पूर्वापेक्षा अपेक्षा कम पाई गई। वस्तुत. जैसा कि १९६१ की जनगणना से ज्ञात होता है कृषि-श्रमिको यानी खेतो मे मजदूरो के रूप मे कार्य करने वालो की

1 P E O Report No 7 Community Development Projects

2 For details see Ramesh Dutt—Economic History of India Vol I pp 146 48

3 Census of India Paper No 1 of 1962 p 438 and H B Shivamaggi The Agricultural Labour Problem See Economic & Political Weekly, March 29, 1969

4 See Agricultural Labour in India edited by V K R V Rao (Asia—1962) and reprinted in Readings in the Agricultural Development edited by A M Khusro

संस्था निरन्तर बढ रही है। इस पर भी उक्त दोनों जांचो से कृषि-श्रमिको के विषय में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हुई है। ये सूचनाएँ इस प्रकार हैं -

(१) कुल ग्रामीण परिवारो में कृषि-श्रमिक परिवारों का अनुपात १९५०-५१ तथा १९५६-५७ के बीच ३०.४% मे घटकर २४.५% रह गया। सर्वाधिक कमी बिहार, उडीसा, आंध्र, मद्रास (तामिलनाड) केरल व मैसूर मे हुई परन्तु उत्तर प्रदेश व आसाम मे इनका अनुपात बढा।

(२) १९५०-५१ में कृषि श्रमिको में से ५०% के पास भूमि थी (यद्यपि भूमि अत्यन्त अपर्याप्त थी) परन्तु १९५६-५७ तक यह अनुपात ४३% रह गया। उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश मे ऐसे श्रमिको का अनुपात ३९% से बढकर ५०% हो गया जबकि अन्य राज्यो मे कम हुआ। इन दोनो प्रवृत्तियों को ही अनुकूल नहीं माना जा सकता क्योकि भूमि प्राप्त कर लेने मात्र से उन परिवारो की स्थिति मे सुधार नही होता जब तक कि जोत आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद न हो। अनुपात कम होने का कारण श्रमिको की गिरती हुई आर्थिक स्थिति हो सकती है।

(३) इस अवधि मे कृषि श्रमिक परिवार की औसत वार्षिक आय ४९५ रुपए से घटकर ४३९ रुपए रह गई जबकि अस्थायी श्रमिक परिवारो की आय ५२४ रुपए से घट कर ४५१ रुपए रही।

(४) १९५०-५१ व १९५६-५७ के बीच स्थायी श्रमिको का (कुल कृषि-श्रमिको से) अनुपात १०% से बढकर २७% रह गया गया जबकि अस्थायी श्रमिकों का अनुपात ९०% से घट-कर ७३% रह गया।

(५) कृषि श्रमिको की आर्थिक स्थिति के अन्य तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत किए गए :

	१९५०-५१	१९५६-१९५७
दैनिक मजदूरी (पैसे) पुरुष	९९	८४.५
महिलाएँ	६८	५९
ऋणी परिवारो का प्रतिशत	४५	६४
औसत प्रति परिवार ऋण (रुपए)	४७	८८
वर्ष में बेकारी के दिन	९८	११०

(६) पारिवारिक औसत वार्षिक व्यय १९५०-५१ व १९५६-५७ के बीच ४६१ रुपए से बढ़कर ६१७ रुपए हो गया। इस प्रकार आय तथा व्यय की बाकी जहाँ १९५०-५१ मे अनुकूल थी, १९५६-५७ तक काफी प्रतिकूल हो गई।

भारत में कृषि श्रमिकों की अधिक संख्या होने के कारण

(१) कुटीर उद्योगों तथा हस्तकलाओं का पराभाव—प्रो० गाडगिल का यह मत है कि कुटीर उद्योगों तथा हस्तकलाओं का पराभव होने पर इन शिल्पकारो के समय वैकल्पिक रोजगार की एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई। साधनहीन होने के कारण इनके समक्ष सिवाय गाँवों में कृषि-कार्य करके मजदूरी प्राप्त करने का और उपाय नही था।

डा० बुचेन का कथन है कि उनके स्वय के रोजगार नष्ट हो चुके थे, आधुनिक उद्योगों का उस समय (१९वी शताब्दी मे) विकास नही हुआ था जबकि उनके पास इतने साधन नही थे कि वे खेत लेकर उसे जोतने की व्यवस्था कर पाते। इन्हीं कारणो से उन्हें कृषि मजदूर बनने के अति-रिक्त और कोई चारा नही था।[1]

(२) कृषि पर जन-भार में वृद्धि—खेतिहर श्रमिको की संख्या मे वृद्धि होने का एक कारण यह भी हुआ है कि वैकल्पिक रोजगार की अनुपस्थिति मे जैसे-जैसे कुटीर उद्योगों का पराभाव हुआ, कृषि पर जन-भार बढता गया। रजनी दत्त के मत मे जहाँ १८६१ मे इनका कुल जनसंख्या मे अनुपात ५५% था, १९२१ तक बढकर ७३% हो गया। दूसरी ओर भूमि व्यवस्था दोषपूर्ण होने

1 Dr. Buchanan : The Development of Capitalist Enterprise in India (1934)

के कारण भूमि का स्वामित्व कुछ ही हाथों में केन्द्रित रहा और इससे भूमिहीन कृषकों की समस्या विकट होती गई।

(३) ऋण-ग्रस्तता—ऋण-ग्रस्तता के कारण छोटे कृषकों की जमीन पर शनैः-शनैः साहूकार का नियन्त्रण होता गया और उनको मजदूरी पर सन्तोष करना पड़ा। प्रो० शेल्वकर ने कृषकों के लिए इसे सबसे बड़े अभिशाप के रूप में माना है। उनके मत में ऋण-ग्रस्तता के कारण भूमि का स्वामित्व एक ओर जमींदारों व साहूकारों के पास केन्द्रित होता गया, जबकि दूसरी ओर छोटे कृषकों के जीने का सहारा छिनता चला गया।

(४) दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था—अंग्रेजों द्वारा लागू की गई भूमि-व्यवस्था भी किसी सीमा तक भूमिहीन कृषकों की संख्या में वृद्धि करने के लिए उत्तरदायी है। नई भूमि-व्यवस्था ने जहाँ एक ओर भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व को मान्यता प्रदान की, वहीं उन करोड़ों व्यक्तियों के भाग्य को कुछ व्यक्तियों के हाथों में छोड़ दिया।

ये कुछ व्यक्ति जमींदार, जागीरदार या इस्मितदार आदि थे जो कृषकों पर मन-माना अत्याचार करते थे और इच्छानुसार किसी भी बहाने से उन्हें बेदखल कर सकते थे। इन्हें लगान में वृद्धि करने का अधिकार था। भूमि सुधारों के बावजूद छोटे काश्तकारियों की बेदखली को नहीं रोका जा सका है और इससे भी कृषि श्रमिकों की संख्या बढ़ी।

(५) अनार्थिक जोत—यह हम पिछले एक अध्याय में बता चुके हैं कि भारत में औसत प्रति व्यक्ति कृषि-क्षेत्र बहुत कम है। यह भी बताया जा चुका है कि कृषकों में से लगभग $\frac{1}{3}$ के पास एक एकड़ से भी कम भूमि है। २०% भूमिहीन कृषकों के अतिरिक्त २०% ऐसे कृषक परिवार हैं, जिनके पास २$\frac{1}{2}$ एकड़ से भी कम जोत है। इनमें आधे से ज्यादा कृषकों के पास इतनी छोटी जोतें हैं कि उनका जीवन-निर्वाह भी असम्भव हो जाता है और वे मजदूरी करने को विवश हो जाते हैं। ऋण-ग्रस्तता और जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ इन छोटी जोतों का अनुपात बढ़ता जा रहा है।

(६) कृषि में प्रतिफल की अनिश्चितता—मानसून तथा तदनुसार फसल की अनिश्चितता के कारण भी बहुत से विशेषकर छोटे किसान अन्य कृषकों के खेतों पर मजदूरी पर कार्य करने के लिए विवश हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

(७) ग्रामोद्योगों का विकसित न होना—गाँवों में वैकल्पिक रोजगार न होने के कारण भी कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई है।

भारत में कृषि श्रमिकों की कठिनाइयाँ एवं समस्यायें

भारत के कृषि श्रमिकों की स्थिति बड़ी ही दयनीय है। अंग्रेजी शासन-काल में उनकी कठिनाइयों एवं समस्याओं को हल करने के लिए किसी भी प्रकार के कोई भी प्रयत्न नहीं किये गये थे जिसके कारण उनकी कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ और भी गम्भीर हो गईं। कृषि श्रमिकों की प्रमुख कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ निम्नलिखित हैं:—(१) मजदूरी की समस्या—कृषि श्रमिकों को जो मजदूरी दी जाती है वह इतनी कम है कि उससे कभी-कभी तो पेट की भूख रूपी ज्वाला तक शान्त करना दुर्लभ हो जाता है। कृषि जाँच समिति द्वारा एकत्रित आँकड़ों के अनुसार सन् १९५० में बिहार के मर्द कृषि मजदूरों की दैनिक मजदूरी १ रु० १९ पैसे से लेकर १ रु० ३१ पैसे तक थी तथा स्त्री कृषि श्रमिकों की दैनिक मजदूरी ६९ पैसे से लेकर १ रु० तक थी। क्या इतनी अल्प राशि से एक परिवार अपना जीवन यापन कर सकता है? (२) बेगार—बलात श्रम अथवा अनैच्छिक श्रम की प्रथा देश के सभी भागों में प्रचलित है। इसके कारण श्रमिक की आय और भी कम हो जाती है। कृषि जाँच समिति (१९५०-५१) ने इसका भी उल्लेख किया है। समिति ने इसे आवश्यक श्रम (Involuntary Labour) के नाम से पुकारा है। यह बेगार की प्रथा समिति के मत में देश के सभी भागों में किसी-न किसी रूप में विद्यमान रही है। बेगार का मुख्य कारण ऋणी की ऋण चुकाने में असमर्थता बताई जाती है। श्री दिनकर देसाई ने ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है, जिनमें

बेगार पर आने से मना करने पर श्रमिको को बाँध दिया जाता था और उनकी जमींदार या साहूकार के कारिदो द्वारा पिटाई की जाती थी।[1] राजपूताना मे इस प्रकार की बेगार व अमानुषिक अत्याचारो की घटनाएँ एक आम बात थी। (३) **रोजगार की समस्या**—भारतीय कृषि मौसमी धन्धा है। फसल की कटाई के दिनो मे ही श्रमिको की आवश्यकता पडती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि कृषि श्रमिक वर्ष में ४-५ महीनो तक बेकार रहते हैं। किसी-किसी भाग में तो ६ महीने तक भी बेकार रह जाते है। **प्रथम कृषि आयोग** (१९५०-५१) की जांच के अनुसार पुरुष-श्रमिको को वर्ष मे २०० दिन मजदूरी पर कार्य मिलता था तथा ७५ दिन वे स्वयं अपना कार्य करते थे। **द्वितीय कृषि आयोग** (१९५६-५७) की जाँच के अनुसार पुरुष-श्रमिको को वर्ष मे १९७ दिन मजदूरी पर कार्य मिलता था तथा ४० दिन वे स्वय अपना कार्य करते थे। उन्हे १२८ दिन कोई कार्य नही था। **आयोग** के अनुसार प्रायः १६% व्यक्तियों को साल भर तक कोई कार्य नही मिलता (४) **कार्य के अनियमित घण्टे**—समूचे भारत मे स्थान, ऋतु तथा फसलो की विभिन्नता के कारण कृषि श्रमिकों के कार्य के घण्टे समान न होकर अलग-अलग एवं अनियमित है। उत्तर-प्रदेश मे कार्य के घण्टे प्रायः ४ बजे से लेकर ११ बजे तक है और सध्या को उन्हे पशुओं की सेवा करनी पड़ती है। बंगाल मे कृषि श्रमिको को प्रातः ६ बजे से लेकर दोपहर १·३० बजे तक और फिर ३ ३० से लेकर सन्ध्या के ६ बजे तक कार्य करना पडता है। (५) **कृषि दासता**—भारत के विभिन्न भागो मे कृषि श्रमिको की स्थिति दास-तुल्य है। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र, गुजरात, मद्रास, केरल, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश व बगाल के इलाको मे जमींदारो तथा जागीरदारो के पास ऐसे सेवको का अभाव नही था, जो स्थायी रूप से दासो के रूप मे 'हवाले' पर या स्वामी के खेतो मे काम करते थे। **प्रो० गाडगिल** ने आसाम के चाय के बगीचो मे काम करने वाले मजदूरों का भी उद्धरण दिया है जिनकी स्थिति गुलामो से बेहतर नही थी।[2] श्री दिनकर देसाई ने एक लेख मे बताया कि इन दासों को नकद रूप मे पुरस्कार नही दिया जाता, अपितु थोडा-सा भोजन (जो सामान्यतया उनके लिए अपर्याप्त रहता है) एवं पुराने कपड़ो पर ही इन्हे सन्तोष करना पडता है। श्री देसाई के मत मे ये खेतिहर दास गुजरात मे हाली, बिहार मे कम्यूती और जनौरी, उडीसा मे गोठी, हैदराबाद मे भगेला, अवध मे संवक, मध्य प्रान्तो मे हरवाह और मध्य प्रदेश के कुछ इलाकों मे बडसालिया के नामों से पुकारे जाते रहे हैं।[3] (६) **आवास की समस्या**—कृषि श्रमिक प्राय भू-स्वामियो अथवा ग्राम्य-सस्थाओ की स्वामित्व की भूमि पर उनसे अनुमति लेकर झोपड़ो बनाकर रहते है। **डा० राधा कमल मुकर्जी** के अनुसार—"ये झोपडियाँ केवल ऐसे स्थान है जहाँ पर श्रमिक केवल अपने पैर फैलाकर सो सकता है। और अनेक ऐसे उदाहरण है जहाँ कि एक ही झोपडी मे अनेक व्यक्तियो के सोने से पर्दा न होने के कारण मर्यादा समाप्त हो जाती है। शरद्काल मे तो एक ही कमरे मे स्त्री, पुरुष, बूढे-बच्चे और कभी-कभी पशु भी एक साथ ठुँसे रहते है। इन मकानो मे शुद्ध वायु एव प्रकाश के लिए खिडकियो का तो पता तक नही होता। दीवारें तथा आँगन सील के कारण गीले रहते है जिससे व्यक्ति बुखार से पीडित रहते हैं, बच्चों का स्वास्थ्य तो इतना खराब रहता है कि वे सदैव मृत्यु का मुँह ताकते रहते है। (७) **संगठन का अभाव**—भारतीय कृषि श्रमिक अशिक्षित, अज्ञानी एव अनभिज्ञ है। उनमे सगठन का पूर्णतया अभाव है। इसका कारण उनका दूर-दूर तक गाँवो मे बिखरा होना है। (८) **कृषि श्रमिकों के प्रति सरकार व समाज की उदासीनता**—यह बडे दु ख का विषय है कि हमारे देश मे शुरू से ही कृषि श्रमिको के प्रति सरकार व समाज की उदासीनता है। उन्हे समाज बहुत ही हीन नजर से देखता है। ऐसा समझा जाता है कि ईश्वर ने उन्हे केवल तथाकथित निम्न श्रेणी के कार्यो के करने के लिए ही जन्म दिया है। (९) **निर्धनता एव निम्न श्रेणी का जीवन-स्तर**—कृषि श्रम जाँच आयोग के अनुसार सन् १९५०-५१ मे एक कृषि-श्रमिक परिवार की औसत वार्षिक आय ४४७ रु० थी जो सन् १९५६-५७ मे घटकर ४३७ रु० रह गई। इन आँकडो से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय कृषि श्रमिक बहुत निर्धन हैं जिसके परिणामस्वरूप वह निम्नतम श्रेणी का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हुआ है (१०) **अन्य समस्यायें**—उपरोक्त के अतिरिक्त भारतीय कृषि-श्रमिक

1. Dinker Desai Ibid
2. Profs Gadgil : Industrial Evolution in India
3. Article : Agrarian Serfdom in Indian Sociologist July, 1962

निम्न समस्याओ का भी सामना कर रहा है —(अ) ऋण ग्रस्तता, (ब) अकृषि कार्यों का अभाव, (स) मजदूरी चुकाने की दोषपूर्ण पद्धति आदि ।

क्या कृषि श्रमिको मे अर्ध बेकारी है ?

प्रो० एनार नर्क्स ने १९५३ मे अल्पविकसित देशो मे व्याप्त (कृषि क्षेत्र मे) छुपी हुई बेकारी या अर्ध-बेकारी (Disguised unemployment) के विषय मे बताया था । उन्होने कहा कि एशिया के देशों मे, विशेषरूप से भारत व चीन मे भूमि पर अत्यधिक भार होने के कारण कृषकों को, विशेष रूप से उन कृषको को जिनके पास बहुत कम भूमि है, पूरे समय काम नही मिलता और ऐसी स्थिति मे उनमे से कुछ को सुविधापूर्वक गैर कृषि कार्यों मे प्रयुक्त किया जा सकता है । रोजटीन रोदा ने इस विषय पर व्यापक रूप से अध्ययन करके कहा कि अल्पविकसित और घने आबाद देशो मे जहाँ अधिकाश व्यक्ति प्रधानत: कृषि पर निभर हैं, कुछ लोगो की सीमान्त उत्पादकता शून्य है ।

हार्वे लेबन्स्टीन ने अपने एक खोजपूर्ण लेख मे बताया कि सामान्यतया पिछडे देशो मे मजदूरो की दरे बहुत नीची होने के कारण श्रमिको का अभाव अनुभव किया जाता है क्योंकि जीवनस्तर नीचा होने के कारण उनकी कार्यक्षमता भी निम्नस्तरीय ही होती है । परन्तु जैसे ही मजदूरी मे वृद्धि होने पर कार्यक्षमता बढ़ेगी, श्रमिको का एक समुदाय बेकार हो जाएगा क्योकि अब थोडे श्रमिक अपेक्षाकृत अधिक काय कर सकते है । लेकिन बहुधा भूमि पति ऊँची मजदूरी देकर थोडे श्रमिको को प्रयुक्त करने की अपेक्षा बहुत कम मजदूरी देकर अधिक श्रमिको को काम पर रखते है । वैसे भी, जब कार्यनिपुण मजदूरो की माग सीमित होती है तो अकुशल श्रमिक अनावश्यक स्पर्धा द्वारा उनकी मजदूरी को भी कम कर देते है । प्रो० एन० ए० मजूमदार ने एक लेख[1] मे इस तथ्य की पुष्टि की कि बम्बई के कर्नाटक क्षेत्र मे ७१% काश्तकारो के पास पूरा काम नहीं है और इनमे ५२% तो सामान्य से आधा काम भी नही कर पाते । दूसरे शब्दो मे, २६% कृषक जनता अतिरेक (surplus) है जिसकी सीमान्त उत्पादकता शून्य है ।

परन्तु दूसरी ओर हैरी ओशिमा[2], प्रो० थियोडोर शुल्ज और अनेक दूसरे अर्थशास्त्री श्रम के आधिक्य को स्वीकार नही करते । उनका कहना है कि यदि कृषि कार्यों के न रहने पर श्रमिको की मांग नही है तो क्या हुआ, बुआई, जुताई, कटाई आदि कार्यो के समय इनकी मांग इतनी ज्यादा होती है कि भू स्वामी (कृषक) दैनिक मजदूरी पर काय करने हेतु मजदूरो से अनुनय करते फिरते है ।[3] व्यस्त दिनो मे औसतन एक श्रमिक १२ से १४ घण्टे काम करता है और इस प्रकार सुस्ती के समय व्यर्थ जाने वाले श्रम के एक भाग की क्षतिपूर्ति हो जाती है ।

पर यह तर्क ठीक नही है । कृषि श्रमिकों मे बेकारी है और इस कारण उनकी आय बहुत कम है, इस तथ्य की पुष्टि प्रथम कृषि श्रम जाँच से भी हुई थी । इस जाच के अनुसार व्यस्त दिनो मे भी १९५०-५१ मे १३% श्रमिको को कोई काम नही मिला था । स्वय शुल्ज भी यह मानते है कि बुआई और कटाई के बीच के समय अधिकाश कृषक और कृषि मजदूरो को कोई काम नही रहता । हम भारत मे कृषि श्रमिको मे व्याप्त अध बेकारी के सम्बन्ध मे निम्न तर्क प्रस्तुत करना चाहेगे

(१) भूमिहीन तथा बहुत थोडी जोत वाले कृषक—१९६१ की जनगणना के अनुसार भी भारत मे २०% कृषको के पास कोई जमीन नही थी जबकि अन्य २०% से अधिक कृषको के पास २ एकड से कम भूमि थी । यदि पूण रूप से अथवा आशिक रूप से काम चाहने वाले व्यक्तियो की सख्या ३ करोड १५ लाख भी मान ली जाय तो क्या इन सबको पूरा काम खेतो मे मिल सकता है ? हमारे देश मे कृषि मे सक्रिय लोगो की सख्या १३ करोड है जबकि जोती जाने वाली

1 Some Aspects of underemployment Indian Eco-Journal, July, 1957 pp 13 15.
2 H T Oshima Article in The Journal of Political Economy June, 1958
3. T D Schults Transforming Traditional Agriculture p. 58

भूमि ३४ करोड एकड़ ही है। स्पष्ट है कृपको में से बहुत से व्यस्त तो दिखाई देते हैं पर जिनकी वास्तव मे आवश्यकता नही है।

(२) **भारतीय कृषि की प्रकृति**—हमारे देश मे कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जो कृपक को पूरे वर्ष का काम नही देता। अधिकाशत कृपक इसी व्यवसाय पर आश्रित है। फिर इसमे भी अधिकाशत एक ही फसल उगाई जाने के फलस्वरूप भू-स्वामी काश्तकार को वर्ष मे पूरे समय काम नहीं मिल पाता। जिनके पास जमीन नही है उनका रोजगार तो और अधिक अनिश्चित हो जाता है।

(३) ***मजदूरी की निम्न दरें***—*श्रम के इष्टतम रोजगार की आधारभूत शर्त यह है कि* श्रमिक को जीवन निर्वाह के योग्य मजदूरी मिले। परन्तु भारत मे १९५६-५७ तक भी श्रमिक की मजदूरी (वार्षिक) केवल ४३७ रुपए थी। दूसरी ओर इनका वार्षिक व्यय ६१७ रुपए प्रतिवर्ष था। इसका आशय यह हुआ कि औसत कृषि श्रमिक ऋण ग्रस्त हैं। यदि श्रमिको की संख्या आवश्यकता से अधिक न होती तो उन्हें काम के लिए स्पर्धा करने एवं निम्न मजदूरी स्वीकार करने की जरूरत भी नही पडती। पर १९५६-५७ की जाँच के अनुसार कृषि श्रमिक को गुजारे लायक भी मजदूरी नही मिलती। यद्यपि १९४८ का न्यूनतम पारितोपिक अधिनियम कृषि श्रमिको पर भी लागू किया गया है, पर इसमे भी इनकी मजदूरी बहुत कम रखी गई है।

कृषि-मजदूरों के सम्बन्ध में राज्य की नीति[1]

वैसे तो कृपको के हितो की रक्षा हेतु ब्रिटिश सरकार ने भी यदाकदा उपाय किए थे, परन्तु विशिष्ट रूप से खेतिहर मजदूरो की स्थिति मे सुधार के लिए कोई कदम नही उठाया गया। स्वतंत्रता के पश्चात् इस दिशा मे सरकार ने निम्न प्रयत्न किए हैं

(१) **न्यूनतम मजदूरी अधिनियम का लागू होना**—१९४८ में न्यूनतम पारिश्रमिक अधि-नियम कृषि-श्रमिको पर भी लागू किया गया। लगभग सभी राज्यों मे अब तक यह कानून लागू किया जा चुका है। परन्तु विभिन्न राज्यो मे न्यूनतम मजदूरी की दरो मे बहुत अंतर है। उदाहरण के लिए गुजरात, तमिलनाडु व अजमेर में मजदूरी की न्यूनतम दैनिक राशि ७५ पैसे प्रतिदिन है जबकि पंजाब मे न्यूनतम राशि २ रुपए है। केरल मे इसके विपरीत न्यूनतम मजदूरी ४·५० रुपए प्रतिदिन है। बिहार मे न्यूनतम मजदूरी जिंस (अनाज) के रूप मे तय की गई है।

राजस्थान मे अजमेर को छोडकर शेप जिलो मे न्यूनतम मजदूरी ५२ ५ रुपए से लेकर ७५ रुपए मासिक है।

(२) **भूमि हीन कृपकों को भूमि प्रदान करना**—भूमि सुधारों तथा कृषि क्षेत्र के सीमा निर्धारण के फलस्वरूप जो भूमि प्राप्त हुई है उसके आवटन मे भूमि हीन कृपको को प्राथमिकता दी गई है। नई भूमि के वितरण मे भूमि हीन कृपको या कृषि श्रमिकों की सामूहिक संस्थाओ को *प्राथमिकता दी जाती है।* १९५१-१९६६ तक १ करोड भूमिहीन कृपको को खेती के लिए जमीन दी गई।

(३) ***पंचवर्षीय योजनाओ में आयोजन***—पंचवर्षीय योजनाओ के अंतर्गत कृषि श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए केन्द्रीय व राज्य सरकारो ने निम्न कार्य किए हैं :

(अ) मकानो का प्रबन्ध, (आ) वित्तीय व्यवस्था, तथा (इ) व्यावसायिक एव प्राद्योगिक प्रशिक्षण।

परन्तु प्रथम तथा द्वितीय योजनाओ की अवधि मे कृषि श्रमिको के लिए किए गए प्रयास अत्यंत अपर्याप्त थे। तृतीय योजना की अवधि में कृषि श्रमिको के पुनर्वास हेतु कुल मिला कर ११ करोड़ रुपए व्यय किए गए। इस अवधि मे (१९६१-६६) मे इस वर्ग के लिए कुछ नए

---

1 See H. B. Shivamaggi : op. cit pp. A-41-47

कायक्रम प्रारम्भ किए गए जिन्हे **ग्रामोण वर्क्स कायक्रम** (Rural works Programme) कहा जाता है।

इन कायक्रमो के अतगत तृतीय योजना काल मे वृहत स्तर पर ऐसी परियोजनाएँ प्रारम्भ की जाती थी जिनके माध्यम से २५ लाख व्यक्तियो को वर्ष मे कम से कम १०० दिन का काम मिल सके। इन कायक्रमो पर १५० करोड रुपए व्यय किए जाने का अनुमान था परन्तु पाच वर्षो मे केवल १९ करोड रुपए ही जुटाए जा सके। १९६५ ६६ मे अनुमानत ८ करोड रुपए इन कायक्रमो पर व्यय किए गए तथा ४ लाख व्यक्तियो को १०० दिन तक काम दिया गया। परन्तु यह अब तक ज्ञात नही हो सका है कि इन कायक्रमो के अतगत तृतीय योजना काल मे कितने उत्पादक पावनो (Productive Assets) का सजन हुआ।

(४) भूदान आन्दोलन—आचाय विनोबा भावे ने १९५१ मे भूदान आदोलन का श्रीगणश इस उद्देश्य से किया कि जिनके पास काफी अधिक कृषि-क्षेत्र हो वे स्वेच्छा से उसे दान करें। इस प्रकार भूदान से प्राप्त भूमि का वितरण भूमिहीन कृषको यानी कृषि श्रमिको मे किए जाने का लक्ष्य है। आचाय भावे को आशा थी कि १९५७ तक उन्हें भूदान मे ५ करोड एकड भूमि प्राप्त हो जाएगी और इसमे ५ करोड कृषक (१ करोड परिवार) जीविका यापन कर सकेंगे।

(५) कृषक दासता का उन्मूलन—भारतीय सविधान मे किसी भी प्रकार की दासता को एक अपराध माना गया है। अतएव हमारी राष्ट्रीय सरकार दासता का उन्मूलन करने के लिए वचनबद्ध है। इसके लिए भारत सरकार ने विभिन्न कदम भी उठाये है।

(६) सहकारिता आन्दोलन पर बल—भारत मे श्रम अथवा सेवा सहकारिताओ की स्थापना पर बल दिया जा रहा है। सरकारी समितिया जिनके कृषि श्रमिक भी सदस्य हो सकते हैं ठके पर विभिन्न सरकारी व गर सरकारी काय लेती है। सहकारिता के विकास से भी कृषक श्रमिको को राहत मिली है।

सहकारी नीति का आलोचनात्मक अध्ययन

कृषि श्रमिको की दशा सुधारने के लिए सरकार ने जो कदम उठाय है यदि उनका भली प्रकार अध्ययन किया जाय तो हम उस निष्कष पर पहुचगे कि कुल मिलाकर कृषि श्रमिको की स्थिति मे अपेक्षित सुधार नही हुआ है। यह भी एक आश्चय ही है कि प्रथम व द्वितीय योजनाओं के बीच दो श्रम जाच हुइ परतु उनके बाद से सरकार का ध्यान इस ओर अब तक नही गया।

राज्य सरकारो ने न्यूनतम मजदूरी के जो कानून बनाए हैं वे भी उपहासपूण ही है और उनका मुद्रा समीति वाली अथव्यवस्था मे कोई व्यावहारिक महत्व नही है। श्री शिवमग्गो ने अपने पूव उद्धत लेख मे फरवरी १९६८ मे विद्यमान दैनिक मजदूरी का केरल महाराष्ट्र मसूर त्रिपुरा व हिमाचल प्रदेश के सदभ मे विश्लेषण प्रस्तुत किया है। केरल मे वैधानिक न्यूनतम दनिक मजदूरी ४ ५० रुपए तथा परम्परागत जिंस भुगतान (तम्बाकू धान आदि) है जबकि वास्तविक मजदूरी का औसत २ ७५ रुपए पाया गया। अय राज्यो मे मजदूरी की वधानिक न्यूनतम सीमाए इतनी कम है कि उन पर कृषि श्रमिक उपलब्ध ही नही होते और फलस्वरूप व्यावहारिक मजदूरी अधिक है। इस प्रकार कृषि श्रमिको के सदभ मे न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण तथ्यों के आधार पर नही वरन कल्पना के आधार पर किया गया है। आश्चय तो यह है कि अनाज के बढते हुए मूल्यों के कारण अब कृषि-श्रमिक जिंस (अनाज) के रूप मे मजदूरी की माग करने लगे हैं।

ग्रामीण वक्स कायक्रम वित्त के अभाव मे तो असफल हुए ही हैं उनमे प्रदान किया गया रोजगार भी स्थायी नही है। इन कायक्रमो को जिस भी रूप मे चलाया गया है उनसे कृषि मे व्याप्त बेकारी या अर्धबेकारी की समस्या नही सुलझ सकती।

ग्रामीण उद्योगो की स्थापना द्वारा पूण रोजगार की दिशा म जाने का हमारा सकल्प अधूरा पडा है। प्रश्न तो यह भी है कि किस प्रकार के ग्रामीण उद्योगो का भारत मे विकास किया जाय ? फिर उनकी पूँजी सम्बधी समस्याएँ भी विकट हैं।

कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव—कृषि श्रमिको की समस्या देश की कृषक जनता के एक बहुत बड़े वर्ग की समस्या है, और इसलिए यह आवश्यक है कि इस वर्ग की स्थिति को सुधारने हेतु तुरन्त ऐसे कदम उठाए जाएँ जो प्रभावपूर्ण हो। इस दिशा मे निम्न सुझाव दिए जा सकते है।

(१) **सही परिभाषा**—कृषि श्रमिक की सही परिभाषा दी जाए, तथा विभिन्न क्षेत्रीय सर्वेक्षणो द्वारा १९५६-५७ के पश्चात् इनकी स्थिति मे हुए परिवर्तनो की समीक्षा की जाय। (२) **कृषि पर आश्रित उद्योगों का विकास**—कृषि पर आश्रित उद्योगो का विकास गाँवो मे किया जाय जिसके फलस्वरूप भूमि पर विद्यमान अनावश्यक भार को कम किया जा सके। (३) **शिक्षा का प्रसार**—शिक्षा का व्यापक प्रसार हो ताकि भूमिहीन कृषि श्रमिको या अत्यत छोटे कृषको की गतिशीलता बढ़े, तथा उनमे अधिक लाभ हेतु गाँव छोडकर जाने की मनोवृत्ति का विकास हो। (४) **श्रम-गहन उद्योगों का विकास रोजगार के अवसरों का विकास**—जिन राज्यो या क्षेत्रो मे अधिक बेकारी या अर्द्ध-बेकारी है वहां के कार्यक्रमो को प्राथमिकता दी जाय। यही नही, ऐसे श्रम-गहन (Labour Intensive) उद्योगो का विकास किया जाय जो कृषि मे विकास के अतिरिक्त रोजगार के नए स्रोत प्रारम्भ करें, जैसे लघु सिचाई भूमि संरक्षण, ग्रामीण सडको का विकास आदि। (५) **विभिन्न कार्यों को बढ़ावा**—मुर्गीपालन, दुग्ध उत्पादन व इसी प्रकार के अन्य कार्यों को बढ़ावा देकर कृषको, विशेष रूप से कृषि श्रमिकों को सहायक आय उपलब्ध करवाई जाय। (६) **आवास की समस्या का समाधान**—कृषि श्रमिको विशेषतः भूमिहीन कृषि श्रमिको की आवास की समस्या को सुलझाने के लिए ठोस कदम उठाये जाने चाहिए। सहकारी समितियो के माध्यम से उन्हे मकान बनाने के लिए न्यूनतम ब्याज पर सुलभ ऋण देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। (७) **कुटीर उद्योग-धन्धों का विकास**—भारतीय कृषि श्रमिक एक वर्ष मे लगभग ४-५ महीने बेकार रहते है। इस अवधि मे उन्हे रोजगार देने के लिए कुटीर उद्योग-धन्धो का विकास किया जाना चाहिए। (८) **ऋणों के बोझ को कम करना**—भारतीय कृषि श्रमिक बुरी तरह से ऋण के बोझ से दबे हुए है। अतएव उनकी आर्थिक दशा सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि विधान द्वारा पुराने ऋणो को समाप्त किया जाय तथा भविष्य मे उचित दर सहकारी समितियो द्वारा उत्पादित कार्यों के लिए ऋण प्रदान किये जायें। (९) **कार्य के घण्टों का नियमन**—कारखाने के श्रमिको की भाँति कृषि श्रमिको के भी कार्य के घण्टो का नियमन किया जाना चाहिए। अतिरिक्त समय कार्य करने के लिए अतिरिक्त मजदूरी की व्यवस्था की जानी चाहिए। श्रमिक से बेगार लेने पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। (१०) **ग्रामीण रोजगार केन्द्रों की स्थापना**—नगरो की भाँति ग्रामों में भी रोजगार केन्द्रो की स्थापना की जानी चाहिए। इससे श्रमिको को रोजगार मिलने मे सुविधा रहेगी। अन्य सुझाव (i) कार्य की दशाओ मे सुधार, (ii) सगठन पर बल, तथा (iii) भूमिहीन श्रमिको के लिए भूमि की व्यवस्था की जानी चाहिए।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि श्रमिक

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग १५ लाख व्यक्तियों को खेती के मौसम के बाद रोजगार देने की व्यवस्था है। इससे कृषि श्रमिकों को काफी राहत मिलने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त कृषि श्रमिको की आवास की समस्या को हल करने के लिए ५·५४ करोड रुपये की व्यवस्था की गई है। न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को भी अधिक प्रभावशील ढंग से लागू किया जायगा। यही नही, ग्रामीण क्षेत्रो मे ऋणग्रस्तता को दूर करने के लिए सहकारी संगठन के माध्यम से सुलभ ऋण प्रदान करने की भी व्यवस्था की गई है।

१८

भारत में अकाल
(Famines in India)

प्रारम्भिक अकाल से आशय

अकाल का दूसरा नाम है अभाव । जब फसलें न हों या नष्ट हो जायें और किसी क्षेत्र की अधिकांश जनता के पास अनाज की व्यवस्था न हो तो हम उस स्थिति को अकाल की संज्ञा देते हैं । हम जानते हैं कि भारतीय कृषि मानसून का जुआ है और बहुधा यहाँ फसलें नष्ट होती रहती हैं । पर अकाल का कारण केवल प्राकृतिक प्रकोप ही नहीं है । अकाल का प्रारम्भ अन्य किन्हीं कारणों से भी होता है ।

अकाल की परिभाषा

अकाल की परिभाषा एनसाइक्लोपेडिया ऑफ सोशल साइंसेज में इस प्रकार दी गई है : अकाल भूख की वह अन्तिम स्थिति है जिसमें किसी क्षेत्र की जनसंख्या साधारण खाद्य की पूर्ति को प्राप्त करने में असमर्थ हो जाती है ।[1] अकाल आयोग तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं ने १९वीं शताब्दी में अकाल का आशय ऐसी ही स्थिति से लिया था जबकि किसी क्षेत्र की अधिकांश या बहुत बड़ी जनसंख्या भोजन प्राप्त करने में असमर्थ होती है । वैसे विश्व के अल्प-विकसित या अत्यन्त निर्धन देशों में करोड़ों व्यक्ति भुखमरी व अभाव के शिकार होते हैं लेकिन अकाल इस प्रकार के अभाव व भुखमरी की अन्तिम स्थिति होती है, जबकि असामान्य रूप से लोग अभाव तथा भुखमरी के कारण मरने लगते हैं ।

लेकिन आधुनिक युग में अकाल की परिभाषा ही बदल गई है । डा० मामोरिया के कथनानुसार वस्तुओं की मँहगाई तथा सामान्य बेरोजगारी ही अकाल के लक्षण हैं । उसके कथनानुसार भारत जैसे देश में आज धन का अकाल (अभाव) है, न कि अनाज का ।[2] डा० भाटिया ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है । उनके मत में औद्योगिक व यातायात के साधनों के विकास ने अकाल के अर्थ एवं प्रकृति में आधारभूत परिवर्तन ला दिया है । आज भोजन यदि देश में उपलब्ध नहीं है तो विदेशों से मँगाया जा सकता है । बाजार में भोजन उपलब्ध होता तो है, परन्तु इसका मूल्य इतना अधिक है कि निर्धन व्यक्ति इसे प्राप्त नहीं कर सकते ।

डा० भाटिया के मत में सत्रहवीं व अठारहवीं शताब्दी तक जितने भी अकाल पड़ते थे वे उस क्षेत्र विशेष को ही प्रभावित करते थे लेकिन यातायात के साधनों का विकास होने के साथ-

1. Southard : Encyclopaedia of Social Sciences, Vol VI, p 85
2. C B. Mamoria : Agricultural Problems of India (1960) p 113

साथ धीरे-धीरे अकाल एक प्राकृतिक प्रकोप के प्रतिफल की अपेक्षा एक निर्धनता एवं अभाव ग्रस्तता की सामाजिक समस्या के रूप मे परिणत होता गया।[1]

अकाल के कारण

अकाल के कारणो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है .

१. प्राकृतिक कारण २ आर्थिक व राजनैतिक कारण।

१ प्राकृतिक कारण—प्राकृतिक कारणों में उन कारणों को सम्मिलित किया जाता है जिनके कारण खाद्यान्न की पूर्ति माँग की तुलना में असामान्य रूप से कम हो जाती है। इनमें वर्षा की अनिश्चितता, आकस्मिक रूप से टिड्डियों या कीटाणुओं के आक्रमण, नदियों में बाढ़, वनो का विनाश आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

भारत में अकाल अधिक होने के प्रत्यक्ष कारणों में मानसून की अनिश्चितता ही सर्वाधिक विचारणीय है। प्रथम अकाल आयोग (१८८०) ने भारत मे अकालो के लिए प्रमुख रूप से बिना मौसम की वर्षा अथवा सूखे को उत्तरदायी माना है। भारतीय कृषि के लिए सत्य ही कहा जाता है कि यह मानसून का एक जुआ है। श्रीमती वीरा एन्स्टे के कथनानुसार भारतीय कृषक जनता आज भी अनेक बार वेकारी या अकाल की शिकार हो जाती है। उनके मत में वैसे ही वर्ष में सभी समय कृषि पर निर्भर लोगो को काम नही रहता लेकिन सूखे या अनावश्यक वर्षा से फसल खराब हो जाने पर उनका रहा-सहा आश्रय भी छूट जाता है।[2]

भारत मे गर्मी व सर्दी दोनो की मानसूनी हवाएं अनिश्चित रूप से चलती है। सामान्य स्थिति में भी पश्चिमी घाट, बंगाल, आसाम व बिहार के कुछ इलाको मे बहुत अधिक वर्षा होती है, जबकि राजस्थान, पंजाब, गुजरात के कुछ इलाको में इसका औसत बहुत कम है। इन क्षेत्रो में, जहाँ ३० इंच वार्षिक से वर्षा कम होती है वहाँ सूखे की आशंका अधिक बनी रहती है। जिन क्षेत्रों मे ३० इंच से ६० इंच तक होती है वहां वर्षा साधारणतया अनिश्चित नही होती पर जब वर्षा नही होती तो स्थिति अत्यन्त विकट हो जाती है क्योंकि इन क्षेत्रो की जनसख्या घनी है, कृषि-जोत बहुत छोटी है और कृषि जनता मे निम्न वर्ग बहुत निधन है।[3] भारत के अकालों का इतिहास इन्हीं दोनों प्रकार के क्षेत्रो से सम्बद्ध रहा है। बिहार, उडीसा, पश्चिमी बंगाल उत्तरी-पश्चिमी प्रात, अवध, राजपूताना, बरार, उत्तर सरकार (मद्रास), खानदेश (महाराष्ट्र-बम्बई), हैदराबाद, मैसूर व कर्नाटक भारत के १९वी सदी के अकालो के इतिहास मे अग्रणी रहे है।

डा० भाटिया ने वर्षा के सूचनाक देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार १८६१ व १९०९ के बीच देश के विभिन्न क्षेत्रों में वर्षा के औसत मे परिवर्तन हुए थे। उनके उस विवरण का स्वरूप नीचे प्रस्तुत है।[4]

(औसत १८६१ से १८९५=१००)

प्रान्त का नाम	१८६२	१८७६	१८९३	१८९९	१९०५
१. पंजाब	१३८	१००	१३६	४०	७१
२. उत्तर प्रदेश	१००	७९	११९	८९	६९
३. मद्रास व मैसूर	११४	७२	१०१	७९	९२
४. बगाल	९४	१०३	१२९	११८	११९
५. आसाम व पूर्वी बगाल	१००	९७	१०३	१०८	११०
६. मध्य प्रात व बरार	९१	८०	११६	४६	८३
७. बम्बई	१०३	७७	१०२	५२	६३
८. राजपूताना व मध्य प्रदेश	१३९	१०५	१२२	३४	५४
९. हैदराबाद	९५	५४	१७०	५२	८६
१०. बर्मा	१२२	८७	९९	८५	९२
औसत	११०	८५	१२०	८६	८४

1. Dr. B. M. Bhatia : Famines in India (1963) pp. 1-2
2. Vera Anstey: Economic Development of India (1957), pp. 157-8
3. B M. Bhatia, ibid, p. 5
4. Ibid, pp. 344-7

पिछले पृष्ठ की तालिका वर्षा के उतार-चढाव को स्पष्ट करती है। यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि १८७७, १८९९ व १९०६ अकालो के इतिहास मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वर्ष रहे है, जबकि देश के विभिन्न भागो मे एक साथ भयकर अकाल पडे और करोडो व्यक्ति प्रभावित हुए। वर्षा की अनिश्चितता के कारण सूखा या ओला वृष्टि आदि घटित होते हैं और इससे अकाल की वस्तुत स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[1]

अकालो की स्थिति सूखे या अतिवृष्टि के कारण तो होती ही है, टिड्डियो या कीडो के आक्रमण से भी उत्पन्न हो सकती है लेकिन यातायात के साधनो का अभाव भी अकाल का एक प्रमुख कारण हो जाता है। उदाहरण के लिए १८३३ मे उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त मे अकाल के समय आगरा जिले मे गेहूँ का मूल्य १ रु० का १३½ सेर था, पर उन्ही दिनो खानदेश में गेहूँ का मूल्य ६१ सेर प्रति रुपये था। यह अन्तर यातायात के साधनो के अभाव के ही कारण उत्पन्न हो सका था।[2] सडको, रेलो, वायु-मार्गो अथवा जल-यातायात का अत्यन्त सीमित विकास होने के कारण अभाव-ग्रस्त क्षेत्रो मे सामयिक सहायता नही पहुँचाई जा सकती और अकाल की स्थिति अत्यन्त विकट हो जाती है।

आर्थिक एव राजनैतिक कारण

(१) **निर्धनता**—अकालो का सबसे बडा आर्थिक कारण है दरिद्रता अथवा साधन-हीनता। श्री रमेश दत्त १८वी शताब्दी के अकालो का विवरण देते हुए एक स्थान पर जहाँ प्रत्यक्ष रूप से अनावृष्टि को इनके लिए उत्तरदायी मानते है, अकालो की व्यापकता तथा अधिक मृत्यु सख्या के लिए लोगो मे व्याप्त निर्धनता को भी समान रूप से जिम्मेदार बताते है। उनका कथन है कि यदि लोग सम्पन्न होते तो समीप के अन्य प्रान्तो से खाद्यान्न प्राप्त करके अपनी प्राण-रक्षा कर सकते थे, पर नितान्त साधनहीन होने के कारण समीपवर्ती बाजारो से भी कुछ नही ले पाते और फलस्वरूप जब भी फसल नष्ट होती है, लाखो या हजारो की सख्या मे मर जाते हैं।[3] ऊपर डा० भाटिया तथा श्रीमती एन्स्टे के विचार भी बता चुके है जिसके अनुसार भारत मे अकाल **अन्न का नहीं धन का है**। जहाँ एक ओर भारतीय कृषि यहाँ के लोगो की जीविका का आधार है दूसरी ओर उनकी निर्धनता तथा यदाकदा उन पर पडने वाले जोखिम का बोझ उनकी स्थिति को दयनीय बना देता है। हमारी यह मान्यता है कि भारत की सभी आर्थिक समस्याओ जिनमे अकाल भी एक है, की गम्भीरता का सारा कारण यहाँ के कृषको की गरीबी है। १८८० के अकाल आयोग ने भी इसी तथ्य पर प्रकाश डाला था। १९०१ के द्वितीय अकाल आयोग ने कृषको को निधन के साथ-साथ अदूरदर्शी भी बताया। द्वितीय आयोग के मतानुसार भारत मे कभी फसल अच्छी और कभी खराब हो जाती है और यह क्रम चलता रहता है। लेकिन फसल अच्छी होने पर कृषक बचाकर नही रख पाते और फलस्वरूप अकाल के समय आत्मरक्षा हेतु कोई साधन नही होने के कारण उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है।

(२) **सहायक रोजगार का अभाव**—श्रीमती वीरा एन्स्टे इस निधनता का कारण बताते हुए यह स्पष्ट करती है कि कृषको के लिए सहायक अथवा पूरक रोजगार की व्यवस्था नही होने के कारण फसल नष्ट हो जाने पर वे अन्य प्रान्त अथवा देश से खाद्यान्न मँगाकर इनकी माँग पूरी करने में असमर्थ रहते हैं। वे देश की समूची जनता के लिए आय-प्राप्ति के वैकल्पिक साधनो का विकास करना चाहती हैं और उनके मत मे ऐसे साधनो का अभाव ही अकाल को अधिक व्यापक बनाता है।[4]

---

1 एक कहावत है : आर्द्रा बरसे, पुनरबास, दीन अन्न काऊ न खाए अर्थात् यदि आर्द्रा (२१ जून से ३ जुलाई) मे वर्षा हो पर पुनरबास (४ से १८ जुलाई) सूखा हो रहे तो गरीबो को भोजन नही मिल सकेगा।

2. C B Mamoria, ibid, p 114

3 Ramesh Dutt Economic History of India, Vol I p 37

4 Vera Anstey, op cit p 360

(३) युद्ध—अठारहवी शताब्दी मे भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विषम थी। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् देश के विभिन्न भागो मे सत्ता को हथियाने के लिए जो संघर्ष हुआ उसके परिणामस्वरूप विनाश की भूमिका तैयार हो गई तथा कृषकों की स्थिति शोचनीय होती गई। नादिरशाह अहमदशाह अब्दाली के उत्तरी भारत पर आक्रमणो तथा मराठो द्वारा उत्तरी व मध्य भारत के क्षेत्रों मे की गई लड़ाइयों के फलस्वरूप भारत के आधे से अधिक कृषको की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। जिन क्षेत्रों में परम्परागत शासक थे वहाँ राज्याधीशों की उदासीनता तथा कम्पनी के अन्तर्गत जो प्रान्त थे वहाँ कम्पनी के कर्मचारियों की क्रूर व दमनपूर्ण मालगुजारी की वसूली ने कृषकों को अपनी स्थिति सुधारने का कोई अवसर नही दिया। फलस्वरूप सिंचाई, बीज, खाद, पशु-सम्पत्ति और सम्पूर्ण कृषि-व्यवस्था को भाग्य पर छोड दिया गया और अकालो के लिए मार्ग खोल दिया गया। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे जितने अकाल पडे उनके लिए कम्पनी के कर्मचारियों की क्रूरता तथा युद्धो को ही उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।[1]

(४) ऋणग्रस्तता व कृषि का पिछड़ापन—अकालो के लिए परोक्ष कारणों में ऋणग्रस्तता तथा कृषि का पिछडापन भी उत्तरदायी है। ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप भूमि का वास्तविक स्वामित्व शनैः-शनैः साहूकारो के पास केन्द्रित होता गया और कृषक का अधिक श्रम करने अथवा किसी प्रकार के स्थायी सुधार करने का उत्साह समाप्त होता गया। यद्यपि कृषक अब भी जमीन जोतता था, परन्तु उपज का मालिक वह स्वयं नही था, साहूकार का भी इसमें से एक बडा भाग होता था। डा० देसाई के मत मे भारतीय कृषको के उत्साह को क्षीण करने के लिए उनकी ऋणग्रस्तता मुख्य रूप से उत्तरदायी थी और इसी के फलस्वरूप १९वी शताब्दी में काफी समय तक कृषि पद्धति में कोई स्थायी सुधार नही किए जा सके तथा अकालो के प्रकोप को रोकने मे कृषक सक्षम नही हो सके।[2]

(५) राजनैतिक कारण—स्वतन्त्रता के बाद राजनैतिक कारणो से भी अकाल होते रहे हैं। बहुधा यह अनुभव किया गया है कि राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार से अधिक खाद्यान्न प्राप्त करने के लिए कुछ क्षत्रो मे अकाल घोषित कर देती है। चूँकि अकालग्रस्त क्षेत्रो की जनता से मालगुजारी की वसूली नही होती, कभी-कभी मतदाताओ को संतुष्ट करने के लिए भी अकाल घोषित किए जाते है। राजनैतिक कारणों से उत्पन्न अकाल का एक उदाहरण मध्य प्रदेश का है। एक दल की सरकार १८ जिलो के काश्तकारों की स्थिति दयनीय होते हुए भी उन्हे अकालग्रस्त क्षेत्र घोषित नही करना चाहती थी, परन्तु अगस्त, १९६७ मे एक अन्य दल के सत्तारूढ होते ही इन क्षेत्रों को अकालग्रस्त घोषित कर दिया गया।

अकालों की प्रकृति

भारत मे अकालो के प्रकोप बहुत प्राचीन काल से होते रहे हैं। यद्यपि अकालों के विषय मे १८वी शताब्दी के पूर्व तक का विस्तृत विवरण उपलब्ध नही होता, फिर भी जितनी विषय-सामग्री मिलती है उससे यह ज्ञात होता है कि १७वी शताब्दी तक कम-से-से कम ५० वर्ष में एक बार बडा अकाल पडना एक सामान्य बात थी। ऋग्वेद की ऋचाओं में अकालो से रक्षा करने के लिए प्रार्थना की गई तथा कहीं-कहीं इन्द्र भगवान से जनता को अकाल से मुक्त रखने के लिए स्तुति की गई है। सूखा पडने पर हवन तथा यज्ञ करने की प्रथा प्राचीन समय से लेकर अब तक चली आ रही है। चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' मे भी अकालो से जनता की रक्षा करने के लिए किए जाने वाले प्रयासो का उल्लेख है।

डिग्बाई ने लिखा है कि ११वी शताब्दी से १७वी शताब्दी तक देश मे १४ बड़े अकाल पडे थे।[3] लेकिन अकालों का प्रकोप उन्नीसवी शताब्दी मे अधिक हुआ। यद्यपि १८९६-९७ में लगभग १ करोड ८० या ९० लाख टन खाद्यान्न की कमी थी, तथापि इस समय बाजार मे अनाज मिल सस्ता था। वस्तुत: उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध से अकालो की प्रकृति पूर्णतया बदल गई थी।

1 Ramesh Dutt : op cit. p 127
2. Dr A. R Desai, Social Background of Indian Nationalism (1959) p 57.
3. Digby : Prosperous British India (1901) p 123

इसके पूर्व अकालो का प्रारम्भ इसलिए होता था कि खाद्यान्न की पूर्ति मांग की अपेक्षा कम होती थी, लेकिन अब अकालों का प्रकोप क्रय-शक्ति के अभाव के कारण होने लगा। प्राकृतिक प्रकोप की तुलना में अब मूल्यो की वृद्धि अधिक तीव्र थी।[1]

डा० भाटिया ने एक और तथ्य की पुष्टि की है। उनके कथनानुसार एक ओर उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे अकाल पड रहे थे जबकि दूसरी ओर देश से लाखो टन अनाज का निर्यात करके व्यापारी लोग लाभ कमा रहे थे। इसका अर्थ हुआ कि गत शताब्दी के उत्तरार्ध से प्राकृतिक शक्तियो की अपेक्षा मानवीय तथा संस्थागत तत्वो का प्रभाव बढ रहा था। १८६१ मे बेअर्ड स्मिथ ने यह बताया कि इस निर्यात की प्रवृत्ति के कारण जो अधिक उपजाऊ क्षेत्र थे वहा भी अनाज के मूल्य बढ रहे थे और फलस्वरूप निर्धन व्यक्तियों की स्थिति अत्यन्त विकट हो रही थी।[2]

अकालो का इतिहास—एक समीक्षा

यह ऊपर बताया जा चुका है कि भूतकाल मे भी अकाल भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए सामान्य प्राकृतिक प्रकोपो के रूप में थे। हिन्दू मुगल व ब्रिटिश शासन काल मे निरन्तर अकालो की स्थिति उत्पन्न होती रही। इसका सबसे बडा कारण यही था कि कुछ समय पूर्व तक भी अधिकाश कृषक कृषि को मानसून की दया पर छोड देते थे। वस्तुत यह सिंचाई के साधनो का ही अभाव जिसके कारण अकाल इतने सामान्य तथा व्यापक हुआ करते थे।

लेकिन हिन्दू काल मे अकाल की स्थिति उत्पन्न होते ही अकाल ग्रस्त लोगो की सहायता हेतु प्रयास किए जाते थे। कौटिल्य ने अकालग्रस्त लोगो के लिए किए गए सहायता कार्यो को पाच भागो मे बांटा है [3]

(अ) लगान में छूट, (आ) राज्यो की ओर से अनाज व द्रव्य का वितरण (इ) झीला व तालाबो का निर्माण (ई) अन्य स्थानो से अनाज का आयात एव (उ) प्रवास। कौटिल्य के मतानुसार अकाल मे सहायता राजा के कर्त्तव्य का एक आवश्यक अग था।

भारत के बडे व भयकर अकालो मे ६५० ई० का अकाल देशव्यापी एव भीषण था। दसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे (९१७ १८) पजाब मे सूखा पडा जबकि अनावृष्टि तो हुई ही झेलम का पानी समाप्त हो गया और जैसा कि कल्हान की राजतरगिनी नामक पुस्तक मे देखने को मिलता है सम्पूर्ण प्रदेश मे लाखो व्यक्ति भूख से मर गए और और पूरा क्षेत्र मानो एक कब्रिस्तान बन गया हो। इसी प्रकार १०२२ व १०३३ मे अकालो के कारण लाखो व्यक्तियो की मृत्यु हुई। ११४८ से ११५८ के बीच अनेक अकाल पडे। मुहम्मद तुगलक के शासन काल मे भी १३४३ मे एक भीषण अकाल पडा लेकिन तुगलक ने कुएं खुदवाकर तथा कृषको मे द्रव्य का वितरण करके सामयिक सहायता पहुँचाई। इसी प्रकार अकबर जहांगीर व शाहजहाँ के शासन काल मे देशव्यापी अकाल पडे जो अत्यन्त भीषण थे। शाहजहा ने गरीबो मे काफी धन का वितरण किया। औरगजेब के शासनकाल मे तो एक बार ऐसी स्थिति हो गई थी कि इन्सान की कोई कीमत नही थी और पशुओ को रोटी के एक टुकडे के लिए बेचा जाता था, पर कोई क्रेता नही मिलता था। यहा तक कहा जाता है कि कही कही पुत्र के स्नेह से अधिक महत्व उसके मास को दिया गया। लेकिन औरगजेब ने भी सहायता कार्यो पर बहुत द्रव्य व्यय किया तथा अकालग्रस्त लोगो के लिए खजाने खोल दिए गए।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी एव अकाल

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत मे १७वी शताब्दी मे ही कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। १६३० मे गुजरात मे एक भयकर अकाल पडा जिसके फलस्वरूप उस क्षेत्र की एक-तिहाई जनसख्या नष्ट हो गई और कस्बे तथा शहर उजड गए।

1 B M Bhatia, op cit p 9
2 Ibid p 10
3 Kautilya 'Arthshastra'

१७७० में इससे भी अधिक भीषण एवं देशव्यापी अकाल का प्रकोप हुआ। सर विलियम हंटर ने इसका विवरण देते हुए बताया है कि अभाव से पीड़ित कृषक अपने पशु, हल व कृषि के अन्य साधनों को तो भोजन के बदले बेच ही रहे थे, वे अपने बच्चों तक को एक समय के भोजन के लिए दे सकते थे। उन्होंने आगे बताया कि बड़े शहरों की सड़कों पर निर्जीव शरीरों के ढेर लगे हुए थे और सियार तथा कुत्ते भी उन्हें हटाने में असमर्थ थे। अनुमानतः इस अकाल के फलस्वरूप एक करोड़ व्यक्तियों की मृत्यु हुई।

उत्तरी भारत मे १७८४ तथा मद्रास व हैदराबाद मे १७८१ व १७९२ मे भीषण अकालो का प्रकोप हुआ। १८०२ व १८०३ मे मद्रास, बम्बई, उत्तरी-पश्चिमी प्रान्तो तथा अवध मे अकाल पड़े। लेकिन उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे सबसे भयंकर अकाल १८३३ का गुन्टूर का अकाल था। यह अकाल मराठा साम्राज्य के दक्षिणी भागो, मैसूर, हैदराबाद तथा मद्रास के उत्तरी इलाकों मे व्याप्त था। काफी समय तक इस अकाल की गम्भीरता तथा परिणामो की ओर से ईस्ट इण्डिया कम्पनी (जिसने अब तक देश के बहुत बड़े भाग पर शासन स्थापित कर लिया था) ने कोई ध्यान नही दिया कैप्टन वाल्टर केपबैल ने, जो एक प्रत्यक्षदर्शी थे, इस अकाल के विषय मे कहा था—"कुत्ते मनुष्यो की हड्डियाँ चबाते फिर रहे थे और मनुष्य स्वयं को भूल चुका था।....मरे हुए घोड़ो व कुत्तों की ओर ये क्षुधा से पीड़ित अभागे भूखी निगाहों से देखते थे। एक बार एक गधा घायल होकर गिर पड़ा तो ये भूखे लोग भेड़ियो की भांति उस पर टूट पड़े तथा उसकी बोटी-बोटी अलग कर डाली।"[1]

इससे भी अधिक भयंकर अकाल १८३७ मे उत्तरी भारत मे पड़ा जिसमें लगभग ८० लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई तथा उपरोक्त स्थिति से भी अधिक दयनीय स्थिति लोगो की हो गई थी। श्री रमेशदत्त ने अपनी एक और पुस्तक मे जॉन लॉरेंस नामक अधिकारी का निम्न वक्तव्य प्रस्तुत किया है: "मैंने जीवन मे कभी ऐसे दृश्य नही देखे जैसे कि होडल व पलवल परगनो मे देखे हैं।" कानपुर मे विशेष सैनिक टुकडियाँ लाशो को हटाने के लिए जाती थीं। हजारो लाशें गांवो और कस्बो मे उपेक्षित रूप से तब तक पड़ी रहती थी जब तक कि जंगली जानवर आकर उन्हें नही खा जाते थे।[2]

ब्रिटिश शासन-काल एवं अकाल :

१८५८ मे भारतीय उपनिवेश का शासन-भार ब्रिटिश सरकार ने सँभाल लिया। इसके दो वर्ष बाद ही यानी १८६० मे इतना भीषण एवं व्यापक अकाल पड़ा जितना शताब्दी मे पहले नही पड़ा था। वाडिया तथा मर्चेण्ट द्वारा प्रस्तुत एक तालिका के अनुसार १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध मे लगभग ७ बड़े अकाल पड़े हैं और लगभग १ करोड ४० लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी। लेकिन १८५१ से १८७५ के बीच की अवधि मे ६ बड़े अकाल पड़े जिनके प्रभाव पिछले पचास वर्षों मे पड़ने वाले अकालो से कही अधिक व्यापक एवं घातक थे।[3]

१८६०-६१ के अकालो ने दिल्ली व आगरा के बीच का लगभग २५,००० वर्गमील क्षेत्र तथा १ करोड ३० लाख व्यक्तियों को प्रभावित किया। लेकिन राज्य की सजग नीति के फलस्वरूप १८३७ की अपेक्षा इस बार मृत्यु-सख्या कम रही। वस्तुत पहली बार अब यह अनुभव किया गया कि अकाल का कारण भोजन की कमी नहीं थी, बल्कि लोगों की वित्तीय कठिनाइयाँ थीं जिनके कारण भोजन उपलब्ध नहीं होता।[4]

१८६०-६१ के अकाल ने उत्तरी-पश्चिमी प्रान्तो (विशेष रूप से रोहिल खंड, दोआब व ट्रांस जमुना) के १ करोड २३ लाख एकड कृषि-क्षेत्र मे से लगभग ४४ लाख ६० हजार क्षेत्र को पूरी तरह बरबाद कर दिया। इसके अतिरिक्त राजपूताना की कुछ रियासतों अलवर आदि पर भी अकाल का प्रभाव था। अनावृष्टि के कारण जब उत्पादन बहुत कम रह गया तो मूल्यो

1. Ramesh Dutt : India in the Victorian Age, p 70
2. Rameh Dutt Economic History of India (Vol. I) p 308
3. Wadia & Merchant : Our Economic Problems (1959), p. 87
4. Ramesh Dutt (Victorian Age), op. cit. pp. 273-74

मे वृद्धि होने लगी। उदाहरण के लिए सहारनपुर मे जहाँ मई, १८६० मे गेहूँ का मूल्य १ रु० ८ आना प्रति मन था, फरवरी, १८६१ मे यह बढकर ५ रु० प्रति मन हो गया। यद्यपि इलाहाबाद, बनारस, अवध, पजाब के बारी दोआब, जालधर तथा चबल के दक्षिणी क्षेत्र मे पर्याप्त अनाज का उत्पादन हुआ था तथापि यातायात के साधनो के अभाव मे पर्याप्त मात्रा में अनाज की पूर्ति अभाव-ग्रस्त क्षेत्रों में नही की जा सकी।

लेकिन १८६० ६१ के अकाल पूर्वापेक्षा कम घातक रहे। इसके कारण ये थे : (i) इस समय प्रवास अधिक हुआ और अकाल ग्रस्त क्षेत्रो से ५ लाख व्यक्ति दूसरे प्रान्तों मे चले गए। (ii) सैनिक छावनियो व सिंचाई कार्यो मे लोगो को काफी रोजगार मिला। (iii) जिन कृषकों के पास भूमि थी उन्होने साहूकारो से रुपया उधार लेकर जान बचाई। (iv) पहले की अपेक्षा सिंचाई के साधनो का अधिक विकास हो गया था और (v) राज्य ने कुछ सीमा तक सहायता-कार्यों मे वृद्धि की थी।[1]

१८६० ६१ मे सरकार द्वारा जो सहायता दी गई उसका औसत ७ आना प्रति व्यक्ति था। १८६२ मे अनावृष्टि के कारण बम्बई प्रात के शोलापुर, अहमदनगर, सतारा, खान देश व पूना जिलो मे अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई। इसके कुछ समय उपरात ही १८६५-६६ मे बगाल, बिहार और उडीसा मे अकाल पड़ा। उडीसा मे लगभग १२ ००० वर्गमील क्षेत्र मे बहुत विकट स्थिति उत्पन्न हो गई थी और अनाज की अनेक दूकानें लूटी गई थीं। अनावृष्टि के बाद कुछ इलाको मे बाढ आ गई। उडीसा मे १८६५-६६ के इस अकाल के फलस्वरूप १३ लाख व्यक्तियो की मृत्यु हुई। कई गाँव पूरी तरह उजड गए जबकि अनेक गाँवों मे जनसख्या का केवल १०% ही भाग बच पाया।[2] उडीसा, बगाल और बिहार मे मिलाकर अनुमानत ४ करोड ७५ लाख व्यक्ति अकाल से प्रभावित हुए।

१८६८-७० के बीच राजपूताना, उत्तरी-पश्चिमी प्रान्तो, मध्य प्रान्त एव बम्बई मे अकाल पडे। १८६९ मे राजपूताना मे सूखा पडने से अनेक पशुओ व मनुष्यो की मृत्यु हुई लेकिन १८६९ मे अतिवृष्टि के कारण रबी की फसल बरबाद हो गई। इन अकालों ने राजपूताने के $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{2}$ जनसख्या को प्रभावित किया तथा जाँच कमिश्नर कर्नल ब्रूक के मतानुसार बीकानेर व मारवाड की $\frac{1}{3}$ आबादी तथा अजमेर जिले के २५% व्यक्ति भुखमरी से मर गए। उत्तरी पश्चिमी प्रान्त मे रबी की फसल में लगभग ४ करोड मन अनाज की क्षति हुई।[3]

इसके बाद अवध, उत्तरी पश्चिमी प्रान्त बगाल व बिहार मे छोटे मोटे अकाल पडे, लेकिन १८७६ व १८७८ के बीच जो अकाल पडे वे भारतीय अकालो के इतिहास मे विशेष महत्व रखते हैं। १८७६ मे इनके अन्तर्गत दक्षिण भाग के अधिकाश क्षेत्र प्रभावित हुए। अनुमानतः इस अकाल ने २ लाख ५$\frac{1}{2}$ हजार वर्गमील क्षेत्र मे तीन करोड ६४ लाख व्यक्तियों को प्रभावित किया। १८७७ मे उत्तरी-पश्चिमी प्रान्तो की भी स्थिति दयनीय हो गई। १८७३ व १८७८ के बीच पडे अकालो मे मद्रास की स्थिति सबसे अधिक शोचनीय थी। मैसूर की स्थिति इतनी विकट हो गई थी कि राज्य सरकार को केन्द्रीय सरकार से ८ लाख स्टर्लिंग पौंड का ऋण लेना पडा।[4]

मद्रास में इस अवधि (१८७७-७८) मे ८३ ००० वर्गमील मे लगभग १ करोड ९४ लाख व्यक्ति अकाल से पीडित हुए। मैसूर मे अकाल-पीडितो की सख्या १९ लाख थी।

१८७८ में मद्रास मैसूर व हैदराबाद तथा अन्य दक्षिणी राज्यो के अतिरिक्त उत्तरी पश्चिमी प्रान्तो व पजाब मे औसत वर्षा से एक तिहाई वर्षा ही हो सकी। इससे भुखमरी से नवम्बर १८७७ से १८७८ के दिसम्बर माह तक १२$\frac{1}{2}$ लाख व्यक्तियो की मृत्यु हुई।[5]

---

1 B M Bhatia op cit pp 59 62
2 Ibid, pp 65-72
3 Bhatia ibid pp 75 80
4 *Ramesh Dutt (India in the Victorian Age), p 136*
5 Bhatia op cit pp 93-101

१८७६ व १८७८ के मध्य हुए अकालो के पश्चात् बम्बई प्रान्त के दक्षिणी जिलो मे अभाव की स्थिति उत्पन्न हो गई। फलस्वरूप १८८० में प्रथम अकाल आयोग की नियुक्ति अकाल के कारणो व प्रभावो का अध्ययन करने एवं अपने सुझाव प्रस्तुत करने के लिए की गई। १८८४ व १८८५ मे पजाब, मद्रास व बंगाल मे फिर अकाल पडे और इसके पश्चात् काफी समय तक कोई बड़ा अकाल नही हुआ।

लेकिन १८९६ से १९०८ के बीच लगातार एक के बाद दूसरा अकाल पडता रहा। **१८९६-९७ का अकाल अब तक हुए अकालों की अपेक्षा सबसे अधिक व्यापक एवं घातक था।** इन अकालो ने देश के विभिन्न भागो—विशेष रूप से बम्बई, मद्रास तथा मध्य प्रात के लगभग २·२५ लाख वर्गमील क्षेत्र मे ६ करोड़ २० लाख व्यक्तियो को प्रभावित किया।[1] रमेश के मतानुसार १८९६-९७ के अकालो के समय मृत्यु-दर मे आशातीत वृद्धि हुई जबकि मध्य प्रांत में यह दुगनी हो गई थी। उनका कथन है कि कुल मिलाकर इनमे १० लाख व्यक्तियो की मृत्यु हुई। वे आगे लिखते है कि कृषि भूमि का बहुत बडा क्षेत्र वीरान हो गया और गांव उजड गए।[2]

डिग्बाई का अनुमान है, कि सामान्य मृत्यु-संख्या की अपेक्षा १८९६ व १८९७ मे ४५ लाख अधिक व्यक्तियो की मृत्यु हुई। १८९८ मे मृत्यु संख्या सामान्य औसत की अपेक्षा ६·५० लाख अधिक थी।[3]

१८९९-१९०० का अकाल १८९६-९७ के अकालो के बिल्कुल बाद इतने अकस्मात् रूप से पड़ा कि सरकार व जनता स्तब्ध रह गए। १८९९ मे भारत के पश्चिमी, दक्षिणी व मध्य के प्रांतों मे सूखा पडा। वयोवृद्ध लोग आज भी 'छप्पन के अकाल' के नाम से सिहर उठते है, जिसने बम्बई, हैदराबाद, राजपूताना, बरार, मध्य प्रान्त व दक्षिणी पंजाब मे अभाव की स्थिति उत्पन्न कर दी। गुजरात मे, जहाँ १८२५ के बाद अकाल नही पड़ा था, ७ इन्च के लगभग वर्षा हुई (औसत सामान्य वर्षा ३३ इन्च)।

यह अकाल ब्रिटिश साम्राज्य के लगभग १·९ लाख वर्गमील **क्षेत्र में व्याप्त था तथा इसने लगभग ब्रिटिश साम्राज्य २ करोड़ ८० लाख व्यक्तियों को प्रभावित किया।** इसके अतिरिक्त देशी रियासतो का बहुत बड़ा क्षेत्र तथा जनसंख्या अकालों से प्रभावित थी। **इस अकाल ने इस पुरानी मान्यता को गलत सिद्ध कर दिया कि बड़े अकाल ५० साल में एक बार पड़ते हैं, क्योंकि १८९६-९७ व १८९९-१९०० के अकालों के बीच केवल तीन वर्ष का अन्तर था।**[4]

इस अकाल ने देश के विभिन्न भागो मे कुल ४ लाख ७५ हजार वर्गमील क्षेत्र मे लगभग ७ करोड़ व्यक्तियो को प्रभावित किया। उनका मत है कि कृषि उत्पादन में जो कमी अकाल के कारण हुई उसका मूल्य ६ करोड स्टर्लिंग पौण्ड था। १९०० से लेकर १९०३ तक भी देश के विभिन्न भागो मे अकाल की स्थिति बनी रही। इससे अभावग्रस्त क्षेत्रो की स्थिति और अधिक शोचनीय होती गई।

वाडिया और मर्चेण्ट द्वारा प्रस्तुत विवरण के अनुसार १९०१ के अकाल ने लगभग ५ करोड़ व्यक्तियो को प्रभावित किया जिनमे भुखमरी से लगभग ४० लाख व्यक्तियो की मृत्यु हुई। मध्य प्रांतों की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि मीलो तक कृषि क्षेत्र बेकार हो गया और गांवो अथवा चावल व गेहूँ के खेतो के स्थान पर जगल दिखाई देने लगे। इसके बाद १९०६ व १९०८ के बीच छोटे-मोटे अकाल पड़े।

लेकिन इतिहास में इन सब अकालो की अपेक्षा सर्वाधिक बीभत्स दृश्य प्रस्तुत किया। १९१८-१९ के अकाल ने जिसके फलस्वरूप १ करोड **व्यक्तियो की भुखमरी से मृत्यु हुई। इस अकाल ने लगभग १५ करोड़ व्यक्तियो को प्रभावित किया।**[5]

---

1. Wadia & Merchant op. cit. p 87
2. Ramesh Dutt op. cit. p. 455
3. Digby · op cit. p 129
4. Bhatia : op cit. p. 251
5. Wadia & Merchant, p. 88

१८८३ के भूमि-सुधार अधिनियम का उद्देश्य अकालो के समय सहायता-कार्य प्रारम्भ करने तथा कृषक को साधारण समय मे भूमि पर स्थायी सुधार करने (सिचाई, बाढ आदि के लिए) के लिए रुपया उधार देने का था। कृषक ऋण अधिनियम (१८८४) का उद्देश्य आसान शर्तों पर सामान्य कृषि कार्यों—(बीज, हल या पशु की खरीद) के लिए ऋण देना था।[1]

अकाल आयोग ने सरकार से ५,००० मील लम्बे रेल-मार्ग तुरन्त बनवाने का आग्रह किया था तथा साथ ही यह भी सुझाव दिया था कि राज्य को कम से कम २०,००० लम्बा रेलमार्ग रक्षात्मक उद्देश्यो (अकालग्रस्त क्षेत्रों मे) को लेकर बनाने चाहिए।[2] लेकिन रेल-मार्ग का निर्माण काफी समय तक निजी कम्पनियो के नियन्त्रण मे रहा।

अकाल नीति—एक समीक्षा (१६०० तक)

राज्य की अकाल नीति के अन्तर्गत इन मुख्य उपायों की समीक्षा की जा सकती है (i) *लगान मे छूट,* (ii) *सिचाई के साधनो का विकास,* (iii) *काश्तकारो के लिए ऋण व्यवस्था,* (iv) यातायात के साधनो का विकास ताकि अधिक अनाज वाले क्षेत्रों से अकाल ग्रस्त क्षेत्रों को अनाज भेजा जा सके, (v) सहायता कार्य जिनसे लोगो को रोजगार दिया जा सके। इनके अलावा अकालो के समय धनी व्यक्ति दान करके भी जनता की सहायता करते हैं। परन्तु यहाँ हम केवल सरकार की नीति की समीक्षा करेंगे। जैसा कि नीचे के विवरण से स्पष्ट हो सकेगा, १९वी शताब्दी तक सरकार की अकाल नीति बहुत उदार नही थी, परन्तु बीसवी शताब्दी मे राज्य ने इस इस दिशा मे काफी सहानुभूति व उदारता से काम लिया। इसीलिए हम १९वी शताब्दी की अकाल नीति की समीक्षा अलग से करेंगे।

यद्यपि राज्य ने १८८० के पश्चात् कुछ प्रयास अकालग्रस्त लोगो की सहायतार्थ प्रारम्भ किए थे तथापि वे केवल दिखाने मात्र को थे और चूंकि इस व्यय के बदले उन्हे कोई विशिष्ट आर्थिक लाभ नही दिखाई देता था, इसलिए अंग्रेज अधिकारी भी इस सम्बन्ध मे उदासीन ही प्रतीत होते थे। उदाहरण के लिए १८८१-८२ से लेकर १८९०-९१ तक लगान मे जो छूट दी गई या लगान के भुगतान को जिस रूप मे निलम्बित किया गया वह एक मात्र दिखावा प्रतीत होता है। बम्बई मे इस अवधि मे लगभग २ करोड ७७ लाख रुपए के भू-राजस्व (वार्षिक) मे से औसतन केवल १ लाख १८ हजार रु० की छूट दी गई। मद्रास मे ४ करोड ८६ लाख रु० के भू-राजस्व मे से केवल १ १ लाख की छूट दी गई, जबकि बगाल मे ३ करोड ८० लाख रु० मे से छूट की राशि केवल ७३ हजार रु० थी। आसाम, बरार, अवध व अन्य जिलो म स्थिति इससे भी खराब रही।[3]

सिचाई के साधनो का भी विकास अत्यन्त उपेक्षित रहा। १८८२ ८३ व १८९५-९६ के मध्य सिंचाई पर पूंजीगत व्यय केवल १३ करोड रुपए हुआ। सरकार का ध्यान वस्तुत रेलो के निर्माण मे अधिक पूंजी लगाने का था और उपरोक्त अवधि मे रेलो पर सिचाई की अपेक्षा २१४ करोड रुपए ज्यादा खर्च किए गए।[4]

सिंचाई के सम्बन्ध मे सर आर्थर कॉटन ने १७७२ मे कुछ अमूल्य सुझाव प्रस्तुत किए थे, लेकिन सरकार ने उन पर कोई ध्यान नही दिया। श्री रमेशदत्त के मतानुसार १९वी शताब्दी के मध्य से लेकर १९०२ तक सिंचाई के लिए केवल २ करोड ६० लाख पौंड व्यय किए गए।[5]

राज्य की ऋण सम्बन्धी योजना भी पूर्ण रूप से सफल नही हो सकी। उदाहरण के लिए १८८३ के भूमि सुधार अधिनियम के अन्तगत १८८३ व १८९६ के बीच आसाम म केवल ३० रु० के ऋण दिए गए थे, जबकि अन्य प्रान्तो मे भी यह राशि बहुत कम थी।[6]

---

1 Bhatia op cit pp 192-94
2 Indian Railways by Amba Prasad (1960) p 58
3 Bhatia op cit p 190-91 (Asia)
4 Ibid pp 198 99
5 Ramesh Dutt op cit p 550
6 Bhatia op cit p 195

मद्रास व बम्बई को छोड़कर अन्य प्रान्तों में राज्य उदासीन रहा था। इसी प्रकार १८८४ के कृषक ऋण अधिनियम के अन्तर्गत भी लालफीताशाही, विलम्ब एवं अफसरशाही के कारण अधिक ऋण नहीं दिये जा सके।

बीसवीं शताब्दी में अकाल नीति

द्वितीय अकाल आयोग—१९०१ में **सर मेक्डॉनल** की अध्यक्षता में द्वितीय अकाल आयोग की नियुक्ति की गई। इसके पूर्व १८९८ में सर जेम्स लॉयल अकाल समिति ने कुछ सुझाव रखे थे। उन सुझावों पर विचार किया जा रहा था कि १८९९ में देशव्यापी दुर्भिक्ष का प्रकोप हो गया। सरकार ने सहायता कार्यों में वृद्धि की। १९०० के मध्य में ब्रिटिश भारत में राष्ट्र द्वारा जारी किए सहायता-कार्यों में ४६ लाख से अधिक व्यक्ति काम कर रहे थे। १८९९-१९०० में अकाल-पीड़ितों में से लगभग ४५% को मुफ्त सहायता भी दी गई। लेकिन फिर भी सहायता के इच्छुकों की संख्या इतनी अधिक थी कि पिछले सारे औसत से यह अधिक हो गई।

१८९९-१९०० में लगभग २ करोड़ रुपये की भू-राजस्व में छूट दी गई और १० करोड़ रुपये सहायता-कार्यों पर व्यय किये गए। इसके अतिरिक्त ९ करोड़ ७५ लाख रु० के ऋण कृषकों को दिए गए। द्वितीय अकाल आयोग का अनुमान था कि १८९९-१९०० में राज्य के कुल १५ करोड़ रुपये सहायता-कार्यों पर तथा १½ करोड़ रुपये **भारत दान सहायता कोष** में से व्यय किए गए।[1]

लेकिन १९०१ में श्री डिग्बाई ने ब्रिटिश सरकार की समूची अकाल-नीति की भर्त्सना करते हुए कहा कि **यदि पचास वर्ष बाद कोई सरकार की नीति की समीक्षा करे तो वह यही कहेगा कि ब्रिटिश सरकार ने भारत तथा यहाँ की जनसंख्या को भीषण दुर्भिक्षों की गर्त में डाल रखा।**[2]

१९०१ के अकाल आयोग ने निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किए :

(i) लोगों में धैर्य व साहस बढ़ाने के लिए प्रयास किए जाएँ ताकि वे अकाल के समय धैर्यपूर्वक इसका सामना करने के लिए तत्पर रहें।

(ii) अकाल के लक्षण प्रगट होते ही उदारतापूर्वक तकावी ऋण दिए जाएँ।

(iii) राज्य गैर-सरकारी सहायता व दान को प्रोत्साहन दे।

(iv) प्रत्येक जिले में अकाल-समिति बनाई जाए।

(v) पशु-सम्पत्ति की रक्षा का पूरा ध्यान रखा जाए।

(vi) चिकित्सा की पूरी सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।

(vii) निर्माण-कार्यों को रक्षात्मक तथा उत्पादक—इन दो श्रेणियों में बाँटा जाए। उत्पादक कार्य दीर्घकालीन हों तथा रक्षात्मक कार्य अल्पकालीन हों, जिनका उद्देश्य अकालों के समय तत्कालीन संकट से छुटकारा दिलाना हो।

(viii) उत्पादक कार्यों में नहरों का निर्माण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होना चाहिए।

बीसवीं शताब्दी में सौभाग्य से राज्य की नीति भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए उदार एवं सहानुभूतिपूर्ण थी। फलस्वरूप सर्वप्रथम १९०१ में एक सिंचाई आयोग बनाया गया। यही नहीं आगरा, गोरखपुर आदि जिलों तथा बम्बई प्रान्त में १९०५ व १९०८ के बीच हुए अकालों के समय पर्याप्त छूट भू-राजस्व की मांग में दी गई। वास्तव में यह छूट इस बात की द्योतक थी कि राज्य की नीति पूर्वापेक्षा अधिक सहानुभूतिपूर्ण हो गई थी।

द्वितीय आयोग ने मध्यप्रान्त, उत्तरप्रदेश, बरार, अजमेर व पंजाब में दिए गए तकावी ऋणों की अल्पराशि को देखकर गम्भीर चिन्ता व्यक्त की थी। फलस्वरूप बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस दिशा में भी काफी सुधार हुआ। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में १९०७-८ के अकाल के समय अकाल पीड़ितों की सहायता पर किए जाने वाले व्यय से बहुत अधिक राशि तकावी के रूप

1. Ibid, pp 254-63
2. Digby : op cit. p 122

मे दी गई । इस वर्ष दिए गए तकावी ऋणो की राशि २ करोड ७४½ लाख एकड थी । इससे कृपको का उत्साह बढा एव कृषि-उत्पादन मे वृद्धि हुई ।

ऊपर जिम मिचाई आयोग का विवरण दिया गया है वह वास्तव मे सिचाई के साधनो का पर्याप्त मात्रा मे विकास करने के उद्देश्य से बनाया गया था। वस्तुत: बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही जो विस्तार इस दिशा मे हुआ तथा १९०२ के बीस वर्षीय योजना के अन्तर्गत जो ४४ करोड रुपया व्यय किया गया उसका श्रेय सिचाई आयोग को ही दिया जाना चाहिए ।[1]

बीसवी शताब्दी मे पहली बार १९१८-१९ मे अकाल ने भयकर रूप धारण किया लेकिन राज्य की दूरदर्शितापूर्ण नीति के कारण इस अकाल का प्रभाव व्यापक होने पर भी स्थिति पूर्णत. सन्तोषजनक रही। तकावी ऋणों, लगान की छूट या प्रत्यक्ष उपायो द्वारा अकाल के प्रभावो को कम कर दिया गया है ।

लेकिन १९४३ का बगाल का दुर्भिक्ष अत्यधिक व्यापक एव भयकर था । इसलिए १९४५ मे वुडहैड अकाल आयोग की नियुक्ति की गई। इस अकाल आयोग के अध्यक्ष श्री वुडहैड थे। लेकिन सर मणिनाज बी० नानावती तथा सर अजीजुलहक आदि सदस्य गणो ने एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण ममक्ष रखकर आवश्यक कदम उठाए जाने की माँग की। आयोग ने राज्य से आग्रह किया कि अनाज का सग्रह करके उचित मूल्य पर इसके वितरण की व्यवस्था की जाए। उडीसा व विहार से पर्याप्त मात्रा मे चावल का आयात किया गया। राज्य ने सामयिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से १,१४,००० टन चावल उडीसा से, ५२,००० टन बिहार से, २४,००० टन सिध मे, ३६ ००० टन पजाब से मँगाए गए। इसके अतिरिक्त पजाब से ३,७३,००० टन गेहूँ के आटे का सामान मँगाया गया ।[2]

लेकिन फिर भी राज्य की अकाल नीति मे कतिपय दोष थे जिनको दूर करने पर सम्भवत: अकाल पीडितो की अधिक सहायता की जा सकती थी। इनमे प्रथम राजस्व अधिकारियो का अभाव तथा उनकी उदासीनता थी, जबकि द्वितीय कमी थी खाद्यान्न के वितरण के सम्बन्ध मे, क्योकि अकालो के समय भी खाद्यान्नो का सम्पूर्ण व्यापार निजी क्षेत्र मे ही रहता था। अनावश्यक विलम्ब तथा अफसरशाही भी अकाल नीति की सम्पूर्ण सफलता मे बाधक रहे थे।

बगाल का अकाल (१९४३)

बगाल यद्यपि सामान्य अकालो से प्रताडित रहा था लेकिन बीसवी शताब्दी मे काफी समय तक यह प्रान्त किसी बडे प्राकृतिक प्रकोप से मुक्त रहा। लेकिन १९४३ मे बगाल को एक भीषण दुर्भिक्ष का सामना करना पडा। इसके दो कारण थे प्रथम, बर्मा का अप्रैल, १९४२ मे भारत से पृथक् होना, जिसके फलस्वरूप हजारो विस्थापित भारत मे आए और बर्मा से प्राप्त होने वाले खाद्यान्नों की पूर्ति बन्द हो गई। द्वितीय, १९४० से प्रान्त के विभिन्न भागो मे होने वाली अनिश्चित वर्षा। प्रो० महलनवीस ने अकाल जाँच आयोग (१९४३) को बताया कि १९४१ मे ३ ५८ सेर प्रति व्यक्ति के हिसाब से कुल १ करोड ३ लाख टन चावल की आवश्यकता थी जबकि चावल का उत्पादन अमन की फसल (चावल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण फसल) के नष्ट हो जाने के कारण केवल ७५ लाख टन ही था। १९४२ व १९४३ की अमन की फसलें भी दुर्भाग्यपूर्ण ही रही और इससे स्थिति और अधिक शोचनीय हो गई ।[3]

भारत सरकार के खाद्य मत्री सर अजीजुलहक ने बताया कि नवम्बर, १९४२ मे चावल का मूल्य ७ ५ रु० प्रति मन था लेकिन अभाव के कारण मई, १९४३ मे यह मूल्य बढकर २९ रु० प्रति मन हो गया। चित्तगोग और प्रान्त के कुछ भागो मे अक्तूबर, १९४३ मे धान का मूल्य ८० रुपये प्रति मन तक हो गया था। बगाल के इस दुर्भिक्ष का रोमाचकारी वर्णन करते हुए बगाल चेंबर ऑफ कामर्स के अध्यक्ष ने कहा था "ब्रिटिश साम्राज्य का दूसरा बडा नगर (कलकत्ता)

---

1. Bhatia ibid pp 291 93
2. Ibid, p 332
3. Bhatia, op cit pp. 321-22

इस समय भूखे और अधनंगे मनुष्यों से ग्रस्त है।""लाशों को नदियों व नालों में फेंका जाता है तथा मुट्ठी-भर अनाज के लिए बच्चों को बेचना एक सामान्य बात है।" बंगाल मे इस समय ऐसी वीभत्स स्थिति थी कि वेश्याएं लडकियों को १० आने से लेकर २½ रु० तक की दर पर खरीद लेती थी और एक समय के भोजन के लिए कोई भी महिला अपना सर्वस्व खोने को प्रस्तुत थी।[1]

स्वतंत्रता के पश्चात् अकाल व अकाल-नीति

स्वतन्त्रता के पश्चात् भी यदाकदा अनावृष्टि या बाढ के कारण उत्तर प्रदेश, बिहार, उडीसा, राजस्थान, मध्य प्रदेश व गुजरात के किन्ही-किन्ही भागो मे राज्य सरकारो ने अकाल घोषित किए है। पर इन अकालो का प्रभाव दो कारणो से इतना भयंकर नही रहा जितना आजादी के पूर्व था। प्रथम, तो यह कि अब सपूर्ण देश केन्द्र तथा राज्यो मे पूर्वापेक्षा सहयोग की भावना अधिक है। द्वितीय, यातायात के साधनो के विकास ने अकालो की व्यापकता एव प्रभावो को कम कर दिया है। वैसे राज्य सरकारें भी पूर्वापेक्षा इस दिशा मे काफी अधिक सक्रिय है।

बिहार का अकाल १९६६-६७—१९६५ व १९६६ में अनावृष्टि होने से बिहार मे जो हृदय विदारक दृश्य कुछ समय पूर्व था उससे समस्त देश मे हलचल उत्पन्न हो गई थी। बिहार के पालामऊ एव हजारीबाग के जिले पूरी तरह अकाल ग्रस्त थे और अनेक लोगो को पानी की बूंद व पेड के पत्ते भी नसीब नही हो रहे थे। इस अकाल का प्रभाव गया, मुंगेर, शाहबाद, भागलपुर व पटना जिलो के कुछ भाग पर भी था।

बिहार के अलावा मध्यप्रदेश का सरगुजा व उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर क्षेत्र भी बुरी तरह अकाल से प्रभावित थे। इन सभी क्षेत्रो मे सैकडो मवेशियों की पानी के अभाव में मृत्यु हुई। परन्तु केन्द्रीय व राज्य सरकारों की सक्रिय नीति के कारण मानव-जीवन की क्षति बहुत नाम मात्र को हो सकी। १९६६-६७ के इस अकाल ने लगभग ५ करोड व्यक्तियों को प्रभावित किया।

बिहार व उत्तर प्रदेश के अकालग्रस्त क्षेत्रों मे राज्य सरकारो के अतिरिक्त बिहार अकाल-सहायता समिति एव सयुक्त राज्य अमरीका की संस्था केयर (CARE) ने मिलाकर १५०० से अधिक भोजनालयों की व्यवस्था की जहाँ ५ लाख से ज्यादा लोगों को रोजाना मुफ्त भोजन दिया जाता था। अकेले केयर की शाखाओं ने बिहार मे ४५ लाख व्यक्तियों की सहायता की।

बिहार मे इनके अतिरिक्त १० हजार महिलाओ को २० चरखा केन्द्रो मे रोजगार दिया गया। राज्य सरकार ने मालगुजारी मे छूट देने के साथ साथ कुओ व ट्यूब वैलो की खुदाई के माध्यम से पानी के अभाव को दूर करने की चेष्टा की। अनुमानतः इस अवधि मे बिहार मे १,००० से अधिक ट्यूब वैलों का निर्माण किया गया। बिहार सरकार ने लगभग ३० करोड रुपए अकाल सहायता हेतु दिए।

राजस्थान का सूखा (१९६७ एवं १९६८)[2]

राजस्थान प्रदेश के कुछ क्षेत्र स्थायीरूप से सूखाग्रस्त क्षेत्र हैं। जैसलमेर, बाडमेर और जोधपुर जिलों का बहुत बडा इलाका रेतीला प्रदेश है जहाँ वर्षा का औसत १०-१२ इंच से अधिक नही होता। परन्तु जिस वर्ष वर्षा औसत से आधी रह जाती है उस वर्ष इन क्षेत्रों मे भयकर अकाल की स्थिति हो जाती है।

दुर्भाग्य से १९६७ तथा १९६८ के दो वर्षों मे राजस्थान के बहुत बडे क्षेत्र में अत्यत अपर्याप्त वर्षा हुई और यही कारण है कि राज्य के २७,३८४ गांवों मे से (१९६८ के अंत तक) २१,५४२ गांव सूखे से प्रभावित होगए तथा १ करोड के लगभग जनता इससे प्रभावित हुई।

---

1 Ibid p 323

2 Dr. K.A Chopra · ' Economic Impact of Drought in Rajasthan" See Economic Times, march 12 1969 Also See Press Reports.

१९५१ के बाद से अब तक अभाव की स्थिति ने किसी न किसी रूप मे राज्य के लोगो को प्रभावित किया है। विशेष रूप से १९६३-६४ से १९६८ ६९ तक के पांच वर्ष राज्य की जनता के लिए परीक्षा की घडी के रूप मे रहे हैं।

१९६७ मे जबकि देश के अन्य भागो मे खरीफ की फसल काफी अच्छी हुई थी, राज्य के ९,७१५ गांव सूखे से प्रभावित थे। १९६८ मे निम्न जिलो के शत प्रतिशत गांव सूखे से प्रताडित पाए गए :

(१) जोधपुर, (२) जालोर, (३) जैसलमेर, (४) बीकानेर, (५) बाडमेर,

इनके अलावा सिरोही, झुझुनू, झालावाड, चुरु, डूंगरपुर, नागौर, भीलवाडा, उदयपुर, बासवाडा व टोक आदि जिलो के ८५% से अधिक गांव सूखाग्रस्त घोषित किए गए।

सूखे का प्रभाव :

इस भयकर सूखे के फलस्वरूप प्रभावित गांवो की ५०% से ८०% तक फसल नष्ट हो गई। कुओ का पानी सूख जाने से पेय जल की भयकर समस्या उत्पन्न हो गई। १९६८ के अंतिम तीन चार महीनो मे राजस्थान के उत्तरी-पश्चिमी तथा दक्षिण-पश्चिमी जिलो मे मृत्यु की छाया मडराती रही थी।

राज्य के जैसलमेर, बाडमेर, बीकानेर व नागौर जिलो मे अधिकाश कृषको की मुख्य आय का स्रोत पशु-धन है। सूखे के कारण पशुओ के लिए चारे तथा पानी की भीषण समस्या उत्पन्न हो गई और अनुमानत १ लाख पशुओ को राज्य के बाहर भेजना पडा। यह उल्लेखनीय है कि सामान्य स्थिति मे पशु-धन से इन क्षेत्रो के कृषको की औसत आय अन्य कृषको से अधिक रहती है पर पिछले कुछ वर्षो से सूखे के कारण इन लोगो का घुमक्कड-जीवन व्यतीत करने को विवश होना पडा है। दुर्भाग्य से हजारो अच्छी नस्ल के पशु इस अवधि मे बाडमेर व जैसलमेर जिलो से पाकिस्तान चले गए हैं।

फसलो की क्षति, पशु धन की क्षति तथा व्यापक बहिर्गमन के कारण अनुमानत. ७७ लाख व्यक्तियो को अपने रोजगार से हाथ धोना पडा तथा वे मजदूरी करने पर विवश हो गए। इस प्रकार सूखे की इस विभीषिका ने राज्य की समूची अर्थव्यवस्था को झकझोर दिया है। विपक्षी दलो के अनुसार १९६८-६९ मे लगभग ३ हजार व्यक्तियो की भूख तथा पौष्टिकता के अभाव मे मृत्यु हुई परन्तु राज्य सरकार इस बात का खडन करती है। पर्याप्त एव विश्वसनीय आंकडो के अभाव मे सूखे से हुई मृत्यु पर कोई भी टिप्पणी देना न्याय सगत प्रतीत नही होता।

राज्य सरकार की नीति

इसमे तो कोई सदेह नही है कि सूखे के भयकर प्रभावो को कम करने का राजकीय स्तर पर जोर-प्रयास चल रहा है। राज्य की ओर से जो उपाय इस दिशा मे किए गए हैं वे इस प्रकार हैं

(१) **खाद्यान्न व दवाइयो का वितरण**—अत्यधिक सूखा ग्रस्त क्षेत्रो मे राज्य की ओर से अनाज, आटा तथा दवाइयो के वितरण की व्यवस्था की गई है।

(२) **अकाल राहत कार्य**—लघु सिचाई कार्यक्रमो (नलकूपो, कुओ व तालाबो की खुदाई) भूमि सरक्षण वृक्षारोपण तथा सडको की मरम्मत व निर्माण के द्वारा सूखे से प्रभावित लोगो को न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति योग्य आय दी जा रही है। अनुमानत १९६८ के अन्त तक ४ लाख से अधिक लोगो को राहत कार्यो मे प्रयुक्त किया गया।

(३) **चारे की व्यवस्था**—पजाब, उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रदेश की सरकारो के सहयोग से सूखे से प्रभावित पशुओं को चारा उपलब्ध कराने का प्रयास किया जा रहा है। राज्य के कुछ जिलो (कोटा, भरतपुर, गगानगर, जयपुर, अलवर व सवाई माधोपुर) मे भी व्यापक स्तर पर चारे को खरीद की गई है। तीन पडौसी प्रदेशो से २.०९ लाख क्विटल चारे की खरीद के लिए समझौते हुए थे, जिसमे से काफी अश प्राप्त किया जा चुका है। राज्य के जिलो से जनवरी, '६९ के मध्य तक २ १५ लाख क्विटल से अधिक चारा खरीदा जा चुका था। दूसरी ओर राज्य सरकार ने सभी प्रकार के चारे की निकासी पर प्रतिबन्ध लगा दिया है तथा सरकारी जगलो मे पशुओं को चराने

की अनुमति दी है। यही नहीं कृषकों (अकाल ग्रस्त क्षेत्रों मे) को चारा खरीदने के लिए तकावी ऋण दिए गए हैं।

(४) **पानी की व्यवस्था**—सरकार ने सूखाग्रस्त क्षेत्रो मे नए कुएँ खुदवाने एवं पुराने कुओं को गहरा करने के लिए अनुदान दिया है। नलकूपों की व्यवस्था को सुधारा गया है तथा इनके लिए नए पम्प सैटों की प्रस्थापना की गई है। राज्य की ओर से भी नए कुएँ खुदवाये गए हैं।

सरकार के अतिरिक्त अमरीकी परमार्थ संस्था केयर, मारवाडी रिलीफ सोसाइटी तथा अनेकों दूसरी गैर सरकारी सेवा-संस्थाओं ने भी पौष्टिक दवाइयों (विटामिन) कपड़ो व खाद्यानों या आटे का बड़े पैमाने पर वितरण किया है। गर्भवती महिलाओं व बच्चों को विशेष रूप से दूध व दवाइयाँ देने की व्यवस्था की गई है।

परन्तु जो कुछ प्रयास सूखा-ग्रस्त क्षेत्रो की जनता को राहत देने के लिए किए जा रहे हैं, वे सूखे की स्थायी समस्या का दीर्घकालीन हल प्रदान नही कर पाएँगे। दुर्भाग्य से राज्य सरकार सतह खरोंचने का प्रयास करती प्रतीत होती है तथा भयंकर स्थिति होने पर ही अपनी जागरूकता का प्रदर्शन करती है। आश्चर्य तो यह है कि पिछले १८ साल के नियोजन-काल में सदियों से चली आ रही इस समस्या का हल ढूँढने का यत्न नही किया। राजस्थान नहर किसी सीमा तक इस समस्या का समाधान कर सकती है, पर उस दिशा मे जो प्रगति है वह बहुत ही धीमी है।

इसी तटस्थतापूर्ण नीति के कारण इन क्षेत्रो का बहुमूल्य पशुधन धीरे-धीरे नष्ट हो रहा है और अब तक अनेकों उच्चकोटि की नस्लों का लोप हो चुका है। बीकानेर की राठी, जालोर की काकरेज, जैसलमेर व बाड़मेर की थारपारकार, अजमेर की गीर, अलवर की मेवाती और नागौर की नागौरी नस्लों के अधिकाश पशु या तो सूखे के कारण मर गए हैं या बाहर ले जाये जा चुके हैं। हजारों उच्च नस्ल की गायों व बैलों को उनके मालिकों ने १९६८ के समय तिलक लगाकर मरने को छोड़ दिया अथवा कौडियों के मूल्य बेच दिया। किसी भी कृषि अथवा पशुधन पर आधारित अर्थव्यवस्था के लिए इससे बड़ी क्षति दूसरी नहीं हो सकती। इस क्षति की अनुभूति हमें तब होगी जब सूखे की वर्तमान स्थिति समाप्त हो जाएगी तथा कृषकों का सूखा-ग्रस्त (वर्तमान) क्षेत्रों मे पुनर्वास होगा।

विटामिनों तथा पौष्टिक तत्वों के अभाव मे कुछ व्यक्तियों की मृत्यु हुई है, इसकी स्वीकारोक्ति हाल ही मे संसद मे केन्द्रीय खाद्य उपमंत्री ने स्वयं की है। अतएव यह जरूरी है कि सूखे के प्रभावों को कम करने के लिए और व्यापक स्तर पर कार्य किया जाय।

गुजरात में अकाल (१९६८-६९)[1]

राजस्थान की भाँति गुजरात के भी बनासकठा जिले मे भी गत वर्ष अकाल की भीषण छाया मँडराती रही। इन जिलों की ३६ ६ लाख जनता को सूखे ने बुरी तरह प्रभावित किया।

निष्कर्ष

इस प्रकार आज भी अकालों की छाया भारतीय कृषकों पर किसी न किसी रूप में मँडरा रही है। फिर भी अकालों का प्रभाव आज उतना कष्टप्रद नहीं है जितना स्वतन्त्रता से पूर्व था। प्रजातन्त्र की माँग है कि देश का कोई भी व्यक्ति प्राकृतिक प्रकोप के कारण भूख से पीड़ित न हो, फिर क्षेत्र विशेष की जनता का बहुत बड़ा वर्ग यदि सूखे या बाढ़ से प्रभावित हो तो यह हमारे लिए शोभनीय बात नही होगी। सरकार को अपना उत्तरदायित्व इस दिशा मे पूरी तरह समझ लेना चाहिए।

यह भी जरूरी है कि अकाल सहायता के नाम पर एकत्रित धनराशि का ईमानदारी तथा सचाई के साथ उसका उपयोग किया जाय।

---

1 "Famine Conditions in Gujarat Districts" article by Kuldip Chandra Sehgal (Eco. Times April 15, 1969)

१९

भारत मे सहकारी आंदोलन (१)
(Co-operative Movement in India)

प्रारम्भिक—सहकारिता का अर्थ

सहकारिता का अर्थ है किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु सहयोग । वैयक्तिक लाभ की दृष्टि से किए गए सामूहिक प्रयास को हम सहकारिता की सज्ञा नही दे सकते । सहकारिता से हमारा आशय सामूहिक हित के लिए किए गए सामूहिक प्रयास से है । अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के अनुसार "एक सहकारी समिति आर्थिक दृष्टि से निर्बल व्यक्तियो का एक सगठन है जिसके अन्तर्गत समान अधिकार व समान उत्तरदायित्व के आधार पर सदस्य लोग स्वेच्छा से कार्य करते हैं ।" सक्षेप मे सहकारिता मे सबके लिए' कार्य करते है ।

एच० मिरिक के मतानुसार सहकारिता का प्रारम्भ पारस्परिक सहयोग मे इस उद्देश्य से होता है कि उसका पयवसान सामान्य सामथ्य मे हो । इससे भी स्पष्ट परिभाषा सैलिगमैन ने दी है जिसके अनुसार सहकारिता का अर्थ उत्पादन और वितरण मे प्रतिस्पर्धा का परित्याग तथा सभी प्रकार के मध्यस्थो की जरूरत को समाप्त कर देना है ।

सहकारिता के सिद्धान्त

एक सहकारी समिति के प्राथमिक सिद्धान्त इस प्रकार हैं

(अ) यह एक ऐच्छिक सस्था है जिसमे किसी भी प्रकार के बल, अनुचित प्रभाव, कपट आदि का प्रयोग नही होता है । वे जब चाहे सदस्य बन सकते है अथवा सदस्यता छोड सकते है ।

(आ) **प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था**—' मानव के द्वारा मानव का शोषण नही होता । समिति के सदस्य के पास चाहे जितने अश हो किन्तु इसमे ' एक व्यक्ति एक मत (Vote) ' वाला सिद्धान्त ही लागू होता है ।

(इ) "एक सबके लिए और सब एक के लिए मुख्य सिद्धान्त है । आवश्यकता के समय सब मिलकर एक दूसरे की मदद करते हैं । वे समिति के लिए है और समिति उनके वास्ते है ।

(ई) 'सामूहिक प्रयत्नो के द्वारा सामूहिक हित'—समिति मे निजी स्वार्थ, व्यक्तिवाद, सब मेरे ही लिए आदि दूषित भावनाओ के लिए भी कोई स्थान नही होता है ।

(उ) 'सेवा का भाव'—समिति के सदस्यो मे सेवा की भावना होती है । अत समिति का उद्देश्य अत्यधिक लाभ कमाना न होकर सेवा करना होता है । ' ईमानदारी ही सबसे उत्तम नीति है" इसका मुख्य सिद्धान्त है ।

(ऊ) सहकारिता का अन्तिम उद्देश्य मध्य पुरुषों का लोप करना और स्पर्द्धा का इतिश्री करना है।

सहकारिता में निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए : (i) सदस्यों का स्वेच्छा से संगठन स्थापित करना, (ii) सामान्य लाभ, (iii) सामूहिक प्रयास, (iv) शिक्षणात्मक प्रभाव तथा (v) सहकारिता का आधार आर्थिक हित (अथवा उत्पादन में वृद्धि अथवा अन्य प्रकार का आर्थिक लाभ) होना चाहिए। इसलिए फुटबॉल की टीम, डाकुओं के गिरोह अथवा संयुक्त कम्पनी को हम सहकारिता के अन्तर्गत नहीं ले सकते।[1]

भारत में सहकारिता का इतिहास

यद्यपि सहकारिता आंदोलन का प्रारम्भ भारत में १९०४ से ही माना जाता है तथापि इसका वास्तविक इतिहास बहुत पुराना है। प्रो० शेल्वकर ने बताया है कि १८वीं शताब्दी के अंत तक भी जब तक भूमि का स्वामित्व ग्राम-समुदाय के पास केन्द्रित रहा, तब तक काश्तकार परस्पर सहयोग द्वारा कृषि-कार्यों का सम्पादन करते थे। विशेष रूप से ये सामूहिक कार्य अथवा सहकारितापूर्ण प्रवृत्तियाँ कुआ या तालाब बनवाने अथवा अन्य प्रकार के सामान्य परन्तु सामूहिक हित की दृष्टि से प्रचलित थी।[2]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पहली बार १८८२ में सर विलियम वेडरबर्न एवं जस्टिस रानाडे ने कृषि साख की पूर्ति हेतु कृषि बैंकों की स्थापना का सुझाव दिया। लेकिन इस सुझाव की उपेक्षा कर दी गई।

१८९२ में फ्रेडरिक निकोल्सन को मद्रास की सरकार द्वारा प्रांत में कृषि साख की व्यवस्था पर सुझाव देने को कहा गया। उन्होंने सुझाव दिया कि कृषि के समुचित विकास हेतु 'जनता के बैंक' बनाए जाएँ। लेकिन निकोल्सन रिपोर्ट (१८९५) की पूर्णतया उपेक्षा कर दी गई, क्योंकि कृषि साख को उस समय एक आवश्यक समस्या नहीं माना जाता था।

लेकिन फिर भी मैत्री भाव पर आधारित कुछ संस्थाएँ बंगाल तथा मद्रास में १८६९ से ही प्रारम्भ की गई थी और बंगाल में तो १८६९-१९०० के मध्य ४५ बैंक इसी उद्देश्य से प्रारम्भ किए गए थे कि उचित शर्तों पर सदस्यों को उत्पादक कार्यों के लिए पूंजी प्राप्त हो सके। इससे कम-से-कम यह तो सिद्ध हो जाता है कि भारत के लाग सहकारिता से सर्वथा अपरिचित नहीं थे तथा किसी सीमा तक कुछ अंग्रेज अधिकारियों की धारणा के विपरीत वे सहकारिता के आधार पर कार्य करने को तत्पर भी थे।[3]

१९०१ में द्वितीय अकाल आयोग ने सरकारी साख समितियों की स्थापना हेतु बहुत बल दिया। लार्ड कर्जन ने सर एडवर्ड लॉ के नेतृत्व में एक समिति की नियुक्ति की। इसी समिति द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के आधार पर १९०४ में सहकारी साख समिति अधिनियम पारित किया गया। जैसा कि इस अधिनियम के नाम से स्पष्ट है सहकारी आंदोलन के प्रारम्भ में सहकारी साख आंदोलन के रूप में ही चलाया गया। इसका मुख्य कारण यही था कि सहकारी साख की समुचित व्यवस्था उस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। साहूकारों के चंगुल से निरीह व साधनहीन कृषक को मुक्ति दिलाने का एक मात्र उपाय यही था कि उन्हें सहकारिता की ओर प्रवृत्त किया जाता है।[4]

इसके पूर्व कि हम विस्तार से भारत के सहकारी आन्दोलन की व्याख्या करें, यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सहकारी आन्दोलन के कितने स्वरूप होते हैं तथा भारत में कौन सा स्वरूप है।

---

1 Strickland : Co-operation in India (1938), p. 15.
2. K. S. Shelvenker Problems of India (1940) p 95
3. Vera Anstey : Economic Development of India, pp 189-90
4 Ibid, pp 190-92

मोटे तौर पर सहकारी समितियाँ दो प्रकार की होती हैं—रैफेजन समितियाँ तथा शुल्ज डिलिट्ज समितियाँ। इन दोनो प्रकार की समितियों का प्रारम्भ उन्नीसवी शताब्दी मे जर्मनी मे किया गया और वही से सहकारी आन्दोलन विश्व के अन्य राष्ट्रो मे फैलता चला गया। रैफेजन नमूने पर बनी सहकारी साख समितियो की विशेषताएँ ये होती हैं

(अ) सीमित क्षेत्र; (आ) शेयर या हिस्सों का न होना अथवा अत्यन्त सीमित होना, (इ) असीमित दायित्व; (ई) दीर्घकालीन साख व्यवस्था तथा किश्तों मे चुकाने की व्यवस्था, (उ) केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण देना, (ऊ) लाभ कमाने की भावना नही होती, (ए) स्थायी सुरक्षा कोष (ऐ) अवैतनिक प्रबन्ध तथा (ओ) नैतिक एव भौतिक समृद्धि को समान महत्त्व दिया जाना।

जो समितियाँ विशिष्ट रूप से साख समितियाँ नही होती वे साधारणतया शुल्ज डिलिट्ज मॉडल पर आधारित होती हैं। इनमे निम्नलिखित विशेषताए होती है

(अ) विस्तृत कार्यक्षेत्र; (आ) पूँजी का हिस्सा मे बँटा होना, (इ) सीमित दायित्व; (ई) अल्पकालीन साख व्यवस्था, (उ) अनुत्पादक कार्यों के लिए भी ऋणों का दिया जाना, (ऊ) लाभ कमाने की छूट होती है, (ए) वैतनिक प्रबन्ध तथा (ऐ) व्यावसायिक पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

भारत मे दोनों प्रकार की सहकारी समितियाँ विद्यमान है जिन्हे हम सरकारी साख समितियों तथा गैर साख समितियो के रूप मे विभाजित कर सकते है। इनमे भी कृषि तथा गैर-कृषि उद्देश्यो के आधार पर उपविभाजन किया जाता है। इन सबकी विस्तृत विवेचना आगे की जाएगी।

१९०४ का सहकारी साख समितियाँ अधिनियम—*इस अधिनियम मे निम्नांकित मुख्य* बातें सामने रखी गई

(I) कोई भी दस व्यक्ति, जो एक ही गाँव या नगर मे रहते हों या एक ही जाति के हो, सहकारी साख समिति बनाकर उसे पजीकृत करवा सकते थ।

(II) समिति का मुख्य उद्देश्य सदस्यो, राज्य अथवा अन्य सस्थाओं या व्यक्तियो से *रुपया प्राप्त करके सदस्यो को ऋण प्रदान करना था।*

(III) सहकारी साख समितिया पर रजिस्ट्रार का नियन्त्रण होता था, जो राज्य का एक विशिष्ट कर्मचारी था।

(IV) समिति के हिसाब की जाच रजिस्ट्रार या उसके द्वारा मनोनीत किया गया व्यक्ति करता था।

(V) ग्रामीण क्षेत्रो मे ⅘ सदस्य कृषको तथा शहरो मे इतना ही अनुपात गैर-कृषको का होना अनिवार्य था।

(VI) *स्थानीय सरकार की अनुमति लेकर ही समिति का दायित्व* सीमित किया जा सकता था। सामान्यतया दायित्व असीमित होता था।

(VII) सदस्यो को लाभांश नही मिलता था बल्कि लाभ को सुरक्षित कोष मे डाल दिया जाता था।

(VIII) नागरिक समितियो मे लाभ का ¼ सुरक्षित कोष मे डालकर शेष का वितरण सदस्यो मे किया जा सकता था।

(IX) ऋण केवल सदस्यो को ही उपयुक्त जमानत लेकर दिए जा सकते थे।

(X) *किसी एक व्यक्ति की समिति की पूँजी पर अधिकार* करने की प्रवृत्ति निषिद्ध थी।

(XI) अधिनियम के अन्तर्गत बनायी गई समितियाँ स्टाम्प तथा पजीकरण के शुल्क एव आयकर से मुक्त थी।

सर डैन्जिल इवट्सन एव सर एडम्सन आदि अँग्रेज अधिकारियो ने यह आशा व्यक्त की कि इस अधिनियम के द्वारा भारत के लोगो को स्वावलम्बी बनने तथा समृद्धि के पथ पर बढने के

अवसर प्राप्त होंगे । लेकिन वस्तुत: सहकारी आन्दोलन के प्रथम सोपान में जो उपाय किए गए, वे निष्फल ही रहे क्योंकि यूरोप तथा भारत की परिस्थितियों मे बहुत अन्तर था । इस अधिनियम की असफलता के लिए निम्न कारण जिम्मेदार थे : (i) कृपकों को साहूकार के चंगुल से छुड़ाने का कोई उपाय नहीं किया गया । (ii) नगरों से गाँवों की ओर पूँजी प्रवाहित हो इस दृष्टि से कोई संगठन नहीं बनाया गया था । (iii) सदस्य निर्धन एवं साधनहीन थे और अपने साथियों की आवश्यकता पूर्ति की क्षमता उनमें नहीं थी । वस्तुत प्रारम्भिक वर्षों में भारत में सहकारिता का बीजारोपण प्रतिकूल परिस्थितियों मे किया गया यही कारण था कि १९०७-८ तक सारे देश में केवल १३५७ समितियां ही बन सकी, जिनमें १ लाख ४९ हजार के लगभग सदस्य थे और केवल ४४ लाख रुपये के करीब पूँजी लगी हुई थी । इस अवधि मे इन समितियां ने केवल ३७ लाख रु० के ऋण दिए । जबकि साहूकारों द्वारा दिए गए ऋण की राशि ३७१ से ५०० करोड़ रुपये के बीच थी ।[1]

प्रो० अलक घोष ने १९०४ के अधिनियम मे निम्नलिखित दोष मुख्य रूप से बताए है : (i) अधिनियम द्वारा केवल साख समितियों की स्थापना को प्राथमिकता देना, (ii) पूँजी की पूर्ति एव समितियों की देख-रेख के लिए किसी केन्द्रीय संगठन का न होना और (iii) ग्रामीण व शहरी समितियों मे किया गया अन्तर ।[2]

१९०४ के कानून में उपरोक्त कमियों के अतिरिक्त कुछ और भी कमियां थी—प्रथम, दायित्व का असीमित होना एव द्वितीय, लाभ के वितरण का निषेध । इन्हीं सब कमियों के कारण १९१२ में सरकार ने काफी विचार-विमर्श के पश्चात् एक नया अधिनियम पारित किया जिसका कार्यक्षेत्र काफी व्यापक था एव जिसके अन्तर्गत उन बहुत-सी कमियों को दूर करने का प्रयास किया गया जो पिछले अधिनियम मे थी । इस अधिनियम का शीर्षक भी 'सहकारी समितियाँ अधिनियम (१९१२)' रखा गया ।

इस अधिनियम में निम्न बातें प्रमुख थी

(i) साख के साथ-साथ अन्य समितियों का पंजीकरण भी वैध हो गया ।

(ii) सामान्यत ग्रामीण समितियों का दायित्व असीमित एवं केन्द्रीय समितियों का दायित्व सीमित रखा गया ।

(iii) प्रत्येक पंजीकृत समिति रजिस्ट्रार की अनुमति से लाभ का ¼ सुरक्षित कोष मे तथा १०% दान के लिए रखकर शेष का लाभांश के रूप मे सदस्यों के मध्य वितरण कर सकती थी ।

(iv) प्रान्तीय सरकारें सहकारी समितियों के प्रबन्ध, कार्यप्रणाली अथवा सदस्यों के अधिकारों से सम्बन्धित कानून बना सकती थी ।

(v) पंजीकृत नही की गई संस्थाएँ 'सहकारी' शब्द का उपयोग सामान्यत नही कर सकती थी ।

(vi) अन्य लेनदारों की अपेक्षा समिति को ऋण की वसूली मे प्राथमिकता दी जाएगी ।

(vii) सहकारी समितियों के हिस्से जब्त नहीं किए जा सकते थे ।

(viii) साख समितियों के अन्य नियम पूर्ववत् रहे ।

१९१२ के बाद सहकारी आन्दोलन को एक नवीन चेतना प्राप्त हुई और न केवल साख समितियाँ अपितु गैर-साख-समितियों का भी द्रुतगति से विकास प्रारम्भ हो गया । इनके अतिरिक्त सहकारी संघों (जिनकी सदस्यता समितियों में निहित होती थी), सहकारी बैंकों (जिला स्तरीय) एवं प्रान्तीय बैंकों का काफी संख्या मे निर्माण हुआ । यद्यपि इस आन्दोलन की प्रगति सभी प्रान्तों में एक सी नही थी और बम्बई, मद्रास व पंजाब मे कृषकों के पास भूमि का स्वत्व होने के कारण

---

1. B. M. Bhatia : Famines in India pp. 303-5
2. Alak Ghosh : Indian Economy—Its Nature & Problems (1968).

बगाल की अपेक्षा अधिक समितियो का निर्माण किया गया, क्योंकि बगाल मे जमींदारी के कारण काश्तकारो को भूमि गिरवी रखने का अधिकार नही था। धीरे धीरे सहकारी बिक्री, पशु-बीमा, अनिवार्य वस्तुओ की सहकारी खरीद तथा उपभोक्ता सहकारी भडारो की लोकप्रियता मे वृद्धि हुई। वाडिया तथा मर्चेन्ट ने बताया है कि १९१२ के *अधिनियम के बाद दो वर्ष मे ही सहकारी समितियो* की सख्या १५००० तथा सदस्यो की सख्या ६ लाख ६५ हजार तक पहुँच गई (१९११-१२ मे यह सख्या क्रमश ८१७७ एव ४ लाख थी)।[1] यह सहकारी आन्दोलन का द्वितीय सोपान था।

प्रथम महायुद्ध काल मे सहकारी आन्दोलन के विषय मे जाँच करके अपने सुझाव प्रस्तुत करने के लिए १९१४ म सर एडवर्ड मैक्लेगन की अध्यक्षता मे एक समिति बनाई गई। समिति की रिपोर्ट १९१५ मे प्रस्तुत की गई। समिति ने आन्दोलन को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए सह-*कारिता की शिक्षा*, सदस्यो का उपयुक्त चुनाव, साम्य की व्यवस्था मे ईमानदारी एव सुयोग्य सचालन रखने का सुझाव दिया। समिति ने तत्कालीन सहकारी आन्दोलन मे निम्न दोष स्पष्ट किए

(i) समितियो की व्यवस्था मे जनता की अशिक्षा एव अज्ञानता बाधक थे, (ii) प्रबन्ध समिति के सदस्यो मे ईमानदारी का अभाव था तथा वे अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन थे, (iii) ऋण देने मे प्रबन्धक लोग पक्षपात करते थे, (vi) आन्दोलन की सफलता मे सबसे बडी बाधा लोगो के इस विश्वास के कारण उत्पन्न हुई थी कि सहकारी बैंक, सरकारी बैंक थे और रजिस्ट्रार राज्य का प्रतिनिधि बनकर व्यापार करता था, तथा (v) कृषकों को ऋण प्रदान करने मे अनावश्यक विलम्ब हो जाता था।

मैक्लेगन समिति ने सहकारी आन्दोलन को एक प्रान्तीय विषय बनाने का सुझाव दिया। दुर्भाग्य से इस समय प्रथम महायुद्ध चल रहा था और इसलिए समिति के महत्वपूर्ण सुझावो की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया। लेकिन १९१९ म मौंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारो का सुधार अधिनियम के अन्तर्गत सहकारिता को प्रान्तीय विषय बना दिया गया। भारत मे जो भी सहकारी आन्दोलन का स्वरूप आज हमे दिखाई देता है उसे सवारने तथा इस रूप मे ढालने का सारा श्रेय मैक्लेगन समिति तथा उसके सुझावो के आधार पर बनाई गई राजकीय नीति को ही दिया जा सकता है। आर० पतुलु के शब्दों मे १९०४ व १९१५ के बीच का समय 'प्रारम्भिक प्रयासों एव नियोजन' का समय था, और सहकारी आन्दोलन का वास्तविक प्रगति १९२० के बाद हुई है।

द्वितीय महायुद्ध एव सहकारी आन्दोलन

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना तथा कृषि साख विभाग की सक्रियता ने कुछ सीमा तक सहकारी बैंको को प्रोत्साहन दिया। प्रातीय विषय होने के कारण अब इस आदोलन को सफल बनाने का सारा उत्तरदायित्व प्रातीय सरकारो पर था। फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक यह आदोलन सतोषजनक गति प्राप्त कर चुका था लेकिन युद्ध के प्रारम्भ होते ही अनेक कठिनाइया भारतीय जनता को अनुभव होने लगी जैसे आवश्यक वस्तुओं का अभाव, मुनाफाखोरी आदि आदि। फलस्वरूप *महकारी साख समितियों के अतिरिक्त तीन अन्य प्रकार की सहकारी* समितियो का विकास युद्ध काल मे हुआ (i) प्रथम, उपभोक्ता सहकारी भण्डार, (ii) सहकारी *विक्रय समितियाँ* एव (iii) कुटीर उद्योग से सम्बन्धित सहकारी समितियाँ। राज्यो के सहकारी विभागो से अनुदान प्राप्त करके इन समितियों ने सहकारी आदोलन के इतिहास मे एक मोड ला दिया और जहाँ अब तक जनता व सरकार का ध्यान व्यावहारिक रूप मे सहकारी साख पर ही केन्द्रित था, अब सहकारिता के अन्य पहलुओं का भी महत्व बढ गया।

प्रो० अलक घोष का अनुमान है कि १९३८-३९ मे जनसख्या के केवल ६०% भाग मे सहकारी आदोलन का प्रभाव था, वही १९४५-४६ मे १६% जनता इससे प्रभावित हो गई।[2] १९४४ मे ब्रिटिश सरकार ने प्रो० गाडगिल की अध्यक्षता मे कृषि वित्त उपसमिति की नियुक्ति की जिसका कार्य ऋण-ग्रस्तता कम करने एव कृषको को अल्पकालीन व दीर्घकालीन ऋणो की व्यवस्था

1. Wadia & Merchant Our Economic Problem p 250
2 Alak Ghosh, op cit p 231

के लिए सुझाव देना था। जनवरी १९४५ मे श्री सरैया की अध्यक्षता में सहकारी आयोजन समिति की नियुक्ति इस आदोलन के विस्तार हेतु कार्यक्रम प्रस्तुत करने के उद्देश्य से की गई।

१९४७ में गाडगिल समिति एवं सरैया-समिति के सुझावों पर विचार प्रारम्भ हुआ। १९४९ में रजिस्ट्रारो तथा अखिल भारतीय सहकारी संस्थाओ के संयुक्त सम्मेलन मे सहकारी आदोलन को और अधिक गति प्रदान करने का निश्चय किया गया। सरैया समिति के सुझावो के अनुसार निम्न कार्यों को बढावा देने पर विचार किया गया :

(अ) प्राथमिक ऋण समितियो की अपेक्षा बहु-उद्देश्यीय समितियो की स्थापना, (आ) पुन: प्राप्त की गई भूमि का कृषि श्रमिको की सहकारी समितियो मे वितरण, (इ) प्रत्येक जिले में कम से कम दो सहकारी कृषि समितियो की स्थापना, एवं (ई) कृषि उपज की बिक्री, दूध के सभरण एव शहरी साख आदि के लिए सहकारी समितियो की स्थापना।

यद्यपि द्वितीय महायुद्ध में गैर-सहकारी समितियों का पर्याप्त मात्रा मे विकास हुआ तथापि इनका महत्व पूर्ववत् रहा। १९४५-४६ मे कुल प्राथमिक समितियो मे से ७२.७% समितियाँ साख समितियो के रूप मे थी—इनका अनुपात १९४७-४८ मे ६६.४% रहा। प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ होते समय योजना आयोग ने भारत की आर्थिक प्रगति में सहकारिता के अमूल्य योगदान का मूल्य जान लिया था।

स्वतन्त्रता के पूर्व सहकारी आन्दोलन की समीक्षा

हम ऊपर यह बता चुके हैं कि यद्यपि सहकारी आन्दोलन का प्रारम्भ भारत मे १९०४ से ही चुका था, तथापि इस आन्दोलन की वास्तविक प्रगति १९१९ के बाद हुई। द्वितीय महायुद्ध काल मे सहकारी आन्दोलन साख के अतिरिक्त अन्य दिशाओं मे भी प्रारम्भ हो गया। लेकिन इन सब के उपरान्त भी सहकारी आन्दोलन मे जनसाधारण को प्रभावित नही किया था तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय विद्यमान १ लाख ३९ हजार समितियाँ केवल कुछ कृषको को उधार देने के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे लगभग निष्क्रिय हो थी। महाजनो का प्रभुत्व किसी प्रकार कम नही हुआ था और अपनी कमजोर वित्तीय स्थिति के कारण सहकारी साख सस्थाएँ उन्हे किसी प्रकार की चुनौती नही दे सकती थी। वस्तुत: सहकारी आन्दोलन की उपादेयता से देश की जनता स्वतन्त्रता के पूर्व तक अनभिज्ञ थी और इसी कारण यह आन्दोलन लोकप्रिय नही हो सका था।

आर्थिक नियोजन एवं सहकारी आन्दोलन

जिस समय हमारी प्रथम पचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई उस समय लगभग १ लाख ८१ हजार मे अधिक सहकारी समितियाँ देश मे विद्यमान थी इनमे से दो-तिहाई साख समितियों के रूप में थी और इनके अन्तर्गत देश की जनता का केवल ७.५% भाग आता था। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल मे देश के ५०% गाँवो तथा ४०% ग्रामीण जनता को इस आन्दोलन से प्रभावित करने का लक्ष्य रखा गया। यह भी निश्चय किया गया कि सहकारी साख का कुल साख मे अनुपात ३.१% से बढ़ाकर १०% कर दिया जाय।

लेकिन योजना के प्रथम वर्ष मे ही रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने सहकारी साख आन्दोलन की समीक्षा प्रारम्भ कर दी। समिति ने १९५४ मे प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट मे निम्न सुझाव मुख्य रूप से दिए

(i) सहकारी सस्थाओं में राज्य की साझेदारी—सरकार को चाहिए कि सहकारी सस्थाओ के विकास मे प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से योगदान प्रदान करे। शिखर स्तर पर राज्य का प्रत्यक्ष माझा होना चाहिए, जबकि जिला-स्तरीय एव प्राथमिक समितियो की पूँजी जुटाने में राज्य को परोक्ष रूप से योगदान देना चाहिए।

(ii) साख समितियो एव अन्य कृषि कार्यों जैसे परिनिर्माण (Processing) व बिक्री आदि मे ताल-मेल बिठाया जाय। इन कार्यो के लिए बनाई गई सहकारी समितियो तथा साख समितियो के कार्यों मे ताल-मेल होना चाहिए। इसी को साख की एकीकृत योजना की संज्ञा दी गई।

(iii) समिति के मतानुसार भारत मे सहकारी साख समितियो को वृहत्स्तरोय बनाये जाने से इस आन्दोलन की लोकप्रियता बढ सकेगी। समिति ने "कई गाँवो के पीछे एक समिति" बनाने का सुझाव दिया।

(iv) समिति ने सहकारी साख समितियो की सदस्यता के विषय मे बताया कि अधिकाश समितियो मे सदस्य सख्या कम थी तथा छोटे कृषको एव कृषि श्रमिको को जमानत कम या नही होने के कारण सदस्य नही बनाया जाता। यह एक अनुचित बात थी और इस दोष को दूर किया जाना चाहिए।

(v) सहकारी साख समितियो की कार्यप्रणाली एव प्रबन्ध दोषपूर्ण है। समिति ने सहकारी समितियो के कर्मचारियो को प्रशिक्षित किए जाने की *आवश्यकता पर बल दिया।*

(vi) सहकारी बैंको एव भूमि-बन्धक बैंको का पुनर्गठन किया जाए। रिजर्व बैंक द्वारा कृषि साख हेतु ये कोष (दीर्घकालीन ऋणो तथा स्थायीकरण कोष) बनाए जाएँ जो सहकारी बैंको के माध्यम से कृषको को ऋण प्रदान करें।

इन सुझावो को मानते हुए सरकार ने प्रत्येक राज्य मे एक केन्द्रीय सहकारी बैंक (Apex Bank) तथा जिलो मे केन्द्रीय बैंको का निर्माण किया। सहकारी साख कृषि कार्यो मे तालमेल बढाने के लिए भी प्रयास किए गए है। सहकारी साख व बिक्री को प्रोत्साहन देने के लिए ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने गोदामो व भण्डार गृहो के विकास पर बल दिया।

रिजर्व बैंक द्वारा द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे सहकारी आन्दोलन की सफलता हेतु निम्न कदम उठाए गए है

(i) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) की स्थापना। प्रथम कोष से दीर्घकालीन ऋण राज्य सरकारो को इस आशय से दिए जाते हैं कि वे सहकारी सस्थाओ की पूँजी मे योग दे सकें। जबकि द्वितीय कोष मध्यमकालीन ऋणो के लिए बनाया गया है। जून, १९६८ तक दोनो कोषो मे क्रमश ११४ करोड रुपए व १२ करोड रुपए जमा किए जा चुके थे।

(ii) कृषि साख विभाग की स्थायी परामर्शदात्री समिति की नियुक्ति जो समय-समय पर रिजर्व बैंक को सहकारी साख के विस्तार हेतु सुझाव देगी।

(iii) सहकारी विभागो व सस्थाओ के कर्मचारियो का प्रशिक्षण यह व्यवस्था अल्प-कालीन कोर्स (६ माह हेतु जो विभागीय उच्च अधिकारियो के लिए है) तथा दीर्घकालीन कोर्स (१ वर्षीय जो सहकारी बैंको के कर्मचारियो के लिए है) के रूप मे की गई है।

इनके अतिरिक्त रिजर्व बैंक केन्द्रीय भूमि विकास (बन्धक) बैंको तथा अन्य शीर्ष एव केन्द्रीय सहकारी सघो की पूँजी जुटाने मे भी योगदान देता रहा है। यही नही, केन्द्रीय गोदाम निगम आदि की स्थापना मे भी इसका सक्रिय सहयोग रहा है।

द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल मे समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण मे सहकारी सस्थाओ के योगदान को सर्वाधिक महत्व दिया गया। इस योजना के अन्तर्गत वृहत्स्तर पर सहकारी कृषि, उपभोक्ता सहकारिता, सहकारी भवन निर्माण तथा औद्योगिक सहकारिता को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया गया था।

द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे सहकारिता की स्थिति पर विचार करने तथा सहकारी आन्दोलन की सफलता हेतु सुझाव देने के लिए सर मालकम डार्लिंग को कोलम्बो योजना के प्राविधिक सहकारिता कार्यक्रम के अन्तर्गत आमन्त्रित किया। सर डार्लिंग के पश्चात १९६० मे श्री वैकुण्ठलाल मेहता की अध्यक्षता मे एक और समिति ने सहकारी साख के विषय मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उक्त दोनो समितियो के भारतीय सहकारी आन्दोलन सम्बन्धी मन्तव्य एव इसके विकास हेतु प्रस्तुत सुझाव आगे दिए गए हैं

माल्कम डार्लिंग की रिपोर्ट

१९५७ मे सर माल्कम डार्लिंग ने कोलम्बो योजना के प्रावधिक सहकारिता कार्यक्रम योजना आयोग के अनुरोध पर सहकारी आन्दोलन की प्रगति का अध्ययन किया। सर डार्लिंग ने सहकारी आन्दोलन की प्रगति के सम्बन्ध मे जो विवरण प्रस्तुत किया वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बताया कि भारत में लक्ष्य-निर्धारण की प्रवृत्ति बहुत अधिक है और सहकारिता के विषय मे सोचा अधिक जाता है जबकि काम कम होता है। बम्बई, आन्ध्रप्रदेश, मद्रास व पजाब का उन्होने विशेष रूप से उल्लेख किया। उन्होने इस बात पर भी आश्चर्य प्रकट किया कि १९५४-५५ मे ९ बडे राज्यो मे से ५ राज्यो मे एक चौथाई समितियां घाटे मे चल रही थी। बकाया ऋणो की राशि मे वृद्धि हो रही थी तथा साख समितियो के निजी कोष तथा जमा का अनुपात कार्यशील पूंजी मे बहुत कम था। सर डार्लिंग ने बडे आकार की तथा सीमित दायित्व वाली समितियो के विकास मे असहमति व्यक्त की। सर डार्लिंग ने विभिन्न प्रदेशो मे विद्यमान अन्तर पर भी खेद व्यक्त किया। सर डार्लिंग ने सहकारी समितियों की कार्यप्रणाली मे साख व बचत दोनो पर समान महत्त्व देने का सुझाव दिया तथा यह भी कहा कि सहकारी समितियों को यथासम्भव सरकारी सहायता के बिना कार्य करना चाहिए। बचत से उनका आशय ग्रामीण क्षेत्रों में मितव्ययता को प्रोत्साहन देने से था, ताकि समितियो की जमा राशि (Deposits) भी बढ सके। सरकारी प्रतिनिधियो की संख्या सीमित करने एव राज्य का हस्तक्षेप कम-से-कम करने का भी उन्होने सुझाव दिया।[1]

मेहता समिति की रिपोर्ट

सहकारी साख के विषय मे वैकुण्ठलाल मेहता समिति ने १९६० मे एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। सहकारी संस्थाओ की कार्य-प्रणाली तथा राज्य के साझे की सीमा पर इस समिति ने काफी विस्तार से विचार किया। इसके पूर्व १ नवम्बर, १९५८ मे राष्ट्रीय विकास परिषद ने यह प्रस्ताव पारित कर लिया कि ग्राम पंचायतो तथा सहकारी समितियो को सामुदायिक विकास के कार्यक्रमो में प्राथमिक इकाइयाँ माना जाय तथा इन्ही के माध्यम के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों का सर्वांगीण विकास किया जाय।[2]

मेहता समिति ने सहकारी संस्थाओं से लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत किए

(i) सहकारी साख की सुविधा भूमि के मालिकों के अतिरिक्त काश्तकार सदस्यो को भी उपलब्ध होनी चाहिए, यदि वे सुरक्षा (जमानत) एव पर्याप्त गवाहो को प्रस्तुत कर सकते हैं।

(ii) राज्य की साझेदारी प्राथमिक साख समितियो में अधिक होनी चाहिए।

(iii) रिजर्व बैंक द्वारा बैंको (सहकारी) को दिए जाने वाले ऋणो की शर्तें अधिक उदार होनी चाहिए।

(vi) सहकारी साख समितियाँ ही ग्रामीण साख की पूर्ति मे भाग लें।

(v) मेहता समिति ने ऋण के प्रयोजन पर दृष्टिपात करने का विशेष रूप मे सुझाव दिया है। उत्पादक कार्यों (बीज, उपकरण व खाद के लिए) के लिए ऋणो को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

(vi) बहु-गाँव वाली समितियो के विकास को प्रोत्साहन नही दिया जाय। समिति ने छोटी, लेकिन सक्रिय सहकारी समितियों को बढ़ावा देने का सुझाव दिया है।

(vii) ५०० रुपये तक के ऋणो पर कोई जमानत नही ली जानी चाहिए।

(viii) सदस्य को लगाई गई पूंजी की ८ से १० गुनी तक राशि ऋण के रूप मे दी जा सकती है।

---

1. See Report on Certain Aspects of Coop. Movement in India (1957)
2. Third Five Year Plan, pp. 201-2

(ix) जीवन बीमा निगम द्वारा भूमि बन्धक बैंको के डिबेंचर काफी मात्रा मे खरीदे जाएँ ताकि इनकी उधार देने की क्षमता बढ सके।

(x) प्रत्येक सहकारी समिति को कार्यालय के प्रबन्ध हेतु १,२०० रु० का वार्षिक अनुदान ५ वर्ष तक दिया जाए।

उपरोक्त सुझावों पर राज्यो के सहकारिता-मन्त्रियो की बैठक मे जून, १९६० मे विचार किया गया तथा राज्य सरकारो की सहकारिता सम्बन्धी नीति मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। प्रथम तो यह निश्चय किया गया कि गाँवो की समितियो के गठन करते समय कम-से-कम गाँवों को समिति के कार्यक्षेत्र मे सम्मिलित किया जाए तथा यथाशीघ्र समिति को स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा दी जाए। द्वितीय, यह भी निश्चय किया गया कि अधिक-से-अधिक रु० तक का योगदान राज्य द्वारा प्राथमिक कृषि साख समिति की पूँजी मे किया जाय और अपवाद स्वरूप स्थिति मे १०,००० रुपये तक भी दिए जा सकते है। लेकिन राज्य द्वारा दी गई राशि के समान ही सदस्यो को भी देना होगा।

इसके अतिरिक्त कार्यालय के प्रबन्ध हेतु सरकार द्वारा ९०० रुपये प्रतिवर्ष के हिसाब से ३ से ५ वर्ष तक अनुदान देने का भी निश्चय किया गया। मेहता समिति की वह सिफारिश भी मान ली गई जिसके अनुसार ५०० रुपये तक के ऋणो के लिए भूमि गिरवी रखना आवश्यक नही था। यह भी तय किया गया कि ३ ००० व्यक्तियो या ५०० कृषक-परिवारो की बस्ती मे एक समिति हो तथा मुख्य कार्यालय से कोई भी गाँव ३ ४ मील से अधिक दूरी पर नही हो। १९६१ मे पचायतो तथा सहकारी समितिया पर एक कार्यशील दल ने विचार करके निम्न सुझाव प्रस्तुत किए

(अ) पचायतो का सहकारी समितियों की सदस्यता बढाने एव इस आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने के लिए सक्रिय सहयोग उपलब्ध होना चाहिए।

(आ) वडे व अनुदान सम्बन्धी कार्यो की व्यवस्था पचायतो के तत्वावधान एव निर्देशन मे हो लेकिन सामान्य व्यवसाय के मसले सहकारी समितियों पर छोड दिए जाएँ।

(इ) जहाँ सहकारी समितियाँ परिपक्वता की स्थिति मे नही है वहाँ उनके कार्यभार का एक अश पचायतें वहन कर।

तृतीय पचवर्षीय योजना काल में सहकारिता के विकास हेतु कुल ७६ करोड रुपए व्यय किए जाने का अनुमान था। इस योजना के अन्तर्गत सहकारी आन्दोलन के लिए निम्न मुख्य बातें दृष्टिगत रखी गई

(१) सामुदायिक विकास योजनाओ की सफलता हेतु पचायतों व सहकारी सस्थाओ को आगे बढाना जरूरी है। (२) सहकारी सस्थाओ के विकास का मूल उद्देश्य गाँव की कृषि योजना को सफल बनाना है। (३) गाँवो मे सहकारी समितियो का उद्देश्य समय पर कृपको को साख उपलब्ध कराने के अतिरिक्त उन्हे मार्ग दर्शन एव अन्य प्रकार की सहायता देना भी हो ताकि ग्रामीण जनता का अधिकतम कल्याण हो सके। (४) एक गाँव मे एक सहकारी समिति हो पर यदि गाँव छोटा हो तो एक हजार सदस्यों की सहकारी सस्था बनाने के लिए अन्य गाँवो को भी समिति के क्षेत्र मे शामिल किया जा सकता है। (५) जहा उत्पादन वृद्धि के कार्यक्रम हैं वहा सहकारी समिति का उत्तरदायित्व समय पर पर्याप्त साख की व्यवस्था द्वारा इन्हे सफल बनाना होना चाहिए। (६) कृषि साख व विपणन के ताल-मेल (एकीकरण) को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। (७) सहकारी आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने के लिए जनता मे शिक्षा का प्रसार आवश्यक है।

तृतीय योजना काल में सहकारी आन्दोलन को प्रत्येक जिला तथा विकास खड की योजनाओ का एक आवश्यक अग माना गया।

तृतीय योजना काल मे भी सहकारी आन्दोलन की समीक्षा हेतु कुछ महत्वपूर्ण समितिया एव अध्ययन दलो की नियुक्ति की गई। इनमे से एक समिति राजस्थान विधान सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री रामनिवास मिर्धा की अध्यक्षता मे बनाई गई थी। मिर्धा समिति की रिपोर्ट

१९६५ मे प्राप्त हुई। इसके पूर्व दिसम्बर, १९६३ मे गैर-कृषि-साख क्षेत्र के लिए एक अध्ययन दल ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। अध्ययन दल ने मुख्य रूप से नगरों के सहकारी बैंको तथा कर्मचारियो की साख समितियो की समीक्षा करते हुए एक लाख या इससे अधिक जनसंख्या वाले प्रत्येक नगर मे एक नागरिक सहकारी बैंक की स्थापना का सुझाव दिया। दल के मतानुसार इन बैंको का कार्य लघु उद्योगो को विभिन्न क्षेत्रो मे साख प्रदान करना होना चाहिए। दल ने यह भी सुझाव दिया कि प्रत्येक सस्था मे जहां ५० से अधिक कर्मचारी हो, एक कर्मचारी-साख समिति की स्थापना की जाय।

मिर्धा समिति द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट की मुख्य बातें इस प्रकार थी :

१ **सहकारी आन्दोलन के मूलभूत सिद्धांत**—समिति ने बताया कि सहकारी आन्दोलन के ठोस विकास हेतु ६ सिद्धान्तो का पालन होना आवश्यक है : (i) खुली सदस्यता—जिसके अनुसार व्यापारियो या साहूकारो के अतिरिक्त सभी व्यक्तियो को समिति का सदस्य बनने की छूट दी जाय। (ii) प्रजातात्रिक प्रबन्ध एव नियंत्रण, (iii) पूँजी पर सीमित ब्याज दिया जाय, (iv) विपणन समिति का लाभाश सदस्यों द्वारा समिति को बेची गई उपज के अनुपात मे बाँटा जाय, (v) सदस्यों मे परस्पर सहायता की भावना का विकास हो, तथा (vi) सहकारी आदोलन के द्वारा सहकारिता के आदर्शों की शिक्षा का विकास हो, परन्तु सदस्यों में स्वावलम्बन की प्रवृत्ति भी बढनी चाहिए।

२ **सहकारी आन्दोलन को कमियाँ**—मिर्धा समिति के वर्तमान सहकारी आन्दोलन मे निम्न दोष बताए हैं

(i) **निष्क्रिय समितियाँ**—मिर्धा समिति ने बताया कि देश की सहकारी समितियो मे से अनेक केवल नाम-मात्र को विद्यमान हैं और जनसाधारण को उनसे कोई लाभ नही होता। १९६३-६४ मे सहकारी साख (प्राथमिक) समितियो मे से २०% तथा खादी व ग्रामोद्योग समितियो मे से ३०% पूर्णतया निष्क्रिय पाई गई थी।

(ii) **स्वार्थी तत्वो का अधिकार**—मिर्धा समिति ने बताया कि अधिकाश सहकारी समितियो पर राज्य के आदेशों के बावजूद स्वार्थी तत्वों का अधिकार बना हुआ है। ये लोग अपने मित्रो व सम्बन्धियो को ही समितियो के माध्यम से मदद देते रहते है। इस प्रवृत्ति के दुष्परिणामो की चर्चा करते हुए मिर्धा समिति ने बताया कि इससे समितियो की पूँजी कुछ हाथो मे रुक जाती है और ऋणों की अदायगी न होने पर भी ऋणी व्यक्तियो के विरुद्ध कोई कदम नही उठाए जाते। द्वितीय, इससे सहकारी आन्दोलन का लाभ जनता को न मिलकर कुछ ही लोगो को मिलता रहता है। मिर्धा समिति का अनुमान है कि १३% ग्रामीण जनता को कुल ऋणो का ६५% से अधिक प्राप्त हुआ है। समिति के आधे सदस्यो को इस कारण अन्य स्रोतो से उधार लेना पड़ता है।

(iii) **ऋणों का अनुत्पादक कार्यों के लिए उपयोग**—मिर्धा समिति ने यह भी बताया कि सहकारी समितियो से प्राप्त ऋणो का उपयोग उत्पादक कार्यों के लिए न होकर अनुत्पादक कार्यों के लिए किया जाता है परन्तु इसकी रोकथाम नही की जाती। समिति का अनुमान है कि लगभग ½ ऋणों का उपयोग अनुत्पादक कार्यों के लिए किया जाता है।

(iv) **दोषपूर्ण कार्य-प्रणाली**—मिर्धा समिति की रिपोर्ट मे यह भी बताया गया कि सहकारी संस्थाओ की कार्य-प्रणाली दोषपूर्ण है और यही कारण है कि सहकारी आन्दोलन भारतीय जन-जीवन का आवश्यक अंग नही बन सका है।

३. **मिर्धा समिति के सुझाव**—मिर्धा समिति ने सहकारी आन्दोलन की सफलता के लिए निम्न सुझाव दिए :

(१) **सदस्यता पर प्रतिबन्ध**—सहकारी सस्थाओ मे केवल उन व्यक्तियो को प्रवेश दिया जाय जिन्हें वास्तव में सहायता की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए साहूकारो को साख समितियो का, व्यापारियों को विपणन समितियो का तथा मकान मालिको को भवन निर्माण समितियो का सदस्य बनाना वाछनीय नही है। लेकिन प्रत्येक जिले मे एक समिति हो जो सदस्यता सम्बन्धी शिकायतों का निराकरण कर सके।

(२) **गुणात्मक पक्ष पर बल**—समिति ने स्पष्टतः चेतावनी देते हुए कहा कि सहकारी आन्दोलन का गुणात्मक पक्ष दृढ होना चाहिए। समितियो की सख्या में वृद्धि करना ही इस आंदोलन की सफलता का द्योतक नहीं है। वस्तुत अस्थिपंजर (स्केलेटन) को रेशमी वस्त्र पहनाने की अपेक्षा उसे निकालकर फेंकना अधिक उपयुक्त है। मिर्घा समिति ने इस आन्दोलन की जनजीवन हेतु उपादेयता बढाने पर बल दिया।

(३) **अंकेक्षण**—बकाया ऋणो की वसूली, ऋणो के वितरण और समितियो के सामान्य प्रशासन मे विद्यमान अनियमितताओ को रोकने के लिए अंकेक्षण व्यवस्था निष्पक्ष एव दृढतर होना आवश्यक है। प्रबन्धको या उनके सम्बन्धियो द्वारा लिए गए ऋणो का पूरा विवरण अंकेक्षकों को दिया जाय।

(४) **जाँच व्यवस्था**—ऋणो के प्रयोजन एव वास्तविक उपयोग की जाँच के लिए निरीक्षकों को दृढता एव निष्ठापूर्वक कार्य करने के आदेश दिए जाएँ।

(५) **एकाधिकार का उन्मूलन**—केन्द्रीय सहकारी सघ समितियो के पदाधिकारियो के चुनावो के समय अपने प्रतिनिधियो को भेजें ताकि स्वार्थी तत्व प्रबन्ध समिति पर एकाधिकार न कर पाएँ।

(६) **सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम**—सहकारी आन्दोलन की लोकप्रियता बढाने के लिए राज्य वतमान सहायता को जारी रखने पर यथासम्भव समितियो के कार्यों में हस्तक्षेप न करे। परन्तु समितियो की स्वायत्तता एव स्वावलम्बन हेतु राज्य की ओर से शैक्षणिक कार्यक्रम प्रारम्भ किए जाएँ। इन कार्यक्रमो की व्यवस्था राष्ट्रीय सहकारी सघ व राज्य सहकारी सघो के तत्वावधान में की जाय परन्तु सहकारी समितियो को चाहिए कि व अपने लाभ का एक अंश इन कार्यक्रमो के लिए दें।

(७) **सहकारिता की शिक्षा पर बल**—सदस्यो को सहकारिता की शिक्षा देने के लिए राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम बनाया जाय जिसमे प्रौढ शिक्षा भी शामिल हो। इन दोनो कार्यक्रमो मे राज्य के सक्रिय सहयोग की भी आवश्यकता होगी।

प्रथम तीन पचवर्षीय योजनाओ मे सहकारिता का विकास

तीन पचवर्षीय योजनाओ की अवधि मे सहकारी आंदोलन मे अनेक कमियो व कठिनाइयो के बावजूद पर्याप्त प्रगति हुई। निम्न तालिका इस तथ्य की पुष्टि करती है

तीन योजनाओ में सहकारी आन्दोलन की प्रगति

	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६४-६५
कुल समितिया (प्राथमिक) (लाख म)	१ ८०	३ ३०	३ ७०
सदस्य सख्या (लाख मे)	१३७	३४२	५१०
कार्यशील पूँजी (करोड रुपए)	२७६	१३१२	२४००
प्रभावित गाव (प्रतिशत में)	२५	७५	८५
प्रभावित ग्रामीण जनसख्या (प्रतिशत मे)	७ ५	२४	३३

इस प्रकार १९५१ व १९६५ के बीच सहकारी समितियों की सख्या दुगुनी से अधिक हुई है, पर कार्यशील पूँजी ८ गुनी हो गई है।

तृतीय पचवर्षीय योजना काल मे सहकारिता के विकास पर ७५ ५ करोड रुपए व्यय किए गए। १९६६-६७, १९६७-६८ तथा १९६८-६९ मे क्रमश. ३३ ५ करोड रुपए, ३६ ३ करोड रुपए तथा ३४ करोड रुपए इस मद पर व्यय किए गए थे।

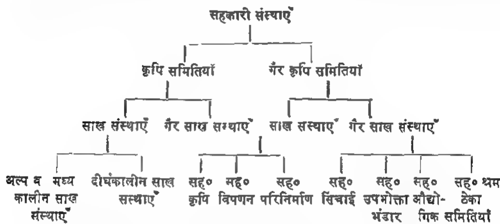
चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे सहकारी आन्दोलन

चौथी पचवर्षीय योजना के अन्त तक देश के सभी गांवो तथा तीन-चौथाई जनसख्या

को सहकारिता के क्षेत्र मे लाने का लक्ष्य रखा गया है। इस योजनाकाल मे कुल मिलाकर १५१ ४ करोड रुपए सहकारिता के प्रसार हेतु खर्च किये जाएंगे। सहकारिता के विभिन्न क्षेत्रों (साख, भवन निर्माण, विपणन, सहकारी खेती, सहकारी भंडार-व्यवस्था, उपकरणो की व्यवस्था, उपभोक्ता-पूर्ति एवं औद्योगिक समितियाँ) मे पर्याप्त विस्तार के कार्यक्रम बनाए गए हैं जिन सबका वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

भारत में सहकारी आन्दोलन की रचना-प्रणाली

आज से ५० वर्ष पूर्व सामान्य रूप से सहकारी आन्दोलन के अन्तर्गत केवल कृषि साख की व्यवस्था को ही शामिल किया जाता था। परन्तु आज सहकारिता का क्षेत्र बहुमुखी हो गया है। नीचे दिए गए चार्ट से भारत के सहकारी आन्दोलन की रूपरेखा का पता लगता है :



कृषि समितियाँ सामान्यत कृषि के विकास हेतु और गैर कृषि समितियाँ कुटीर या लघु उद्योगो, भवन निर्माण, मत्स्य पालन उपभोक्ता भडारो के लिए बनाई जाती हैं।

प्रशासनिक दृष्टिकोण से भी सहकारी सस्थाओ की रूपरेखा को समझा जाता है। इनमे केन्द्रीय व प्राथमिक सस्थाओं का अन्तर होता है। केन्द्रीय सस्थाओ मे राष्ट्रीय, प्रान्तीय तथा जिला स्तरों पर बनाई गई सस्थाएँ होती है जबकि गाँवो मे या उपजिलो मे प्राथमिक समितियाँ बनाई जाती हैं। वस्तुत जनसाधारण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्राथमिक सस्थाओं से होता है, तथा ये संस्थाएँ फिर सम्बन्धित केन्द्रीय सस्था से सहायता प्राप्त करती हैं। अब हम पहले सहकारी साख संस्थाओ का वर्णन प्रस्तुत करेंगे। अगले अध्याय मे हम गैर साख संस्थाओ की समीक्षा करेंगे।

सहकारी कृषि संस्थाएँ—साख[1]

(I) अल्प व मध्यकालीन साख :

हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि पिछले १६-१७ वर्षो मे सहकारी साख-व्यवस्था मे काफी सुधार हुआ है। जहाँ १९५१-५२ मे प्राथमिक सहकारी साख समितियो ने कुल कृषि साख (७५० करोड रुपए) का केवल ३·१०% अश प्रदान किया था, दस वर्ष मे कृषकों की साख सम्बन्धी जरूरतो (१०३४ करोड रुपए) का २५·८% इनके द्वारा पूरा किया जाने लगा। १९६६-६७ मे इन समितियो ने अनुमानत ३६५ करोड रुपए कृषकों को दिए। लेकिन सहकारी साख के क्षेत्र मे प्राथमिक समितियो के अतिरिक्त अन्य केन्द्रीय (प्रान्तीय तथा जिला स्तरीय) संस्थाएँ भी होती हैं। पिछले १६ वर्षो मे प्राथमिक समितियो ने जो प्रगति की है वह इसीलिए सम्भव हो सकी थी कि उच्च स्तरीय सहकारी संस्थाओ का भी इस अवधि मे पर्याप्त विस्तार हुआ है। हम अब कृषि साख के क्षेत्र मे सलग्न विभिन्न सस्थाओं का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

---

1. Based on the Statistical Statements Relating to the Co-operative Movement in India Part I—Credit Societies (R. B. I —November, 1968)

तत्पश्चात् यह देखने का प्रयास किया जाएगा कि सहकारी साख की यह प्रगति किस सीमा तक वास्तविक एव सतोषप्रद है।

(i) राज्य सहकारी बैंक—ये शीर्ष बैंक भी कहलाते हैं। सामान्य रूप से प्रत्येक राज्य मे एक शीर्ष बैंक की स्थापना की जाती है। शीर्ष बैंको के तीन मुख्य कार्य होते है · (१) जिला स्तर पर स्थापित केन्द्रीय सहकारी बैंको को सहायता करना, (२) राज्य विशेष के सहकारी आन्दोलन एव रिजर्व बैंक के बीच ताल-मेल बैठाना, एव (३) राज्य मे सहकारी साख से सम्बद्ध समस्याओ पर विचार-विमर्श हेतु सार्वजनिक मच प्रदान करना। शीर्ष बैंको की सख्या जून, १९५२ के अन्त मे १६ थी जो जून १९६७ के अन्त तक बढकर २५ हो गई। १९६७ मे शाखाओ सहित इनकी सख्या १४१ थी। इसी प्रकार उक्त अवधि मे कार्यशील पूँजी व बकाया ऋणो की राशि क्रमश ३६ करोड ७२ लाख रुपए व २० करोड रुपए से बढकर क्रमश ४०३ करोड रुपए एवं ३२५ करोड रुपए हो गई।

लेकिन जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ये बैंक व्यक्तियो को सहायता नही देते और न ही इनका प्राथमिक समितियो से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। इसके विपरीत शीर्ष बैंक जिला-स्तरीय केन्द्रीय सहकारी बैंको को सहायता देते है जो नीचे के स्तर की सस्थाओ (प्राथमिक) के माध्यम से काश्तकार को ऋण देते हैं।

(ii) केन्द्रीय सहकारी बैंक—ये बैंक जिला स्तर पर बनाए जाते हैं परन्तु कृषको की सहायतार्थ उप जिलो मे इनकी शाखाए भी खोली जा सकती है। पिछले कुछ वर्षो मे यद्यपि केन्द्रीय सहकारी बैंको की संख्या मे कमी हुई है, फिर भी इनकी वित्तीय स्थिति एव कृषि हेतु दी जाने वाली साख मे काफी सुधार हुआ है। जून, १९५१ व जून १९६७ के बीच इनकी सख्या ५०९ से घटकर ३४६ रह गई लेकिन कार्यशील पूँजी व बकाया ऋणो की राशि क्रमश ६० करोड रुपए व १०६ करोड रुपए से बढकर ६३८ करोड रुपए व ४९९ करोड रुपए होगई।

उच्च स्तरीय सस्थाओ का सरकार अथवा रिजर्व बैंक पर इतना अधिक निर्भर रहना सर्वथा अनुचित है।

(iii) प्राथमिक सहकारी साख समितियाँ[1]—सहकारी साख आन्दोलन के पिरामिडीय ढाँचे मे शीर्ष बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंक व प्राथमिक समितियो का समावेश होता है। यदि प्राथमिक समितियो को ही सहकारी आन्दोलन का आधार मान लिया जाय तो यो अनुचित नही होगा क्योकि ये समितियाँ ही प्रत्यक्षत कृषक की सहायता करती है।

पिछले १५-१६ वर्षो मे सहकारी साख समितियो का कृषि क्षेत्र मे योगदान काफी बढा है यह हम ऊपर बता चुके हैं। १९५०-५१ व १९६६-६७ के बीच हुई प्राथमिक साख समितियो की प्रगति निम्न तालिका से स्पष्ट होती है

	(३० जून को)		
	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६६-६७
समितियो की सख्या (लाख)	१ ०४	२ १२	१ ७८
सदस्यो की सख्या (लाख)	४४	१७०	२६७
अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण (करोड रुपए)	२३	२०३	३६५
शेयर पूँजी (करोड रुपए)	९	५८	१२८·६

१९६४ के बाद से प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियो की सख्या मे कमी हो रही है परन्तु कार्यशील व शेयर पूँजी मे तथा सदस्यो की सख्या मे वृद्धि हो रही है। इसका कारण यह बताया जाता है कि अब निष्क्रिय समितियो को समाप्त करके सहकारी साख का सगठन अधिक ठोस रूप मे किया जा रहा है।

तृतीय योजना के अन्त तक प्राथमिक समितियो द्वारा दी जाने वाली राशि को ४०० करोड रुपए तक बढाने का विचार किया गया था परन्तु वास्तविक साख की मात्रा ३४५ करोड

1. See Co operative Credit for Agriculture in India by S S Rangacheri (Indian Co-op Review, January, 1967)

रुपए तक ही पहुँच सकी। चौथी योजना की समाप्ति तक देश के सभी गाँवों को सहकारी कृषि साख समितियों के अन्तर्गत लाया जाएगा और वार्षिक अल्पकालीन व मध्यकालीन साख की राशि ७५० करोड़ रुपए तक बढ़ाई जाएगी।

१६५१ व १६६७ के बीच प्राथमिक सहकारी (कृषि साख) समितियों की सफलताएँ :

(१) १९५१ व १९६७ के बीच प्राथमिक सहकारी साख समितियों द्वारा प्रभावित गाँवों का समूचे देश के गाँवों में अनुपात ३५% से बढ़कर ९०% हो गया है। प्रभावित ग्रामीण जनसंख्या का अनुपात इस अवधि में ७.५ से बढ़कर ३०% हो गया है।

(२) इस अवधि में प्राथमिक कृषि साख समितियों की शेयर पूँजी ९ करोड़ रुपए अनुमानित से बढ़कर १२८.६ करोड़ रुपए हो गई। कार्यशील पूँजी की राशि ४५ करोड़ रुपए से बढ़कर ६२५.२ करोड़ रुपए हो गई।

(३) १९५१-६७ के बीच वार्षिक साख की मात्रा २३ करोड़ रुपए से बढ़कर ३६५ करोड़ रुपए तथा बकाया ऋणों की राशि ८.५ करोड़ रुपए से बढ़कर ४७८ करोड़ रुपए हो गई।

(४) कृषकों की कुल साख सम्बन्धी जरूरतों की पूर्ति में सहकारी समितियों का योगदान ३.१% से बढ़कर लगभग ३०% हो गया।

(५) प्रति समिति सदस्यता ४५ से बढ़कर १४९ शेयर-पूँजी १ हजार से बढ़कर ७ हजार तथा कार्यशील पूँजी ५.४ हजार से बढ़कर ३५.१ हजार हो गई।

(६) प्रति ऋणी सदस्य वार्षिक ऋण की राशि अनुमानतः १४२ रुपए से बढ़कर ३४४ रुपए हो गई।

इसके बावजूद यह कहना उचित नहीं होगा कि सहकारी (अल्पकालीन व मध्यकालीन) कृषि साख आन्दोलन की प्रगति ठोस आधार पर हुई है। इसकी आलोचनात्मक समीक्षा करने से पूर्व हम दीर्घकालीन कृषि (सहकारी) साख व्यवस्था का विश्लेषण करना चाहेंगे। भारत में यह व्यवस्था भूमि विकास बैंकों द्वारा की जाती है। भूमि विकास बैंक भी शीर्ष तथा प्राथमिक स्तर पर गठित किए जाते हैं।

(II) दीर्घकालीन सहकारी साख व्यवस्था :

भारत में दीर्घकालीन कृषि साख की व्यवस्था भूमि विकास (बंधक) बैंकों द्वारा होती है। इनका विस्तृत वर्णन नीचे किया गया है।

भूमि विकास बैंक[1]—इस प्रकार के बैंकों का उद्देश्य कृषि प्रणाली में स्थायी सुधार हेतु दीर्घकालीन साख प्रदान करना है। यद्यपि इस प्रकार के बैंकों का प्रारम्भ १९२९ में मद्रास में हो गया था, पर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक इस दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी।

भूमि विकास (बन्धक) बैंक दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—प्रथम **केन्द्रीय बैंक** व द्वितीय **प्राथमिक बैंक**। काश्तकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्राथमिक बैंकों से ही होता है।

केन्द्रीय भूमि विकास बैंक—इन्हें कृषि-दीर्घकालीन साख-व्यवस्था की धुरी कहा जाता है। १९५१-५२ व १९६६-६७ के बीच केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों की संख्या ६ से बढ़कर १९ हो गई। १९६७ में सभी कार्यालयों की संख्या (शाखाओं सहित) ३९७ थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों द्वारा दिए गए ऋणों की शेष (outstanding) राशि ७ करोड़ रुपए से बढ़कर १७ करोड़ रुपए हो गई। द्वितीय योजना व तृतीय योजना के अन्त में यह (शेष) राशि क्रमशः ३७ करोड़ रुपए व १६५ करोड़ रुपए थी। ३० जून, १९६७ को केन्द्रीय बैंकों द्वारा प्रदत्त ऋणों की बकाया राशि २०७.४ करोड़ रुपए हो गई।

---

1. Also See Economic Times, January 14, 1966 and article by Shri Udaibhan Singhji entitled "Long Term Credit through Land Development Banks" (Indian Co-operative Review—January, 1967)

तीन योजनाओं की अवधि मे इन बैंको द्वारा दी जाने वाली वार्षिक साख भी काफी बढी है। १९५०-५१ मे १४ करोड रुपए दीर्घकालीन ऋणों के रूप मे दिये गये, पर १९६६-६७ तक यह राशि ५९ करोड रुपए तक पहुँच गई।[1]

केन्द्रीय भूमि विकास बैंक वित्तीय साधनो के लिए शेयर पूंजी की अपेक्षा ऋण पत्र जारी करते है। ये ऋण-पत्र दो प्रकार के होते है—साधारण ऋण-पत्र जिन्हे राज्य सरकारें, स्टेट बैंक व रिजर्व बैंक आदि खरीदते है जब कि दूसरे प्रकार के ऋण-पत्र ग्रामीण ऋण-पत्र कहलाते है जिन्हे ग्रामीण जनता को बेचा जाता है।

केन्द्रीय भूमि विकास बैंको द्वारा कुल चुकाई गई पूंजी जून, १९५२ के अन्त मे ४ २ करोड रुपए के लगभग थी, जो जून, १९६७ तक १९ करोड रुपए तक पहुंच गई। ३० जून, १९६७ को केन्द्रीय भूमि विकास बैंको की कार्यशील पूंजी २६३ ६ करोड रुपए थी जिसमे से ऋण-पत्रो की कुल राशि २३२ ० करोड रुपए थी। यह उल्लेखनीय है कि ३० जून, १९५२ को कार्यशील पूंजी की राशि केवल १० करोड रुपए थी।

चौथी पचवर्षीय योजना काल मे भूमि विकास बैंक ३०० से ४०० करोड रुपए की दीर्घकालीन साख प्रदान करेंगे और इसलिए इस अवधि मे २७५ करोड रुपए के ऋण-पत्र केन्द्रीय व प्राथमिक बैंको द्वारा मिलाकर जारी किए जाएंगे।

प्राथमिक भूमि विकास बैंक—ये बैंक प्रत्यक्षत कृषको के सम्पर्क मे रहते हैं तथा भूमि-पुनर्ग्रहण, पंपिंग सैट, विद्युतीकरण एव भारी कृषि यन्त्रो की खरीद के लिए ऋणो की व्यवस्था करते हैं। सामान्यत: केन्द्रीय भूमि विकास बैंको द्वारा काश्तकारो को इन्ही के माध्यम से ऋण दिये जाते हैं। जून, १९५२ व जून, १९६७ के बीच इन बैंको की सख्या २८९ से बढकर ७०७ हो गई। इन बैंको की कार्यशील पूंजी ७ ६ करोड रुपए से बढकर १७३ ६ करोड रुपए तथा प्रदत्त ऋणो की राशि (१९५१-५२) मे २ ५ करोड रुपए से बढकर ४० ८ करोड रुपए (१९६६-६७) मे हो गई। बकाया ऋणों की राशि इस अवधि मे ७ करोड रुपए से बढकर १५४ ७ करोड रुपए हो गई।

भूमि विकास बैंको की समस्याएं

यद्यपि उपरोक्त विवरण से केन्द्रीय तथा प्राथमिक भूमि विकास बैंको की द्रुत प्रगति का आभास होता है तथापि इन बैंकों के समक्ष कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएं है जिनका तुरन्त निराकरण होना चाहिए।

(१) प्राथमिक भूमि विकास बैंको का विकास केवल कुछ ही राज्यों मे सतोषप्रद ढग से हुआ है। मैसूर, आंध्र प्रदेश व मद्रास मे दो तिहाई प्राथमिक बैंक केन्द्रित हैं। अन्य राज्यो मे इनकी प्रगति न हो सकने का कारण वित्तीय अभाव तथा काश्तकारो की सामान्य अनभिज्ञता है।

(२) केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों के समक्ष भी वित्तीय समस्या है। चूंकि इन बैंको को प्राप्त होने वाले ऋण "मुक्त साख" (Clean Credit) के अन्तर्गत आते है, रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित बैंको पर लगाई जाने वाली पाबन्दियां विकास बैंकों पर भी लागू होती हैं।

(३) बहुत से कृषकों के पास भू-स्वामित्व के रिकार्ड नही है या अधूरे है जिसके कारण भूमि विकास बैंको को दीर्घकालीन ऋण देने मे कठिनाई होती है। ये बैंक बिना उचित सुरक्षा (जमानत) के कोई ऋण नही दे सकते।

(४) भूमि बधक बैंको की प्रशासन व्यवस्था सारे देश मे एक-सी नही है। गुजरात व उत्तर प्रदेश मे केन्द्रीय भूमि विकास बैंको की शाखाएं दीर्घ कालीन ऋण देती है जब कि अन्य राज्यो मे केन्द्रीय तथा प्राथमिक विकास बैंको का गठन अलग-अलग किया जाता है।

अन्न अधिकोष :

अन्न अधिकोष सहकारिता के आधार पर कृषि साख की व्यवस्था करने के हेतु गठित

1. See Annual Report of the Deptt of co-operation for 1667-68

किए जाते है। इनका प्रचलन विशेषरूप से उडीसा आंध्रप्रदेश व महाराष्ट्र के गाँवों में है। अन्न अधिकोष (ग्रेन बैंक) अनाज के रूप में साख प्रदान करते हैं और इनकी जमा भी इसी रूप में होती है। साख के रूप मे ये बैंक बीज आदि देते है परन्तु अन्न अधिकोषो की संख्या भारत में तेजी से कम हो रही है। जून, १९६६ व जून, १९६७ के बीच इनकी संख्या ३६०९ से घटकर २३६७ रह गई। ३० जून, १९६७ को उडीसा में ९७४, आंध्रप्रदेश मे ३७४, पश्चिमी बंगाल में ४३६ व महाराष्ट्र मे ३५४ अन्न अधिकोष थे। इनके अलावा विभिन्न राज्यों मे ४,४८० अन्न अधिकोष निष्क्रिय थे। इस समय इनके बकाया ऋणों की राशि ३.८ करोड (२.१ करोड रुपये जिस के रूप मे) रुपए तथा कार्यशील पूंजी ४.७ करोड रुपए थी। १९६६-६७ मे अन्न अधिकोषो ने लगभग २ करोड़ रुपए के ऋण दिये जिसमे से ९ करोड रुपए नगद रूप मे व शेष अनाज के रूप में दिए गए। कुल राशि (२ करोड़ रुपए) का ७५% केवल उडीसा मे दिया गया।

भारत में सहकारी (कृषि) साख आन्दोलन की आलोचनात्मक समीक्षा

अब तक प्रस्तुत विवरण यह संकेत देता है कि पिछले दो दशको में सहकारी कृषि साख संस्थाओ ने बहुत अधिक प्रगति की है। आज सहकारिता के अन्ध-भक्त तो यहाँ तक दावा करने लगे है कि इसके माध्यम से भारतीय कृषक की सभी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। लेकिन मिर्धा समिति, योजना आयोग की कार्यक्रम मूल्याकन संगठन की जांच तथा शोधकर्ताओ के लेखों से यह स्पष्ट हो गया है कि सहकारी कृषि साख आन्दोलन ठोस आधार पर विकास नहीं कर रहा है तथा लक्ष्यों को पूरा करने के नाम पर निष्क्रिय एवं दिवालिया संस्थाओं का गठन करके उनके माध्यम से करोड़ो रुपए बर्बाद किए जा रहे हैं। निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर वर्तमान सहकारी कृषि साख आन्दोलन मे हमे निम्न दोष दिखाई देते है :

(१) सहकारी कृषि साख संस्थाओ की कार्यशील पूंजी मे उनके निजी कोषों का अनुपात बहुत कम है। १९६६-६७ के अन्त मे शीर्ष बैंको की कार्यशील पूंजी मे निजी कोषों (चुकाई गई पूंजी एवं सुरक्षित कोष) का अनुपात १७% था। लगभग इतना ही अनुपात केन्द्रीय सहकारी बैंको के सन्दर्भ में भी था। प्राथमिक साख समितियो मे निजी कोष कार्यशील पूंजी मे २६.७% थे। लेकिन भूमि विकास बैंको मे कार्यशील पूंजी का ९% से भी कम निजी कोषों के रूप मे था। इस प्रकार ये संस्थाएं स्वयं के साधन बढ़ाने की अपेक्षा अन्य संस्थाओं व सरकार पर अधिक निर्भर हैं।

(२) प्राथमिक साख समितियो द्वारा दिए जाने वाले ऋण का अधिकांश भाग (लगभग ४४-४५%) महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश व पंजाब को प्राप्त होता है। अन्य शब्दो मे सहकारी साख आन्दोलन कुछ राज्यो मे ही केन्द्रित है और अन्य राज्यों मे अथक प्रयासो के बावजूद सहकारी ऋणो का समुचित लाभ कृषकों को नहीं मिलता।

इसकी पुष्टि इसी बात से होती है कि प्रति ऋणी सदस्य अल्प व मध्यकालीन साख का औसत १९६६-६७ मे महाराष्ट्र में ५०० रुपए व गुजरात में ७४७ रुपए था, जबकि जम्मू व कश्मीर में १०० रुपए, उत्तर प्रदेश मे २६५, राजस्थान मे २२४ रुपए तथा बिहार मे २०८ रुपए था। यह उल्लेखनीय है कि इस वर्ष अखिल भारतीय प्रति ऋणी सदस्य साख का अनुपात ३४४ रुपए था।[1]

(३) प्राथमिक साख समितियो मे सक्रिय (ऋणदात्री) समितियो का कुल समितियो में अनुपात निरन्तर घट रहा है। १९६५-६६ व १९६६-६७ के बीच यह अनुपात ७९% से घटकर ७४% रह गया। इसी प्रकार कुल सदस्यों में ऋण लेने वाले सदस्यो का अनुपात १९६३-६४ व १९६६-६७ के बीच ४३% से घटकर ४०% रह गया।

यदि विभिन्न राज्य राज्यों की स्थिति को देखा जाय तो १९६६-६७ मे आसाम की केवल २५% प्राथमिक समितियाँ कार्यशील थी। जम्मू व काश्मीर तथा पश्चिमी बंगाल में ऋण न

1. C. S. Barla · article entitled "Whither Farm Co-operatives ?" accepted for Publication by the Economic & Political Weekly.

दे सकने वाली सहकारी समितियो का अनुपात क्रमश ४२% व ४५% था। दूसरी ओर मध्यप्रदेश, पजाब, गुजरात व महाराष्ट्र मे ९०% से अधिक समितियां कृपको को ऋण देती हैं।

आसाम से ऐसे सदस्यो का अनुपात १९६६-६७ मे केवल १९% था जिन्होने सहकारी समितियों से उस वर्ष ऋण लिया था। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मद्रास, उडीसा, केरल, प० बगाल, व जम्मू तथा कश्मीर मे यह अनुपात ४०% से कम था। लेकिन पजाब व मध्यप्रदेश मे ६०% से अधिक सदस्यो ने सहकारी समितियो से साख प्राप्त की। यह उल्लेखनीय है कि गुजरात, महाराष्ट्र, **उत्तर प्रदेश व मद्रास मे सक्रिय सदस्यो का यह अनुपात तेजी से घट रहा है।**

इसका यह अर्थ है कि प्राथमिक सहकारी समिति के अधिकाश सदस्य साख प्राप्ति के लिए साहूकारो या अन्य स्रोतो पर निर्भर रहने लगे है।

(४) **अवधिपार ऋण—अवधिपार ऋण सम्भवतः भारतीय सहकारी कृषि साख आन्दोलन का एक अवसर है।** हमे यह डर है कि कही बढते हुए अवधिपार ऋण कुछ ही वर्षों मे इस आन्दोलन को समाप्त नही कर दें। १९६६-६७ के अन्त मे कुल बकाया ऋणो मे अवधिपार ऋणो का अनुपात ३३% था जबकि जून, १९६४ के अन्त मे यह अनुपात २२% था। आसाम मे तो बकाया ऋणो मे ६३% अवधिपार पाए गए थे। यह भी आश्चर्य की बात है कि मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मद्रास, गुजरात, पश्चिमी बगाल, उडीसा व उत्तर प्रदेश मे प्राथमिक सहकारी समितियों के शेष ऋणो मे अवधिपार ऋणो का अनुपात तेजी से बढता जा रहा है। इस दृष्टि से पजाब, आसाम, राजस्थान व दिल्ली मे काफी सुधार हो रहा है।

अवधिपार ऋणो का एक और भी पक्ष है जिससे समस्या की गम्भीरता स्पष्ट हो जाती है। १९६४ तक प्राथमिक समितियो के निजी कोषों का दो तिहाई भाग अवधि पार ऋणो के रूप मे था, परन्तु १९६७ तक यह अनुपात बढकर ९७% हो गया। आश्चर्य की बात तो यह है कि आसाम मे समितियो के निजी कोषो से दुगुनी राशि अवधिपार ऋणो के रूप मे थी। मध्य प्रदेश मे अवधिपार ऋणो की राशि निजी कोषो (पूँजी व रिजर्व कोष) से ६२%, उडीसा मे ३१%, जम्मू व काश्मीर मे ५०%, राजस्थान व आन्ध्र प्रदेश मे २३%, महाराष्ट्र व मैसूर मे ३% व पश्चिमी बगाल मे २०% से अधिक थी। बिहार, मद्रास व उत्तर प्रदेश मे भी ८५% से अधिक निजी कोष अवधि पार ऋणो के रूप मे उलझे हुए हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि प्राथमिक समितियो **के अपने कोष ही अवधिपार ऋणों के रूप में अटके हुए नहीं हैं, अपितु अन्य स्रोतो से लिए गए कोष भी इस रूप में फँसा दिए गए हैं। यदि यही स्थिति रही और अवधिपार ऋणों की राशि बढती रही तो आन्दोलन को सुव्यवस्थित रखने के लिए बड़े ऑपरेशन (Major Operation) के अलावा कोई उपाय नहीं रह जायगा।**

(५) **सहकारी साख का लाभ केवल बडे कृषको को मिल पाता है।** उदाहरण के लिए १९६१-६२ मे कुल सहकारी ऋणो का ५५% उन परिवारो को दिया गया जिनके पास ११ हजार रुपए से अधिक की सम्पत्ति थी। कुल सदस्यो मे इनका अनुपात १२ १३% था। दूसरी ओर ५३% सदस्यों को जो ऋण मिला उसका कुल साख मे अनुपात ११% था। इनके पास ५०० रुपए से कम मूल्य की सम्पत्ति थी।

(६) सहकारी ऋणो के उपयोग पर समितियो का कोई अकुश नही है। योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्याकन सगठन की रिपोर्ट मे बताया गया कि सहकारी ऋणो का लगभग चौथाई भाग उन कार्यों पर खर्च नही किया जाता जिनके लिए ये ऋण दिए जाते है। शोधकर्ताओ ने भी समय-समय पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋणो का उपयोग उत्पादक कार्यों मे कम तथा अनुत्पादक कार्यों मे अधिक होता है।[1]

(७) १९६५ से देश के विभिन्न राज्यो मे फसली ऋण की जो व्यवस्था लागू की गई है

---

1 लेखक ने अपनी शोध एव क्षेत्रीय अध्ययन के पश्चात यह निष्कर्ष दिया है। See Paper "Working of Farm Co operatives—A Case Study" presented to the Second Rajasthan Economic Conference, 1968

उसमे काश्तकार को अपनी हैसियत तथा प्रस्तावित फसल-योजना सहकारी समिति को देनी होती है। अशिक्षित होने के कारण वह स्वयं ऐसा नही कर पाता और फलस्वरूप फसल के लिए उसे कितनी साख की जरूरत है इसका अनुमान सही रूप मे नही लगाया जाता।

(६) राजनीति का प्रवेश—सहकारी साख आन्दोलन राजनीति का रंगमंच बन गया प्रतीत होता है। बहुधा पदाधिकारियो से चुनाव के दौरान राजनीति खुलकर सामने आ जाती है। मिर्धा समिति तथा कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन की रिपोर्टों से इस तथ्य की पुष्टि हो चुकी है।

इन सभी दोषो का समुचित रूप से तुरन्त निदान होना चाहिए। कृषि साख हमारे सहकारी आन्दोलन का सबसे बडा पक्ष है और इसकी सुचारु रूप से प्रगति हुए बिना सहकारी आन्दोलन की प्रगति भी ठोस आधार पर नही हो सकेगी।

सहकारी (गैर कृषि) साख आन्दोलन[1]

चूँकि कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का प्राण है इसलिए सहकारी कृषि साख आन्दोलन भी यहाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। गैर कृषि क्षेत्रो मे साख संस्थाओ की स्थिति आज भी गौण है। इसका कारण यह है कि शहरो मे साधारणतया साख व्यवस्था बैंको के माध्यम से होती रही है और इसीलिए सहकारी साख संस्थाओ की वहाँ अधिक जरूरत अनुभव नही की जाती। फिर भी स्वतन्त्रता के पश्चात् गैर कृषि क्षेत्रो मे सहकारी संस्थाओ की स्थापना की गई है।

३० जून १९६७ को देश भर मे २९ औद्योगिक (शीर्ष) बैंक मौजूद थे। इनके अलावा प्राथमिक स्तर पर (कर्मचारियो व अन्य गैर-कर्मचारियो व अन्य गैर कृषको की प्राथमिक संस्थाएँ) इस समय १३,६१६ समितियाँ थी। औद्योगिक बैंको की सदस्य संख्या १६,६१६ समितियाँ थी। औद्योगिक बैंको की सदस्य संख्या २१,६२५ व प्राथमिक समितियो की सदस्य संख्या ७४.९ हजार थी। इनके अलावा शीर्ष स्तर पर तीन बैंक और कार्य कर रहे थे। १९५१ में शीर्ष स्तर पर गैर कृषि-साख संस्थाओ की संख्या ४ थी जबकि प्राथमिक समितियो की संख्या ७,८१० थी।

१९६६-६७ मे प्राथमिक समितियो ने कुल मिलाकर २५६ करोड रुपए के ऋण दिए। इस वर्ष के अन्त मे इनकी कार्यशील पूँजी ३.५ करोड रुपए तथा निक्षेप की राशि १९४ करोड रुपए थी। १९६६-६७ तक प्राथमिक गैर कृषि साख समितियो मे १,२४१ समितियो का पजीकरण रिजर्व बैंक अधिनियम के अन्तर्गत प्राथमिक सहकारी बैंको के रूप मे किया गया था।

प्राथमिक गैर कृषि साख समितियो मे से २,३७९ महाराष्ट्र मे १,२६४ मैसूर मे, १,१८७ मद्रास मे, १,१३१ गुजरात मे, १,०२६ आन्ध्र प्रदेश मे व ११३६ पजाब मे थी। इस प्रकार कुल समितियों मे ६०% इन्ही राज्यो मे केन्द्रित थी। १९६६ ६७ मे दिए गए कुल २५६ करोड रुपयो के ऋणों मे से ३२ ६% महाराष्ट्र मे, १७% पश्चिमी बंगाल मे, १४% मद्रास मे तथा १२ ५% गुजरात में दिए गए। इस प्रकार गैर कृषि साख आन्दोलन भी कुछ ही राज्यो तक केन्द्रित है। परन्तु साथ ही २२६ करोड रुपयो की बकाया राशि (३० जून १९६८ को) मे से ७५% इन्ही चार राज्यो मे केन्द्रित था।

इस प्रकार गैर कृषि साख आन्दोलन भी उन दोषो से मुक्त नही है जो कृषि-साख आन्दोलन मे व्याप्त हैं। फिर भी १९६७ मे इनमे प्रति व्यक्ति निक्षेप का औसत ४६७ रुपए था जबकि कृषि साख समिति मे यह औसत केवल १४ रुपए पाया गया था। यह इस बात का प्रमाण है कि गैर कृषि साख समितियो ने सदस्यो व जनसाधारण में बचत की प्रवृत्ति को अधिक बढ़ावा दिया है। इनकी प्रति सदस्य कार्यशील पूँजी ४७० रुपए तथा निजी कोष की राशि २१८ रुपए थी, जबकि कृषि साख समितियों में यह औसत क्रमशः २३६ रुपए तथा ६२ रुपए पाया गया था।

औद्योगिक बैंको की बकाया ऋणो की राशि ३० जून, १९६७ को ४.५ करोड रुपए थी।

---

1. Statistical Statement op cit., p (iii)

२०

भारत में सहकारी आंदोलन–२ [क्रमशः]
(Co operative Movement in India—Continued)

प्रारम्भिक :

पिछले अध्याय मे सहकारी आंदोलन के वर्तमान ढाँचे का चित्र प्रस्तुत किया जा चुका है। सहकारी कृषि तथा गैर कृषि साख संस्थाओ की प्रगति की विस्तृत समीक्षा उसी संदर्भ मे की गई थी। इस अध्याय मे हम सहकारी गैर साख (कृषि तथा गैर कृषि) आंदोलन के विकास के विषय मे अध्ययन करेंगे।

सहकारी कृषि गैर साख आंदोलन

इसके अन्तर्गत कृषको द्वारा साख व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु किया गया सहकार सम्मिलित है। इनमे सहकारी कृषि, सहकारी परिनिर्माण, सहकारी विपणन, सहकारी सिंचाई और सहकारी सभरण (पूर्ति) समितियाँ प्रमुख हैं।

(I) सहकारी कृषि समितियाँ :

यह अध्याय १० मे ही बताया जा चुका है कि भारत मे ७५% परिवारो के पास ५ एकड से भी छोटी जोतें हैं। यही नही विभिन्न जोतों के अन्तर्गत विद्यमान खेत काफी बिखरे हुए भी हैं। खेत का आकार छोटा होने तथा साधनो की सीमितता के कारण कृषको को नवीन प्राविधियो के उपयोग से कोई लाभ नहीं मिलता। वस्तुत, सहकारी खेती छोटे खेतो की हानियो से कृषक को बचाती है।

सैद्धान्तिक रूप मे सहकारी कृषि को तीन विभिन्न रूपो मे देखा जाता है : (अ) सहकारी बेहतर कृषि, (आ) सहकारी सयुक्त कृषि तथा (इ) सहकारी सामूहिक कृषि।

(अ) सहकारी बेतहर कृषि—सहकारी बेहतर कृषि के अन्तगत छोटे तथा मध्यम वर्ग के कृषक कृषि के लिय बहतर बीज खाद व उपकरणा की सामूहिक खरीद के लिये सहकारी संस्थाओ का गठन करते हैं। इस व्यवस्था की भूमि का एकीकरण नहीं होता, पर थोक मूल्य पर अच्छे बीज, उर्वरक व उपकरणो को खरीदा जाता है। वस्तुत: मिल-जुलकर कृषि कार्य करने की दिशा मे यह पहला कदम है। सहकारी बेहतर कृषि समितियों को सेवा सहकारी समितियो के नाम से भी पुकारा जाता है। इन संस्थाओं से निम्न लाभ हो सकते हैं :

(१) कृषि के लिये अच्छे साधनो का उपयोग बढाकर छोटे खेतो पर प्रति हैक्टर उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है।

(२) सदस्यो मे अन्य प्रकार की सहकारिता, जैसे विपणन, साख आदि की भावनाओं को प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

(३) छोटे कृषक भी इनके द्वारा जरूरत की ऐसी वस्तुएँ खरीद सकते हैं जिन्हें व्यक्तिगत रूप से खरीदना उनके लिए सम्भव नही है।

परन्तु फिर भी भूमि के एकीकरण के बिना छोटे खेतो की हानियो से काश्तकार नही बच सकता। यही कारण है कि सहकारी बेहतर कृषि को सहकारी कृषि का वास्तविक स्वरूप नही माना जाता।

(आ) सहकारी सामूहिक कृषि—सहकारी सामूहिक कृषि संस्थाएँ वे हैं जो छोटे-छोटे कृषको की जोतो को सामूहिक रूप से कृषि हेतु प्रयुक्त करने के उद्देश्य से बनाई जाती हैं। वस्तुतः सामूहिक कृषि की प्रेरणा विश्व के विभिन्न देशो को सोवियत रूस से प्राप्त हुई। इस व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमे सदस्यो का समिति मे प्रवेश तो ऐच्छिक होता है परन्तु सदस्यता का परित्याग वर्जित होता है। अन्य शब्दो मे कोई भी कृषक सहकारी सामूहिक कृषि संस्था से अपनी भूमि वापस लेने का अधिकारी नही है। इसके अतिरिक्त कृषि उपज से प्राप्त राशि का वितरण भूमि के आनुपातिक मूल्य के साथ-साथ श्रम के अनुपात में भी किया जाता है। चूँकि सहकारिता की आधारभूत शर्त ऐच्छिकता है, सामूहिक कृषि को सहकारिता का उपयुक्त रूप नही माना जाता क्योंकि इसमें सदस्यता के परित्याग की अनुमति नही दी जाती।

(इ) सहकारी संयुक्त कृषि—सहकारी कृषि का वास्तविक स्वरूप जो भारत में स्वीकार किया गया है वह सहकारी संयुक्त कृषि ही है। इस व्यवस्था मे निम्न विशेषताएँ होती हैं :

(१) ऐच्छिक सदस्यता, (२) सदस्यता के परित्याग की सामान्य छूट, (३) सदस्यो द्वारा अपनी छोटी जोतो का एकीकरण तथा बड़े चक या फार्म का निर्माण, (४) भूमि की उपज के सामान्य खर्चों को घटाने के बाद संयुक्त कृषि लाभप्रद भी नही हो सकती।[1]

लेकिन डा० खुसरो तथा अग्रवाल[2] का मत है कि वृहत् स्तर पर संयुक्त खेती होने पर कई ऐसे काम भी प्रारम्भ किये जा सकते हैं जिन्हे अकेला कृषक पूरा नही कर सकता। इनमे खेत की नालियों का निर्माण, मेड बनाना, भूमि को चौरस बनाना एवं वृक्षारोपण सम्मिलित हैं। कुल मिलाकर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि भारतीय कृषको मे से जिनके पास अत्यंत छोटी एवं अनार्थिक जोतें हैं उन्हे सहकारिता के आधार पर संयुक्त रूप से खेती करने में लाभ ही है और जो भी विरोध संयुक्त कृषि का किया जा रहा है कृषको की मनोवृत्ति मे सुधार के द्वारा उसे समाप्त किया जा सकता है।

भारत में सहकारी संयुक्त कृषि आंदोलन

भारत मे सहकारी कृषि की वास्तविक प्रगति तृतीय योजना काल मे हुई। इसके पूर्व की सहकारी कृषि की प्रगति का मूल्यांकन किया जाय, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सहकारी संयुक्त कृषि से सम्बद्ध कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं पर दृष्टिपात कर लिया जाय।[3]

सदस्यता—संयुक्त कृषि समितियों की सदस्यता के विषय मे भारत के विभिन्न राज्यो मे ऐच्छिकता के सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकार किया गया है। भूमिहीन कृषको तथा अनुपस्थित जमीदार भी संयुक्त कृषि समिति के सदस्य बन सकते हैं। लेकिन ऐसे जमीदारो की संख्या कुल सदस्य संख्या के एक तिहाई भाग से अधिक नही होनी चाहिए।

यही नही विभिन्न राज्यो मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि सहकारी संयुक्त कृषि समिति मे न्यूनतम सदस्य संख्या कितनी हो। केरल मे २१, बिहार, दिल्ली व पंजाब मे १२, मध्यप्रदेश व मणीपुर मे २०, मैसूर व उडीसा मे १९, पश्चिमी बंगाल मे ७ व राजस्थान मे ११ सदस्य कम से कम होने आवश्यक हैं।

1. See Charan Singh : Joint farming X-Rayed Ch. 2 to 4
2. Khusro & Agarwal Problems of Co-operative farming in India.
3. R D Bedi : Theory, History & Practice of Co-opration

सदस्यता का परित्याग साधारणतया वर्जित नही है परन्तु कुछ राज्यो मे ऐसे कानून बनाये गये है जिनके अनुसार दो तिहाई या अधिक सदस्य यदि किसी सदस्य विशेष के अलग होने का विरोध करें तो जन-हित में सदस्यता के परित्याग की अनुमति नही दी जाएगी।

क्षेत्र— अनेक राज्यो में सहकारी कृषि समितियो के लिए न्यूनतम क्षेत्र की भी वैधानिक रूप से व्यवस्था की गई है। महाराष्ट्र, पश्चिमी बगाल, दिल्ली व पजाब से सिंचित व असिंचित क्षेत्रो के लिए न्यूनतम क्षेत्रों में अन्तर रखा गया है। मध्यप्रदेश मे चावल, गेहूँ तथा कपास के इलाको के लिए न्यूनतम क्षेत्र भिन्न-भिन्न रखे गए है। साधारणतया न्यूनतम क्षेत्र २५ से १५० एकड तक रखा गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि सिंचित क्षेत्र मे न्यूनतम सीमा असिंचित क्षेत्र से काफी कम रखी गई है।

सदस्यता का परित्याग

सदस्यता के परित्याग के लिये अधिकाश राज्यो मे समिति के बहुमत वर्ग की स्वीकृति अनिवार्य रखी गई है। कुछ राज्यो में दो-तिहाई सदस्यो की सहमति जरूरी मानी गई है, बशर्ते इनके पास कुल कृषि क्षेत्र के ३/४ का स्वामित्व हो। परन्तु अधिकाश राज्यों मे दो शर्तें और रखी गई हैं, प्रथम तो यह कि प्रवेश के समय प्रत्येक सदस्य सहकारी सयुक्त कृषि समिति के साथ पाँच वर्ष की सदस्यता हेतु समझौता करे। दूसरी बात यह है कि सदस्यता के परित्याग के बाद सहकारी समिति सदस्य को उसे वही भूमि देने को बाध्य नही होगी जो सदस्य बनते समय उसने समिति को दी थी।

सहकारी कृषि की प्रगति

सहकारी सयुक्त कृषि के लिए प्रथम योजना काल मे केवल मार्गदर्शन की व्यवस्था थी, परन्तु नागपुर अधिवेशन मे व राष्ट्रीय कांग्रेस ने यह निर्णय कर लिया कि द्वितीय पचवर्षीय योजनाओं मे सयुक्त कृषि का इतना विस्तार किया जाय कि इनकी समाप्ति तक अधिकाश भूमि सयुक्त कृषि के अन्तर्गत आ जाय। इस निर्णय का विरोध होना स्वाभाविक था अतएव उक्त योजनाओ की अवधि मे इस दिशा मे विशेष प्रगति सभव नही हुई।

१९५८ मे राष्ट्रीय विकास परिषद ने भी स्पष्टत स्वीकार किया कि कृषि साख तो सहकारिता का श्रीगणेश है, सहकारिता का उद्देश्य तो गाँव की अन्य गतिविधियो मे (जिनमे सयुक्त कृषि भी है) भी सुधार करना है।

तृतीय योजना काल मे ३१८ पाइलट प्राजेक्ट प्रारम्भ करने का प्रावधान था जिनमे से प्रत्येक के अन्तर्गत १० सहकारी कृषि समितिया स्थापित की जानी थी। ३१ मार्च, १९६६ तक इनमे (पाइलट-प्रोजेक्ट) मे २७४९ सहकारी सयुक्त कृषि समितियाँ स्थापित की जा चुकी थी। इनके अलावा २७५२ अन्य समितियाँ भी स्थापित की गई थी। मार्च, १९६६ के अन्त तक सयुक्त कृषि समितियों के पास कुल क्षेत्र ५.७८ लाख एकड था। जुलाई, १९६३ मे भारत सरकार ने एक निर्देशन समिति की नियुक्ति की जिसने सितम्बर, १९६५ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने *सयुक्त कृषि का विस्तार करने की अपेक्षा कार्यक्रमो के एकीकरण पर बल दिया। समिति ने सुझाव* दिया कि गहन खेती के कार्यक्रम चतुर्थ पचवर्षीय योजना काल मे सहकारी सयुक्त कृषि समितियो द्वारा ही पूरे किये जाएँ। निर्देशक समिति ने यह भी कहा कि अब तक सहकारी सयुक्त कृषि राज्य के निर्देशन व प्रेरणा द्वारा होती रही है तथा कुछ समितियो की स्थिति (वित्तीय दृष्टि स) सतोषप्रद नही है। बडे कृषको के प्रवेश पर रोक लगाने के लिए भी उक्त समिति ने सुझाव दिया। ३० जून, १९६७ तक देश भर मे ८२५४ सहकारी सयुक्त कृषि समितियाँ स्थापित कर ली गई थी, जिनके पास लगभग ११ लाख एकड कृषि-क्षेत्र था।

सहकारी सयुक्त कृषि आन्दोलन की दुर्बलताएँ

परन्तु शोधकर्त्ताओ ने देश के विभिन्न भागो मे सहकारी कृषि का अध्ययन करके जो विवरण प्रस्तुत किया है उससे पता चलता है कि वर्तमान सहकारी सयुक्त कृषि आन्दोलन मे अग्र-लिखित कमियाँ हैं

(१) बहुत से व्यक्तियो ने सीमा निर्धारण के कानूनो या सहकारी साख समितियो के अवधि पार ऋणो के भुगतान से बचने के लिए अपनी भूमि सयुक्त कृषि समिति को दी है।

(२) संयुक्त कृषि समिति के अधिकाश सदस्य समिति के फार्म पर श्रम नही करते और फलस्वरूप श्रमिको से काम लेना पड़ता है। इस अनुपस्थितिवाद के कारण सहकारी कृषि का उद्देश्य ही पूरा नही हो सकता।

(३) सहकारी कृषि समिति के सदस्यो की आर्थिक स्थिति समान नही होती। लाभ का वितरण मुख्य रूप से भूमि के मूल्य के अनुपात मे होता है और फलस्वरूप छोटे काश्तकारो को इसमे घाटा ही रहता है।

(४) यह भी बताया गया है कि उत्पादकता मे वृद्धि हेतु ये संस्थाएँ प्रयास नही करती इनमे अधिकाश समितियाँ परम्परागत तरीकों से खेती करती हैं अथवा उनका प्रबन्ध दोषपूर्ण है। यही कारण है कि छोटे खेतो मे उत्पादकता बड़े खेतो की अपेक्षा अधिक पाई जाती है।

(५) अनेक कृषको ने उपजाऊ तथा श्रेष्ठ भूमि सहकारी कृषि समिति को न देकर घटिया भूमि दी है ताकि समिति उस भूमि को उपजाऊ बनादे और फिर न्यूनतम अवधि समाप्त होने पर किसी प्रकार से अपनी भूमि वापस प्राप्त कर लें।

(६) अनेक समितियाँ पजीकरण तथा राजकीय अनुदान की प्राप्ति के बावजूद संयुक्त रूप से खेती नहीं कर पाती। इस दिशा मे प्रभावशाली काश्तकारो का विरोध मुख्यतः बाधक है।

(७) सबसे बडा आरोप जो सहकारी संयुक्त कृषि समितियो के लिए है वह यह है कि इनके द्वारा यंत्रो की खरीद को सर्वोपरि महत्व दिया गया है। फलस्वरूप तरल पूँजी तो यन्त्रो की खरीद मे उलझ जाती है और चालू खर्चो के लिए पर्याप्त कोष नही बच पाते। वैसे भी यन्त्रो को खरीदने मात्र से उत्पादन मे वृद्धि हो जाएगी यह मान्यता विवेकपूर्ण नही है।

(८) सदस्यो मे परस्पर विवादो एव सौहार्द्र के अभाव मे भी सहकारी सयुक्त कृषि समितियाँ सफलता पूर्वक कार्य नही कर पाती। भ्रातृत्व एव सहकारिता की भावना के न होने से संयुक्त कृषि समिति सुचारू रूप से काम नही कर पाती।[1]

१९६५ मे डा० डी० आर० गाडगिल की अध्यक्षता मे नियुक्त एक समिति ने सहकारी कृषि के विषय मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। गाडगिल कमेटी ने स्पष्ट कहा कि सहकारी कृषि की भारत मे आश्चर्यजनक प्रगति नही हो सकी है। कमेटी ने उत्पादकता की वृद्धि एव उत्पादन लागत की कमी को आदर्श मानते हुए कहा कि इस दृष्टि से ये समितियाँ असफल रही हैं। गाडगिल कमेटी ने यह भी कहा कि तकनीकी सहायता तथा पर्याप्त कोषो की उपलब्धि न हो सकने से सहकारी सयुक्त कृषि समितियाँ विकास नही कर पाती। केवल महाराष्ट्र के धूलिया, उडीसा के सबलपुर, पजाब के जालन्धर व गुजरात के भावनगर जिलो मे सहकारी कृषि समितियों ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। डा० गाडगिल ने सफल एव निपुण समितियो को प्रोत्साहन देने तथा कमजोर व निष्क्रिय समितियो को भग करने का सुझाव दिया।

गाडगिल कमेटी ने सरकारी सहायता मे भूमिहीनो व छोटे कृषको की समितियो को प्राथमिकता देने पर बल दिया। कमेटी ने सहकारी कृषि के साथ-साथ ग्राम स्तर पर कुटीर उद्योगो के विकास तथा जिला स्तर पर मार्गदर्शक सस्थाओ की स्थापना का भी सुझाव दिया। जनवरी १९६८ मे सहकारी कृषि सलाहकार बोर्ड ने सहकारी खेती के विकास हेतु राज्य सरकारो को निम्न सुझाव दिए :

(१) नई सहकारी कृषि समितियो का गठन केवल उन्ही इलाको मे गठित किया जाय जहाँ इनके लिए अनुकूल वातावरण हो।

---

1. See U. B Pannikar, Why Co-operative Farming has not struck roots (Co-operator—June 15, 1967)

(२) प्रत्येक समिति के पास भूमि के एकीकरण एवं उपयोग का निश्चित् कार्यक्रम हो, (३) सारी भूमि पर सयुक्त रूप से खेती का कार्यक्रम हो, तथा (४) राज्य द्वारा नई सहकारी सयुक्त कृषि समितियो को पर्याप्त वित्तीय सहायता दी जाय।

(II) सहकारी परिनिर्माण समितियाँ[1]

सहकारी परिनिर्माण के अन्तर्गत हम कृषको द्वारा कृषि उपज को उपभोग्य बनाने के लिए किए गए सामूहिक प्रयासो को सम्मिलित करते हैं। चावल से भूसा पृथक् करना एवं उस पर पालिश करना, दालो का निर्माण, कपास की जिनिंग तथा गाठो के रूप मे पैकिंग, गन्ने से खडसारी या शक्कर बनाना, जूट की गाँठें बनाना, जूट के रेशे तथा जूट की वस्तुओ का निर्माण, खाद्य तेल बनाना तथा चाय-कॉफी आदि का परिनिर्माण एव पैकिंग आदि बहुत से क्षेत्र हैं जहाँ सहकारिता के आधार पर भारत मे काय किया जा रहा है।

सहकारिता के आधार पर कार्य करने से काश्तकार को परिनिर्माण की लागत बहुत कम देनी होती है। यही नही वृहत्-स्तर पर परिनिर्माण होने के कारण समय व श्रम की बचत के अलावा परिनिर्माण के श्रेष्ठतम तरीको का भी प्रयोग किया जा सकता है।

भारत मे सहकारी परिनिर्माण का विकास द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल मे विशेष रूप से चावल व शक्कर मिलो के क्षेत्र भी उसी समय से सहकारिता व्याप्त हो रही है। राज्य की सहायता से १९५६-६१ के मध्य सहकारी शक्कर मिलो के अतिरिक्त ४६४ सहकारी निर्माण समितिया बनाई गई। इनके अलावा राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम ने ४७० छोटी चावल मिलो व ५ आधुनिक चावल मिलो की स्थापना मे योग दिया।

तीसरी पचवर्षीय योजना मे ३०० धान कूटने वाली समितियाँ, ५० कपास जिन, २० जूट की गाँठें बनाने वाले प्लाण्ट, ५० चावल मिलें १३० फलो का रस निकालने वाली इकाइया व ५ आटा मिलों की सहकारी क्षेत्र मे स्थापना करने का लक्ष्य रखा गया।

१९६७ तक सहकारी क्षेत्र मे निम्नलिखित परिनिर्माण इकाइयो की स्थापना की जा चुकी थी

	इकाई	सख्या
१	सहकारी शक्कर मिलें	७७
२	चावल मिलें	८०७
३	दाल मिल	३३
४	चावल के ब्रान से तेल बनाने वाली इकाइयाँ	४
५	कपास की जिनिंग व गाँठ बनाने वाली इकाइयाँ	२३७
६	कपास उत्पादकों की स्पिनिंग मिलें	२६
७	मूंगफली से तेल निकालने वाले प्लाट	५४
८	अन्य तेल मिलें	१८७
९	जूट की गाँठ बनाने वाले प्लाट	४९
१०	जूट मिल	१
११	फल व सब्जी परिनिर्माण इकाइया	३७
१२	चाय व कॉफी परिनिर्माण इकाइया	५८

सहकारी परिनिर्माण के क्षेत्र मे पिछले १० १२ वर्षो मे बहुत प्रगति हुई है। १९६६-६७ मे देश मे निर्मित शक्कर का ३०% भाग सहकारी मिलो से प्राप्त हुआ। इसके अलावा देश मे उत्पन्न कपास का १३% तथा कॉफी का १५% भाग सहकारी सस्थाओं द्वारा परिनिर्मित किया गया। यह उल्लेखनीय है कि सहकारी परिनिर्माण विशेष रूप से शक्कर मिलो का विकास महाराष्ट्र मे

1 Co operative Marketing & Processing Retrospect & Prospect article by S K S Chib (Indian Co operative Review October, 1968)

अधिक हुआ है। योजना आयोग के एक दल ने चतुर्थ योजना के काल में ९७५ नई परिनिर्माण इकाइयों की स्थापना का सुझाव दिया है। इनमें २०० कपास परिनिर्माण इकाइयाँ, ३० शक्कर मिलें, ५ वनस्पति इकाइयाँ, ४० फलों का रस निकालने वाले प्लाण्ट, १० चावल ब्रान तेल इकाइयाँ व ३०० चावल मिलें शामिल होंगी।

(III) सहकारी विपणन .

अध्याय १४ में हम सहकारी बिक्री की आवश्यकता पर प्रकाश डाल चुके हैं। वस्तुत: सहकारी विपणन के द्वारा मध्यस्थों को आने वाला लाभ कृषक तथा उपभोक्ता दोनों को दिया जा सकता है। व्यापारी व आढतियों द्वारा कृषक का जो शोषण होता है उससे सहकारिता के आधार पर बचना सम्भव है।

सहकारी साख की भाँति सहकारी विपणन का ढांचा भी पिरामिड के आकार का है। राष्ट्रीय स्तर पर नफेड अथवा राष्ट्रीय फेडरेशन स्थापित किया गया है जो सहकारी विपणन को प्रोत्साहन ही नहीं देता, सहकारी संस्थाओं की वस्तुओं के निर्यात की व्यवस्था भी करता है।

१९६७ तक देश भर में २८०० सहकारी बिक्री समितियाँ सामान्य विपणन हेतु तथा ५०० समितियाँ (गन्ने के अतिरिक्त) विशिष्ट वस्तुओं के विपणन हेतु स्थापित की जा चुकी थीं। इनके अलावा २० शीर्ष विपणन समितियाँ, १७० क्षेत्रीय या जिला स्तर की समितियाँ (आन्ध्र, महाराष्ट्र व गुजरात में विशेष रूप से) तथा विशिष्ट वस्तुओं के विपणन हेतु ३ शीर्ष संघ भी विद्यमान थे।

१९६०-६१ तथा १९६५-६६ के बीच सहकारी विपणन की प्रगति निम्न तालिका से स्पष्ट होती है :[1]

सहकारी समितियों द्वारा कृषि पदार्थों की बिक्री

उपज	१९६०-६१ राशि (करोड़ रुपयों में)	१९६०-६१ कुल बेची गई उपज का प्रतिशत	१९६५-६६ राशि (करोड़ रुपयों में)	१९६५-६६ कुल बेची गई उपज का प्रतिशत
खाद्यान्न	२४	२	१२५	७
गन्ना	९१	६०	१३०	६७
कपास	२०	११	४०	१६
मूंगफली	७	३	२०	५
बागान वाली फसलें	६	३	८	८
अन्य फसलें	३४	—	३७	—

१९६५-६६ में सरकार द्वारा अनाज का जितना संग्रह हुआ उसका ५०% सहकारी बिक्री समितियों के माध्यम से किया गया था। उस वर्ष कुल मिलाकर ३६० करोड़ रुपए की कृषि उपज का विपणन इन संस्थाओं द्वारा किया गया। १९६६-६७ व १९६७-६८ में यह राशि क्रमश: ३३८ करोड़ रुपए व ४०० करोड़ रुपए थी। १९६६-६७ में खाद्यान्न की राशि १४८ करोड़ व गन्ने की राशि ९५ करोड़ रुपए थी।[2] पिछले कुछ वर्षों से सहकारी विपणन समितियों ने मध्यस्थ के साथ सीधे खरीददार की हैसियत से भी काम करना प्रारम्भ कर दिया है। इस व्यवस्था के अनुसार कृषकों की उपज को ये अमानत के तौर पर न रखकर उसे खरीद भी सकती है। १९६६-६७ में सहकारी विपणन समितियों ने ११ करोड़ रुपए की उपज सीधे काश्तकारों से खरीदी।

यही नहीं, सहकारी विपणन समितियाँ सहकारी साख समितियों द्वारा दिए गए ऋणों की वसूली में सहायता देकर साख-विपणन के कड़ी-बन्धन को सफल बनाने में भी प्रयत्नशील हैं। १९६६-६७ में विपणन समितियों ने साख समितियों द्वारा प्रदत्त ऋणों का लगभग १४%

1. W. C. Shrishrimal A New Look At Co-operative Marketing Indian Co-operative Review, (April 1968)
2. S. K. S. Chib op. cit.

(४६ करोड रुपए) वसूल कराया। वस्तुत जो भी विकास पिछले कुछ वर्षो मे सहकारी विपणन के क्षेत्र मे हुआ है उसका श्रेय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति को दिया जा सकता है। इसी समिति की सिफारिशो को मानते हुए प्राथमिक व शीर्ष स्तर पर विपणन समितियो की स्थापना मे राज्य ने योगदान देना प्रारम्भ किया है।

परन्तु फिर भी यह देखा गया है कि सहकारी बिक्री समितियो को जिस रूप मे कार्य करना चाहिए उस रूप मे वे नही कर पा रही हैं। सच तो यह है कि ये समितियां अन्य आढतियो और व्यापारियो की भांति कार्य करने का प्रयास करती है। यही नही, सभी राज्यो मे सहकारी विपणन की प्रगति एक-सी नही है। अनुमानत २५% सहकारी विपणन समितियां पूर्णतया निष्क्रिय हैं, जब कि अन्य २५% घाटे मे चल रही हैं।[1]

डा कहलोन ने पजाब की कृषि विपणन मे से कुछ समितियों का अध्ययन करने के बाद बताया कि इनके सुचारु रूप से काम न कर पाने के लिए अनेक घटक उत्तरदायी हैं। इनमे से प्रमुख हैं (१) व्यापारियो द्वारा इन सस्थाओ का विरोध (२) व्यापारियो व कृषको के पीढियो से चले आ रहे सम्बन्ध, (३) अनेक विपणन समितियो के पास पूंजी का अभाव होना, (४) बारदाना व्यापारी लोग स्वय देते हैं जबकि बहुत-सी सहकारी बिक्री समितियां इसकी कीमत कृषक से वसूल करती हैं।

फिर भी कुल मिलाकर कृषि उपज की सहकारी ढग से बिक्री की दिशा मे काफी सुधार हुआ है।

(IV) सहकारी कृषि समरण (पूर्ति) समितियां :

ये वे समितिया है जो कृषको को उवरको या रासायनिक खाद को उपलब्धि कराती है। वस्तुत ये सस्थाएँ श्रेष्ठतर कृषि समितिया ही हैं जिनका हम पहले उल्लेख कर चुके है। परन्तु अनेक स्थानो पर सहकारी बिक्री समितियां भी उर्वरको का वितरण करती है।

३० जून, १९६६ को देश भर मे सहकारी सस्थाओ के ४५,००० रिटेल डिपो थे जिन्होने ८० करोड रुपए के उर्वरको का वितरण १९६५ ६६ मे किया। अनुमानत १९६८-६९ मे इनके द्वारा वितरित उर्वरको का मूल्य २६० करोड रुपए था।[2] परन्तु उवरको के अतिरिक्त अन्य कृषि साधनो की पूर्ति ये समितियां नही कर पाती है। उर्वरको पर केन्द्रीय सरकार ने अनुदान की नीति अपनाई है और आयातित उर्वरको के वितरण का एकाधिकार सहकारी समितियो को दिया हुआ है। यही कारण है कि इनके व्यापार की मात्रा तेजी से बढी है।

सहकारी गैर-कृषि व गैर-साख समितियां

इन सस्थाओ मे गैर कृषको मे व्याप्त सहकारिता के उस पक्ष की गणना की जाती है जो साख के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे काय करती है। उदाहरण के लिए सहकारी उपभोक्ता समितियां भवन निर्माण तथा औद्योगिक सहकारी समितियां गैर कृषि गैर साख सस्थाओ मे प्रमुख है।

१ सहकारी उपभोक्ता भण्डार—सहकारी उपभोक्ता भण्डारो का प्रारम्भ भारत मे द्वितीय महायुद्ध काल मे हुआ। आवश्यकता की वस्तुओ के नितान्त अभाव एव उसके फलस्वरूप प्रारम्भ की गई। मूल्य नियन्त्रण एव राशनिंग की नीति ने सहकारी उपभोक्ता भण्डारो को काफी प्रोत्साहन दिया। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद स्थिति सामान्य होते ही उपभोक्ता-सहकारी आन्दोलन भी क्षीण होने लगा। स्वतन्त्रता के बाद यद्यपि जरूरी वस्तुओ के अभाव की काफी अनुभूति हुई, परन्तु चीनी आक्रमण से पूव सहकारी क्षेत्र मे उपभोक्ता वस्तुओ के वितरण की जरूरत महसूस नही की गई।

नवम्बर, १९६२ मे केन्द्रीय सरकार ने सहकारी उपभोक्ता भण्डारो की स्थापना हेतु एक देशव्यापी कायक्रम तैयार किया। इसके अन्तगत ५० हजार से अधिक आबादी वाले सभी

---

1. A. P Sinha Diversification of Co-operative Marketing Structure Indian Co operative Review, January 1966
2. See Hindustan Times, June 6, 1969

नगरो में सहकारी उपभोक्ता भण्डारो की स्थापना करने का लक्ष्य था। इसके साथ ही केन्द्रीय सरकार के श्रम मंत्रालय ने वड़े-वड़े कारखानो मे सहकारी उपभोक्ता भण्डार प्रारम्भ करने का निश्चय किया। १९६७ तक दो तिहाई बडे कारखानो मे इस प्रकार के भण्डार स्थापित किए जा चुके थे।

१९६५-६६ मे सहकारी उपभोक्ता भण्डारो ने १४४ करोड रुपए के मूल्य के अनाज, शक्कर व अन्य जरूरी वस्तुओं का वितरण किया। जून, १९६६ मे इन भण्डारो की कुल संख्या लगभग ८,००० थी। जिला स्तर पर खुदरा भण्डारो को वस्तुओ की पूर्ति हेतु इस समय तक २४६ थोक भण्डारो की भी स्थापना कर ली गई थी। ३० जून, १९६५ तक थोक भण्डारो की संख्या ३४४, खुदरा भण्डारो की सख्या ८,८०० तथा राज्य (शीर्ष) स्तर पर १२ फेडरेशन देश में कार्य कर रहे थे। प्राथमिक या खुदरा भण्डारो ने १९६६-६७ मे २०० करोड रुपए के खाद्यान्नो एवं शक्कर आदि का वितरण किया जो शहरी जनता की उपभोग्य आवश्यकता का २०% भाग था।[1]

१९६६-६७ से देश के विभिन्न भागो विशेष रूप से बडे नगरों में विभागीय स्टोर (सुपर-बाजार या सहकारी बाजार) कायम किए जा रहे है। १९६७ तक १३ राज्यो मे विभाजित स्टोर स्थापित किये जा चुके थे।

१९६६ में सहकारी उपभोक्ता भण्डारो की कार्य प्रणाली के विषय मे योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्याकन संगठन ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट मे निम्न बातो पर प्रकाश डाला गया :

(१) १९६४ के अन्त तक जितने भी उपभोक्ता भण्डार स्थापित किए गये थे उनमे से ८३% राज्य सरकारो से अनुदान प्राप्ति के उद्देश्य से स्थापित किये गये थे। अन्य शब्दों मे इनकी स्थापना में सरकार द्वारा प्रदत्त सहायता से लाभ उठाना प्रमुख प्रलोभन था न कि मूल्य वृद्धि एवं व्यापारियों द्वारा शोषण से उपभोक्ता को बचाना।

(२) राज्य सरकार अधिकाश भण्डारों को अनुदान देती है। यही कारण है कि इन भण्डारो की व्यवस्था मे सरकारी हस्तक्षेप बहुत अधिक है।

(३) सहकारी उपभोक्ता भण्डार जनता मे अधिक लोकप्रिय नही हो सके हैं क्योंकि (i) सदस्यो को ये भण्डार विशेष सुविधाएँ नही दे पाते, (ii) ये उधार देने की नीति के विरुद्ध हैं, (iii) केवल अनाज या शक्कर का ही व्यापार ये भण्डार करते हैं और उनमे भी क्रेता को चुनाव का अवसर नहीं मिलता क्योंकि केवल राशनिंग वाली वस्तुओ का ही इनके माध्यम से वितरण किया जाता है।

मूल्याकन सगठन ने बताया कि प्राथमिक भण्डारो के $\frac{2}{3}$ सदस्य अनाज के लिए भी भण्डार पर आश्रित नही रहते।

(४) अन्य सहकारी संस्थाओ व उपभोक्ता भण्डारो मे ताल-मेल का अभाव है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल मे सहकारी उपभोक्ता भण्डारो का और अधिक विस्तार होने की आशा है। आशा है कि इस योजना की समाप्ति तक २५ हजार से ऊपर आबादी वाले शहरो मे उपभोक्ता सहकारी भण्डारो की स्थापना करली जाएगी।

२. औद्योगिक सहकारिता—भारत में लगभग २ करोड व्यक्ति कुटीर उद्योगो मे सलग्न हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व इनकी आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय थी। १९४७ के बाद यह अनुभव किया गया कि कुटीर उद्योगों का विकास प्राथमिकता के आधार पर किया जाना चाहिए। फलस्वरूप पंचवर्षीय योजनाओ में कुटीर उद्योगो, विशेष रूप से खादी के क्षेत्र मे सहकारी सस्थाओ की स्थापना की गई। यह आशा व्यक्त की गई कि इन सस्थाओ द्वारा शिल्पकार व उपभोक्ता के बीच विद्यमान मध्यस्थो को जाने वाले लाभ को रोका जा सकेगा।

भारत की औद्योगिक सहकारी समितियो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान बुनकरो की समितियों का है। चर्मकार एव इसी प्रकार के कुटीर उद्योगो से सम्बन्धित समितियां भी औद्योगिक

---

1. See Co-operative Information Bulletin, October, 1967

सहकारी समितियों के अन्तर्गत आती हैं। ३० जून १९६८ को सभी प्रकार के कुटीर उद्योगों से सम्बद्ध सहकारी समितियों की सख्या ५७,००० थी, जिनके सदस्यों की सख्या ३६.५ लाख थी।[1]

परन्तु १९६५ में प्रकाशित मिर्धा समिति रिपोर्ट में बताया गया कि बुनकरों की सहकारी समितियों में से ३०% पूर्णरूपेण निष्क्रिय थीं। इन समितियों के हिसाब-किताब में घोटालों की भी अनेक सूचनाएं प्राप्त होती हैं। इसके बावजूद शिल्पकारों की समितियों का विशिष्ट महत्त्व है। ये समितियां सदस्यों को उचित (थोक) मूल्य पर कच्चा माल उपलब्ध कराती हैं और फिर इनके निर्मित वस्तुओं को बेचने की व्यवस्था करती हैं।

३ भवन निर्माण समितियां—पाश्चात्य देशों में, विशेष रूप से ब्रिटेन व स्वीडन आदि देशों में भवन निर्माण सहकारी समितियों के उद्देश्य निम्नलिखित होते हैं

(अ) जिन व्यक्तियों के पास मकान नहीं है उनके लिए सरकार या किसी सस्था से सस्ती कीमत पर भूमि खरीदना,

(आ) मकानों के निर्माण में प्राविधिक एवं वित्तीय दोनों प्रकार की सहायता उपलब्ध कराना, तथा

(इ) इस प्रकार की सहकारिता के आधार पर निर्मित बस्तियों के लिए कम कीमत पर बिजली, पानी, सड़क, पोस्ट ऑफिस तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करना।

३० जून, १९६४ तक भारत में ६ ८८६ सहकारी भवन निर्माण समितियों की स्थापना की जा चुकी थी जिनमें ६.२ लाख सदस्य थे तथा लगभग १०० करोड रुपयों की कार्यशील पूंजी लगी हुई थी। इन समितियों के सदस्यों को राज्य सरकार की ओर से मकान की लागत को ३० से ४०% तक ऋण के रूप में दिया जा सकता है।

भारत में सहकारी आन्दोलन के दुर्बल होने के कारण

अध्याय १९ तथा २० में भारतीय सहकारी आन्दोलन की हमने विस्तृत रूप से समीक्षा की है। कृषि साख, गैर कृषि साख तथा कृषि व गैर कृषि गैर साख सस्थाओं की प्रगति का विश्लेषण करने के साथ साथ हमने यह भी देखा कि विभिन्न शोधकर्ताओं व समितियों ने किस प्रकार भारतीय सहकारिता की कमजोरियों को स्पष्ट किया है। यद्यपि तीन पचवर्षीय योजनाओं की अवधि में सहकारी समितियों (प्राथमिक स्तर की) व्यवस्था १.८० लाख से बढकर ३.७५ लाख हो गई है, सदस्यों की सख्या १.३७ करोड में बढकर ५.२० करोड होगई है तथा कार्यशील पूंजी २७६ करोड से बढकर ५४० करोड हो गई है, फिर भी इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि **भारत का सहकारी आन्दोलन आज भी कमजोर है और नार्वे स्वीडन, इजराइल, डेनमार्क और इटली जैसे छोटे देशों की तुलना में पिछड़ा हुआ है।** इन देशों में सहकारिता आर्थिक दृष्टि से निर्बल व्यक्तियों के लिए सम्बल है और आतरिक प्रेरणा से वहां के लोग सहकारिता को प्रारम्भ करते हैं जबकि भारत में सहकारी आन्दोलन अपने ६५ वर्ष की लम्बी आयु पार करने पर भी मात्र सरकारी आन्दोलन ही है। सहकारिता की यहां नितांत आवश्यकता है तथापि यह जन-मानस की आवाज बनने में असफल रहा है। निम्नलिखित कारण इसके लिए उत्तरदायी माने जा सकते है :

(१) सामाजिक ढांचा—भारत में कृषि तथा गैर कृषि दोनों ही क्षेत्रों में आर्थिक घटक सामाजिक घटकों एवं सम्बन्धों से नियन्त्रित रहते हैं। कृषकों का जमींदारी व आढतिये से सम्बन्ध तथा गैर कृषकों का व्यापारी आदि से सम्बन्ध भावनाओं पर टिका हुआ है न कि आर्थिक दृष्टिकोण पर। सदियों के सम्बन्धों को वे किसी भी कीमत पर नहीं तोडना चाहते।

(२) आर्थिक ढांचा—भारत में सम्पत्ति व आय के वितरण अत्यधिक विषम हैं। देश के कृषक परिवारों में से १६% के पास १,००० रुपए से कम मूल्य की सम्पत्ति है। शहरों में ५% परिवारों ने अधिकांश सम्पत्ति पर अधिकार किया हुआ है। दूसरी ओर १/६ कृषक परिवारों को कुल कृषि आय का ६-७% प्राप्त होता है—इनकी वार्षिक आय १,००० रुपए के लगभग है। इसी

1. Yojana April 20, 1969

प्रकार शहरों मे २०% परिवारो की वार्षिक आय ५०० रुपए से कम है। यदि सहकारिता से निचले वर्ग के लोगो को सहायता पहुँचाना हमारा उद्देश्य हो तो हमे यह भी याद रखना चाहिए कि इन लोगों की ऋणों को वापस करने की क्षमता बहुत थोडी है। फिर, आय कम होने के कारण इन व्यक्तियों के बजट में सदेव घाटा होता है, और इसीलिए सहकारी समिति से प्राप्त सहायता उसी घाटे की पूर्ति में प्रयुक्त होती है।

(३) अशिक्षा—भारत मे अधिकाश व्यक्ति अशिक्षित है, और सहकारिता के अर्थ तथा लाभ से परिचित नही है। जिन लोगो को सहकारी समिति का सदस्य बना भी लिया जाता है वे इसी कारण निष्क्रिय रहते है कि उन्हे सहकारी-शिक्षा नही दी जाती। राष्ट्रीय तथा राज्य सहकारी यूनियनों द्वारा सहकारी शिक्षा की व्यवस्था अब तक बहुत कम प्रभावशाली रही है।

(४) भौतिकवाद—भौतिकवाद के बढते हुए प्रभाव ने अधिकाश भारतीय जनता को स्वार्थी तथा स्वयं-केन्द्रित (Self centred) बना दिया है। सहकारिता मे इसके विपरीत त्याग व सहिष्णुता की भावना का होना नितान्त आवश्यक है। जब तक स्वार्थ का त्याग नही होता सहकारी आन्दोलन की सफलता मे सन्देह ही रहेगा। सहकारिता के प्रणेता ब्रिटेन के रॉकडेल बन्धुओ के त्याग की कहानी सहकारिता की सफलता की कहानी है।

(५) राजनीति—भारत मे सहकारी संस्थाओ को करोडो रुपए का अनुदान सरकार से प्राप्त होता है। दुर्भाग्य मे सहकारी संस्थाओं की जिला व स्थानीय स्तर पर स्थित संस्थाओं का नेतृत्व राजनीतिज्ञों के हाथों मे है। फलस्वरूप राज्य सरकार का अनुदान उन समितियो को जल्दी तथा पर्याप्त मात्रा मे मिल जाता है जिनका नेतृत्व सफल एव कूटनीतिक नेताओं के हाथ में है। फिर, कुछ ही लोग क्षेत्र विशेष की सारी सहकारी संस्थाओं पर नियन्त्रण रखते है। यह कहना अनुचित न होगा कि निहित स्वार्थों के कारण भारत का सहकारी आन्दोलन प्रबन्ध अभिकर्ताओ (मैनेजिंग ऐजेन्टो) की भाँति कुछ ही हाथो मे केन्द्रित हो गया है।

(६) सरकार की नीति—' शिशु का पालन करो, बालक की देख-भाल करो तथा युवक को पूर्णतया छूट दो" यह उक्ति सरक्षण के विषय मे दी जाती है। भारत मे सहकारी आन्दोलन को राज्य की ओर से पर्याप्त सहायता दी जाती रही है। परिणाम यह हुआ कि ६५ वर्ष का वृद्ध हो जाने पर भी सहकारी आन्दोलन रूपी शिशु सरकार पर आश्रित है। जब तक सरकार इसे स्वावलम्बन की दिशा मे मोड नही देगी, भारत का सहकारी आन्दोलन ठोस नींव पर खडा नही हो सकेगा।

इन्ही बातो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद सहकारिता से सम्बन्धित हमारी नीति बनाई जानी चाहिए।

२१

सामुदायिक विकास योजनाएँ
(Community Development Projects)

प्रारम्भिक—सामुदायिक विकास योजनाओं की आवश्यकता

भारत ग्रामो मे निवास करता है। यहाँ की कुल जनसख्या का ८२% भाग भारत के ५,६० ००० ग्रामों में रहती है जिनका मुख्य धधा कृषि है। किन्तु फिर भी वे निर्धनता, दरिद्रता, भुखमरी, बेकारी, ऋण ग्रस्तता आदि के शिकार है। हमारे कृषक नई प्रणालियों और जीवन के नवीन उपायो के प्रति उदासीन हैं। उनके सम्मुख जो जटिल समस्यायें है उन्हें हल करने के लिए वे सुसगठित रूप से प्रयत्न ही नही करते। अत ग्रामोत्थान की कल्पना से विहीन राष्ट्रोन्नति की किसी योजना का चित्र सदैव अधूरा रहेगा। ग्रामो का बहुमुखी विकास देश की सुख-समृद्धि के लिए आवश्यक ही नही अनिवार्य है। सामुदायिक विकास योजनाएँ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चालू की गई हैं। **श्री० एस० के० डे० के अनुसार 'जीओ तथा जीने दो'** इन योजनाओ की आधार शिला है। सक्षेप मे भारत मे सामुदायिक विकास योजनाओं को क्रियान्वित किया जाना **'रामराज्य'** की ओर एक सक्रिय कदम है जिसकी कि आज सबसे अधिक आवश्यकता है।

सामुदायिक विकास योजना का अर्थ ·

सामुदायिक विकास योजना वास्तव में बहुमुखी आधार पर ग्रामीणो मे की एक विस्तृत योजना है। **श्री लोशबोह (Losbbough) के शब्दो मे "सामुदायिक योजना गहन विकास की ओर एक संगठित तथा आयोजित प्रयत्न है।"** श्री सैंडरसन के अनुसार "सामुदायिक सगठन उन उद्देश्यो को प्राप्त करने मे जो सामूहिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं तथा उनके प्राप्त करने के सर्वोत्तम उपाय दोनो को ही उपलब्ध करने की एक कार्य विधि है ... ।"

स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दो मे "समस्त भारत में मानव क्रियाओ के ये केन्द्र ऐसे ज्योति स्तम्भ हैं जो घने अन्धकार में प्रकाश फैला रहे हैं। यह प्रकाश उस समय तक फैलता रहेगा, जब तक समस्त भारत भूमि आलोकित न हो उठे।' स्वर्गीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के शब्दो में 'ये योजनाएँ ऐसे छोटे बीज की तरह हैं जो एक दिन विशाल वृक्ष में परिणत हो जावेगा।' श्री एस० के० डे० ने इनकी बहुत ही सुन्दर शब्दो में परिभाषा इस प्रकार दी है—**"सामुदायिक योजना एक ऐसा उद्यान है जिसका परिपालन एक चतुर माली अत्यन्त सावधानी से करता है। यह योजना एक ऐसे जंगल के समान नहीं है जिसमें मुक्त व्यापार की तरह वृक्ष तथा वनस्पतियाँ भी हो।"** पंचवर्षीय योजनाओ के अनुसार 'सामुदायिक योजनाएँ ग्रामो के आर्थिक एव सामाजिक जीवन मे कायापलट करने की योजनाएँ हैं और ग्राम विकास सेवा इस उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन है।" इस प्रकार सामुदायिक विकास योजनाओ का लक्ष्य ग्रामीण समाज के चतुर्मुखी विकास

को प्रोत्साहित करना है जिसमे गाँववासियो का आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और नैतिक विकास सम्भव होगा।

योजना का श्रीगणेश

भारत मे सामुदायिक विकास योजनाओ का प्रारम्भ "गाँधी जयन्ती" के अवसर पर २ अक्टूबर, १९५२ से हुआ जबकि देश भर मे ५५ विकास क्षेत्रो मे विकास का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए समस्त राष्ट्र को ५५ सामुदायिक योजना क्षेत्रो मे बाँटा गया जिनका विस्तार दक्षिण मे कुमारी अन्तरीप से लेकर उत्तर मे काश्मीर तक तथा पश्चिम मे सौराष्ट्र से लेकर पूर्व मे असम तक है।

सामुदायिक विकास के उद्देश्य :

सामुदायिक विकास योजनाओ के निम्नलिखित उद्देश्य है :

(१) कृषि, बागवानी, पशु-पालन, मछली-पालन आदि मे वैज्ञानिक विधियो को लागू करके और अन्य पूरक धन्धो व कुटीर-उद्योगो को शुरु करके बेरोजगारी दूर की जाय और उत्पादन मे वृद्धि की जाय।

(२) गाँव की सडको, तालाबो, पाठशालाओ, स्वास्थ्य केन्द्रो आदि सार्वजनिक हित के निर्माण कार्यों के लिए सुसंगठित प्रयत्न किये जाने चाहिए।

(३) जनता के सहयोग से प्रत्येक ग्राम या कई ग्रामो को मिलाकर कम से कम एक बहुउद्देशीय सहकारी सस्था की स्थापना करना।

(४) जीवन की प्राथमिकताओ, जैसे खाना, कपडा और मकान के मामले मे गाँव को आत्मनिर्भर बनाना।

(५) व्यक्ति की आत्म-निर्भरता और समाज की स्वत अग्रसर होने की भावना को विकसित करना ताकि लोग अपने मामलो का स्वय प्रबन्ध कर सकें और गाँव को वृहत्तर भारतीय लोकतन्त्र की स्वशासित इकाई बना सकें।

संक्षेप मे इसके पीछे भावना यह है कि देश की सामान्य जनता को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा समाजवादी ढंग के समाज और कल्याणकारी राज्य की ओर उसके कर्त्तव्यो के प्रति जाग्रत किया जाय।

सामुदायिक विकास योजना का कार्यक्रम :

सामुदायिक विकास योजना का उद्देश्य ग्रामीण जीवन का सर्वतोमुखी विकास करना है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक अष्टसूत्रीय कार्यक्रम अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत यथासम्भव ग्रामीण जीवन के सभी पहलुओ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इसमे कृषि एव तत्सम्बन्धी कार्य, सिचाई कार्य ; ग्रामीण एव लघु उद्योग ; शिक्षा ; आवास ; प्रशिक्षण एवं सामाजिक कल्याण ; महिला कार्यक्रम ; स्वास्थ्य एव सफाई तथा महिला कार्यक्रम मे सम्बन्धित विकास के कार्यक्रम सम्मिलित किये गये है। इन कार्यक्रमो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

(१) *कृषि एवं तत्सम्बन्धी कार्य*—कृषि भारतीय ग्रामीण जीवन का सबसे प्रमुख अग होने के कारण इसके विकास पर प्रमुख ध्यान दिया गया था। कृषि की उत्पादकता मे वृद्धि लाने के लिए इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रमो का आयोजन है—नई व पुरानी भूमि को कृषि योग्य बनाना, उर्वरक एव उन्नत बीजो की व्यवस्था करना, सुधरी कृषि विधियो का प्रचलन, तकनीकी सूचनाओ का प्रचार, सुधरे कृषि औजारो की व्यवस्था, उन्नत विपणन एव साख सुविधाओ की व्यवस्था, भूमि कटाव की रोकथाम करना, पशु-प्रजनन एव चिकित्सा की सुविधा, सहकारिता का विकास, कम्पोस्ट खाद का प्रयोग करना आदि।

(२) **सिचाई कार्य**—पर्याप्त सिचाई सुविधाओ का अभाव कृषि के विकास मे एक महत्त्वपूर्ण बाधा है। अतएव सामुदायिक विकास योजना के कार्यक्रमो के अन्तर्गत सिचाई की सुविधाओं

के विकास पर जोर दिया गया है। सिंचाई कार्यक्रम के अन्तर्गत लघु सिंचाई साधनों—जैसे कुँओ, नलकूपो तालाबो, नहरो आदि के द्वारा कृषि के लिए पानी की व्यवस्था की जायेगी। लक्ष्य यह है कि कम से कम आधी भूमि को ऐसी सिंचाई सुविधायें प्राप्त हो।

(३) शिक्षा—ग्रामीण क्षेत्रो के विकास के हेतु किसी भी योजना के निर्माण एव कार्यान्वय मे ग्रामीण जनता तभी भाग ले सकती है जबकि वह शिक्षित हो। अत सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत प्रारम्भिक एव बुनियादी शिक्षा के विकास की व्यवस्था की गयी है। लघु ग्रामीण उद्योगो को प्रोत्साहित करने के लिए शिल्पकारो-तकनीशियनो को आधुनिक विधियों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गई है। वयस्को की शिक्षा के लिए प्रौढ शिक्षा तथा वाचनालयो की भी व्यवस्था की गई है।

(४) ग्रामीण एव लघु उद्योगो का विकास—ग्रामीण जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए इनके अन्दर ग्रामीण एव लघु उद्योगों के विकास पर जोर दिया जाता है ताकि गावो के बेकार एव अर्द्ध बेकार लोगो को रोजगार मिल सके। सामुदायिक विकास के कार्यक्रमो के अन्तर्गत ग्रामीण उद्योगो के विकास की विभिन्न मदो पर इन तीन पच वर्षीय योजनाओ मे लगभग २२९२ लाख रुपयो का व्यय किया गया है।

स्वास्थ्य एव ग्राम सफाई—सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत स्वास्थ्य एव ग्राम सफाई कार्यक्रमो को भी सम्मिलित किया गया है। इन कार्यक्रमो के अन्तर्गत जन स्वास्थ्य एव सफाई पर विशेष जोर दिया जाता है। स्वास्थ्य कार्यक्रमो के अन्तर्गत गावो मे चिकित्सा केन्द्र, पशु चिकित्सालय तथा गतिशील चिकित्सालयो की व्यवस्था की जाती है। महामारियो (जैसे-मलेरिया हैजा तपैदिक आदि) का नियत्रण भी स्वास्थ्य कार्यक्रमो का एक महत्त्वपूर्ण अग है। गावो मे सफाई की व्यवस्था के लिए शौचालय पक्की नालिया कुओं की मरम्मत गलियो को पक्का किया जाना आदि की व्यवस्था है।

(६) आवास प्रशिक्षण एव सामाजिक कल्याण—ग्रामीण जनता की आवास व्यवस्था को सुधारने के लिए गावो मे उत्तम प्रकार के भवन निर्माण के विषय मे प्रदर्शनियो आदि की व्यवस्था की जाती है तथा घने बसे हुए गावो म लोगो को नये स्थानो मे भवन निर्माण के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। सस्ते और सुविधाजनक मकानो के नमूने तथा भवन-सामग्री विषयक सहायता दी जाती है। स्थानीय क्षमता और सस्कृत के आधार पर सामुदायिक मनोरजन के साधनों की व्यवस्था की जाती है। इनके अन्तर्गत खेल-कूद मेला एव प्रदर्शनियो का आयोजन किया जाता है। पार्क एव खेल-कूद के मैदानो का विकास किया जाता है। सामुदायिक विकास कार्यक्रमो को सफल बनाने के लिए कर्मचारियों को प्रशिक्षण भी प्रदान किया जाता है ताकि समुचित मात्रा मे प्रशिक्षित कर्मचारी उपलब्ध हो सके।

(७) यातायात एव सचार व्यवस्था—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत गांवो म सडको एव सचार व्यवस्था के विकास पर जोर दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र मे सडको का विकास इस प्रकार करने का आयोजन है जिससे कि कोई भी गाँव मुख्य सडक से आधे मील (½ मील) से अधिक की दूरी पर स्थित न हो। सडको का निर्माण यथासम्भव ग्रामीणो के ऐच्छिक श्रम द्वारा किया जाता है। सरकार या सार्वजनिक सस्थाएँ मुख्य सडको की व्यवस्था करती है। इसके अतिरिक्त सचार व्यवस्था के विकास पर भी जोर दिया जाता है।

(८) महिला कार्यक्रम—गावो मे विशेषत महिलाओ की दशा बडी ही दयनीय है। अभी हाल ही मे एक स्थानीय समाचार पत्र मे यह सूचना प्रकाशित की गई थी कि राजस्थान के एक गाव मे खेत जोतने मे बैलो के स्थान पर औरतो से काम लिया जाता है। अतएव महिलाओ के उत्थान के लिए सामुदायिक विकास योजनाओ के अन्तर्गत महिला कार्यक्रमो को भी सम्मिलित किया गया है। इस कार्य के लिये गाव मे महिला कैम्प लगाये जाते है तथा महिला समितियों की स्थापना की जाती है।

सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा परियोजना में अन्तर
(Difference between Community Development and National Extension Service Projects)

प्रायः लोगो मे यह भ्रम पाया जाता है कि सामुदायिक विकास परियोजनाओ तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा परियोजना दोनो एक ही हैं, अर्थात् इन दोनो मे कोई अन्तर नहीं है। किन्तु इन दोनो मे पर्याप्त अन्तर विद्यमान है जो निम्न प्रकार है :

(१) सामुदायिक विकास योजना एक पद्धति (System) है जबकि राष्ट्रीय विकास सेवा योजना एक साधन (means) है जिसके द्वारा सामुदायिक विकास योजना के कार्यक्रमों को कार्यान्वित किया जाता है। (२) सामुदायिक विकास योजनाओं की तुलना मे राष्ट्रीय प्रसार योजनाओ का क्षेत्र सीमित है। (३) सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण जीवन के सर्वाङ्गीण विकास पर जोर दिया जाता है, जबकि राष्ट्रीय प्रसार सेवा के कार्यक्रम के अन्तर्गत केवल कृषि व्यवसाय को समुन्नत करने एवं विकसित अवस्था में लाकर कृषक के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाता है। (४) राष्ट्रीय विकास योजना का लक्ष्य एवं उद्देश्य राष्ट्रीय प्रसार सेवा कार्यक्रम की तुलना मे अधिक विस्तृत, व्यापक, पूर्ण, गहन एव महत्त्वकांक्षी है। (५) सामुदायिक विकास कार्यक्रमो पर राष्ट्रीय प्रसार सेवा के कार्यक्रमो की तुलना मे अधिक धन व्यय किया जाता है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का सगठन
(Organisation of the Community Development Projects)

(i) **गाँव सगठन**—सामुदायिक विकास योजनाओ के अन्तर्गत गाँव और गाँववासियो के जीवन के प्रत्येक पहलू को शामिल कर लिया गया है जिसमे उससे बहुमुखी उन्नति हो सके। ग्रामीण स्तर का कार्यकर्त्ता जिसे 'ग्राम सेवक' भी कहते है, इस कार्यक्रम का मूल कार्यकर्त्ता है। उसका गाँववालो से निकटतम सम्बन्ध होता है। प्रत्येक ५ से १० गाँव तक का एक ग्राम सेवक इंचार्ज होता है, जो चार-पाँच हजार ग्रामीणों की सेवा करता है। उसे कृषि, पशु-चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, ग्रामोद्योग, सहकारिता, पचायत आदि की शिक्षा दी जाती है। गाँव सगठन सामुदायिक विकास कार्यक्रम का सबसे निचला स्तर है।

(ii) **जिला संगठन**—जिला योजना तथा विकास समिति का कलक्टर चेयरमैन होता है। इसके नीचे 'खण्ड अधिकारी' होते हैं जो 'विकास अधिकारी' का कार्य करते हैं। अत इनको 'जिला विकास अधिकारी' भी कहते हैं। प्रत्येक योजना मे ३०० गाँव होते है और इसे तीन खण्डो मे विभाजित किया जाता है। प्रत्येक खण्ड १०० गाँव का होता है जिनका निरीक्षण खण्ड अधिकारी अथवा विकास अधिकारी (B. D. O) करते हैं।

(iii) **राज्य सगठन**—प्रत्येक राज्य मे, 'राज्य विकास समिति' होती है जिसमे राज्य के मुख्य मन्त्री सभापति, विकास मन्त्री, सदस्य तथा विकास कमिश्नर सचिव होते है। यह कमिश्नर जिलाधीशो के कार्य का निरीक्षण करता है।

(iv) **केन्द्रीय संगठन**—अखिल भारतीय स्तर पर एकसूत्रता लाने के लिये समिति है, जिसमे योजना कमीशन के सदस्य, सामुदायिक विकास, कृषि तथा खाद्य के सभी मन्त्री होते हैं। प्रधानमन्त्री इस समिति का अध्यक्ष होता है। सामुदायिक विकास कार्य की महत्ता व इसके बढते हुए कार्यक्षेत्र के कारण सितम्बर सन् १९५६ मे इसके लिए एक अलग मन्त्रालय 'सामुदायिक विकास एव सहकारी मन्त्रालय' के नाम से स्थापित किया गया।

पंचवर्षीय योजनाओं में सामुदायिक विकास :

जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, भारत मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम अक्टूबर, १९५२ को ५५ चुनी हुई परियोजनाओं मे आरम्भ किया गया था तथा प्रत्येक परियोजना के क्षेत्र मे ५०० वर्ग मील मे (१,३०० वर्ग किलोमीटर) फैली हुई २ लाख की जनसख्या के ३०० गाँव सम्मिलित किये गये थे। इस प्रकार भारत मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम को प्रारम्भ हुए

१७ वर्ष समाप्त हो चुके हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के विस्तार पर विशेष बल दिया गया है।

प्रथम योजना (१९५१-५२ से १९५५-५६ तक) में प्रगति—प्रथम योजना के अन्तर्गत कुल ग्रामीण जनसंख्या के एक-चौथाई भाग को इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का आयोजन किया गया था। इस योजना काल में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर कुल मिलाकर ४५.९८ करोड रुपये की राशि व्यय की गयी। योजना की समाप्ति तक यह कार्यक्रम ९८८ विकास खण्डों के १४० हजार गाँवों में लागू किया जा चुका था जिनकी जनसंख्या ■ ७५ करोड थी।

द्वितीय योजना (१९५६-५७ से १९६०-६१ तक) में प्रगति—द्वितीय योजना में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के विस्तार पर विशेष बल दिया गया था। द्वितीय योजना की समाप्ति तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ३,१०० खण्ड आ गये थे जिनमें लगभग ३.७ लाख गाँव थे जिनकी जनसंख्या २० करोड की थी। द्वितीय योजनाकाल में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर कुल मिलाकर १८७.१२ करोड रुपये व्यय किये गये। द्वितीय योजना-काल में ही एक समिति नियुक्त की गयी थी जिसका नाम बलवन्तराय मेहता समिति था।

बलवन्तराय मेहता समिति की सिफारिशें

दिसम्बर, १९५६ में सामुदायिक विकास आन्दोलन का मूल्यांकन करने के लिए सरकार ने श्री बलवन्तराय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की थी। इस समिति की रिपोर्ट नवम्बर, १९५७ में प्रकाशित हुई, जिसकी मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं :

(१) "सामुदायिक विकास कार्यक्रम के सम्बन्ध में सत्ता का हस्तान्तरण और व्यवस्था का विकेन्द्रीयकरण होना चाहिए और इस तरह की सत्ता का उपयोग तथा व्यवस्था का नियन्त्रण स्थानीय क्षेत्र के लोक प्रतिनिधियों द्वारा ही होना चाहिए।" इस प्रकार सारी शक्तियाँ जनता द्वारा सचालित पंचायतों, सहकारी समितियों को सौंप देनी चाहिए।

(२) राष्ट्रीय प्रसार सेवा और सामुदायिक विकास के बीच का अन्तर समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

(३) सामुदायिक विकास कार्यक्रम को तृतीय योजना तक बढ़ा दिया जाना चाहिए।

(४) "सही किस्म का प्रशासन ही सामुदायिक विकास के सम्पूर्ण कार्य को सुदृढ़ बना सकता है।"

उपरोक्त सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली गई थीं। इन सिफारिशों के आधार पर द्वितीय योजना में विकास कार्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये जिनमें सामुदायिक विकास कार्यक्रम को समस्त ग्रामीण क्षेत्रों में फैलाना, पंचायती राज्य की स्थापना, विकास खण्ड को योजना और विकास की इकाई बनाना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

तृतीय योजना (१९६१-६२ से १९६५-६६ तक) में प्रगति—तृतीय योजनाकाल में सामुदायिक विकास कार्यक्रम पर २९४ करोड व्यय करने की व्यवस्था की गई थी जिसमें से योजना के अन्त तक केवल २६९.१२ करोड[1] रुपये ही व्यय किये गये थे। योजना के अन्त तक लगभग ५,२०० खण्डों पर कार्य प्रारम्भ हो चुका था।

वर्तमान स्थिति :

अब तक लगभग ५२६५ खण्डों में कार्य प्रारम्भ हो चुका है। इनके अन्तर्गत ५.३७ लाख गाँव हैं। जिनकी जनसंख्या ४०.४६ करोड है। इस प्रकार देश के लगभग सभी ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का विस्तार हो गया है। वार्षिक योजनाओं की अवधि (१९६८-६९) में सामुदायिक विकास आदि के कार्यक्रमों पर ९९ करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है।

---

1. See India '1968' page 254.

चतुर्थ योजना (१९६९-७४) से सामुदायिक विकास कार्यक्रम—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे सामुदायिक विकास को कृषि का एक अभिन्न अंग माना गया है। अतएव इनके विकास पर विशेष बल दिये जाने की व्यवस्था है। चतुर्थ पचवर्षीय योजनाकाल मे सामुदायिक तथा पंचायत कार्यक्रमो पर ११५·८ करोड रु० व्यय होने का आयोजन है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की समीक्षा (An Appraisal of the Community Development Projects)—भारत मे सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को शुरू हुए १७ वर्ष से भी अधिक की अवधि व्यतीत हो चुकी है। इस अवधि मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम ने अच्छी प्रगति की है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम की कार्यवाहियों का मूल्यांकन करने के लिये योजना आयोग ने एक **पृथक कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन** (Programme Evaluation Organisation) की स्थापना की है। यह संगठन प्रतिवर्ष सामुदायिक विकास खण्डो की सफलताओ व असफलताओ पर रिपोर्ट देता है। इन रिपोर्टों से पता चलता है कि पिछले १७ वर्षो मे सामुदायिक विकास खण्डों मे विभिन्न क्षेत्रो मे अच्छी प्रगति हुई है। विशेषकर शिक्षा, चिकित्सा, सड़क यातायात आदि में पर्याप्त सुधार हुआ है। लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि राज्य का काम केवल राज्य करना ही नही है, अपितु सेवा करना भी है। इन कार्यक्रमों के कारण ग्रामीण जनता मे नई आशाए, आवश्यकताए एव आकांक्षाए उत्पन्न हुई हैं। इन सफलताओ के साथ-साथ रिपोर्टों मे सामुदायिक विकास कार्यक्रमो की दुर्बलताओं तथा असफलताओ पर भी प्रकाश डाला गया है जो कि निम्न प्रकार है :

(१) **जन-सहयोग का अभाव**—यह दुख का विषय है कि पिछले १७ वर्षों के निरन्तर प्रचार एव विकास कार्यक्रमो के बावजूद भी भारतीय ग्रामीण जनता ने सामुदायिक विकास कार्यक्रम के प्रति सहयोगी भावना के स्थान पर उदासीनता की ही भावना दिखायी है। कार्यक्रमो को पूरा करने के लिए स्थानीय पहल, नेतृत्व तथा आत्मविश्वास का भारी अभाव है। अधिकाश ग्रामीण इसे अपना कार्यक्रम नही मानते और ऐसा लगता है जैसे ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिए छोटे-छोटे कार्यक्रमो के लिए भी वे मुख्यतः सरकार का मुँह जोहते हैं।

(२) **कृषि के क्षेत्र में असफलता**—सामुदायिक विकास कार्यक्रम मे कृषि के विकास पर सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। किन्तु कृषि के क्षेत्र मे जो सफलता प्राप्त हुई है वह निर्धारित लक्ष्यो [redacted] बहुत दूर है। यद्यपि कृषि मे सुधरे हुए तरीको का प्रचार हुआ है किन्तु फिर भी अधिकाश गांवो मे सिचाई, चकबन्दी, भूमि-संरक्षण, वित्त आदि के विषय में विशेष प्रगति नही हुई है।

(३) **अधिकारियों में मतभेद**—सामुदायिक विकास कार्यक्रम की असफलता का एक महत्वपूर्ण कारण सरकार तथा नियुक्त अधिकारियो (जैसे विकास अधिकारी, ग्रामसेवक, पटवारी आदि) तथा गांवो मे चुनाव द्वारा मनोनीत प्रधान अथवा सरपच के मध्य मतभेदो का होना है। आपसी मतभेदो के फलस्वरूप दोनों ओर की शक्तियाँ विकास के कार्यक्रमों से हटाकर एक दूसरे को नीचा दिखाने मे लग जाती है। इसके परिणामस्वरूप विकास की सारी योजनायें ठप्प पड जाती है।

(४) **राजनीतिज्ञो का प्रभाव**—पचायतो मे विभिन्न राजनीतिक दलो का प्रवेश हो जाने के कारण सहयोग के स्थान पर दलबन्दी को प्रोत्साहन मिला है। इनका कार्य आपस मे एक दूसरे का विरोध करना, झगडा करना, नये-नये दल कायम करना, एक दूसरे को नीचा दिखाना आदि ही रह गया है, जिसके परिणामस्वरूप विकास कार्य ठप्प पड गया है। आज समूचा ग्रामीण जीवन ही राजनैतिक दलबन्दी का अखाड़ा बन गया है।

(५) **निर्धन व्यक्तियो को अपेक्षाकृत कम लाभ**—सामुदायिक विकास कार्यक्रम से प्राप्त अधिकाश लाभ निर्धन वर्ग को न पहुँच कर सम्पन्न वर्ग को पहुँचते हैं। ग्रामीण नेतृत्व आज भी गाँव के अपेक्षाकृत सम्पन्न वर्ग के ही हाथो मे है। अनुसूचित एव पिछडे वर्ग की आवाज ग्राम पचायत एवं पचायत समितियो मे बुलन्द नही हो पाई है। ऋण व आर्थिक सहायता के वितरण मे भी उन्ही लोगो को स्थान मिलता है जिनके पास जमानत के लिये भूमि तथा अचल सम्पत्ति होती है।

(६) **ग्रामीण उद्योगों एव सहकारिता के क्षेत्र में असन्तोषजनक प्रगति**—सामुदायिक विकास कार्यक्रम को लागू करते समय यह आशा व्यक्त की गई थी कि इससे ग्रामीण उद्योगो तथा

सहकारिता का विकास होगा। रोजगार के नये-नये साधन विकसित होंगे। प्रगति के आँकड़ों से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में आशातीत प्रगति नहीं हो पाई है।

अन्य आलोचनाएँ :

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की उपर्युक्त कमियों के अतिरिक्त और भी कई कमियाँ हैं जिनके आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में समय-समय पर तीव्र आलोचनाएँ की जाती रही हैं। ये आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं

(१) **सामुदायिक विकास योजनाओं का खोखलापन**—आलोचकों का कथन है कि इन योजनाओं में आन्तरिक खोखलापन है। प्रगति के आंकड़े समय-समय पर जो प्रकाशित किए जाते हैं, क्या वे सब सही हैं? इस प्रश्न के उत्तर में श्री एस० के० डे ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि इन योजनाओं में पैसे का दुरुपयोग हुआ व कागजी घोड़े दौड़ाये गये हैं। उन्होंने मध्यप्रदेश का दौरा करते समय एक विकास खण्ड अधिकारी (B D O) से पूछा कि खाद के कितने गड्ढे खोदे गये हैं? उन्होंने फौरन फाइल उठाकर हजारों की सख्या बतला दी। किन्तु जब जाच की तो देखने के वास्ते एक भी गड्ढा न मिला अर्थात् समस्त गड्ढे कागजों पर ही सीमित थे।

उपरोक्त के अतिरिक्त आलोचनाओं के अन्त स्तम्भ निम्नलिखित हैं :

(२) लालफीता शाही का बोलबाला है।
(३) धन का भारी अपव्यय होता है।
(४) इससे अमरीकी पूंजीवाद तथा औपनिवेशवाद को प्रोत्साहन मिलता है।
(५) कर्मचारियों के प्रशिक्षण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।
(६) भूमि रहित कृषि श्रमिकों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।
(७) इन कार्यक्रमों में सुनियोजित प्राथमिकताओं का अभाव रहा है।

(८) ग्राम सेवक का क्षेत्र आवश्यकता से अधिक विस्तृत रखा गया है जिससे वह कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने से सम्बन्धित अपने उत्तरदायित्व को भली प्रकार निभाने में असमर्थ रहा है।

(९) सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में व्यावहारिकता के स्थान पर औपचारिकता व नौकरशाही को अधिक महत्त्व दिया गया है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम को अधिक सफल बनाने के लिए सुझाव

भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम अधिक सफल एवं प्रभावशाली बनाने के लिये विभिन्न विद्वानों, समितियों, अध्ययन मण्डलों तथा योजना आयोग ने समय-समय पर अनेक सुझाव दिये हैं जिनमें से प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं

(१) **ग्रामीणों के सहयोग पर बल**—ग्रामीण जनता में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के प्रति विश्वास एवं उत्साह की भावना को जागृत करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये ताकि उनका अधिकाधिक सहयोग प्राप्त किया जा सके। उनके मन में यह भावना जागृत की जानी चाहिये कि यह कार्यक्रम उनका अपना कार्यक्रम है, अतएव इसकी सफलता भी उनके सहयोग पर निर्भर करती है। इसके लिए प्रचार पर बल दिया जाना चाहिए।

(२) **राजनीति से छुटकारा**—जब तक सामुदायिक विकास खण्डों तथा पचायतों को दूषित राजनीति के कुप्रभाव से मुक्त नहीं किया जायगा तब तक सफलता की कामना करना व्यर्थ होगा। इसके लिये सक्रिय कदम उठाये जाने चाहिए। सरकार को स्वय उन क्षेत्रों का विरोध एवं उनके प्रति उदासीनता नहीं दिखानी चाहिए जिसमें सरकार समर्थक दल का बहुमत न हो। सभी दलों द्वारा एक आचार संहिता बनायी जानी चाहिए तथा उसका कठोरता से पालन किया जाना चाहिए।

(३) **अनुसधान सम्बन्धी सुविधाओं का विकास**—सामुदायिक विकास खण्डों में कृषि सम्बन्धी अनुसधान-शालाओं की स्थापना एवं उनका विकास किया जाना चाहिए। कृषि सम्बन्धी समस्त सूचनाओं को इन अनुसधान-शालाओं तक पहुँचने का प्रबन्ध होना चाहिए।

(४) **ग्रामीण एवं छोटे उद्योग-धन्धों पर बल**—सामुदायिक विकास योजनाओं में ग्रामीण एवं छोटे उद्योग-धन्धो की स्थापना एवं उनके विकास पर बल दिया जाना चाहिए ताकि ग्रामीण जनता की आय मे कुछ वृद्धि हो सके।

(५) **प्रशिक्षण पर जोर**—सामुदायिक विकास के कार्यो पर केवल उन्ही सरकारी कर्मचारियों की नियुक्तियाँ की जानी चाहिए जिन्होने कि पहले से ही आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त कर लिया हो। ऐसा करने पर ही वे गांवो की समस्याओं को अच्छी तरह से समझ पायेंगे। यही नही कर्मचारियो की भर्ती करते समय गाँवो मे निवास करने वाले व्यक्तियो को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। पंच, सरपंच तथा प्रधानो के लिये भी आवश्यक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि से सही अर्थो मे सामुदायिक विकास के कार्यक्रमो को सफल बनाने मे अपना योग दे सकेँ।

(६) **कृषि रीतियों में आमूल परिवर्तन**—यद्यपि सामुदायिक विकास योजनाओं मे कृषि के विकास पर सबसे अधिक जोर दिया गया है किन्तु फिर भी इसमे आशातीत प्रगति नही हो पायी है। फलतः यह कार्यक्रम पूर्णतः सफल नही हो पाया है। इसका मुख्य कारण घिसी-पिटी कृषि रीतियो का प्रचलन है। अतएव आज आवश्यकता इस बात की है कि इन घिसी-पिटी कृषि रीतियो के स्थान पर आधुनिक कृषि रीतियो को प्रचलित किया जाय। इसके लिए एक क्रान्तिकारी सगठन की स्थापना की जानी चाहिए जो कि गाँव-गाँव घूमकर नवीन कृषि प्रणालियों का प्रचार करे। प्रचार करते समय सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनो पहलुओ पर जोर दिया जाना चाहिए।

(७) **ग्राम सेवक का क्षेत्र सीमित करना**—ग्राम सेवक अपने कार्य को सफलतापूर्वक कर सके, इसके लिये यह आवश्यक है कि उसका क्षेत्र सीमित किया जाय। बलवन्तराय समिति के अनुसार एक ग्राम सेवक के अन्तर्गत ४,००० से अधिक व्यक्ति न रखे जायें।

(८) **स्वदेशी भावना का विकास**—सामुदायिक विकास योजनाओं को सफल बनाने के लिये जन-साधारण मे स्वदेशी भावना कूट-कूट कर भर देनी चाहिये। ऐसा होने पर स्वाभाविक रूप से वे सामुदायिक विकास के कार्यक्रमो मे अधिक उत्साह से हिस्सा लेंगे एवं उन्हे सफल बनायेंगे।

(९) **भूमि सुधार**—सामुदायिक विकास कार्यक्रम को अधिक सफल बनाने के लिए भूमि सुधार को द्रुतगति से लागू किया जाना चाहिये। भूमिहीन किसानों को भूमि देने पर बल दिया जाना चाहिये।

(१०) **अन्य सुझाव**—(i) भविष्य मे ग्रामीण क्षेत्र में कल्याण कार्यो के मुकाबले मे आर्थिक विकास के कार्यक्रमो पर अधिक जोर दिया जाना चाहिये। (ii) सहकारी आन्दोलन को और अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। (iii) सघन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (Intensive Agricultural Area Programme IAAP) पर जोर दिया जाना चाहिये। (iv) ग्रामीण क्षेत्रों में भू-दान आन्दोलन पर भी बल दिया जाना चाहिए। (v) सामुदायिक विकास योजनाओ मे परिवार नियोजन को कार्यक्रम का आवश्यक अग बनाकर किसानो के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

भविष्य :

इसमे संदेह नही कि सामुदायिक विकास आन्दोलन से गाँवो मे नवीन जीवन का सचार हुआ है, गाँववासियो मे नई प्रेरणा आई है और जन समुदाय मे स्वयं सहायता की स्फूर्ति बनी है। अपना विकास अपने ही हाथो द्वारा किया जाय, यह इस आन्दोलन का मन्त्र है। हमको पूर्ण विश्वास है कि ये योजनाएँ थोडे समय मे भारत को कोटि-कोटि ग्रामीण जनता मे आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक क्रान्ति करने के अपने महान प्रयास मे सफल होंगी। इस प्रकार एक नवीन भारत का निर्माण होगा। इस प्रकार भारतवर्ष मे सामुदायिक विकास योजनाओ का भविष्य निश्चयात्मक रूप से उज्जवल है।

२२

भारत मे योजनाकाल में कृषि विकास

(Development of Agriculture in India during the Plan Period)

प्रारम्भिक—कृषि नियोजन की आवश्यकता

भारत शुरू से ही एक कृषि प्रधान देश है। देश की ७० प्रतिशत जनसंख्या कृषि से अपना जीविकोपार्जन करती है। भारत की राष्ट्रीय आय का ४६.४७ भाग कृषि तथा पशुपालन से प्राप्त होता है। कृषि ही भारत की अर्थव्यवस्था की मूल आधार-शिला है। यदि कभी कृषि मे वर्षा की अनियमितता, अतिवृष्टि अनावृष्टि तथा किसी अन्य प्रकार का प्रकोप हो जाता है तो समस्त अर्थ-व्यवस्था ही तिलमिला उठती है। यह कैसी विडम्बना है कि देश की ७० प्रतिशत जनसंख्या कृषि मे सलग्न होने पर भी खाद्यान्नो की पूर्ति के लिए विदेशो के समक्ष हाथ पसारने की नौबत आती है। अतएव भारत की अर्थव्यवस्था मे कृषि का इतना अधिक महत्त्व होने के कारण यह स्वाभाविक ही है कि पचवर्षीय योजनाओ के अन्दर इसके विकास को सर्वोत्तम स्थान प्राप्त हो।

प्रथम योजनावधि (१९५१-५२ से १९५५-५६ तक) में कृषि का विकास

(Development of Agriculture in the Second Plan Period)

प्रथम योजना मे कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी थी क्योंकि भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप देश मे खाद्यान्नो की भारी कमी पड गयी थी। इसका कारण यह था कि पूर्वी बगाल के चावल उत्पादक क्षेत्र तथा पजाब के गेहूँ उत्पादक क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गये थे। अतएव खाद्यान्न के क्षेत्र मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करना प्रथम योजना का प्रमुख लक्ष्य निर्धारित किया गया।

प्रथम योजना में कृषि विकास हेतु उठाये गये कदम—कृषि उत्पादन की श्रेष्ठता बढाने के लिए उन्नत उत्पादन विधियां, पर्याप्त उर्वरको व उन्नत बीजो का प्रयोग करने तथा पर्याप्त एव नियमित जलपूर्ति के योजनाओ पर जोर दिया गया। जापानी ढग से धान की खेती की गई। गन्ने की घनी खेती पर बल दिया गया। भूमि सरक्षण एव पुनरुद्धार के प्रयत्न किये गये। सहकारिता के विकास पर जोर दिया गया। २ अक्टूबर, १९५२ से सामुदायिक विकास योजनायें प्रारम्भ की गई। टेक्नोलॉजिकल सुधारों के साथ-साथ कृषक के मनोविज्ञान को सुधारने का भी प्रयास किया गया ताकि वह कृषि की उन्नति मे अपना अमूल्य योगदान दे सके। इस आशय की पूर्ति के लिए भूमि सुधार कानूनो को लागू किया गया। सहकारी कृषि पर जोर दिया गया। अनुसन्धान केन्द्रो की स्थापना की गई। मछली व्यवसाय, पशुपालन एव वनोरोपण आदि क्षेत्रों मे भी विकास योजनायें कार्यान्वित की गई। प्रथम योजनाकाल मे कृषि विकास के विभिन्न कार्यक्रमो पर कुल मिलाकर ६०१ करोड रुपये की धनराशि व्यय की गई जो कुल वास्तविक आय का ३१% भाग थी। इस

प्रकार योजनाकाल मे कुल व्यय का लगभग एक-तिहाई भाग कृषि सम्बन्धी कार्यक्रमो पर व्यय किया गया ।

प्रथम योजनाकाल में प्रस्ताविक लक्ष्य तथा प्रगति :

भाग्यवश मौसम ने हमारा पूरा-पूरा साथ दिया । यही नही, उस समय के खाद्य मन्त्री स्वर्गीय श्री रफी अहमद किदवई ने कृषि की दशा को सुधारने मे कोई कसर उठा न रक्खी । परिणामस्वरूप योजना के शुरू के तीन वर्षो मे ही हमारा खाद्य उत्पादन निर्धारित लक्ष्यो को पार कर गया । प्रथम योजना मे खाद्यान्न का उत्पादन लक्ष्य ६२ मिलियन टन निर्धारित किया गया था जबकि योजना के अन्त मे खाद्यान्न का वास्तविक उत्पादन ६५ ८ मिलियन टन था । इसी प्रकार कृषि के अन्य क्षेत्रो मे प्रगति हुई जो कि निम्न तालिका से स्पष्ट है

मद का नाम	इकाई	१९५० ५१	१९५५-५६ [लक्ष्य]	१९५५-५६ [वास्तविक उत्पादन]
१. खाद्यान्न	मिलियन टन	५२ २	६२·०	६५·८
२. तिलहन	,,	५ १	५ ५	५·६
३ गन्ना (गुड)	,,	५ ६	६ ३	६·०
४ कपास	मिलियन गाठे	२ ९	४ २	४·०
५. जूट	,,	३ ३	५ ४	४ २

प्रगति के उपरोक्त आंकडो से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम योजना मे खाद्यान्न व तिलहन का उत्पादन निर्धारित लक्ष्यो से भी अधिक हुआ । इसके विपरीत, जूट, कपास व गन्ना का उत्पादन निर्धारित लक्ष्यो से कम हुआ । कृषि उत्पादन मे कुल मिलाकर १८% की वृद्धि हुई । लगभग सभी लोगो का यह मत है कि कृषि की दृष्टि से प्रथम योजना पूर्णत सफल रही है ।

प्रथम योजना की कमियाँ

यद्यपि कृषि की दृष्टि से प्रथम योजना को एक सफल योजना कहा जाता है किन्तु फिर भी इसके कृषि सम्बन्धी कार्यक्रमो मे कुछ दोष रह गये थे, जो कि निम्नलिखित हैं :—(१) प्रथम योजनाकाल मे सस्थागत परिवर्तनो (Institutional Changes) पर कोई विशेष ध्यान नही दिया गया । उदाहरण के लिए, खेतो के लघु आकार तथा उप-विभाजन एव अपखण्डन की समस्या को हल करने के लिए कोई सक्रिय कदम नही उठाया गया । (२) प्रथम योजना के अन्तर्गत विभिन्न फसलो के विकास के लिए कोई निश्चित एवं ठोस योजना नही बनायी गयी ।

द्वितीय योजनाकाल में कृषि का विकास

(Development of Agriculture during Second Five Year Plan)

प्रथम योजनाकाल मे कृषि के क्षेत्र मे की गई प्रगति से प्रभावित होकर योजना आयोग ने द्वितीय योजना मे कृषि मुकाबले में उद्योगो पर अधिक बल देने का निश्चय किया । इस प्रकार द्वितीय योजना मे कृषि को प्राथमिकता की दृष्टि से द्वितीय स्थान प्रदान किया गया, क्योकि प्रथम स्थान उद्योगो को दिया गया था । इतना होते हुए भी कृषि उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता के महत्त्व को कम न किया गया ।

द्वितीय योजना में कृषि विकास हेतु उठाये गये कदम :

द्वितीय योजनाकाल मे कृषि विकास कार्यक्रमो के आधीन कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये । इनमे सिंचाई के साधनो का विकास, भूमि सुधार, उन्नत बीज का वितरण, कम्पोस्ट खाद का प्रयोग, उर्वरको का प्रयोग, भूमि पुनरुद्धार, सहकारी विपणन, कृषि वित्त की सुविधाओ का विकास, भूमि संरक्षण आदि उल्लेखनीय हैं । द्वितीय योजना मे सिंचाई की सुविधाओं के विकास पर ३८० करोड रुपया व्यय किया गया । कृषि पर ९५० करोड रु० व्यय किये गये ।

द्वितीय योजनाकाल के प्रस्तावित लक्ष्य एवं प्रगति

द्वितीय योजनाकाल के प्रारम्भ मे जो कृषि उत्पादन लक्ष्य रखे गये उनमे बाद मे सशोधन करना पडा क्योंकि यह महसूस किया गया कि योजना के औद्योगिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कृषि उत्पादन लक्ष्यो मे और अधिक वृद्धि किया जाना आवश्यक है। उदाहरण के लिये, जूट तथा वस्त्र उद्योग की समुचित प्रगति तभी सम्भव है जबकि देश मे पर्याप्त मात्रा मे कच्चा जूट व कपास उपलब्ध हो। इस प्रकार द्वितीय योजना में महत्त्वपूर्ण कृषि पदार्थों के उत्पादन लक्ष्यों तथा योजना के अन्त मे वास्तविक उत्पादन का अनुमान निम्न तालिका की सहायता से लगाया जा सकता है

क्रम सख्या	मद का नाम	प्रथम योजना (१९५५-५६) में उत्पादन	द्वितीय योजना (१९६०-६१) का उत्पादन लक्ष्य	द्वितीय योजना के अन्त (१९६०-६१) में उत्पादन
१	खाद्यान्न (मिलियन टन मे)	६५ ८	८० ५	८२ ०
२	तिलहन (मि० टन मे)	५ ६	७ ६	७ ०
३	गन्ना (गुड) (मिलि० टन मे)	६ ०	७ ८	११ २
४	कपास (मिलि० गाँठो मे)	४ ०	६ ५	५ ३
५	जूट (मिलि० गाँठो मे)	४ २	५ ५	५ ४

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय योजना खाद्यान्न तथा गन्ना के उत्पादन की दृष्टि से तो सफल रही है किन्तु तिलहन कपास तथा कच्चे जूट के उत्पादन की दृष्टि से असफल रही है। प्रथम योजना के अन्त मे ५६२ लाख एकड भूमि मे सिचाई की सुविधाएँ उपलब्ध थी। द्वितीय योजना मे इन्हे बढाकर ८५० एकड करने का आयोजन किया गया था। किन्तु द्वितीय योजना के अन्त मे (१९६०-६१) लगभग ७०० लाख एकड भूमि मे ही सिंचाई की सुविधाएँ प्राप्त हो सकी। इस प्रकार सिंचाई की दृष्टि से भी द्वितीय योजना असफल रही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि द्वितीय योजना मे कृषि की दशा में कोई विशेष सुधार नही हो पाया है।

तृतीय योजना (१९६१-६२ से १९६५-६६ तक) मे कृषि का विकास
(Development of Agriculture in the Third Plan Period)

द्वितीय योजनाकाल मे कृषि के क्षेत्र मे जो असफलताएँ रही उनसे प्रभावित होकर तृतीय योजना काल मे कृषि के विकास पर पुन जोर देना आवश्यक हो गया। अतएव तृतीय योजना के प्रमुख उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह था 'खाद्यान्न के क्षेत्र मे आत्मनिर्भरता प्राप्त करना तथा उद्योगों एव निर्यात की माँग पूरा करने के हेतु कच्चे माल के उत्पादन पर जोर देना। इस प्रकार तृतीय योजना काल मे पुन कृषि को प्राथमिक स्थान दिया गया।

तृतीय योजना में कृषि विकास के लिए उठाये गये कदम

तृतीय योजना मे कृषि विकास के लिए सिंचाई भूमि-सरक्षण भूमि उद्धार उर्वरकों तथा खादो की पूर्ति, पौध-सरक्षण, बेहतर कृषि उपकरण तथा बीज, शुष्क कृषि वैज्ञानिक कृषि विधियाँ आदि पर विशेष जोर दिया गया। कृषि लघु सिंचाई एव सामुदायिक विकास कार्यक्रमो पर कुल मिलाकर १,०६८ रुपए व्यय किये जाने का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय १०८९ करोड रुपए था। इसके अतिरिक्त बडी एव मध्यम सिचाई की योजनाओ पर तृतीय योजनाकाल मे ६५० करोड रुपए व्यय किये जाने का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय ६६३ ७ करोड रुपए हुआ। इस प्रकार तृतीय योजना काल मे कृषि कार्यक्रमो पर कुल मिलाकर १७५२ ७ करोड रुपया व्यय हुआ जो समूची योजना पर किये गये व्ययों का २२% भाग था।

तृतीय योजना में प्रस्ताविक लक्ष्य तथा प्रगति—तृतीय पंचवर्षीय योजना में प्रमुख फसलों के उत्पादन लक्ष्य तथा उपलब्धियाँ निम्न प्रकार थी :

मद का नाम	इकाई	१९६०-६१ में उत्पादन	तृतीय योजना (१९६५-६६ के) उत्पादन लक्ष्य	तृतीय योजना (१९६५-६६) के अन्त में वास्तविक उत्पादन
				७२·३
खाद्यान्न	मिलि० टन मे	८२·०	१००·०	६·३
तिलहन	,,	७·०	९·८	१२·१२
गन्ना (गुड)	,,	११·२	१०·२	४·८
कपास	मिलि० गाँठें	५·३	७·०	४·५
जूट	,,	५·४	६·२	२९८
तम्बाकू	हजार टन मे	३०·७	३२५·०	३६५·०
चाय	,,	३२·०	४०८·०	

तृतीय योजना काल मे की गई प्रगति के उपरोक्त आँकडा का अध्ययन करने पर हम सहज मे भी यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमारी तृतीय योजना कृषि के क्षेत्र मे बुरी तरह से असफल रही है। उदाहरण के लिए तृतीय योजनाकाल मे खाद्यान्न का उत्पादन लक्ष्य १० करोड टन निर्धारित किया गया था जबकि वास्तविक उत्पादन केवल ७·२३ करोड टन ही था। द्वितीय योजना के अन्त मे खाद्यान्न का उत्पादन ८·२ करोड टन था। इस प्रकार तृतीय योजना मे तो हम द्वितीय योजना के मुकाबले मे भी पिछड गये। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य बात है कि तृतीय योजना के चतुर्थ वर्ष मे खाद्यान्न का उत्पादन ८·९ करोड टन था। हाँ, गन्ने के क्षेत्र मे अवश्य सफलता मिली। इसके सिवाय शेष सभी क्षेत्रों मे असफलताओं का मुँह ताकना पडा।

तीन वार्षिक योजनाओं (१९६६-६७ से १९६८-६९ तक) के अन्तर्गत कृषि विकास

तृतीय योजना की असफलता के कारण चतुर्थ पचवर्षीय योजना को स्थगित करना पडा। इसके स्थान पर तीन वार्षिक योजनाएं क्रमश १९६६-६७, १९६७-६८ तथा १९६८-६९ बनाई गयी जिनमें कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। योजना के कुल व्यय की २५% से ३०% तक राशि कृषि, सामुदायिक विकास तथा सिंचाई कार्यों पर व्यय की गई। केवल कृषि पर कुल व्यय का लगभग १५·४% भाग व्यय किया गया।

सन् १९६६-६७ के वर्ष मे खाद्यान्न का उत्पादन ७·५५ करोड टन रहा। इस प्रकार कृषि उत्पादन की दृष्टि से यह वर्ष भी पिछले वर्ष की ही भाँति रहा क्योंकि सन् १९६५-६६ का सूखा १९६६-६७ तक चला। यद्यपि १० राज्यों मे कृषि उत्पादन मे कुछ वृद्धि हुई किन्तु बिहार, मध्य-प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के सूखे के क्षेत्रो के कारण यह वृद्धि व्यर्थ सिद्ध हुई। सन् १९६६-६७ के वर्ष मे कृषि कार्यों पर ३४६ करोड रुपए की राशि व्यय की गयी जोकि योजना काल मे किये गये कुल व्यय का लगभग १६·६% थी।

सन् १९६७-६८ के वर्ष मे कृषि के उत्पादन मे आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। खाद्यान्न का कुल उत्पादन ९·५६ करोड टन था जोकि अब तक के वर्षों मे सबसे अधिक था। इस वर्ष कृषि कार्यों पर ३५५ करोड रुपए की राशि व्यय की गयी जो कि कुल व्यय का १५·८% भाग थी।

सन् १९६८-६९ के वर्ष मे कृषि पदार्थों का उत्पादन और भी अधिक हुआ। इस वर्ष खाद्यान्न का उत्पादन ९·८ करोड टन होने का अनुमान लगाया गया है। किन्तु तिलहन तथा कपास का उत्पादन गिर गया। सन् १९६८-६९ के वर्ष मे कृषि कार्यों पर लगभग ३२८ करोड रुपए की राशि व्यय की गयी जो कि कुल व्यय का लगभग १३·६% भाग थी।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे कृषि विकास
(Development of Agriculture During the Fourth Plan Period)

तृताय योजना काल मे कृषि की असन्तोषजनक प्रगति, खाद्यान्न का अभाव, कृषि उत्पादन का अभाव व कृषि पदार्थों के बढते हुए मूल्य स्तरो ने चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे कृषि कार्यक्रमो को सर्वोच्च स्थान प्रदान करने के लिए बाध्य किया। यह योजना २० अप्रैल, १९६९ को भारतीय ससद के समक्ष प्रस्तुत की गयी थी। इस योजना मे पिछली योजनाओ की तुलना मे अधिक व्यय किये जाने का प्रस्ताव है। कृषि तथा उससे सम्बन्धित कार्यो पर कुल मिलाकर २,२१७ करोड रुपए व्यय किये जाने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त १,८०० करोड रुपए निजी क्षेत्रो मे भी व्यय किये जाने का प्रस्ताव है। चतुथ पचवर्षीय योजनाकाल मे कृषि के विकास पर सार्वजनिक क्षेत्र मे किये जाने वाले व्यय का विवरण निम्न तालिका मे दिया गया है

तृतीय योजना, तीन वार्षिक योजनाओ तथा चतुथ योजना में कृषि तथा उससे सम्बन्धित मदो के लिए व्यय व्यवस्था (करोड रुपये मे

क्रम सख्या	कार्यक्रम की मद	तीसरी योजना (१९६१-६६)	तीन वार्षिक योजनाएँ (१९६६-६९)	चतुर्थ योजना में प्रस्ताविक व्यय (१९६९ ७४)
१	कृषि उत्पादन (ICAR की अनुसधान व शिक्षा की योजनाओ के सहित)	२०३	२५२	५१०
२	लघु सिंचाई	२७०	३१४	४७६
३	भूमि सरक्षण	७७	८८	१५१
४	क्षेत्र विकास (Area Development)	२	१३	२९
५	पशु पालन	४३	३४	९१
६	डेरी एव दूध सप्लाई	३४	२६	४५
७	मछली पालन	२३	३७	८४
८	वन	४६	४४	९२
९	सग्रहालय विपणन तथा भडार (Warehousing Marketing and Storage)	४७	१५	६५
१०	खाद्य तथा सहायक खाद्य की तैयारी	—	—	१९
११	वित्तीय सस्थाओ को केन्द्र की सहायता (कृषि क्षेत्र मे)	—	४०	२६७
१२	कृषि वस्तुओ के भारी भडार	—	१४०	१२५
१३	सहकारिता	७६	६४	१५१
१४	सामुदायिक विकास तथा पचायतें	२८८	९९	११६
	कुल योग	१०८९	१,१६६	२,२१७

(Source Fourth Five Year Plan, Draft Page 139)

चौथी योजनाकाल में कृषि उत्पादन के प्रस्तावित लक्ष्य :

चौथी पंचवर्षीय योजना मे महत्वपूर्ण कृषि पदार्थों के उत्पादन लक्ष्य निम्न तालिका मे दिये गये हैं :

महत्वपूर्ण कृषि पदार्थों के उत्पादन लक्ष्य
(१९६९-७४)

क्रम सख्या (१)	वस्तु का नाम (२)	इकाई (३)	आधार-स्तर उत्पादन (१९६८-६९) (४)	अतिरिक्त उत्पादन का लक्ष्य (५)	अनुमानित कुल उत्पादन (१९७३-७४) (६)	प्रतिशत वृद्धि (७)
१.	खाद्यान्न	मिलियन टन मे	९८ ०	३१ ०	१२९ ०	३१ ६
२.	तिलहन	,, ,,	८ ५	२·०	१०·५	२४·०
३.	गन्ना (गुड)	,, ,,	१२ ०	३·०	१५ ०	२५ ०
४	कपास	मिलियन गाँठें मे	६ ०	२·०	८ ०	३३·०
५.	जूट	,, ,,	६ २	१·२	७ ४	१९·०
६.	तम्बाकू	मिलियन किलो मे	३८०·०	१०० ०	४८० ०	२६ ०
७.	नारियल	मिलियन मे	५६०० ०	१,००० ०	६,६०० ०	१८ ०
८.	सुपारी	हजार टन मे	१२६·०	२४ ०	१५० ०	१९ ०
९	काजू	,, ,,	१६० ०	७६·०	२३६ ०	४८ ०
१०.	काली मिर्च	,, ,,	२३ ०	१९ ०	४२ ०	८३ ०
११.	लाख	,, ,,	३५ ०	१७ ०	५२·०	४९·०
१२.	चाय	,, ,,	४१८·०	३२ ०	४५०·०	८ ०

(Source Draft outline of Fourth Plan, Page 137)

कृषि आधार चौथी योजना की प्रगति का आधार माना गया है। यह आशा प्रगट की गयी है कि कृषि के क्षेत्र मे प्रतिवर्ष ५% की वृद्धि होगी। यदि यह लक्ष्य सफल रहा **हमारा देश १९७०-७१ तक विदेशो से अनाज का आयात करना बिलकुल ही बन्द कर देगा।** इस प्रकार सन् १९७०-७१ तक हम खाद्यान्न के क्षेत्र मे पूर्णतया आत्मनिर्भर हो जायेंगे।

कृषि मे निर्धारित लक्ष्यो की प्राप्ति बहुत कुछ सीमा तक सघन कृषि पर निर्भर करती है। सघन कृषि के मूल तत्व है—(i) सिचाई के साधनो का विकास, (ii) उर्वरकों तथा पौध-संरक्षण मे वृद्धि, (iii) नवीनतम औजारो की उपलब्धता, (iv) सुलभ ऋण-व्यवस्था, (v) अनाज की अधिक उपज देने वाली किस्मो का पूर्ण उपयोग, (vi) नगदी फसलो की उपज मे वृद्धि, (vii) कृषि पदार्थों की विपणन व्यवस्था मे सुधार, (viii) कृषक को मुख्य फसलों के लिए न्यूनतम मूल्यों का आश्वासन आदि। चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे ४० लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि मे बड़ी एवं मध्यम सिचाई की योजनाओ तथा ३२ लाख हेक्टर भूमि मे लघु सिचाई योजनाओं द्वारा सिचाई की व्यवस्था है। यही नही, अभी हाल मे ही दिनाक १९-७-६९ को जो १४ बड़ी निजी बैंको के राष्ट्रीयकरण करने की महत्वपूर्ण घोषणा की गयी है उससे यह आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य मे ग्रामीण क्षेत्रो मे सुलभ ऋण व्यवस्था का विकास होगा। अन्य बातो के अतिरिक्त निजी बैंको पर यह भी आक्षेप लगाया गया था कि वे ग्रामीण क्षेत्रों मे सुविधाओ का विकास करने मे असमर्थ रहे हैं।

खण्ड ३

भारतीय उद्योग

[Indian Industries]

२३

भारतीय उद्योगों का विकास—एक सामान्य अध्ययन
(Development of Indian Industries—A Review)

प्रारम्भिक—औद्योगिक विकास की भावना का उद्गम

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप पश्चिमी देशो मे १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध से एक प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई और वह थी द्रुत औद्योगिक विकास की भावना। इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रास व अन्य पश्चिमी देशो मे औद्योगिक विकास हेतु अनेक वृहत् स्तरीय संस्थाओ का निर्माण हुआ। १९वी शताब्दी मे अमरीका, इटली, जापान और उत्तरार्ध मे भारत मे भी औद्योगिक विकास प्रारम्भ हुआ। यहाँ यह बता देना आवश्यक होगा कि १९वी शताब्दी से जो औद्योगिक विकास प्रारम्भ हुआ है उसमे प्रधानत वृहत्-स्तरीय उद्योगो का विकास निहित है।

लेकिन यदि १६वी शताब्दी के पूर्व की विश्व की औद्योगिक स्थिति का अवलोकन किया जाय तो हमे ज्ञात हो सकता है कि भारत औद्योगिक वस्तुओ के निर्माण मे अग्रणी था तथा यहाँ की बनी हुई वस्तुएँ अन्य देशो मे बहुत लोकप्रिय थी। १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध से इन परम्परागत उद्योगो की अवनति प्रारम्भ हुई, जबकि ठीक इसी युग मे पश्चिमी देशो मे बड़े उद्योगो का विकास किया जाने लगा था। प्रस्तुत अध्याय मे यह बताने का प्रयास किया गया है कि १८वीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय उद्योगो की क्या स्थिति थी तथा परम्परागत (कुटीर) उद्योगों का पराभव होने के पश्चात् १९वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे आधुनिक उद्योगो का क्यो कर विकास हुआ।

अंग्रेजों के शासन से पूर्व भारतीय उद्योगों की दशा

अंग्रेजो के भारत मे शासन स्थापित होने से पहले भारतीय उद्योग किस स्थिति मे थे यह केल्वर्टन के इस वक्तव्य से स्पष्ट हो सकता है :[1]

"भारतीय उद्योग जो इस समय (१६वी शताब्दी मे) पश्चिमी उद्योगो से कही बहुत अधिक उन्नत स्थिति मे थे, प्रतिभाशाली एव दूरदर्शी मस्तिष्क तथा मौलिक विचारो की उत्पत्ति ही थे।...... हिन्दुस्तान मे वस्त्र-निर्माण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग था तथा यहाँ के बने वस्त्रो की सारे विश्व मे प्रशसा व खपत होती थी। इसके अतिरिक्त १३-१४ शताब्दी मे भी हिन्दुस्तान मे धातु का काम, नक्काशी का काम, शक्कर, नील तथा कागज बनाने के काम काफी निपुणता पूर्वक किए जाते थे। रंगने का कार्य, चर्म उद्योग, काँच का सामान बनाने का कार्य तथा लौह-वस्तुओ के निर्माण की परम्पराएँ भी यहाँ अद्वितीय थी। हीरे-जवाहरात, हाथी दाँत और अन्य प्रकार की वस्तुओ का निर्माण भी बेजोड था।"

1. V. F. Calverton : The Awakening of America (1939) pp 16-7

यह वक्तव्य एक विदेशी लेखक ने दिया है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि १७वी १८ वी शताब्दी तक भारत मे बनी हुई वस्तुओ को विदेशो मे सम्मान प्राप्त होता था तथा इनका बडे चाव स उपयोग किया जाता था। १९१६ के औद्योगिक आयोग के अनुसार "जब यूरोप मे जो आधुनिक उद्योगो की जन्म भूमि माना जाता है, आदिम जातियाँ निवास करती थी, भारत अपने वैभवशाली सम्राटो तथा शिल्पियो की योग्यता के लिए विश्व भर म विख्यात था।" आयोग न आग बताया कि बाद मे भी जब विदेशी व्यापारी भारत म आए यहा का औद्योगिक विकास यूरोपीय दशा के अधिक उन्नत दशा के समान ही था।[1]

प्रो० गाडगिल ने भारतीय परम्परागत उद्योगो को दो मुख्य श्रेणियो मे बाटा है प्रथम, गावो के उद्योग जो स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति करते थ तथा द्वितीय शहरो के उद्योग जिनम निर्मित वस्तुओ का विदेशो म निर्यात किया जाता था। ढाका की मलमल व भारत म बनी हुई लोह की वस्तुओ का पश्चिमी पुरातन सस्कृति के प्रतीक यूनान व मिश्र आदि देशो म बहुत व्यापक रूप म उपयोग किया जाता था। रेशमी वस्त्रो व छीट आदि का भी यूरोप मे बहुत अधिक उपयोग होता था। वस्तुत ये शहरो के ही शिल्पकार थ जो निर्यात हेतु औद्योगिक वस्तुओ का निर्माण करत थे। इन शिल्पकारो को सामन्तो एव शासको से बहुत प्रोत्साहन मिलता था और सेना उच्च अधिकारियो तथा शासक के आश्रितो की आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व इन्ही पर था। गावो के शिल्पकार स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे और इस प्रकार उस युग की औद्योगिक प्रगति मुख्य रूप मे शहरो के शिल्पकारो से ही सम्बद्ध थी।[2]

१७वी शताब्दी तक मुगल सम्राटो ने भी उद्योगो को बहुत प्रोत्साहन दिया। बर्नियर तथा टेवर्नियर आदि इतिहासकारो ने मुगलकालीन उद्योगो के विकास का चित्रण प्रस्तुत किया है। लेकिन १८वी शताब्दी म जैसे जैसे इगलैण्ड म उद्योगो का विकास होता गया भारतीय उद्योगो की स्थिति बिगडती चली गई। एक ओर इगलैण्ड तथा यूरोप के अन्य बाजारो मे भारतीय वस्तुओं के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाए गए तथा दूसरी ओर ईस्ट इण्डिया कम्पनी जो कि अब भारत के एक बडे भू भाग की शासक थी के द्वारा यहा से तयार वस्तुओ के बदले कच्चे माल का निर्यात किया गया। इन्ही कारणो ने भारतीय परम्परागत वस्तुओ के विनाश की भूमिका तैयार की।[3]

१८वीं शताब्दी में भारतीय उद्योग—१८वी शताब्दी का उत्तरार्ध विश्व के आर्थिक इतिहास मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल रहा है। इस अवधि म वाष्पशक्ति कोक बनाकर लोहा पिघलाने की विधि तथा सूती वस्त्र उद्योग के क्षेत्र मे अनक नवीन प्रणालियो का आविष्कार किया गया। लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए इसी अवधि मे परागति का सूत्रपात हुआ। भारत के परम्परागत उद्योगो पर एक के बाद एक प्रहार किया गया और फलस्वरूप उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक व सभी उद्योग मृतप्राय हो गए।

१७५७ म प्लासी का युद्ध हार जाने के पश्चात् भारतीय शासको ने अंग्रेजो के समक्ष वस्तुत समर्पण कर दिया था और धीरे धीरे ईस्ट इडिया कम्पनी के अधिकारियो की महत्त्वाकाक्षाएँ बढने लगी थी। बगाल की दीवानी (१७६५) ने उनकी शक्ति का और बढाया और साथ ही इस दीवानी के फलस्वरूप करोडो रुपये की पूँजी प्रतिवर्ष भारत के बाहर जाने लगी। यह पूँजी आग्ल उद्योगो के विकास हेतु वरदान सिद्ध हुई। जेम्सवाट हार्ग्रीव्ज क्राम्पटन और कार्टराइट द्वारा किए गए सारे आविष्कार व्यर्थ हो जाते यदि यह पूँजी आग्ल उद्योगपतियो को विनियोग हेतु नही मिलती। ब्रूक्स तथा एडम्स ने सत्य ही कहा है कि आग्ल उद्योगो के विकास की १७६० के पश्चात गति इसीलिए बढ सकी कि भारत स उनके पोषण हेतु बेशुमार दौलत पहुँच रही थी।[4]

---

1 Industrial Commission Report p 344
2 D R Gadgil Industrial Evolution in India pp 10 12
3 Ibid pp 37 8
4 Brooks & Adams The Law of Civilization & Decay pp 263 4
Pamesh Dutt (India in the Victorian Age) भारत से औसतन 30 लाख पौंड की राशि प्रतिवर्ष इगलैण्ड को भेजी जाती था।

एक ओर इंग्लैण्ड में १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रांति का दौर चल रहा था तो दूसरी ओर भारत में इसी समय राजदरबारों तथा सामन्तों के पूरे दिन चल रहे थे। उनके स्थान पर जो नये शासक अंग्रेजों के रूप में आने लगे थे उनका उद्देश्य आंग्ल उद्योगों के लिए उपनिवेशों से कच्चा माल प्राप्त करना और तैयार वस्तुओं को उपनिवेशों पर थोपना था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने इलाकों में यथासम्भव शिल्पकारों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने से रोका। कम्पनी के संचालकों ने भारत स्थित कर्मचारियों को इसी आशय के आदेश प्रेषित किए कि वे भारत (विशेषकर बंगाल) के उद्योगों को पनपने से रोकें।[1]

भारतीय उद्योगों की अठारहवीं शताब्दी में एक और भी मुसीबत प्रारम्भ हो गई और वह थी प्राकृतिक प्रकोपों की। शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल, मद्रास व बम्बई के इलाकों में अकालों ने जनता की स्थिति को काफी शोचनीय बना दिया था। ऐसे समय में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने शिल्पकारों व विपन्नता-ग्रस्त जनता की सहायता करने की अपेक्षा चाहा कि किसी भी प्रकार इंगलैण्ड की फैक्ट्रियों में बनी हुई वस्तुएँ अधिकाधिक मात्रा में भारत में खपने लगें।[2]

इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु इंगलैण्ड में भारतीय वस्तुओं के प्रवेश पर भारी कर लगाए गए और जैसा कि मेजर बसु ने लिखा है अंग्रेजों ने अपने उद्योगों के विकास हेतु भारतीय परम्परागत उद्योगों को नष्ट कर दिया।[3] इस विषय पर कुटीर तथा लघु उद्योगों के अध्याय में बहुत विस्तार से बताया गया है।

लेकिन इन उद्योगों का पराभव होने के उपरान्त भी इन उद्योगों का अस्तित्व शेष रहा। यद्यपि विदेशों में भारतीय वस्तुओं का स्थान धीरे-धीरे आंग्ल वस्तुएँ ले रही थी और स्वयं भारतीय लोग भी बहुत बड़ी संख्या में विदेशी वस्तुओं का उपयोग करने लगे थे, तथापि परम्परागत शिल्पकार अपने कार्यों में लगे रहे। भारतीय कारीगर अपनी कुशलता के लिए विश्व-भर में विख्यात थे और बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा बनाई जाने वाली वस्तुएँ सस्ती होने पर भी सुन्दरता एवं टिकाऊपन की दृष्टि से भारतीय वस्तुओं से निकृष्ट थी।

१९वीं शताब्दी—उन्नीसवीं शताब्दी में भी ब्रिटिश सरकार की नीति काफी समय तक यही रही कि केवल आंग्ल उद्योगों का विकास हो तथा भारतीय उद्योग न पनप सकें। श्री रमेश दत्त ने सच ही लिखा है कि 'किसी भी जाति के लोगों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे दूसरों के लिए अपने हितों का त्याग कर दें, और (इसीलिए) आंग्ल शासकों ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वहाँ उद्योगों की उन्नति तथा भारतीय उद्योगों की अवनति के लिए पूरा पूरा प्रयास किया।"[4]

इसी समय यानी १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्वेज नहर प्रारम्भ हुई और इससे इंगलैण्ड की बनी हुई वस्तुओं का अधिक मात्रा में व कम समय में भारत तक पहुँचना सम्भव हो गया और फलस्वरूप उद्योगपतियों (परम्परागत) के लिए स्थानीय बाजार पर प्रभाव बनाए रखना और भी दुष्कर हो गया। शताब्दी के मध्य से जब रेलों का प्रारम्भ हुआ तो इससे एक ओर इंगलैण्ड के वस्त्र, लौह-इस्पात व इंजीनियरिंग उद्योगों के लिए बन्दरगाहों तक कच्चा माल पहुँचाना तथा दूसरी ओर तैयार वस्तुओं को देश के आन्तरिक भागों तक लाना काफी सरल हो गया और फलस्वरूप इन सभी उद्योगों की स्थिति और अधिक शोचनीय होनी चली गई। इस प्रकार परिवहन के साधनों के विकास ने भी प्रारम्भ में भारतीय उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव ही डाले। अब गाँवों तक भी रेलों अथवा सड़कों के माध्यम से विदेशी वस्तुएँ पहुँचाई जाने लगी और फलस्वरूप गाँवों के उद्योगों का भी पराभव प्रारम्भ हो गया।[5]

---

1 See Wadia & Merchant Our Economic Problem p. 346
2 Ramesh C Dutt : Economic History of India. p 114
3. B. D Basu, The Ruin of India Trade & Industry (1935), pp. 83 5
4. Ramesh Dutt : ibid, p. 186
5. A R. Desai ' Social Background of Indian Nationalism, pp. 86-7

आधुनिक उद्योगों का प्रारम्भ

लेकिन सौभाग्य से उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे कुछ ऐसे भी अँग्रेज भारत मे थे जिन्होंने इसी देश मे आधुनिक उद्योगो का विकास करने का प्रयास किया। भारत मे आधुनिक उद्योगा का इस काल मे प्रारम्भ होने के कुछ विशेष कारण थे। प्रथम तो यह कि कच्चा माल इकट्ठा करके इगलैण्ड भेजना तथा तैयार वस्तुओ को भारत तक पहुँचाने मे जो यातायात व परिवहन का व्यय एव जोखिम होती थी उससे वस्तुओ का निर्माण भारत मे ही करने पर छुटकारा मिल जाता था।

द्वितीय, इगलैण्ड मे इस समय औद्योगिक क्रान्ति अपने चरम उत्कर्ष पर थी और इससे श्रमिकों की मजदूरी एव अन्य अप्राद्योगिक व्यय बहुत अधिक होता था। उन्ही कारखानों को भारत मे स्थापित करने पर लागत अपेक्षाकृत कम होती थी।

तृतीय, भारत मे ही वस्तुओं का निर्माण करने पर यहां के बाजार की स्थिति का अधिक योग्यतापूर्वक अध्ययन किया जा सकता था। वस्तु के सम्भावित बाजार व माग का समुचित विश्लेषण करने के लिए वस्तु का उत्पादन भारत मे ही करना अधिक उचित था।

चतुर्थ कारण यह भी था कि उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक (१८५८ तक) अंग्रेजो का पूर्णतः विधिवत् भारत पर अधिकार हो गया था। इस समय किसी स्थानीय प्रतिस्पर्धा अथवा प्रतियोगिता का भय नही था और फलतः अंग्रेज साहसी एव उद्यमी निर्बाध रूप से भारत मे ही उद्योगो की स्थापना करके यहां की विपुल प्राकृतिक सम्पत्ति तथा विशाल बाजार से लाभ उठा सकते थे। इस स्वर्णिम अवसर का लाभ उठाकर ही विदेशी उद्यमियों ने वृहत्-स्तरीय उद्योगो का भारत मे प्रारम्भ किया।

अन्तिम, चाय, कॉफी व नील का व्यापार करके असीमित लाभ कमाने के बाद अब आग्ल व्यापारी एव उद्योगपति यह समझ चुके थे कि भारत मे लाभ कमाने की गुजाइश बहुत है। इसीलिए १८५० के पश्चात् सूती वस्त्र मिलो, जूट मिलो तथा लौह उद्योगो का प्रारम्भ किया गया। लेकिन १८६० के बाद इन उद्योगो का इतनी तेजी से विकास हुआ कि जस्टिस रानाडे ने लिखा "भारत अब भली-भाँति उस मार्ग पर प्रशस्त हो गया है, जिस पर यदि यहां के उद्यमी निरन्तर चलते रहे, तो औद्योगीकरण की स्थिति तक सहज मे पहुँचा जा सकता है।[1]

प्रारम्भ मे सूती वस्त्र, जूट, लौह, कोयला और अन्य छोट उद्योगो का ही विकास हो सका लेकिन १८९० के पश्चात् पैट्रोलियम, मैगनीज अभ्रक तथा अन्य बहुमूल्य खनिज निकालने के उद्योग, इजीनियरिंग उद्योग, रेलवे वकशाप, लौह तथा पीतल की फाउण्ड्रीज आदि अधिक महत्व-पूर्ण उद्योगो का बहुत तेजी से विकास प्रारम्भ हुआ।[2]

१८६० के पश्चात् स्थापित की गई आधुनिक औद्योगिक इकाइयो की सख्या कितनी तेजी से बढ़ी यह निम्न त लिका मे स्पष्ट हो जाता है[3]

औद्योगिक इकाइयो की सख्या

वर्ष	सूती वस्त्र मिलें	जूट मिलें	कोयला-खानें
१८५०-५५	१	१	—
१८६५	१३	२	११
१८७७-७८	५१	१८	—
१८७९-८०	५६	—	५६
१८९४-९५	१४४	२९	१२३

1. M G Ranade Essays on Indian Economy p 18
2 D R. Gadgil Ibid, pp 117 8
3. See A R. Desai, ibid, p. 96, Wadia & Merchant, ibid, p 350, D R Gadgil, ibid, pp. 74-8

पिछले पृष्ठ की तालिका यह सिद्ध करती है कि उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे सूती वस्त्र, जूट, कोयला आदि के निर्माण हेतु काफी प्रयास किए गए और इनकी फैक्ट्रियों या खानो की संख्या तेजी से बढ़ती चली गई। ४०-४५ वर्ष की अल्प अवधि में १४४ सूती वस्त्र मिलें खुल जाना निश्चय ही इस उद्योग की द्रुत प्रगति का प्रतीक है।

डा० बुकेनन ने बताया है कि १८९० के पश्चात् जूट, कोयला एव सूती वस्त्र उद्योग का विकास और भी तेजी से हुआ। १८९० व १९१४ के बीच उनके मतानुसार सूती वस्त्र के तकुए दुगुने एवं शक्तिचालित कर्घे चौगुने हो गए थे जबकि जूट के कर्घो की संख्या ४½ गुना एव कोयले का उत्पादन छः गुना हो गया। उनके कथनानुसार इस प्रगति ने बीसवी शताब्दी के औद्योगिक विकास की दृढ़ पृष्ठभूमि तैयार की।[1]

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन भारत की औद्योगिक व्यवस्था में प्रारम्भ हुए :

(१) १९०५ से स्वदेशी आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार एवं स्वदेशी वस्तुओ के उपयोग हेतु देशव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। स्वदेशी वस्तुओ की बढ़ती हुई माँग के कारण बडे उद्योगो का विकास अधिक द्रुतगति से हुआ, क्योकि परम्परागत उद्योग इस माँग की पूर्ति करने मे असमर्थ थे।

(२) अनेक भारतीय उद्योगपति (जिनमें टाटा-समूह अग्रणी था) औद्योगिक क्षेत्र मे आए और बडे स्तर पर भारतीय उद्योगपतियो ने भारतीय पूंजी से उद्योगो का प्रारम्भ किया।

(३) उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षो मे औद्योगिक विकास की अनेक सुविधाओ का विकास हुआ जिनमे तीन प्रान्तीय बैंको की स्थापना, रेलवो व सडको का विस्तार तथा कतिपय विदेशी बीमा कम्पनियो की शाखाओ की भारत में स्थापना होना आदि प्रमुख सुविधाएँ थी। इनके कारण बीसवी शताब्दी मे औद्योगिक विकास की गति बढ़ना स्वाभाविक था।

(४) बीसवी शताब्दी मे आग्ल उद्योगो के लिए अनेक समस्याएँ प्रारम्भ हो गई थी जिनमे विशेष रूप से अन्य यूरोपियन देशो से प्रतिस्पर्धा एक प्रमुख समस्या थी। आर्थर बर्नी का कथन है कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षो से कुछ नई औद्योगिक शक्तियो का विश्व मे उदय हुआ। इन देशो मे उद्योगपतियो को राज्य द्वारा यथोचित प्रोत्साहन दिया जाता था, लेकिन आग्ल उद्योगपतियो को यह सौभाग्य प्राप्त नही था।[2] फलस्वरूप इनमें से अनेक उद्योगपतियों ने विदेशों—विशेष रूप से उपनिवेशो मे पूंजी का विनियोग प्रारम्भ किया क्योकि कम-से-कम उन बाजारो पर वे किसी सीमा तक नियंत्रण रख सकते थे।

(५) बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत मे औद्योगिक गतिविधियाँ बढ़ने का एक और भी कारण था और वह था राज्य का बदलता हुआ दृष्टिकोण। लार्ड कर्जन के संकेत के अनुसार १९०५ में वाणिज्य एवं उद्योग विभाग की स्थापना हुई। इसी समय मद्रास मे अलूमिनियम एवं चमड़ा बनाने की क्रोम पद्धति के लिए प्रादेशिक सरकार ने एक प्राविधिक एवं औद्योगिक प्रशिक्षण अधिकारी की नियुक्ति की। मद्रास मे औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाओ की स्थापना से औद्योगीकरण को काफी बल मिला।[3] बम्बई की प्रादेशिक सरकार भी प्रान्त में उद्योगो को प्रोत्साहन देना चाहती थी।

१८९५ तक के औद्योगिक विकास के अन्तर्गत कारखानों का कितना विकास हुआ यह हम ऊपर बता चुके हैं। १८९५ के अगले दस-बारह वर्ष औद्योगिक विकास मे काफी महत्वपूर्ण रहे है। अग्रलिखित तालिका इस तथ्य की पुष्टि करती है :[4]

---

1. Dr. Buchanan : The Development of Capitalist Enterprize in India (1934), pp. 139-40
2. Arthur Birnee : Economic History of British Isles.
3. Vera Anstey - The Economic Development of India (1958), p. 211
4. B. M. Bhatia : Famines in India, pp. 213

औद्योगिक इकाइयां, उत्पादन एव श्रमिक

क्रम सख्या	उद्योग		१८९५-९६	१९०७-८
१.	सूती वस्त्र-उद्योग	मिलें	१४७	२०७
		कर्घे	३७,२७८	६२,३५१
		श्रमिक	१,४६,२४४	२,०८,४२२
२.	जूट उद्योग	मिलें	२८	५४
		कर्घे	१०,१६६	२७,२४४
		श्रमिक	७८,११४	१,८७,७७१
३	कोयला (१९०१)		६० लाख टन	९० लाख टन
४	पेंट्रोल व खनिज तेल		१५० लाख गैलन	२१४८ लाख गैलन (१९१०)

डा० भाटिया के कथनानुसार १८९५ के बाद मेगनीज, अभ्रक, नमक, बॉक्साइट आदि की मॉग बहुत तेजी बढने लगी और खनिज उद्योगों का बहुत अधिक विकास हुआ। इसके अतिरिक्त छोटे-उद्योगो मे चावल व दाल-मिलो, कपास की जिनिंग फैक्ट्रियो, लोहा गलाने के कारखानो, साबुन, पेंसिल, इत्र, तेल व दैनिक उपभोग की वस्तुए बनाने के कारखानो का भी बहुत अधिक विकास हुआ।

जैसा कि ऊपर की तालिका से स्पष्ट होता है १८९५ व १९१० के बीच सर्वाधिक प्रगति पैट्रोलियम व खनिज तेल के उत्पादन में हुई। सूती वस्त्र की मिलो की सख्या १½ गुनी, जूट मिलो की सख्या दुगुनी तथा कोयले का उत्पादन १⅓ गुना होना किसी सीमा तक औद्योगिक विकास की गति का परिचय देता है। वाडिया तथा मर्चेण्ट के मतानुसार अनुमानतः १८७९-८० व १९१३-१४ (प्रथम महायुद्ध के पूर्व) के बीच औद्योगिक विकास की गति इस प्रकार रही थी[1]

१	सूती वस्त्र मिलो की संख्या	४½ गुनी हुई
	श्रमिकों की सख्या	६¾ गुनी हुई
	कर्घों की सख्या	७½ गुनी हुई
२	जूट मिलो की सख्या	३ गुनी हुई
	श्रमिको की सख्या	८ गुनी हुई
	तकुओ की सख्या	१०½ गुनी हुई
३	कोयले का उत्पादन	१⅓ गुना बढा
	खनिजों की सख्या	[illegible] गुना बढी

यह वृद्धि बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे भारत मे औद्योगिक विकास का एक स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करती है।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक औद्योगिक व्यवस्था के दोष

लेकिन प्रथम महायुद्ध के ठीक पहले तक भारतीय उद्योग का जो विकास हुआ उसकी गति देश की आवश्यकताओ तथा विश्व की बदलती हुई परिस्थितियो की तुलना मे बहुत धीमी थी। १९१३-१४ तक की औद्योगिक व्यवस्था मे निम्न दोष थे

(१) राज्य की उदासीन नीति के कारण भारतीय उद्योगों का विकास आशानुरूप नही हो सका। यद्यपि मद्रास सरकार ने १९०४ ५ से औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करके उद्योगो के विकास को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया तथापि तत्कालीन राजसचिव लार्ड मॉर्ले इसके विरुद्ध थे और उन्होंने यथासम्भव राज्य निर्बाध नीति लागू करने का प्रयास किया। फलस्वरूप मद्रास सरकार का उत्साह भी ठडा पड गया। अथार एव वेरी का कथन है कि स्वदेशी आन्दोलन रचनात्मक

1 Wadia and Merchant Ibid, p. 352

दृष्टिकोण से एक स्वस्थ आन्दोलन था लेकिन राज्य के असहयोग के कारण यह असफल हो गया।[1] राज्य की थोथी तटस्थता की नीति के कारण भारत के उद्योग, जो अभी (१९१३-१४ तक) शैशवावस्था में ही थे, पूर्णतः पनपने में असफल रहे, क्योंकि ब्रिटेन, जर्मनी व अन्य देशों के अधिक सुदृढ उद्योगपतियों से भारतीय उद्योगपति बिना राज्य के संरक्षण के स्पर्धा नहीं कर सकते थे।[2]

इंगलैण्ड की संसद एवं तत्कालीन सरकार नहीं चाहती थी कि भारत में इंग्लैंड के समानान्तर ही उद्योगों का विकास हो और इसीलिए उन्होंने कोई भी सहायता यहाँ के उद्योगों को नहीं दी। १९१० में प्रान्तीय उद्योग-सचालकों की नियुक्ति इस आशय से की गई कि वे औद्योगिक विकास से सम्बन्धित सूचनाएँ इकट्ठी करके राज्य सचिव को प्रेषित करें, लेकिन इनका कार्य औद्योगिक विकास हेतु सक्रिय योगदान देना नहीं था। इसीलिए १९१४ में मद्रास में लॉर्ड मॉर्ले की नीति के विरुद्ध आन्दोलन हुआ और राज्य को विवश होकर एक विशिष्ट उद्योग-विभाग की स्थापना करनी पड़ी। इसी प्रकार के विभाग उत्तर प्रदेश व मध्य प्रांत में भी बनाए गए।[3]

लेकिन प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक राज्य की नीति वस्तुतः उदासीनतापूर्ण थी और औद्योगिक विकास की धीमी गति का यह सबसे बड़ा कारण था।

२. **उद्योगों का एकांगी विकास** - औद्योगिक विकास के नाम पर प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक सूती वस्त्र मिलों, जूट मिलों, कोयला-क्षेत्रों एवं कुछ छोटे उद्योगों का विकास हो सका था। वस्तुतः आधारभूत उद्योगों जैसे लोह व इस्पात उद्योग, रासायनिक उद्योग एवं इंजीनियरिंग उद्योगों का प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक विकास नहीं हो सका था। रजनी दत्त के मतानुसार भारत में इस समय तक वस्त्र व जूट उद्योगों का तो किसी सीमा तक विकास हो गया था लेकिन भारी उद्योगों का प्रारम्भ नहीं हो पाया था। इसी प्रकार इंजीनियरिंग के नाम पर मरम्मत के कारखाने ही थे, लौह-इस्पात उद्योग बिल्कुल शैशवावस्था में था तथा यन्त्रों का उत्पादन नहीं होता था।[4]

शताब्दी के प्रारम्भ में देश की जनसंख्या २८-२९ करोड़ थी जिसमें से केवल ५ लाख व्यक्ति ही कारखानों में काम करते थे। इनमें ६० प्रतिशत सूती वस्त्र व जूट की मिलों में तथा रेलों व वर्कशाप आदि में १५-२० प्रतिशत श्रमिक संलग्न थे।[5] अन्य उद्योगों का विकास नहीं हो सका था, इसीलिए अधिकांश श्रमिक इन दो-तीन उद्योगों में ही कार्य करते थे। वास्तव में, जैसा कि वाडिया तथा मर्चेंट ने लिखा है, प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक केवल इन्हीं दो-तीन उद्योगों के विकास की सुविधाएँ उपलब्ध थी और इसीलिए अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योगों का विकास नहीं हो सका।[6]

३. देश के विभिन्न भागों में औद्योगिक विकास का वितरण अत्यन्त विषम था। १९११-१२ की एक रिपोर्ट के अनुसार भौगोलिक दृष्टि से बंगाल, बम्बई, मद्रास, पंजाब व उत्तर प्रदेश में ही औद्योगिक विकास हो सका था, जबकि प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक अन्य प्रान्तों में प्राकृतिक दृष्टि से वे सुविधाएँ उपलब्ध हो सकती थीं।

उपरोक्त रिपोर्ट में बताया गया कि बंगाल व बम्बई औद्योगिक प्रगति दृष्टि से सबसे आगे थे क्योंकि इन प्रान्तों में जूट व सूती वस्त्र उद्योग केन्द्रित थे। मद्रास में कपड़ा, चर्म वस्तुएँ, सिगरेट व अन्य वस्तुओं का व्यापक रूप में उत्पादन होता था। उत्तर प्रदेश में शक्कर मिलें थीं जबकि पंजाब में सूती व ऊनी वस्त्र की मिलें थीं। उड़ीसा में नील व लाख की वस्तुएँ वृहद् स्तर पर बनती थीं। पर सब मिलकर औद्योगिक दृष्टि से बंगाल, बम्बई मद्रास ही अग्रणी थे। पंजाब व उत्तर प्रदेश के उद्योग पनपने लगे थे, पर अन्य प्रान्त पिछड़े हुए थे।[7]

---

1. जथार एवं बेरी : पृष्ठ ४७७ (भारतीय अर्थशास्त्र)
2. Dr. A. R Desai ibid, pp. 107-8
3. Vera Anstey : ibid p 212
4. Rajni Palme Dutt : India Today-Tomorow (1940) p. 153
5. Mallenbaum . Prospects for Indian development p.152
6. Wadia & Merchant, ibid p. 351
7. See B. M. Bhatia : ibid, p. 214

४ औद्योगिक कच्चा माल पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होने के बावजूद औद्योगीकरण के लिए आवश्यक अन्य सुविधाओ का भारत मे १९१३ १४ तक भी काफी अभाव रहा था। फसल के दिनो मे मुद्रा-बाजार का संकुचन हो जाता था तथा ब्याज की दरें बढ जाती थी और फलस्वरूप उद्योगो के विकास हेतु पर्याप्त पूंजी नही मिल पाती थी।[1] इसी प्रकार आधारभूत उद्योगो का अभाव भी औद्योगिक विकास की दीर्घकालीन प्रवृति के अनुकूल नही था।

डा० देसाई का यह भी मत है कि औद्योगिक प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था नही होने तथा औद्योगिक प्रबन्ध हेतु योग्य अधिकारियो के अभाव ने भारतीय उद्योगो को बीसवी शताब्दी मे काफी समय तक विकास नही करने दिया।[2]

ये सब कमजोरियाँ भारतीय उद्योगो की द्रुत प्रगति मे बाधक बनी और इसीलिए औद्योगीकरण की गति भारत मे प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक तेज नहीं हो सकी।

प्रथम महायुद्ध एव तत्पश्चात् भारतीय उद्योग

१९१४ से प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने पर वस्तुओं की माँग मे बहुत अधिक वृद्धि हुई। लेकिन युद्ध के कारण यूरोप से वस्तुओं का आना दुष्कर हो गया था। इसके अतिरिक्त इगलैण्ड तथा मित्र राष्ट्रो को युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओ की भी पूर्ति करनी थी। यह एक अवसर था जबकि देश के भीतर एव बाहर वस्तुओ की माग बहुत अधिक थी तथा लाभ कमाने की सम्भावनाएँ उज्ज्वल थी।

१९१५ मे लार्ड हार्डिंज (वायसराय) ने भी जो आदेश प्रसारित किए उनके अनुसार भारत की औद्योगिक स्थिति को दृढ बनाए जाए की नीति का उल्लेख होता है। उन्होने राज-सचिव को यह पत्र लिखा कि भारत की औद्योगिक नींव को इतना दृढ बना दिया जाय कि युद्ध के पश्चात् वे विदेशी प्रतिस्पर्धा से अपनी रक्षा कर सके। इसके लिए लार्ड हार्डिंज ने भारतीय उद्योगो को सभी प्रकार की सहायता राज्य द्वारा किए जाने की सिफारिश की।[3]

वास्तव मे विदेशी स्पर्धा के कारण भारत मे इगलैण्ड की बनी हुई वस्तुओ की माँग तेजी से घटने लगी थी और राज्य के उच्च अधिकारी यह अनुभव करने लगे थे कि विदेशी प्रतिस्पर्धा की अपेक्षा देश (भारत) के ही उद्योगो का विकास अधिक अच्छा था। फलस्वरूप महायुद्ध काल मे प्रत्येक बडे प्रान्त मे एक उद्योग-विभाग स्थापित किया गया। एक और कारण प्रथम महायुद्ध काल मे औद्योगिक विकास मे सहायक सिद्ध हुआ और वह था युद्ध सम्बन्धी पदार्थों का निर्माण। अंग्रेजो की शक्ति मध्यपूर्व एव पूर्व म कम होन का मुख्य कारण सैन्य आवश्यकताओ की पूर्ति के साधनो का भारत मे अभाव था और इसलिए लौह-इस्पात उद्योग के विकास को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध-काल मे औद्योगिक विकास की गति बहुत बढ जाने के कारण मे थे—(i) युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति (ii) विदेशी प्रतिस्पर्धा, (iii) बढती हुई उपभोग्य पदार्थों की माग एव अधिक लाभ की सम्भावनाएँ, तथा (iv) राज्य की नवीन नीति जिसम उदासीनता अथवा तटस्थता के स्थान पर प्रोत्साहन की भावना निहित थी।

औद्योगिक आयोग

१९१६ मे भारत सरकार ने औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग की नियुक्ति मुख्य रूप से दो उद्देश्यो को लेकर की गई थी।[1] (अ) भावी औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं पर विचार करना एव सरकार को रिपोर्ट प्रस्तुत करना, तथा (आ) औद्योगिक प्रगति हेतु राज्य की स्थायी नीति क्या हो, इस पर मन्तव्य देना। प्रशुल्क नीति औद्योगिक प्रशिक्षण आदि के विषय मे १९१२ व १९१३ मे अटकिंसन-डॉसन तथा मॉरसिन आदि समितियो ने रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, इसलिए इन विषयो को आयोग के क्षेत्र मे परे रखा गया।

---

1. D R Gadgil, ibid, p 193
2-3 Dr A R Desai ibid p 98
4 Vera Anstey, ibid p 216

आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित होने से पूर्व शस्त्र बोर्ड को राज्य के लिए आवश्यक वस्तुएँ एवं शस्त्रों तथा युद्ध-सामग्री खरीदने के लिए नियुक्त किया गया। इस बोर्ड के निर्देशन में करोड़ो रुपए के मूल्य की वस्तुएँ सेना, सिविल तथा रेल-विभागो के लिए खरीदी गई। सूती-वस्त्र, चमडे के बूट व अन्य वस्तुएँ, ऊनी फैल्ट व लोहे तथा इस्पात की वस्तुएँ सेना तथा रेल विभागो के लिए देश मे ही खरीदी गई और फलस्वरूप भारतीय उद्योगो को बहुत प्रोत्साहन मिला।

१९१८ मे औद्योगिक आयोग ने रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में निम्न बातें उल्लेखनीय थी[1]

१. भारत के औद्योगिक विकास मे बहुत-से कारण बाधक हैं.

(i) यन्त्रो, लोह व इस्पात की वस्तुओ व रासायनिक पदार्थों के लिए विदेशो पर निर्भरता।

(ii) औद्योगिक इकाइयो के लिए भारतीय पूँजी का 'शर्मीली' होना।

(iii) वैज्ञानिको, कुशल कारीगरों एव प्रबन्धको का अभाव।

(iv) श्रमिको का अशिक्षित तथा कम निपुण होना।

२. औद्योगिक आयोग ने सभ्य समाज के लिए आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति हेतु विदेशो पर निर्भर रहना भारतीय अर्थ-व्यवस्था के लिए घातक बताया।

३. आयोग ने इस बात पर खेद प्रगट किया कि भारत, जो किसी समय औद्योगिक दृष्टि से महान देश रहा था, बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ होने तक साधनहीन कृषकों एवं कृषि श्रमिकों का देश रह गया। यह भी आयोग की दृष्टि से एक आश्चर्य ही था कि भारत से कच्चा माल व अनाज का निर्यात तथा तैयार वस्तुओ का यहाँ आयात होने लगा था।

४ आयोग ने रिपोर्ट मे अध्ययन का साराश देते हुए कहा कि भारत में यद्यपि प्राकृतिक साधन और औद्योगिक विकास की सम्भावनाएँ बहुत काफी है, पर इनके निर्माण की दृष्टि से यह देश बहुत पिछडा हुआ है।

आयोग ने चार सिफारिशें राज्य के समक्ष रखी।

(अ) उद्योगो के प्रोत्साहन एव नियन्त्रण हेतु बेहतर विभागीय संगठन हो और प्रान्तो मे औद्योगिक बोर्ड बनाए जाएँ।

(आ) प्राविधिक शिक्षा एव प्रशिक्षण मे सुधार किया जाए।

(इ) औद्योगिक विभागो के वैज्ञानिको के स्टाफ का पुनर्गठन हो।

(ई) राज्य द्वारा उद्योगो को वित्तीय एव प्राविधिक सहायता मिले।

इन सभी सिफारिशों को सरकार ने मान लिया तथा १९१९ मे राजनीतिक सुधारो के साथ-साथ राज्य की नई एव स्वस्थ नीति का भी सूत्रपात हुआ।

१९१९ के सुधार एवं उद्योग—१९१९ के सुधार अधिनियम के फलस्वरूप उद्योग अब प्रान्तीय विषय बन गए। प्रान्तीय औद्योगिक विभागो की स्थापना ही पर्याप्त नही थी। डा० बुकेनन का मत है कि १९१९ की नीति दूरदर्शितापूर्ण नही थी तथा प्रान्तीय सरकारो के पास पर्याप्त कोष नहो थे जिससे वे उद्योगो को सहायता द पाते। इसीलिए उनके मत मे युद्ध के पश्चात् प्रारम्भ होने वाली मन्दी के समय इन उद्योगो की स्थिति शोचनीय हो गई थी।[2]

हम पहले तो यह बताएँगे कि प्रथम महायुद्ध काल मे भारतीय उद्योगों की किस रूप मे प्रगति हुई तथा इसके पश्चात् युद्ध के बाद की स्थिति का अवलोकन करने के पश्चात् सक्षेप मे राज्य की नीति का मूल्याकन किया जाएगा।

---

1. Ibid, pp 218-21
2 D. H. Buchanan, ibid, p 464

प्रथम युद्ध-काल मे यद्यपि नई सूती वस्त्र मिलें व जूट-मिलें अधिक संख्या मे नही खोली जा सकी, तथापि पहले से कार्यरत मिलो मे रात-दिन काम हुआ। अनुमानत सूती वस्त्र-मिलो मे कर्घो व श्रमिको की सख्या युद्धकाल मे १$\frac{1}{2}$ गुनी हो गई। जूट मिलो की संख्या इस अवधि मे ६४ से बढकर ७६ हो गई।[1]

युद्ध के पूर्व भारत मे इस्पात का उत्पादन प्रधानत टाटा कम्पनी करती थी। १९१३ मे कुल इस्पात का उत्पादन १९,००० टन था जो १९१८ मे बढकर १,२४,००० टन हो गया।[2]

इस अवधि मे कोयला, पैट्रोलियम, मेगनीज, अभ्रक आदि खनिज पदार्थों का उत्पादन काफी बढा। सीमेंट के उत्पादन मे १९१४-१८ के बीच ८४ गुनी वृद्धि हुई।[3] कोयले व लोहे (पिग आइरन) का उत्पादन १$\frac{1}{2}$ गुना हुआ। कुल कारखानो की सख्या १९१४ मे २,९३६ व श्रमिको की सख्या (दैनिक) ६,२१,००० थी, जो १९१८ मे बढकर क्रमशः ३,४३६ एव ११,२२,००० हो गई। (वाडिया एव मर्चेन्ट—पृष्ठ ४००)

मिलो के सूती वस्त्र के उत्पादन का युद्ध-पूर्व का औसत ११०५ करोड गज था—युद्ध के बाद यह औसत बढकर १६७६ करोड गज हो गया। सूती वस्त्र उद्योग अब देश की मॉग को पहले से अधिक भाग पूरा करने लगा था, क्योंकि जहां युद्ध के पूर्व भारत औसतन २६३ करोड गज कपडा बाहर से मंगाता था, युद्ध की समाप्ति पर यह औसत घटकर १३३५ करोड गज ही रह गया।[4]

युद्धोत्तर औद्योगिक स्थिति—युद्ध के बाद भी कुछ समय तक उद्योगो के विकास की गति काफी अधिक रही। युद्ध काल मे जो आशातीत लाभ सयुक्त कम्पनियो को हुए उनसे प्रभावित होकर नए उद्यमी के औद्योगिक क्षेत्र मे आए। १९१८-१९ कुल पजीकृत कम्पनियो की सख्या २,७१३ थी जिनकी पूँजी १०६ करोड रु० थी, लेकिन १९२१-२२ मे पजीकृत कम्पनियों की सख्या ४,७८१ हो गई जिनकी पूँजी २२३ करोड रु० थी।[5] १९१८-१९ व १९२२-२३ के बीच विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन कितना बढा यह निम्न तालिका से ज्ञात हो जाता है।[6]

औद्योगिक उत्पादन

नाम वस्तु	उत्पादन १९१८-१९	उत्पादन १९२२-२३
सूती वस्त्र	१६७६ (करोड गज)	१७३१ (करोड गज)
सीमेंट (टन)	८४०००	१,९३,०००
इस्पात (टन)	१,२४०००	१,३१,०००
कोयला (करोड टन) (औसत १९१५-२०)	१८	१९२
पैट्रोलियम (करोड गैलन)	२८६	३०·५

इसी प्रकार खनिज पदार्थों व अन्य उद्योगो का काफी विकास हुआ। लेकिन १९२२ मे युद्धकालीन 'तेजी' समाप्त हो गई और भारतीय उद्योगो को मदी का सामना करना पडा। एक ओर विदेशी प्रतिस्पर्धा और दूसरी ओर वस्तुओ की घटती हुई मॉग ने भारतीय उद्योगो को एक विचित्र स्थिति मे ला दिया। वे स्वय अभी तक इस स्थिति मे नहीं थे कि मन्दी के थपेडो मे अपनी रक्षा कर लेते। प्रथम महायुद्ध-काल मे यद्यपि भारतीय उद्योगो को काफी लाभ हुआ था लेकिन

1. Vera Anstey ibid Statistical Tables XIV A & B
2. Wadia & Merchant, ibid, p 352
3. Ibid, p 391
4. Vera Anstey, ibid p 621
5. D R Gadgil ibid p 243
6. See A R Desai ibid p 101 Wadia & Merchant (p 372), Vera Anstey ibid, pp. 608 9

यह सब अल्पकालीन प्रवृत्ति थी और फलतः ये उद्योग बाह्य प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं कर सकते थे।[1]

भारत सरकार ने १९२१ में राजकोषीय आयोग की नियुक्ति की, जिसने भारतीय उद्योगों को विवेचनात्मक संरक्षण दिए जाने का सुझाव दिया। १९२३ से विभिन्न उद्योगों को सरकार ने संरक्षण देना प्रारम्भ किया। इसका विस्तृत विवरण आगे के एक अध्याय में किया गया है। यहाँ यही बता देना उचित है कि विवेकपूर्ण संरक्षण की नीति के अनुसार किसी विशिष्ट उद्योग को एक निश्चित अवधि के लिए सरकार द्वारा बाहरी प्रतियोगिता से रक्षा हेतु संरक्षण प्रदान किया जाता है। इस नीति के अनुसार विभिन्न उद्योगों को इस क्रम मे सरक्षण प्रदान किया गया :

वर्ष	उद्योग का नाम
१९२४	लौह व इस्पात उद्योग
१९२६	सूती वस्त्र उद्योग
१९३१	भारी रासायनिक उद्योग
१९३२	शक्कर उद्योग
१९३३	कृत्रिम रेशम उद्योग

विवेचनात्मक सरक्षण के परिणामस्वरूप १९२४-२५ के बाद भारतीय उद्योगों ने कुछ समय तक राहत की सांस ली, लेकिन इसके कुछ समय बाद ही विश्व की आर्थिक स्थिति इतनी विषम हो गई कि उद्योगों का विकास एकदम रुक गया। १९२८ से विश्वव्यापी मन्दी प्रारम्भ हुई और इससे भारतीय जनता, विशेष रूप से कृषकों की स्थिति बहुत दयनीय हो गई। १९२९ व १९३३ के बीच भारतीय वस्तुओं की माँग विदेशों में इतनी कम हो गई थी कि निर्यात की गई वस्तुओं का मूल्य ३३९ करोड रु० से घटकर १३५ करोड रुपए रह गया।[2]

इसी समय १९३२ मे ओटावा मे कुछ समझौते हुए जिनसे भारतीय निर्यात को और भी अधिक क्षति हुई। इन समझौते के अनुसार आग्ल निर्यातकों को भारतीय बाजारो मे भारतीय उद्योगपतियों से स्पर्धा करने की सुविधाएँ प्रदान की गई। केट मिचेल के मत मे ब्रिटिश सरकार की यह नीति वस्तुत १६१४ के पूर्व की स्थिति मे उद्योगों को ला देने का एक प्रयास था। लेकिन इस पर भी इगलैण्ड की सरकार ने होम-चार्जेज और ब्याज के रूप मे ली जाने वाली राशि मे कोई छूट नही दी और वस्तुओ के बदले यह भुगतान स्वर्ण के रूप मे किया। केट मिचेल आगे लिखती है कि १९२९ के बाद से १९३७ तक एक ओर विदेशी बाजार भारतीय उद्योगपतियो के हाथ मे निकल रहे थे और साथ ही भारतीय कृषकों की गिरती हुई आर्थिक स्थिति के कारण उनकी क्रयशक्ति घट रही थी जबकि दूसरी ओर स्वर्ण के रूप मे पूँजी भारत के बाहर जा रही थी। इन सबका औद्योगिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव होना स्वाभाविक था।[3]

इन सभी कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद भारतीय उद्योगपति आगे बढते रहे और उद्योगों का विकास होता रहा। स्वदेशी वस्तुओं के प्रति लोगों के बढते हुए झुकाव ने आश्चर्यजनक रूप से उद्योगों को प्रगति करने मे सहायता दी। आंग्ल जर्मन व जापानी उद्योग-पतियों की प्रतियोगिता के उपरान्त भी भारतीय उद्योगो का विकास किया और द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक (१९३८-९) भारत की गणना विश्व के प्रमुख छह औद्योगिक देशों मे की जा सकती थी और टाटा का स्टील प्लाट विश्व का सबसे बडा एकाकी प्लाट था।[4]

लोकनाथ द्वारा प्रस्तुत अग्रलिखित तालिका १९२२-२३ तथा १९३८ के मध्य हुई औद्योगिक प्रगति का स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करती है।[5]

1. P. S. Lokanathan, Industrialization (Oxford Pamphlets—1942) pp. 6-7
2. Wadia & Merchant, ibid p 354
3. Kate Mitchell Industrialization of the Western pacific, Quoted by Dr. A. R. Desai (P. 101)
4. Cambridge History of India, (vol. vi) by Dodewell p. 685
5. P. S. Lokanathan—ibid, P 8

औद्योगिक उत्पादन

	१९२२-२३	१९३८-३९
सीमेंट (टन)	१,९३,०००	११,७०,०००
कोयला (करोड टन)	१·९	२ ८३
सूती वस्त्र (करोड गज)	१७१ ३५	४२६ ९३
जूट (पीस गुड्स) करोड गज	११८ ७४	१७७ ४
माचिस (१९३४-३५) (करोड ग्रुस बक्स)	१ ६५	२ ११
कागज (टन)	२३,५७६	५९,१९८
लौह-धातु (टन)	४,५५,०००	१५,७५,५००
शक्कर (टन)	८४,०००	१०,४०,०००
इस्पात (इन्गॉट्स)	१,३१,०००	९ ७७,४००
सल्फरिक एसिड (क्वार्टर)	५,२६,६००	६,०७,०००

उपरोक्त तालिका के अनुसार सीमेंट का उत्पादन इस अवधि मे छ गुना हुआ जबकि इस्पात व शक्कर का उत्पादन ७½ गुना व १२½ गुना हो गया। सूती वस्त्र व कागज का उत्पादन २½ गुना हुआ, लौह धातु का उत्पादन ३½ गुना हो गया।

शक्कर की दृष्टि से भारत १९३६ तक आत्मनिर्भर हो गया था, जबकि सीमेंट की आवश्यकता का ९५% देश के उद्योगो द्वारा पूरा कर लिया जाता था। १९३८-३९ मे बिजली का सामान बनाने का कार्य भी प्रारम्भ हुआ। यह सब औद्योगिक विकास की सन्तोषजनक गति का द्योतक था।

डा० लोकनाथ आगे लिखते है कि भारत के आयात मे १९२६-२७ के बाद काफी परिवर्तन हुए। सामान्य उपभोग्य वस्तुओं का अनुपात कुल आयात मे १९२६-२७ मे ३७% था, पर १९३८-३९ मे यह अनुपात घटकर २०% रह गया। भारत उपभोग्य वस्तुओ की अब देश मे ही पूर्ति करने का प्रयास कर रहा था और मशीनो का आयात बढा रहा था।[1] लेकिन द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक की औद्योगिक स्थिति मे अनेक कमिया थी। इस सम्बन्ध में निम्न वक्तव्य महत्वपूर्ण हैं।

(i) सर एम विश्वेसरैया ने १९३६ मे प्रकाशित एक पुस्तक मे बताया कि राज्य की उद्योगो के सम्बन्ध मे नीति उदासीनता एव पक्षपातपूर्ण थी। आधार-भूत उद्योगो को समुचित प्रोत्साहन नही मिल पाने के कारण जो भी औद्योगिक विकास इस समय तक हुआ उसकी नीव गहरी नही थी।[2]

(ii) वाडिया एव मर्चेन्ट के मतानुसार यद्यपि विवेचनात्मक सरक्षण ने भारतीय उद्योगो को आगे बढने मे सहायता की तथापि इसके परिणामस्वरूप कुल राष्ट्रीय आय मे अधिक वृद्धि नही हो सकी। वे आगे लिखते हैं कि यद्यपि १९३८-३९ तक भारतीय उद्योगो ने सीमेंट, शक्कर, सूती, वस्त्र एव किसी सीमा तक लौह व इस्पात की दृष्टि से हमे स्वावलम्बी बना दिया था, तथापि हम बहुत अधिक सीमा तक अनेकों उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति के लिए विदेशो पर निर्भर थे—यत्रों व पूंजीगत वस्तुओ के लिए विशेष रूप से भारत विदेशो पर निर्भर था, जिनके बिना भारत मे नए उद्योगों का प्रारम्भ ही असम्भव था।[3]

(iii) १९३६ मे इकोनॉमिस्ट (१२ दिसम्बर) के एक लेख मे यह बताने का प्रयास किया गया कि प्रथम महायुद्ध काल से लेकर तब तक यद्यपि वृहत्-स्तरीय उद्योगो का भारत मे विकास हुआ था, फिर भी सब कुल मिलाकर भारत औद्योगीकरण की दिशा में आगे नही बढ सका, क्योंकि जिस गति से औद्योगिक युग के पूर्व के (परम्परागत) उद्योगो का पराभव हो रहा था, उस गति से नए वृहत्-स्तरीय उद्योग विकास करने मे असमर्थ रहे थे। आधुनिकीकरण के बावजूद उद्योगो पर

1. Ibid pp 7-8
2. M Visvesvaraya Planned Economy for India (1936). p 247
3. Wadia & Merchant . ibid p 356

निर्भर जनसंख्या का अनुपात घट रहा था और यह औद्योगीकरण की प्रक्रिया की सबसे बडी कमजोरी थी।[1]

(iv) १९३८-३९ तक भारत मे केवल उन उद्योगो का विकास किया गया जिनके लिए वातावरण तैयार करने की आवश्यकता नही थी। बुकानन के मत मे कपास, जूट, कोयला और लोहा भारत मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध थे ही और पूँजी प्राप्त करने मे अधिक कठिनाई नही होती थी, इसलिए इन उद्योगो का विकास करना अत्यन्त सरल था। परन्तु ऐसे उद्योगो का विकास इस समय तक भारत मे नही हो सका जो भावी औद्योगीकरण के लिए आवश्यक व आधारभूत थे। प्राकृतिक दृष्टि से भाग्यशाली होने तथा इतना विशाल बाजार होने पर भी इस समय कारखानों से जनसंख्या का २% भाग ही जीविका प्राप्त कर रहा था।[2]

संक्षेप मे यह कहना उचित होगा कि १९३८-३९ तक यद्यपि कुछ उद्योगों की दृष्टि से भारत ने पर्याप्त प्रगति की थी, फिर भी हम ऐसी कोई पृष्ठभूमि नही बना सके थे, जिसके आधार पर देश की औद्योगिक गति को बढा पाते। इसीलिए जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तो उस समय उसका पूरा लाभ भारतीय उद्योगपति उठाने मे असमर्थ रहे।

द्वितीय महायुद्ध एवं भारतीय उद्योग

प्रथम महायुद्ध की अपेक्षा द्वितीय महायुद्ध ने भारत को अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्रदान किया। इन दोनों युद्धो की परिस्थितियो मे भी अन्तर था। प्रथम अन्तर तो यह था कि विश्व की राजनैतिक व आर्थिक स्थिति अब १९१३-१४ से सर्वथा भिन्न थी। जापान एक नई औद्योगिक शक्ति के रूप में भारत के लिए एक चेतावनी प्रस्तुत कर रहा था। यहां नही कच्चे माल, मशीनो तथा रासायनिक पदार्थो का बहुत मात्रा मे आयात अब पहले की अपेक्षा कठिन हो गया था और इसीलिए वस्त्र, कागज व अन्य कुछ उद्योगों को जब भारी रासायनिक पदार्थ उपलब्ध होने मे कठिनाई अनुभव होने लगी तो यह अनुभव किया गया कि इन उद्योगो का विकास औद्योगिक प्रगति के लिए आधारभूत आवश्यकता है।

महायुद्ध के कारण भारतीय वस्तुओ की माँग देश तथा विदेशो मे बहुत अधिक बढ गई थी और इसीलिए युद्धकाल मे औद्योगिक उत्पादन काफी बढा, क्योंकि बढते हुए मूल्यों के साथ-साथ लाभ भी अधिक हो रहे थे। इस महायुद्ध के काल मे भारतीय औद्योगिक व्यवस्था मे निम्न महत्वपूर्ण तथ्य विचारणीय हैं:[3]

(अ) नवीन-आधारभूत एव भारी उद्योगो का विकास इन नवीन उद्योगो में भारी रासायनिक पदार्थों का सर्वाधिक महत्व था। अब द्वितीय महायुद्ध-काल मे सल्फरिक एसिड, सिन्थेटिक अमोनिया, कॉस्टिक सोडा, क्लोरीन, ब्लीचिंग पाउडर व अन्य रासायनिक पदार्थों का उत्पादन भारत मे ही प्रारम्भ हुआ। १९४१ मे एक शस्त्र-निर्माण की ७०० प्रकार की वस्तुएं तथा उपकरण बनाने हेतु दो अत्यन्त महत्वपूर्ण कारखाने बनाए गए थे। इसी प्रकार अगस्त १९४१ मे हिन्दुस्तान एयर क्राफ्ट कम्पनी ने निर्यात किए गए पुर्जो से पहली बार वायुयान का निर्माण किया।

(आ) युद्ध के कारण लौह-धातु, इस्पात, कपडा, दवाइयो, चमडे की वस्तुओ, इस्पात व लौहे की चादरों, काँच का सामान व सामान्य उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन काफी बढा। अग्र तालिका के आधार पर द्वितीय महायुद्धकाल मे हुई उद्योगो की प्रगति का अनुमान किया जा सकता है:[4]

---

1. See Dr. A R. Desai : ibid p. 102
2. D. H. Buchanan : ibid, p. 450-1
3. Wadia & Merchant : ibid, p 357
4. Quoted in Fiscal Commission Report (1949-50) p 21

औद्योगिक उत्पादनो के सूचनाक

१९३७=१००

	सूती वस्त्र	जूट	इस्पात	रासायनिक पदार्थ	शक्कर	सीमेंट	कागज	सामान्य
१९३८	१०९०	९८३	१०८०	८४४	८८७	१२४८	१२१६	१०५४
१९४१	११४८	९२४	१३११	१५३२	१०८२	१८५८	१८५४	११७८
१९४५	१२००	८४४	१४२९	१३४१	८८५	१९६५	१९६५	१२००

उपरोक्त तालिका के अनुसार युद्ध-पूर्व तथा युद्ध की समाप्ति के बीच सामान्य औद्योगिक उत्पादन मे १४-१५ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी । इस्पात, सूती वस्त्र, रासायनिक पदार्थों के उत्पादन मे वृद्धि हुई थी, लेकिन वृद्धि का यह औसत सीमेंट व कागज उद्योगो मे अधिक था । परन्तु अनेक कारणों से जूट व शक्कर उद्योगो का ह्रास हो रहा था और इनके उत्पादन मे निरन्तर कमी हो रही थी । इन कारणो का अगले अध्याय मे उल्लेख किया जायगा । इसी प्रकार अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योगो की दृष्टि से भी भारत पीछे था ।

एक अन्य सूचना के अनुसार लौह धातु (पिग आइरन का उत्पादन) १९३८ ३९ व १९४१ के मध्य १६ लाख टन से बढकर २० लाख टन हुआ जबकि इस्पात का उत्पादन ८ ६७ लाख टन (१९३९) से बढकर १४ लाख टन (१९४२) हो गया ।[1]

(इ) विश्व के बाजारो मे भारतीय वस्तुओ की माँग काफी बढ रही थी । १९३८-३९ मे भारत से निर्यात की गई वस्तुओ का मूल्य ४७ ६० करोड रु० था, परन्तु १९४०-४१ मे भारत से ८१ २० करोड रुपये के मूल्य की वस्तुएं (कारखानो मे बनी) बाहर भेजी गई । यह इस बात का प्रतीक था कि भारतीय उद्योगो ने प्रगति का क्रम जारी रखा था यद्यपि प्रगति की यह रफ्तार आवश्यकतानुसार नही बढ सकी थी ।

(ई) हालांकि ब्रिटिश सरकार भारतीय उद्योगो का विकास हो इस पक्ष मे नही थी तथापि राजनैतिक दबाव के कारण अनेक प्राविधिक मिशनो की नियुक्ति की गई । पूर्वी समूह अधिवेशन (Eastern Group Conference) १९४० मे पूर्ण हुआ । इस अधिवेशन मे तथा बाद मे १९४२ मे ग्रेडी मिशन ने भारत की औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं पर विस्तार से विचार किया । लेकिन भारत के विदेशी शासको ने उनकी सिफारिशो को ठुकरा दिया । भारत से कच्चे माल का निर्यात जारी रहा और विश्व के बाजारो मे आस्ट्रेलिया और कनाडा से हमारी प्रतिस्पर्धा तीव्रतर होती गई । डा० लोकनाथन के मत मे औद्योगिक विकास के क्षेत्र मे आस्ट्रेलिया ने भारत के पीछे यात्रा प्रारम्भ की थी परन्तु उसने शीघ्र ही भारत को पीछे छोड दिया । इसी प्रकार कनाडा मे राज्य द्वारा वायुयान हथगोले, राइफलें मशीनें एव अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तुएं बनाने के उद्देश्य से सात कार्पोरेशन बनाए गए । लेकिन भारत मे अनेक सिफारिशो के बावजूद आवश्यक वस्तुएं यहाँ बनाने की अपेक्षा उनका आयात करना अधिक उचित समझा गया ।[3]

यह थी द्वितीय महायुद्धकालीन राज्य की औद्योगिक नीति जिसमे राज्य ने स्थानीय उद्योगो के प्रति केवल मौन तपस्वी का दृष्टिकोण रखा और जो भी विकास औद्योगिक द्वितीय महायुद्ध काल मे हुआ, वह केवल भारतीय उद्योगपतियो के साहस का ही परिणाम था ।

कुमारी केट मिचेल ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि भारतीय उद्योगो ने महायुद्ध के बावजूद इतनी धीमी प्रगति की थी । १९४१ के अन्त तक धातु उद्योग, रसायन उद्योग तथा अन्य भारी उद्योगो के क्षेत्र मे भारत ने निम्नतम प्रगति की थी यद्यपि इनके लिए आवश्यक कच्चा माल देश मे उपलब्ध था । उन्होंने कहा कि मशीनो तथा कुशल श्रमिकों के अभाव को दूर करने के लिए राज्य ने (द्वितीय महायुद्ध-काल मे भी) कुछ नही किया ।[4]

---

1. Wadia and Merchant, ibid p 357
2 D H Buchanan ibid, p 469
3 Dr P. S Lokanathan, ibid p 15
4 Quoted by Wadia & Merchant ibid p 359

युद्धकाल में भारत में साइकिलों, सिलाई की मशीनों, डीजल इंजनों, नॉनफैरस मेटल आदि के उद्योगों का प्रारम्भ हुआ परन्तु देश की आवश्यकताओं की तुलना में यह सब महत्त्वहीन था। हाँ, एक बात इस सदर्भ में बता देना आवश्यक है और वह यह है कि युद्ध के पूर्व जो कारखाने भारत में थे, मूल्यों में वृद्धि होने के कारण उनमें युद्धकाल में दिन-रात काम हुआ। इससे उत्पादन में तो वृद्धि हुई लेकिन जो घिसावट व टूट-फूट यन्त्रों की इस कारण हुई उसकी पूर्ति अब तक भी नहीं हो सकी है।

द्वितीय महायुद्ध के समय औद्योगिक श्रमिकों को प्रशिक्षण देने के लिए राज्य ने मार्च १९४३ में एक कार्यक्रम बनाया था और इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक औद्योगिक रिसर्च बोर्ड भी बेविन स्कीम के अन्तर्गत बनाया गया। ग्रेडी मिशन जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है व अन्य समितियाँ भी भारत की औद्योगिक क्षमता के इष्टतम उपयोग के पक्ष में थी, पर यह सब औपचारिकता थी और महायुद्ध के अन्त तक भी भारत का औद्योगिक विकास सही दिशा में नहीं पहुँच सका। यद्यपि उद्योगों के नाम पर हजारों कारखाने इस देश में १९४५ में स्थापित हो चुके थे। तथापि इनमें जूट, सूती वस्त्र, शक्कर, कागज सीमेंट व चर्म उद्योग ही प्रमुख थे और औद्योगिक विकास के लिए आधारभूत उद्योग अत्यन्त शैशवावस्था में थे। प्रो० एन० सी० जैन ने सत्य ही लिखा है, "सब कुल मिलाकर यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय महायुद्ध काल में भारतीय उद्योग विदेशी प्रतियोगियों से यन्त्रीकरण एवं नवीकरण की दृष्टि से पिछड़ गए।""""""युद्धोपरान्त औद्योगिक ह्रास का खतरा फिर भी बना रहा।"[1]

युद्ध के पश्चात् भारतीय उद्योगों की स्थिति अत्यन्त विकट हो गई, क्योंकि अधिकांश उपकरण एवं यन्त्र काफी घिस चुके थे। १९४४ से ही औद्योगिक उत्पादन में ह्रास होने लगा और १९४६ तक औद्योगिक उत्पादन में काफी कमी हो गई। वस्त्र, इस्पात, शक्कर, सीमेंट व अन्य महत्त्वपूर्ण उद्योगों में उत्पादन बहुत कम हो गया। इस सदर्भ में निम्न तालिका महत्त्वपूर्ण है :[2]

औद्योगिक उत्पादन

	१९४३-४४	१९४५-४६	(कमी प्रतिशत)
सीमेंट (हजार टन)	१७,००	१५,३७	१०
शक्कर (,,)	१२,०१	९,२३	२३·०
पिग आयरन (,,)	१७,१७	१३,३४	२३·०
इस्पात (,,)	१४,०१	१२,९६	७.५
सूती कपड़ा (करोड़ गज)	४८,५० (१९४७)	३८१	२०
जूट का माल (१९४१-४२) (हजार टन)	१,२७९ (१९४७ ४८) १०३५		१९

एक बात और यहाँ स्पष्ट कर देना उचित है और वह है भारतीय उद्योगों में क्षमता का पूरा उपयोग न होना। व्यवस्था की कमी के कारण द्वितीय महायुद्धकाल में और उसके बाद भी यन्त्रों की पूरी क्षमता का भारत में उपयोग नहीं हो सका। यही कारण था कि उत्पादन की लागत में यहाँ कमी नहीं की जा सकी।

विभाजन एवं भारतीय उद्योग—१९४७ में देश का जब विभाजन हुआ तो इसमें भारतीय उद्योगों पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जूट तथा लम्बे रेशे की कपास का उत्पादन करने वाले अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए, जबकि अधिकांश मिलें भारत में ही रहीं। प्रो० सी० एन० वकील ने विभाजन के प्रभावों को दो भागों में बाँटा है प्रथम अल्पकालीन प्रभाव तथा द्वितीय दीर्घकालीन प्रभाव।[3]

---

1 L C Jain Indian Economy During the War, p 128

2 Wadia and Merchant, ibid, Chapter XIX and C. N. Vakil ; Economic Consequences of Divided India Chap VII and VIII

3. C. N. Vakil, Ibid, pp. 356-64

अल्पकालीन प्रभाव—(i) **कच्चे माल की पूर्ति**—जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है भारत मे लगभग सारी जूट व सूती वस्त्र की मिलें रही जबकि अच्छी कपास एव जूट उत्पादन करने वाला अधिकाश क्षेत्र पाकिस्तान मे चला गया। फलस्वरूप कुछ समय तक इन उद्योगो की स्थिति अत्यन्त विषम रही।

(ii) **माग में कमी होना**—पश्चिमी पजाव एव पूर्वी बगाल के क्षेत्रों मे औद्योगिक विकास १९४७ तक नही हो सका था और इसीलिए वहाँ की जनता बहुत मात्रा मे अन्य भारतीय क्षेत्रो से उपभोग्य वस्तुएं प्राप्त करती थी। विभाजन के पश्चात् भारतीय उद्योगों की वस्तुओं की मांग इसलिए कम हो गई।

(iii) **कुशल श्रमिको का बहिर्गमन**—पजाब उत्तर प्रदेश व प० बगाल के हौजरी, ऊनी वस्त्र व सूती वस्त्र की मिलो चम उद्योग तथा इन्जीनियरिंग उद्योगो मे कुशल श्रमिक ज्यादातर मुसलमान थे। विभाजन के फलस्वरूप इनमे से बहुत से मजदूर पाकिस्तान चले गए और इसलिए भी कुछ समय तक स्थिति विकट रही।

दीर्घकालीन प्रभावो मे प्रो० वकील ने केवल उस क्षति का उल्लेख किया, जिसे पाकिस्तान पूँजी व साहस के अभाव मे विभाजन के बहुत बाद तक भुगतेगा। वे यह भी बताते हैं कि भारत के लिए जूट उद्योग की दृष्टि से अवश्य एक दीर्घकालीन कच्चे माल का अभाव हो गया है, लेकिन वस्तुत आर्थिक नियोजन के कारण भारत जूट की पूर्ति अब स्वय कर लेता है।

राष्ट्रीय सरकार की औद्योगिक नीति[1]—दिसम्बर १९४७ मे सरकार ने एक बैठक बुलाई जिसमे विभाजन के बाद उत्पन्न हुई समस्याओ पर गम्भीरता पूर्वक विचार करके उन ३२ उद्योगों के लिए एक वृहत् कार्यक्रम तैयार किया गया जिन्हे कठिनाई का सामना करना पड रहा था। ६ अप्रैल १९४८ को सरकार ने प्रथम बार औद्योगिक नीति की घोषणा की। इसके अनुसार राज्य के लिए औद्योगिक विकास की दिशा मे प्रगतिशील रोल अदा करना आवश्यक समझा गया।

भारत के औद्योगिक विकास के इतिहास मे पहली बार १९४८ मे एक सुनिश्चित एव दीर्घकालीन नीति राज्य द्वारा निर्धारित की गई थी। इस नीति मे वृहत स्तरीय व लघु उद्योगों के विषय मे वैज्ञानिक ढग पर राज्य का दृष्टिकोण निहित था। राज्य की प्रगतिशील एव सक्रिय सहायता के सकल्प से औद्योगिक विकास की गति तेजी से बढी। इस नीति के अन्तर्गत न केवल राज्य ने निजी क्षेत्र के उद्योगो के लिए विकास का अवसर प्रदान किया वरन् आधारभूत एव भारी उद्योगों के लिए राज्य का सक्रिय नियन्त्रण भी रखा गया।

१९५६ मे पुन राष्ट्रीय सरकार ने द्वितीय पचवर्षीय योजना के साथ-साथ अधिक प्रगतिशील औद्योगिक नीति बनाई जिसमे उद्योगो को तीन श्रेणियों मे बाटा गया और राज्य का नियन्त्रण भी उसी प्रकार निश्चित कर दिया।

पचवर्षीय योजनाएं—औद्योगिक विकास व कार्यक्रम को भारत की पचवर्षीय योजनाओ मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और इसलिए पचवर्षीय योजनाओ मे औद्योगिक विकास हेतु पर्याप्त विनियोग करने का निश्चय किया गया है। अब तक की योजनाओ मे विभिन्न उद्योगो में कुल विनियोग की राशि इस प्रकार रही है

खनिज व औद्योगिक विकास पर कुल विनियोग (करोड रुपये मे)

(प्रस्तावित)	सार्वजनिक क्षेत्र	निजी क्षेत्र
प्रथम योजना	१७९	३८३[2]
द्वितीय योजना	८७०	६७५
तृतीय योजना	१,५२०	१०५०[3]
चतुर्थ योजना	२८००	२४००[4]

1 विस्तृत विवरण के लिए औद्योगिक नीति का अध्याय देखें।

2 इसमें आधुनिकीकरण एव यन्त्रो के प्रतिस्थापन की राशि (१५० करोड) भी शामिल थी—Wadia & Merchant ibid p 366

3 Third Five Year Plan p 59

4 Eourth Five Year Plan p 244.

इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार ने औद्योगिक विकास हेतु वृहत-स्तरीय कार्यक्रम बनाया है, जिसमें मिश्रित व्यवस्था के आधार पर औद्योगिक विकास किया जा रहा है। राज्य के प्रयासो के फलस्वरूप सर्वाधिक प्रगति भारी तथा आधारभूत उद्योगो ने की है। यद्यपि उपभोग्य वस्तुओ का उत्पादन भी बढ़ रहा है फिर भी लौह-इस्पात, यंत्र-निर्माण रासायनिक पदार्थो के क्षेत्र मे आशातीत विकास हुआ है और होने की आशा है। द्वितीय व तृतीय पंचवर्षीय योजनाओ के तो प्रमुख उद्देश्यो मे ही द्रुत औद्योगिक विकास एव इसके लिए भारी व आधारभूत उद्योगो के विकास को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। अबतक जो भी औद्योगिक विकास हुआ है तथा तृतीय योजना तक जो विकास किए जाने की आशा है उसका ज्ञान निम्न तालिका से हो जाता है।[1]

औद्योगिक उत्पादन के सूचनांक

१९५०-१=१००

	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६
सामान्य सूचनांक	१३९	१९४	३३०
सूती वस्त्र	१२८	१३३	१६५
लोह व इस्पात	१२२	२३८	६३५
मशीनें (सभी)	१९२	५०३	१,२३०
रासायनिक पदार्थ	१७९	२८८	७२५

पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस प्रकार १९५०-५१ की तुलना मे १९६५-६६ तक औद्योगिक उत्पादन सवा तीन गुना, यंत्रो का उत्पादन सवा बारह गुना, रासायनिक पदार्थों का उत्पादन सवा सात गुना, इस्पात का उत्पादन ६ ३५ गुना व वस्त्रो का उत्पादन लगभग पौने दो गुना हो जाने की आशा है। औद्योगिक प्रशिक्षण, अनुसंधान तथा औद्योगिक पूँजी प्रदान करने हेतु १९४७ के बाद राज्य-प्रयास अंग्रेजो से हजारो गुने श्रेष्ठ हैं।

भारतीय औद्योगिक व्यवस्था की विशेषताएँ

अध्याय के अन्त मे अब हम यह बताने का प्रयास करेंगे कि भारतीय औद्योगिक व्यवस्था मे कौन-कौनसी मुख्य विशेषताएँ हैं

(१) राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की दृष्टि से उद्योगों का योगदान—राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की दृष्टि से उद्योगो का योगदान भारत मे बहुत कम रहा है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से राष्ट्रीय आय मे उद्योगो का योगदान बढ रहा है, फिर भी आज के औद्योगिक युग मे यह अनुपात बहुत कम है। बडे उद्योगो का योगदान कुल राष्ट्रीय आय मे १९४८-४९ मे ६ ३% था। यह अनुपात १९५९-६० मे बढकर ८ ७% हो गया। १९६१-६२ मे औद्योगिक उत्पादन का राष्ट्रीय आय मे अनुपात लगभग १.०% था।[2]

रोजगार की दृष्टि से भी वृहत्-स्तरीय उद्योगो का महत्व अपेक्षाकृत बहुत कम है। १९५८ मे बडे उद्योगों मे लगभग ३४ लाख व्यक्ति संलग्न थे जो कुल जनसंख्या का ०·८३% था।[3] १९६१ की जनगणना के अनुसार छोटे व बड़े उद्योगो मे मिलाकर कुल देश की कार्यरत जनता (१८·८ करोड) मे से लगभग २ करोड व्यक्तियो (१० ६%) को रोजगार मिला हुआ था। फैक्ट्रियों मे इस समय ३९ लाख से अधिक व्यक्ति संलग्न थे।[4] यह वस्तुतः एक आश्चर्य ही है कि १९५०-१ के बाद औद्योगिक उत्पादन मे तथा कुल रोजगार मे वृद्धि होने के बावजूद बडे उद्योगो के रोजगार के अनुपात मे कोई वृद्धि नही हुई है।

---

1. Ibid, p. 39 and p. 452
2. S. K. Bose : Some Aspects of Indian Economic Development, p. 161 and India 1939 p. 146
3. S. K. Bose : ibid, p. 132
4. India 1963, p. 337

(२) पूँजीगत उद्योगों का महत्त्व—भारतीय उद्योगों में पूँजीगत उद्योगों का महत्त्व उपभोग्य वस्तुओं से सम्बन्धित उद्योगों की अपेक्षा बहुत कम है। १९६५ में कुल देश-भर के १३,१६३ बड़े कारखानों में लग २९·३५ लाख व्यक्ति काम कर रहे थे, जिनमें से वस्त्र-उद्योग व खाद्य-उद्योगों के कारखानों की संख्या लगभग ५४०० थी और इनमें १५.५० लाख व्यक्ति संलग्न थे।[1] १९५५ में बड़े कारखानों की संख्या ३०,१४८ थी, जिनमें लगभग २३.९० लाख व्यक्ति संलग्न थे। लेकिन इनमें से वस्त्र-उद्योगों व खाद्य-उद्योगों में १४ लाख से अधिक व्यक्ति लगे हुए थे।

संयुक्त राष्ट्र संघ के एशिया एवं सुदूरपूर्व आर्थिक कमीशन के सर्वेक्षण के अनुसार भारत में १९५४ में केवल १०% श्रमिक जनता धातु व इन्जीनियरिंग उद्योगों में संलग्न थी, जबकि इंगलैण्ड में यह अनुपात ४९.४% था। जापान, स्विट्जरलैण्ड और इटली जैसे छोटे देशों में भी भारत की अपेक्षा अधिक श्रमिक जनसंख्या धातु व इन्जीनियरिंग उद्योगों में संलग्न हैं।[2]

(३) कृषि पर निर्भरता—भारत का अधिकांश औद्योगिक उत्पादन विशेष रूप से सूती-वस्त्र, शक्कर, जूट व खाद्य पदार्थों का उत्पादन कृषि पर निर्भर है। कृषि क्षेत्र में, जैसाकि हम पहले देख चुके हैं, प्राकृतिक प्रकोप होते रहने के कारण इन कारखानों को नियमित रूप से कच्चा माल नहीं मिल पाता और इसीलिए मूल्यों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। निम्न तालिका स्पष्ट करती है कि १९५८ में रोजगार तथा उत्पादन की दृष्टि से उद्योगों की स्थिति किसी प्रकार रही थी [3]

	उत्पादन (प्रतिशत में)	रोजगार
सूती वस्त्र उद्योग	२९.१	३८.९
लौह-इस्पात	१०.६	५.४
रासायनिक उद्योग	७.८	३.४
सामान्य व विद्युत् इन्जीनियरिंग	१३.६	१२.०
सीमेंट	२.९	१.६
शक्कर	७.८	७.३
जूट	८.८	१३.७
अन्य	२९.७	१७.७
	१००.०	१००.०

उपरोक्त तालिका के अनुसार सूती वस्त्र, शकर व जूट उद्योगों से कुल औद्योगिक उत्पादन का ४५% प्राप्त होता है तथा औद्योगिक श्रमिकों में से ६०% इन उद्योगों में संलग्न हैं।

(४) लघु उद्योगों का विशेष महत्त्व—भारतीय औद्योगिक व्यवस्था में रोजगार की दृष्टि से यद्यपि लघु एवं कुटीर उद्योगों का अधिक महत्त्व है फिर भी उत्पादित वस्तुओं का मूल्य बड़े उद्योगों का अधिक है। केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन के अनुसार बड़े कारखानों में लघु उद्योगों की तुलना में लगभग २७.२८% श्रमिक संलग्न थे। लेकिन १९६१-६२ में बड़े उद्योगों का राष्ट्रीय आय में १४६० करोड़ रुपये का योगदान था, जबकि लघु उद्योगों का योगदान १,१७० करोड़ रुपये ही था।[4]

(५) असन्तुलित औद्योगिक विकास—क्षेत्रीय एवं भौगोलिक दृष्टि से भारत के उद्योगों का सन्तुलित विकास नहीं हो सका है। कानपुर, बम्बई, अहमदाबाद, कलकत्ता, जमशेदपुर, मद्रास

1 C N. Vakil, ibid, pp 286-7
2 Economic Survey for Asia & Far East (1958), p. 96
3. S K Bose ibid, pp 234-5
4 India 1963, p. 146

और स्वतन्त्रता के पश्चात् भिलाई, रूरकेला, दुर्गापुर, सिंदरी, ग्वालियर, आगरा, कोटा और अनेक दूसरे औद्योगिक नगरों का विकास हुआ है। लेकिन यातायात के साधनों की कमी के कारण अन्य क्षेत्र आज भी पिछड़े हुए है, यद्यपि वहाँ कच्चा माल उपलब्ध है। इन नगरों मे भीड-भाड व ऊँची उत्पादन-लागतो की बुराइयाँ होने पर भी अन्य क्षेत्रों का विकास नही हो पाता।

(६) **औद्योगिक विकास की धीमी गति**—भारत मे औद्योगिक विकास की गति बहुत धीमी है। हमने विस्तार से औद्योगीकरण का पिछला इतिहास देखा और उससे इस कथन की पुष्टि भी होती है। आज भी भारत मे कुशल श्रमिको एवं प्राविधि ज्ञान प्राप्त व्यक्तियों का अभाव है। आज भी एक ओर औद्योगिक क्षमता का समुचित उपयोग नही हो पा रहा है। मेलनबॉम इन कमियो के मुख्य कारण लोगो की गरीबी, धार्मिक एवं सांस्कृतिक बन्धनों एवं सदियो से चली आ रही संकुचित विचारधारा को मानते है। इसलिये वे यह मानते हैं कि भारत मे औद्योगिक प्रबन्ध हेतु योग्य व्यक्ति नही मिल पाते।[1]

डा० देसाई ने औद्योगीकरण की धीमी गति के लिए कृषिको की निर्धनता को प्राधानत: जिम्मेदार माना है, क्योंकि उन्ही की क्रयशक्ति पर उद्योगों का विकास निर्भर करता है। उद्योग में कुछ समय तक चली आ रही श्रमिको की अनियमित पूर्ति (अनुपस्थितिवाद) तथा आधारभूत उद्योगो की कमी के कारण भी औद्योगिक विकास की गति अधिक नही बढ सकी।[2] स्वतन्त्रता के पश्चात् भी औद्योगिक विकास की गति सरकार की आशा के मुताबिक नहीं बढ सकी। प्रो० बॉल ने यह अनुमान किया कि सरकार की औद्योगिक नीति ने उद्योगपतियो को निजी क्षेत्र की पूँजी की सुरक्षा के विषय मे सशंकित कर दिया था और इसीलिए उनका असंतोष बढा और आशा के अनुसार पूँजी का विनियोग नही हो सका, जो द्रुत औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक थी।[3]

तृतीय पचवर्षीय योजना काल मे जो योजना की सफलता का मूल्यांकन हुआ है उसके अनुसार इस्पात, शक्कर, जूट, यन्त्र-निर्माण ऑटोमोबाइल व खनिज तेल के क्षेत्र मे आशा की अपेक्षा बहुत कम उत्पादन बढ पाया है और हम मंजिल से बहुत पीछे रह गये है।

(७) **विदेशी पूँजी का विशेष महत्त्व**—भारत के औद्योगिक विकास मे विदेशी पूँजी का अपेक्षाकृत अधिक योगदान रहा है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व लगभग सभी चाय के बगीचों, जूट-मिलो, कोयला व अन्य खनिज क्षेत्रो के बहुत बडे भाग तथा अन्य बहुत-से उद्योगो मे विदेशी पूँजी लगी हुई थी। फिडले शिराज ने १९२९-३० मे केवल अंग्रेजो द्वारा भारत मे लगाई गई पूँजी लगभग ५० करोड स्टर्लिंग पौंड बताई थी। १९३८-३९ तक एक अन्य अनुमान के अनुसार विदेशी पूँजी मे ४०० स्टर्लिंग पौंड केवल ब्रिटिश उद्योगपतियों ने विनियोग किए थे। लेकिन स्वतन्त्रता के पश्चात् १९४८ तक विदेशी पूँजी की राशि घटकर ३२० करोड रु० रह गई।

लेकिन नवीन औद्योगिक नीति भारत सरकार की विश्व के अन्य देशो से सौहार्दपूर्ण नीति के कारण विदेशी विनियोक्ताओं को बल मिला है। १९५७-८ तक विदेशी पूँजी की राशि बढकर ४१९ करोड रु० हो गई। इसके अतिरिक्त यदि तीसरी योजना मे औद्योगिक क्षेत्र मे विदेशी विनिमय की अपेक्षित राशि को देखा जाए तो सार्वजनिक क्षेत्र मे यह राशि ६६० करोड रुपए तथा निजी क्षेत्र मे लगभग ४५० करोड के लगभग होने का अनुमान है, जो कुल औद्योगिक विनियोग (१९६१-६६) का लगभग ४५% होगा।[4]

स्वतन्त्रता के बाद भी विदेशी सहायता के आधार पर ही हमारे महत्त्वपूर्ण उद्योगो का विकास हो सका है और जब तक देश की जनता औद्योगिक विकास हेतु पूँजी लगाने को तत्पर नही होगी भारत की विदेशो पर निर्भरता चलती रहेगी।[5]

1- Mallenbaum Prospects for Indian Development p. 163-4
2 A. R. Desai, ibid, pp 107-8
3. See Dr. Desai, Nationalism After Independence (1960)
4. India 1963, p. 257
5. Mallenbaum, Ibid, p 160

उपसंहार—पिछले पृष्ठो मे हमने भारत की औद्योगिक प्रगति का अवलोकन काफी विस्तार के साथ किया। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के पूर्व तक जो भी औद्योगिक विकास हुआ, उसका श्रेय भारतीय उद्यमियो तथा विदेशी विनियोक्ताओ को दिया जा सकता है। लेकिन उस औद्योगिक विकास मे वस्तुतः एक ऐसे भवन का निर्माण किया गया था जिसकी नीव खोखली थी और द्रुत औद्योगिक विकास की कोई सम्भावना नही थी। लेकिन आजादी के बाद एवं सरकार की विवेकपूर्ण औद्योगिक नीति ने एक स्वस्थ वातावरण का निर्माणकर दिया है। भारी व आधारभूत उद्योगो का सार्वजनिक क्षेत्र मे विकास किया जा रहा है और द्रुत औद्योगिक विकास का हमारा स्वप्न साकार होता दिखाई दे रहा है। प्रो० मेलनबॉम के शब्दो मे अनेक कमियाँ होने के बावजूद "औद्योगिक विकास की सम्भावनाएँ आर्थिक सुधार के कार्यों मे रत भारत सरकार के नियन्त्रण मे स्वतन्त्रता के पश्चात् बहुत बढी हैं।"[1]

२४

भारत के वृहत-स्तरीय उद्योग : सूती वस्त्र तथा जूट उद्योग
(Large-Scale Industries of India · Cotton & Jute Textiles)

प्रारम्भिक :

भारत मे आधुनिक एव वृहत्-स्तरीय उद्योगो का प्रारम्भ उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुआ था। लेकिन इन उद्योगो का विकास प्रधानतः प्रथम महायुद्ध-काल मे एव उसके पश्चात् ही हुआ है। वस्तुत प्रथम महायुद्ध-काल मे भारत के वृहत्-स्तरीय उद्योगो का विकास करने का अवसर प्राप्त हुआ, सरक्षण ने उन्हे युद्धोत्तर काल की मन्दी के समय भी जीवित रखा तथा द्वितीय महायुद्ध ने इन्हे नवचेतना प्रदान की। लेकिन स्वतन्त्रता के पश्चात् आर्थिक नियोजन ने भारत के उद्योगो को द्रुत गति प्रदान की है और आज भारतीय वृहत्-स्तरीय उद्योगो की तुलना विश्व के चोटी के औद्योगिक राष्ट्रो के उद्योगो से की जा सकती है।

लेकिन भारत के बडे उद्योगो मे पूँजी, रोजगार और उत्पादन की दृष्टि से केवल निम्न उद्योग ही महत्वपूर्ण रहे है

(१) सूती वस्त्र उद्योग, (२) जूट-उद्योग, (३) लौह व इस्पात-उद्योग, (४) शक्कर उद्योग, (५) सीमेंट-उद्योग, (६) भारी रासायनिक उद्योग, (७) इजीनियरिंग उद्योग, एव (८) कागज उद्योग।

प्रस्तुत अध्याय मे हम विस्तार से सूती वस्त्र व जूट उद्योगो के विकास पर प्रकाश डालेंगे। इसके अतिरिक्त अगले अध्यायो मे शेष महत्त्वपूर्ण उद्योगो का विवरण प्रस्तुत किया जाएगा।

(१) सूती वस्त्र उद्योग

१८वीं सदी तक का संक्षिप्त इतिहास—भारत मे सूती वस्त्र उद्योग की परम्पराएँ बहुत पुरानी रही हैं। ढाका की बनी हुई मलमलो मे 'आब-इ-रवाँ' (बहता हुआ पानी) 'बफ्त-ए-हवा' तथा 'शबनम' तो विश्व मे विख्यात थी। मछली पट्टम मे छीट तथा छपे हुए कपडे एव बुरहानपुर (मध्यप्रात) के गोटे व जरी के कपडे भी विश्व के बाजारो मे बहुत लोकप्रिय थे। गुजरात के अहमदाबाद, भडौच, बडौदा व नवसारी आदि स्थान भी सूती वस्त्र के निर्माण हेतु प्रसिद्ध थे तथा १८ वी शताब्दी के अन्त तक बहुत बडी मात्रा मे भारत से कपडा बाहर जाता था।

लेकिन इंगलैण्ड मे अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे अनेक ऐसे आविष्कार हुए जिन्होंने वहाँ सूती-वस्त्र उद्योग का केन्द्रीकरण कर दिया तथा वृहत्-स्तर पर वस्त्र का इगलैण्ड मे निर्माण होने लगा। भारत मे वस्त्र-निर्माण कुटीर उद्योग के रूप मे बहुत छोटे पैमाने पर होता था तथा यह उद्योग देश-भर मे छोटी-छोटी इकाइयो के रूप मे बिखरा हुआ था। राजनैतिक तथा आर्थिक

कारणों से इन कुटीर उद्योगों का तेजी से पराभव प्रारम्भ हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक सूती वस्त्रों का निर्यात नाम मात्र को रह गया।

आधुनिक सूती वस्त्र उद्योग—आधुनिक ढंग की सूती वस्त्र मिलों की स्थापना १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रारम्भ हुई। १८६० तक देश में केवल ३ मिलें थी जिनकी संख्या शताब्दी के अन्त तक बढ़कर १९० हो गई। इस समय कुल कर्घों की संख्या ४० हजार से अधिक तथा संलग्न श्रमिकों की संख्या १.५६ लाख थी।

१९ वीं शताब्दी के अन्त तक केवल बम्बई नगर में ८२ सूती वस्त्र मिलें केन्द्रित थीं और इसीलिए बम्बई को सूती वस्त्र नगर (cotton polis) कहा जाने लगा था।[1]

परन्तु सूती वस्त्र उद्योग को बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सर्वाधिक प्रोत्साहन स्वदेशी आन्दोलन ने प्रदान किया। डा० बुकेनन के मत में प्रथम महायुद्ध के पूर्व शक्ति चालित कर्घों की संख्या में चमत्कारिक वृद्धि का रहस्य स्वदेशी आन्दोलन ही था।[2] स्वदेशी आन्दोलन के अतिरिक्त प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों ने भी सूती वस्त्र उद्योग को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। सूती वस्त्र मिलों की संख्या प्रथम महायुद्ध के पूर्व २६४ थी जो १९४५ तक बढ़कर ४२१ होगई। इस उद्योग में संलग्न श्रमिकों की संख्या द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक ५ लाख तक पहुँच गई। कपड़े का उत्पादन इस अवधि में ११४ करोड़ गज से बढ़कर ४८५ करोड़ गज हो गया।

सबसे उल्लेखनीय बात तो यह थी कि जापानी वस्त्र निर्माताओं से तीव्र प्रतिस्पर्धा के बावजूद भारतीय सूती वस्त्र उद्योग प्रगति करता गया। वस्तुतः इसके विकास में सरकार द्वारा प्रदत्त विवेचनात्मक संरक्षण का भी अपूर्व योगदान रहा। संरक्षण वैसे तो सितम्बर १९२७ से प्रारम्भ कर दिया गया था परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से १९३० के सूती वस्त्र उद्योग (संरक्षण) अधिनियम से इस उद्योग को सहायता मिली। संरक्षण की नीति के अन्तर्गत बाहर से आने वाले वस्त्रों पर विभेदात्मक कर लगाए गये थे। विस्तृत विवरण के लिए अध्याय २३ देखें। संरक्षण के फलस्वरूप ही १९२२ व १९४५ के बीच सूती वस्त्र का उत्पादन १७३ करोड़ गज से बढ़कर ४८५ करोड़ गज होगया। उत्पादन वृद्धि से जहाँ एक ओर देश की अधिकांश आवश्यकता की पूर्ति यहाँ की मिलों द्वारा की जाने लगी जबकि दूसरी ओर एशिया व यूरोप के बाजारों में हमारे वस्त्रों के निर्यात बढ़ते चले गये।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही देश का विभाजन हुआ। इसके फलस्वरूप भारतीय क्षेत्र में लगभग ३८० मिलें रहीं। यहाँ यह बता भी देना जरूरी है कि १९४५ व १९४७ के बीच विदेशी बाजारों में कटु स्पर्धा के कारण भारतीय वस्त्रों का निर्यात बहुत कम होगया था इसके अतिरिक्त अव्यवस्था में भी सामान्यरूप से मन्दी का प्रकोप था। फलतः इस अवधि में लगभग २५ मिलों को बन्द कर दिया गया।

लेकिन विभाजन के कारण भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के समक्ष कपास संकट उत्पन्न हो गया। इस संकट का एक कारण तो यह था कि उत्तम कपास का अधिकतम उत्पन्न करने वाला एक बड़ा क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया था। दूसरे खाद्य संकट के कारण देश में कुछ समय तक कपास के उत्पादन को बढ़ाने के लिए कोई विचार नहीं किया गया।

आर्थिक नियोजन में सूती वस्त्र उद्योग

सूती वस्त्र उद्योग एक आधारभूत आवश्यकता की पूर्ति तो करता है पर स्वयं आधारभूत उद्योग नहीं है। इसी कारण १९४८ तथा १९५६ की औद्योगिक नीतियों में इस उद्योग के विकास हेतु सरकार ने स्वयं कोई दायित्व नहीं लिया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से लेकर जब तक सरकार की नीति मिल उद्योग के प्रति तटस्थतापूर्ण तथा खादी तथा हाथ कर्घा

1 Dr Tulsi Ram Sharama Location of Industry in India p. 18
2 D H. Buchana The Development of Capitalist Enterprise in India p. 139

उद्योग के प्रति सहानुभूति पूर्ण रही है। निम्न तालिका तीन पंचवर्षीय योजना काल में सूती वस्त्र उद्योग की प्रगति का विवरण प्रस्तुत करती है :

सूती वस्त्र का उत्पादन[1]

(करोड़ मीटर में)

	मिल क्षेत्र	विकेन्द्रित क्षेत्र (हाथकर्घा तथा शक्तिकर्घा)
१९५१	३७२.७	१०१.३
१९५७	४८६.२	१८१.६
१९६७	४०९.७	३१७.९

१९६८ मे सूतीवस्त्र का उत्पादन अनुमानत ४०० करोड मीटर से कम था। १९६८ मे देश भर मे कुल ६३५ सूती वस्त्र मिलें थी जिनमें तकुओ व कर्घों को प्रस्थापित क्षमता क्रमश. १.७१ करोड तथा २ लाख थी। यह उल्लेखनीय है कि १९५१ मे मिलो की सख्या ३७८, तकुओ की संख्या १.१ करोड तथा कर्घों की संख्या १.९५ लाख थी। सूती वस्त्र मिल उद्योग ९ लाख व्यक्तियो को रोजगार प्रदान करता है जो कुल औद्योगिक श्रमिकों का २०% अनुपात है। कुल औद्योगिक उत्पादन (मूल्य) का १५.४% इस उद्योग से प्राप्त होता है। यही नही व्यापार, परिवहन एव अन्य क्षेत्रो मे भी सूती वस्त्र उद्योग का काफी योगदान रहता है।[2]

परन्तु उपरोक्त तालिका के अनुसार १९५१ मे कुल सूती वस्त्र के उत्पादन मे मिलो द्वारा निर्मित वस्त्र का अनुपात ७८.६% था जो १९६७ मे घटकर ५६.३% रह गया। वस्तुत. पिछली एक दशाब्दी मे सूती वस्त्र उद्योग संकट की स्थिति मे चल रहा है। कपड़े का उत्पादन बढने की अपेक्षा कम होना इस बात का प्रतीक है कि यह उद्योग कुछ ऐसी समस्याओं से पीड़ित है जिनका तुरन्त निदान होना आवश्यक है।

सूती वस्त्र उद्योग की समस्याएँ

(१) रोगी (बन्द) मिलों की समस्या—दिसम्बर १९६८ मे अनुमानतः ९० मिलें बन्द पड़ी थी। इन मिलो के बन्द रहने से लगभग १ लाख श्रमिक (इस उद्योग में संलग्न श्रमिकों का ११% भाग) उस समय बेकार थे। इन मिलो के बन्द रहने का प्रमुख कारण इनकी वित्तीय स्थिति का शोचनीय होना है। साधनो के अभाव मे मिलो के व्यवस्थापकों के पास मिलो को बन्द करने के अतिरिक्त कोई उपाय नही होता। यह उल्लेखनीय है कि इन रोगी मिलो मे लगभग आधी दक्षिण भारत मे केन्द्रित है।

(२) क्षमता का पूर्ण उपयोग न होना—१९६७-६८ मे सूती वस्त्र मिलो मे लगे हुए ७५ लाख कर्घों मे से केवल ५१ लाख कर्घों का उपयोग किया गया। यदि रोगी मिलों मे लगे हुए कर्घों को सम्मिलित नहीं किया जाए तब भी मिलो की क्षमता का १० से १५% तक उपयोग मे नही लाया जाता। साधारणतया इस दिशा मे भी पूंजी का अभाव प्रमुख घटक है। पर इसके अतिरिक्त और भी कारण है जिनका आगे विवरण किया गया है। कुल मिलाकर १९६६-६७ तथा १९६७-६८ मे तकुओ की क्षमता का क्रमश ७५.७% एवं ७७.३% तथा कर्घों की क्षमता का ६८% (दोनो वर्ष) काम में लाया जा सका।

(३) कपास का अभाव—भारत मे कपास की पैदावार काफी कम है। विश्व के कुल कपास-क्षेत्र का २०% भारत मे केन्द्रित होने पर भी उत्पादन का १०% ही भारत मे होता है। विशेषरूप से भारत में अच्छी किस्म की (लम्बे रेशे वाली मर्सराइज्ड) कपास का नितात अभाव है। १९५०-५१ के बाद से प्रतिवर्ष औसतन ६ से ७ लाख गाँठ कपास का हमे आयात करना पड रहा

1. See Rehabilitation of Cotton Mill Industry: article by R. K. M. Ruia in the Commerce Annual Number, 1968.
2. Know Your Cotton Mill Industry : (Pamphlet) pp. 7–9

है। १९६७ में तो ९ ७६ लाख गाँठें बाहर से मंगानी पड़ी। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हमें अपनी कपास सम्बन्धी जरूरत का १०% बाहर से मंगाना ही होता है। यदि मिलो की क्षमता का पूरा उपयोग किया जाय तो यह कमी २०% तक बढ जायगी। इसके लिए कपास के उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ देश मे अच्छी कपास की उत्पत्ति बढाने के प्रयास भी करने होगे।

(४) **बढती हुई लागतो की समस्या** [1] श्री कड़या ने अपने पूर्व उद्धृत लेख मे बताया है कि १९६३ तथा अगस्त, १९६८ के बीच कपास की कीमतें ४८% बढ गई। साथ ही प्रमुख वस्त्र-उत्पादक केन्द्रों मे मजदूरी मे इस प्रकार वृद्धि हुई बम्बई ६१%, अहमदाबाद ६७%, देहली ६४%, कानपुर ५०% तथा मद्रास ४१%। कपास का मूल्य तथा मजदूरी मिलाकर कपडे की लागत का ७१% अंश होता है (सूत की उत्पादन लागत में ८०-८५%)। **इस प्रकार कुल मिलाकर उक्त अवधि में वस्त्रों की उत्पादन लागत ३७% बढी।** जबकि मूल्यों की वृद्धि इस अवधि मे केवल १८% ही हुई।

लागत म वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन कर का भार भी निरन्तर बढ रहा है। अनुमानत. कपडे के मूल्य का २०% उत्पादन कर के रूप मे चुकाना होता है। १९५०-५१ में कपडे तथा सूत पर उत्पादन कर का कुल भार ९ २६ करोड रुपये था, परन्तु १९६८-६९ तक यह बढ कर लगभग ११७ करोड रुपए हो गया। इस प्रकार कर का भार १३ गुना हुआ जबकि उत्पादन-वृद्धि इतनी नही हुई। इस प्रकार मजदूरी, कच्चे माल तथा करो के भुगतान के बाद मिलो को लाभ तभी हो सकता है। जबकि मूल्यों के निर्धारण की छूट उन्हे हो। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा नही है—मूल्यो पर अधिकाशत सरकार का नियन्त्रण है।

यही कारण है कि सूती वस्त्र मिलो के लाभ घटते जा रहे हैं और इनमे अनेक घाटे मे चल रही हैं। रिजर्व बैंक द्वारा कुछ समय पूर्व प्रकाशित विवरण के अनुसार १९६४-६५ मे ४९ सूती वस्त्र मिल कम्पनियाँ घाटे मे चल रही थी परन्तु १९६५-६६ मे घाटे मे चल रही कम्पनियो की सख्या १२३ तक पहुँच गई। यह उल्लेखनीय है कि १९६१-६२ तक ये कम्पनिया लाभ मे थी।

२५६ सूती वस्त्र मिल कम्पनियों की कुल प्राप्ति (बिक्री) १९६१-६२ एव १९६५-६६ के बीच ६११ करोड रुपये से बढकर ९०३ करोड रुपये हो गई, परन्तु करो से पूर्व इनके लाभ (प्राफिट बिफोर टैक्स) ४५ करोड रुपये से घटकर १७ करोड रुपये रह गए। **यह सब बढती हुई लागतों का परिणाम था। १९६६ के बाद से तो स्थिति और भी अधिक खराब हुई है।**

(५) **वस्त्र के मूल्यो पर नियन्त्रण** – पिछले कुछ वर्षों मे सरकार की अविवेकपूर्ण नीति के कारण भी सूती वस्त्र उद्योग की स्थिति काफी खराब हुई है। अक्टूबर, १९६४ मे केन्द्रीय सरकार के वस्त्र आयुक्त तथा अतिरिक्त वस्त्र आयुक्त को सूती वस्त्र की कुछ श्रेणियो पर विशेषकर उच्चकोटि के वस्त्रो पर मूल्य नियन्त्रण लागू करने के अधिकार दिए गए है। ये आदेश मई, १९६८ तक काफी कठोरतापूर्वक लागू किए गए। यह नियन्त्रण सूती वस्त्रो के उत्पादन के ५०% भाग पर लागू किया गया और प्रत्येक मिल के लिए नियन्त्रित वस्त्र के हर थान पर मूल्य छापना आवश्यक कर दिया गया। नियन्त्रण के फलस्वरूप मिलो को अब यह अधिकार नही रहा कि व लागत मे वृद्धि के अनुरूप मूल्य भी बढा सकें और इसी कारण वे निरन्तर घाटे मे चल रही हैं। सौभाग्य से मई, १९६८ के बाद से नियन्त्रण सम्बन्धी आदेश शिथिल कर दिये गये है। फिर भी सरकार की नीति कपडे के मूल्यों पर कठोर नियन्त्रण रखने की है। सूती वस्त्र मिल सघ का दावा है कि १९६३ व अगस्त १९६८ के बीच जहाँ गेहूँ, चावल, घी, दूध, तिल व शक्कर आदि के मूल्यो मे ८० से १००% तक वृद्धि हुई, मिलो द्वारा निर्मित कपडो के मूल्य १८% बढ़े। स्पष्ट है सरकार वस्त्रो के मूल्यो को नियन्त्रित रखना चाहती है पर लागत से इसका सम्बन्ध जोडने को तैयार नही है।[2]

---

1. See the Booklet : Know Your Cotton Mill Industry, Released by the Indian Cotton Mills, Federation, Dec (1986) pp 3-4
2. See the Booklet op cit, p. 6

(६) *यन्त्रों के प्रतिस्थापन एवं नवीकरण की समस्या*—१९५२ में कानूनगो समिति ने बताया था कि उस समय बम्बई की मिलों में ६५% कर्घे तथा ३०% तकुए प्रथम महायुद्ध से पूर्व लगाए गये थे। महाराष्ट्र सरकार द्वारा नियुक्त सूती वस्त्र मिल समिति ने भी हाल में (दिसम्बर, १९६८) प्रस्तुत एक प्रतिवेदन में बताया कि महाराष्ट्र में स्थित ५०% मिलों के यन्त्र १९वीं शताब्दी में खरीदे गए थे और तभी से काम में लिए जा रहे हैं। इन पुराने यन्त्रों के स्थान पर नए यंत्रों का प्रतिस्थापन एक दुष्कर कार्य ही प्रतीत होता है। तृतीय योजना काल में लगभग ३०० करोड़ रुपए के मूल्यों के यन्त्र पुराने यन्त्रों के स्थान पर लगाए जाने थे। पर इनमें से केवल ४६% ही देश में उपलब्ध हो सके। उधर मिलों की स्थिति इतनी अच्छी नहीं है कि वे सन्तोषजनक गति से पुराने यन्त्रों का अल्पकाल में प्रतिस्थापन कर सकें।[1] कुल मिलाकर १९५१ व १९६६ के बीच केवल ५३४ करोड़ रुपये मिलों द्वारा नवीकरण पर व्यय किये गये। अभी कम से कम १,००० करोड़ रुपये के मूल्य के यन्त्रों की आवश्यकता और है जबकि देश में औसत सूती वस्त्र का निर्माण करने वाली मशीनों का उत्पादन घटता जा रहा है। (१९६६ से १८ करोड़ रुपये की मशीनों का उत्पादन हुआ जो १९६७ में १६ करोड़ तथा १९६८ में १२ करोड़ रुपये रह गया।) और इस रफ्तार से हमें सैकड़ों वर्षों में जाकर सभी पुरानी मिलों का नवीकरण कर सकेंगे।

(७) *सूती वस्त्र के निर्यात की समस्या*—अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में मनुष्य द्वारा निर्मित रेशे (सिन्थेटिक्स) के वस्त्र अधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं। यही कारण है कि हम पुराने बाजारों को धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं। दूसरी ओर चीन, जापान, हाँगकाँग, पाकिस्तान सूती वस्त्रों का उत्पादन तेजी से बढ़ा रहे हैं। इन देशों में आधुनिकतम यन्त्रों से सुसज्जित मिलें हैं जिसके कारण उत्पादन लागत बहुत कम हो जाती है। फलस्वरूप विश्व के बाजारों में हम प्रतियोगिता नहीं कर पाते। अनुमानतः १९५० तथा १९६२ के बीच भारत के सूती कपड़े का निर्यात आधा रह गया। निर्यात घटने का एक कारण हमारे देश में सूती वस्त्र की बढ़ती हुई उत्पादन-लागत भी है। निम्न तालिका यह स्पष्ट करती है कि भारत से सूती वस्त्र तथा सूत के निर्यात में क्या प्रवृत्ति रही है :[2]

निर्यात (राशि मिलियन डालर में)

	वस्त्र		सूत	
	मात्रा (मिलियन मीटर	मूल्य	मात्रा (मिलियन किलोग्राम)	मूल्य
१९६०	६३५	११५	६·४	७·८
१९६६	४२४	८०·५	१६ २	१४·०२
१९६७	४०९	७९ २	११·०२	९·९८

स्पष्ट है कि न केवल इनकी मात्रा में पूर्वापेक्षा कमी हुई है अपितु मूल्यों में भी कमी होने के कारण विदेशी विनिमय की दरें घटती जा रही है।

इन समस्याओं के रहते न तो हम सूती वस्त्र उद्योग का विकास ही कर सकेंगे और न ही देश की जनता को पर्याप्त मात्रा में वस्त्रों की सभी प्रकार के उपलब्धि करा सकेंगे। १९५८ में भारत में औसतन १५·२ मीटर (१४·२८ मीटर सूती कपड़ा तथा ०·९ मीटर सिन्थेटिक (नाइलॉन टेरीलिन) वस्त्र प्रति व्यक्ति उपलब्ध था। परन्तु १९६७ तक यह औसत घटकर १५ मीटर रह गया (सूती कपड़ा १३·३७ मीटर)। प्रगतिशील देश में आर्थिक विकास के साथ-साथ उपभोग की मात्रा में वृद्धि होना भी आवश्यक है।

सूती वस्त्र उद्योग के प्रति राज्य की नीति

यह पहले ही बताया जा चुका है कि स्वतन्त्रता के बाद से ही भारत सरकार ने यह मान लिया था कि सूती वस्त्र उद्योग स्वमेव विकास करने में सक्षम है और इसीलिए मिल उद्योग

1. Economic Times, Dec. 14, 1968
2. See Article by Arvind Lalbhai (Commerce Annual, 1968)

की स्थिति में सुधार हेतु राज्य ने कोई निश्चित कार्यक्रम निर्धारित नही किया। परन्तु इस उद्योग की बढती हुई समस्याओ से आकृष्ट होकर कुछ समितियो का गठन किया गया था। हम पहले इन समितियों की सिफारिशो का विवरण प्रस्तुत करेंगे और फिर उन पर आधारित राज्य की नीति की आलोचनात्मक समीक्षा।

सूती वस्त्र उद्योग की प्रगति के हेतु विभिन्न समितियों की स्थापना तथा उनके द्वारा दिए गए सुझाव :

(१) **कानूनगो समिति**—कानूनगो समिति की नियुक्ति १९६२ में हो गई थी, लेकिन इसने अपनी रिपोर्ट सितम्बर, १९५४ मे प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट म सूती वस्त्र उद्योग के विकास हेतु निम्न सुझाव प्रस्तुत किये गए -

(i) भविष्य मे अतिरिक्त कपडे के उत्पादन हेतु हाथकर्घा तथा शक्तिचालित कर्घा उद्योगो को प्राथमिकता दी जाय तथा मिलो मे बुनाई क्षेत्र का विस्तार रोक दिया जाए।

(ii) प्रतिवर्ष साधारण कर्घों के स्थान पर ५,००० स्वचालित कर्घों का प्रतिस्थापन किया जाए। यह क्रम बीस वर्ष तक चलना चाहिए।

(iii) बारह लाख क्रियाशील हाथकर्घों को, कार्यकुशलता में वृद्धि करने की दृष्टि से, अर्ध-स्वचालित कर्घों मे बदल लेना चाहिए।

इसी प्रकार की चर्चा करते हुए डॉक्टर तुलसीराम ने जापान का उद्धरण १९४६ में प्रकाशित एक पुस्तक म कहा था कि जापान के सूती वस्त्र उद्योग की प्रगति का मुख्य रहस्य यह है कि वहाँ अत्यन्त छोटे पैमाने की वस्त्र निर्माता सस्थाएँ अधिक हैं तथा ९९ प्रतिशत हाथकर्घों को वहाँ १९२३ व १९२४ के बीच शक्तिचालित कर्घों मे बदल दिया गया।[1] लेकिन कानूनगो समिति का यह सुझाव उस समय तक व्यावहारिक नही है जब तक कि भारत मे पर्याप्त मात्रा मे सस्ती विद्युत शक्ति की उपलब्धि नही हो जाती।

मई १९५८ मे सरकार ने श्री डी० ए० रमन की अध्यक्षता मे एक और समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने सूती वस्त्र उद्योग के विकास हेतु निम्न सुझाव दिए

(i) कपडे पर उत्पादन-कर काफी घटाया जाय।

(ii) उद्योग के आधुनिकीकरण की गति धीमी होनी चाहिए, ताकि एकदम से बेकारो की सख्या अधिक न हो सके।

(iii) सूती वस्त्र के निर्यात हेतु ३ हजार स्वचालित कर्घों की स्थापना की जाय। मिलो के निर्यात मे भी वृद्धि की जाय।

सरकार ने उक्त कमेटी की सिफारिशो को मानकर जुलाई, १९५८ मे उत्पादन-कर म कटौती की। इसके अलावा तृतीय योजना-काल मे हाथकर्घा और शक्तिचालित कर्घा उद्योग को मिल उद्योग की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

(२) **जोशी समिति**—दिसम्बर, १९६३ म तत्कालीन वाणिज्य सचिव श्री जोशी की अध्यक्षता मे एक और समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने केवल निर्यात हेतु विशिष्ट प्रकार के वस्त्रो के निर्माण को प्रोत्साहन देने का सुझाव दिया। जोशी कमेटी ने बताया कि २८७ मिश्रित मिलो म से केवल ४८ निर्यात योग्य वस्त्र बनाती है। जोशी समिति ने यह भी कहा कि मिलो के मालिक वस्त्रो के निर्यात बढाने हेतु कोई प्रयास नही करते। समिति ने बताया कि सयुक्त राज्य अमरीका तथा यूरोप के देशो म पोपलीन, शर्टिंग तथा ड्रेस मैटीरियल की बहुत माँग है तथा थोडे से प्रयास द्वारा हम इन बाजारो पर अधिकार कर सकते हैं।

(३) **मनुभाई शाह समिति**—१९६८ में भूतपूर्व वाणिज्य मन्त्री श्री मनुभाई शाह को सूती वस्त्र उद्योग के पुनर्गठन हेतु सुझाव देने को आमन्त्रित किया गया। मनुभाई शाह कमेटी ने

1. Dr Tulsi Ram Sharma op cit. pp 242-45

सूती वस्त्र मिलो, विशेष रूप से गुजरात की मिलो का अध्ययन करने के बाद फरवरी १९६९ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस कमेटी ने बताया कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण दिसम्बर, १९६८ मे ९० मिलें बन्द पड़ी थी तथा फलस्वरूप १ लाख मजदूर बेरोजगार बैठे थे। कमेटी ने भारत सरकार से अनुरोध किया कि वह एक विलीनीकरण आयोग (Merger Commission) की नियुक्ति करे जिसका कार्य कमजोर मिलो को सुदृढ़ स्थिति वाली मिलों में विलीन करना हो। इसके लिए आवश्यक कानून बनाने की आवश्यकता पर समिति ने बल दिया। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि मुख्य कम्पनी (Holding Company) को कमजोर मिलो का संचालन करने के बदले करों में छूट मिलनी चाहिए।

भारत सरकार ने मनुभाई शाह की सिफारिश को मानकर १९६९-७० के बजट में आवश्यक कदम उठाए, जिनका आगे वर्णन किया जायगा।

सरकार ने सूती वस्त्र उद्योग की समस्याओ की गम्भीरता को काफी समय तक नही समझा और फलस्वरूप स्थिति बिगड़ती चली गई। पिछले तीन-चार वर्षो मे सरकार ने इस दिशा मे कुछ अनुकूल कदम उठाए है।

कपास की कमी को पूरा करने के लिए उठाये गये कदम

कपास की कमी को पूरा करने के लिए १९६६ से आयातित कपास की प्राप्ति एवं वितरण का एकाधिकार राज्य व्यापार निगम को सौप दिया। कुछ समय तक राज्य के आग्रह पर मिलो ने वर्ष मे १५ दिनो की छुट्टी के अतिरिक्त सप्ताह मे एक अतिरिक्त छुट्टी रखी ताकि कपास की माँग कम हो जाय। मिलो को यह भी कहा गया कि वे आवश्यकता से अधिक कपास का स्टाक न रखें, परन्तु सितम्बर १९६७ से स्थिति मे सुधार होने के कारण ये सब पाबन्दियाँ हटा ली गई।

कपास के उत्पादन को बढ़ाने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा महाराष्ट्र, पजाब व गुजरात मे पैकेज प्रोग्राम बनाया गया है। जहाँ उपज शीघ्र हो सकती है वहाँ सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ दी जा रही हैं। १९६६-६७ तथा १९६७-६८ मे क्रमश ५ लाख हैक्टर तथा ८ लाख हैक्टर क्षेत्र मे पैकेज प्रोग्राम के अन्तर्गत कपास का उत्पादन बढाने के प्रयास किए गये।

मिलों के नवीकरण तथा कमजोर मिलो से सम्बद्ध समस्याओ के हल हेतु पिछले दो-तीन वर्षों से मिलों द्वारा विकास-छूट (Development Rebate) की माँग की जा रही थी। १९६९-७० के बजट मे मध्यम तथा मोटे कपड़े पर उत्पादन कर में छूट दी गई है। परन्तु दूसरी ओर ऊँची क्वालिटी (फाइन एवं सुपर फाइन) के वस्त्रो पर उत्पादन कर बढ़ाया गया है। उत्पादन करों की इस वृद्धि से किसी सीमा तक प्रतिकूल प्रभाव होने की ही आशंका है।

लेकिन वर्तमान सत्र के बजट मे सूती वस्त्र व जूट मिलो को आयकर मे विकास छूट दी गई है। इन दोनों उद्योगो को प्राथमिकता प्राप्त उद्योग मानते हुए नए यन्त्रो के लगाने पर घिसावट कोष के अतिरिक्त यन्त्रो के मूल्य का ३५% छूट के रूप मे माना जाएगा। यह छूट ३१ मार्च, १९७० तक लगाए गए नए यन्त्रो पर ही लागू रहेगी।

कमजोर तथा बन्द मिलो की समस्या के समाधान हेतु सरकार ने राष्ट्रीय वस्त्र निगम की १९६८ में स्थापना की है। यह निगम रोगी मिलो का या तो स्वयं संचालन करेगा अथवा इनके पुनर्स्थापन हेतु सहायता देगा। १९६८ के अन्त तक ६ बन्द मिलो को वस्त्र निगम ने अपने नियन्त्रण मे ले लिया था।

परन्तु समस्या की गम्भीरता को देखते हुए सरकार का दृष्टिकोण सूती वस्त्र मिलों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नही है। वर्तमान सत्र के बजट में भी जो छूट हाथ करघा उद्योग को दी गई उसकी तुलना मे मिलो को दी गयी छूट नगण्य है। एक ओर सरकार विकेन्द्रित क्षेत्र को प्रोत्साहन देती है तो दूसरी ओर मिलों की समस्याओ के समाधान हेतु नाम मात्र को छूट देती है। यह हमे नही भूलना चाहिए कि सूती वस्त्र मिलें सरकार को प्रत्यक्ष व परोक्ष करो के रूप मे से लगभग १०० करोड़ रुपए देती हैं और ७० से ८० करोड रुपए का विदेशी विनिमय उपलब्ध कराती है। इन मिलो पर लगभग ५ लाख मजदूरो का भाग्य निर्भर है। इन सब बातो को दृष्टिगत रखते हुए

केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि सूती वस्त्र मिलो के प्रति अपने दृष्टिकोण को और अधिक उदार बनाए।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे सूती वस्त्र उद्योग का विकास (१९६९-७४)

चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सूती वस्त्र उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है। उद्योग के आधुनिकीरण के लिए जिसकी आज सबसे अधिक आवश्यकता है, पर्याप्त धन की व्यवस्था की गयी है। राष्ट्रीय वस्त्र निगम भी वस्त्र मिलो को आर्थिक सहायता प्रदान करेगा। चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे सूती वस्त्र उद्योग से सम्बन्धित निम्न उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं

मद का नाम	इकाई	१९६० ६१ में उत्पादन (द्वितीय योजना काल में)	१९६५-६६ में उत्पादन तृतीय योजना काल में	१९६८ ६९ में उत्पादन	चतुर्थ योजना (१९६९ ७४) के उत्पादन लक्ष्य
१ सूती वस्त्र यन्त्र	करोड रु० मे	१० ४	२१ ६	१७ ८	४५ ०
२ सूत	करोड किलो मे	८० १	९० ७	९५ ०	११५ ०
३ सूती वस्त्र (मिल क्षेत्र)	करोड मीटर मे	४६४ ९	४४० १	४४० ०	५१० ०

२. भारत का जूट उद्योग

भारत में जूट उद्योग का महत्त्व

जूट उद्योग भारत का विदेशी विनिमय प्राप्ति की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग है। यद्यपि पिछले १८ वर्षों मे हमने इजीनियरिंग तथा भारी उद्योगो का काफी विकास किया है तथा आज इजीनियरिंग व इस्पात की वस्तुओ का काफी मात्रा में निर्यात किया जा रहा है, फिर भी जूट की वस्तुओ का निर्यात व्यापार मे सर्वोपरि स्थान है। १९६७-६८ मे भारत से लगभग १,२०० करोड रुपए की वस्तुओ का निर्यात किया गया था जिसमे से जूट की वस्तुओं का अनुपात १९ ५% था।

जूट उद्योग का प्रारम्भ—जूट के रेशे की खेती भारत मे कब से की जाती है यह कहना सम्भव नहीं है। इन रेशो से पूर्वी भारत के लोग गांवो मे अपनी जरूरत की चीजें बनाया करते थे। परन्तु आधुनिक ढग से जूट की वस्तुओ का निर्माण १९वी शताब्दी मे ही प्रारम्भ हुआ। पहले यह उद्योग इगलैण्ड मे प्रारम्भ किया गया और इसके लिए भारत से कच्ची जूट का निर्यात किया जाने लगा।

१८३८ मे डडी मे (इगलैण्ड) जूट की वस्तुएँ बनाने के लिए एक कारखाना खोला गया था। इन्ही दिनो क्रीमियन युद्ध प्रारम्भ हो गया तथा इगलैण्ड के उद्योगपतियो को रूस से सन तथा फ्लैक्स मिलना बन्द हो गया। फलस्वरूप भारतीय जूट की इग्लैंड मे माग बढने लगी और जूट का निर्यात बढता रहा। सन् १८४९ मे भारत ने ७० हजार स्टर्लिंग पौंड की जूट बाहर भेजी थी परन्तु तीस वर्ष के भीतर यह राशि ५५ गुनी हो गई।[1]

लेकिन १८५४ के पश्चात जब रानीगज क्षेत्र के कोयले का उपयोग ईस्ट इण्डिया रेलवे द्वारा किया जाने लगा और बगाल मे ईंधन की समस्या हल हो गई तो कुछ अंग्रेज उद्यमियो ने भारत मे ही बडे पैमाने पर जूट का रेशा तथा जूट की वस्तुएँ बनाने का निश्चय किया। १८५५ मे

1 Ramesh Dutt India in the Victorian Age, pp 162, 347 and 533

सिरामपुर (बंगाल) के समीप रिश्रा नामक स्थान पर जार्ज ऑकलैंड ने डण्डी से लाई गई मशीनो द्वारा जूट का रेशा बड़े पैमाने पर बनाना प्रारम्भ किया। इसके बाद कुछ और भी जूट मिलो की स्थापना की गई। परन्तु भारत मे निर्यात जूट के थैलो का उपयोग प्रधानत. बर्मा में उत्पन्न चावल को रखने के लिए किया जाता था और इनकी किस्म डण्डी मे बने हुए थैलो से हल्की होने के कारण देश तथा विदेशो मे इनकी माँग नही बढ सकी थी।

लेकिन जूट की वस्तुओं के बढते हुए उत्पादन ने भारतीय उद्योगपतियो व डण्डी के जूट की वस्तुओ के निर्माताओं के बीच एक तीव्र स्पर्धा की स्थिति उत्पन्न कर दी। फलस्वरूप उद्योग-पतियो ने १८८६ मे एक जूट मिल एसोसिएशन प्रारम्भ किया जिसका उद्देश्य भारतीय जूट निर्माताओ में सहकारिता की भावना जाग्रत करना तथा संगठित रूप से कार्य करने की प्रेरणा देना था। इस एसोसिएशन की स्थापना ने एक नई स्फूर्ति का सृजन किया और जूट मिलो की संख्या मे तेजी से वृद्धि होती गई।

बीसवी शताब्दी मे भी जूट-उद्योग की प्रगति का क्रम जारी रहा। वीरा एन्स्टे के कथना-नुसार १९०८ तक भारतीय जूट मिलो का उत्पादन डण्डी की मिलों के उत्पादन से काफी अधिक हो गया था।[1] इसी अवधि मे कच्चे जूट का निर्यात लगभग ५९% बढा।

बीसवीं शताब्दी में भारतीय जूट-उद्योग—उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक जो भी जूट उद्योग का विकास हुआ उसकी विशेषता यह थी कि इसमे प्रबन्ध एवं विनियोग केवल विदेशी लोगो द्वारा किया गया। यह प्रवृत्ति बीसवी शताब्दी मे भी काफी समय तक चलती रही तथा जैसाकि भारतीय उद्योग आयोग (१९१६) ने अपनी रिपोर्ट मे बताया, प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक किसी बंगाली या भारतीय पूँजीपति ने जूट उद्योग मे पूँजी लगाने का साहस नही किया और न ही विदेशी मिल-मालिको ने उन्हे जूट मिलो का प्रबन्ध करने का अवसर प्रदान किया।[2]

फिर भी विदेशी पूँजीपतियो के उद्यम एवं साहस के कारण भारतीय जूट की वस्तुओ का विदेशी बाजार विस्तृत होता चला गया और फलस्वरूप जूट उद्योग की प्रगति निरन्तर होती रही। श्रीमती वीरा एन्स्टे के मत मे १९०० व १९१३ के बीच मिलो की संख्या ३६ से बढकर ६४ हो गई। जूट उद्योग मे प्रयुक्त पूँजी की मात्रा इस अवधि मे लगभग दो गुनी हो गई थी। इस अवधि मे जूट की वस्तुओ के निर्यात ढाई गुने हो गए।

बीसवी शताब्दी में एक ओर नवीन प्रवृत्ति आरम्भ हुई जो जूट उद्योग के लिए लाभप्रद सिद्ध हुई। १९०३ ४ तक जूट (कच्ची) व जूट-पदार्थों के कुल निर्यात मे कच्ची जूट का अनुपात ६०% से ६५% तक रहता था, लेकिन प्रथम महायुद्ध काल मे जूट की बनी हुई वस्तुओ का अनुपात (कुल जूट व जूट पदार्थो के निर्यात मे) ७७% हो गया जबकि कच्ची जूट का अनुपात घटकर केवल २३% रह गया।[3]

युद्ध के पश्चात् कुछ समय तक जूट उद्योग की प्रगति का क्रम चला लेकिन उसके बाद अन्य उद्योगों की भाँति ही मंदी का प्रकोप प्रारम्भ हो गया। डा० तुलसीराम के मतानुसार एक और कठिनाई इसी समय जूट उद्योग के समक्ष उपस्थित हुई और वह थी विदेशी व्यापारियो द्वारा असहयोग की। इस कठिनाई के अतिरिक्त देश तथा विदेश के बैंक भी भारतीय एव यूरोपियन व्यापारियों के बीच भेद-भाव की नीति बरतते थे। एक आश्चर्य की बात और थी और वह यह थी कि यद्यपि जूट कम्पनियो मे प्रथम महायुद्ध के अन्त तक ६०% पूँजी भारतीय व्यापारियो ने लगाई थी, पर इसके बावजूद यूरोप के व्यापारी भारतीय दलालो की अपेक्षा यूरोपियन दलालो से ही जूट तथा जूट की वस्तुएँ खरीदते थे, चाहे उन्हे इसके लिए आठ आना प्रति मन अधिक ही क्यों न देना पड़ता हो।

---

1. Vera Anstey Economic Dev. of India p 230
2. Ibid Table XIV B and XVIII
3. Ibid, p. 626

इनके अतिरिक्त प्रथम महायुद्ध के बाद विशेष रूप से २९२३ के बाद में १९३७ तक जूट उद्योग के समक्ष कुछ और भी समस्याएँ थी जैसे जूट की अनियमित पूर्ति तथा श्रमिकों का बढ़ता हुआ असन्तोष। १९२९ से १९३३ तक विश्वव्यापी मन्दी ने भी भारतीय जूट उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव डाले। परन्तु ये सभी समस्याएँ १९३७ तक समाप्त हो चुकी थी।

द्वितीय महायुद्ध एवं जूट उद्योग—मन्दी से कुछ समय पूर्व से ही जूट के स्थान पर अन्य वस्तु का प्रयोग करने के प्रयास प्रारम्भ हो गये थे। यही नहीं, जैसाकि ऊपर दिये गये जूट के निर्यात-सम्बन्धी आंकडो से ज्ञात होता है, १९३०-३१ के बाद से जर्मनी, फ्रास व इटली आदि देशो मे भी जूट मिलें स्थापित हो गई थी और भारत से अच्छी किस्म की जूट व जूट के रेशे का इन देशो को निर्यात कर दिया जाता था। कुछ अन्य देशो मे सिंथेटिक रेशे से पैकिंग की वस्तुओ का निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

इसी वर्ष प्रकाशित एक रिपोर्ट मे बताया गया कि भारत का जो एकाधिकार कभी जूट की वस्तुओ के निर्माण मे रहा था वह समाप्त हो गया था और १८३८-३९ मे में विश्व के कुल कर्घों का केवल ५७% भाग भारत मे था।[1]

फलस्वरूप बगाल सरकार के निर्देशन मे १९४० मे बगाल जूट जाच समिति की नियुक्ति की जिसने भारतीय जूट मिलो के प्रबन्धको को एक नया दृष्टिकोण अपनाने तथा चार नये उपयोगो हेतु जूट की वस्तुएं बनाने का सुझाव दिया। ये उपयोग उपरोक्त समिति के मतानुसार इस प्रकार थे :[2]

(i) **घरेलू उपयोग**—दरियां, फर्श, प्लास्टिक, फर्नीचर व पर्दों तथा कम्बलो आदि का निमाण,

(ii) **यातायात**—कार की गद्दियो, वाटरप्रूफ चादरो, तालपत्रिया, केनवास, आग, पानी व चूहा-निरोधक वस्तुओ तथा रस्सियों का निर्माण,

(iii) **उद्योग**—विद्युत् प्रवाह नियत्रण आदि के लिए, तथा

(iv) मर्सराइज्ड तथा ब्लीच किए हुए कपडो का ऊन तथा सूत के मिश्रण से निर्माण।

उपरोक्त सिफारिशो को मानते हुए जूट मिलो ने अनेक नई वस्तुओ का निर्माण प्रारम्भ किया जिनमें जूट के कम्बल, रस्सियां, फर्श तथा कालीन और वस्त्र थे। फलस्वरूप विदेशी बाजारो मे भारतीय जूट की वस्तुओ का निर्यात कम होने के बावजूद देश मे इन वस्तुओ की लोकप्रियता तेजी से बढती गई।

विभाजन का जूट उद्योग पर प्रभाव—विभाजन के परिणामस्वरूप अधिकाश जूट मिले तो भारत मे रह गई, क्योंकि इन मिलो का केन्द्रीयकरण हुगली के किनारे हुआ था, जबकि अधिकाश जूट उत्पादन क्षेत्र पाकिस्तान मे चला गया। प्रो० वकील के मतानुसार भारतीय मिलो तथा गाँवों मे उपयोग हेतु प्रतिवर्ष ६१ ५ लाख जूट की आवश्यकता थी जिसके अतिरिक्त ९ लाख गांठ जूट की आवश्यकता निर्यात के लिए थी। परन्तु विभाजन के पश्चात् ८०% जूट उत्पादक क्षेत्र तथा जूट की उपज का लगभग ७८% पाकिस्तान मे चला गया।[3] भारतीय मिलो को सकट से बचाने के लिए मई १९४८ मे भारत ने ५० लाख गाँठ जूट प्रतिवर्ष पाकिस्तान से खरीदने का निश्चय किया। इसी बीच पाकिस्तान की सरकार ने जूट के निर्यात पर कर लगा दिया और इससे भारतीय जूट मिलो को काफी हानि उठानी पडी और लगभग १२½% टाट बनाने वाले कर्घे बन्द कर दिए गए। १९४७-४८ मे भारतीय मिलो ने लगभग ४९ लाख गाँठ पाकिस्तानी जूट का उपयोग किया लेकिन धीरे-धीरे भारत मे जूट का उत्पादन बढता गया और भारतीय मिलों

---

1 Report on the Marketing of Jute and Jute Products (1940), p 19
ये रिपोर्ट नियमित रूप से केन्द्रीय बिक्री सलाहकार द्वारा विभिन्न वस्तुओ के विषय मे प्रकाशित की जाती थी।

2. Report of the Bengal Jute Enquiry Committee (1940), p. 17

3. C. N Vakil : Economic Consequences of Divided India p. 263

की पाकिस्तान पर निर्भरता कम होती गई। १९४७-४८ मे कुल जूट की आवश्यकता का ८०% पाकिस्तान से मँगाया गया था, लेकिन १९४८-४९ मे यह अनुपात घटकर ५२% रह गया।

लेकिन विभाजन के फलस्वरूप एक प्रतिकूल परिणाम तो यह हुआ कि टाट व जूट के कपड़ों का उत्पादन काफी घटाना पड़ा, जबकि थैलो व बोरियो का उत्पादन अधिक नही घटा।

आर्थिक नियोजन तथा जूट उद्योग—प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे जूट उद्योग की क्षमता (१२ लाख टन तैयार वस्तुएं) का पूरा-पूरा उपयोग करने का निश्चय किया गया था लेकिन योजना की समाप्ति तक जूट की वस्तुओं का कुल उत्पादन ११·५ लाख टन ही हो सका। इसी प्रकार कच्चे जूट का उत्पादन भी लक्ष्य (५१ लाख गांठे) से बहुत कम (४५ लाख गाँठें) रहा।

मार्च १९५१ में यद्यपि सरकार ने जूट व जूट की वस्तुओं पर से नियंत्रण हटा दिया था, फिर भी निर्यात मे वृद्धि नही हो सकी। केवल कोरिया युद्ध के समय १९५१-५२ में २७० करोड़ रुपए के मूल्य की जूट की वस्तुओ का निर्यात किया गया।

१९५३ मे जूट उद्योग के सम्बन्ध मे एक आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे निम्न बातें बताई :

(i) जूट की वस्तुओ का वास्तविक उत्पादन मिलो की क्षमता की तुलना मे बहुत कम है, अत. नई मिलों की स्थापना की अपेक्षा मौजूदा क्षमता का पूरा उपयोग किया जाय।

(ii) जूट की वस्तुओ की मात्रा बढाने के साथ-साथ क्वालिटी में सुधार हेतु भी आवश्यक कदम उठाए जाएँ।

(iii) कच्ची जूट का निर्यात बन्द किया जाय।

(iv) जूट उद्योग के विकास हेतु एक परिषद की नियुक्ति की जाय जिसमे उद्योगपतियों व सरकार दोनो के प्रतिनिधि हो।

(v) जूट मिलो के नवीकरण हेतु आवश्यक कदम उठाये जाएँ।

(vi) जूट की पूर्ति बढाने हेतु गहरी खेती की जाय तथा जूट उत्पादको के लिए न्यूनतम मूल्य निर्धारित किए जाएं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में भी जूट उद्योग का आशानुरूप विकास नही किया जा सका। अवधि मे जूट मिलो की विद्यमान क्षमता (१२ लाख टन) का पूरा उपयोग करने का लक्ष्य रखा गया। परन्तु १९५५-५६ तथा १९६०-६१ के बीच जूट की वस्तुओ का उत्पादन १०·२७ लाख टन से घटकर १०·२२ लाख टन रह गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भी जूट मिलो की क्षमता मे नाममात्र की वृद्धि करने का निर्णय लिया गया। जूट की वस्तुओ का उत्पादन १९६५-६६ तक १३ लाख टन तक बढ़ाने का लक्ष्य था जो १९६३-६४ में ही पूरा हो गया। १९६४-६५ मे जूट की वस्तुओ का उत्पादन १४ लाख टन से भी अधिक था परन्तु उसके बाद इस स्तर पर हम पुन· नही पहुँच सके है। पिछले चार वर्षों मे जूट की वस्तुओं का उत्पादन इस प्रकार है

जूट की वस्तुओ का उत्पादन (लाख टन मे)

१९६५-६६	१३·५
१९६६-६७	११·१
१९६७-६८	११ ६
१९६८-६९	१३ ०

इस प्रकार १९६४-६५ तथा १९६७-६८ के बीच जूट की वस्तुओ का उत्पादन लगभग १९% घट गया।

जूट उद्योग की वर्तमान स्थिति एवं समस्याएं :

अप्रैल, १९६७ मे कुल जूट मिलो की सख्या ८३ थी जिनमे ७५,२६५ करघे लगे हुए थे। अनुमानतः विश्व मे विद्यमान कुल उत्पादन क्षमता का लगभग ५७% उस समय भारत मे केन्द्रित

था।[1] बीस वर्ष पूर्व विश्व की क्षमता का ⅘ से अधिक भारत में था। इसका अर्थ यह हुआ कि विश्व जूट उद्योग के मानचित्र मे भारत का एकाधिकार धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। फिर भी इतने पर भी जूट उद्योग हमारे लिए विदेशी विनिमय प्राप्ति की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्योग है। १९६७-६८ में जूट की वस्तुओं के निर्यात से हमे २३४ करोड रुपए प्राप्त हुए। परन्तु जूट उद्योग जिस स्थिति से आज गुजर रहा है वह निराशाजनक है और यदि इन समस्याओ का तुरन्त समाधान नही किया गया तो इस उद्योग का पराभव अवश्यम्भावी है।

(१) कच्चे माल का अभाव—जूट का अभाव देश मे विभाजन के बाद से ही अनुभव किया जा रहा है। प्रथम योजनाकाल में जूट का उत्पादन ५१ लाख गाँठ तक बढाने का लक्ष्य था पर वास्तविक उत्पादन ४२ लाख गाँठ ही हो सका। इसी प्रकार द्वितीय योजना के अन्त तक जूट की मांग ७२ लाख गाँठ की थी परन्तु वास्तविक उत्पादन ४० लाख गाँठ ही रहा। यह अभाव तृतीय योजनाकाल मे भी रहा तथा जूट का उत्पादन (४५ लाख गाँठ) लक्ष्य (६२ लाख गाँठ) से काफी कम रहा।

जूट की कमी को द्वितीय योजनाकाल से मेस्ता की उपलब्धि को बढाकर पूरा करने का प्रयास किया जा रहा है। लगभग ११ लाख गाँठ मेस्ता प्रतिवर्ष पिछले कुछ वर्षों से देश में उत्पन्न हो रहा है। फिर भी काफी मात्रा में हमें कच्चे माल के अभाव को आयात द्वारा पूरा करना पड रहा है। १९५० से अब तक औसतन २०-२२ करोड रुपए हमें जूट के आयात पर खर्च करने पड रहे हैं। १९६७-६८ मे जूट तथा मेस्ता की कुल मांग ६७ लाख गाँठ तथा १९६८-६९ मे ७६ लाख गाँठ अनुमानित की गई थी। वास्तविक उपलब्धि ५२ तथा ५३ लाख गाँठ ही हो सकी।[2]

(२) नवीकरण—भारत की अधिकाश जूट मिलें प्रथम महायुद्ध काल में स्थापित की गई थीं और तबसे इनका आधुनिकीकरण नही हो सका है। दूसरी ओर पाकिस्तान व ब्राजील आदि देशो में आधुनिक ढग पर जूट मिलो की स्थापना की गई है। नए यन्त्र होने के कारण इन देशो मे जूट की वस्तुओ की उत्पादन लागत कम आती है जबकि भारत मे बहुत से यन्त्र पुराने होने के कारण काम मे ही नही लाए जा सकते।

(३) निर्यात बढाने की समस्या[3]—यद्यपि १९६७-६८ मे जूट की वस्तुओ से हमें २३४ करोड रुपए की विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई थी, फिर भी जूट की वस्तुओं के निर्यात मे भारत की एकाधिकारिक स्थिति अब समाप्त हो रही है। १९५७ व १९६७ के बीच विश्व के कुल निर्यात (जूट की वस्तुओ का) में जहां भारत का अंश ८३% से घटकर ६०% रह गया, वहीं इस अवधि मे पाकिस्तान का अंश ७% से बढकर ३०% हो गया। जूट की वस्तुओ का कुल निर्यात भारत से १९६५ व १९६६ मे क्रमश ९ २ लाख टन तथा ७ ५ लाख टन हुआ था। विशेषरूप से सैकिंग की दृष्टि से दोनो देशो के निर्यात इस प्रकार रहे -

(जूट की वस्तुओं-सैकिंग का निर्यात)

(हजार टन मे)

	भारत	पाकिस्तान
१९५७	४३०	६०
१९६७	१६३	२३०
१९६८	८४	N A

इस प्रकार १९६७ मे मात्रा की दृष्टि से पाकिस्तान से भारत की अपेक्षा अधिक जूट

1. See "Jute, The Golden Fibre" article by Manubhai Shah, The Eastern Economist May 5, 1967

2. वास्तविक उपलब्धि मे गत वर्षो के बकाया स्टॉक को जोडा तथा आगामी वर्षो के लिए रखा गया स्टॉक घटाया जाता है।

3 See Jute Industry's Future Problems & Prospects—article by K S Ramaswami (Times of India—January 30, 1969)

सैंकिग का निर्यात हुआ। परन्तु फिर भी भारतीय सैंकिग की क्वालिटी श्रेष्ठ होने के कारण हमें अधिक मूल्य प्राप्त हुआ।

पर यह स्थिति बहुत अधिक समय तक नहीं चल सकेगी। पाकिस्तान ने सैंकिग के अतिरिक्त हैसियन तथा कालीन के सामानो का भी निर्यात प्रारम्भ कर दिया है तथा साथ ही क्वालिटी में भी सुधार किए जा रहे हैं।

(४) **कृत्रिम पैंकिग वस्तुओं से स्पर्धा**—जूट की वस्तुओं का उपयोग अधिकाशतः पैंकिग के लिए किया जाता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, द्वितीय महायुद्ध काल से ही सिथेटिक्स का उपयोग विकसित देशों मे प्रारम्भ हो गया था। पिछले कुछ वर्षों मे सिन्थेटिक पैंकिग का प्रयोग और अधिक लोकप्रिय हुआ है। पोलीप्रॉपोलिन या पोलीथलीन का उपयोग सहज रूप में सैंकिग के स्थान पर किया जा सकता है। मूल्य तथा क्वालिटी दोनों की दृष्टि से ये जूट की वस्तुओ से श्रेष्ठ पाई गई हैं। यहाँ तक कि सैन्य उपयोगो (रेत के बोरो के रूप मे) में भी अमरीका आदि देशो मे सिन्थेटिक्स का उपयोग तेजी से बढ रहा है।[1]

(५) **भारत सरकार की तटस्थतापूर्ण नीति**—सबसे बडे आश्चर्य की बात तो यह है कि सर्वाधिक विदेशी मुद्रा अर्जित करने वाले इस उद्योग के प्रति भारत सरकार का दृष्टिकोण तटस्थतापूर्ण है। जहाँ पाकिस्तान सरकार निर्यातकर्ताओं को कुल निर्यात के मूल्य का ५०% अनुदान बोनस वाउचर के रूप मे दे देती है, भारत सरकार हैसियन तथा सैंकिग के निर्यात पर कर वसूल करती है। कुल मिलाकर भारतीय जूट की वस्तुओ के निर्यात पर १५% निर्यात करते है। यही कारण है कि पाकिस्तान का जूट उद्योग भारतीय जूट उद्योग का अधिक तेजी से विकास कर रहा है। १९६४ मे पाकिस्तान मे केवल ४,००० कर्घे जूट उद्योग मे थे और १९६८ तक यह संख्या २८,००० कर्घे तक बढ गई। (इकोनॉमिक टाइम्स, १५ मार्च १९६९)

(६) **अतिरिक्त क्षमता तथा बन्द मिलों की समस्या**[2] - कच्चे माल तथा वित्तीय साधनो के अभाव मे इस समय (दिसम्बर, १९६८) केवल ६५ जूट मिलें उत्पादन कर रही हैं और १८ जूट मिलें बन्द पडी है। १९६६-६७ मे जूट मिलो की कुल उत्पादन क्षमता का लगभग ९१·७% उपयोग मे लिया गया, परन्तु १९६७-६८ मे यह अनुपात घटकर ७७·३% ही रह गया। इस प्रकार जूट उद्योग मे आज पर्याप्त अतिरिक्त अथवा अप्रयुक्त क्षमता है।

(७) **जूट मिलों की शोचनीय आर्थिक स्थिति**—यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतीय जूट उद्योग प्रधानतः निर्यात पर निर्भर करता है। निर्यात के क्षेत्र मे इस उद्योग के समक्ष विद्यमान संकट की हम व्याख्या कर चुके हैं। दूसरी तरफ करो का भार निरन्तर बढ़ रहा है। उदाहरण के लिए यद्यपि १९६४-६५ की अपेक्षा १९६७-६८ मे जूट की वस्तुओ का उत्पादन १९% कम था, तथापि उत्पादन करो के रूप मे जूट उद्योग ने सरकार को ५०% अधिक आय दी। कुल मिलाकर मिलो के लाभ कम होते जा रहे हैं, यह इसी से स्पष्ट है कि जहाँ सभी उद्योगो का औसत लाभ १९६४-६५ में (करो को चुकाने के बाद) ९·२% था। जूट उद्योग का लाभ २·६% ही था। १९६७-६८ में केवल निर्यात व्यापार में जूट मिलों को ४·८ करोड़ रुपए का घाटा हुआ था, जो १९६८-६९ में दुगुना होने की आशंका है। जनवरी, १९६९ से भारतीय जूट मिलों को औसतन २·५ करोड़ रुपए का प्रति माह घाटा हो रहा है।[3]

जूट मिलो की स्थिति निर्यात घटने के अतिरिक्त जूट की ऊँची कीमतो व बढती हुई मजदूरी के कारण भी बिगड़ती जा रही है। इन सब समस्याओ के कारण भारतीय जूट उद्योग आज

---

1. सिन्थेटिक्स की बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण जूट की वस्तुओ के मूल्य विश्व के बाजारो में घट रहे हैं। उदाहरण के लिए १९६७ में जूट की वस्तुओं की मात्रा १९६६ की अपेक्षा अधिक थी, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो में कमी होने के कारण भारत को प्रति टन १५० रुपए कम प्राप्त हुए।
2. See Commerce Annual, Number 1968.
3. See Jute and the Budget : (Editorial Note) Economic Times, March 15, 1969.

बहुत गम्भीर संकट की स्थिति मे है। १९६८ मे हमारे सैकिंग के निर्यात ८४,००० टन थे परन्तु १९६९ मे ये २४,००० टन से अधिक नही हो सकेंगे।

१९६९-७० का बजट तथा जूट उद्योग :[1]

उपरोक्त समस्याओ के लिए जूट उद्योगपतियो द्वारा पिछले ४-५ वर्षों से सरकार से करो मे छूट का अनुरोध किया जा रहा था। १९६९ ७० के राजस्व बजट मे वित्तमन्त्री मोरारजी दसाई ने जूट सैकिंग पर निर्यात कर की दर २५० रुपए प्रति टन से घटाकर १५० रुपए प्रति टन कर दी है जबकि हैसियन पर निर्यात दर २०० रुपए प्रति टन ही रखी गई है। अनुमानत १९६९ ७० म इस कदम के परिणामस्वरूप केन्द्रीय सरकार को ११·७५ करोड रुपए का घाटा राजस्व बजट मे होगा। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि निर्यात कर मे कमी के साथ मूल उत्पादन करो मे वृद्धि कर दी गई है। इस बढे हुए मूल उत्पादन कर पर १०% स्पेशल उत्पादन कर और लगा दिया गया है।

परन्तु वर्तमान सत्र मे जूट उद्योग को "प्राथमिक उद्योगो की श्रेणी" मे सम्मिलित कर लिया गया है तथा फलस्वरूप नये यन्त्रों के लगाने पर यन्त्रो के मूल्य का ३५% करो मे छूट हेतु प्रयुक्त किया जाएगा। परन्तु नए यन्त्रो का उपयोग किस सीमा तक हो सकेगा यह मिलो की वित्तीय स्थिति मे सुधार होने पर निर्भर है। यदि जूट मिलो को पर्याप्त वित्तीय सहायता औद्योगिक वित्त निगम या सरकार दे सके तो ये मब रियायतें भारतीय जूट उद्योग की स्थिति को सुधारने मे मदद कर सकती है। अन्यथा, वर्तमान तथा अब तक की प्रवृत्तियो को देखते हुए तो इस उद्योग का भविष्य बहुत अधिक उज्ज्वल नही दिखाई देता।

श्रीवास्तव कमेटी—इस कमेटी ने १९६३ म प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट मे सुझाव दिया था कि जूट की वस्तुओ के लिए भारतीय उद्योगपतियो को नए बाजारो की खोज करनी चाहिए। समिति ने सरकार से भी इस दिशा मे सहयोग की अपील की। समिति का एक सुझाव यह भी था कि देश की जूट मिलें ऐसी वस्तुओ का निर्माण करें जिनके क्षेत्र मे विश्व के बाजारो मे प्रतिस्पर्धा का सामना न करना पडे।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक जूट की वस्तुओं का उत्पादन १५ लाख टन तथा निर्यात ११ लाख टन तक बढाए जाने की आशा है। लेकिन आश्चर्य तो इस बात का है कि सरकार केवल यह अपेक्षा करना ही अपना धर्म मानती है कि देश का जूट उद्योग इन लक्ष्यो की पूर्ति कर लेगा। इसके लिए जो उचित कदम उठाए जाने चाहिए योजना के प्रारूप मे उनकी व्यवस्था नही की गई है। केवल यह बताया गया है कि वर्तमान मिलो का विस्तार करके ही इन लक्ष्यों को प्राप्त किया जाएगा। निर्यात करो म छूट देने के साथ ही १९६९-७० मे उत्पादन कर बढा दिया गया है, फिर प्रश्न है, निर्यात मे वृद्धि कैसे की जाय ?

जूट उद्योग के विकास हेतु कुछ महत्वपूर्ण सुझाव

(१) सर्वप्रथम हमे कच्चे जूट के उत्पादन हेतु एक निश्चित कार्यक्रम बनाना होगा जिसके अन्तर्गत कम से कम १ करोड गांठो के उत्पादन का लक्ष्य हो। इनमे से ८० से ९० लाख गाँठो को वर्तमान माँग के लिए तथा शेष को बफर स्टॉक हेतु प्रयुक्त किया जाय।

(२) चूंकि जूट उद्योग का अस्तित्व प्रधानत निर्यात पर निर्भर करता है, निर्यात बढाने के उपायों पर विचार किया जाय। ये उपाय अल्पकालीन व दीर्घकालीन दोनो प्रकार के हो सकते हैं। परन्तु निर्यात-वृद्धि के उपायो की सफलता के लिए लागत मे कमी होना जरूरी है जो एक दीर्घकालीन प्रश्न है। फिर भी, विश्व के बाजारो मे भारत व पाकिस्तान की जूट की वस्तुओ के मूल्यो मे कोई अन्तर नही रह जाएगा, यदि हम जूट की वस्तुओ पर लगे निर्यात कर को समाप्त कर दें। निर्यात कर समाप्त करने पर हैसन व सैकिंग दोनों अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बिना अनुदान

---

1 Ibid

प्राप्त किए हम उस मूल्य पर बेच सकेंगे जिस पर पाकिस्तानी उद्योगपति अनुदान प्राप्त करने के बाद बेचते हैं।

(३) जूट मिलो को उनका वित्तीय स्थिति के अनुसार राज्य द्वारा अनुदान या वित्तीय सहायता प्रदान की जाय। इससे मिलो को नवीन उपकरणों की स्थापना हेतु प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

(४) देश मे उत्तम ढंग के कर्घों व अन्य उपकरणों का निर्माण तेजी से किया जाय ताकि इनके लिए हमे विदेशो पर निर्भर न रहना पडे।

वैसे जूट मिल सघ भी संयुक्त राज्य अमरीका व यूरोप मे अपने कार्यालय (न्यूजट) स्थापित करके जूट की वस्तुओं की विश्व मे माँग बढ़ाने का प्रयास कर रहा है, तथापि यह उद्योग अपनी वर्तमान संकट की स्थिति से केवल उसी स्थिति मे निकल सकेगा जबकि राज्य भी सब प्रकार की सहायता दे।

२५

वृहत स्तरीय उद्योग, लौह एवं इस्पात तथा चीनी उद्योग—[क्रमशः]
(Large Scale Industries—Contd)

प्रारम्भिक :

पिछले अध्याय मे सूती वस्त्र तथा उद्योग के विकास की विस्तृत रूप मे विवेचना की जा चुकी है। ये दोनों उद्योग, जैसा कि उपरोक्त अध्याय मे बताया गया है, रोजगार, उत्पादन तथा विदेशी व्यापार की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्योग हैं। लेकिन किसी भी देश के द्रुत आर्थिक विकास के लिए कुछ ऐसे भी उद्योगो का विकास होना आवश्यक है, जो औद्योगीकरण की पृष्ठभूमि का निर्माण करते हो। इन आधारभूत उद्योगो लौह-इस्पात उद्योग, मशीन-निर्माण, रसायन-उद्योग आदि प्रमुख हैं।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक भारत मे इन आधारभूत उद्योगो का विकास नही हो सका, यद्यपि नाम-मात्र को एक-दो लौह-धातु का निर्माण करने वाली संस्थाएँ विद्यमान थी। रासायनिक पदार्थों का निर्माण उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक प्रारम्भ नही हो सका था। ये सब वस्तुत बीसवी शताब्दी और विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध की ही उपज हैं।

लेकिन भारत के उद्योगो की भी श्रेणी है, जिनका विकास यद्यपि प्रधानतया बीसवी शताब्दी मे हुआ। लेकिन जो देश की अर्थव्यवस्था मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनमे कागज, सीमेंट, शक्कर आदि उद्योग सम्मिलित हैं। प्रस्तुत: अध्याय मे लोहा तथा इस्पात एव शक्कर उद्योग के विकास की समीक्षा की गई है।

१. लौह एवं इस्पात उद्योग

नोल्स के मतानुसार औद्योगिक क्रान्ति का सर्वप्रथम एव सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण है लौह व इस्पात उद्योग का विकास होना, क्योकि उनकी राय मे लौह व इस्पात उद्योग के विकास के द्वारा ही देश के अन्य उद्योगो का विकास हो सकता है।[1] भारत मे लौह व इस्पात उद्योग की परम्पराएँ बहुत पुरानी है, तथा चौथी व पांचवी शताब्दी मे भी भारत मे टिकाऊ व सुन्दर लोहे की वस्तुओ का निर्माण होता था तथा इनका पर्याप्त मात्रा मे निर्यात किया जाता था।

दक्षिण भारत का भ्रमण करने के बाद उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे डा० बुकेनन ने बताया कि पूर्वी मैसूर, कोयम्बटूर तथा मलाबार जिलो मे लोहे को गलाने तथा हथियार बनाने

1. L C. A Knowles : Industrial & Commercial Revolution during the 19th Century, p 17

के लिए इस्पात बनाने का कार्य गाँवों व शहरो में व्यापक रूप से किया जाता था।[1] इससे यह जाहिर होता है कि भारत में लोहा तथा इस्पात का निर्माण बहुत पहले से होता आया है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आधुनिक ढंग पर लौह व इस्पात उद्योग का विकास नहीं हो सका था।

आधुनिक लौह व इस्पात उद्योग का प्रारम्भ—आधुनिक ढंग पर लौह व इस्पात उद्योग का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक नही हो सका। यद्यपि स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति तथा निर्यात हेतु चौथे पैमाने पर इस्पात तथा लोहे की वस्तुओं का निर्माण देश के लगभग सभी भागों मे किया जाता था। लेकिन १८७४ तक लोहा गलाने का कार्य लकड़ी द्वारा किया जाता था। सर्वप्रथम १८७५ मे लकडी की अपेक्षा कोयले द्वारा लोहा गलाने का कार्य बंगाल मे रानीगंज कोयला क्षेत्र में प्रारम्भ किया गया। इस साहसिक कदम का श्रेय बंगाल लौह कम्पनी को दिया जा सकता था।

वास्तव में भारतीय लौह व इस्पात उद्योग के विकास का सारा श्रेय जमशेदजी नसरवानजी टाटा को दिया जा सकता है, जिन्होंने अमरीका तथा इंगलैण्ड से विशेषज्ञों को अपने खर्च पर भारत बुलवाया तथा बंगाल व बिहार में इस्पात-उद्योग के विकास की सम्भावनाओं की खोज की।

जमशेदजी के पुत्रों द्वारा संचालित साकची का कारखाना १९०८ में बनकर तैयार हुआ तथा पहली बार भारत के औद्योगिक इतिहास मे बडे पैमाने पर लौह धातु का निर्माण १९११ मे हुआ। टाटा लौह व इस्पात कम्पनी को गुरु महीसानी की पहाडियो से कच्चा लोहा झरिया की खानों से कोयला तथा मध्यप्रदेश के पूर्वी इलाको से मेगनीज बहुत काफी मात्रा मे मिलने लगा था और फलस्वरूप १९१३ मे इस कारखाने मे इस्पात तैयार किया गया।

प्रथम महायुद्ध एवं युद्धोपरान्त—प्रथम महायुद्ध-काल मे टाटा कम्पनी ने ही नही अपितु अन्य लौह व इस्पात कम्पनियो ने भी आशातीत प्रगति की। प्रथम महायुद्ध काल मे राज्य द्वारा इस्पात की वस्तुओ की भारी मात्रा में खरीद की गई। इसके अतिरिक्त विदेशों से भी काफी मात्रा मे इस्पात व लोहे की वस्तुओं के आर्डर्स प्राप्त हुए। फलतः टाटा इस्पात कम्पनी की उत्पादन क्षमता काफी बढ़ा दी गई। युद्ध से कुछ समय पूर्व इण्डियन आइरन स्टील कम्पनी की आसनसोल में स्थापना की गई थी। इस कम्पनी ने भी प्रथम युद्ध काल में इस्पात बनाना प्रारम्भ कर दिया था।

लेकिन युद्ध के बाद १९२४ मे भारतीय इस्पात उद्योग को सरक्षण दिया गया क्योकि एक ओर युद्धोपरान्त की मन्दी और दूसरी ओर विदेशी प्रतियोगिता के कारण उस उद्योग को भारी क्षति होने की आशंका थी।

लेकिन इससे भी समस्या हल नही हुई तथा विदेशी उद्योगपतियो, विशेष रूप से बेल्जियम के उद्योगपतियो ने हानि उठाकर भी इस्पात का भारत को निर्यात करना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप सरकार ने प्रशुल्क बोर्ड की सिफारिश के अनुसार ७० प्रतिशत इस्पात के उत्पादन पर २० रु० प्रति टन के हिसाब से अनुदान देना तय किया। यह अनुदान प्रारम्भ में ३० सितम्बर, १९२५ तक दिया जाना था, लेकिन फिर १९२७ तक १८ रु० प्रति टन के हिसाब् से अनुदान दिया गया और अनुदान की अधिकतम राशि ९० लाख रु० रखी गई।[2]

आगे चलकर प्रति टन अनुदान की राशि १२ रुपये तथा अधिकतम राशि घटाकर ६० लाख रुपए कर दी गई।

सरक्षण के फलस्वरूप १९३८-३९ तक विभिन्न मदो की वृद्धि इस प्रकार थी :[3]

---

1. Ramesh Dutt : The Economic History of India Vol. I, p. 146-56
2. Vera Anstey : Eco. Dev. of India pp. 245-6
3. Ibid, p. 49

लौह धातु	७९ प्रतिशत
इस्पात इन्गॉट	६८ प्रतिशत
तैयार इस्पात	१०३ प्रतिशत

इस प्रकार भारतीय लौह व इस्पात उद्योग प्रगति की सीढ़ियो पर निरन्तर बढ़ता चला गया। इसी समय (१९३६-३७) इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी का विस्तार किया गया और नवम्बर, १९३८ से बंगाल निगम ने कार्य प्रारम्भ किया। इस निगम ने इस्पात-निर्माण का कार्य १९४० मे प्रारम्भ किया।

संरक्षण की अवधि मे लौह-धातु तथा इस्पात की वस्तुओ के निर्यात मे भी काफी वृद्धि हुई। लेकिन भारतीय लौह-इस्पात उद्योग को द्वितीय महायुद्ध काल मे प्रगति करने का जो अवसर मिला वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। न केवल देश के भीतरी अपितु विदेशी माँग की पूर्ति हेतु उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि की गई। १९४१ मे लौह-धातु व इस्पात पिंड का रिकार्ड उत्पादन हुआ जो क्रमश २० लाख टन व १४ लाख टन था।

युद्ध के बाद कुछ समय के लिए इस्पात उद्योग के समक्ष संकट उपस्थित हुआ तथा इस्पात का उत्पादन घटता रहा। स्वतन्त्रता के बाद, विशेष रूप से आर्थिक नियोजन की अवधि मे भारतीय इस्पात उद्योग ने अपूर्व प्रगति की है। प्रस्तुत अध्याय मे स्वतन्त्रता के बाद के इस्पात उद्योग के विकास पर ही विस्तार से समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

पंचवर्षीय योजनाओं के आधीन लौह एव इस्पात उद्योग का विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में सरकार द्वारा स्थापित इस्पात मूल्य समानीकरण कोष मे से दस-दस करोड़ रुपए टाटा इस्पात कम्पनी तथा इण्डियन आइरन एण्ड स्टील को दिए गये। उक्त योजना की समाप्ति से पूर्व मार्च १९५५ मे राजकीय क्षेत्र मे भिलाई (म० प्र०), रूरकेला (उड़ीसा) तथा दुर्गापुर (प० बंगाल) मे तीन बड़े इस्पात के कारखाने प्रारम्भ करने के लिए क्रमश सोवियत रूस, पश्चिमी जर्मनी व इंग्लैंड से समझौते किए गए। प्रारम्भिक समझौतो के अनुसार इनमे से प्रत्येक कारखाने की क्षमता दस लाख टन होनी थी। इन तीनो के प्रबन्ध एव संचालन हेतु भारत सरकार ने हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड की स्थापना की। सन् १९५०-५१ मे इस्पात के ठेके, तैयार इस्पात एव बिक्री के लिए कच्चे लोहे का उत्पादन क्रमश १४ लाख टन, १० लाख टन व ३ ५ लाख टन था जो योजना के अन्त म (१९५५-५६) बढकर क्रमश १७ लाख टन, १३ लाख टन तथा ३ ८ लाख टन हो गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ इस्पात उद्योग के क्षेत्र मे राजकीय विनियोग एव प्रत्यक्ष नियन्त्रण से हुआ। उक्त योजना के प्रारम्भ मे तैयार इस्पात व लौह-धातु का उत्पादन क्रमश १० लाख टन व १८ लाख टन था। सहकारी क्षेत्र के कारखानो एव निजी क्षेत्र की विस्तृत क्षमता के आधार पर इस्पात का उत्पादन ४३ लाख टन तक बढ़ाए जाने की आशा थी।

परन्तु निजी क्षेत्र के कारखानो का आशानुरूप विस्तार होने तथा तीनो सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों मे कार्य प्रारम्भ होने पर भी तैयार इस्पात का उत्पादन १९६०-६१ तक २३ लाख टन तक ही बढाया जा सका। १९५१ व १९६१ के बीच तैयार इस्पात का उत्पादन १० लाख टन से बढकर २३ लाख टन और इस्पात पिण्डों का उत्पादन १४ लाख टन से बढ़ाकर ३५ लाख टन कर दिया गया। वस्तुत द्वितीय योजना के अन्त मे इस्पात उद्योग की क्षमता लगभग ५० लाख टन इस्पात तैयार करने की थी पर प्राविधिक कठिनाइयो के कारण उस क्षमता का केवल थोडा अश ही उपयोग मे लाया जा रहा था।

तृतीय योजना में इस्पात उद्योग—तृतीय पंचवर्षीय योजना बनाते समय नियोजकों को द्वितीय योजना काल मे अनुभव की गई कठिनाइयो एव सीमाओं का ज्ञान हो चुका था। फलतः यह निश्चय किया गया कि सार्वजनिक क्षेत्र के तीनों इस्पात कारखानो की क्षमता दुगुनी की जाय। यह भी निर्णय किया गया कि अमरीकी सहायता से बोकारो मे एक स्टील का कारखाना और प्रारम्भ किया जाय। कुल मिलाकर उद्योग की क्षमता इस्पात पिंडो के रूप मे १ करोड़ टन तैयार इस्पात के रूप मे ७५ लाख टन तथा लौह धातु के रूप मे १५ लाख टन तक बढ़ाने का तय किया गया। १९६५-६६ मे इन तीनों का उत्पादन क्रमश ९२ लाख टन, ६८ लाख टन तथा १५ लाख

टन होने की आशा थी। लेकिन बोकारो कारखाना तृतीय योजना में प्रारम्भ नहीं किया जा सका और न ही दुर्गापुर तथा रूरकेला कारखानों की क्षमता क्रमशः १६ व १८ लाख टन तक बढ़ाई जा सकी। फलस्वरूप १९६६ तक तैयार इस्पात का उत्पादन ४३ लाख टन तक ही बढाया जा सका। इस समय इस्पात पिंडो का उत्पादन ६२ लाख टन हुआ।

१९६५-६६ के पश्चात् इस्पात उद्योग का विकास

जनवरी, १९६६ मे सोवियत रूस से बोकारो पर समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत १७ लाख टन इस्पात पिंड की क्षमता वाला स्टील प्लान्ट बोकारो मे निर्माणाधीन है। इस प्लाट के प्रथम चरण पर ६२६ करोड रुपए खर्च होंगे जिसका ६०% भारत सरकार देगी। मूल योजना के अन्तर्गत द्वितीय चरण १९७० मे प्रारम्भ किया जाना था तथा उसकी समाप्ति तक बोकारो की कुल क्षमता ४० लाख टन (इस्पात पिंड) हो जानी थी। परन्तु अब द्वितीय चरण का कार्य कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया है।

१९६६-६७ तथा १९६७-६८ मे इस्पात उद्योग के विभिन्न कारखानों की क्षमता को काफी बढाया गया। १९६८ के अन्त मे भारतीय इस्पात उद्योग की क्षमता ९० लाख टन (इस्पात पिंड) थी। इसमे विभिन्न कारखानों की क्षमता इस प्रकार थी[1]

भिलाई : २५, दुर्गापुर १६, रूरकेला : १८, टाटा इस्पात कम्पनी · २०, इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी १०।

इस प्रकार वर्तमान क्षमता में से $^2/_3$ राजकीय क्षेत्र मे तथा शेष निजी क्षेत्र में हैं। हिन्दुस्तान स्टील कार्पोरेशन राजकीय क्षेत्र के वर्तमान तीनों इस्पात कारखानों का संचालन करता है। उक्त कार्पोरेशन के तीनों कारखानों मे १९६७ के वर्ष मे २४ लाख टन तैयार इस्पात, ३४·६ लाख टन इस्पात पिंड तथा ३९ ० लाख टन पिग लोहे (लौह धातु) का उत्पादन हुआ। १९६८ में तैयार इस्पात का उत्पादन २५ ४ लाख टन, लौह धातु का उत्पादन ४२ ७ लाख टन तथा इस्पात पिंड का उत्पादन ३६ ७ लाख टन हुआ।[2]

चतुर्थ योजनाकाल में (१९६९-७४) इस्पात पिंडों का उत्पादन ६५ लाख टन (१९६८-६९) से बढाकर १ ०८ करोड टन किए जाने का लक्ष्य रखा गया है। तैयार इस्पात का उत्पादन लक्ष्य ८० १ लाख टन रखा गया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु भिलाई इस्पात कारखाने की क्षमता २५ लाख टन से ३२ लाख टन तथा रूरकेला की क्षमता १८ लाख टन से बढाकर २२ लाख टन तथा दुर्गापुर कारखाने की क्षमता १६ लाख टन से बढाकर २० लाख टन किए जाने का लक्ष्य रखा गया है। इस अवधि में बोकारो इस्पात प्लाट के प्रथम चरण की क्षमता १७·५ लाख टन भी प्राप्त कर ली जाएगी तथा इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी की क्षमता को १० लाख टन से बढाकर १३ लाख टन कर लिया जाएगा। १९७३-७४ तक भारत १० लाख टन तैयार इस्पात तथा १५ लाख टन लौह-धातु का निर्यात कर सकेगा, ऐसी आशा है।[3]

इस्पात की भावी मांग से सम्बद्ध कुछ अनुमान :

इस्पात उद्योग एक आधारभूत उद्योग है तथा इसी के विकास पर किसी सीमा तक देश के औद्योगीकरण की गति निर्भर करती है। परन्तु इस्पात की माँग का सही अनुमान ही इस उद्योग के विकास हेतु आवश्यक है। यह एक आश्चर्य की बात है कि एक ओर देश में औद्योगीकरण की प्रकिया बढ रही है तो दूसरी ओर इस्पात की मांग के अभाव में हिन्दुस्तान स्टील और टाटा इस्पात आदि के कारखानों मे इस्पात की वस्तुओं का स्टॉक जमा होता जा रहा है। चतुर्थ योजना के मूल प्रारूप (१९६६) मे यह अनुमान रखा गया था कि तैयार इस्पात की मांग १९७१ तक १ करोड टन तक बढ जाएगी, जबकि स्थिति यह है कि १९६७-६८ में तैयार इस्पात का उत्पादन क्षमता की

---

1 Steel Industry Prospective · article by P C. Mahanti, Commerce Annual No. 1968
2. Economic Times January 2, 1969.
3 See Yojana April 20, 1969 p 23

अपेक्षा ३४% कम हुआ। माँग मे यह कमी मन्दी के कारण हो सकती है परन्तु इसका इस्पात उद्योग के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव ही होगा।

वस्तुत इस्पात की माँग के सही अनुमान ही हमे उपलब्ध नही हो सके हैं। राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध परिषद (NCAER), योजना आयोग के दीर्घकालीन नियोजन विभाग (PPD), दस्तूर एण्ड कम्पनी तथा सयुक्त राज्य अमरीका की एक बडी इ जीनियरिंग कम्पनी ने जो अनुमान इस सम्बन्ध मे प्रकाशित किए हैं उनमे बहुत अन्तर है। निम्न तालिका इसकी पुष्टि करती है :[1]

(इस्पात की माँग के अनुमान)

(लाख टन में)

अनुमानकर्त्ता	१९६५-६६	१९७०-७१
राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध परिषद	६९०	१३६
दीर्घकालीन नियोजन विभाग	६७२	१३६
दस्तूर एण्ड कम्पनी	८९०	१४२
अमरीकी कम्पनी	६९०	११२

इस्पात मन्त्रालय ने अनुमान किया है कि १९७२-७३ तक तैयार इस्पात की माँग ७१ २ लाख टन तथा लोह-धातु की माँग १६ ५ लाख टन हो जाएगी। यह माग चौथी योजना के अन्त तक क्रमश ८० लाख टन व २१ लाख टन होने की आशा है।[2]

अस्तु, यह समझना पहले आवश्यक है कि सामान्य स्थिति के रहते हुए इस्पात की भावी माँग कितनी होगी और फिर उसी आधार पर इस्पात उद्योग के विस्तार की योजना बनाई जानी चाहिए।

इस्पात उद्योग की वर्तमान समस्याएँ :

माँग का सही अनुमान किए जाने के बावजूद भारतीय इस्पात उद्योग की वतमान समस्याओ का अध्ययन तथा उनका तात्कालिक समाधान आवश्यक है। ये समस्याए इस प्रकार हैं

(१) बढ़ती हुई लागतें—भारत मे उपलब्ध लोहा अधिकाशतया उच्चकोटि का नही है। अल्यूमिना का अश लोहे म अधिक होने के कारण लौह धातु की उत्पादन लागत अधिक आती है। इसके अतिरिक्त धातुकार्मिक कोयले (कोकिंग कोल) के अभाव मे इधन अधिक खच होता है। एक अध्ययन दल के अनुसार १९५१ व १९६३ के बीच भारतीय इस्पात उद्योग मे प्रति श्रमिक विनियोग ४ हजार रुपए से बढकर ३७ हजार रुपए हो गया जबकि प्रति श्रमिक उत्पादन मे ५०% ही वृद्धि हुई। उत्पादकता मे आनुपातिक वृद्धि का न होना लागत-वृद्धि का ही द्योतक है।[3]

(२) सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों की समस्याएँ हिन्दुस्तान स्टील कार्पोरेशन विश्व की सबसे बडी २०० कम्पनियो मे से एक है। इसकी कार्यशील पूँजी इस समय १,५०० करोड रुपए है परन्तु स्थापना से लेकर १९६७ ६८ तक इसे १२० करोड रुपए का घाटा हुआ है। १९६८-६९ म भी लगभग ३० करोड रुपए का घाटा होने की आशका है। इस हानि का प्रमुख कारण यह बताया जाता है कि इस कार्पोरेशन को प्रति वष ब्याज तथा घिसावट के लिए बहुत अधिक धन-राशि देनी होती है। १९६७ व १९६८ मे घाटे का एक कारण माग की कमी भी था, जिससे इस्पात की वस्तुओं का स्टाक जमा होता गया।

---

1. See article "Demand for Steel in Ind a" by Dr S R Barucha Eco omic Times, October 10, 1968
2. Economic Times May 8, 1969 (Editorial Note)
3. १९५४ से १९६७ तक लोहे का मूल्य ६०% तथा १९५८ से १९६६ के बीच कोयले का मूल्य ८२% बढा। यह भी लागत म वृद्धि का प्रमुख कारण है।

लेकिन उक्त कार्पोरेशन को बढती हुई हानि के लिए उत्तरदायित्व कार्पोरेशन के अन्तर्गत चलाए जा रहे कारखानो की अव्यवस्था पर अधिक है। १९६६ मे डी एन. तिवारी कमेटी ने बताया था कि कार्पोरेशन के तीनो कारखानो मे वित्तीय साधनो का उपयोग ठीक प्रकार नही होता। तिवारी कमेटी ने बताया कि हिन्दुस्तान स्टील के बिक्री सम्बन्धी खर्च बहुत अधिक है। कमेटी ने कारखानो मे विद्यमान अपव्यय तथा स्टाफ की अनुशासनहीनता की ओर भी सरकार का ध्यान आकर्षित किया। तिवारी कमेटी ने कहा कि भिलाई को छोड़कर शेष दोनो सार्वजनिक क्षेत्र के इस्पात कारखानो के प्रबन्ध मे तुरन्त सुधार होना आवश्यक है और तभी इनको हानि को रोका जा सकेगा।

१९६७ मे पाडे कमेटी ने भी दुर्गापुर इस्पात कारखाने के विषय मे प्रबन्धको की लापरवाही, दोषपूर्ण कार्यप्रणाली तथा अपर्याप्त निरीक्षण की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया। १९६६-६७ मे इस कारखाने मे १३ करोड रुपए का घाटा था। पाडे कमेटी ने सरकार को चेतावनी दी कि यदि उक्त कमियों को तुरन्त दूर नही किया गया तो यह घाटा और अधिक हो जाएगा।

(३) इस्पात के मूल्यों की समस्या—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् काफी समय तक इस्पात समानीकरण कोष के अन्तर्गत इस्पात के मूल्यों मे समरूपता रखी गई। इस कोष के लिए प्रति टन १०० रुपए का सरचार्ज लिया जाता था। कुछ समय पूर्व इस कोष को समाप्त कर दिया गया। मूल्यो का निर्धारण पूर्णतया सरकार के अधिकार मे था, परन्तु मई, १९६७ से इस्पात के वितरण तथा मूल्यो पर केवल आंशिक नियन्त्रण रखा गया है।

परन्तु आंशिक नियन्त्रण के अन्तर्गत भी इस्पात कम्पनियो को मूल्य बढाने की छूट नही है। उत्पादन-लागत बढने पर भी बिना सरकार की अनुमति लिए इस्पात की वस्तुओ के मूल्य नही बढाए जा सकते। साधारणतया मूल्य-वृद्धि के लिए अनुमति अत्यधिक विलम्ब के बाद दी जाती है तब तक लागत और बढ जाती है। यही कारण है कि पिछले १-२ वर्षो से सरकारी इस्पात कारखानो के साथ-साथ निजी कारखानो को भी घाटा हो रहा है। इस्पात उद्योग के विकास पर इस प्रकार की अविवेकपूर्ण मूल्य नीति का प्रतिकूल प्रभाव ही होता है।

(४) उत्पादन कर एवं लागत—इस्पात समानीकरण कोष की समाप्ति के बाद यह आशा थी कि निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्र के कारखानो को १०० रुपए प्रति टन के सरचार्ज से छूट मिल सकेगी। परन्तु सरकार ने सरचार्ज के स्थान पर उत्पादन कर लगा दिया जिसकी दर १५० रुपये प्रति टन रखी गई है। अनुमानत. कुल आगम का १७-१८% केवल उत्पादन कर के रूप मे चला जाता है। गत वर्ष (१९६७-६८) इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी ने इसी कारण लाभांश का वितरण नही किया कि एक ओर लागत बढ गई थी, दूसरी ओर मूल्य वृद्धि की सामयिक अनुमति प्राप्त नही हुई और उस पर उत्पादन कर का अतिरिक्त भार और भी था।

उपरोक्त समस्याओ के कारण भारतीय इस्पात उद्योग का विकास आशानुसार नही हो पा रहा है। उधर मांग का अभाव तथा क्षमता का आंशिक उपयोग भी प्रश्नवाचक चिन्ह बनकर खडे हैं।

४ चीनी अथवा शक्कर उद्योग
(Sugar Industry)

प्रारम्भिक—चीनी उद्योग का महत्व

> "चीनी हमारे भोजन का प्रमुख अंग है तथा संतुलित भोजन की दृष्टि से इसका महत्व और भी अधिक है। यह सबसे सस्ता और शक्ति देने वाला पदार्थ है। किन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे आर्थिक क्षेत्र में इस उद्योग का महत्व अभी तक पूर्ण रूप से नहीं समझा गया है।"
>
> —चीनी मिल एसोसियेशन

आज भारत का, संसार के चीनी उत्पादकों मे, प्रमुख स्थान है तथा हमारे देश के संगठित उद्योगो मे इसका द्वितीय स्थान है। इसका देश की अर्थव्यवस्था मे एक महत्वपूर्ण स्थान है। सन् १९६०-६१ मे इस उद्योग ने ३०·२९ लाख टन चीनी उत्पादन करके एक नया रिकार्ड कायम किया है। उस समय उद्योग व सरकार के समक्ष यह समस्या उत्पन्न हो गई थी कि किस प्रकार चीनी के मूल्यों को गिरने से रोका जाय। परिणामस्वरूप चीनी के निर्यात पर विशेष जोर दिया गया। इस प्रकार यह उद्योग विदेशी विनिमय प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया है। किन्तु सरकार की कुछ गलत नीतियों के कारण बाद मे चीनी उत्पादन मे निरन्तर कमी होती चली जा रही है। परिणामस्वरूप सन १९६१-६२ मे चीनी का उत्पादन घट कर २७·१४ लाख टन तक था। फलत देश मे पुन चीनी की भारी कमी हो गई है।

ऐतिहासिक मीमांसा

प्राचीन अतीत—भारत गन्ने व चीनी का प्रारम्भिक घर है। इसीलिए यह कहा जाता है कि हमारे देश मे चीनी का उत्पादन एव उपभोग उस काल से चला आता है जबकि संसार के अन्य राष्ट्र इसका नाम तक नही जानते थे। चीन के विश्व कोष में भारत के उन्नतिशील चीनी उद्योग का उल्लेख है जिसमे यह भी कहा गया है कि चीन के महान शासक ताए तुसुंग ने (ईसा से ६२७-६५० के बीच) एक मण्डल भारतीय चीनी उद्योग का अध्ययन करने के लिए यहाँ तक भेजा था। इस प्रकार यह उद्योग १८वी सदी तक महान् उद्योग के रूप मे पनपा।

विदेशी प्रतिस्पर्द्धा—किन्तु औद्योगिक क्रान्ति तथा जावा, सुमात्रा व क्यूबा मे चीनी मिलों का विकास होने से इस उद्योग को भारी क्षति पहुँची। जिसके कारण निर्यात का तो कहना ही क्या, भारत का स्थान चीनी आयात करने वालों में हो गया। १९३०-३१ में देश मे चीनी के कारखानों की सख्या ३२ थी तथा प्रति वर्ष हमारा देश करीब १० लाख टन चीनी आयात किया करता था।

सरक्षण—विदेशी गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा के कारण इस उद्योग ने संरक्षण की माँग की। यह सरक्षण इस उद्योग को १९३२ मे प्राप्त हुआ जो कि १९५० तक कायम रहा। इस सरक्षण काल मे इस उद्योग की भारी प्रगति हुई तथा जिसके फलस्वरूप आयात की मात्रा शीघ्र ही न्यूनतम हो गई। यही नही १९४०-४३ के काल मे अत्यधिक उत्पादन की समस्या उत्पन्न हो गई जिसके कारण कीमतों में भारी गिरावट आई तथा उद्योग को मन्दी का सामना करना पड़ा। इस भयकर मन्दी के कारण तथा चीनी के उत्पादन पर नियन्त्रण करने के लिए 'चीनी सिण्डीकेट' की स्थापना हुई।

द्वितीय विश्व युद्ध में चीनी उद्योग—द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने से चीनी की कीमतो मे तेजी आई। इस उद्योग के बावजूद आवश्यक कच्चे माल का अभाव होते हुए अपनी उत्पादन क्षमता में वृद्धि करनी पडी। इसका प्रभाव यह हुआ कि सन १९४२-४३ तथा १९४३-४४ के वर्षो में उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई। सन् १९४४-४५ मे गन्ने की भारी कमी तथा यातायात के साधनों की कमी के कारण उत्पादन मे कमी हो गई जिसके कारण देश मे चीनी की अकाल जैसी परिस्थिति हो गई।

स्वतन्त्र भारत एवं चीनी उद्योग

१९४७ में चीनी के मूल्यों तथा वितरण व्यवस्था से नियन्त्रण हटा लिया गया, परन्तु विवेचनात्मक सरक्षण चलता रहा। १९४९ मे द्वितीय प्रशुल्क आयोग ने भारत सरकार को सुझाव दिया कि विवेचनात्मक सरक्षण को ३१ मार्च, १९५० के पश्चात् हटा लिया जाय। प्रशुल्क आयोग ने यह आरोप लगाया कि चीनी उद्योग मे १९३२ के बाद कार्यकुशलता को सुधारने हेतु कोई प्रयास नहीं किया गया है। इसी बीच सितम्बर १९४९ मे चीनी के मूल्यों तथा वितरण पर पुन. सरकार ने नियन्त्रण लगा दिया जो १९५२ तक चलता रहा। प्रथम पचवर्षीय योजना के पूर्व देश मे १३९ चीनी मिलें थी जिन्होंने १९५०-५१ मे ११ ३४ लाख टन चीनी का उत्पादन किया।

पंचवर्षीय योजनाओं में चीनी उद्योग का विकास

आर्थिक नियोजन के पिछले १७-१८ वर्षों मे चीनी उद्योग सर्वाधिक अनिश्चितता के दौर से गुजरा है। पिछले कुछ वर्षों में ग्रामीण तथा शहरी दोनों क्षेत्रों में चीनी का उपयोग काफी बढा है, परन्तु सरकार इस उद्योग को किस रूप में विकास का अवसर देना चाहती है, यह अभी तक स्पष्ट नही हो सका है।

प्रथम योजना के मध्य में जैसे ही चीनी के मूल्यो तथा वितरण व्यवस्था से राज्य का नियंत्रण हटाया गया, उत्पादन मे तेजी से वृद्धि हुई और चीनी का उत्पादन १९५५-५६ में लगभग १९ लाख टन हो गया। प्रथम योजना काल मे चीनी के उत्पादन में लगभग ६७% वृद्धि हुई। **द्वितीय पंचवर्षीय योजना** काल मे चीनी उद्योग मे दो उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। प्रथम, तो यह कि १९५५ के बाद महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश तथा दक्षिण के कुछ राज्यों में शक्कर उद्योग का पंजाब, उत्तर प्रदेश व बिहार की अपेक्षा अधिक तेजी से विकास हुआ। उत्तर प्रदेश व बिहार से १९५०-५१ तक कुल उत्पादन का ७३% प्राप्त होता था परन्तु १९६०-६१ तक यह अनुपात घटकर ४९% रह गया।[1] द्वितीय, इस योजना के अन्तर्गत सहकारी क्षेत्र मे शक्कर मिलों को प्राथमिकता के आधार पर लाइसेंस दिए गए। १९५५ मे देश भर मे १३ शक्कर मिलें सहकारी क्षेत्र मे थी, जबकि १९६१ मे इनकी संख्या ३८ हो गई। १९६०-६१ तक शक्कर का उत्पादन ३० ३ लाख टन तक पहुँच गया था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना तथा चीनी उद्योग—तृतीय योजना काल मे शक्कर का उत्पादन ३५ लाख टन तक बढाने का लक्ष्य रखा गया। इस अवधि मे भी सहकारी शक्कर मिलो की स्थापना को अधिक प्रोत्साहन दिया गया। जुलाई, १९५९ मे शक्कर की कमी होने के कारण पुन नियंत्रण लागू कर दिया गया था, परन्तु १९६०-६१ मे रिकार्ड उत्पादन होने पर सितम्बर, १९६१ मे पुन. नियंत्रण समाप्त कर दिया गया। १९६०-६१ में यह आशंका होने लगी कि उत्पादन बढने से मिलो व कृषको दोनो को हानि हो सकती है (मूल्य घटने के कारण)। अत १९६१ के अन्त मे एक अध्यादेश द्वारा उत्पादन मे १०% कमी के आदेश दिए गए। १९६०-६१ में उत्पादन काफी होने के कारण ही तृतीय योजना मे शक्कर के उत्पादन का लक्ष्य अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा नही था।

परन्तु १९६१-६२ तथा १९६२-६३ मे शक्कर का उत्पादन २७ लाख टन व २१ ५ लाख टन ही हुआ और फलस्वरूप अप्रेल, १९६३ मे पुन शक्कर के मूल्य तथा वितरण पर नियंत्रण लागू कर दिया गया। सौभाग्य से १९६३-६४ से स्थिति मे सुधार हुआ तथा शक्कर का उत्पादन उस वर्ष २५'७ लाख टन होगया। इसके बाद के दो वर्षों (१९६४-६५ व १९६५-६६) मे भी उत्पादन वृद्धि का क्रम जारी रहा—इन वर्षो मे शक्कर का उत्पादन क्रमशः ३२ ६ लाख टन एवं ३५ लाख टन था। इस प्रकार १९५०-५१ से १९६५-६६ के बीच शक्कर का उत्पादन तीन गुने से अधिक हो गया। इस वर्ष कुल उत्पादन का ३८ ७% उत्तर प्रदेश से तथा १० ५% बिहार से प्राप्त हुआ।

१९६५-६६ से बाद की प्रवृत्तियां—चीनी का रिकार्ड उत्पादन १९६५-६६ मे ३५ लाख टन हुआ था। परन्तु इसके बाद की अवधि शक्कर उद्योग के लिए संकट की अवधि रही है। निम्न तालिका पिछले तीन वर्षो मे शक्कर के उत्पादन की प्रवृत्ति को स्पष्ट करती है :[2]

शक्कर का उत्पादन	(लाख टन में)
१९६६-६७	२१·५
१९६७-६८	२२·५
१९६८-६९ (अनुमानित)	३३·०

---

१. उत्तर प्रदेश मे कुल उत्पादन का ५३ ३% १९५०-५१ मे प्राप्त होता था। १९६०-६१ तक यह अनुपात घटकर ४७·१% रह गया। (See Sugar-Biggest Industry of U P. article by L. K. Nagar (Times of India 21-3-68)

2. Economic Times, November 28 and December 2, 1968

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में चीनी का उत्पादन लक्ष्य—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत चीनी का उत्पादन लक्ष्य ४७ लाख टन निर्धारित किया गया है। चीनी उद्योग के विकास के लिए चतुर्थ योजना में २१० करोड़ रुपये की चीनी उद्योग की मशीनरी के आयात की व्यवस्था की गयी है। परन्तु चीनी उद्योग के प्रति जो अस्पष्ट दृष्टिकोण सरकार ने अपना रखा है उसके कारण किस सीमा तक इस लक्ष्य की पूर्ति हो भी सकेगी इसमें संदेह है। इसके अतिरिक्त भी और अनेक समस्याएँ चीनी उद्योग के समक्ष है जिनका समाधान इस उद्योग के विकास हेतु तुरन्त किया जाना चाहिए।

उद्योग की समस्याएँ[1]

(१) नियन्त्रण की समस्या— जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में बता चुके हैं चीनी पर (मूल्य तथा वितरण पर) १९४२ के बाद में नियन्त्रण व छूट के चक्र चलते रहे है। चीनी का अभाव होते ही सरकार नियन्त्रण प्रारम्भ कर देती है और फलस्वरूप एक ओर काला-बाजारी प्रारम्भ हो जाती है तो दूसरी ओर मिलो को नियन्त्रित मूल्य पर चीनी सरकार को देने के कारण घाटा होता है। जैसे ही स्थिति सामान्य होती है सरकार नियन्त्रण उठा लेती है। १९६३ (अप्रैल) में नियन्त्रण की नीति प्रारम्भ की गई और जब स्थिति सामान्य होने लगी तो नवम्बर १९६७ में नियन्त्रण को आंशिक रूप से समाप्त कर दिया गया। इस आंशिक नियन्त्रण के फलस्वरूप मिलो में उत्पादित शक्कर का ६०% सरकार ने जनता (विशेषकर शहरी जनता) के मध्य वितरण हेतु लेना प्रारम्भ किया। जुलाई १९६८ में मिलो को चीनी के उत्पादन का ७०% सरकार को बेचना पड रहा है। परन्तु जो कोटा सरकार मिलो से खरीदती है उस पर मिलो को घाटा होता है अतएव शेष चीनी को खुले बाजार में बेचने की छूट दी गई है।

परन्तु इस आंशिक नियन्त्रण में और अधिक अनिश्चितता प्रारम्भ हो गई है। राज्य सरकारें १.७५ से १.९० रुपये प्रति किलोग्राम पर उपभोक्ताओ को चीनी का वितरण करती है जबकि खुले बाजार में चीनी का मूल्य इससे दो गुना रहता है। वस्तुतः मिलो को जो हानि सरकारी कोटे को पूरा करने में होती है उसकी क्षतिपूर्ति खुले बाजार से की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि इस तथाकथित खुले बाजार में माँग व पूर्ति का सही स्वरूप प्रगट नहीं होता और सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। या तो राज्य को पूर्णतः खुले बाजार में चीनी की बिक्री का अवसर देना चाहिए अथवा पूर्णतः नियन्त्रण द्वारा उपभोक्ताओ तथा उत्पादको दोनों के हितो का पोषण करना चाहिए।

नियन्त्रण हेतु जो कोटा सरकार मिलो से लेती है उसका उपयोग चीनी के खुले बाजार के मूल्यो में स्थिरता लाने के लिये किया जाय तो बेहतर है। उदाहरण के लिए १९६७-६८ में मिलो से १३ लाख टन चीनी वसूल की जबकि १९६८-६९ में अनुमानतः २१ लाख टन चीनी वसूल की गई। परन्तु न तो उपभोक्ताओं को नियन्त्रित भाव पर अधिक चीनी दी गई और न ही खुले बाजार में चीनी के मूल्यो को बढ़ने से रोका जा सका।

(२) गन्ने की समस्या—सरकार की अस्पष्ट नीति का परिणाम जहा उपभोक्ताओं को खुले बाजार में (नियन्त्रण के समय काला-बाजार में) चीनी की ऊँची कीमतो के रूप में भुगतना पड़ता है वहीं गन्ना उत्पादको पर भी इसका प्रभाव होता है। भारत में गन्ने की खरीद तौल के आधार पर होती है। प्रथम योजना काल से ही गन्ने का मूल्य केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित किया जाने लगा है। यद्यपि समय समय पर गन्ने की कीमतो में वृद्धि की गई है तथापि यह वृद्धि इतनी अधिक नहीं है कि गन्ना उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा दे सके। गन्ने का उत्पादन पिछले कुछ वर्षों से अग्रलिखित प्रकार रहा है।[2]

---

1 D C Kothari Sugar Industry—Problems and Prospects (Economic Times May 10 1969) is the main reference

2 Report of the Currency & Finance 1967 68

गन्ने का उत्पादन	(गुड़ में) (लाख टन)
१९५५-५६	६०·८
१९६०-६१	११९·४
१९६२-६३	९५·४
१९६४-६५	१२३·०
१९६७-६८	९९·०
१९६८-६९ (लक्ष्य)	१२५·०

गन्ने के उत्पादन में यह उतार-चढाव गन्ने के वितरण को बहुत अधिक प्रभावित करता है। भारत मे कुल गन्ने का १/८ पौधे लगाने, चूसने तथा रस पीने के काम आता है, ५/८ गुड तथा खंडसारी बनाने के काम आता है तथा केवल १/४ मिलो को प्राप्त होता है।[1] मिलें केवल सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य पर गन्ना खरीद सकती है जबकि खंडसारी तथा गुड उत्पादक मूल्यो मे इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते हैं। फलस्वरूप मिलों को कितना गन्ना प्राप्त हो सकेगा यह अनिश्चित रहता है।

बहुधा चीनी मिलो के व्यवस्थापक केन्द्रीय सरकार से अनुरोध करते है कि उन्हे गन्ने का अधिक मूल्य देने की छूट दी जाय। परन्तु सरकार को यह डर रहता है कि इससे चीनी की कीमतें बढ जायेगी। चीनी की कीमतें तो खुले बाजार मे बढ जाती है पर मिलों को गन्ना नही मिल पाता।

नवम्बर, १९६८ तक गन्ने के वैधानिक मूल्य (मिलो की खरीद का) ९ ३८ रुपए प्रति क्विटल था परन्तु, नवम्बर व दिसम्बर मे बिहार, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, मध्यप्रदेश एवं राजस्थान मे गन्ने के मूल्यो को २ से २·२५ रुपए प्रति क्विटल बढ़ा दिया गया है। हमे यह देखना है कि गन्ने के मूल्य मे वृद्धि के साथ-साथ गन्ने मे शक्कर का अंश क्वालिटी) बढ़े और साथ ही गन्ने का वितरण सभी क्षेत्रो मे न्यायपूर्ण हो।

(३) मिलो पर कर-भार—मिलों द्वारा निर्मित चीनी पर खडसारी की अपेक्षा उत्पादन कर का भार बहुत अधिक है जबकि गुड पर कोई कर ही नही है। १९६८-६९ तक सब प्रकार के करो का प्रति क्विटल भार मिलो द्वारा निर्मित चीनी पर ३६·५० रुपए प्रति क्विटल था जबकि खंडसारी पर यह भार २१·७७ रुपए प्रति क्विटल था। १९६९-७० के बजट मे उत्पादन करो को आनुपातिक रूप मे बदल दिया गया है तथा शक्कर पर २३% तथा खडसारी पर १२ ५% उत्पादन-कर लगाया गया है। वस्तुत यह भार पूर्वापेक्षा अधिक है। फिर दानेदार चीनी तथा खडसारी के बीच करो का अन्तर भी बहुत अधिक है। श्री वेंकटपती ने शक्कर उद्योग की डांवाडोल स्थिति के लिए प्रमुख उत्तरदायी घटक उत्पादन-कर को ही माना है।[2]

(४) आधुनिकीकरण की समस्या—भारतीय चीनी मिलों के अधिकाश यन्त्र द्वितीय महायुद्ध काल में अथवा उसके कुछ समय पूर्व लगाए गए थे। एक ओर ये यन्त्र पुराने होते जा रहे है और दूसरी ओर मिलें गिरते हुए लाभ के कारण इनका प्रतिस्थापन करने मे असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त यन्त्रो की कीमतें भी काफी बढ गई हैं। १९६४ मे प्रतिदिन १२५० टन गन्ने का रस निकालने वाले यन्त्र की लागत १ ६ करोड रुपए बैठती थी। १९६८ तक इसकी लागत २·२ करोड रुपए हो गई। जब तक मिलो की स्थिति ठीक नही हो जाती अथवा यन्त्रो के मूल्यो मे कमी नही होती, आधुनिकीकरण की रफ्तार धीमी रहना स्वाभाविक है।

(५) गुड़ तथा खडसारी से प्रतियोगिता—खंडसारी तथा चीनी के बीच सरकार किस प्रकार करारोपण मे भेदभाव बरतती है यह ऊपर बताया जा चुका है। उधर गुड पर कोई कर नही है। फलस्वरूप दानेदार चीनी को गुड़ तथा खडसारी से स्पर्धा करना पडता है। चीनी

---

1. Economic Times, December 2, 1968
2. K. S Venkatapathy . Excise Duty has led to instability in Sugar Industry (article in Economic Times, May 10, 1969)

विक्रेता मूल्यों में कमी नहीं कर सकते क्योंकि वे लागत अथवा सरकारी आदेश से बंधे हुए हैं। कृषकों को भी मिलों को गन्ना देने की अपेक्षा गुड़ बनाकर बेचना ज्यादा लाभप्रद रहता है। एक एकड़ में प्राप्त गन्ना उसे केवल ४,२०० रुपए प्रदान कर सकता है जबकि उसी गन्ने से गुड़ बनाकर बेचने पर उसे १६ हजार रुपए प्राप्त होते हैं।[1] फिर स्वाभाविक है, यदि मिलों को इसमें हमेशा क्षति हो।

(६) **निर्यात की समस्या**—भारत से ८० से ९० हजार टन शक्कर बाहर भेजी जाती है। १९६९ में ९१ हजार टन निर्यात का लक्ष्य है जिसमें से संयुक्त राज्य अमरीका व ब्रिटेन को अनुबन्धित भाव एवं मात्रा के आधार पर ६६ हजार टन व २५.४ हजार टन शक्कर भेजी जाएगी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय शक्कर समझौते के अनुसार भारत अपने उत्पादन का १०% यानी ३.२ से ३.५ लाख तक का निर्यात कर सकता है। विदेशी विनिमय प्राप्ति के लिए यह एक बड़ा साधन होगा लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में शक्कर के मूल्य भारतीय मिलों की उत्पादन लागत से भी कम हैं और फलतः जब तक लागत कम नहीं होती, शक्कर के निर्यात पर अनुदान देना जरूरी है। १९६५-६६ में केन्द्रीय सरकार ने १७.५ करोड़ रुपए शक्कर के निर्यात पर अनुदान हेतु दिए। १९६६-६७ व १९६७-६८ में यह राशि क्रमशः २.१ करोड़ रुपए व ७.५ करोड़ रुपए थी।[2]

सेन आयोग—१९६४ में केन्द्रीय सरकार ने डा० एम० आर० सेन की अध्यक्षता में भारतीय शक्कर उद्योग की स्थिति की समीक्षा करने तथा इसके दीर्घकालीन विकास हेतु सुझाव देने हेतु एक आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने आशंका व्यक्त की कि भारत सरकार शक्कर उद्योग के दीर्घकालीन विकास हेतु कोई दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहती। आयोग द्वारा प्रस्तुत प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे

(१) भारतीय शक्कर उद्योग के दीर्घकालीन विकास हेतु जो भी नीति बनाई जाय वह दो उद्देश्यों पर आधारित होनी चाहिए प्रथम, गन्ने के सम्बन्ध में जो भी मूल्य नीति बनाई जाय उससे अन्तिम रस की प्राप्ति में वृद्धि होनी चाहिए तथा द्वितीय उपभोक्ताओं को पर्याप्त मात्रा में शक्कर की उपलब्धि होनी चाहिए।

(२) या तो शक्कर के वितरण की वर्तमान व्यवस्था को जारी रखते हुए कन्ट्रोल इस प्रकार लागू किया जाय जिससे उपभोक्ताओं को तो चीनी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो, साथ ही गन्ना उत्पादकों को भी सन्तुष्ट किया जा सके। अथवा १९६६ ६७ तक शक्कर का १२ लाख टन का बफर स्टॉक बनाकर चीनी पर सरकार के नियन्त्रण को समाप्त कर दिया जाय। कण्ट्रोल की समाप्ति से पूर्व यह भी जरूरी है कि चीनी के अधिकतम तथा गन्ने के न्यूनतम मूल्य निर्धारित कर दिए जाएँ। तीन अथवा पाँच वर्षों के गतिमान औसत के आधार पर ये मूल्य निर्धारित किये जा सकते हैं, परन्तु बाजार मूल्यों में ८% तक उतार-चढ़ाव को सामान्य समझा जाए।

(३) गन्ने के मूल्यों का निर्धारण इस प्राप्ति के आधार पर किया जाय।

---

1 Commerce, 8th July, 1967 (p 102)
2 Economi Times, May 10, 1669 (p 6)

२६

अन्य वृहत स्तरीय उद्योग (क्रमशः)
(Other Large Scale Industries (Continued)

प्रारम्भिक

पिछले दो अध्यायो के अन्तर्गत चार बड़े उद्योगो—अर्थात् (१) सूती वस्त्र उद्योग, (२) जूट उद्योग, (३) लौह एवं इस्पात उद्योग तथा (४) चीनी उद्योगो का वर्णन किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत शेष बड़े उद्योगो, अर्थात् (५) सीमेण्ट उद्योग, (६) कागज उद्योग, (७) रासायनिक उद्योग तथा (८) इजीनियरिंग उद्योग का वर्णन किया गया है।

(५) सीमेंट उद्योग

सीमेंट उद्योग का प्रारम्भ बीसवी शताब्दी मे ही हुआ। १९०४ मे मद्रास मे एक छोटी-सी सीमेट फैक्ट्री स्थापित की गई थी, लेकिन प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक देश में केवल १,००० टन सीमेंट का ही उत्पादन किया जाता था।

प्रथम महायुद्ध मे सड़को, भवनो व अन्य निर्माण कार्यों का निर्माण अधिक व्यापक रूप मे किया गया और इससे सीमेंट की मांग मे काफी वृद्धि हुई। फलस्वरूप सीमेंट के उत्पादन में भी काफी तेजी से वृद्धि हुई। प्रथम महायुद्ध-काल मे सीमेंट का उत्पादन कितनी तेजी से बढ़ा, यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है[1]

वर्ष	सीमेंट का उत्पादन (हजार टनो मे)
१९१४	१
१९१६	१९
१९१८	८४

इस प्रकार सीमेंट-उद्योग की वास्तविक प्रगति प्रथम महायुद्ध-काल से प्रारम्भ हुई और चार वर्ष की अल्प अवधि मे सीमेट का उत्पादन ८४ गुना हो गया। लेकिन युद्धकालीन तेजी १९२४ मे समाप्त हो गई और इसके पश्चात भारतीय सीमेंट उद्योग मे आन्तरिक तथा बाह्य प्रतिस्पर्धा के कारण संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई। इसी वर्ष भारतीय सीमेंट उत्पादक संघ की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य सीमेंट उद्योग का विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाव करना ही नही था, अपितु सीमेंट के उत्पादन एव मूल्यो को नियन्त्रित करना भी था।

---

1. Wadia & Merchant : Our Economic Problem p. 391

श्रीमती वीरा एन्स्टे का कथन है कि भारतीय सीमेंट उद्योग के विकास का प्रमुख रहस्य यही है कि सीमेंट कम्पनियाँ पूर्णतया संगठित थी तथा विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करने मे समर्थ थी ।[1] विदेशी व्यापारियों से प्रतियोगिता तीव्र अवश्य थी, पर परस्पर सहयोग के कारण उत्पादन लागत अधिक होने पर भारतीय सीमेंट की खपत बढती गई और सीमेंट का आयात घटता गया। १९२५ एवं १९४० के बीच सीमेंट का आयात १ ५ लाख टन से घट कर २१ हजार टन रह गया। इस अवधि मे सीमेंट का उत्पादन ३ ६ लाख टन से बढ कर १७·४ लाख टन हो गया।[2]

सीमेंट का उत्पादन (हजार टनो मे)

वर्ष	उत्पादन
१९२५	३,६०
१९३०	५,६३
१९३५	८,९०
१९४०	१७,४०

१९४७ में सीमेंट का उत्पादन १४ लाख टन था, लेकिन १९५१ में यह बढकर ३१ लाख टन हो गया। इस समय कुल खपत का ४० प्रतिशत राज्य तथा ६० प्रतिशत जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु प्रयुक्त किया था।

पंचवर्षीय योजनाओ मे सीमेंट उद्योग का विकास

आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत जिस गति मे बहुमुखी योजनाओ तथा भवनो का निर्माण-कार्य कार्यान्वित किया जाता था उसको देखते हुए सीमेंट का उत्पादन अत्यन्त तेजी से बढाया जाना आवश्यक था।

प्रथम योजना काल में सीमेंट का उत्पादन २७ लाख टन (१९५० का स्तर) से बढकर ४६ लाख टन हो गया। देश की कुल खपत का ८०% १९५६ में केवल केन्द्रीय व राज्य सरकार की योजनाओं की पूर्ति हेतु प्रयुक्त किया जाता था। इस समय सीमेंट की मांग इतनी अधिक थी कि १९५६ मे ५,०० ००० टन सीमेंट बाहर से मँगाना पड़ा।

द्वितीय योजना के अन्त में सीमेंट का उत्पादन ८५ लाख टन था। इस प्रकार दो योजनाओं की अवधि मे सीमेंट का उत्पादन ३ गुने से भी अधिक हो गया। इस अवधि मे लका, मलाया, जावा व ईरान को पर्याप्त मात्रा मे भारत से सीमेंट का निर्यात किया गया।

तृतीय योजना काल में सीमेंट का वास्तविक उत्पादन १ करोड ३० लाख टन तक बढाने का निश्चय किया गया था परन्तु वास्तविक उत्पादन १ करोड टन तक ही बढ सका। मार्च, १९६६ के अन्त मे भारतीय उद्योग की क्षमता १ २० करोड टन की थी तथा कुल मिलाकर इस उद्योग में ६० करोड रुपए की पूँजी लगी हुई थी।

तीसरी पचवर्षीय योजना की समाप्ति से पूर्व राजकीय क्षेत्र मे सीमेंट के कारखाने प्रारम्भ करने की दृष्टि से सीमेंट निगम की स्थापना की गई। इस निगम के अन्तर्गत अभी आध्र प्रदेश, हिमाचल प्रदेश व मैसूर मे कुल १६ लाख टन की क्षमता वाले कारखाने कार्य कर रहे है।

तीन वार्षिक योजनाओ मे सीमेंट उद्योग का विकास

तीन वर्षों मे सीमेंट का उत्पादन तथा सीमेंट उद्योग की क्षमता इस प्रकार रही :

(लाख टन मे)

वर्ष	उत्पादन
१९६६-६७	१११
१९६७ ६८	११५
१९६८-६९ (अनुमानित)	१२५

---

1. Vera Anstey The Economic Development of India p 292
2 Wadia & Merchant op cit, p 391

सीमेंट मिल एसोसिएशन के अध्यक्ष श्री वी० एच० डालमिया ने अपने एक लेख[1] मे बताया कि १९७० तक भारतीय सीमेंट कारखानो की उत्पादन क्षमता २१० लाख टन हो जाएगी तथा उद्योग की विनियोजित पूंजी १०० करोड रुपए तक बढने की आशा है। इस लेख मे यह भी बताया गया है कि सीमेंट के वर्तमान (१९६८) वार्षिक उत्पादन का मूल्य ११० करोड रुपए है तथा उत्पादन कर के रूप मे यह उद्योग सरकार को ५० करोड रुपए तथा रेल-भाडे के रूप में २८ करोड़ रुपए प्रदान करता है।

कुल मिलाकर १९४७ व १९६७ के बीच सीमेंट के उत्पादन मे ९% प्रतिवर्ष की दर से (औसत) वृद्धि हुई। १९४७ से १९५७ के बीच उत्पादन १५% प्रतिवर्ष की दर से बढा परन्तु १९५७ व १९६७ के बीच यह वृद्धि ६·५% ही रही। देश के ४४ सीमेंट के कारखानों में ३१ दिसम्बर, १९६८ को १ लाख से अधिक श्रमिक कार्य कर रहे थे। सीमेंट कार्पोरेशन तथा राज्य व्यापार निगम के संयुक्त ने सितम्बर १९६८ में २·५८ लाख टन सीमेंट के निर्यात हेतु कुवैत, श्रीलंका तथा अन्य पश्चिमी एशियाई देशों से अनुबन्ध किए हैं। इससे सीमेंट उद्योग को ३ ४ करोड़ रुपए का विदेशी विनिमय प्राप्त होगा। वस्तुत सीमेंट के निर्यात से इस उद्योग के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ होगा। १९५४ व १९६८ के बीच सीमेंट उद्योग की क्षमता ४४ ५ लाख टन से बढ़कर १ ४५ करोड टन तथा उत्पादन ४४ लाख टन से बढ़कर १·२७ करोड़ टन हो गया।[2]

सीमेंट के मूल्यो तथा वितरण पर १९६५ के अन्त तक राज्य का नियन्त्रण था। केवल अधिकृत विक्रेता ही नियन्त्रित मूल्य पर सीमेंट बेच सकते थे। परन्तु आर्थिक नियोजन के दौरान राजकीय तथा निजी दोनो क्षेत्रों मे निर्माण कार्य बहुत बडे पैमाने पर हुए और फलस्वरूप सीमेंट की काला बाजारी काफी होती थी। काफी समय तक सीमेंट कारखानो के व्यवस्थापको की ओर से कन्ट्रोल की समाप्ति की मांग के प्रति सरकार का रवैया उपेक्षापूर्ण रहा, परन्तु १९६६ के प्रारम्भ से ही सीमेंट के वितरण पर चल रहे सरकारी नियन्त्रण हटा दिया गया। परन्तु इससे समस्या हल नही हो सकी, तथा १९६८ मे पुनः सीमेंट के वितरण का कार्य राज्य द्वारा स्थापित सीमेंट निगम द्वारा ले लिया गया। इसके साथ ही केन्द्रीय एवं राज्य सरकारो को अनुबन्धित मूल्य पर सीमेंट की पूर्ति करने के आदेश कारखानो को दिए गए। शेष सीमेंट राज्य द्वारा स्वीकृत मूल्य पर खुले बाजारो मे बेचने की छूट दी गई। १९६६ से १९६८ तक सीमेंट का वितरण इस प्रकार हुआ :[3]

सीमेंट की पूर्ति

(लाख टनो मे)

	१९६६	१९६७	१९६८
(अ) अनुबन्धित मूल्य पर			
(१) केन्द्रीय सरकार	३०·०	२५ १	१२ २
(२) राज्य सरकारें	१६ २	१३·७	५·९
योग	४६·२	३८·८	१८·१
(आ) अन्य उपभोक्ताओं को	६२·५	७१ ९	३७·९
कुल योग	१०८·७	११०·७	५६·७

१९६८-६९ मे सीमेंट का उत्पादन १ २५ करोड़ टन था जिसे १९७३-७४ तक १·८ करोड़ टन तक बढाए जाने की आशा है।

1 Commerce Annual, 1968
2. Cement Irdustry Exports & Growth (Economics Times 16-12-1968)
3 Op cit.

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में सीमेंट उद्योग का विकास

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों के हेतु सीमेण्ट की मांग में पर्याप्त वृद्धि होने की सम्भावनाएं है। अतएव बढ़ती हुई मांग को ध्यान में रखकर सीमेण्ट का उत्पादन लक्ष्य १८० लाख टन निर्धारित किया गया है। यही नहीं, सीमेण्ट उद्योग के विकास के लिए चतुर्थ योजना में १९ करोड रु० की मशीनरी के निर्माण की व्यवस्था की गयी है।

सीमेण्ट उद्योग की समस्यायें :

यह एक अत्यन्त सन्तोष की बात है कि १९६४ तथा १९६८ के बीच सीमेंट का उत्पादन १ हजार टन से बढ़कर १ १५ करोड टन हो गया। द्वितीय महायुद्ध से लेकर अब तक की प्रगति भी काफी तीव्र रही है। इस तीव्र गति का मुख्य कारण सीमेंट उद्योग का सगठित होना है।

(१) चूने के पत्थर की कमी—परन्तु इसके बावजूद पिछले कुछ वर्षों से भारतीय सीमेंट उद्योग कुछ समस्याओ से प्रभावित हो रहा है जिनका तुरन्त निराकरण होना चाहिए। इस उद्योग के समक्ष पहली समस्या चूने के पत्थर की अपर्याप्त पूर्ति है। यद्यपि इस्पात के स्लैग से भी सीमेंट बनाया जा सकता है पर उससे उच्च कोटि का सीमेंट नही बनता।

(२) मूल्य तथा लागत में सन्तुलन का अभाव—उद्योग की द्वितीय समस्या मूल्य तथा लागतो मे सतुलन बनाए रखने की है। श्री डालमिया का कथन है कि सरकार मूल्यो को कृत्रिम रूप से दबाए रखती है जिससे लागतें बढ़ते रहने की स्थिति मे मिलो के लाभ घटते चले जाते है। कर चुकाने से पूर्व का लाभ १९६६-६७ मे १९ करोड रुपए था, परन्तु १९६७ ६८ मे यह घट कर १६ करोड रुपए रह गया।[1]

(३) कार्यशील पूँजी का अभाव—सीमेंट उद्योग की तीसरी समस्या कार्यशील पूँजी प्राप्त करने की है। रिजर्व बैंक के एक अध्ययन मे बताया गया कि १९६५-६६ मे लाभांश आदि के भुगतान के बाद २½ करोड रुपया सीमेंट फैक्टरियो के पास रहा जबकि उन्हे उस वर्ष ८ करोड रुपए विनियोग करने पडे। इस प्रकार आवश्यकता का २०% भी उद्योग अपने साधनो से नही जुटा सका।

(४) बढ़ती हुई मांग की पूर्ति—सीमेंट उद्योग की अन्तिम समस्या मांग के अनुरूप उत्पादन बढ़ाने की है। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय सीमेंट उद्योग की इतनी प्रगति के बावजूद सीमेंट का उपभोग प्रति व्यक्ति यहाँ बहुत कम है। १९६६ मे भारत मे प्रति व्यक्ति उपभोग केवल **२२ किलोग्राम था** जबकि अन्य देशो में यह मात्रा इस प्रकार रही थी :

सीमेंट का उपभोग (किलोग्राम में)

स्विट्जरलैंड ७१५, आस्ट्रिया ५९३, पश्चिमी जर्मनी ५६३, बैल्जियम ८६३, फ्रांस ४५७, इटली ४२६ कनाडा ४०० जापान ३६५, सयुक्त राज्य अमरीका ३४२, इगलैंड ३०५ तथा भारत २२।

जीवन स्तर में सुधार के साथ-साथ भारत मे भी पक्के मकानो का निर्माण बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त सडकों व बाँधों के निर्माण हेतु भी सीमेंट की अधिकाधिक जरूरत होगी। अत जरूरत इस बात की है कि सीमेंट उद्योग की समस्याओ के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण तुरन्त अपनाया जाय। यह एक सतोष की बात है कि भारत सरकार ने अगले वर्ष से सीमेंट पर नियत्रण न रखने का निर्णय किया है।

(६) कागज उद्योग

कागज की खपत किसी भी देश के निवासियो मे प्रचलित शिक्षा का मापदण्ड प्रस्तुत करती है। प्राचीन काल मे भले हो भारत सस्कृति तथा साहित्य के क्षेत्र मे विश्व का गुरू रहा

---

1. See Economic Times, 19th November, 1968.

हो और तालपत्रियों, भोजपत्रों एव हाथ से बने हुए कागज का पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया जाता रहा हो, परन्तु १८-१९ वी शताब्दी में हाथ से बने हुए कागज का भी बड़े पैमाने पर उत्पादन अथवा खपत होने का कोई सकेत भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास मे नही मिलता। हाथ से कागज बनाने का कार्य आज तक भी गाँवो में प्रचलित है लेकिन जिस मात्रा में तथा जिस सीमा तक प्रति व्यक्ति कागज का उपयोग भारत मे होता है, वह यहाँ व्याप्त अशिक्षा का ही परिचायक है।

लेकिन १९वी शताब्दी के अन्तिम वर्षो में शिक्षा का प्रसार होने के कारण तथा राजकीय कार्यों के लिए कागज की मांग बढी। कागज के निर्माण के लिए आवश्यक वस्तु सबाई घास अथवा बॉस होते है, जो पर्याप्त मात्रा मे उत्तरी-पूर्वी भारत मे उपलब्ध भी हैं। इसलिए १९ वी शताब्दी की सारी मिलें उत्तरी-पूर्वी भारत मे ही स्थापित की गईं। १८७० मे हुगली पर बैली मिल्स की स्थापना हुई और १८९२ मे टीटागढ पेपर मिल्स प्रारम्भ की गई जबकि १८९२-९४ कंकीनारा इम्पीरियल पेपर मिल्स की स्थापना की गई। टीटागढ तथा इम्पीरियल कागज मिलों की गणना आज भी देश की उत्कृष्टतम कागज मिलों मे की जाती है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक तीन-चार कागज मिलो की और स्थापना की गई।

प्रथम महायुद्ध-काल मे कुछ समय तक कागज-उद्योग का काफी तेजी मे विकास किया गया, लेकिन युद्ध समाप्त होने पर कागज उद्योग पर संकट छाने लगा। फलस्वरूप १९२२ मे प्रथम राजकोषीय आयोग ने सबाई घास के उपयोग तथा विदेशी लुग्दी के आयात को नियंत्रित करने तथा बॉस का उपयोग बढाने का सुझाव दिया।

१९४२ मे प्रशुल्क मण्डल के सुझावों को मानते हुए सरकार ने विदेशी कागज के आयात पर पाँच वर्ष के लिए एक आना प्रति पौड का सरक्षण-कर लगा दिया। यह नीति ३१ मार्च, १९३२ तक चली। प्रशुल्क मण्डल की सिफारिश मानकर १९३२ मे राज्य पुन बॉस के बने हुए कागज के निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए विदेशी कागज के आयात पर ४५ रु० प्रति टन का कर लगा दिया।[1] यह सरक्षण १९४७ तक चलता रहा। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक भी भारत अपनी कागज की आवश्यकता का आधे से अधिक विदेशी आयात से पूरा करता था। उत्तम कोटि का लिखने व छपाई का कागज तथा अखबारी कागज अधिकाशतः बाहर से मँगाया जाता था।

विभाजन के समय भारत मे १६ कागज मिलें रही जिनमें से चार पश्चिमी बंगाल व ३ बम्बई मे थी। परन्तु पश्चिमी बगाल से कुछ कागज के उत्पादन का ५% प्राप्त होता था। वस्तुतः १९३७ व १९४६ के बीच कागज का उत्पादन ५४ हजार टन मे बढकर १ लाख टन हो गया था। इस द्रुत विकास का प्रमुख कारण सरक्षण ही था।

आर्थिक नियोजन एव कागज उद्योग[2]

आर्थिक नियोजन के प्रारम्भ मे भारत मे १७ कागज मिलें थी तथा कुल उत्पादन क्षमता १ ३६ लाख टन थी। दो पंचवर्षीय योजनाओ की अवधि मे कागज मिलो की संख्या २८ तथा इनकी उत्पादन क्षमता ४·१० लाख टन तक बढ गई। १९५१-५२ मे ३३ हजार टन कागज का आयात होता था। आयात मे १९५५-५६ तक वृद्धि हुई और इसकी मात्रा इस समय तक ५० हजार टन तक बढ गया। परन्तु इसके बाद आयात घटने लगे तथा १९६०-६१ तक कागज का आयात २३ हजार टन रह गयी। परन्तु अखबारी कागज १९५१-५२ तथा १९६०-६१ के बीच ५० हजार टन से बढकर ७१½ हजार टन हो गया। इस समय अखबारी कागज का उत्पादन भारत मे २३ हजार टन था तथा कुल जरूरत का ३०% हम इससे पूरा कर लेते थे।

गत्ता बनाने वाली इकाइयाँ १९५६ मे २५ थी तथा इनकी कुल क्षमता ५९,४०० टन थी। गत्ता-मिलो की सख्या १९६९ तक २६ तथा इनकी क्षमता ७७,४०० टन के लगभग हो गई।

---

1. यह कर कागज की विशिष्ट श्रेणियो पर ही लगाया गया था।
2. Based mainly on article 'Paper Industry in India" by Prakash Chandra : Industrial India October, 1967

तृतीय पचवर्षीय योजना काल में भी कागज के उत्पादन का वृद्धि क्रम जारी रहा। परन्तु १९६५ ६६ तक कागज उद्योग की क्षमता का लक्ष्य (८ ३३ लाख टन) तक नही बढ सका। इस समय कुल क्षमता लगभग ६ ८ लाख टन ही थी। वास्तविक उत्पादन का लक्ष्य १९६५-६६ तक ७ ११ लाख टन तक बढाने का था, परन्तु यह भी ७ ५ लाख टन तक ही बढ सका। १९६० ६१ तथा १९६५ ६६ के बीच अखबारी कागज की कुल क्षमता ३० हजार टन से बढकर १ ५ लाख टन तथा वास्तविक उत्पादन २३ हजार टन से बढकर १ २८ लाख टन करने का लक्ष्य था। परन्तु जहां क्षमता म कोई वृद्धि नही हो सकी १९६५ ६६ तक मे वास्तविक उत्पादन ३० हजार टन तक बढ सका। इस प्रकार **तृतीय योजना काल में कागज उद्योग ने कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं की।**

फरवरी १९६७ मे भारत मे ५७ कागज मिलें काय कर रही थी जिनमे से २५ तो बहुत छोटी थी तथा इनमे प्रत्येक की कागज उत्पादन क्षमता ३ हजार टन से कम थी।

सबसे उल्लेखनीय बात जो आर्थिक नियोजन के पिछले वर्षो मे हुई वह यह थी कि सरकार ने कागज उद्योग के विकास मे स्वय सक्रिय योगदान दिया। १९६२ मे कुल २८ मिलो मे से ७ सरकारी क्षेत्र म थी तथा १९६१ ६२ मे कुल कागज के उत्पादन का ५०% इनसे प्राप्त हुआ।

चतुथ पचवर्षीय योजना में कागज उद्योग का विकास देश मे कागज की निरन्तर बढती हुई माग को ध्यान मे रखते हुए चतुथ योजनाकाल मे कागज उद्योग के विकास पर जोर दिया गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु चतुथ योजनाकाल मे ९६० हजार टन कागज व कागज बोड (Paper and Paper Board) के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। यही नही कागज उद्योग के विकास के लिए मशीनो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए चतुथ योजनाकाल मे १३ ५ करोड रुपये की कागज की मशीनरी के निर्माण का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

कागज उद्योग की समस्यायें

(१) कच्चे माल की कमी—कागज उद्योग का भावी विकास केवल मात्र जिस घटक पर निभर है वह है कच्चे माल की कमी। बास तथा सवाई घास की देश मे उपलब्ध मात्रा बढती हुई माग को पूरा करन मे समय नही है। आवश्यकता इस बात की है कि शीघ्र बढने वाले टिम्बर की श्रेणियो जसे एलूकेलीपस वैटल और व्लूगन आदि को उगाकर उनकी लुग्दी तयार की जाय। कागज बनाने के लिए गन्ने का बगेज (रस निकालने के बाद शेप छिलका) बास के बदले श्रेष्ठ प्रतिस्थापन दे सकता है। परन्तु बैगेज की पूर्ति म वृद्धि तभी सम्भव होगी जबकि शक्कर मिलो को उचित मूल्य पर कायला या ईधन मिल जाय क्योकि बैगेज का उपयोग जलाने म होता है। इस दिशा म भारत सरकार कागज तथा लुग्दी विकास निगम की स्थापना करने का विचार कर रही है जो कागज उद्योग के लिए कच्चे माल की समस्या का हल ढूढेगा।

(२) रासायनिक पदार्थों की कमी—कागज उद्योग के समक्ष दूसरी समस्या है रासायनिक पदार्थों को प्राप्त करने की। सोडियम सल्फट तथा अल्युमिनिया फैरिक की कीमतें जिस तेजी से बढ रही हैं वह इस उद्योग के लिए निश्चय ही चुनौती है। १९६० ६१ व १९६६ के बीच सोडियम सल्फट की कीमत ३००) रुपए प्रति टन से बढकर ७५०) रुपए प्रति टन तथा लूनिया फैरिक का प्रति टन मूल्य १००) रुपए से ४००) रुपए हो गया। गन्धक की कमी के कारण माग के अनुसार देश म इनका उत्पादन नही बढ पाता।

(३) भारी पूँजीगत व्यय—भारत म नई कागज मिलें लगाने की लागत सम्भवत विश्व म सर्वाधिक है। प्रतिदिन १०० टन कागज बनाने वाले प्लाट की लागत भारत मे १८ से २० करोड रुपये आती है। भारत म निर्मित मशीनें भी महँगी पडती है। स्थायी पूँजी की ऊँची लागत के अलावा कच्चे माल की ऊँची कीमतें इन्हे चुकानी पडता है। यही कारण है कि कागज मिलो का लाभ ३ म ३ ५% (पूँजी का) है जबकि उद्योगो का औसत लाभ ९% है। इनके अतिरिक्त छोटी इकाइयो की समस्या भी इस उद्योग के समक्ष एक चुनौती है।

(४) **विशिष्ट श्रेणियों के कागज का आयात**— यह ठीक है कि सामान्य उपयोग के कागज का उत्पादन आज हम आवश्यकतानुसार कर रहे है परन्तु फिर भी लगभग १७-१८ प्रकार की विशिष्ट श्रेणियो का हमे विदेशों से विशेष रूप से स्वेडन से आयात करना पडता है। इसके अतिरिक्त भारत मे आज भी प्रति व्यक्ति कागज का उपयोग अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है।[1] इस तथ्य की निम्न आँकडो द्वारा पुष्टि होती है -

कागज का उपयोग— (१९६६–पौड मे) सं० रा० अमरीका ५३०, इंग्लैंड २६५, पश्चिमी जर्मनी २२४, जापान १७६, सोवियत रूस ४६, संयुक्त अरब गणराज्य १७, श्रीलंका ८, भारत ३, विश्व का औसत ६९।

भारत मे कागज का इतना कम उपयोग यहाँ विद्यमान व्यापक निरक्षरता का ही प्रतीक है।

७. रसायन उद्योग

आधुनिक उद्योगों के लिए रासायनिक पदार्थों की पर्याप्त पूर्ति एक आधारभूत आवश्यकता है। न केवल बड़े व छोटे उद्योगो के लिए अपितु कृषि के लिए भी रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। इनमे सभी प्रकार के अम्ल, क्षार तथा रासायनिक उर्वरको को सम्मिलित किया जाता है। वस्तुत रासायनिक पदार्थों की माँग औद्योगीकरण की सीमा पर निर्भर करती है। चूँकि भारत स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक औद्योगिक दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ था, इन पदार्थों की माँग बहुत कम थी। इसके अलावा रासायनिक-पदार्थों की माँग बहुत कम थी। इसके अलावा रासायनिक-पदार्थों के लिए जिन तत्वो की आवश्यकता है उनकी पर्याप्त उपलब्धि भी हमारे देश मे उस समय नही थी। तकनीकी अभाव तथा शक्ति की कमी के कारण भी रासायनिक पदार्थो का उत्पादन पर्याप्त नही हो सका था। फिर भी १९४६ तक कास्टिक सोडा, मैग्नेशियम क्लोराइड, हाइड्रक्विनन, स्टीयरिक एसिड, टिटेनियम डाई ऑक्साइड और कुछ अन्य पदार्थों का देश मे उत्पादन प्रारम्भ हो गया था। इसके लिए १९३१ मे इस उद्योग को दिया गया विवेचनात्मक संरक्षण काफी सहायक सिद्ध हुआ।

१९४६ व १९४९ के बीच रासायनिक पदार्थों का उत्पादन काफी तेजी से बढा। सुपर फॉस्फेट्स का उत्पादन १० गुने से अधिक हो गया। कॉस्टिक सोडे का उत्पादन २ २५ गुना व सोडाएश, तरल क्लोरीन, रासायनिक खाद आदि के उत्पादन की वृद्धि ५०% तक थी।

आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत भी रासायनिक उद्योग के विकास के क्रम को जारी रखा गया है। उर्वरको के अलावा अन्य रासायनिक पदार्थो का उत्पादन बढाने के लिए केन्द्रीय सरकार ने भारी रसायन विकास परिषद की स्थापना १९५३ मे की।

१९५०-६५ की अवधि मे कुल मिलाकर रासायनिक पदार्थों के उत्पादन की वृद्धि दर (वार्षिक) १७ से १८% रही है, जबकि कुल औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि इस अवधि मे ७ से ८% की दर से हुई। १५ वर्ष की इस अवधि मे रसायन उद्योग की प्रगति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है[2]

भारत का रसायन उद्योग

	१९५०	१९६५
उत्पादक पूँजी (करोड रुपए)	३०	३८२
रोजगार (हजार श्रमिक)	३७ ७	१२७·५
कुल उत्पादन (मूल्य करोड रुपए)	३७·०	४१७·०
शुद्ध उत्पादन ,,	१४ ४	११४ ॰

1. See Commerce Annual number, 1968.
2. Chemical Industry article by D. M. Trivedi—Economic Times, December 31, 1968.

तीन पचवर्षीय योजनाओ मे प्रमुख रासायनिक पदार्थों का उत्पादन इस प्रकार बढा

	१६५०-५१	१६६५-६६ (हजार टन)
कॉस्टिक सोडा	१२	२१८
सोडाएश	४५	३३१
सल्फरिक एसिड	१०१	६६४
नत्रजन उवरक	९	२३३
फॉस्फेटिक उर्वरक	९	१११

कहा जाता है कि भारतीय रसायन उद्योग का हमारे वृहत् स्तर के उद्योगो मे चौथा स्थान है। १९५३-६३ के बीच तो रासायनिक पदार्थों का उत्पादन ११% की दर से बढा जबकि कनाडा म यह वृद्धि ६ ६%, ब्रिटेन मे ६ २% व स० राज्य अमरीका मे ७ ७% रही थी।

परन्तु पिछले कुछ वर्षो से रसायन उद्योग के समक्ष कुछ समस्याओ का उदय हुआ है। सबसे ज्वलन्त समस्या कच्चे माल की पूर्ति से सम्बन्धित है। द्वितीय व तृतीय योजनाओ की अवधि मे रासायनिक पदार्थों से सम्बद्ध अनेक लाइसेंस दिए गए जबकि इनकी सम्पूर्ण क्षमता का उपयोग करने हेतु पर्याप्त कच्चा माल देश मे उपलब्ध नही है। १९६७ ६८ म विभिन्न प्रकार के प्लाटो मे ४६ से ८२% तक क्षमता ही काम मे लाई जा सकी। ब्रोमाइड की उत्पादन क्षमता का केवल ८% ही प्रयुक्त किया जा सका।[1]

रसायन उद्योग की दूसरी समस्या गिरत हुए लाभाश की है। कच्चे माल की कमी के कारण काले बाजार म ऊँची कीमता पर कच्चा माल खरीदा जाता है। साथ ही सरकार भी उत्पादन करो के रूप मे अपना अश लेने का प्रयास करती है। फलस्वरूप उत्पादन लागत बढ जाती है।

१९६६-६७ म बिक्री की राशि का १६ ४% लाभ के रूप मे रसायन उद्योग को प्राप्त हुआ था परन्तु १९६७-६८ मे यह अनुपात घटकर १३% रह गया।

१९६८ ६९ का अनुमानित उत्पादन व १९७३-७४ का प्रस्तावित लक्ष्य विभिन्न रासायनिक पदार्थों के लिए इस प्रकार है।[2]

	१६६८-६६	१६७३ ७४
नत्रजन उवरक (लाख टन)	५ ५	३० ०
फॉस्फेट	२ २	१५ ०
कॉस्टिक सोडा	३ १	५ ०
सोडा एश	३ ६	५ ५
सल्फरिक एसिड	१० २	३५ ०

इस प्रकार विभिन्न रासायनिक पदार्थों के उत्पादन मे कई गुनी वृद्धि करने का लक्ष्य है। परन्तु इसके लिए रसायन उद्योग को २ ००० करोड करोड रुपए का विनियोग करना होगा।

८ इजीनियरिंग उद्योग[3]

इन्जीनियरिंग उद्योग म हम यत्रो के निर्माण को सम्मिलित करते हैं। ये यत्र उत्पादका अथवा उपभोक्ताओ दोनो के काम आ सकते हैं। उदाहरण के लिए कपडा जूट, कागज, शक्कर सीमेंट एव आटा व दाल मिलों की मशीनो का उत्पादन इन्जीनियरिंग उद्योग का ही विशिष्ट अग है। दूसरी ओर साइकिलें व सीने की मशीनो आदि का उत्पादन भी इसी के अन्तगत है।

---

1 See (i) Capacity utilization in Indian Industries Commerce Annual Number 1968
(ii) Economic Times, February 24, 1969
2. Yojana April 20, 1969
3 Commerce Annual Number 1968 and Economic Times March 14 1969

आर्थिक नियोजन की अवधि में इन्जीनियरिंग उद्योगों ने सर्वाधिक प्रगति की है।

१९५८ तक भी कुल मिलाकर मशीनो, मशीन टूलो तथा विविध इन्जीनियरिंग वस्तुओं का उत्पादन मूल्य केवल २० करोड़ रुपए था। लेकिन १९६८ में भारतीय इन्जीनियरिंग उद्योग ने २,००० करोड़ रुपए के मूल्य की वस्तुओं का उत्पादन किया। १९५१ मे कुल औद्योगिक उत्पादन में इनका अनुपात १०% से भी कम था परन्तु १९६६-६७ तक यह अनुपात ४०% तक बढ गया। यह भी उल्लेखनीय है कि १९६६-६७ तक कुल औद्योगिक पूंजी में इन्जीनियरिंग उद्योगो की पूंजी का अनुपात ४२% तक पहुँच गया था। भारी यन्त्रो के निर्माण हेतु राँची में हैवी इलेक्ट्रिकल्स, मशीन टूलो के लिए बंगलौर व रोपड़ (पंजाब) तथा छोटे यंत्रो के लिए कोटा में सार्वजनिक क्षेत्र में कारखाने स्थापित किए गए है। कुल मिलाकर इस उद्योग में लगभग ७,००० करोड रुपए की पूंजी लगी हुई है जिसमें से लगभग आधी निजी क्षेत्र मे है।

१९५१ तथा १९६७ के बीच औद्योगिक उत्पादन (सभी क्षेत्रो का) की वृद्धि दर (चक्रवृद्धि) ६·५% रही जबकि इन्जीनियरिंग उद्योगो का उत्पादन १२·३% प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा। विशेष रूप से इस अवधि मे विद्युत एवं परिवहन यन्त्रों का उत्पादन बढा है। अनुमानतः १९५१ व १९६७ के बीच इनका उत्पादन ११ गुने से अधिक हो गया।

यह भी उल्लेखनीय है कि किन्ही-किन्ही क्षेत्रो मे तो भारतीय इन्जीनियरिंग उद्योग ने चमत्कारिक प्रगति की है। निम्न तालिका स्पष्ट करती है कि मशीन निर्माण, मशीन टूल व उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन १९५०-५१ से १९६६-६७ तक किस रूप मे बढ़ा·

	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६६-६७
शक्कर-मिल यंत्र (मूल्य लाख रुपए)	—	४२०	९३६
सीमेंट मिल यत्र (,,)	—	६०	६३४
विद्युत ट्रान्सफार्मर्स (००० kv.)	१७८	१३९२	३७५०
रेलो के एन्जिन (सख्या)	७	२७२	३२०
मशीन टूल (मूल्य लाख रुपए)	३०	७००	२९००
साइकिलें (हजार मे)	९९	१०७०	१६८०
सीने की मशीनें (,,)	३३	३०३	४८०

इस प्रकार भारतीय इन्जीनियरिंग उद्योग ने पिछले १½ दशक मे काफी प्रगति की। निर्यात के दृष्टिकोण से यदि विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि १९५०-५१ में इन्जीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात नगण्य था लेकिन १९६०-६१ तक भारत से ६·७ करोड़ रुपए की इन्जीनियरिंग वस्तुएं भेजी जाने लगी। उसके बाद भी प्रगति की रफ्तार काफी सतोषप्रद रही है। १९६७-६८ मे भारत से ४२ करोड रुपए के मूल्य की ये वस्तुएं निर्यात की गई थी और १९६८-६९ मे अनुमानतः यह राशि ७० करोड़ रुपए तक पहुँच गई थी।

परन्तु १९६७ व १९६८ के बीच इजीनियरिंग उद्योग की अनेक शाखाएँ मन्दी से प्रभावित रही। १९६७ मे ३२२१ इकाइयां अपनी क्षमता का पूरा उपयोग नही कर सकी। १९६८ मे ऐसी इकाइयो की सख्या २६३५ थी। विशेषरूप से हिन्दुस्तान मशीन टूल की कार्यक्षमता का १९६८-६९ तक भी केवल ३०% उपयोग मे लाया गया। माँग की कमी से उत्पन्न इस मन्दी के कारण ही साइकिलो व सीने की मशीनो का उत्पादन १९६७ व १९६८ के बीच क्रमश १०% व २०% ही बढ सका जबकि इसके पूर्व इनकी वृद्धि काफी अधिक थी। अर्थशास्त्रियो का अनुमान है कि द्वितीय व तृतीय योजनाओ मे अनेक इकाइयो को अविवेकपूर्ण ढग से बिना मांग व कच्चे माल की पूर्ति आदि का सर्वांगीण दृष्टिकोण रखे हुए लाइसेंस दिए गए और इसी के फलस्वरूप इन दो वर्षो मे इंजीनियरिंग उद्योग मन्दी से प्रभावित रहा। राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध परिषद ने कुछ समय पूर्व बताया था कि इंजीनियरिंग उद्योगो, विशेषकर निजी क्षेत्र की छोटी इकाइयों के समक्ष पूंजी का अभाव भी एक बडी समस्या है। राज्यो में स्थित वित्त निगम तथा कुछ राज्यो मे पिछले कुछ वर्षो मे स्थापित किए गए औद्योगिक विकास निगम इस अभाव को दूर करने में असमर्थ हैं क्योंकि उनके पास ही पूंजी की कमी है।

१९६८-६९ मे भी सूती वस्त्र मिल यन्त्र, सीमेंट मिल यन्त्र, शक्कर मिल यन्त्र आदि का उत्पादन इनकी उत्पादन क्षमता से ३५% से ५५% तक कम था।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे इन्जीनियरिंग उद्योग का विकास

चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक विकास के निर्धारित लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि इन्जीनियरिंग उद्योग के विकास पर जोर दिया जाय। यही कारण है कि चतुर्थ योजना मे इन्जीनियरिंग उद्योग के विकास पर विशेष जोर दिया गया है। चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे इन्जीनियरिंग उद्योग के प्रस्तावित निर्धारित लक्ष्य निम्नलिखित है :

मद का नाम	इकाई	१९६०-६१ में उत्पादन	तृतीय योजना में (१९६५-६६) के अन्त में उत्पादन	१९६८-६९ में अनुमानित उत्पादन	चतुर्थ योजना में (१९६९-७४) उत्पादन
१ सूती वस्त्र मशीनरी	करोड रु० मे	१००	२१६	१७०	४५०
२ सीमेण्ट की मशीनरी	,,	६	४९	९०	१९०
३. चीनी उद्योग की मशीनरी	,,	४४	७७	१२०	२१०
४ कागज उद्योग की मशीनरी	,,	—	१६	२४	१३५
५ साइकिलें	हजार मे	१०७१	१५७४	१९००	३२००
६ कपडा सीने की मशीनें	,	३०३	४३०	४००	६००
७ बिजली के पखे	,,	१०६	१३६	१५	३०
८ मोटर साइकिलें, स्कूटर आदि	,	१९.४	४०७	७२०	२१०

२७

कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योग
(Cottage & Small Industries)

प्रारम्भिक—कुटीर एवं लघु स्तरीय उद्योगों से आशय एवं परिभाषा :

साधारणतया उद्योगों को दो श्रेणियों मे विभक्त किया जाता है। प्रथम, बडे उद्योग तथा द्वितीय, लघु उद्योग। बडे उद्योगो मे उन औद्योगिक इकाइयों को सम्मिलित किया जाता है, जिनके अन्तर्गत उत्पादन बहुत बडे पैमाने पर होता है तथा पूंजी एव शक्ति द्वारा संचालित यन्त्रों का व्यापक रूप में उपयोग होता है। इसके विपरीत लघु उद्योगो मे उत्पादन का स्तर तो छोटा होता ही है, पूंजी एवं शक्ति का उपयोग भी अत्यन्त सीमित रहता है।

लेकिन भारत जैसे देश मे, जहाँ दो-तिहाई से अधिक व्यक्ति छोटे पैमाने पर खेती करते हैं, एक और भी उद्योग महत्त्वपूर्ण रहा है और वह है कुटीर उद्योग। सदियो से भारतीय कृषक सहायक आय की प्राप्ति हेतु इन उद्योगो मे संलग्न रहे है और आज भी कुटीर उद्योग देश के करोडो व्यक्तियो को सहायक आय प्रदान कर रहे है।

कुटीर उद्योगों की परिभाषा बैंकाक में एशिया तथा सुदूर पूर्व के आर्थिक आयोग (ECAFE) ने इस प्रकार दी थी :

"कुटीर उद्योग वे उद्योग है जिनका एक ही परिवार के सदस्यो द्वारा पूर्णरूप से अथवा आंशिक रूप से संचालन किया जाता है।" इसी परिभाषा को भारत के द्वितीय राजकोषीय आयोग ने मान्यता प्रदान की है।[1]

यह आवश्यक नहीं है कि कुटीर उद्योग केवल गाँवो तक ही सीमित रहे तथा उनमें यन्त्रो का उपयोग बिल्कुल नही हो, फिर भी साधारणतया कुटीर उद्योगो मे यन्त्रो का उपयोग लोकप्रिय नही होता। प्रो० गाडगिल के मतानुसार अत्यन्त प्राचीन काल से ही कुटीर उद्योग भारतीय गाँवो के साथ-साथ नगरों में भी विद्यमान रहे है।[2] लघु उद्योग वे हैं जिनमे ७.५ लाख रुपये से कम का मशीन व प्लान्ट आदि में विनियोग है। यह परिभाषा १ मार्च, १९६७ से लागू है। यहाँ पर यह बता देना जरूरी है कि कुछ समय पूर्व तक लघु उद्योगो को रोजगार के आधार पर परिभाषित किया जाता था।

---

1. Fiscal Commission (1949-50) Report, p. 99
2. D. R. Gadgil : Industrial Evolution in India.

लघु व कुटीर उद्योगो में अन्तर :

प्राय लोग कुटीर व लघु उद्योगो को एक समान ही मानते हैं, किन्तु इन दोनो मे भारी अन्तर है, जोकि निम्न प्रकार है

(i) कुटीर उद्योगो का सचालन एक ही परिवार के सदस्यो द्वारा किया जाता है । इसके विपरीत लघु उद्योगो के अन्तर्गत यह सम्भव है कि औद्योगिक सस्था के स्वामी स्वय कार्य न करके श्रमिको से काम लें । इस प्रकार लघु उद्योग मे श्रम व पूंजी पृथक् हो सकते हैं ।

(ii) पारिवारिक सस्थाएँ होने के कारण कुटीर उद्योगो मे बाह्य पूंजी का उपयोग साधारणतया नही होता । लघु उद्योगो के लिए साझेदारी या सयुक्त कम्पनियो की स्थापना साधारण-तया आवश्यक होती है ।

(iii) कुटीर उद्योगों मे यन्त्रो का उपयोग साधारणतया नही होता । यद्यपि जापान तथा स्विट्जरलैंड मे पारिवारिक सस्थाएँ भी यन्त्रो का उपयोग करती है, परन्तु वे लघु उद्योगो की श्रेणी मे है न कि कुटीर उद्योगों की श्रेणी मे ।

(iv) कुटीर उद्योग सहायक है तथा थोडे समय के लिए भी प्रारम्भ किए जा सकते हैं । उदाहरण के लिए अतिरिक्त या अवकाश के समय कृषक के परिवार के सदस्य रस्सी बटने या कपडा बुनने का कार्य कर सकते है । इसके विपरीत लघु-उद्योगो मे स्थायी रूप से तथा पूरे समय के लिए काय किया जाता है ।

(v) कुटीर उद्योगो का बाजार स्थानीय तथा सीमित होता है, जबकि लघु उद्योगो का बाजार विस्तृत होता है (कुछ प्रसिद्ध वस्तुओ को छोडकर जिनकी बिक्री दूर-दूर तक होती है) । हस्तकलाओं तथा खादी आदि का पिछले कुछ वर्षो से काफी निर्यात किया जाने लगा है तथापि गांवो के कुटीर उद्योग केवल स्थानीय माग को ही पूरा करते है । वस्तुत व्यापार मे शहरो मे बनने वाली कलात्मक वस्तुओ को हस्तकला तथा गावो मे कुम्हार, चर्मकार लखेरा व बढई आदि के काम को ग्रामोद्योग कहते है । इसी मे खडसारी का निर्माण, चटाई व माचिस बनाना शहद सचय आदि कार्य भी शामिल है । दोनो को मिलाकर कुटीर उद्योगो की सज्ञा दी जाती है ।

कुटीर उद्योग—एक गौरवपूर्ण ऐतिहासिक मीमासा

प्राय ऐसा कहा जाता है कि भारत को प्रकृति ने ही एक कृषि प्रधान देश बनाया है तथा यहा औद्योगीकरण की गति पाश्चात्य देशो की अपेक्षा कम रही है । लेकिन वास्तविकता यह रही है कि एक कृषि प्रधान देश होने के बावजूद भारत अतीत काल मे एक प्रतिष्ठित औद्योगिक देश भी रहा है । १९१८ मे भारतीय औद्योगिक आयोग ने लिखा था .

'जब यूरोप के उन देशो मे, जो आज औद्योगिक विकास मे अग्रणी हैं, असभ्य जातियाँ निवास करती थी, तब भारत अपने शासको के अपार वैभव तथा कारीगरो की श्रेष्ठ कला के लिए प्रसिद्ध था । सूती तथा रेशमी वस्त्रो जरी के वस्त्रो तथा कलात्मक वस्तुओ के लिए भारत १८वी शताब्दी तक विश्व विख्यात राष्ट्र था । अमरीकी विद्वान् कॅल्वर्टन ने १९३९ मे प्रकाशित अपनी पुस्तक म लिखा है [1]

"भारत के (कुटीर) उद्योग बुद्धिमान मस्तिष्क, विलक्षण योग्यता तथा अद्भुत प्रतिभा की उपज थे तथा १७वी शताब्दी तक विश्व मे इनका उदाहरण अद्वितीय रहा था ये उद्योग पश्चिम के उद्योगो से कही अधिक उन्नत स्थिति मे थ ।"

जिस समय यूरोप के देश पिछडी हुई अवस्था मे थे तथा अमरीका के विषय मे कोई जानता भी नही था । उस समय भारतीय कलात्मक वस्तुओ का विश्व के विभिन्न भागो मे सम्मान किया जाता था । कहा जाता है कि १६वी शताब्दी तक भी भारतीय कारीगर एक पौड रुई से २५० मील लम्बा कपडा बुन लेते थ । विश्व विख्यात ढाका की मलमल भारत के ही श्रमिक हाथ

---

1. Calverton The Awakening of America (1939)

से बुनते थे। इस मलमल का एक थान अँगूठी मे से निकाला जा सकता था और इसीलिए रोम में इसे मेजेटिका कहा जाता था। लोगजो, जो पाश्चात्य जगत् की प्राचीनतम संस्कृति का केन्द्र था, भारतीय वस्तुओ का प्रमुख ग्राहक था।

भारत के रेशमी तथा जरी के वस्त्रो, धातु के बर्तनो, गलीचो तथा चमड़े की वस्तुओ की विदेशो मे १८वीं शताब्दी तक भी बहुत अधिक माँग थी। इनके अलावा पत्थर तथा लकडी पर खुदाई का काम, मीनाकारी एवं वस्त्रो को रँगने का काम भी यहाँ अत्यन्त निपुणतापूर्वक किया जाता था। लोहे की वस्तुएँ तथा रासायनिक पदार्थ भी पर्याप्त मात्रा मे बनाए जाते थे एवं इनका निर्यात होता था।

कुटीर उद्योगों का महत्त्व

बृहत्-स्तरीय उद्योगों के इस युग मे भी भारतीय अर्थव्यवस्था कुटीर उद्योगो पर काफी निर्भर है। कुटीर उद्योगो का महत्व निम्न तथ्यो से स्पष्ट हो सकता है :

(१) **रोजगार**—प्रथम पंचवर्षीय योजना मे इस बात को स्वीकार किया गया था कि ग्रामोद्योगो तथा लघु उद्योगो मे रोजगार-क्षमता बृहत्-स्तर के उद्योगो की अपेक्षा अधिक है। १९३१ मे कुटीर उद्योगो मे लगभग ९१,४१,००० व्यक्ति संलग्न थे जबकि आज इन पर निर्भर लोगो की संख्या लगभग २·० करोड़ है। यदि कृषि मे विद्यमान वर्तमान भार को कम करके अतिरिक्त श्रमिको को कुटीर उद्योगो मे लगा दिया जाय तो बेकारी की समस्या काफी सीमा तक हल हो सकती है। भूमिहीन श्रमिको तथा शिक्षित बेकारों के लिए कुटीर उद्योग आशा की किरण प्रस्तुत कर सकते हैं।

(२) **कम पूँजी, काम अधिक**—भारत मे पूँजी का अभाव है जबकि यहाँ जनशक्ति का बाहुल्य है। ऐसी स्थिति मे बृहत्-स्तर पर यन्त्रीकरण करना विवेकपूर्ण नही माना जा सकता। यदि देश का विकास केवल बडे उद्योगो के आधार पर किया जाय तो उसके लिए बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी। इसके विपरीत कुटीर उद्योगो के अन्तर्गत थोडी पूँजी का विनियोग करके अधिक काम किया जा सकता है तथा अधिक लोगो को रोजगार दिया जा सकता है। इस तथ्य को निम्न तालिका के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है :[1]

वस्त्र-उद्योग

	प्रति व्यक्ति विनियोजित पूँजी (रुपये)	प्रति व्यक्ति उत्पादन (रुपये)	पूँजी एवं उत्पादन का अनुपात	पूँजी की एक इकाई पर श्रमिकों की संख्या
आधुनिक बडे उद्योग	१२००	६५०	१ ९	१
शक्ति-चालित कर्घा (लघु उद्योग)	३००	२००	१ ५	४
स्वचालित कर्घा (कुटीर उद्योग)	९०	८०	१ १	१३
हाथकर्घा (,,)	३५	४५	०·८	३४

इस प्रकार कुटीर उद्योगो में कम पूँजी द्वारा अधिक उत्पादन किया जा सकता है और साथ ही कई गुना अधिक रोजगार दिया जा सकता है। आधुनिक ढंग से चलाने पर भी ग्रामोद्योगो मे प्रति व्यक्ति पूँजी का विनियोग १५०० रुपए होगा जबकि लघु उद्योगो मे यह औसत ५ से ८ हजार रुपए व बडे उद्योगो मे ८० से ९० हजार रुपए होगा।[2]

(३) **गाँवों का सर्वांगीण विकास**—सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण का कथन है कि भारत के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि देश के ग्रामीण क्षेत्रो के चतुर्मुखी विकास

1. P. S. Loknathan : "Cottage Industries & the Plan—Article in Eastern Economist, July 23, 1943
2 Article by Fakruddin Ali Ahmed: "Problem & Policy on Village Industries" Kurukshetra October, 1968

को प्राथमिकता दी जाय। उनके मत मे कृषि-उद्योगो पर आधारित आर्थिक विकास (Agro-Industrial Base) ही भारत के लिए उपयुक्त है।

वास्तव मे देश के कृषक वर्ष मे आधे समय बेकार रहते है। यदि उन्हे तथा उनके परिवार के सदस्यो को अतिरिक्त समय के लिए कुटीर उद्योगो मे लगा दिया जाय तो इसके दो लाभ हो सकते हैं प्रथम तो यह कि आवश्यक उपभोग्य वस्तुओ की पूर्ति सुलभ हो जायगी और दूसरे, अतिरिक्त आय मिलने पर कृषको की निधनता कम की जा सकेगी।

(४) विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था—आज चीन तथा पाकिस्तान की संयुक्त शक्ति भारत के लिए एक बहुत बडा खतरा लेकर खडी हुई है। संकट के समय औद्योगिक नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि जिसमे आर्थिक संस्थाओ का केन्द्रीकरण कुछ स्थानो पर न होकर वे छोटी-छोटी इकाइयो के रूप मे समूचे देश मे व्याप्त हो जायें। कुटीर उद्योगो एव लघु उद्योगो के रूप मे ही ये इकाइयाँ हो सकती हैं।

(५) सरल प्रणाली—भारत एक अल्प-विकसित देश है और इसलिए यहाँ पाश्चात्य देशो की भाँति नवीनतम प्राविधि उपलब्ध नही हो सकती। कुटीर उद्योगो के विकास के लिए विशिष्ट प्राविधि नही होने पर भी काम चल जाता है। अल्प समय मे औद्योगिक प्राविधियो का प्रशिक्षण देना भी असम्भव है, जबकि कुटीर उद्योगो की सरल प्रणाली का प्रशिक्षण अति अल्प समय मे दिया जा सकता है।

(६) आय एवं सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण—भारतीय पचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य आय एव सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण करना है। वृहत्-स्तरीय उद्योगो का सचालन एव स्वामित्व बडे-बडे पूंजीपतियो के हाथ मे रहता है तथा बडे पैमाने के सारे लाभ भी उन्ही को प्राप्त होते है। कुटीर उद्योगो के विकास से निम्न वर्ग के लोगो को काम मिलता है तथा उनकी आय बढने के कारण उनका जीवन-स्तर भी ऊँचा होता है।

(७) विदेशी विनिमय की प्राप्ति—यूरोप तथा अमरीका के देशों मे हाल ही मे हुई भारतीय कलात्मक वस्तुओ की प्रदर्शनी ने व्यापक रूप से विदेशी ग्राहको का ध्यान आकर्षित किया है। इसके पूर्व भी हाथ को बनी हुई कलात्मक वस्तुएं आकर्षण का केन्द्र बनी हुई थी। यदि वैज्ञानिक ढग से कुटीर उद्योगो की बनी हुई वस्तुओ का विदेशो मे प्रचार किया जाय तो पर्याप्त मात्रा मे हमे विदेशी विनिमय प्राप्त हो सकता है। वास्तव मे कुटीर उद्योग भारत की परम्परागत हस्तकलाओ की रक्षा करते है, जिनका विदेशो मे आज भी सम्मान है। प्रतिवर्ष हम लगभग ६ ७ करोड गज हाथ का बना कपडा निर्यात करते है, जिससे देश को पर्याप्त विदेशी विनिमय प्राप्त होता है।

(८) व्यापार चक्रों के प्रभाव से मुक्त—आर्थर बर्नी ने अपनी पुस्तक एन इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ दी ब्रिटिश आइल्स" मे बताया है कि औद्योगिक क्रान्ति की सबसे बडी देन आर्थिक चक्र भी है। नियमित रूप से मूल्यो मे वृद्धि तथा ह्रास अथवा मन्दी व तेजी होने के कारण वृहत्-स्तर के उत्पादन के समय माँग व पूर्ति मे विषमता आ जाती है। लेकिन कुटीर उद्योगो के अन्तर्गत वस्तुओं का निर्माण माँग के आधार पर होता है अतएव मन्दी या तेजी की समस्या का उदय नही हो सकता।

(९) उपभोग्य वस्तुओं के अभाव को दूर कर सकते हैं—कपडा, फर्नीचर, जूते, बर्तन, व अनेक आवश्यक वस्तुओ की कीमतें पूर्ति कम होने के कारण बढती जा रही हैं। कुटीर उद्योगो का विकास करके इन वस्तुओ के अभाव को दूर किया जा सकता है तथा बडे हुए मूल्यो को सामान्य स्तर तक लाया जा सकता है।

(१०) औद्योगिक समस्याओ में कमी—कुटीर एवं छोटे उद्योगो को प्रोत्साहन देने से अनेक औद्योगिक समस्याओ का शमन किया जा सकता है। औद्योगिक संघर्ष, गन्दी बस्तियाँ, हडताले व अनेक दूसरी समस्याओं से छुटकारा मिल सकता है।

कम पूंजी लगाकर देश के लाखो बेकार लोगो को काम देकर राष्ट्रीय सुरक्षा तथा अन्य कार्यों की वस्तुएँ तैयार की जा सकती हैं।

लघु उद्योग
(Small Industries)

लघु उद्योग से आशय :

लघु उद्योग वे उद्योग है जिनका संचालन छोटे पैमाने पर यन्त्रो के माध्यम से होता है। द्वितीय राजकोषीय आयोग (१९४९-५०) के अनुसार लघु उद्योगो में पूंजी को प्रधानता दी जाती है तथा साधारणतया श्रमिकों से कार्य लिया जाता है। यद्यपि इस प्रकार की परिभाषाओं द्वारा लघु उद्योगों तथा कुटीर उद्योगो का अन्तर बताया जाता है।

डा० वी० के० आर० वी० राव का मत है कि लघु उद्योगो को तीन श्रेणियों मे बांटा जाना चाहिए :

(१) वे उद्योग जो बड़े उद्योगो के सहायक उद्योगो के रूप मे हैं जैसे, रॉलर स्किन, मोटर कुशन आदि।

(२) वे उद्योग जो यन्त्रो की मरम्मत के लिए स्थापित किए गए हैं—मोटरो व बडे यन्त्रो की मरम्मत के वर्कशाप।

(३) वे उद्योग जो वस्तुओ का निर्माण स्वयं करते हैं जैसे पीतल, तांबे के बर्तन बनाना, लोहे के कारखाने, चाकू, ब्लेड व कैंची बनाना, रेडीमेड के वस्त्र, साबुन, साइकिलें सीने की मशीनें कांच के बर्तन, रेडियो आदि।

श्री पी० एन० धर तथा श्री लिडॉल ने लघु उद्योगो का परिचय दूसरे ढंग से दिया है। उनके कथनानुसार लघु उद्योग या लघु संस्थाएँ वे है जो शहरो मे (सामान्यतः) आधुनिक ढंग पर स्थापित की गई है तथा जिनमे निम्न विशेषताएँ हैं.

(१) इनमें श्रमिको की सहायता से कार्य किया जाता है।

(२) इनमे कच्चा माल दूर-दूर से प्राप्त किया जाता है। जैसे इस्पात तथा रासायनिक पदार्थ।

(३) इनकी वस्तुएँ दूर-दूर तक बिकने जाती है यहां तक कि कुछ का निर्यात भी किया जाता है, जैसे साइकिलें, सीने की मशीनें, रेडियो आदि।

वास्तव मे लघु उद्योग वे उद्योग होते है जिनमे आधुनिक यान्त्रिक प्रणाली के आधार पर छोटे पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। १ मार्च, १९६७ से उन उपक्रमो को लघु उद्योग की श्रेणी मे सम्मिलित किया गया है जिनमे प्लान्ट, मशीन आदि मे विनियोग ७·५ लाख रुपए से अधिक न हो।[1]

लघु उद्योगों का महत्व :

कुटीर उद्योगो का महत्व मुख्यत कृषको को सहायक आय प्रदान करने, तथा देश की परम्परागत कला की रक्षा करने की दृष्टि से बताया जाता है। इसके अलावा भी अनेक ऐसे तर्क ऊपर प्रस्तुत किए गए हैं जिनके आधार पर इन उद्योगो का महत्व स्पष्ट होता है। लघु उद्योगो के पक्ष मे भी निम्न तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं :[2]

(१) **रोजगार का तर्क**—धर एवं लिडॉल का अनुमान है कि १९५६ मे छोटे कारखानों तथा मध्यम श्रेणी की फैक्टरियो मे लगभग २२ लाख व्यक्ति संलग्न थे। वास्तव मे रोजगार के तर्क का अर्थ है कम पूंजी मे अधिक व्यक्तियो को काम देना। लघु उद्योगो मे पूंजी तथा श्रम का अनुपात १½ : १ का है तथा बडे उद्योगो की तुलना मे पूंजी की एक इकाई पर कई गुने श्रमिको को कार्य दिया जा सकता है।

---

1. P. N. Dhar and H. F. Lydall : The Role of small Enterprises in Indian Economic Development—Chapter I.
2 Ibid, p. 8

(२) **विकेन्द्रीकरण का तर्क**—उपरोक्त लेखक यह मानते है कि बडे नगरों की भीड-भाड तथा गन्दगी को दूर करने के लिए तथा देश के सभी भागो का औद्योगिक विकास करने के लिए विकेन्द्रीकरण करना आवश्यक है।

(३) **सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टिकोण**—धर व लिडॉल के मत मे लघु उद्योगों में श्रमिक तथा स्वामी के बीच का अन्तर बहुत कम होता है और इससे शोषण की सम्भावना भी कम रहती है। यही नहीं वे यह भी मानते है कि स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाली छोटी औद्योगिक इकाइयाँ स्वस्थ प्रजातन्त्र की नीव डालती हैं।

(४) **स्थापना में सुविधा**—सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति भी लघु उद्योग प्रारम्भ करने का साहस कर सकते हैं क्योंकि इनमे जोखिम भी कम रहती है तथा विशिष्ट प्राविधि मे पारंगत होना भी अनिवार्य नही है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लघु उद्योगो का महत्व भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे बहुत अधिक है विशेषरूप से इसलिए कि कम पूँजी द्वारा ही इन उद्योगों को प्रारम्भ किया जा सकता है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् कुटीर व लघु उद्योगों का विकास

कांग्रेस की महासमिति ने स्वतन्त्रता के पूर्व ही कुटीर तथा लघु उद्योगो के महत्व को स्वीकार कर लिया था। १९३४ मे अ० भा० ग्रामोद्योग संस्था बनी, १९३५ मे ग्राम-सेवक विद्यालय की स्थापना हुई, १९३७ में कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल ने कुछ कार्यक्रम तैयार किए। आजादी के बाद जब प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई तो केन्द्रीय सरकार ने इन उद्योगो के लिए ३३ ६ करोड रुपए व्यय किए। इसके अलावा राज्य सरकारो ने १० १ करोड रुपए इन उद्योगो के विकास हेतु व्यय किए।

१९५४ मे भारत सरकार के निमन्त्रण पर फोर्ड फाउन्डेशन के विशेषज्ञों के एक दल ने भारत के लघु उद्योगो की स्थिति का अध्ययन करके एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की। इस योजना-दल ने यह अनुभव किया कि भारत की छोटी औद्योगिक इकाइयाँ अभी शैशवावस्था मे ही हैं तथा उत्पादन की परम्परागत विधियो तथा पूँजी के अभाव के कारण उनका समुचित विकास नही हो सका है। योजना-दल की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थी[1]

(१) चार बहु-उद्देशीय प्राविधिक संस्थाओ (Multipurpose Institute of Technology) की स्थापना की जाए जो निम्न कार्य करें

(अ) उत्पादन के तरीको का अध्ययन (ब) व्यावहारिक शोध, (स) पर्यटक उद्योगो का विस्तार तथा (द) चलती-फिरती प्रदर्शनियो व नवीन प्राविधियो के प्रचार की व्यवस्था।

(२) नए डिजायन तैयार करने के लिए राष्ट्रीय डिजाइनशाला स्थापित करें, (३) व्यापारी बैंको को लघु उद्योगों की सहायतार्थ वित्त देने के लिए प्रोत्साहित किया जाए, (४) विभिन्न उद्योगों से सम्बन्धित संगठन बनाए जाएँ (५) स्वावलम्बी औद्योगिक सरकारी समितियों की स्थापना की जाए, (६) लघु उद्योगो के विकास हेतु केन्द्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना की जाए, (७) विदेशों मे बिक्री बढाने के लिए कदम उठाए जाएँ।

उपरोक्त सुझावो को दृष्टिगत रखते हुए भारत सरकार ने निम्नलिखित संस्थाओ की स्थापना की :

(१) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम :

इस निगम की स्थापना फरवरी १९५५ मे लघु उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए की गई थी। निगम की पूँजी ५ लाख रुपए है तथा इसके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :

(१) राजकीय विभागो मे लघु उद्योगो मे निर्मित वस्तुएँ खरीदने की व्यवस्था करना।

---

1. Report on Small Industries in India by the International Planning Team

(ii) आवश्यकता के अनुसार माल बनाने के लिए पूँजी व प्राविधिक सहायता प्रदान करना।

(iii) बड़े उद्योगो तथा छोटे उद्योगो मे समन्वय स्थापित करना।

(iv) प्रदर्शनियो तथा बिक्री-केन्द्रो की व्यवस्था करके लघु उद्योगो की बिक्री की सुविधाएँ बढाना।

(v) लघु उद्योगो के लिए आसान किश्तो (Hire Purchase) पर मशीनो की व्यवस्था करना।

(vi) ओखला व नैनी में दो औद्योगिक केन्द्रों की व्यवस्था तथा संचालन करना।

(२) लघु उद्योग सेवा संस्थाएँ :

इस प्रकार की चार सस्थाएँ दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता एवं मद्रास मे स्थापित की गईं। ये संस्थाएँ मशीनें खरीदने, बिक्री की व्यवस्था करने, कच्चा माल व पूँजी प्राप्त करने तथा प्राद्योगिक सहायता करने में लघु-उद्योग निगम की सहायता करती हैं। इसके लिए समय-समय पर विदेशी विशेषज्ञो को भी बुलाया जाता है।

(३) औद्योगिक विस्तार सेवा

१९६७-६८ तक १६ सस्थाएँ, ६ शाखा संस्थाएँ तथा ६३ विस्तार या प्रशिक्षण केन्द्र औद्योगिक विस्तार सेवा के अन्तर्गत स्थापित किए जा चुके थे। औद्योगिक विस्तार सेवा का उद्देश्य लघु उद्योगों मे नई प्राविधि के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करना है।

कुटीर एवं लघु-उद्योगो के विकास हेतु प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे उपरोक्त संस्थाओ के अलावा निम्न सस्थाओ की स्थापना की गई :[1]

(१) **अखिल भारतीय हाथकर्घा बोर्ड**—इस बोर्ड का मुख्य कार्य हाथकर्घा उद्योगों का सहकारिता के आधार पर विकास करना है तथा साथ ही बिक्री की सुविधाएँ प्रदान करना है।

(२) **अ० भा० हस्तकला बोर्ड**—नवम्बर १९५२ मे हस्तकलाओ को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से इस बोर्ड की स्थापना की गई।

(३) **अ० भा० खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड**—कुछ चुने हुए उद्योगो का सहकारी समितियो के माध्यम से विकास करने के लिए इस बोर्ड की स्थापना जनवरी १९५३ मे की गई।

(४) **नारियल रेशा बोर्ड (The Coir Board)**—इस बोर्ड की स्थापना जुलाई १९५२ मे की गई। इस बोर्ड के अन्तर्गत केरल मे अलेपे नामक स्थान पर नारियल-रेशो के उपयोगो पर शोधशाला भी खोली गई है। १९६५ मे नारियल रेशा कानून मे सशोधन करके इस बोर्ड को भी उत्पादन करने का अधिकार दे दिया गया है। बोर्ड देश व विदेश मे नारियल-रेशे से बनी वस्तुओ का प्रचार करता है।

(५) **लघु उद्योग बोर्ड**—इस बोर्ड को नवम्बर १९५४ मे स्थापित किया गया। बोर्ड मे केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारो के प्रतिनिधि सदस्य के रूप मे भेजे जाते हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना काल मे कुटीर तथा लघु उद्योगो के विकास के लिए १९५६ में खादी तथा ग्रामोद्योग कमीशन की स्थापना की गई। इसके अलावा औद्योगिक बस्तियो, औद्योगिक सहकारी संगठनो के विकास पर भी पर्याप्त राशि व्यय की गई। १९५६ की औद्योगिक नीति मे भी यह स्पष्टत घोषित किया गया कि राज्य सरकारें सयुक्त रूप से अथवा स्वतन्त्र रूप से कुटीर तथा लघु उद्योगो के विकास हेतु कार्य करेंगी। द्वितीय योजना-काल मे कुल २६५ करोड रु० का विनियोग किया गया। इस राशि मे से लगभग १७५ करोड़ रुपये राजकीय क्षेत्र मे तथा शेष निजी क्षेत्र मे खर्च हुए।

---

1. India 1968, p. 335

द्वितीय योजना के प्रारम्भ होने से पहले भारत सरकार ने ग्रामीण तथा लघु उद्योग समिति (कर्वे-समिति) की नियुक्ति की। इस समिति ने तीन तथ्य समक्ष रखकर ग्रामीण तथा लघु उद्योगों की समस्याओं का अध्ययन किया :

(अ) जहां तक सम्भव हो प्रायोगिक बेकारी को बढ़ने से रोका जाए, (ब) विभिन्न ग्रामीण तथा लघु-उद्योगों में रोजगार बढ़ाया जाए (स) विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के निर्माण हेतु आधार प्रस्तुत किया जाए।

कर्वे समिति ने सहकारी औद्योगिक संस्थाओं के विकास पर बहुत बल दिया। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि राज्य वित्त निगम कुटीर तथा लघु उद्योगों को दीर्घ व मध्यकालीन ऋण दें। उन्होंने केन्द्रीय स्तर पर एक ग्रामीण व लघु उद्योग मन्त्रालय बनाने का सुझाव दिया जिसका कार्य इन उद्योगों के विकास की योजनाएँ बनाना हो।

कर्वे-समिति ने यह भी सुझाव दिया कि बड़े उद्योगों की तुलना में लघु तथा कुटीर उद्योगों के विकास हेतु बड़े उद्योगों में उत्पादन सीमा निश्चित कर दी जाए। समिति ने प्रगतिशील ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर आधारित एक औद्योगिक पिरेमिड तैयार करने पर बल दिया जिसमें लघु इकाइयों की प्रधानता हो।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—कुटीर व लघु-उद्योगों के विषय में भारत सरकार की नीति तृतीय योजना काल में काफी परिवर्तित हुई। १९५२ में फोर्ड फाउन्डेशन के विशेषज्ञों का दूसरा दल भारत आया। इसे अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घकालीन नियोजन दल भी कहा जाता है। इस दल ने सुझाव दिया कि छोटी इकाइयों को कच्चे माल व मशीनों (आयातित) के वितरण में प्राथमिकता का आधार अपनाया जाय। दल ने यह भी सुझाव दिया कि छोटी इकाइयों के लिए कच्चे माल के आयात को यन्त्रों के आयात से अधिक महत्वपूर्ण माना जाय ताकि वर्तमान क्षमता का उपयोग हो सके।

नियोजन दल ने छोटी इकाइयों के निर्यात में वृद्धि हेतु राज्य की सहायता को वाञ्छनीय बताया। दल ने प्राविधिक क्षेत्र में सुधार को जरूरी बताते हुए कहा कि इस दिशा में केन्द्रीय लघु-उद्योग संगठन को व्यापक कार्यक्रम बनाने चाहिए।

इन्हीं सुझावों के आधार पर लघु उद्योगों के लिए तृतीय योजना के मध्य से नीति निर्धारित की गई। अब हम तीनों योजनाओं में कुटीर तथा लघु-उद्योगों के विकास की समीक्षा करेंगे।

आर्थिक नियोजन एवं कुटीर तथा लघु उद्योग

प्रथम योजना काल में कुल मिलाकर कुटीर व लघु उद्योगों के विकास हेतु ४३.७ करोड़ रुपए खर्च हुए। इनमें से ३४ करोड़ रुपए केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान किए गये थे। कुल राशि में लगभग आधी खादी के लिए तथा ३०% हाथकर्घा के लिए व्यय की गई।

द्वितीय योजना काल में कर्वे-समिति की सिफारिशों के अनुसार कुटीर व लघु-उद्योगों के विकास को प्राथमिकता दी गई। कुल मिलाकर १८० करोड़ रुपए इस मद पर व्यय किए गये जबकि मौलिक प्रावधान २६० करोड़ रुपए था। कुल व्यय की गई राशि में से ८२ करोड़ रुपए (४५.५%) खादी पर ३० करोड़ रुपए हाथकर्घा पर व ४४ करोड़ रुपए लघु-उद्योगों पर व्यय किए गये।

तृतीय योजना काल में भी द्वितीय योजना काल में निर्मित उत्साह के वातावरण को बनाया रखा गया। विशेषकर लघु-उद्योगों के प्रशिक्षण तथा औद्योगिक बस्तियों के लिए तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में विशेष रूप से प्रयास करना पड़ा। कुल मिलाकर कुटीर व लघु-उद्योगों पर २६४ करोड़ रुपए व्यय करने का प्रावधान था, परन्तु वित्तीय कठिनाइयों के कारण २२० करोड़ रुपए ही उपलब्ध हो सके। खादी व ग्रामोद्योग पर इसमें से ९० करोड़ रुपए, हाथकर्घा व शक्तिकर्घा पर २६ करोड़ रुपए तथा लघु उद्योगों पर ६३ करोड़ रुपए खर्च किए गए।

इस प्रकार तीन पंचवर्षीय योजनाओं में हाथकर्घा खादी के विकास को सर्वाधिक महत्व

दिया गया। हाथकर्घा व ग्रामोद्योगों के विकास को भी काफी महत्व दिया गया। इसी कारण १९६०-६५ के बीच इस क्षेत्र में कपड़े का उत्पादन २०० करोड़ रुपए से बढ़कर ३०५ करोड़ मीटर हो गया। कच्चे रेशम का उत्पादन १५ लाख किलोग्राम से बढ़ाकर २१·५ लाख किलोग्राम कर दिया गया। केवल तीसरी योजना की अवधि में ८० लाख से अधिक व्यक्तियों को आंशिक व ६·३ लाख व्यक्तियों को पूरे समय तक काम दिया गया। कुटीर उद्योग से सम्बद्ध निर्यात १९६०-६१ व १९६५-६६ के बीच २५ करोड़ रुपए से बढ़ाकर ५४ करोड़ रुपए कर दिए गए।

तृतीय योजना के बाद तीन वर्षों में प्रगति

१९६६-६७, १९६७-६८ व १९६८-६९ की वार्षिक योजनाओं में कुटीर व लघु-उद्योगों पर क्रमशः ४५ करोड़ रुपए, ४४ करोड़ रुपए व ४१·४ करोड़ रुपए खर्च किए गए। फलस्वरूप हाथ कर्घे के वस्त्रों का उत्पादन १९६७-६८ व १९६८-६९ के बीच ३१९ करोड़ मीटर से बढ़कर ३३० करोड़ मीटर तथा रेशम का उत्पादन २·२ करोड़ किलोग्राम से बढ़कर २ ४ करोड़ किलोग्राम हो गया। खादी, हस्तकलाओं एवं नारियल रेशे आदि से सम्बद्ध निर्यात १९६८-६९ तक ७० करोड़ रुपए तक बढ़ा लिए गए।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास (१९६९-७४)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर जोर देने का निर्णय किया गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए चतुर्थ योजना में २९४ ७१ करोड़ रुपए सार्वजनिक क्षेत्र में तथा ५०० करोड़ रुपए निजी क्षेत्र में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर व्यय किए जाने का आयोजन है। इस प्रकार कुल व्यय ७९४ ७१ करोड़ रुपए होगा। प्रस्तुत योजना में वे समस्त सुविधाएँ जारी रखी जायेंगी जोकि अभी तक कुटीर एवं लघु-उद्योगों को प्रशिक्षण, विपणन, वित्त, किस्म सुधार, औद्योगिक वस्तुओं की व्यवस्था आदि के रूप में दी जा रही थी। उद्योगों को राज्य सहायता अधिनियमों के अधीन ऋण देने में अर्द्ध शहरी क्षेत्रों, देहाती एवं पिछड़े हुए इलाकों के उपक्रमों को, निर्यात करने वाले उपक्रमों, हस्तशिल्प कारीगरों, तकनीकी निपुणता रखने वाले व्यक्तियों और औद्योगिक सहकारी समितियों को प्राथमिकता दी जायेगी। सार्वजनिक क्षेत्र में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर २९४ ७१ करोड़ रुपए व्यय करने का आयोजन है। उसका विवरण निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट है :

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योगों पर सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय का ब्यौरा :

(करोड़ रुपयों में)

क्रम संख्या	उद्योग का नाम	द्वितीय योजना (१९६०-६१) में व्यय	द्वितीय योजना (१९६१-६६) में व्यय	१९६८-६९ में व्यय	चतुर्थ योजना (१९६९-७४) में प्रस्तावित व्यय
१.	लघु उद्योग	४४ ४	८६·१२	५२ ४६	१०१ ७४
२	औद्योगिक संस्थान (Industrial Estates)	११ ६	२२·१५	७·३५	१८·१५
३.	हस्तकरघा एवं शक्ति द्वारा संचालित उद्योग	३१ ७	२६·८९	१३·८३	४२ ९८
४.	खादी एवं ग्रामीण उद्योग	८२ ४	८९ ३३	५४·०३	९६·४३

५.	रेशम के कीडे पालने का उद्योग	३ ’	८ ३९	३ ७५	११ ३७
६	नारियल जटा उद्योग ...	२ ०	४ ७९	१ २१	४ ४२
७.	हस्तशिल्प उद्योग ..	४ ८	५ ३०	४ ८०	१४ ५२
८.	ग्रामीण उद्योग सम्बन्धी अन्य कार्यक्रम ..	—	४ ७९	६ ७०	५·१०
	योग	१८० ०	२४० ७९	१४४ १३	२९४ ७१

कुटीर एवं लघु उद्योगों से सम्बद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ

(१) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, लघु उद्योग निगम की स्थापना कुछ महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों को लेकर की गई है। इस निगम ने स्थापना से लेकर तृतीय योजना की समाप्ति तक लगभग १०० करोड रुपए के मूल्य की वस्तुएँ (छोटे उद्योगो द्वारा निर्मित) राजकीय विभागो के लिए खरीदी।[1] इसके अतिरिक्त १९६५-६६ तक ६,००० औद्योगिक इकाइयों को २४ करोड रुपए के मूल्य की मशीनें आसान किश्तो पर दिलाई गई। यह उल्लेखनीय है कि छोटे उद्योगो को दिलाई गई इन मशीनो मे से ६०% आधुनिक है तथा विदेशो से प्राप्त की गई हैं। १९५५ से लेकर १९६७ तक इस निगम ने ७,६०० छोटी औद्योगिक इकाइयो की स्थापना मे योग दिया जिनकी उत्पादन क्षमता लगभग १८० करोड रुपए की है।

(२) सहकारी औद्योगिक समितियाँ—कुटीर उद्योगो के क्षेत्र मे, विशेष रूप से खादी व हाथकर्घा, ताड-गुड नारियल रेशा व चर्मकारिता के क्षेत्र मे पिछले १५ वर्षो मे सहकारिता को अधिक प्रोत्साहन दिया गया है। १९५१ मे कुल मिलाकर ७,१०५ औद्योगिक सहकारी समितियाँ देश भर मे थी जिनके सदस्यो की सख्या ८० हजार थी। लेकिन सरकार की सक्रिय एव सहानुभूतिपूर्ण नीति के कारण जून १९६८ तक इन समितियो की सख्या ५७ हजार व सदस्यो की सख्या ३६ ५ लाख तक बढ गई। मार्च, १९६६ मे सहकारी औद्योगिक समितियो द्वारा निर्मित वस्तुओ के निर्यात को प्रोत्साहन देने तथा थोक बिक्री की व्यवस्था हेतु एक राष्ट्रीय फैडरेशन बनाया गया।

(३) ग्रामीण उद्योग नियोजन कमेटी—तृतीय योजना काल मे (अप्रैल १९६२ मे) केन्द्रीय सरकार ने विशिष्ट क्षेत्रो मे ग्रामोद्योगो के विकास हेतु एकीकृत एव व्यापक कार्यक्रम बनाने के लिए ग्रामीण उद्योग नियोजन कमेटी की स्थापना की। यह कमेटी चुने हुए बडे-बडे औद्योगिक नगरो के समीप के गांवो मे ग्रामोद्योगो के विकास हेतु कार्यक्रम बनाती है। इसका मुख्य उद्देश्य जहाँ ग्रामोद्योगो का विकास करना है, वहीं इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि गाँवो से अतिरिक्त समय मे काम करने वालो की भीड समीप के शहरो मे न हो। ग्रामोद्योगो के लिए प्रशिक्षण, सामान्य सुविधा-केन्द्र (सामूहिक मरम्मत आदि) तथा अच्छे उपकरणो की उपलब्धि हेतु यह कमेटी सरकार को सुझाव देती है। मार्च, १९६५ तक इस प्रकार के प्रॉजेक्ट क्षेत्रो मे १४५० नई उत्पादक इकाइयाँ स्थापित की जा चुकी थी। जुलाई १९६८ मे इस कमेटी ने सरकार को चतुर्थ योजनाकाल में गांवो के उद्योग के लिए २०० प्रॉजेक्ट होने का सुझाव दिया। स्थानो के चुनाव मे जरूरी सुविधाओं का मौजूद होना पहली शर्त मानी गई। कमेटी ने गाँवो मे उद्योगो के होने पर जो हानि हो सकती है उसकी पूर्ति हेतु सरकार से विचार करने का आग्रह भी किया।

---

1. १९६०-६१ मे यह राशि ६·५ करोड रुपए थी, परन्तु १९६७-६८ मे राजकीय विभागों के लिए छोटी इकाइयो से की गई खरीद का मूल्य ३२ करोड रुपए तक बढ गया।

(४) **औद्योगिक बस्तियाँ**—औद्योगिक बस्तियो का निर्माण लघु इकाइयो को कारखानो के लिए उपयुक्त स्थान तथा सुविधाएँ प्रदान करने की दृष्टि से किया जाता है। इस प्रकार की बस्तियो मे सामूहिक प्रायोगिक तथा मरम्मत की सुविधाएँ तथा अन्य सेवाएँ भी प्रदान की जाती है। द्वितीय योजना मे औद्योगिक बस्ती की परिभाषा इस प्रकार दी गई·

औद्योगिक बस्ती वह वृहत् इकाई है जिसका मुख्य उद्देश्य छोटी औद्योगिक इकाइयो को सामूहिक सुविधाओ, जैसे उत्तम स्थिति, विद्युत, जल, गैस, रेल्वे स्टेशन की समीपता तथा चौकीदारी का लाभ प्रदान करना है। ये बस्तियाँ तीन कार्य करती है :

(१) वर्तमान बडे औद्योगिक केन्द्रो की भीड़-भाड़ को कम करना।

(२) बडे औद्योगिक केन्द्रो के निकट सहायक उद्योगों के रूप मे छोटी औद्योगिक इकाइयो का विकास करना, तथा

(३) उद्योगो के केन्द्रीयकरण को नियन्त्रित रखते हुए छोटे नगरो मे औद्योगिक विकास करना तथा विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था की परम्पराएँ निर्मित करना।

श्री एलेक्जेंडर ने औद्योगिक बस्तियो के मुख्य उद्देश्य ये बताए है :[1]

(अ) लघु उद्योगो के वित्त की व्यवस्था करना, (आ) उपर्युक्त स्थिति मे कारखाने का निर्माण करना तथा (इ) प्राविधिक व अन्य प्रकार की सहायता देना। उनके मत मे औद्योगिक बस्तियो मे प्रदान की जाने वाली सुविधाओं तथा औद्योगिक इकाइयो के परस्पर सहयोग के कारण इन इकाइयो मे उत्पादन क्षमता अधिक होना स्वाभाविक है।

मार्च १९६८ तक देश के विभिन्न भागो मे ३६० औद्योगिक बस्तियाँ कायम की जा चुकी थी जिनमे प्रतिवर्ष १२० करोड रुपए की वस्तुओं का उत्पादन प्रति वर्ष किया जा सकता था तथा लगभग ९० हजार व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सकता था।

कुटीर एवं लघु उद्योगों को वित्तीय तथा प्राविधिक सुविधाओं की व्यवस्था

छोटे उद्योगो के लिए उपरोक्त संस्थाओं के योगदान के अलावा कुछ अन्य सुविधाएँ भी दी जा रही हैं। इन सुविधाओ मे वित्तीय तथा प्राविधिक सहायता मुख्य है :

(१) **वित्तीय सुविधा**—जुलाई १९६० से रिजर्व बैंक ने छोटे उद्योगों को वित्तीय सुविधाएँ देने की दृष्टि से एक गारण्टी स्कीम प्रारम्भ की। इसके माध्यम से व्यापारी बैंको को छोटी इकाइयों को पूँजी प्रदान करने में आसानी हो जाती है। १९६०-६१ में गारण्टी स्कीम के अन्तर्गत व्यापारी बैंकों को केवल २ करोड रुपए की गारण्टी दी गई थी।

लेकिन १९६६-६७ में रिजर्व बैंक ने ५३ करोड रुपए की गारण्टी दी। जुलाई १९६० से नवम्बर १९६७ तक कुल मिलाकर इस स्कीम के अन्तर्गत ५६,४३६ गारण्टियो पर २२७ करोड रुपए के ऋण दिए गए। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की नीति भी इस दिशा मे काफी उदार रही है। मार्च १९६१ के अन्त मे स्टेट बैंक द्वारा छोटे उद्योगो के लिए प्रदत्त ऋण सीमा ९ करोड रुपए से भी कम थी, परन्तु ३१ दिसम्बर १९६८ तक यह राशि १०३ करोड रुपए तक बढ गई। स्टेट बैंक के बकाया ऋण इस सदर्भ मे ५७ करोड रुपए के थे।[2] मार्च १९६६ के अन्त मे सभी अनुसूचित बैंको (स्टेट बैंक सहित) के लघु उद्योगों मे बकाया ऋण ९१ करोड रुपए के थे। राज्य वित्त निगमो की बकाया राशि सितम्बर, १९६७ मे २५.७ करोड रुपए थी। पिछले कुछ वर्षो मे कुछ राज्य सरकारो ने लघु उद्योगो को वित्तीय सहायता देने हेतु लघु उद्योग विकास निगम भी स्थापित किए है। परन्तु इन निगमो की प्रगति सम्बन्धी रिपोर्ट अभी प्राप्त नहीं हो सकी है।

फरवरी, १९६६ से नागरिक सहकारी बैंको को भी रिजर्व बैंक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण मे

1. P. C Alezander : Irdustrial Estates in India (1963). pp. 2-8
2 State Bank of India Review, February 1969

ले लिया गया है तथा इन्हे भी लघु उद्योगो के लिए उदारतापूर्वक वित्तीय सहायता देने हेतु आदेश दिए गए है।

इस समय कुल मिलाकर ४५४ सस्थाओ को (३५० केन्द्रीय सहकारी बैंको, स्टेट बैंक व उसकी सहायक बैंको, ५१ अन्य अनुसूचित बैंको, ६ गैर अनुसूचित बैंको, २१ राज्य सहकारी बैंको तथा १८ राज्य वित्त निगमो का मिलाकर) लघु उद्योगो के लिए वित्तीय सहायता का अधिकार दिया हुआ है।[1]

(२) **प्राविधिक सहायता**—छोटे उद्योगो को प्राविधिक सहायता के लिए औद्योगिक विस्तार सेवा के अन्तर्गत केन्द्रीय लघु उद्योग सगठन काफी योगदान दे रहा है। हम ऊपर यह बता चुके है कि किस प्रकार सेवा सस्थाएँ तथा विस्तार केन्द्रो के माध्यम से नवीन प्राविधियो का प्रचार किया जा रहा है। इसके अलावा निम्न अन्य तरीको द्वारा भी प्राविधिक सहायता दी जा रही है

(१) विभिन्न राज्यों मे उद्योग-विभागो द्वारा प्रत्येक विस्तार खण्ड मे औद्योगिक विस्तार अधिकारियों की नियुक्ति

(२) अनेक औद्योगिक बस्तियो म सयुक्त सुविधा वाले वर्कशॉप की स्थापना करके,

(३) जर्मनी, जापान व स० रा० अमरीका की सहायता से प्रोटोटाइप उत्पादन व प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए गए हैं। इन्होंने अब तक ३,५०० व्यक्तियों को प्रशिक्षण दिया है।

(४) विभिन्न राज्यों मे औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्रो की स्थापना। तृतीय योजना की समाप्ति तक देश के लगभग ३५० औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्रों मे १ १७ लाख व्यक्तियो को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था विद्यमान थी।

कुटीर उद्योगो के विकास के लिए विशिष्ट कार्यक्रम

लघु उद्योगो की भाँति कुटीर उद्योगो के विकास हेतु भी प्राविधिक एव वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। अन्तर केवल यह है कि कुटीर उद्योगो के विकास मे सहकारी सस्थाओ को माध्यम बनाया जाता है। कुटीर उद्योगो से सम्बद्ध प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार हैं

लघु उद्योगो की भाँति कुटीर उद्योगो के विकास हेतु भी प्राविधिक एव वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। अन्तर केवल यह है कि कुटीर उद्योगो के विकास मे सहकारी सस्थाओ को माध्यम बनाया जाता है। कुटीर उद्योगो से सम्बद्ध प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार है

(१) **प्रशिक्षण**—जैसा कि ऊपर बताया गया है, कुटीर उद्योगो मे खादी व हाथकर्घा का अपेक्षाकृत अधिक महत्व है। इन्ही के विकास हेतु पचवर्षीय योजनाओ मे कुटीर व लघु उद्योगो के लिए निर्धारित राशि का तीन चौथाई खर्च किया गया है। खादी व ग्रामोद्योग कमीशन तथा हाथकर्घा बोर्ड वस्त्रो की नई डिजाइनें तैयार करके इनके लिए श्रमिको को प्रशिक्षण देते है। १९६० से मद्रास म हाथकर्घा टैक्नॉलाजी के लिए एक डिप्लोमा कोर्स प्रारम्भ किया गया है। हाथकर्घा के लिए पाँच डिजाइन सेंटर भी कायम किए गए है।

हस्तकलाओ के क्षेत्र मे पाच क्षेत्रीय कार्यालय एव चार डिजाइन केन्द्र स्थापित किए गए हैं। विभिन्न हस्तकलाओ के क्षेत्र मे प्रशिक्षण देने हेतु ८ पाइलट केन्द्र कायम किए है जहाँ शोध के साथ साथ प्रशिक्षण एव कलात्मक वस्तुओ का निर्माण भी किया जाता है।

(२) **प्रदर्शन एव प्रचार**—हस्तकलाओ एव खादी आदि के प्रचार हेतु देश व विदेश मे प्रदर्शन कार्य स्थापित किए गए हैं जिनसे इनकी देश मे बिक्री तो बढती ही है विदेशी विनिमय की भी पर्याप्त प्राप्ति होती है। इस समय देश भर मे ११० प्रदर्शन व बिक्री केन्द्र कार्य कर रहे है। इनके अलावा विश्व के प्रमुख नगरो मे भी प्रदर्शन गृह (एम्पोरिया) स्थापित किए गए हैं।

(३) **शोध**—हाथकर्घा रेशम, नारियल रेशा व हस्तकलाओ के सदर्भ मे शोध हेतु अनेक शोध-केन्द्रो की स्थापना की गई है। रेशम के लिए केन्द्रीय रेशम-कृमि स्टेशन श्रीनगर, मैसूर, कुनूर

---

1 India 1968 p 334

तथा बुरहामपुर मे शोध-केन्द्र स्थापित किए गए है। टसर सिल्क में शोध के लिए लाख (म० प्र०) एवं आसाम, बिहार, मैसूर व प० बंगाल के क्षेत्रीय सस्थान काफी महत्वपूर्ण योगदान दे रहे है। नारियल-रेशा के विभिन्न उपयोगो पर शोध हेतु केरल मे कालाबूर तथा प० बंगाल मे उलूबेरिया नामक स्थानो पर कार्य चल रहा है।

इसी प्रकार हस्तकलाओ व हाथकर्घा के लिए विभिन्न डिजाइन केन्द्रों में शोध की जाती है ताकि ये लोकप्रिय हो सकें एव इनका मितव्ययितापूर्वक उपयोग किया जा सके।

कुटीर उद्योगों की वर्तमान स्थिति—जैसा कि अध्याय के प्रारम्भ मे स्पष्ट किया जा चुका है, कुटीर उद्योगों मे लगभग २ करोड व्यक्ति संलग्न है। इनमे से (१९६१ की जनगणना के अनुसार) लगभग ५० लाख केवल हाथकर्घा उद्योग मे लगे हुए है। ३·७२ लाख हस्तकला इकाइयो मे १० लाख व्यक्ति तथा ३ लाख व्यक्ति खादी व ग्रामोद्योगो में पूरे समय तक व २१ लाख व्यक्ति आंशिक रूप से सलग्न है।

खादी व हाथकर्घे के वस्त्रो के उत्पादन को सूती वस्त्र मिलो के उत्पादन को सीमाबद्ध करते हुए बढाया गया, इसी कारण इस उद्योग ने काफी तेजी से विकास किया। १९६७-६८ मे खादी व ग्रामोद्योगो से लगभग १०० करोड रुपए की वस्तुएँ प्राप्त हुईं। हस्तकलाओं से प्राप्त वस्तुओ का मूल्य इस वर्ष लगभग ३०० करोड रुपए था।

लघु उद्योगों की वर्तमान स्थिति[1]

भारत मे इस समय लगभग १·४० से १·५० लाख छोटी इकाइयाँ (पंजीकृत) औद्योगिक क्षेत्र मे कार्य कर रही है। यदि १० व्यक्तियों से कम वाले कारखानो की संख्या को सम्मिलित किया जाय तो यह संख्या लगभग २ लाख है। लघु उद्योगो द्वारा हमारी राष्ट्रीय आय का लगभग ५% भाग प्राप्त होता है। इनमे १० से अधिक श्रमिको वाली इकाइयो मे कुल मिलाकर ३० लाख व्यक्ति संलग्न है। जो औद्योगिक श्रमिको का ३१% अनुपात है। स्वतन्त्रता के पश्चात् लघु उद्योगो ने चतुर्मुखी प्रगति की है। आज उपभोक्ता वस्तुओ से लेकर पूँजीगत वस्तुओ का भी इनमे पर्याप्त उत्पादन किया जा रहा है। विशेष रूप से रेफ्रीजरेटर, सिलाई की मशीनो, साइकिलो, छोटे-छोटे यन्त्रो, वार्निश तथा अन्य बहुत सी वस्तुओ का न केवल भारत में उत्पादन किया जा रहा है अपितु इनका हम निर्यात भी करने लगे है।

परन्तु भारत मे लघु उद्योग आज भी अन्य देशो की अपेक्षा काफी पीछे है। जापान, न्यूजीलैंड व अर्जेंटीना में कुल औद्योगिक श्रमिको मे से ६०% से अधिक छोटी इकाइयो मे सलग्न हैं परन्तु औद्योगिक उत्पादन का ३५ से ४०% तक इस क्षेत्र से प्राप्त होता है। भारत मे रोजगार का अनुपात यही होने पर भी उत्पादन का अनुपात कुल औद्योगिक उत्पादन के २५% से भी कम है।

पिछले दो-तीन वर्षो से लघु उद्योगो की प्रगति मे अनेक समस्याएँ आ रही है और यदि इनका शीघ्र निवारण नहीं किया गया तो इन उद्योगो पर गम्भीर संकट आने की आशंका है। ये समस्याएँ इस प्रकार है[2]

लघु उद्योगों की समस्याएँ एवं सुझाव

(I) लघु उद्योगों की समस्यायें

(१) **विकास की धीमी गति**—यद्यपि १९६० मे प्रकाशित लघु उद्योगो पर जापानी विशेषज्ञो के दल ने भारत सरकार की वर्तमान नीति पर सतोष व्यक्त किया था और स्वतन्त्रता के पश्चात् वास्तव मे कुटीर तथा लघु उद्योगो का विकास हुआ भी है, तथापि जिस गति मे इनका

1 N. L. Nanjappa : Commerce Annual 1964 & Yojana Ap il 29, 1969.

2. See Indian Finance October, 7 & November, 1967 and Bank of Baroda Review Sept. 29, 1967.

विकास होना चाहिए था उस गति से यह नही हो सका। उदाहरण के लिए १९५०-५१ मे राष्ट्रीय आय का लगभग ८.८ प्रतिशत लघु उद्योगो से प्राप्त होता था जबकि यह अनुपात १९६८-६९ मे घटकर ५% रह जाने की आशका है। इसका यह अर्थ हुआ कि लघु उद्योगो के विकास की गति अत्यन्त धीमी है।

(२) **रोजगार के अवसरो के विकास का अभाव**—यह कहा जाता है कि लघु कुटीर उद्योगो मे रोजगार अधिक दिया जा सकता है। लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि तीन योजनाओ मे केवल ९-१० लाख व्यक्तियो को कुटीर व लघु उद्योगो के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार मिला। प्रश्न है, क्या यह प्रगति सतोषजनक है? जिस देश मे ९० लाख व्यक्ति १९६०-६१ मे बेकार थे तथा जहाँ १½ करोड और अधिक व्यक्तियो के तृतीय योजना काल मे "रोजगार के इच्छुको की सेना" मे प्रवेश का अनुमान था वहाँ कुटीर तथा लघु उद्योगो द्वारा सिर्फ १० लाख व्यक्तियो को काम दिया जा सके तो इनका रोजगार-प्रधान होने से देश को क्या लाभ? स्पष्ट है कि जिस रूप मे इन उद्योगो पर पूँजी लगाई जा रही है उस दृष्टि से रोजगार की ओर ध्यान नही दिया जा रहा। धर तथा लिडॉल का कथन है कि लघु उद्योगो मे रोजगार का स्थायित्व नही है तथा साथ ही राज्य की विकास नीति के प्रति फैक्ट्रियो के मालिको का दृष्टिकोण सशयात्मक है।

(३) **पूँजी का अभाव**—लघु उद्योगो के लिए तो कुछ सीमा पूँजी की व्यवस्था राज्य द्वारा की जा रही है—परन्तु कुटीर उद्योगो के विकास हेतु पूँजी की व्यवस्था अत्यधिक असतोषप्रद है। न बैंको से और न ही सहकारी समितियो मे उन्हे पर्याप्त सतोष है।

(४) **नवीन प्राविधियो के प्रति रुचि का अभाव**—योजना आयोग ने इसके अलावा यह स्वय स्वीकार किया है कि नवीन प्राविधियो के प्रति भारतीय शिल्पकारो का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण नही है।

(५) **कच्चे माल का अभाव**—छोटे उद्योगो की स्थापना एव विकास के लिए आवश्यक कच्चा माल अत्यन्त कठिनाई तथा विलम्ब के बाद प्राप्त हो पाता है। इन उद्योगो के विकास मे राज्यों के उद्योग विभागो की वतमान नीति अवरोध उत्पन्न कर रही है।

(६) **ऊँचा लागत व्यय**—वास्तव मे कुटीर उद्योगो द्वारा निर्मित कलात्मक वस्तुओ की बिक्री हेतु खादी तथा ग्रामोद्योग सघो द्वारा सराहनीय प्रयास किए जा रहे है पर इन वस्तुओ की ऊँची उत्पादन-लागत तथा अत्यधिक ऊँची कीमतो ने इन्हे सामान्य जनता के उपयोग की वस्तुओं की अपेक्षा धनिक वर्ग की कोठियो तथा भव्य प्रासादो मे विलासिता-प्रदर्शन की वस्तुएँ बना दिया है।

(७) **औद्योगिक बस्तियो के निर्माण की धीमी गति**—लघु उद्योगो के लिए औद्योगिक बस्तियो का निर्माण कार्य बहुत धीमा है। फिर अनेक बस्तियो मे इकाइयो के विस्तार की भी गु जाइश नही है। उद्योगपतियो को शेड प्राप्त होने से पूर्व काफी प्रतीक्षा करनी पडती है। फिर कुछ बस्तियों में परिवहन की समुचित व्यवस्था नही है।

(II) **कुछ महत्वपूर्ण सुझाव** :

लघु तथा कुटीर उद्योगो के भावी विकास हेतु निम्न सुझाव प्रस्तुत किए जा सकते है

(१) कच्चे माल एव पूँजी की सामयिक पूर्ति हेतु राज्य के उद्योग विभाग तथा विकास अधिकारी (क्रमश लघु एव कुटीर उद्योगों के लिए) उत्तरदायित्व ले, (२) कुटीर उद्योगो के विकास हेतु सहकारी समितियो को प्राथमिकता दी जाए तथा राज्य सरकारें इनकी आवश्यकताओ को प्राथमिकता दें।

(३) उत्पादन-लागत म कमी करने के लिए दो सुझाव दिए जा सकते हैं (अ) जिन उद्योगों मे कच्चा माल मिलो से प्राप्त होता है उन पर से उत्पादन कर हटा दिया जाय। (आ) औद्योगिक इकाइयों के विवेकपूर्ण प्रबन्ध की व्यवस्था की जाए।

(४) उपभोक्ता सहकारी भडारो तथा कुटीर एव लघु उद्योगो की इकाइयों मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किए जाएँ ताकि उचित मूल्य पर उपभोक्ता आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कर सकें। इससे इनकी लोकप्रियता मे वृद्धि होगी तथा इनके विकास की गति बढेगी।

(५) पूंजी की पूर्ति के लिए सहकारी बैंकों की स्थापना की जाए जो शिल्पकारों को अल्प तथा मध्यकालीन ऋण दे सकें।

(६) शिक्षा का प्रसार करके नवीन प्राविधियों के लाभ शिल्पकारों को बताए जाएँ।

(७) उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होने से रोजगार में भी वृद्धि होगी तथा मुद्रा-स्फीति का प्रभाव कम होगा जिससे सामान्य, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों का जीवन स्तर ऊंचा उठेगा।

(८) धर एवं लिडॉल ने सुझाव दिया है कि औद्योगिक बस्तियों को निर्बल, अपरिपक्व तथा शिशु इकाइयों के पोषण के केन्द्र-स्थलों में परिवर्तित किया जाना उपयुक्त होगा। वे यह भी मानते हैं कि राज्य की वित्तीय सहायता का अन्तिम उद्देश्य विभिन्न औद्योगिक (लघु तथा कुटीर) इकाइयों को स्वावलम्बी बनाना होना चाहिए तथा राज्य पर अत्यधिक निर्भरता की प्रवृत्ति को शनैः-शनैः समाप्त किया जाना चाहिए। कुटीर तथा लघु उद्योगों के लिए पर्याप्त विज्ञापन तथा प्रचार की व्यवस्था भी होनी चाहिए तभी इनकी बिक्री बढ़ सकेगी तथा इनके विकास की गति बढ़ सकेगी।[1] उनके मत में कच्चे माल की पूर्ति पर नियन्त्रण या सीमा (Quotas) नहीं होनी चाहिए।

(९) एलेक्जेण्डर के मत में लघु उद्योगों, विशेषकर छोटी औद्योगिक बस्तियों में स्थित इकाइयों में कारीगरों को प्रारम्भ में सरल उपकरण दिए जाएँ तथा शनैः-शनैः आधुनिक यन्त्रों का प्रशिक्षण दिया जाए।[2]

(१०) औद्योगिक बस्तियों तथा उनमें स्थित इकाइयों में तालमेल बैठाना भी आवश्यक है।[3]

---

1. Dhar and Lydall, op. cit, p. 86-88
2. P. C. Alexander op. cit, p 48
3. Yojana, April 20, 1969

२८

औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन
(Industrial Finance)

प्रारम्भिक—अर्थ प्रबन्धन का अर्थ एवं महत्व

आधुनिक युग मे पूंजी वह धुरी है जिसके चारो ओर आर्थिक ससार घूमता है। किसी भी व्यापार एव उद्योग को चाहे वह बड़े पैमाने पर हो अथवा छोटे पैमाने पर प्रारम्भ करने एव उसके भावी विस्तार के लिए पर्याप्त पूंजी की आवश्यकता होती है। आधुनिक समय मे देश की औद्योगिक उन्नति अर्थ प्रबन्धन पर ही निर्भर है। अर्थ प्रबन्धन की उचित व्यवस्था के अभाव म अनेक औद्योगिक विकास की योजनायें फायलो व कागजो तक ही सीमित रहकर असफल हो जाती है। जिस प्रकार एक इजन के चलाने के लिए कोयले अथवा बिजली की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यापार एव उद्योग को स्थापित करने तथा चलाने के लिए अर्थ प्रबन्धन की आवश्यकता होती है। अतएव अर्थ प्रबन्धन ही उद्योगो का सर्वस्व है। भारत की औद्योगिक उन्नति न होने का मुख्य कारण पर्याप्त अर्थ प्रबन्धन का ही अभाव होना है। विदेशी सरकार की इस ओर कोई विशेष रुचि न थी क्योकि इसमे उसका स्वार्थ छिपा हुआ था। अंग्रेज भारत को इङ्गलैण्ड के उद्योग के लिए केवल कच्चे माल के निर्यातक के रूप मे ही देखना चाहते थे। परिणामस्वरूप, भारत उस समय इङ्गलैण्ड के निर्मित माल की खपत का मुख्य केन्द्र बना हुआ था। स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर राष्ट्रीय सरकार ने पचवर्षीय योजनाओ के द्वारा देश के औद्योगिक विकास पर जोर दिया। द्वितीय पचवर्षीय योजना-काल मे देश मे कई बड़े बड़े उद्योगो की स्थापना की गई। आज जबकि हमारा देश चतुर्थ योजना के ढाचे को तैयार कर चुका है यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन की समुचित व्यवस्था की जावे ताकि औद्योगिक विकास की सभी योजनाओ को क्रियात्मक रूप प्रदान किया जा सके। जैसे जैसे उत्पादन की इकाई मे वृद्धि एव जटिलता आती जा रही है वैसे-वैसे अर्थ प्रबन्धन का महत्व बढ़ता जा रहा है। भारत मे पर्याप्त औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन के अभाव मे आज हम विश्व के किसी भी राष्ट्र मे ऋण लेने के लिए तत्पर हैं।

पूंजी प्राप्त करने के साधन

(I) स्वामित्वधारी अथवा वैयक्तिक सस्थाओ (Proprietory Concerns) की दशा में—इन सस्थाओं से हमारा अभिप्राय एकाकी व्यापार सयुक्त परिवार व्यवसाय तथा साझेदारी से है। इनके व्यापार का आकार प्राय छोटी मात्रा मे होता है क्योकि इनके आर्थिक साधन सार्वजनिक सस्थाओं (अर्थात् कम्पनी) के मुकाबले म सीमित होते हैं। स्वामित्वधारी सस्था को निम्न स्रोतो (Sources) के द्वारा कार्यशील पूंजी प्राप्त हो सकती है —(१) मित्रो तथा सम्बन्धियो से ऋण लेकर, (२) बैंको से ऋण लेकर, (३) हुण्डिया द्वारा ऋण लेकर (४) जननिक्षेप

लेकर, (५) किसी पूँजी वाले नये साझेदार को लेकर, एवं (६) विशिष्ट संस्थाओं तथा सरकार से ऋण लेकर।

(१) **मित्रों तथा सम्बन्धियों से ऋण लेकर**—यदि व्यवसाय के स्वामी स्वय इतने धनाढ्य नहीं होते कि व्यवसाय अथवा उद्योग की बढ़ती हुई पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा कर सकें तो उन्हें अपने मित्रो तथा सम्बन्धियो से उधार धन लेना पड़ता है। यह धन निश्चित ब्याज-दर पर तथा निश्चित अवधि के लिए लिया जा सकता है।

(२) **बैंकों से ऋण लेकर**—आवश्यकता पड़ने पर व्यापारिक बैंको से भी ऋण लिया जा सकता है। बहुधा व्यापारिक बैंक अस्थायी रूप से ऋण दिया करती हैं तथा ऋण देने से पूर्व ये ऋण लेने वाले की साख तथा प्रतिष्ठा आदि का भी विचार करती है। इन बैंको में प्राय. ऐसे विभाग होते है जो बाजार की स्थिति तथा ग्राहकों की आर्थिक दशा एवं व्यवहार का पूरा ज्ञान रखते हैं। ये विभाग बहुधा ग्राहको के स्थिति विवरण (State of Affairs) तथा अन्य लेखो का निरीक्षण करके और गुप्त रूप से अन्य स्रोतो द्वारा सूचनायें प्राप्त करके अपनी पूरी-पूरी जानकारी रखते है। अतः किसी भी व्यापारी अथवा उद्योगपति को ऋण देने से पूर्व बैंक इस विभाग को विस्तृत जानकारी प्राप्त करने का आदेश देते है। इसके पश्चात् ही यह निर्णय किया जाता है कि ऋण दिया जाय अथवा नही। यदि ऋण दिया जाना है तो उसकी मात्रा, अवधि व शर्तें क्या होनी चाहिए—यह सब उपरोक्त विभाग की रिपोर्ट पर ही निर्भर करता है। भारत में यह ऋण ग्राहक की जमानत या प्रतिभूति लेकर ही दिया जाता है।

(३) **हुण्डियों (Hundies) द्वारा**—सबसे अधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध पद्धति जोकि भारत मे व्यावसायिक अर्थ-पूर्ति के लिए अपनाई जाती है वह हुण्डियों द्वारा धन लेना है। जनता से व्यापार के लिये धन लेने की यह अत्यन्त प्राचीन पद्धति है और विशेषकर यहां के निवासियों से ही ऋण लेने की यह बडी पुरानी रीति है। कुछ लेखको की राय से "हुण्डी" शब्द फारसी का जान पडता है और इसका अर्थ "संग्रह करना" या "इकट्ठा करना" होता है। कुछ लेखक इस "हुण्डी" शब्द को हिन्दी या हिन्दू शब्द का अपभ्रन्श रूप बतलाते हैं। कुछ भी हो, हिन्दू या हिन्दी का हुण्डी होना यथार्थ प्रतीत होता है, क्योकि इस हुण्डी की प्रथा का प्रचलन भी अत्यन्त प्राचीन काल से पाया जाता है। इसके लिए एक पौराणिक कथा भी प्रचलित है कि प्राचीन काल मे वस्तुपाल तेजपाल ने अहमदाबाद के नगर सेठ से १० करोड की एक हुन्डी भुनाई थी और उसी धन से आबू के पर्वत पर दिलवारा के मन्दिरो का निर्माण कराया था। इसी प्रकार लगभग २,५०० वर्ष पहले की एक और कहानी प्रचलित है कि श्रीकृष्ण के जीवन-काल मे जूनागढ़ के नरसिंह मेहता ने द्वारिका के सेठ सामलशाह से एक हुण्डी भुनाई थी।

इसके साथ ही यह ध्यान रखना चाहिये कि हुण्डी एक अन्तर्देशीय विनिमय-पत्र (Inland Bill of Exchange) नही है। हुण्डी का प्रमुख कार्य एक व्यापारी को धन प्राप्त करने के लिये समर्थ बनाना होता है। एक व्यापारी, जिसे धन की आवश्यकता होती है तो वह अपने अभिकर्ता (Agent) द्वारा स्वय हुण्डी लेता है तथा उसमे दिये हुए व्यक्ति को निश्चित अवधि पर उस धन को देने के लिये बाध्य होता है। जिस व्यक्ति के लिये हुण्डी बनाई जाती है वह उधार लेने वाला होता है तथा उसमे लिखी हुई धनराशि का वह देनदार होता है और उसमें निश्चित की हुई अवधि तक ही वह धन-राशि का उपयोग कर सकता है। उस अवधि के बीतने पर उसे उस धन को निश्चित ब्याज-सहित लौटाना पडता है। इस प्रकार की हुण्डी 'मुद्दती' या 'मिती हुण्डी' कहलाती है।

(४) **जन-निक्षेप (Public Deposits) लेकर**—यदि व्यापारी की साख है एवं लोगों को उसकी आर्थिक दशा पर पूरा-पूरा विश्वास हो तो लोग उसके पास अपनी धन-राशि जमा कर देते है। इस प्रकार व्यापारी को बिना किसी प्रकार का ब्याज दिये हुए अथवा नाम-मात्र का ब्याज देने पर पर्याप्त मात्रा मे कार्यशील पूँजी प्राप्त हो जाती है। आवश्यकता पडने पर जमा करने वाला चाहे जब अपने धन को वापिस मांग सकता है। ऐसी दशा मे उनको यह धन वापस करना ही पडता है, क्योंकि वापस न आने पर उसकी व्यापारिक साख समाप्त हो जाती है तथा लोगों का विश्वास समाप्त हो जाता है। इस प्रकार का जन-निक्षेप ग्रामों में, अहमदाबाद व बम्बई मे अधिक मात्रा मे मिलता है।

(५) किसी पूंजी वाले नये साझेदार को लेकर—साझेदारी संस्था मे जब अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है तो उपरोक्त दी गई रीतियों का प्रयोग न करके व्यापार मे किसी ऐसे नये साझेदार को सम्मिलित कर देते है जिसके पास पर्याप्त मात्रा मे पूंजी हो। इस प्रकार व्यवसाय के लिये बिना ब्याज के अतिरिक्त पूंजी मिल जाती है। साथ मे प्रबन्ध-सम्बन्धी अन्य लाभ भी प्राप्त हो जाते है।

(६) विशिष्ट संस्थाओं व सरकार से ऋण लेकर—भारत को स्वतन्त्रता मिलने से पूर्व यहाँ ऋण देने वाली सस्थाओ का भारी अभाव था, किन्तु हमारी राष्ट्रीय सरकार ने ऐसी कई सस्थाओ की स्थापना की है जोकि उचित शर्तों पर व्यापार व उद्योग के विकास-कार्यक्रमों के लिए ऋण देने को तैयार है। इनका वणन अगले अध्याय मे किया गया है। यही नही भारत तथा राज्य सरकारें भी इस दिशा मे ऋण देने को तत्पर हैं।

(II) कम्पनी या अवैयक्तिक संस्थाओं का अर्थ-प्रबन्धन

भारत मे एक सयुक्त पूंजी वाली सार्वजनिक कम्पनी औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था निम्न साधनो द्वारा करती है —(I) स्थायी पूंजी—(१) अश-निर्गमन द्वारा (२) ऋण-पत्र निर्गमन द्वारा। (II) कार्यशील पूंजी—(१) व्यापारिक बैंको से ऋण द्वारा। (२) सार्वजनिक निक्षेप द्वारा। (३) प्रबन्ध अभिकर्त्ता द्वारा। (४) देशी बैंकर्स द्वारा। (५) अर्जित आय के पुन विनियोग द्वारा। (६) ह्रास-कोष (Depreciation Fund) द्वारा। (७) औद्योगिक वित्त निगम द्वारा। (८) अन्य विशिष्ट सस्थाओं द्वारा।

(I) स्थायी पूंजी प्राप्त करने के साधन
(Methods of Raising Fixed Capital)

(१) अश निर्गमन (Issue of Shares) :

उद्योगों के लिये पूंजी प्राप्त करने का सर्वोत्तम एव सबसे सरल साधन अश-पत्रों का निगमन है। अश-पूंजी की मात्रा कम्पनी के पार्षद सीमानियम द्वारा निर्धारित की जाती है। इस पूंजी को प्राप्त करने के लिये विभिन्न प्रकार के विनियोक्ताओ को आकर्षित किया जाता है। इस उद्देश्य से कई प्रकार के अन्शो का निर्गमन किया जाता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के अन्शो मे विनियोक्तागण अपनी रुचि के अनुसार धन का विनियोग करते हैं।

कम्पनी अधिनियम सन १९५६ के अनुसार केवल दो प्रकार के अश (क) साधारण अश अथवा सामान्य अश (Ordinary Share or Equity) तथा (ख) पूर्वाधिकार अश का ही निर्गमन किया जा सकता है।

(क) साधारण अश (Ordinary Share of Equities)—साधारण अश ऐसे अशो को कहते हैं जिन पर लाभाश तथा समापन के समय पूंजी की वापसी पूर्वाधिकार अशो के बाद की जाती है। सही रूप मे साधारण अशधारी ही कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं। कम्पनी की अश-पूंजी मे साधारण अन्शों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान होता है। अतएव यदि इनको औद्योगिक वित्त व्यवस्था की आधारशिला कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

(ख) पूर्वाधिकार अश अथवा अधिमान्य अश (Preference Shares)—वे अश जिन पर अशधारियो को कुछ विशेष पूर्वाधिकार प्राप्त होते हैं, पूर्वाधिकार अश कहलाते हैं। पूर्वाधिकार अशधारियो को लाभाश का एक निश्चित भाग पाने का अधिकार होता है, अर्थात् लाभाश-वितरण के समय ऐसे अशधारी सबसे आगे होते हैं। इनको लाभाश देने के बाद ही अन्य प्रकार के अशधारियो का नम्बर आता है। लाभाश का भुगतान वार्षिक अथवा अर्द्ध वार्षिक (Half-Yearly) किया जा सकता है। पूर्वाधिकारी अशो को अधिक आकर्षित एव लोकप्रिय बनाने के लिए समय-समय पर विभिन्न प्रकार के अधिकार दिये जाते हैं।

(२) ऋण-पत्र निर्गमन (Issue of Debentures)

अशो के अतिरिक्त औद्योगिक पूंजी प्राप्त करने का दूसरा महत्वपूर्ण साधन ऋण-पत्रो (Debentures) तथा बन्धो (Bonds) का निर्गमन है। ऋण-पत्र रक्षित (Secured) व अरक्षित

(Unsecured) दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। अमेरिका मे अरक्षित बन्धो को ही ऋण-पत्र कहते है, किन्तु भारत मे इस प्रकार का कोई भेद नही किया जाता हैं। यहाँ बन्धों व ऋण-पत्रो का का प्रयोग एक ही अर्थ मे किया जाता है। भारतीय अधिनियम सन् १९५६ ऋण-पत्रों को परिभाषित नही करता केवल इतना बताता है कि इसके अन्तर्गत ऋण-पत्र स्कन्ध (Debenture Stock) सम्मिलित होते है। ऋण-पत्र-कम्पनी द्वारा निर्गमित वह प्रलेख है, जिसके आधार पर लोगो से उस पर लिखित पूंजी प्राप्त की जा सकती है, अर्थात् यह ऋण-पत्र-ऋण-दाता (Lender) को उसके धन की प्राप्ति के प्रमाण में दिया जाता है। ऋण-पत्र धारक कम्पनी का ऋणदाता होता है और इस प्रकार उसके भुगतान का उत्तरदायित्व कम्पनी पर होता है। उस पर मूलधन (Principal) का भुगतान न होने तक किसी निश्चित सामयिक अवधि मे निश्चित प्रतिशत ब्याज देने की प्रतिज्ञा होती है। यह ब्याज प्रायः अर्द्ध-वार्षिक (Half-Yearly) दिया जाता है।

(II) कार्यशील पूंजी प्राप्त करने के साधन

(Methods of Raising Working Capital)

(१) व्यापारिक बैंकों से ऋण (Loans from Commercial Banks) :

भारतीय उद्योगो के अर्थ-प्रबन्धन मे व्यापारिक बैंको ने प्रारम्भ से ही उदासीनता की नीति अपनाई है। वे केवल व्यापारिक कार्यों के लिए अल्पकालीन ऋण सुविधायें ही प्रदान करते हैं तथा दीर्घकालीन ऋण देना व्यापार की दृष्टि से अनुचित समझते है। श्री एस० के० बसु के शब्दों में, इस कथन की और पुष्टि हो जाती है। उनके अनुसार, "बैंकिंग पद्धति का निर्माण शुद्ध पूर्व अंग्रेजी आधार पर हुआ है जिसकी प्राचीन परम्परा उद्योगो से दूर रहने की रही है।" केन्द्रीय बैंकिग अनुसंधान समिति ने इस प्रश्न पर कि व्यापारिक बैंक औद्योगिक कम्पनियों को कितनी मदद देती है, अनुसन्धान किया और अपनी रिपोर्ट मे बताया कि व्यापारिक बैंक उद्योगो को दीर्घकालीन ऋण पर्याप्त मात्रा मे नही देती हैं। जब कभी वे ऋण देती हैं तो कम से कम ३०% अन्तर अपने पक्ष मे रखती है।

(२) सार्वजनिक अथवा लोक निक्षेप (Public Deposits)

भारतीय कम्पनियो के अर्थ-प्रबन्धन के लिए सार्वजनिक निक्षेप स्वीकार करना इस देश के औद्योगिक विकास मे एक अद्वितीय घटना है। प्रारम्भ मे बैंको मे जनता का अधिक विश्वास था जिसके कारण कम्पनियो को पर्याप्त मात्रा मे सार्वजनिक निक्षेप प्राप्त हो जाते थे। बम्बई, अहमदाबाद तथा कुछ हद तक शोलापुर की सूती वस्त्र मिलो ने तथा बंगाल व असम के चाय बागो ने सार्वजनिक निक्षेप के द्वारा ही अपनी स्थायी पूंजी का सचय किया है, अर्थात् उन्होने सीधे जन-साधारण से निर्धारित अवधि के लिए निश्चित ब्याज-दर पर निक्षेप स्वीकार किया है। सार्वजनिक निक्षेप छः महीने से लेकर बारह-पन्द्रह साल तक के लिए किये जाते रहे हैं। सार्वजनिक निक्षेप के द्वारा पूंजी सचय प्रणाली की कड़ी आलोचना की गई है और सन्देह नही, इस प्रणाली मे अनेक त्रुटियां हैं, लेकिन इस सत्य से इन्कार नही किया जा सकता कि बम्बई व अहमदाबाद की सूती वस्त्र मिलो का अधिकतर विकास इसी प्रणाली के कारण हुआ है। अग्रलिखित तालिका से अन्य वित्तीय स्रोतो की तुलना मे सार्वजनिक निक्षेप की महत्ता का ज्ञान हो जायेगा।

इस तालिका मे दिये गये आंकडो से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त अवधि मे अहमदाबाद में सार्वजनिक निक्षेप पद्धति सबसे अधिक लोकप्रिय रही है। यह उल्लेखनीय है कि वर्तमान समय मे भी यह निक्षेप वहाँ वित्त का महत्वपूर्ण स्रोत है, किन्तु भारत के अन्य औद्योगिक केन्द्रो मे यह पद्धति प्रचलित नही है। इन सार्वजनिक निक्षेपों पर ब्याज की दर साधारणतः ४½% से लेकर ६½% तक भिन्न-भिन्न मिलो मे रहती है। जिन कम्पनियो की साख अच्छी होती वे कम ब्याज पर भी निक्षेप मे आकर्षित करने मे सफल हो जाती हैं, किन्तु मन्दी के समय निक्षेप प्रायः कठिनाइयों से ही मिलते हैं।

बैंकिंग जाँच समिति सन् १९३६ की रिपोर्ट के अनुसार

पूँजी का स्रोत	बम्बई		अहमदाबाद		शोलापुर	
	रु० लाखो मे	कुल पूँजी का प्रतिशत	रु० लाखो मे	कुल पूँजी का प्रतिशत	रु० लाखो मे	कुल पूँजी का प्रतिशत
१ प्रबन्ध अभिकर्ता	७६४	५९ ७	३२९	३१ ७	२१	१५ ४
२ सार्वजनिक निक्षेप	१२७	१० २	५२९	५० ९	१५	११ ०
३ बैंक	११९	९ २	५८	५ ६	२५	१८ ४
४. ऋण-पत्र	१७०	१३ ५	—	—	४४	३२ ४
५ अन्य	८९	७ ४	१२३	११ ८	३१	२२ ८
कुल योग	१,२५१	१००	१,०६९	१००	१३६	१००

(३) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं (Managing Agent) द्वारा ऋण

संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों का प्रबन्ध एव उनके अर्थ-प्रबन्धन मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का प्रारम्भ से ही अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। फिस्कल कमीशन (Fiscal Commission 1949-50) के अनुसार 'औद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनो मे जबकि न तो साहस और न पूँजी ही प्राप्त थी—प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ ने दोनो को ही प्रदान किया।' भारत मे औद्योगीकरण की प्राथमिक अवस्था मे इन्होने नये-नये उद्योगो का प्रवर्तन एव निर्माण किया, उनका प्रबन्ध किया तथा निजी साधनो द्वारा उनका अर्थ प्रबन्धन किया और कर भी रहे हैं। इतना ही नही, कही-कही अश एव ऋण-पत्रों का ४०% भाग तक इन्होने स्वय खरीदा अथवा अपने मित्रो तथा सम्बन्धियो से क्रय कराया। सार्वजनिक निक्षेप भी उन्ही की निजी साख के कारण प्राप्त होते हैं। कम्पनियो को बैंको आदि से ऋण दिलाने मे भी इनका अमूल्य सहयोग रहा है, क्योंकि उनकी व्यक्तिगत जमानत के बिना भारतीय बैंक ऋण नही देते। अपने असीम आर्थिक साधनो के कारण प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ ने अपने नियन्त्रित उद्योगो को सदैव आर्थिक कठिनाइयो से सुरक्षा प्रदान की है। इनके सम्बन्ध मे विस्तृत वर्णन अगले अध्यायो मे किया गया है। यहा पर केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि इन्होने भारतीय कम्पनियो की प्रारम्भिक अवस्था मे तथा आर्थिक कठिनाइयो के समय आर्थिक सहायता देकर उनको जीवन-दान दिया है।

(४) देशी बैंकर्स (Indigenous Bankers) से ऋण

यद्यपि देशी बैंकरो का औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन मे बहुत कम हाथ रहा है, किन्तु इन्होने देश के आन्तरिक व्यापार को महत्वपूर्ण साख सुविधायें प्रदान की हैं। ये गत कुछ वर्षो से अहमदाबाद व बम्बई की सूती मिलो, असम तथा बगाल के चाय उद्योग मे, तेल, चमडे व चावल आदि की मिलो से साख-सुविधायें प्रदान कर रहे हैं, किन्तु इनकी अत्यधिक ब्याज-दर (जोकि १२% से २४% तक होती है) रूढिवादी नीति, सीमित आर्थिक साधन तथा व्यापारिक बैंको की प्रतियोगिता के कारण धीरे-धीरे इनका लोप होता जा रहा है। इतना होते हुए भी देशी बैंकर उन उद्योगो के लिए अत्यन्त लाभदायक हैं जो अपनी साधारण जनता से प्राप्त नही कर सकते, जिनके यहाँ सार्वजनिक निक्षेप उपलब्ध नही हैं, जहां पर आधुनिक बैंकिंग का विकास नही हुआ है तथा जो जमानत के नियमो को कठोरता से पालन नही करते। यदि देखा जाय तो भारतवर्ष मे देशी बैंकर ही एक मात्र ऐसी सस्था है जोकि व्यक्तिगत जमानत पर भी ऋण देने को तत्पर है। श्री जावा

गोपालदास के अनुसार, "कम्पनियाँ देशी बैंकर्स को ऊँची व्याज की दर देना इसलिए पसन्द करती थी, जिससे संयुक्त स्कन्ध बैंकों द्वारा की गई जाँच-पड़ताल, उनके नियमित ढङ्ग और अपेक्षाकृत अधिक जोखिम तथा बैंक के काउण्टर (Counter) तथा दरवाजे पर आरूढ़ सुसज्जित चौकीदार के दर्शन न करने पड़ें।" छोटे-छोटे उद्योगों में अब भी देशी बैंकर पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता देते हैं। सहकारी साख-समितियों की स्थापना से इनके व्यवसाय को भारी क्षति पहुँची है।

(५) अर्जित आय का पुनः विनियोग (Ploughing back of earned Profits) :

प्रत्येक प्रगतिशील उद्योग के भावी विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में पूँजी चाहिए। यदि वह पूँजी बाहरी लोगों से ली जाय तो उसमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतएव लाभ के एक हिस्से का पुन विनियोग करना विस्तार और उन्नति की सर्वश्रेष्ठ विधि है। इस पद्धति के अनुसार कम्पनी अपनी सम्पूर्ण आय का वितरण लाभांश के रूप में न करती हुई उसका एक भाग बचाकर संचय-कोष में रख लेती है और इस संचित कोष का प्रयोग कम्पनी की भावी विकास की योजनाओं में करती है। कम्पनी के इस प्रकार के अर्थ-प्रबन्धन को 'अर्जित आय का पुन. विनियोग' अथवा 'आन्तरिक अर्थ व्यवस्था' कहते हैं। यह पद्धति कम्पनी की आर्थिक दृढ़ता के लिए अधिक लाभकर है, क्योंकि ऋण से विकास योजनाओं की पूर्ति करने से कम्पनी पर ब्याज के भुगतान का बोझ बढ़ता है और यदि इन ऋणों का भुगतान अचानक एक साथ मान लिया जाय तो कम्पनी की आर्थिक स्थिति शिथिल पड़ जाती है। अतएव जो देश औद्योगिक उन्नति कर रहे हैं, उनमें पूँजी बढ़ाने के लिए यह पद्धति बड़ी व्यापकता से अपनाई गई है। पाश्चात्य देशों के औद्योगिक विकास में इस पद्धति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उस दशा में जबकि पूँजी का प्राप्त करना कठिन हो, यह पद्धति अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

लाभ तथा दोष :

लाभ—(१) इस कोष के होने से कम्पनी मौसमी तथा व्यापारी अवसादों (Depressions) का सामना करने के लिए सुदृढ़ हो जाती है। (२) विवेकीकरण तथा उन्नति की योजनाओं को सुविधापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता है। (३) अंशधारियों के अंशों का मूल्य बाजार में बढ़ जाता है। (४) अंशधारियों के विनियोग व्यापारिक उतार-चढ़ावों (Fluctuations) से सुरक्षित हो जाते हैं। (५) देश में तेजी से औद्योगीकरण होने लगता है जिससे समाज में आर्थिक सम्पन्नता आती है तथा लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है।

दोष—(१) कम्पनी संचालक उस पूँजी को अनावश्यक तत्त्वों में खर्च करते हैं। (२) आय के एक बड़े भाग को संचित कोष में डालकर आय-कर (Income tax) बचाया जा सकता है। भारतीय आय-कर अधिनियम की धारा २३ 'अ' इस प्रकार की प्रथा पर रोक लगाती है। (३) गुप्त कोष के दोष उत्पन्न हो जाने का भय पैदा हो सकता है।

(६) ह्रास-कोष (Depreciation Fund) :

मशीनों व यन्त्र की मरम्मत तथा उनका पुनर्स्थापन के लिए ह्रास-कोष की व्यवस्था की जाती है। इससे कम्पनी का कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है। मशीनों की कार्य-क्षमता में वृद्धि हो जाती है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की खोज के अनुसार भारत में पिछले कुछ वर्षों से ह्रास-कोष द्वारा अर्थ-प्रबन्धक का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

(७) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम
(Industrial Finance Corporation of India)

प्रारम्भिक—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

भारत में औद्योगिक व्यवसायों की अर्थ पूर्ति करने वाली किसी सुसङ्गठित संस्था की आवश्यकता बहुत दिनों से चली आ रही थी। सन् १९१८ में जो औद्योगिक कमीशन नियुक्त हुआ था, उसने अपनी रिपोर्ट में भारतीय औद्योगिक कम्पनियों की अर्थ-पूर्ति की महत्ता प्रदान की थी तथा यह इच्छा प्रकट की थी कि देश की औद्योगिक उन्नति के लिए अखिल भारतीय अर्थ-पूरक संस्था का होना परम आवश्यक है। सन् १९२९ में बैंकिंग जाँच समिति (Banking Enquiry

Committee) ने उद्योगो को आर्थिक सहायता देने के लिए औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना पर जोर दिया। परन्तु इन सिफारिशो का कुछ भी परिणाम नही हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध-समाप्त हो जाने के बाद एक बार फिर भारत मे औद्योगिक वित्त की समस्या पर लोगो का ध्यान केन्द्रित हुआ। इसी अवधि मे ससार के विभिन्न देशो की सरकारें अपने यहाँ के उद्योगो को वित्तीय सहायता प्रदान करने हेतु विशिष्ट संस्थाओ का गठन करने लगी। यहाँ भारत मे भी युद्ध के पश्चात् युद्धकालीन उत्पादन को शान्ति-काल के उत्पादन मे परिवर्तन करने, प्रतिस्थापन (Replacement) तथा मरम्मत के द्वारा उद्योगो को पुन सुसज्जित करने तथा उद्योगो के आधुनिकीकरण एव विस्तार (Modernisation and Extension) की विशेष समस्याएँ उठ खडी हुई। जब भारत स्वतन्त्र हो गया, तब उपरोक्त समस्याओ ने नवीन रूप धारण कर लिया, क्योकि अब लोग इस बात की आशा करने लगे कि विदेशी सरकार ने जिस काम को नही किया, उसे अब हमारी राष्ट्रीय सरकार सम्पादित करेगी। फलत उद्योगों का विकास करने तथा लोगो की आशा की पूर्ति के लिये अन्तरिम राष्ट्रीय सरकार (Interim National Government) ने ६ नवम्बर सन् १९४६ को केन्द्रीय विधान सभा मे औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया। १९४८ के प्रारम्भ मे यह विधेयक अन्तिम रूप से पास हो गया और २७ मार्च १९४८ को इस पर गवर्नर जनरल की अनुमति भी प्राप्त हो गई। परिणामस्वरूप, अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम के रूप मे जुलाई सन् १९४८ [Industrial Finance Corporation of India Act 1948 (XV of 1948)] से औद्योगिक जगत के अन्दर चलन मे आ गया।

निगम के उद्देश्य

इस निगम का प्रमुख उद्देश्य भारतीय औद्योगिक सस्थाओ को दीर्घकालीन तथा मध्य-कालीन आर्थिक सहायता देना है विशेषत. उस समय जब उन्हे साधारण बैंकिंग सुविधायें अपर्याप्त हो तथा पूँजी प्राप्त करने के अन्य स्रोत दुर्लभ हो।

औद्योगिक वित्त निगम के आर्थिक साधन :

(१) स्थायी पूँजी—औद्योगिक वित्त निगम की अधिकृत पूँजी १० करोड रुपए है जो ५-५ हजार के २० हजार अशो मे विभाजित है। जून, १९६८ तक निगम ने १६,६६२ अशो का निर्गमन किया था जो पूर्णदत्त थे। इनमे से ५०% अश भारतीय औद्योगिक विकास बैंक ने, २०% अनुसूचित बैंको ने, २२% बीमा कम्पनियों ने तथा शेष ८% सहकारी बैंको के लिए हैं। अशो की मूल राशि तथा न्यूनतम लाभाश मिलने की केन्द्रीय सरकार ने गारण्टी दी है।

(२) ऋण-पत्र जारी करना—निगम को अपनी चुकता पूँजी तथा सचित कोष को सम्मिलित राशि के १० गुने तक बॉण्ड अथवा ऋण-पत्र निर्गमित करने का अधिकार है। जून, १९६८ तक निगम को ३९ ६ करोड रुपए के ऋण चुकाने शेष थे। इसके अतिरिक्त इसे केन्द्रीय सरकार को भी ६७ ७ करोड रुपए चुकाने शेष थे।

(३) निक्षेपों [illegible] प्राप्ति—निगम जनता, स्थानीय सरकारो व राज्य सरकारो से १[illegible] करोड रुपए तक के निक्षेप ले सकता है।

(४) औद्योगिक विकास बैंक से ऋण—निगम आवश्यकता पडने पर औद्योगिक विकास बैंक से भी ऋण ले सकता है।

(५) रिजर्व बैंक से ऋण—निगम केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो की प्रतिभूतियों की जमानत पर रिजर्व बैंक से ९० दिन के लिए ऋण ले सकता है। स्वय के ऋणो पर भी निगम १८ माह की अवधि के लिए अधिकतम २ करोड रुपए के ऋण ले सकता है।

(६) विदेशों से ऋण—उपरोक्त साधनो के अतिरिक्त निगम ने विदेशो से भी कई ऋण प्राप्त किये हैं। ३० जून, १९६८ तक निगम ने अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास सस्था (AID) तीन ऋणो पर, जो कुल मिलाकर ३ ३६३ करोड डालर है, स्वीकृति प्राप्त कर ली है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी जर्मनी के पुनर्निर्माण बैंक ने भी अब तक कुल मिलाकर ९,२५० करोड मार्क के ६ ऋणो पर स्वीकृति प्रदान की है।

निगम का प्रबन्ध :

औद्योगिक अर्थ-प्रबन्ध निगम संशोधित अधिनियम सन् १९५५ (Industrial Finance Corporation Amendment Act, 1955) के अन्तर्गत १८ दिसम्बर १९५४ से निगम के प्रबन्ध में भारी परिवर्तन किये गये है। इस तिथि से पूर्व अधिनियम की धारा १० के अनुसार निगम का प्रबन्ध एक संचालित समिति (Board of Directors) द्वारा होता था, जिसमे १२ सदस्य थे। इसकी सहायता के लिए एक शासकीय समिति (Executive Committee) भी थी।

अब उपरोक्त परिवर्तन के अनुसार औद्योगिक अर्थ निगम का प्रबन्ध एक पूर्णकालीन (Full Time) वृत्ति पाने वाले 'चेयरमैन' (Chairman) द्वारा होता है, जिसकी सहायता के लिए एक 'जनरल मैनेजर' (General Manager) भी होता है। चेयरमैन की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार निगम की संचालक सभा की सलाह से तीन वर्ष की अवधि के लिए करती है। संचालक सभा मे विभिन्न संस्थाओ के कुल मिलाकर १२ सदस्य होते है, जो इस प्रकार है :

क्रम संख्या	संस्थायें	सदस्यों की संख्या
१.	केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत (Nominated)	२
२	भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा मनोनीत	४
३.	अनुसूचित बैंको द्वारा निर्वाचित (Elected)	२
४.	बीमा कम्पनियों तथा अन्य विनियोग संस्थाओ द्वारा निर्वाचित	२
५.	सहकारी बैंको द्वारा निर्वाचित	२
	योग	१२

इसके अतिरिक्त उपरोक्त संशोधन के अनुसार शासकीय समिति के स्थान पर केन्द्रीय समिति (Central Committee) का निर्माण किया गया है, इसमें चेयरमैन सहित कुल मिलाकर ५ सदस्य होंगे। संचालक सभा का चेयरमैन ही केन्द्रीय समिति का चेयरमैन होगा।

निगम का मुख्य कार्यालय नई दिल्ली मे तथा शाखा कार्यालय (Branch Offices) बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा कानपुर में है।

औद्योगिक अर्थ-निगम के कार्य (Functions of I. F C) :

औद्योगिक अर्थ-निगम निम्नलिखित कार्य कर सकता है :

(१) औद्योगिक संस्थाओं को अधिक से अधिक २५ वर्ष की अवधि के लिए ऋण तथा अग्रिम (Advance) देना तथा उनके द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रो, जिनकी अवधि २५ वर्ष से अधिक नही हो, क्रय करना।

(२) औद्योगिक संस्थाओ के ऋणो पर जिसे उन्होने सार्वजनिक बाजार से लिया है और जिसके भुगतान की अवधि अधिक से अधिक २५ वर्ष है, निगम गारन्टी दे सकता है।

(३) औद्योगिक संस्थाओं के अंश एवं ऋण-पत्र इत्यादि का अभिगोपन करना, इस जिम्मेदारी के कारण रहने वाले अश एवं ऋण-पत्र इत्यादि का समावेश इसकी सम्पत्ति मे हो सकता है, परन्तु इनको ७ वर्ष के अन्दर जनता को बेच देना होगा।

(४) अर्थ-निगम किसी ऋण लेने वाले उद्योग को तान्त्रिक सलाह का प्रबन्ध करने के लिए सलाहकार समितियो की नियुक्ति कर सकता है।

(५) इसके अलावा अपने अधिकारो का उपयोग करने के लिए एवं कार्यों की पूर्ति हेतु अन्य आवश्यक कार्य यह निगम कर सकता है।

(६) यदि कोई औद्योगिक संस्था केन्द्रीय सरकार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोप से किसी प्रकार का व्यवसाय करती है तो निगम मध्यस्थ का काम करेगा।

(७) निगम कम से कम पाँच वर्ष के लिए जनता से जमा के रूप मे रुपया ले सकता है, किन्तु जमा के रूप मे लिया गया रुपया दस करोड़ रुपए से अधिक नही होना चाहिए।

(८) निगम औद्योगिक संस्थाओं के लिए केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त करने के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष में विदेशी मुद्रा में ऋण ले सकता है।

(९) अर्थ-निगम अधिक से अधिक १ करोड़ रुपए का ऋण दे सकता है। केन्द्रीय सरकार की सिफारिश पर किसी उद्योग को १ करोड़ से अधिक का भी ऋण दे सकता है।

(१०) सन् १९५३ के संशोधन के अनुसार अर्थ निगम अपनी राशि रिजर्व बैंक की सलाह से किसी भी अनुसूचित तथा सरकारी बैंक में रख सकेगा।

निषेध कार्य :

निगम निम्न कार्य नहीं कर सकेगा :—(१) दस करोड़ रुपए से अधिक की जमा प्राप्त करना। (२) प्रत्यक्ष रूप से सीमित दायित्व वाले प्रमण्डलों के अंश अथवा स्कन्ध का क्रय करना। (३) अपने अंशों की प्रतिभूति पर ऋण देना। (४) १ करोड़ रुपए से अधिक का ऋण नहीं दे सकता। (५) ७ वर्ष की अवधि से अधिक के अंशों अथवा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना।

ऋण देने की शर्तें :

निगम किसी भी सार्वजनिक कम्पनी तथा सहकारी समिति को निम्न शर्तों पर ऋण दे सकता है :—(१) निगम बिना उचित प्रत्याभूति के कोई भी ऋण अथवा अभिगोपन नहीं करता है। (२) दिये गये ऋण का समुचित उपयोग हो रहा है या नहीं, इस बात को निश्चित करने के लिए ऋण लेने वाली कम्पनियों के संचालक से उनकी व्यक्तिगत स्थिति में तथा सामूहिक रूप से जमानत ली जाती है। (३) यदि ऋण लेने वाली कम्पनी ऋण का भुगतान करने में अथवा निगम द्वारा निर्धारित शर्तों के पालन करने में कोई त्रुटि करती है तो निगम कम्पनी के विरुद्ध उचित कार्यवाही करने, उस कम्पनी की संचालक सभा में दो संचालक नियुक्त करने तथा उसके प्रबन्ध को अपने हाथ में लेने का अधिकार रखता है। (४) ऋण का भुगतान सामान्यतः समान किश्तों (Equal Instalments) में होना चाहिए, परन्तु ये किश्तें कितनी होगी, यह दोनों की सहमति से निश्चय होता है। (५) निगम के पास रहन रखी हुई सम्पत्ति का आग, साम्प्रदायिक झगड़े, विद्रोह आदि से सुरक्षा के लिए किसी अच्छी बीमा कम्पनी से बीमा कराना अनिवार्य है। (६) १ करोड़ रुपए से अधिक राशि का ऋण बिना केन्द्रीय सरकार की गारण्टी के नहीं दिया जा सकेगा। (७) ऋण के भुगतान की अवधि १५ वर्ष रखी गई है, किन्तु साधारणतः वह १२ वर्ष ही रहेगी। (८) निगम को कम्पनी की किसी भी समय जाँच करने का अधिकार होगा। (९) जब तक ऋण लेने वाली कम्पनी निगम के ऋण का भुगतान न कर दे तब तक वह ६% से अधिक (सामान्य अंशों पर १०% से अधिक) लाभांश घोषित नहीं कर सकेगी, किन्तु दोनों की सहमति से इस दर में परिवर्तन किया जा सकता है। (१०) अचल सम्पत्ति को क्रय करने के लिए जो ऋण दिया जायेगा, उसके लिए अचल सम्पत्ति पर निगम का पहला अधिकार होगा।

निगम की कार्य-विधि (Working of the I F C).

औद्योगिक वित्त निगम किसी भी कम्पनी को ऋण देने से पूर्व निम्नलिखित बातों के बारे में विस्तृत सूचना प्राप्त कर लेता है—(i) कम्पनी की आर्थिक स्थिति, (ii) ऋण चुकाने की क्षमता, (iii) उद्योग का राष्ट्रीय महत्व, (iv) उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं की देश में माँग; (v) कारखाने की स्थिति, बिजली व पानी की उपलब्धता, (vi) तान्त्रिक व्यक्तियों एवं कच्चे माल की उपलब्धता, (vii) प्रबन्ध की योग्यता, (viii) सहायता लेने का उद्देश्य, (ix) प्रस्तावित योजना की सम्भावना तथा लागत, (x) दी गई प्रतिभूति की प्रकृति तथा (xi) लाभ कमाने की क्षमता।

इसके पश्चात् निगम के अधिकारी ऋण लेने वाली कम्पनी का पूर्ण रूप से निरीक्षण करते हैं। पूर्ण रूप से सन्तुष्टि प्राप्त करने के पश्चात् ही ऋण की स्वीकृति प्रदान की जाती है।

निगम के कार्यों की प्रगति का अवलोकन :

३० जून, १९६८ को भारतीय औद्योगिक वित्त निगम ने अपनी २०वीं वर्षगाँठ पूरी की। इस कार्य-काल में निगम के कार्यों की प्रगति का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

ऋणों का विवरण :

निगम का मुख्य कार्य भारत के प्रगतिशील उद्योगों को मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना है। ऋण के लिए प्रार्थना-पत्र निगम के बम्बई, कलकत्ता, मद्रास अथवा नई दिल्ली के

कार्यालय में दिये जा सकते हैं। ३० जून, १९६८ तक भारतीय औद्योगिक वित्त निगम ने ४०८·५९ करोड़ रुपए के ऋणों के लिए स्वीकृति प्रदान की थी। इसमें से २६६·१९ करोड़ रुपए वितरित किये जा चुके हैं।

सन् १९६७-६८ के वर्ष में प्रगति का अवलोकन :

३० जून, १९६८ को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष मे औद्योगिक वित्त निगम ने ४८ औद्योगिक इकाइयों के लिए कुल मिलाकर २६·७३ करोड़ रुपए की आर्थिक सहायता के लिए स्वीकृति प्रदान की जबकि पिछले वर्ष में २२·५५ करोड रुपए की आर्थिक सहायता के लिए स्वीकृति प्रदान की गई थी। ३० जून, १९६८ के वर्ष मे स्वीकृत तथा वितरित राशि का ब्यौरा इस प्रकार है :

(करोड)

कार्य	स्वीकृति राशि (Amount Sanctioned)	वितरित नगदी राशि (Cash Disbursed)
१. देशी मुद्रा में	१९·८२	२४·२४
२. विदेशी मुद्रा मे	४·२४	
३ अभिगोपन	१·५६	२·६१
४. प्रत्यक्ष अभिदान	—	
५. स्थगित भुगतान की गारण्टी	१·११	
योग	२६·७३	२६·८५

(*Source* : Commerce, Oct. 1968)

राज्यों के अनुसार स्वीकृत ऋणों का ब्यौरा :

३० जून, १९६८ को समाप्त होने वाले वर्ष मे निगम ने २६·७३ करोड रु० के ऋणों की स्वीकृति प्रदान की। इसमे से १७·७६ करोड रु० के ऋणो (कुल स्वीकृति का लगभग ६६% भाग) की स्वीकृति केवल चार राज्यो के लिए की गई है :—(१) महाराष्ट्र, (२) गुजरात, (३) पश्चिमी बगाल, तथा (४) मद्रास। इसका मुख्य कारण शेष राज्यो से स्वीकार करने योग्य आवेदन-पत्रों का अभाव होना बतलाया गया है।

अभिगोपन के कार्य :

२४ दिसम्बर सन् १९५६ से निगम ने औद्योगिक इकाइयो द्वारा निर्गमित पूंजी का (अंशो व ऋण-पत्रो का) अभिगोपन भी आरम्भ कर दिया है। इस कार्य के करने से पूर्व सम्बन्धित औद्योगिक इकाई की आर्थिक स्थिति, प्रबन्ध-व्यवस्था तथा भावी योजनाओ की विस्तृत रूप मे विशेषज्ञों द्वारा जाँच कर ली जाती है। इस क्षेत्र मे निगम की प्रगति विशेष रूप से प्रशसनीय रही है। ३० जून, १९६८ के वर्ष मे निगम ने १·५६ करोड रु० का अभिगोपन कार्य किया। ३० जून, १९६८ तक निगम ने कुल मिलाकर २६·३६ करोड रु० का अभिगोपन कार्य किया।

स्थगित भुगतान की गारन्टी :

२१ दिम्बर, १९५७ से निगम ने स्थगित भुगतान की गारन्टी देने का कार्य शुरू किया था। यह कार्य विदेशों से आयात किये गये माल (मुख्यत. पूंजीगत माल) तक ही सीमित है। ३० जून, १९६८ तक स्थगित भुगतान के सम्बन्ध मे १७·९८ करोड रु० की गारण्टी प्रदान की गई थी। सन् १९६७-६८ के वर्ष मे १·११ करोड रु० की गारन्टी प्रदान की।

आय :

३० जून, १९६८ को समाप्त होने वाले वर्ष मे भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की सकल आय १०·८१ करोड रु० थी। इसमे से ६·७१ करोड़ रु० की आय ब्याज के रूप मे हुई। इसी वर्ष में निगम को शुद्ध लाभ १·५८ करोड रु० हुआ। इस राशि मे से १·३४ करोड रु० संचित कोष में हस्तान्तरित कर दिये गये।

ब्याज-दर

बैंक दर मे वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप औद्योगिक वित्त निगम की ब्याज दर में वृद्धि करने का निर्णय किया गया। परिणामस्वरूप ४ मार्च, सन् १९६५ से रुपयों मे दिये जाने वाले ऋणो पर ब्याज-दर ८½ प्रतिशत प्रतिवर्ष (इसमे पूर्व रुपयों में ब्याज-दर ७½ प्रतिशत ही थी) कर दी गई। यह सशोधित ब्याज-दर उन ऋणों पर लागू नही होगी जिनका वितरण ५ मार्च, सन् १९६५ से पूर्व कर दिया गया हो। भुगतान की निश्चित तिथियो पर किस्तों का भुगतान प्राप्त होने पर ½ प्रतिशत की छूट दी जाती है। विदेशी मुद्रा मे दिये गये ऋणो पर ब्याज-दर ९ प्रतिशत प्रति वर्ष है। १९६८ के वर्ष मे भी ब्याज-दर ८½-९ प्रतिशत ही रही।

लाभांश-दर

वैधानिक नियन्त्रणो के कारण पिछले वर्षों की भांति १९६८ के वर्ष मे भी निगम की लाभांश-दर २½% रही है।

निगम की कठिनाइयाँ (Difficulties of Corporation)

निगम निम्न व्यावहारिक कठिनाइयो के कारण भारतीयो को आशाजनक साख-सुविधायें देने मे असमर्थ रहा है —(१) उचित योजना का अभाव—निगम के समक्ष ऐसी अनेक अपूर्ण योजनायें प्रस्तुत की गई जिनमे तान्त्रिक पहलुओ तथा वित्त-समस्याओं पर पूर्ण विचार नही किया गया था। कुछ मे तो यह भी नही बताया गया कि भूमि, इमारत, मशीन व अन्य सामग्री पर पृथक्-पृथक कितनी राशि व्यय होगी। (२) अपर्याप्त साधन—अनेक ऐसे उदाहरण है, जिनमे पूँजी आवश्यकता से बहुत कम है। ऐसी औद्योगिक इकाइयो को ऋण देना सुरक्षा की दृष्टि से अहितकर था। (३) रहन रखी जाने वाली सम्पत्ति में त्रुटि—रहन रखी जाने वाली भूमि, सम्पत्ति या भवन को या तो पहले से ही रहन रख दिया गया था अथवा उनका उचित मूल्याकन नही किया गया था। (४) वैधानिक औपचारिकताओं को पूरा न करना—ऐसी भी कम्पनियाँ हैं जो ऋण स्वीकृत हो जाने पर वैधानिक औपचारिकताओ को पूरा नही करती और न इस दिशा मे प्रयत्न ही करती है। (५) अपूर्ण आवेदन-पत्र—ऋण सम्बन्धी आवेदन-पत्रो पर उद्योग आवश्यक विवरण नही देते हैं जिससे उन पर विचार करना मुश्किल होता है।

औद्योगिक वित्त निगम की आलोचनायें

ससद के अन्दर तथा बाहर निगम की कार्यविधि तथा सगठन की व्यापक आलोचनायें हुई। उनमे से मुख्य निम्न हैं —(१) निगम को पक्षपात तथा द्वेषपूर्ण नीति के लिए दोषी ठहराया गया है। (२) यह केवल सार्वजनिक कम्पनियो तथा सहकारी सस्थाओं को ही ऋण देता है जिसके कारण अन्य सस्थायें वचित रह जाती है। (३) निगम सरकार के आधीन है, अतएव पूँजीपतियो का सरकार पर प्रभाव है वे निगम को अपनी इच्छानुसार चलाते है। (४) निगम पिछड़े उद्योगो तथा राज्यों के अविकसित उद्योगो को पर्याप्त मात्रा मे सहायता देने मे पूर्ण असमर्थ रहा है। लघु तथा कुटीर उद्योगो की भारी उपेक्षा की गई है। (५) निगम की ब्याज दर अत्यधिक ऊँची रही है। (६) अधिकाश ऋण उन उद्योगों को दिया गया है जो पहले से व्यवस्थित है और जिनकी वास्तव मे सहायता की जानी चाहिए थी, नही की गई है। (७) उन उद्योगो को भी ऋण दिया गया जो भारत की पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत नही आते। इस प्रकार आधारभूत तथा पूँजीगत माल उत्पादन करने वाले उद्योगो को अधिक योग न मिलकर उपभोगो के उद्योगो को अधिक योग मिला। (८) निगम ऋण लेने वाली कम्पनियों के द्वारा व्यय की जाने वाली राशि की देख-भाल करने मे असफल रहा है जिसमे वस्तुओं के उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता मे कोई वृद्धि नही हुई। (९) निगम क्षेत्रीय एव प्रादेशिक विकास मे असफल रहा है। सन् १९६७-६८ मे स्वीकृत ऋणों का ६६% भाग केवल चार विकसित राज्यो (पश्चिमी बगाल, मद्रास, गुजरात तथा महाराष्ट्र) तक ही सीमित है। (१०) निगम अपने व्ययो मे मितव्ययिता नही रख सका है। (११) निगम कम्पनियो को सामान्य पूँजी नही प्रदान करता है और उनको अन्य सस्थाओ का मुँह ताकना पड़ता है। (१२) निगम की गतिविधियो पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं रखा जाता। (१३) निगम ने ऐसी कम्पनियो को भी ऋण दिया है जो पहले से ही खूब लाभ कमा रही थी और

अपनी ख्याति के कारण खुले बाजार से भी ऋण प्राप्त कर सकती थी। (१४) उद्योगों की आवश्यकताओ को देखते हुए बहुत ही कम मात्रा मे ऋण दिये गये हैं। (१५) ऋण स्वीकृत करने मे अनावश्यक रूप से देरी की जाती है। इसके अतिरिक्त इनकी प्रबन्ध-व्यवस्थाओं में अनेक त्रुटियाँ बताई गई हैं और यहाँ तक कहा गया है कि उसमे व्यवस्था-व्यय के नाम पर अपव्यय किया जाता है।

श्रीमती कृपलानी समिति के सुझाव

(I. F. C. Enquiry Committee's Findings)

उपरोक्त दोषो व आलोचनाओ के आधार पर भारत सरकार ने निगम की क्रियाओ का पर्यवेक्षण कराने के लिए दिसम्बर, १९५२ मे श्रीमती सुचेता कृपलानी एम० पी० की अध्यक्षता में एक जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति के अन्य सदस्य श्री बी० बी० गांधी, सर्व श्री नारायण मेहता, श्री आर० सूर्यनारायण राव, श्री पी० ए० नारियलवाला तथा श्री जी० बसु थे। समिति ने अपनी रिपोर्ट ७ मई १९५३ को प्रस्तुत की।

सुविधा की दृष्टि से समिति द्वारा दिये सुझावो का अध्ययन हम निम्नलिखित तीन भागो के अन्तर्गत कर सकते हैं:

(I) प्रशासन एवं संगठन सम्बन्धी सुझाव—(१) निगम के वर्तमान अवैतनिक चेयरमैन (Honorary Chairman) तथा वैतनिक प्रबन्ध-संचालक के स्थान पर पूर्ण वैतनिक चेयरमैन (Whole Time Paid Chairman) तथा एक जनरल मैनेजर की नियुक्ति होनी चाहिए। (२) प्रबन्ध-संचालक के हाथ मे अधिक अधिकारो का केन्द्रीयकरण उचित नही। प्रबन्ध-सचालक तथा उप-प्रबन्ध संचालक के अधिकारो की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिये। (३) ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे निगम के संचालक मण्डल (Board of Directors) पर उद्योगपतियो को आधिपत्य न हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को निगम के संचालक मण्डल में एक अर्थशास्त्री, एक प्रबन्धकीय विशेषज्ञ (Managerial Expert) तथा एक चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट को मनोनीत (Nominate) करना चाहिए। (४) प्रत्येक उप-कार्यालय (Branch Office) के लिए एक क्षेत्रीय सलाहकार परिषद् (Regional Panel of Advisors) होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त कभी-कभी निगम के सचालक मण्डल की सभायें कलकत्ता, मद्रास व बम्बई मे भी होनी चाहिए। सभी सुझावों को मानकर कार्यरूप मे भी परिणत कर दिया गया है।

(II) कार्य प्रणाली (Procedure) सम्बन्धी सुझाव—(१) यदि निगम का कोई संचालक किसी ऋण लेने वाली कम्पनी में अपना हित रखता हो तो उसे अपने हित को अवश्य प्रकट कर देना चाहिये। (२) निगम को कोई सचालक किसी ऋण लेने वाली कम्पनियो के नाम, उसकी क्रियाओ तथा उद्योगो के विकास के सम्बन्ध मे अधिक सूचनायें प्रकाशित करनी चाहिये। (३) ऋणों के स्वीकृत करने तथा उनको चुकाने मे कम समय लगाना चाहिये। (४) ऋण देते समय *कम से कम ५०% का अन्तर (Margin) रखना चाहिए। (५) निगम के पास तान्त्रिक विशेषज्ञों* का दल होना चाहिये। (६) यदि निगम किसी कम्पनी को ले लेता है तो उसका प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के हाथ में न रह कर मनोनीत संचालकों की सभा को देना चाहिये।

(III) नीति (Policy) सम्बन्धी सुझाव—(१) निगम को पचवर्षीय योजना मे दी गई प्राथमिकताओ के अनुसार तथा योजना आयोग के द्वारा ४२ उद्योगों के अनुसूचित कार्यक्रम का पालन करना चाहिये। (२) निगम को ऐसे उद्योगों को ऋण नही देना चाहिए जो कि उन्नति की चरम सीमा पर हों। (३) ऋण स्वीकार करते समय निगम को सरकार के आदेशो का पालन करना चाहिये। (४) निगम को ५० लाख रुपये से अधिक धनराशि वाले आवेदन पत्रो को तीन वर्ष तक सरकार के सामने रखना चाहिए। (५) ससद के सदस्यों को निगम के दैनिक शासन मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। (६) निगम की नीति सामान्य रूप से केवल लाभ कमाने की नही अपितु सहायता देने की होनी चाहिए।

उपरोक्त सुझावो में से कुछ को छोडकर शेष सुझाव भारत सरकार द्वारा स्वीकार कर लिये गये हैं। इस प्रकार औद्योगिक वित्त निगम भारत के औद्योगिक क्षेत्र मे अपनी अमूल्य सेवायें प्रदान कर रहा है। भारत में इसका भविष्य अति उज्ज्वल है।

(८) अन्य विशिष्ट वित्त संस्थाएँ
(Other Financing Agencies)
(I) राज वित्त निगम
(State Financial Corporation)

वित्त निगम का उद्‌गम

चूँकि अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम विशेषतः बड़े-बड़े उद्योगों को ही ऋण देता है, जिनका स्वामित्व सार्वजनिक कम्पनियों तथा सहकारी समितियों के हाथों में है और इस प्रकार यह भारतीय उद्योग की सम्पूर्ण वित्तीय आवश्यकता (यह माध्यमिक तथा छोटे-छोटे पैमाने के उद्योगों और साझेदारी एवं निजी कम्पनियों को ऋण नहीं देता है) के दायित्व के वहन करने में असमर्थ है, अतएव यह आवश्यक समझा गया कि विभिन्न राज्यों में भी वैसे ही वित्त-निगमों की स्थापना हो। इसी हेतु संसद ने २८ दिसम्बर १९५१ को राज्य वित्त-प्रबन्धन निगम अधिनियम पास किया जिसके अनुसार राज्य सरकारों को अपने-अपने राज्य में वित्त-प्रबन्धन निगम स्थापित करने का अधिकार मिल गया। इस अधिनियम की बहुत-सी बातें अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १९४८ से मिलती-जुलती हैं। केवल निम्न तीन बातों में भिन्नता है —(१) औद्योगिक इकाइयों की परिभाषा को विस्तृत कर दिया गया है और इसके अन्तर्गत निजी कम्पनियाँ, साझेदारियाँ एवं यहाँ तक कि एकल व्यापार (Sole Trader) संस्थायें, आती हैं। (२) जन-साधारण और बैंक, जो अनुसूचित नहीं हैं, राज्य वित्त निगम के अंशों को खरीद सकते हैं। (३) राज्य वित्त-निगम केवल २० वर्ष के लिए ऋण दे सकता है।

वित्त निगम की पूँजी

प्रत्येक राज्य वित्त निगम की पूँजी सम्बन्धित राज्य सरकारों द्वारा निश्चित की जाती है तो कम से कम ५० लाख रु० तथा अधिक से अधिक ५ करोड़ रुपये हो सकती है। जनता उस पूँजी का केवल २५% भाग (अर्थात् १/४ भाग) क्रय कर सकती है और शेष भाग राज्य सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा अन्य इसी प्रकार की संस्थायें क्रय कर सकती हैं। राज्य सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों पर मूलधन के पुनः भुगतान तथा वार्षिक लाभांश की गारन्टी देती है। लाभांश ५% से अधिक नहीं दिया जा सकता है और शेष भाग राज्य सरकार को दे दिया जाता है। ऋण पत्रों एवं बन्धों (Debentures and Bonds) का निर्गमन किया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार प्राप्त किये गये ऋण की राशि संचित कोष के ५ गुने से अधिक नहीं हो सकती है। निगम जन-निक्षेप (Public Deposits) भी स्वीकार कर सकता है, किन्तु इनकी अवधि कम से कम ५ वर्ष के लिए होनी चाहिए। ऐसे जन-निक्षेप की कुल राशि निगम की चुकता पूँजी (Paid up-Capital) से अधिक नहीं होनी चाहिए।

वित्त निगम का प्रबन्ध

प्रत्येक राज्य वित्त निगम के प्रबन्ध के लिए १० सदस्यों की एक संचालक सभा (Board of Directors) होगी, जिसके सदस्यों का चुनाव निम्न प्रकार से होगा —(१) राज्य सरकार द्वारा मनोनीत ३, (२) रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत १, (३) अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम द्वारा मनोनीत १, (४) राज्य सरकार द्वारा निर्वाचित प्रबन्ध-संचालक १, (५) अनुसूचित बैंक द्वारा निर्वाचित १, (६) सहकारी बैंक द्वारा निर्वाचित १, (७) अन्य आर्थिक संस्थाओं द्वारा निर्वाचित १, (८) अन्य अंश द्वारा निर्वाचित १।

उपरोक्त संचालक सभा के अतिरिक्त एक कार्यकारिणी समिति (Executive Committe) भी होगी जिसमें चार-चार सदस्य होंगे। प्रबन्ध-संचालक समिति का अध्यक्ष होगा और तीन सदस्य संचालकों में से होंगे। निगम का मुख्य कार्यालय राज्य सरकार की इच्छानुसार किसी भी स्थान पर स्थापित किया जा सकता है।

वित्त निगम के कार्य :

राज्य (प्रान्तीय) निगम निम्नलिखित कार्य कर सकते हैं—(१) औद्योगिक संस्थाओं को अधिकतम २० वर्ष की अवधि के लिए ऋण देना एवं उनके निर्गमित २० वर्ष की अवधि के

ऋण-पत्रो को खरीदना । (२) औद्योगिक संस्थाओं के स्कन्ध, अंश, बन्ध अथवा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना । (३) अभिगोपन के कार्य की एवज में कमीशन (Commission) लेना। (४) औद्योगिक संस्थाओं के अंश एवं ऋण-पत्र इत्यादि का अभिगोपन करना । इस जिम्मेदारी के कारण रहने वाले अश एवं ऋण-पत्र इत्यादि का समावेश इसकी सम्पत्ति में हो सकता है, परन्तु उनको ७ वर्ष के अन्दर जनता को बेच देना होगा । (५) अन्य कार्य जो सरकार द्वारा सौंपा जाय ।

निषेध कार्य—राज्य वित्त निगम निम्नलिखित कार्य नही कर सकते हैं :—(१) किसी औद्योगिक इकाई को अपनी चुकता पूँजी के १०% भाग अथवा १० लाख रुपये, जो भी कम हो, से अधिक का ऋण देना । (२) पाँच वर्ष से कम अवधि के लिए जन-निक्षेप स्वीकार करना । (३) चुकता पूँजी से अधिक की जमा प्राप्त करना । (४) अपने अंशो की प्रतिभूति पर ऋण देना। (५) प्रत्यक्ष रूप से किसी भी सीमित दायित्व वाली कम्पनी अथवा औद्योगिक इकाई के अश एवं स्कन्ध (Shares and Stocks) क्रय करना। (६) बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के अल्प अंशो पर लाभाश घोषित करना ।

प्रगति का अवलोकन

राज्य वित्त निगम अधिनियम सन् १९५१ के पास होने से लेकर ३१ मार्च, १९३८ तक मिलाकर १८[1] राज्य वित्त निगम स्थापित हो चुके हैं। राज्य वित्त निगमों के सम्बन्ध में अब तक के उपलब्ध आंकडे इस प्रकार है

क्रम-संख्या	राज्य वित्त निगम का नाम	स्थापना की तिथि	अधिकृत पूँजी (लाख रुपयो मे)	चुकता पूँजी (लाख रु० मे)
१.	मद्रास	२६-३-१९४९	२००	१३५
२.	पंजाब	२-२-१९५३	२००	१००
३.	केरल	२३-११-१९५३	२००	१००
४.	पश्चिमी बगाल	१-३-१९५४	२००	१००
५.	असम	१९-४-१९५४	२००	१००
६	उत्तर प्रदेश	२५-८-१९५४	३००	१७०
७.	बिहार	२-११-१९५४	२००	१००
८.	राजस्थान	१७-१-१९५५	२००	१००
९.	मध्य प्रदेश	३०-६-१९५५	२००	१००
१०.	उडीसा	२०-३-१९५६	२००	१००
११	महाराष्ट्र	१-११-१९५६	४००	२००
१२.	आन्ध्र प्रदेश	१-११-१९५६	४००	१५०
१३.	मैसूर	२-३-१९५९	२००	१००
१४.	जम्मू एवं काश्मीर	३-३-१९५९	५०	५०
१५.	गुजरात	१-५-१९६०	२००	१००
		योग	३३५०	१६३५

नोट—३१ मार्च, १९६७ को १५ राज्य वित्त निगमो की चुकता पूँजी १७ ८ करोड रुपये थी ।

राज्य वित्त निगमो द्वारा दिये गये ऋण :

सन् १९६८-६९ तक की १७ राज्य वित्त निगमो (Excluding MIIC) की ऋण-सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन अग्रलिखित तालिका की सहायता से आसानी से किया जा सकता है

1. अब राज्य वित्त निगमो की सख्या १५ से बढ़कर १८ होगई है। १ अप्रैल, १९६७ को तीन नवीन वित्त निगमो की स्थापना की गई है (i) हरियाना राज्य वित्त निगम, (ii) हिमाचल प्रदेश वित्त निगम एवं (iii) देहली-चण्डीगढ वित्त निगम ।

राज्य वित्त निगमो की गत तीन वर्षो की ऋण सम्बन्धी क्रियाओ का विवरण

(लाख रु० मे)

क्रम सख्या	राज्य वित्त निगम का नाम	स्वीकृत ऋण			वितरत ऋण		
		१९६६ ६७	१९६७ ६८	१९६८-६९	१९६६ ६७	१९६७ ६८	१९६८-६९
१	आध्र प्रदेश	१५५	१२६	१०३	१७१	१३९	१३१
२	असम	४८	३१	४५	३०	३९	२५
३	बिहार	५४	६१	६४	२३	४३	४८
४	देहली	—	४३	८४	—	२८	४१
५	गुजरात	१८४	२३४	२८४	१०८	१३३	११७
६	हरियाना	—	११५	१००	—	११४	१२७
७	हिमाचल प्रदेश	—	६	३२	—	२	७
८	जम्मू एव काश्मीर	८०	६४	७७	४५	५४	६०
९	केरल	९७	१०२	११५	५९	७८	१०१
१०	मध्य प्रदेश	१४३	१००	६२	१३८	८४	४३
११	महाराष्ट्र	३६६	३४१	४३१	२४६	३३०	३००
१२	मैसूर	८१	१०३	१७८	९१	८६	१३९
१३	उडीसा	६७	५१	५८	५४	४२	४१
१४	पजाब	२५४	९९	११४	१७२	७१	८१
१५	राजस्थान	९६	९९	७०	८०	८८	६२
१६	उत्तर प्रदेश	६०	८५	१८३	६५	६१	७६
१७	पश्चिमी बगाल	१२०	७५	१२२	१२०	५८	७६
	योग	१ ८०५	१ ७३५	२ १२६	१ ४०२	१ ४४७	१ ५५५

राज्य वित्त निगमों की आलोचनाएँ, कठिनाइयाँ तथा सुझाव :

मद्रास राज्य मे हुए राज्य वित्त निगमों के आठवें वार्षिक सम्मेलन की सिफारिश पर, जून सन् १९६२ को सर्वश्री के० सी० मित्रा की अध्यक्षता मे एक दस सदस्यों का कर्मचारी समूह (Working Group) नियुक्त किया था। इस समूह ने अपनी रिपोर्ट ६ फरवरी, १९६४ को रिजर्व बैंक के समक्ष प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट मे राज्य वित्त निगमो की कार्य-विधि तथा प्रगति का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है तथा इस सम्बन्ध मे कई महत्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तुत किये गये हैं। कार्यकारी समूह की दृष्टि में राज्य वित्त निगमों की कार्य-विधियों में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु फिर भी इनकी स्थिति सन्तोषजनक नही है। इसका मुख्य कारण इनके मार्ग मे आने वाली अनेक कठिनाइयो का होना है। इन्ही कठिनाइयो के कारण राज्य वित्त निगम पर्याप्त प्रगति नही कर पाये है तथा इनकी आलोचनाएँ होती हैं। समूह ने अपनी रिपोर्ट मे राज्य वित्त निगमो की आलोचनाओ तथा कठिनाइयों का विवेचन इस प्रकार किया है :

(१) राज्य वित्त निगम भारतीय औद्योगिक विकास मे अपना योग देने मे असफल रहे है। कुछ अपवादो को छोडकर राज्य वित्त निगमो ने नवीन उद्योगो के प्रति तो पूर्ण निराशा की नीति ही अपनाई है। इसका मुख्य कारण विभिन्न राज्यों मे नवीन उद्योगों के विकास हेतु समानान्तर सुविधाओ का अभाव होना है।

(२) राज्य वित्त निगमो के पास तान्त्रिक कुशल व्यक्तियों का भारी अभाव है। अतएव ऋण लेने वाले उद्योगों, मुख्यत नवीन उद्योगों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

(३) अप्रैल, १९६२ मे हुए संशोधन के अनुसार राज्य वित्त निगमो को यह अधिकार प्रदान किया था कि वे एक साथ १० लाख रुपये के स्थान पर २० लाख रुपये तक का ऋण दे सकते है। इस सुविधा से लाभ उठाकर राज्य वित्त निगमो ने मुख्यत: बडे-बडे उद्योगो को पर्याप्त मात्रा मे ऋण दिये है, जबकि इनकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य छोटे तथा मध्यम श्रेणी के उद्योगो को ही ऋण देना था।

(४) राज्य वित्त निगमो की सामूहिक प्रगति बहुत ही धीमी रही है।

(५) राज्य वित्त निगमो की कार्य पद्धति अपेक्षाकृत बहुत ही जटिल है। ऋण स्वीकार करने और उनके वितरण करने मे भारी अन्तर विद्यमान है।

(६) कार्यकारी समूह की दृष्टि मे राज्य वित्त निगमो के कर्मचारियो के प्रशिक्षण की ओर अब तक कोई भी ध्यान नही दिया गया है।

(७) निगमो की लाभांश दर ३ से ४% तक रही है। लाभांश की इस नीची दर के कारण ही राज्य वित्त निगम जनता से पर्याप्त निक्षेप प्राप्त करने मे असमर्थ रहे है।

(८) राज्य वित्त निगम भारी कर-भार से पीडित है, परिणामस्वरूप, ये अपने यहाँ पर्याप्त सचित कोष स्थापित नही कर पाये है।

(९) राज्य वित्त निगमो के पास पूँजी का भारी अभाव रहा है। यह इनकी प्रगति मे सबसे महत्त्वपूर्ण बाधा रही है।

(१०) निगमों की कार्यवाही अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित उद्योगो तक ही सीमित रही है और इस प्रकार इन्होंने जोखिम से सदैव बचने की ही कोशिश की है।

(११) ऋण लेने वाली सस्थाओ की सही आर्थिक स्थिति का पता लगाना अत्यन्त कठिन कार्य होता है।

(१२) ऋण लेने वाली सस्थाओ के पास प्राय पर्याप्त प्रतिभूति का अभाव रहता है।

कुछ महत्वपूर्ण सुझाव

राज्य वित्त निगमो की उपरोक्त आलोचनाओं तथा कठिनाइयों को ओर ध्यान आकर्षित

करने के पश्चात् कार्यकारी समूह ने अपनी विस्तृत रिपोर्ट में अनेक महत्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तुत किये हैं। ये सुझाव निम्नलिखित हैं :

(१) राज्य वित्त निगमो, औद्योगिक वित्त निगम, औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम की क्रियाओं में समन्वय स्थापित किया जाय। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक का एक निश्चित कार्य-क्षेत्र निर्धारित किया जाय तथा दूसरे को उसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार न हो।

(२) राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम को चाहिए कि वह किश्तो पर मशीन व यन्त्रों के दिलाने के कार्य को राज्य वित्त निगमो को सौंप दे।

(३) राज्य वित्त निगम तथा औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम को विदेशी विनिमय की एक निश्चित राशि से कम के प्रार्थना-पत्रो पर विचार नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य वित्त निगमो हेतु सरकार द्वारा विदेशी विनिमय के साधन उपलब्ध किये जाने चाहिए। दूसरे शब्दों में राज्य वित्त निगमो कोविदेशी विनिमय का कार्य करने का अधिकार मिलना चाहिए।

(४) राज्य वित्त निगमो की सेवाओ के विषय में आवश्यक जानकारी का प्रसार होना चाहिए ताकि अधिक से अधिक उद्योग इससे लाभ उठा सकें।

(५) लघु उद्योगो को दिये गये ऋणो की गारण्टी की व्यवस्था होनी चाहिए।

(६) राज्य वित्त निगमो हेतु अधिकाधिक मात्रा में तान्त्रिक कुशल व्यक्ति उपलब्ध किये जायें। इस सम्बन्ध में समूह का अल्पकालीन सुझाव यह है कि विभिन्न उद्योगो में नियुक्त इन्जीनियर्स, औद्योगिक अर्थशास्त्री आदि की एक सूची बनाई जानी चाहिए तथा उचित पारिश्रमिक देकर उनकी सेवाओ से लाभ उठाया जा सकता है, किन्तु समस्या के स्थायी हल के लिये यह आवश्यक है कि अखिल भारतीय स्तर पर तान्त्रिक एवं आर्थिक विशेषज्ञों का सगठन किया जाय।

(७) राज्य वित्त निगमों की कार्यक्षमता में वृद्धि हेतु यह नितान्त आवश्यक है कि इनके कर्मचारियो के आवश्यक प्रशिक्षण पर जोर दिया जाय।

(८) छोटे तथा मध्यम श्रेणी के उद्योगों के विकास हेतु राज्य वित्त निगमो को विकास बैंको के रूप में परिणित किया जाना चाहिए।

(९) कार्यकारी समूह की राय में यदि राज्य वित्त निगम अपने कारोबार का विस्तार करना चाहते हैं तो उन्हें अपनी पूँजी की मात्रा में वृद्धि करनी होगी। इसके लिये समूह ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं —(अ) लाभांश की दर में वृद्धि होनी चाहिए ताकि जनता से अधिकाधिक मात्रा में निक्षेप प्राप्त किये जा सकें। (ब) निगमो द्वारा निर्गमित निक्षेप रसीदो को बिना मुद्रांक करके हस्तान्तरण करने की सुविधा उपलब्ध होनी चाहिए। (स) राज्य वित्त निगमो को अपनी निर्गमित एवं जमा पूँजी (Issued and paid up capital) से दुगुनी तक निक्षेप (Deposit) स्वीकार करने का अधिकार मिलना चाहिए। (द) राज्य वित्त निगमो द्वारा निर्गमित ऋण पत्र तथा बॉण्ड को अधिक लोकप्रिय बनाने हेतु यह आवश्यक है कि (i) उनकी अवधि अपेक्षाकृत कम हो, (ii) सरकारी प्रॉवीडेण्ट फण्ड का कुछ रुपया उनमें विनियोग करे, (iii) बॉण्ड से प्राप्त आय आय-कर से मुक्त हो, तथा (iv) इनके द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रो तथा बॉण्डो को प्रोवीडेण्ट फण्ड के लिए मान्य प्रतिभूति माना जाय।

(१०) राज्य वित्त निगमो को अन्य औद्योगिक संस्थाओ (अर्थात् राज्य वित्त निगम तथा औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम) के सहयोग से औद्योगिक प्रतिभूतियो एवं ऋण-पत्रो में अपने धन का विनियोग करना चाहिए। इस कार्य हेतु राज्य वित्त निगम अधिनियम में आवश्यक संशोधन किया जाना चाहिए।

(११) समूह की राय में ऋण के लिये प्रार्थना पत्रो पर विचार करते समय किसी भी औद्योगिक इकाई मुख्यत: नवीन औद्योगिक इकाई के पास उपलब्ध प्रतिभूति के स्थान पर उसके

लाभ कमाने की क्षमता, योजना तथा उसकी प्रबन्ध-व्यवस्था पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। इसके लिए राज्य वित्त निगम अधिनियम की धारा २५ (२) मे आवश्यक संशोधन किए जाने चाहिए।

(१२) राज्य वित्त निगमो के विशेष संचित कोषों पर कर की छूट की दर १० प्रतिशत के स्थान पर २५ प्रतिशत होनी चाहिए। इससे इनकी आर्थिक स्थिति अधिक सुदृढ हो सकेगी।

(१३) आर्थिक सहायता देने के साथ-साथ योजनाओ को बनाने तथा कार्यान्वित करने मे भी निगमो को सहायता करनी चाहिए।

(१४) राज्य वित्त वित्त निगमो को अपना अभिगोपन कार्य बढाना चाहिए।

कुछ राज्यों के वित्त निगमों का संक्षिप्त विवरण

उत्तर प्रदेशीय औद्योगिक वित्त निगम (The Uttar Pradesh Industrial Finance Corporation)

उत्तर प्रदेशीय औद्योगिक वित्त निगम की कुछ विशेषतायें (Some Characteristics of U P. Industrial Finance Corporation)—(१) **निगम की स्थापना**—सन् १९५१ मे केन्द्रीय सरकार द्वारा पास किया गया राजकीय वित्त निगम एक्ट के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश मे एक वित्त निगम की स्थापना हुई, जिसने २१ जनवरी, सन् १९५५ से कार्य आरम्भ कर दिया। इस निगम का प्रधान कार्यालय कानपुर मे है। (२) **उद्देश्य**—इस निगम का उद्देश्य राज्य के मध्यम श्रेणी के तथा छोटे-छोटे उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान करना है। ये मुख्यत यन्त्रों व मशीनों को खरीदने तथा उद्योगो के नवीनीकरण व आधुनिकीकरण के लिए अर्थ-सहायता प्रदान करते हैं। निगम से सहायता व शक्ति केवल वे उद्योग प्राप्त कर सकते हैं जिन्हें भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (केन्द्रीय निगम) से सहायता नही मिल सकती है। इस तरह निगम से सहायता या तो व्यक्ति या छोटी छोटी सहकारी समितियाँ किसी उपयोगी कुटीर उद्योग-धन्धो को चलाने अथवा इसके प्रसार के लिए प्राप्त कर सकती है। (३) **पूँजी व लाभांश**—उत्तर प्रदेशीय वित्त निगम की अधिकृत पूँजी ३ करोड रुपये है जो १००-१०० रुपए के पूर्ण भुगतान (Fully Paid-up) वाले तीन लाख अशो मे विभाजित कर दी गई है। आरम्भ मे केवल ४० हजार अश ५० लाख रुपये के बेचे गये है और शेष ५० लाख रुपये के ५० हजार अंश प्रान्तीय सरकार जब चाहे तब और जिस प्रकार उचित समझे बेच सकेगी। इस निगम के वर्तमान ५० हजार अशों का वितरण इस प्रकार है—सरकार १८,०००, रिजर्व बैंक ७,५००; अनुसूचीबद्ध बैंक्स १४,०००; सहकारी बैंक्स ३,०००; ट्रस्ट तथा अन्य आर्थिक सस्थाये २,५०० तथा व्यक्तिगत व वित्तीय सस्थाओ के अतिरिक्त अन्य सस्थायें ५,००० (कुल योग ५० ००० अश) राज्य सरकार ने अंशों के मूलधन तथा कम से कम ३½% ब्याज की दर (कर-मुक्त) की गारण्टी दी है। (४) **प्रबन्ध**—इस निगम का प्रबन्ध १० सदस्यों के सचालक मण्डल (Board of Directors) द्वारा सम्पन्न किया जायेगा। (५) **ऋण**—निगम सहकारी समितियो की अधिक से अधिक ५,००० रुपये की तथा सहकारी समितियों को अधिक से अधिक १०,००० रुपये की आर्थिक सहायता मिल सकती है। ऋणो का भुगतान किश्तो मे किया जा सकता है। ऋण की अधिक से अधिक अवधि २० वर्ष है।

सन् १९६८ ६९ के वर्ष में की गई प्रगति का अवलोकन—३१ मार्च, १९६९ को उत्तर-प्रदेश औद्योगिक वित निगम ने अपनी १४वी वर्षगाँठ पूरी की। इस तिथि को इसकी कुल पूँजी १७० लाख रुपये थी। इस वर्ष इसकी सकल आय (Gross Income) ३४२ लाख रुपये तथा शुद्ध आय (Net Profit) ६१ लाख रुपये थी। उत्तर-प्रदेश औद्योगिक वित्त निगम ने विभिन्न औद्योगिक इकाइयो के लिए सन् १९६८-६९ मे कुल मिलाकर ७९१ लाख रुपये के ऋणो की स्वीकृति प्रदान की है। निगम **सुलभ ऋण योजनाओं** के अन्तर्गत उत्तर-प्रदेश औद्योगिक निर्देशालय से ऋण हेतु प्राप्त होने वाले आवेदन-पत्रो के लिए राज्य सरकार के एजेन्ट के रूप मे भी कार्य करता है। ये योजनायें छोटे आकार वाली औद्योगिक इकाइयो को ऋण देने के लिए चालू की गई है।

राजस्थान औद्योगिक वित्त निगम (The Rajasthan Industrial Finance Corporation) :

राजस्थान औद्योगिक वित्त निगम की मुख्य बातें (Salint Features of the Rajasthan State Finance Corporation)—ये इस प्रकार हैं—(१) **निगम को स्थापना**—केन्द्रीय सरकार द्वारा सन् १९५१ मे बनाये गये एक्ट के अन्तर्गत राजस्थान सरकार ने जनवरी सन् १९५५ मे राजस्थान के औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना की जिसने उसी वर्ष अप्रैल मे अपना कार्य आरम्भ कर दिया। (२) **उद्देश्य**—अन्य राज्यो के निगम की तरह इस निगम को भी स्थापना का उद्देश्य राजस्थान मे मध्यम श्रेणी व छोटे छोटे उद्योगो की आर्थिक सहायता प्रदान करना है ताकि देश मे इस प्रकार के उद्योगो का समुचित विकास हो सके। (३) **पूंजी**—इस निगम की अधिकृत पूंजी दो करोड रुपये है, जिसे १००-१०० रु० के २ लाख अशो मे बाँटा गया है। प्रारम्भ मे केवल १ लाख अशो को ही निर्गमित किया गया था, जिनका वितरण इस प्रकार किया गया था—सरकार ३६,००० रिजर्व बैंक १५,०००, अनुसूचीबद्ध बैंक्स, बीमा कम्पनियाँ, ट्रस्ट तथा सहकारी बैंक्स ४४,००० तथा अन्य आर्थिक सस्थायें ५,००० (कुल योग १ लाख अश)। निगम मे इस प्रकार की व्यवस्था कर दी गई है कि व्यक्ति व वित्तीय सस्थाओ के अतिरिक्त अन्य सस्थायें कुल अशो के २५% से अधिक के अशधारी नही हो सकते है। सरकार ने मूल तथा कम से कम ३½% ब्याज की दर की गारण्टी की है। (४) **प्रबन्ध**—निगम का प्रबन्ध एक १० सदस्यो के सचालक मण्डल (Board of Directors) द्वारा किया जाता जाता है जिसमे एक अध्यक्ष, १ प्रबन्ध सचालक तथा ८ अन्य सचालक हैं। इन अन्य सचालको मे १ रिजर्व बैंक तथा १ भारतीय औद्योगिक वित्त निगम का प्रतिनिधि भी सम्मिलित है। (५) **ऋण**—निगम उन व्यक्तियों, फर्मों, कम्पनियों तथा सस्थाओ को वित्त सहायता देगा जो किसी वस्तु का निर्माण, खनिज काय, विद्युत-शक्ति का निर्माण व वितरण-वस्तु का सरक्षण आदि करती हैं। ऋण की रकम १०,००० रुपये से १० लाख रुपये तक हो सकती है। यद्यपि प्रत्येक ऋण की अवधि प्रमण्डल स्वतः ही निश्चित करेगा, परन्तु साधारणतया यह अवधि १० १२ वष से अधिक नही होती है। सन् १९६६-६७ के वर्ष मे ऋणो पर ब्याज की दर मे आधे प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई। इस प्रकार राजस्थान वित्त-निगम की दर ८½% से बढाकर ९% कर दी गई, परन्तु निश्चित समय पर ऋण के वापस हो जाने पर इसमे ½ प्रतिशत की छूट दे दी जाती है। ऋण समुचित जमानत के आधार पर दिये जाते है। यह अचल सम्पत्ति जैसे—भूमि, इमारत, मशीन आदि की आड पर ऋण देता है और कच्ची सामग्री व माल (कच्चा व पक्का दोनो) की जमानत पर ऋण नही देता है। ऋण देने के बदले मे यह ऋणी कम्पनी के सचालक-मण्डल मे अपना एक सचालक नियुक्त करता है, कम्पनी के बीमे की माँग करता है, ऋण के भुगतान होने तक लाभाश पर प्रतिबन्ध लगता है, कम्पनी के हिसाब किताब की जाँच करने का अधिकार प्राप्त करता है।

प्रगति का अवलोकन—सन् १९६८-६९ के वित्तीय वष मे निगम के पास १ ५२ करोड रु० की सहायता के लिए प्रार्थना पत्र आये जबकि पिछले वष मे १ ३३ करोड रुपये की माँग के लिए प्रार्थना-पत्र आये थे। सन् १९६८-६९ के वर्ष मे राजस्थान औद्योगिक वित्त निगम ने विभिन्न औद्योगिक इकाइयों के लिए ६ ५३ लाख रुपये के ऋणो की स्वीकृति प्रदान की। इसी वर्ष निगम को ३१ १ लाख रुपये की सकल आय तथा ३ ५ लाख रुपये की शुद्ध आय हुई। इस राशि मे से ६२ लाख रु० वितरित कर दिये गये।

मध्य प्रदेश औद्योगिक वित्त निगम

मध्य-प्रदेश औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना ३० जून, १९५५ को की गई थी। इसकी अधिकृत पूंजी २ करोड रुपये निर्धारित की गई थी। अन्य वित्त निगमो की तरह मध्य-प्रदेश वित्त निगम की स्थापना का उद्देश्य भी राज्य के मध्यम श्रेणी तथा छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता प्रदान करना था। यह केवल उन्ही उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान करता है जिन्हे औद्योगिक वित्त निगम से सहायता नही मिल सकती।

प्रगति का अवलोकन (१९६८-६९ के वर्ष में)—३१ मार्च, १९६९ को मध्य-प्रदेश वित्त निगम ने अपनी १४वी वर्षगाँठ पूरी की। इस तिथि को निगम की चुकता पूंजी १ करोड रुपये थी। सन् १९६८-६९ के वर्ष में निगम को ४७ ६ लाख रुपये की सकल आय हुई। ३१ मार्च, १९६९ तक निगम ने कुल मिलाकर ८ ४७ रुपये के ऋणो के लिए स्वीकृति प्रदान की। रिपोर्ट के

अनुसार निगम ने छोटे आकार के उद्योगो को विशिष्ट रूप मे सहायता प्रदान करने का प्रयत्न किया है। अब तक निगम ने २६७ औद्योगिक इकाइयो को आर्थिक सहायता प्रदान की है जिसमे से १७६ छोटे आकार वाली इकाइयाँ (Small Scale Units) हैं। यही नही, निगम छोटे आकार वाली इकाइयों की दशा मे केवल २५ प्रतिशत की साख सुरक्षा (Credit Margin) देता है जबकि अन्य उद्योगों की दशा मे यह ४० प्रतिशत है।

(II) औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम
(Industrial Credit & Investment Corporation)

स्थापना :

भारत मे अभी तक विशेषतः निजी क्षेत्र मे औद्योगिक विकास के लिए विनियोग करने वाली संस्थाओ का अभाव था। इसको दूर करने के लिए ही अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के तत्त्वावधान में "औद्योगिक साख एव विनियोग निगम" की स्थापना बम्बई मे ५ जनवरी, १९५५ को सीमित दायित्व वाली निजी कम्पनी के रूप मे की गई। यह निगम पूर्ण रूप से निजी व्यक्तियों के स्वामित्व एवं प्रबन्ध मे है। यह निजी क्षेत्र के उद्योगों को ऋण देकर, ऋण की जमानत देकर तथा अंशो मे अभिगोपन करके आर्थिक मदद करेगा।

उद्देश्य :

निगम की स्थापना का मुख्य उद्देश्य भारत के निजी उद्योगो को सहायता देना है और यह सहायता निम्न रूप मे दी जायेगी :—(१) निजी उद्योगों की स्थापना, विस्तार तथा नवीनीकरण मे सहायता देना। (२) इन उपक्रमों मे आन्तरिक तथा बाह्य निजी पूंजी के विनियोग तथा सहभागिता को प्रोत्साहन देना। (३) औद्योगिक विनियोगो मे व्यक्तिगत स्वामित्व को प्रोत्साहन देना तथा विनियोग विपणि के क्षेत्र को बढाना।

सहायता के रूप :

ऊपर लिखे उद्देश्यो को पूरा करने के लिए सहायता निम्न रूप मे दी जायेगी—(१) उद्योगो को दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन आर्थिक सुविधाये देना अथवा उनके निर्गमित साधारण अंशो को खरीदकर प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना। (२) अशो तथा प्रतिभूतियों का अभिगोपन करना तथा अभिगोपन के कार्य को प्रोत्साहन देना। (३) अन्य व्यक्तिगत स्रोतो से प्राप्त ऋणों की जमानत देना। (४) चक्रित विनियोग द्वारा पुन विनियोग के लिये पूंजी उपलब्ध कराना। (५) भारत के व्यक्तिगत उद्योगो को प्रबन्ध सम्बन्धी, तान्त्रिक तथा प्रशासकीय सलाह देना अथवा भारतीय उद्योगों को प्रबन्ध, तान्त्रिक तथा प्रकाशन सम्बन्धी सेवाओं को प्राप्त करने मे सहायता देना।

निगम के वित्तीय साधन

निगम की वित्तीय व्यवस्था मे विश्व बैंक, इगलैंड, अमेरिका तथा भारत का सहयोग है। इसके वित्तीय साधनों के स्रोत निम्नलिखित हैं :

(१) अंश पूंजी—इसकी अधिकृत पूंजी २५ करोड रु० है जो सौ-सौ रु० के ७·५० लाख साधारण अशों तथा सौ-सौ रु० के १७·५० लाख अन्य प्रकार के अशो मे विभाजित है। इसमे से निगम ने ७.५ करोड रु० के सौ-सौ रुपये के ७,५०,००० सामान्य अंशों का अंकित मूल्य पर निर्गमन किया है। सन् १९६६-६७ के वर्ष मे निगम ने ७८ लाख रु० से अपनी पूंजी मे वृद्धि की है।

(२) केन्द्रीय सरकार से ऋण—चुकता पूंजी के अतिरिक्त निगम ने भारत सरकार से अब तक ३७·५० करोड रु० के चार ऋण लिए है। प्रथम ऋण १९५५ मे ७½ करोड रु० का बिना ब्याज के लिया जिसका भुगतान १५ वर्ष के बाद १५ किश्तो मे होना था। दूसरा ऋण १० करोड रु० का था जो १९५९ मे प्राप्त हुआ था तथा जिसका भुगतान १० वर्षों मे १० वार्षिक किश्तों मे होना था। तीसरा ऋण भी १० करोड रु० का था जो १९६५ मे प्राप्त हुआ था। चौथा ऋण भी १० करोड रु० का था। ३१ दिसम्बर १९६६ को निगम पर केन्द्रीय सरकार का ३२·५ करोड रु० का बकाया था।

(३) **विदेशी मुद्रा में ऋण**—निगम ने ३१ मार्च, १९६७ तक विश्व की तीन प्रमुख सस्थाओ से ११६ करोड रुपए के ऋण विदेशी मुद्रा मे प्राप्त किये है। इसके अतिरिक्त निगम को १९६६-६७ के वर्ष मे ३८ करोड रु० की विदेशी मुद्रा मे अतिरिक्त साख (Additional credit) प्राप्त हुई।

(४) **भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से ऋण**—समय-समय पर निगम भारतीय औद्योगिक विकास बैंक मे भी ऋण लेकर अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करता रहता है। ३१ दिसम्बर, १९६६ के अन्त मे निगम को भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के तीन करोड रु० देने थे। सन् १९६६-६७ के वर्ष मे निगम ने भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से ५ करोड रु० का एक ऋण लिया।

(५) **संचित कोष**—निगम ने निम्न कोष स्थापित किये हैं:—(i) पूँजीगत सचित कोष, (ii) सामान्य सचित कोष, तथा (iii) विशेष सचित कोष। इन सचित कोषों में अलग-अलग धन राशि जमा है।

प्रबन्ध :

इस निगम का प्रबन्ध सचालक सभा द्वारा होगा जिसमे ११ सदस्य तथा १ जनरल मैनेजर होगा। सचालकों मे से ७ भारतीय, २ ब्रिटिश १ अमेरिकी और १ भारतीय वाणिज्य और उद्योग मन्त्रालय की ओर से होगा। इस समय इसके चेयरमैन सर्व श्री जी० एम० मेहता तथा जनरल मैनेजर श्री एच० टी० पारीख है।

(III) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (N. I. D. C.)
(National Industrial Development Corporation)

स्थापना

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की स्थापना २० अक्टूबर, १९५४ को देहली मे की गई। यह निगम पूर्ण रूप मे एक राजकीय सस्था है और इसका स्वामित्व व नियन्त्रण सरकार के हाथ मे है। इस निगम की स्थापना का मूल उद्देश्य देश मे तीव्रगति से औद्योगीकरण लाना है। इस कार्य को पूरा करने के लिए वह निजी क्षेत्र का भी सहयोग प्राप्त करेगा। इस निगम का पञ्जीयन (Registration) भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत किया गया है।

पूँजी

निगम की कुल पूँजी १ करोड रुपए की है जो १००-१०० रुपए के १ लाख अंशों मे विभाजित है। समस्त अश केन्द्रीय सरकार द्वारा खरीद लिये गये हैं। आवश्यकता पडने पर निगम अपने अंश व ऋण-पत्र बेचकर अपने आर्थिक साधन बढा सकता है। इसके अतिरिक्त यह केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, अनुसूचित बैंकों कम्पनियों तथा व्यक्तियों से अनुदान (Grants), ऋण (Loans), अग्रिम (Advances) अथवा निक्षेप स्वीकार कर सकता है।

प्रबन्ध

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम का प्रबन्ध एक सचालक सभा द्वारा होगा, जिसमे २० सदस्य है। वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्री इसके सभापति है। इन सचालकों को केन्द्रीय सरकार ने मनोनीत (Nominate) किया है।

उद्देश्य :

(१) देश की औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक मशीनरी एवं यन्त्रो का प्रबन्ध करना तथा आधारभूत उद्योगों (Basic Industries) का प्रवर्तन एवं उनकी स्थापना करना। (२) देश के औद्योगिक विकास मे जो निजी उद्योग सहायक हों, उनको तान्त्रिक (Technical) एवं इन्जीनियरिंग सुविधायें देना। (३) निजी क्षेत्र को सरकार द्वारा स्वीकृत योजनाओ की पूर्ति के लिए आवश्यक तान्त्रिक, इन्जीनियरिंग, आर्थिक तथा अन्य सुविधायें देना। (४) प्रस्तावित औद्योगिक

योजनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक अध्ययन करना तथा उनको तान्त्रिक, इन्जीनियरिंग, आर्थिक तथा अन्य सुविधायें देना ।

उपरोक्त निगम का उद्देश्य लाभोपार्जन नहीं है बल्कि देश में तीव्रगति से औद्योगीकरण लाना है; जिसके लिए यह सरकार के एजेण्ट के रूप में कार्य करता है । इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निगम की प्रथम सभा २३ अक्टूबर, १९५४ को हुई जिसमें उद्योगों की अस्थायी सूची तैयार की गई । इस सूची में निम्न उद्योग सम्मिलित है —(१) जूट, कपास, वस्त्र, चीनी, कागज, सीमेंट, रासायनिक, छपाई, खान, निर्माण एवं यान्त्रिक आवागमन आदि उद्योगों के लिए आवश्यक मशीनरी तथा सामग्री का निर्माण कराना; (२) लौह मिश्रण, लौह मैगनीज और फैरोक्रोम; (३) अल्यूमीनियम; (४) तांबा, जस्ता और अलौह धातुएँ, (५) डीजल इन्जन, इन्जन तथा जेनरेटर; (६) भारी रासायनिक द्रव्य; (७) खाद और उर्वरक (Mica), (८) कोयला और कोलतार का सामान; (९) मेथानोल, फारमेलडीहाइड; (१०) काजल; (११) कागज, अखबारी कागज आदि बनाने के लिए लकड़ी की लुगदी; (१२) कृत्रिम दवायें, विटामिन और हारमोन, (१३) ऐक्सरे और डाक्टरी औजार आदि, (१४) हार्ड बोर्ड तथा इन्सूलेशन आदि ।

(IV) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
(International Finance Corporation)

स्थापना :

द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण अधिकांश राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे । निजी क्षेत्र में धन का अभाव विशेषरूप से अनुभव किया जा रहा था । पिछड़े हुए राष्ट्रों में यह स्थिति और भी गम्भीर रूप धारण किये हुए थी । अतएव विश्व बैंक ने २० जुलाई, १९५६ को सदस्य देशों की सहायता करने तथा निजी व्यवसाय (Private Enterprise) को विशेषरूप से सहायता प्रदान करने के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' की स्थापना की । यह सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है । इसका सम्बन्ध विश्व बैंक (I B R D.) से होते हुए भी इसका पृथक् वैधानिक अस्तित्व है । अगस्त १९५६ तक इसके ३२ सदस्य थे । केवल विश्व बैंक के सदस्य ही इसके सदस्य हो सकते हैं ।

पूँजी :

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की अधिकृत पूँजी १० करोड डॉलर है जोकि १,००० (एक हजार), डॉलर के प्रति अंश से १ लाख अंशों में विभाजित है । इस पूँजी में ४७ राष्ट्रों ने ९०.४ मिलियन डॉलर का अनुदान दिया है । भारतवर्ष ने ४·३३ मिलियन डॉलर का अनुदान दिया है । सबसे अधिक हिस्सा अमेरिका का है ।

उद्देश्य

निगम का प्रमुख उद्देश्य अपने सदस्य देशों में, विशेषतः कम विकसित राष्ट्रों में, उत्पादक निजी (private) के विकास को प्रोत्साहित कर आर्थिक प्रगति करना है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह निम्न कार्य करेगा —(१) जहाँ उचित शर्तों पर पर्याप्त मात्रा में पूँजी सुलभ नहीं है वहाँ निजी व्यवसायों में स्वयं विनियोग करना । (२) विनियोग के सुअवसरों, निजी पूँजी (देशी एवं विदेशी) तथा अनुभवी प्रबन्धकों को परस्पर समन्वित करने के लिए निकासी गृह (Clearing House) का कार्य करना । (३) निजी पूँजी के उत्पादनशील विनियोग को प्रोत्साहित करना ।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के अध्यक्ष के अनुसार "यह निगम एक विनियोग अभिकर्ता के नाते कार्य करेगा तथा निजी उद्योगों को सरकारी जमानत के बिना ऋण देगा ।"

विनियोग प्रस्तावों की योग्यता एवं विकास—उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निगम मुख्यतः निजी उपक्रमों (Private Enterprises) से आने वाले प्रस्तावों पर विचार करता है तथा यह विश्वास हो जाने पर कि उस उपक्रम को अन्य स्रोत उपलब्ध नहीं हैं, ऋण देता है । निगम सरकारी क्षेत्र के केवल ऐसे उपक्रमों के प्रस्ताव पर ही विचार करता है, जिनका मुख्यतः निजी स्वरूप (Essentially Private Character) हो ।

निगम ने अपनी क्रियाओ के प्रारम्भिक वर्षो मे ऐसे विनियोग प्रस्तावो पर विचार किया जहाँ—(अ) किसी भी व्यवसाय मे नवीन विनियोग कम से कम ५ लाख डॉलर या उनके बराबर थे तथा (ब) निगम मे मांगी हुई सहायता कम से कम १ लाख डालर या उसके बराबर थी। निगम ने अभी तक किसी एक विनियोग की अधिकतम् सीमा निर्धारित नही की है।

(V) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम
(National Small Industries Corporation)

प्रस्तावना :

राष्ट्र के औद्योगीकरण तथा समृद्धि के लिए लघु उद्योगो का विकास होना नितान्त आवश्यक है। ये उद्योग आर्थिक शक्ति को विकेन्द्रित कर सरकार की बडे-बडे उद्योगपतियो पर निर्भर रहने की आवश्यकता घटाकर एक आदर्श लोकतन्त्र की स्थापना करने मे सहायक हो सकते हैं। हमारे देश मे विकसित शहरी अर्थव्यवस्था और अर्द्ध-विकसित ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सह-अस्तित्व के कारण लघु उद्योगो का महत्व और भी बढ जाता है। स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दो मे, "भारत तभी एक औद्योगिक राष्ट्र होगा, जबकि यहाँ पर लाखो की मात्रा मे छोटे-छोटे उद्योग स्थापित कर दिये जायें।" इस प्रकार भारत के औद्योगिक विकास मे लघु उद्योगो का महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी ये उद्योग पर्याप्त प्रगति नही कर पाये है। इसका मुख्य कारण लघु उद्योगो के समक्ष अनेक समस्याओ का होना है।

स्थापना

लघु उद्योगो की समस्याओ को ध्यान मे रखते हुए एव अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञो के दल 'फोर्ड फाउन्डेशन' की सिफारिश पर फरवरी सन् १९५५ मे भारत सरकार ने 'राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम' की स्थापना की। यह निगम निजी कम्पनी (Private Company) के रूप मे रजिस्टर्ड हुआ है। इस निगम के द्वारा लघु उद्योगो को सरक्षण, प्रोत्साहन एव वित्तीय सहायता मिलती है।

उद्देश्य एव कार्य

निगम का मूलभूत उद्देश्य भारतीय लघु उद्योगो को सरक्षण, प्रोत्साहन एव वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए निगम निम्नलिखित कार्य करेगा — (१) राजकीय विभागो मे लघु उद्योगो मे निर्मित वस्तुयें खरीदने की व्यवस्था करना। (२) आवश्यकता के अनुसार माल बनाने के लिए पूँजी व प्राविधिक (Technical) सहायता प्रदान करना (३) लघु एव विशाल उद्योगो मे प्रतिस्पर्धा दूर करके उनके बीच समन्वय स्थापित करना। (४) प्रदर्शनियो तथा बिक्री केन्द्रो की व्यवस्था करके लघु उद्योगो की बिक्री की सुविधायें बढाना। (५) लघु उद्योगो को किराया क्रय-रीति (Hire-Purchase System) के आधार पर मशीन व यन्त्र दिलाने की व्यवस्था करना। (६) ओखला तथा नैनी मे दो औद्योगिक केन्द्रो की व्यवस्था एव सचालन करना।

पूँजी

प्रारम्भ मे निगम की अधिकृत पूँजी २० लाख रुपये थी जो सौ-सौ रु० के २०,००० अशों मे विभाजित थी। यह पूँजी पूर्णतया केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान की गई थी। बाद मे समय समय पर इस पूँजी की मात्रा मे वृद्धि करदी गई है। इसके अतिरिक्त निगम केन्द्रीय सरकार से समय-समय पर ऋण भी लेता रहता है। निगम को अमेरिका से विकास ऋण कोष के अन्तर्गत लगभग ४ ७६ करोड रुपये की साख भी प्राप्त हुई है।

(VI) भारतीय विनियोग केन्द्र
(Indian Investment Centre)

स्थापना

इसकी स्थापना जून १९६१ म की गई थी। इसका प्रधान कार्यालय न्यूयार्क (अमेरिका) मे है।

उद्देश्य :

इसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय उद्योगपतियों को विदेशी पूँजी तथा औद्योगिक तकनीकी प्राप्त करने में सहायता देना है। इसके अतिरिक्त यह भारतीय तथा विदेशी उद्योगपति दोनों के सहयोग से नवीन उपक्रमो की स्थापना मे अपना सहयोग प्रदान करता है। इस कार्य हेतु यह भारतीय उद्योगपतियो को विदेशी उद्योगपतियों के सम्बन्ध मे तथा विदेशी उद्योगपतियों को भारतीय उद्योगपतियो के सम्बन्ध मे आवश्यक जानकारी प्रदान करता है।

प्रगति

अब तक उपलब्ध आँकडो के अनुसार भारतीय विनियोग केन्द्र विदेशी उद्योगपति तथा भारतीय उद्योगपति दोनों के सहयोग से केवल ४० संयुक्त उपक्रम स्थापित करने में सफल हो सका है। प्रगति की यह गति बहुत ही धीमी है।

(VII) फिल्म वित्त निगम
(Film Finance Corporation)

स्थापना :

फिल्म वित्त निगम की स्थापना मार्च, १९६० को केन्द्रीय सरकार के सहयोग से की गई थी।

उद्देश्य :

निगम का प्रमुख उद्देश्य भारत में अच्छी फिल्मों के निर्माण मे सहायता प्रदान करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु निगम प्रत्येक अच्छी फिल्म के निर्माण हेतु ५ लाख रु० तक का ऋण १२% वार्षिक ब्याज की दर पर दे सकता है। शीघ्र एव निश्चित तिथियों पर भुगतान प्राप्त होने पर निगम १ ५% की दर से ब्याज मे छूट दे देता है।

पूँजी :

निगम की अधिकृत पूँजी १ करोड रुपये है जोकि एक-एक हजार रुपये वाले अंशो मे विभाजित है। इसमे से चुकता पूँजी केवल ५० लाख रुपये है[1] जोकि पूर्णतया केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान की गई है।

प्रगति :

दिसम्बर, १९६६ के अन्त तक इस निगम द्वारा सहायता प्राप्त २८ फिल्मो का निर्गमन हो चुका है जिसमे से १० फिल्मों को इनाम (Award winners) दिया गया है।

(VIII) जीवन बीमा निगम
(Life Insurance Corporation)

स्थापना :

जीवन बीमा निगम की स्थापना १ सितम्बर सन् १९५६ को समस्त जीवन बीमा कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण करके की गई। इसके लिए भारतीय संसद मे एक विशेष विधान पास किया गया जिस पर कि १८ जून १९५६ को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो गई।

उद्देश्य :

निगम की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य बीमित व्यक्तियो मे सुरक्षा की भावना उत्पन्न करना तथा पंचवर्षीय योजनाओ तथा औद्योगिक विकास हेतु पर्याप्त मात्रा मे धन उपलब्ध कराना है।

---

1. *India, 1967*, p. 139.

पूंजी :

निगम की अधिकृत एवं चुकता पूंजी ५ करोड रुपये है जोकि पूर्णतया केन्द्रीय सरकार द्वारा ही प्रदान की गई है। इसके अतिरिक्त निगम के पास जीवन बीमा-पत्रों से प्रतिवर्ष प्राप्त होने वाली विशाल धनराशि रहती है।

प्रगति

अपने विशाल आर्थिक साधनों के कारण निगम भारत में सबसे बड़ा विनियोक्ता है। इसीलिए इसे भारतीय मुद्रा-बाजार में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मार्च, सन १९६५ को निगम का ७०२ करोड रु० का स्टॉक एक्सचेंज प्रतिभूतियों में विनियोजित था। इस विशाल राशि में से ६८५ ३५ करोड रुपये भारत में और लगभग १६ ८६ रु० विदेशों में विनियोजित थे।

(IX) औद्योगिक विकास बैंक
(Industrial Development Bank)

स्थापना :

औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना दिनांक १ जुलाई, सन् १९६४ को भारत सरकार द्वारा की गई है। इसकी स्थापना हेतु भारतीय संसद में पहले एक अधिनियम पास किया गया था जिस पर कि १६ मई, सन् १९६४ को राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त हुई। इस प्रकार भारतीय औद्योगिक इतिहास में यह पहला शुभअवसर है जबकि उद्योगों की आर्थिक एवं विकास सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए एक विशिष्ट संस्था की स्थापना की गई है।

उद्देश्य :

औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य निजी तथा राजकीय औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त बैंक उत्पादक विनियोजन हेतु जनता की बचत, साहस तथा कुशलता को भी संग्रह करेगा।

कार्य :

यह बैंक सभी प्रकार के (होटल व्यवसाय को मिलाकर भी) औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लिए वित्तीय व्यवस्था करेगा। इसके लिए बैंक निम्नलिखित कार्य सम्पन्न करेगा —(१) प्रत्यक्ष रूप में ऋण प्रदान करना। (२) किसी भी व्यापारिक, औद्योगिक वित्तीय अथवा सेवा-सम्बन्धी संस्था की प्रतिभूतियों में अपने धन का विनियोग करना। (३) **पुनर्वित्त व्यवस्था प्रदान करना—** यह बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। पुनर्वित्त की व्यवस्था इस प्रकार से की जायेगी—(अ) औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमों द्वारा दिए गये ऋणों (३ से २५ वर्ष तक की अवधि हेतु) का पुनर्वित्त, (ब) अनुसूचित बैंकों द्वारा ३ से १९ वर्ष तक की अवधि के लिए दिये गये ऋणों के पुनर्वित्त की व्यवस्था, (स) ६ महीने से १० वर्ष तक की अवधि के लिए दी गई निर्यात साख (जो उपर्युक्त संस्थाओं द्वारा दी गई हो) की पुनर्वित्त व्यवस्था। (४) स्थगित भुगतान, ऋण या अभिगोपन सम्बन्धी दायित्व की प्रत्याभूति या गारन्टी (Guarantee) देना। (५) तान्त्रिक एवं आर्थिक अध्ययन करना। (६) विपणन व विनियोग सम्बन्धी अनुसन्धान की व्यवस्था करना।

आर्थिक साधन :

औद्योगिक विकास बैंक की अधिकृत पूंजी ५० करोड रुपये है, जिसमें से १० करोड रुपये की पूंजी निर्गमित की जा चुकी है। पूंजी के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से अधिकृत पूंजी को १०० करोड रुपये तक बढ़ा ले।

उपरोक्त के अतिरिक्त यदि औद्योगिक विकास बैंक के आर्थिक साधन कम हो तो रिजर्व बैंक से ऋण भी लिया जा सकता है। इसके अलावा औद्योगिक विकास बैंक रिजर्व बैंक द्वारा प्रारम्भ किये गये राष्ट्रीय औद्योगिक साख से भी ऋण ले सकता है। इस सम्बन्ध में और भी उल्लेखनीय

बात यह है कि औद्योगिक विकास बैंक केन्द्रीय सरकार से अपनी पूँजी के बराबर बिना ब्याज के ऋण ले सकता है। यह ऋण १५ वर्ष के अन्दर १५ समान किश्तो में चुकाना होगा। इसके अतिरिक्त बैंक के पास एक विशिष्ट विकास सहायता कोष (Special Development Assistance Fund) भी है जिसके माध्यम से यह मुख्यतः ऐसे उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकेगा जोकि राष्ट्र की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है, किन्तु एक सामान्य बैंकर अथवा वाणिज्य संस्था उसे आर्थिक सहायता देने के लिए तत्पर नही है।

प्रबन्ध :

औद्योगिक विकास बैंक का प्रबन्ध रिजर्व बैंक के केन्द्रीय प्रबन्ध-मण्डल के आदेशानुसार होगा। प्रबन्ध की सुविधा हेतु सचालको तथा अध्यक्ष की नियुक्ति रिजर्व बैंक के द्वारा की जायगी।

ब्याज दर :

बैंक की सामान्य दर ८% रही है। किश्त टूट जाने पर ½% और लगाई जाती है।

प्रगति का अवलोकन :

बैंक ने १ जुलाई, १९६४ से ३० जून, १९६७ तक १८४ ७ करोड रु० के ऋण स्वीकृत किये है तथा १३४ ७ करोड रु० वास्तव में वितरित किये है। इसके अतिरिक्त ३४·२ करोड़ रु० की गारन्टी भी दी है।

(X) यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया
(Unit Trust of India)

प्रस्तावना :

भारत आज योजनाओ के युग से गुजर रहा है। योजनाओ की सफलताओं को जिन प्रयत्नो की आवश्यकता है, उनके लिए सभी प्रकार के प्रयास जनता व सरकार द्वारा किये जा रहे है। हमे देश के प्राकृतिक स्रोतो के दोहन के लिए विशाल मात्रा में पूँजी की आवश्यकता है। पूँजी की पूर्ति सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के करो, बचतो व विदेशो से प्राप्त ऋणो आदि से की जा रही है, किन्तु किसी भी देश की योजनाओ को सफलता तभी मिल सकती है जबकि जन-साधारण अपनी आय मे से कुछ हिस्सा बचाकर पूँजी-निर्माण मे योग दे। इसके लिए यह आवश्यक है कि देश मे ऐसी सस्थाओ का बाहुल्य हो जोकि जनसाधारण को बचत के लिए उत्साहित करें। ऐसी सस्थाओ के अभाव में विनियोक्ताओ को स्वयं इस बात का निर्णय करना पडता है कि वे किस कम्पनी मे अपने पसीने की गाढी कमाई का विनियोग करे। अभाग्यवश भारतवर्ष मे ऐसी विश्वसनीय सस्थाओ का अभाव रहा है जोकि जन-साधारण की छोटी-छोटी बचतो का विनियोग देश के औद्योगीकरण के लिए कर सकें। यही कारण है कि भारत की आर्थिक योजनाओ को असफलता का सामना करना पड रहा है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय ससद मे दिसम्बर १९६३ को एक कानून पास हुआ जिसे 'यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, १९६३' कहते हैं। इसके अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र मे यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई है। यह कानून फरवरी, १९६४ से लागू हुआ तथा इसके अनुसार १ जुलाई, १९६४ को भारत मे यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई। १ जुलाई, १९६४ से यूनिट ट्रस्ट के यूनिटो की बिक्री प्रारम्भ हो गई है।

उद्देश्य एवं कार्य

४ दिसम्बर, १९६३ को भारत सरकार ने पिछले वित्त मन्त्री श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने ससद मे यूनिट ट्रस्ट विधेयक पेश करते हुए बताया कि उसका मूल उद्देश्य मध्यम वर्ग के लोगो की छोटी-छोटी बचतो को उत्पादन कार्यो मे लगाना है। यह ट्रस्ट निम्न आय वाले वर्गो के लोगो को बिना परेशानी के पैसा लगाने का सुअवसर देगा, साथ ही उसका पैसा सुरक्षित रहेगा और उनको पर्याप्त लाभ भी मिलेगा। ट्रस्ट प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय करेगा जिनमे शेयर, बॉण्ड व अन्य कम्पनियां, आयोग और संस्थाओ के स्टॉक भी शामिल है। ट्रस्ट इकाइयाँ बेचेगा जोकि

१० रु० स कम और १०० रु० से अधिक की नही होगी। यही इकाइयां ट्रस्ट विनियोजन का प्रतिनिधित्व करगी। नाभांश की राशि का दृष्टि मे रखकर ट्रस्ट इकाइयो के विक्रय मूल्य को निर्धारित करेगा। घोषित मूल्य पर टस्ट इकाइयो को वापस खरीद भी सकता है। किसी व्यक्ति को कितना इकाइयाँ बची जायगी इसकी कोई सीमा नहीं होगी। टस्ट हर वर्ष अपनी शुद्ध आय का कम स कम ९० प्रतिशत भाग इकाई धारका (Unit Holders) मे बाट देगा टस्ट आय कर अधिकार आदि से मुक्त होगा। इकाई धारकों को भी टस्ट से प्राप्त आय पर आय कर नही देना पडेगा।

पूंजी

टस्ट का प्रारम्भिक पूजी ५ करोड रु० है। इस पूजी का क्रय विभिन्न संस्थाओ द्वारा इस प्रकार स किया गया है —(१) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया २ ५ करोड रुपय (२) जीवन बीमा निगम ७५ लाख रुपय (३) स्टट बैंक आफ इण्डिया ७५ लाख रुपय (४) अनुसूचित बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाय १ करोड रुपय।

उपरोक्त पूंजी का बहुत ही सावधानी के साथ विनियोग किया गया है। अधिनियम में यह भी व्यवस्था है कि पर्याप्त मात्रा म इकाइयो के विक्रय से प्राप्त होने वाली धन राशि मे से प्रारम्भिक पूंजी को लौटा दिया जायेगा।

ट्रस्ट केन्द्रीय सरकार की स्वीकृत गारन्टी पर अपने बाण्डो पर ६ महीने के लिए ऋण ल सकता है। यह ९० दिन की अवधि के लिए रिजर्व बैंक स भी ऋण ले सकता है।

प्रबन्ध

टस्ट का प्रबन्ध टस्ट मण्डल के अधीन है जिनमे अध्यक्ष सहित कुल मिलाकर १० सदस्यों के रहने की व्यवस्था की गई है। अब तक सदस्यों की नियुक्ति निम्न प्रकार से की गई है (१) रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत ५ (इसमे अध्यक्ष भी सम्मिलित है) (२) स्टट बैंक आफ इण्डिया द्वारा मनोनीत १ (३) जीवन बीमा निगम द्वारा मनोनीत १ (४) अनुसूचित बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओ द्वारा निर्वाचित २।

नोट—आवश्यकता होने पर एक प्रबन्ध अधिकारी की भी नियुक्ति की जा सकती है। यह प्रबन्ध अधिकारी भी टस्ट मण्डल का एक सदस्य माना जायेगा।

उपरोक्त के अतिरिक्त टस्ट के कारोबार के संचालन के लिए एक प्रबन्ध समिति के गठन की भी व्यवस्था की गई है। जिसमे टस्ट का अध्यक्ष रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत प्रबन्ध अधिकारी व अन्य दो ट्रस्टी होग। ट्रस्ट का अध्यक्ष ही इस समिति का अध्यक्ष होगा। कार्यो के सम्पादन में रिजर्व बैंक के लिखित आदेश पर नीति सम्बन्धी प्रश्नो पर निर्देशन मिलगा जिसमे बैंक का निर्णय सर्वोपरि होगा।

प्रगति का अवलोकन

श्री आर० एम० भट्ट (चेयरमन यूनिट टस्ट आफ इण्डिया) ने अपनी ततीय वार्षिक रिपोर्ट मे टस्ट द्वारा ३० जून १९६८ के वर्ष की प्रगति के सम्बन्ध मे निम्नलिखित आकडे प्रस्तुत किये

इकाइयों की बिक्री—१९६७ ६८ म ट्रस्ट ने कुल मिलाकर १५ ३० करोड रुपये की इकाइया का विक्रय किया। जबकि पिछले वर्ष म टस्ट न ९ २४ करोड रुपये की इकाइयों का विक्रय किया था।

आय तथा लाभ—३० जून १९६८ को समाप्त होने वाले वर्ष मे टस्ट को ३ ६७ करोड रुपये की सकल आय (Gro s Income) हुई जबकि पिछले वर्ष म केवल २ ५१ करोड रुपये की सकल आय हुई थी।

२९

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली
(Managing Agency System)

प्रारम्भिक :

भारत का वर्तमान औद्योगिक जगत प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ के त्याग, तपस्या और साहस का अद्‌भुत उदाहरण है। इसकी एक-एक ईंट पर प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की अटूट छाप विद्यमान है। संसार के किसी भी भाग मे प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ की इतनी व्यापक महत्ता और ख्याति नही है, जितनी कि भारत मे। जिस समय भारत मे उद्योगों का विकास नही हो पा रहा था, विनियोक्ताओ मे नवीन व्यवसायो तथा उद्योगो की जोखिम लेने की शक्ति नही थी, देश मे व्यवसाय का अभाव था, अच्छे संचालक एवं प्रबन्ध-अभिकर्त्ता कठिनाई मे मिलते थे, इन प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं ने ही भारत के औद्योगिक सगठन मे एक सुदृढ स्तम्भ का कार्य किया, जिससे भारतीय उद्योग निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर होता रहा। आधुनिक (लगभग सभी मुख्य निर्माण अथवा उत्पादक उद्योगो), जैसे—कोयला, लोहा एव इस्पात, जूट, सूती-वस्त्र, जल-विद्युत, चीनी इत्यादि के प्रवर्तन, निर्माण एवं सफलता का एकमात्र श्रेय इन्ही अभिकर्त्ताओं को है। इस कथन की पुष्टि **भारतीय राजकर समिति** (Indian Fiscal Commission) ने अपनी १९४९-५० की रिपोर्ट मे की है। रिपोर्ट के अनुसार, "**औद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनों में, जबकि न तो साहस और न पूंजी ही प्राप्त थी, प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं ने दोनो को ही प्रदान किया तथा भारत के वर्तमान सुदृढ़ उद्योग, जैसे—सूती वस्त्र, जूट, इस्पात आदि विभिन्न सुप्रतिष्ठ प्रबन्ध-अभिकर्त्ता-गृहों के पथ-प्रदर्शन, उत्साह व पोषित देख-रेख (Fostering Care) के कारण ही इस अवस्था को प्राप्त कर सके हैं।**" आज स्थिति यह है कि ६०० से अधिक कम्पनियो का प्रबन्ध तथा संचालन केवल २० प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के हाथ मे है। इसी प्रकार ९ अंग्रेजी प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ के आधीन २५० से अधिक कम्पनियां हैं।

परन्तु कम्पनी अधिनियम १९५६ तथा संशोधित कम्पनी अधिनियम १९६०,६३,६४, ६५, ६६ तथा ६७ के अनुसार इनके क्षेत्र पर बहुत ही कडे प्रतिबन्ध लगाये जाने के कारण इनका अस्तित्व धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। सरकार के वर्तमान रुख को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वह भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त करने का दृढ संकल्प कर चुकी है।

प्रादुर्भाव एवं विकास
(Origin and Development)

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली का प्रादुर्भाव एव विकास भारत के औद्योगिक विकास के साथ-साथ हुआ है। यहाँ उद्योग के प्रारम्भिक प्रमुख विकासकर्त्ता अंग्रेजी व्यवसायी थे जो शुरू मे यहां कुछ व्यापारिक संस्थाओ के प्रतिनिधि की भाँति आये। इनके पास विशाल धनराशि थी

और वे उसका उचित विनियोग करना चाहते थे। भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान राष्ट्र तथा असीम प्राकृतिक साधनों से परिपूर्ण होते हुए भी औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। इस प्रकार यहां पर विनियोग के लिए अपार क्षेत्र मौजूद था। इसके विपरीत यहां के निवासी किसी भी नवीन उद्योग में पूंजी लगाने से डरते थे। यहाँ की पूंजी शर्मीली थी। बैंक तथा पूंजी-बाजार का अभाव था। पूंजी के अतिरिक्त वे समस्त साधन यहाँ पर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे जोकि किसी भी देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक होते हैं। अतएव अत्यधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से उन्होंने अपने पास से पूंजी लगाकर उद्योगों की स्थापना करना प्रारम्भ किया। हानि एवं आपत्ति-काल के समय भी उन्होंने उद्योगों की रक्षा हेतु अपने पास ही आर्थिक सहायता प्रदान की। इस प्रकार कम्पनी के जन्मदाता, पूंजी प्रदान करने वाले तथा अनुभवी प्रबन्धकर्त्ता होने के नाते उनका उस कम्पनी के नियन्त्रण में प्रमुख हाथ रहा। यहां तक कि एक ही प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के अधीन कई कम्पनियाँ हो गई।

डॉ० वीरा एन्स्टे (Dr Vera Anstey) ने अपनी पुस्तक "भारत का आर्थिक विकास" में वर्तमान प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली के प्रचलन की तिथि सन् १८३३ ई० दी है। जबकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना व्यापारिक कार्य पूर्णतया स्थापित कर दिया था। श्री ज्योफी टामसन के अनुसार, भारत में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की नींव कलकत्ते की डिगनम एण्ड कम्पनी (Messrs Dignam & Co) ने डाली। अंग्रेजों के द्वारा प्राप्त महान् सफलता से प्रभावित होकर भारतीयों ने भी 'प्रबन्ध-अभिकर्त्ता' की स्थापना करना प्रारम्भ किया।

परिभाषा
(Definition)

'प्रबन्ध-अभिकर्त्ता से आशय उस व्यक्ति, साझेदारी या सामामेलित संस्था से है जो कम्पनी के साथ हुए समझौते अथवा उसके पार्षद्-सीमानियम या अन्तर्नियमों के अन्तर्गत कम्पनी के सम्पूर्ण या अधिकांश कार्यों के प्रबन्ध करने का अधिकारी इस अधिनियम के आदेशों के अधीन है, इसमें व्यक्ति, साझेदारी या समामेलित संस्था शामिल किये जाते हैं, यदि वे प्रबन्ध-अभिकर्ता का स्थान ग्रहण किये हुए हों तथा चाहे जिस नाम से पुकारे जाते हों।' [धारा २ (२५)]

उपरोक्त परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता :—(१) व्यक्ति, साझेदारी अथवा समामेलित संस्था हो सकता है, (२) विधान के अनुसार कम्पनी का प्रबन्ध करने का अधिकारी है, (३) संचालकों के नियन्त्रण तथा देख रेख में काम करता है, (४) प्रबन्ध के अधिकार कम्पनी से समझौते के द्वारा पार्षद्-सीमानियम अथवा अन्तर्नियमों के द्वारा प्राप्त होते हैं, एवं (५) ये कम्पनी के नौकर होते हैं और उनको समझौते के अनुसार लाभों में से हिस्सा दिया जाता है।

भारत में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के कार्य
(Functions of Managing Agents in India)

भारत में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की स्थिति किसी भी नवीन उद्योग तथा व्यवसाय को प्रारम्भ करने वाले प्रवर्तक के समान है। उनको कम्पनी की स्थापना करके उसका प्रारम्भ करना होता है, उसके लिए पर्याप्त मात्रा में पूंजी एकत्रित करनी पड़ती है तथा उसके विकास के लिए कम्पनी का संचालन करना पड़ता है, अतएव प्रबन्ध-अभिकर्त्ता कम्पनी के प्रवर्तक, पूंजीपति तथा संचालक होते हैं। इस प्रकार प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं :

(१) कम्पनी का प्रवर्तन एवं निर्माण (Promotions and Floatation of Companies)—किसी भी नवीन कम्पनी की स्थापना के लिए कुछ प्रारम्भिक अनुसन्धान, प्रारम्भिक व्यय व अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। इस कार्य के लिए अन्य देशों में विशिष्ट संस्थायें होती हैं, जैसे अमरिका में विनियोगकर्त्ता अधिकोष (Investing Bankers), ब्रिटेन में निर्गमन तथा अभिगोपन-गृह (Issue and Underwriting Houses) तथा जर्मनी में औद्योगिक साख-अधिकोष (Industrial Credit Banks)। परन्तु अभाग्यवश हमारे देश में ऐसी विशिष्ट संस्थाओं का भारी अभाव है। अतएव यहां पर प्रवर्तन तथा निर्माण का कार्य प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं

द्वारा होता है, जो आवश्यक अनुभव तथा तान्त्रिक योग्यता रखते हैं। उदाहरणार्थ, भारत मे टाटा एण्ड सन्स लिमिटेड, डालमिया जैन लिमिटेड, करमचन्द थापर एण्ड ब्रादर्स लिमिटेड, बिड़ला लिमिटेड, बर्ड एण्ड कम्पनी, मार्टिन एण्ड कम्पनी, जेम्स फिनले एण्ड कम्पनी आदि प्रसिद्ध प्रबन्ध-अभिकर्ताओ की संस्थायें है जिन्होने अनेक कम्पनियो के प्रवर्त्तन का कार्य किया है।

(२) **आर्थिक सहायता** (Financial Assistance)—यह प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ का दूसरा एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। ये न केवल प्रारम्भिक पूँजी का प्रबन्ध करते है, अपितु बाद में पुनर्संङ्गठन, विकास तथा आधुनिकीकरण व कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध के लिए एव संकट-काल मे समस्त आर्थिक समस्याओ को सुलझाने के लिए सदैव तत्पर रहते है। इनकी गिनती आर्थिक सहायता देने वालो मे होने के कई कारण हो सकते हैं; जैसे—सुसगठित पूँजी बाजार का अभाव, भारतीय पूँजी का शर्मीलापन, बैंको की धारणा आदि।

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता नवीन तथा वर्तमान कम्पनियो को निम्न प्रकार से आर्थिक सहायता देते हैं :

(i) ये स्वय कम्पनी के अंशो तथा ऋण-पत्रो का क्रय करते हैं, अर्थात् अपने निजी साधनों से आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं।

(ii) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की निजी साख पर हमारे देश मे औद्योगिक केन्द्रो, जैसे—अहमदाबाद तथा बम्बई मे कम्पनियो को जन-निक्षेप (Public Deposits) प्राप्त हो जाते है।

(iii) बैंको से प्राप्त हुआ ऋण तथा अग्रिम (Loans and Advances) पर प्रबन्ध-अभिकर्त्ता व्यक्तिगत प्रतिभूति (Guarantee) प्रदान करते है।

(iv) नई कम्पनी जनता को अपने ऋण-पत्र तथा अंशो के खरीदने के लिये प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के नाम पर ही आकर्षित कर पाती है। उनका नाम देने से कम्पनी की ख्याति मे वृद्धि होती है।

(v) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के नियन्त्रण मे न केवल विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक व औद्योगिक कम्पनियाँ होती है, वरन् वित्तीय सस्थाये तथा बैंक, बीमा कम्पनियाँ, विनियोगी प्रन्यास इत्यादि भी होते है। इन विभिन्न सस्थाओ मे सम्पर्क स्थापित करके ये वित्तीय संस्थाओ के धन का उपयोग अन्य कम्पनियो मे कर सकते है।

(vi) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता विदेशी पूँजीपतियो से व्यापारिक समझौते करते है। परिणामस्वरूप, व्यावसायिक इकाइयो को विदेशी पूँजी आसानी से मिल जाती है।

(vii) ये कम्पनियो के अशो तथा ऋण-पत्रो का अभिगोपन करने का कार्य भी करते हैं।

(३) **कम्पनो का संचालन** (Management of Companies)—प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ का तृतीय महत्त्वपूर्ण एव प्रशासनीय कार्य कम्पनियो की व्यवस्था करना है। वे अपने तान्त्रिक ज्ञान एवं व्यावसायिक अनुभव द्वारा विभिन्न व्यावसायिक कम्पनियो का सगठन व्यवसाय की आवश्यकतानुसार करते है। अत यदि यह कहा जाय कि भारत मे कम्पनियो की सफलता, प्रवर्तन, व्यवस्थापन एवं प्रबन्ध-कार्य की सफलता का सम्पूर्ण श्रेय इन्ही प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के गुण तथा दोष
(Advantages and Disadvantages of Managing Agents)

प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के गुण

देश मे भीमकाय उद्योगो को जन्म देने तथा उनके बाल्य-काल मे पालन-पोषण करने का एक मात्र श्रेय प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को ही है। इनके बारे में कहा है कि "भारत में स्थापित हर **१० कम्पनियों में से ९ कम्पनियों को इन्होने ही जन्म दिया है।**" निस्सन्देह हमारे देश की वर्तमान औद्योगिक प्रगति प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की विभिन्न महत्त्वपूर्ण एवं नि:स्वार्थ सेवाओ का प्रतीक है। इस प्रणाली के प्रमुख लाभ अग्रलिखित प्रकार हैं

(१) **कम्पनियों का प्रवर्तन एवं निर्माण**—जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि प्रवर्तन तथा निर्माणकर्त्ता का कार्य करने वाली विशिष्ट संस्थाओं का अभाव होने के कारण यह कार्य (हमारे देश में) प्रवन्ध-अभिकर्त्ताओं द्वारा सम्पन्न होता है।

(२) **आर्थिक सहायता** (Financial Assistance) "धन प्रत्येक व्यावसायिक तथा औद्योगिक इकाई का जीवन-रक्त है"। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है। प्रवन्ध-अभिकर्त्ता कई साधनों के द्वारा कम्पनी के लिए धन की व्यवस्था करते हैं। इनके व्यावसायिक जीवन तथा वाणिज्य जगत में ख्याति के बल पर कम्पनी को आसानी से धन प्राप्त हो जाता है। १ अप्रैल, १९६६ को प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की कुल प्रदत्त पूँजी ३८.७८ करोड रु० थी, तथा इनके द्वारा प्रबन्धित कम्पनियों की प्रदत्त पूँजी ४९२.४६ करोड रु० थी।

(३) **कम्पनी का संचालन** (Management of Companies)— इसका भी संकेत पहले किया जा चुका है। वे अपने तान्त्रिक एवं व्यावसायिक अनुभव द्वारा विभिन्न व्यावसायिक कम्पनियों का संगठन व्यवसाय की आवश्यकतानुसार करते हैं। इससे कम्पनी की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

(४) **विनियोगों की सुरक्षा** (Safety of Investment) —प्रबन्ध-अभिकर्ता अपनी ख्याति का सबसे अधिक ध्यान रखते हैं और यथाशक्ति इस पर धब्बा नहीं लगने देते। अतएव जनता तथा विनियोक्ताओं को यह विश्वास हो जाता है कि सुव्यवस्थित प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के प्रबन्ध में जो कम्पनियाँ होती हैं, उनमें उनका धन पूर्ण रूप से सुरक्षित रहता है।

(५) **विवेकीकरण** (Rationalisation) **एवं सूत्रीकरण** (Co-ordination)—प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के नियन्त्रण में विभिन्न प्रकार की कई व्यावसायिक इकाइयाँ होती हैं जिनके विशिष्टीकरण (Specialisation) के लिए वे अपने कार्यालय में अलग अलग विभाग रखते हैं, जिनसे उनके अन्तर्गत सभी कम्पनियों को लाभ पहुँच सके। व्यक्तिगत रूप से कम्पनियों के लिए यह सम्भव नहीं होता कि व विशिष्ट योग्यता वाले अनुभवी व्यक्तियों को नियुक्त कर सकें, किन्तु प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा न्यूनतम व्यय पर उन्हें विशेषज्ञों की सेवा का लाभ प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त पूरक उद्योगों में एक उद्योग का माल दूसरे उद्योग में खप जाता है। उदाहरणार्थ, कच्चा लोहा, कोयला तथा इस्पात उद्योगों में तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार प्रबन्ध अभिकर्ता अपनी व्यवस्थित कम्पनियों में एकसूत्र या सामंजस्य लाते हैं, जिनके फलस्वरूप उनमें मितव्ययिता होने के साथ-साथ कार्यक्षमता में भी वृद्धि होती है।

(६) **प्रतिभूतियों का अभिगोपन**—(Underwriting of Securities)—इससे देश में औद्योगिक प्रतिभूतियों का अभिगोपन (Underwriting) करने के लिए विशिष्ट संस्थायें उपलब्ध नहीं हैं, अतः यह कार्य भी प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा सम्पन्न होता है। इसलिए इनकी इन सेवाओं के सुपरिणामस्वरूप कम्पनी के अंश व ऋण-पत्र शीघ्र बिक जाते हैं जिससे उनको आसानी से पूँजी प्राप्त हो जाती है तथा जनता की निष्क्रिय विपुल धन राशि का भी उद्योगों में सदुपयोग हो जाता है।

(७) **विशेषज्ञों की उपलब्धता** (Experts are available)—वे अपने यहाँ तान्त्रिक व अनुभवी विशेषज्ञों की नियुक्ति करते हैं जिसके लाभ उनके नियन्त्रण में आई हुई सभी कम्पनियों को प्राप्त होते हैं।

(८) **प्रतिस्पर्धा का अन्त** (End of Competition)—एक ही प्रबन्ध-अभिकर्ता द्वारा नियन्त्रित कम्पनियों में प्रतिस्पर्धा का अन्त हो जाता है। इसके विपरीत उनमें सहयोग की भावना बढ़ती है, जिसके परिणामस्वरूप प्रबन्ध एवं व्यवस्था में मितव्ययिता तथा सुगमता आ जाती है।

(९) **आधुनिक भीमकाय उत्पादन का उद्गम** (Origin of large-scale Production)—आधुनिक भीमकाय उत्पादन के लाभ प्रबन्ध-अभिकर्ताओं द्वारा ही सम्भव हो सके हैं। इनके निरन्तर प्रयत्नों द्वारा बड़े-बड़े उद्योग एवं व्यवसायों का निर्माण हुआ और अपने अनुभव तथा परिश्रम से ये उनको उन्नति के शिखर पर पहुँचाने में सफल भी हुए हैं।

(१०) **अन्य लाभ**—प्रबन्ध-अभिकर्ताओं से सबसे अधिक लाभ नव निर्मित कम्पनियों को

हुआ है, क्योंकि जनता में उनके प्रति विश्वास उत्पन्न कराने का एकमात्र श्रेय उन्ही को दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इनके होने से भारतीय औद्योगिक इकाइयों में संयोग आन्दोलन (Combination Movement) को भारी प्रोत्साहन मिला है। इनके नियन्त्रण में रहने वाली कम्पनियो के बीच सहकारी भावना के उत्पन्न होने के कारण उनका आर्थिक संकट प्रायः समाप्त हो जाता है।

प्रवन्ध-अभिकर्ताओं के दोष

स्वर्गीय श्री के० टी० शाह (K T Shah) के मतानुसार, "प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली की जड, शाखाएं, बौर, पत्तियां और फल सब प्रकार से सड़ गये हैं और शीघ्रातिशीघ्र इसका विघटन कर देना चाहिए, ताकि इसको किसी भी दलील पर कायम रखे जाने का प्रश्न ही न उठ सके।" वास्तव मे प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली के अनेक दोष है, जिसके कुपरिणामस्वरूप सरकार ने समय-समय पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये है, जिसका विवेचन आगे किया गया है। इसके प्रमुख दोष इस प्रकार है :

(१) **आर्थिक प्रभुत्व** (Financial Dominance)—प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली मे प्राय: सभी उद्योगो के अन्तर्गत औद्योगिक प्रतिफल की अपेक्षा आर्थिक प्रभुत्व की ही महत्ता दिखाई देती है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रबन्ध-अभिकर्ता लोग अधिकतर पूंजीपति ही होते है जो तान्त्रिक योग्यता उतनी नही रखते, जितनी कि आर्थिक सहायता प्रदान कर सकते है। रोते हुए बच्चे को पुचकारने की भांति ये लोग सकट की अवस्था मे कम्पनी को केवल आर्थिक सहायता देकर उसमे पुनर्जीवन का सचार करते है। इस प्रकार जो कम्पनी एक बार इनके चंगुल मे फंस जाती थी, वह तब तक इनकी दासता से मुक्ति पाने का विचार मन मे नही ला सकती थी, जब तक कि उसका अन्त दिखलाई न देता हो।

[कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ के अनुसार उनकी इस प्रवृत्ति पर रोक लगा दी गई है।]

(२) **अंशों में अत्यधिक परिकल्पना** (Excessive Speculation in Shares)—ये लोग प्राय कम्पनी या अंशधारियों के हितो की ओर ध्यान न देते हुए अत्यधिक सट्टेबाजी मे व्यस्त हो जाते है। अपने हितो के लिए कम्पनी के धन की बलि चढ़ा देते हैं, जिससे कम्पनी को कभी-कभी महान् आर्थिक सकट का सामना करना पडता है। अपनी विशेष स्थिति के कारण लाभांश की दर कम अथवा अधिक करते है, जिसके कारण अश व स्कन्ध बाजार मे अशो का मूल्य इनकी इच्छानुसार कम या अधिक होता रहता है।

(३) **कम्पनी के साधनो का शोषण** (Exploitation of Companies Resources)—वे अनेक प्रकार से, जैसे—अत्यधिक पारिश्रमिक, भत्ता, कमीशन, पद-समाप्ति पर क्षतिपूर्ति तथा रिश्तेदारो को ऊँचे-ऊँचे पदो पर नियुक्त करके कम्पनी के आर्थिक साधनो का शोषण करने मे सफल हो जाते हैं। *कम्पनी की स्वतन्त्र आर्थिक नीति का तो गला ही घुट जाता है। इस प्रकार कम्पनी* के लाभ का बडा भाग, जिसे 'शेर का भाग' (Lion's Share) कह सकते हैं। प्रबन्ध अभिकर्ताओ की जेबों मे पहुँच जाता है एव जूठन-जाठन बेचारे अशधारियो को जाती है। कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ के अन्तर्गत उनकी इस प्रवृत्ति पर रोक लगा दी गई है।

(४) **संचालकीय नियन्त्रण में शिथिलता** (Slackness in Administration)—साधारणतया कम्पनी व्यवस्था अशधारियो द्वारा निर्वाचित सचालको द्वारा होनी चाहिए। किन्तु अभी तक सचालको की नियुक्ति मे प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का भारी हाथ रहा है। अतएव 'सचालक' प्रबन्ध-अभिकर्ताओ के इशारो पर कठपुतली की तरह नाचते हैं, क्योंकि उनको सदैव यह भय बना रहता है कि कम्पनी की व्यवस्था मे सक्रिय भाग लेने पर अपने पद से भी हाथ धोने की अवस्था आ सकती है। इस प्रकार सचालक अपने कर्तव्यो की उपेक्षा करके अभिकर्ताओ को प्रसन्न रखना अपना पावन कर्तव्य समझते हैं। अतएव कम्पनी के संचालन में शिथिलता आना स्वाभाविक ही है।

(५) **अयोग्य व्यवस्था** (Incompetent Management)—यह प्रणाली पुश्तैनी हो जाने से औद्योगिक-प्रबन्ध संचालक स्थिर जल की भांति सडने लगता है, क्योकि इसमे नये खून एवं प्रतिभा के प्रवेश करने की गुंजायश नही रहती। महत्वपूर्ण पदो पर सम्बन्धियो, मित्रो तथा

'विश्वस्तो" को नियुक्त किया जाता है। इस प्रकार **'बन्धु पक्षपात'** (Nepotism) **को वेदी पर प्रतिभा तथा दक्षता की बलि होती है।**

कच्चे माल, भण्डार तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ की खरीद प्रायः उन फर्मो से की जाती है जो सम्बन्धियो तथा मित्रो की होती है और क्रय किये गये सामान के लिए बाजार-मूल्य से अधिक मूल्य चुकाया जाता है और इस प्रकार उत्पादन-लागत भी अनुचित रूप मे अधिक हो जाती है।

(६) **अन्तर्विनियोग** (Inter-investment)—प्रबन्ध-अभिकर्ता अपने नियन्त्रित कम्पनियो के धन का विनियोग आपस मे एक-दूसरी कम्पनी मे कर देते है। इसमे दोनो कम्पनियों को हानि होती है, (अ) **विनियोक्ता (ऋण देने वाली) कम्पनी की दशा में**—जिस कम्पनी के धन का विनियोग दूसरी कम्पनी मे किया जाता है वह अनावश्यक रूप से आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली इकाई से शक्तिहीन इकाई बन जाती है। (ब) **विनियोग (ऋण लेने वाली) कम्पनी की दशा में**—यद्यपि धन प्राप्त होने से मुर्दा कम्पनी मे कुछ समय के लिए पुन जीवन आ जाता है, किन्तु यह जीवन अल्पकालीन ही होने के कारण वह कम्पनी शीघ्र आर्थिक सकट का शिकार बन जाती है। परिणामस्वरूप राष्ट्र की सम्पत्ति का दुरुपयोग होता है, क्योंकि आधुनिक प्रगतिशील युग में अनार्थिक इकाइयो का कोई भी महत्व नही है। यदि कोई उद्योग जीवित नही रह सकता तो उसका समाप्त हो जाना ही श्रेष्ठकर (Survival of the Fittest) होता है। सक्षेप मे, वे पूर्णत. दिवालिया कम्पनियां, जिन्हे समाप्त हो जाना चाहिए था, कुछ समय के लिए पुनर्जीवन प्राप्त कर लेती हैं। [नये अधिनियम (१९५६) के अन्तर्गत अन्तर्विनियोग पर रोक लगा दी गई है।]

(७) **अनुभवहीनता** (Lack of Experience)—प्राय प्रबन्ध-अभिकर्ता पूँजीपति तो होते है, किन्तु उनमें तान्त्रिक योग्यता व अनुभव का अभाव होता है, जिसके परिणामस्वरूप कम्पनी की व्यवस्था मे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते है।

(८) **पद का हस्तान्तरण** (Transfer of Office Trafficking)—प्रबन्ध-अभिकर्ताओ का महत्वपूर्ण दोष यह भी है कि वे लोग अपने पद को वस्तु की भाँति बेच देते है तथा अपने कार्यालय का भी किसी अन्य प्रबन्ध-अभिकर्ता को अधिकाधिक धन-राशि लेकर हस्तान्तरित कर देते हैं। ये लोग ऐसा करते समय अंशधारियो के हितो का तो किंचित् ख्याल नही करते है। **बॉम्बे शेयर होल्डर्स एसोसियेशन के १९४६ के स्मरण-पत्र के** अनुसार, लगभग ५० औद्योगिक कम्पनियो का, जिनमें करोडो रुपये की पूँजी तथा सचित कोष की राशि थी, हस्तान्तरण हुआ और अंशधारियों को क्रेताओ की मर्जी पर छोड दिया गया।

[अब कम्पनी अधिनियम (१९५६) के अनुसार, इस प्रकार का हस्तान्तरण बिना कम्पनी की सामान्य सभा (General Meeting) तथा केन्द्रीय सरकार की अनुमति के नही हो सकती है।]

(९) **गोपनीयता का अन्त** (End of Secrecy)—इनके अधीन अनेक कम्पनियाँ रहती हैं। अतएव इनका कार्य-भार तो बढता ही है साथ मे कम्पनियों की व्यापारिक गोपनीयता भी पूर्ण रूप मे समाप्त हो जाती है।

(१०) **कम्पनी के धन का दुरुपयोग** (Misuse of Funds)—प्रबन्ध-अभिकर्ता विभिन्न प्रकार से अपने अधीन कम्पनियो के धन का दुरुपयोग करते है। उदाहरणार्थ अपने मित्रों को व्यावसायिक प्रवृत्ति, ऋण व अग्रिम (Loans and advances) देना, अपने नाम से चालू खाता खोलना, अन्य कम्पनियो मे मतो का बहुमत (Majority of Votes) प्राप्त करने के लिए कम्पनी के धन का विनियोग करना, कमीशन प्राप्त करने के लिए अनावश्यक पूँजीगत खर्च करना आदि।

[कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ के अनुसार इन पर पर्याप्त प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं।]

(११) **अन्य दोष**—(अ)उद्योग तथा बैंकिंग प्रणाली के बीच स्थिर सम्बन्धो की प्रगति मे भी इन्होने बाधा पहुँचाई है, क्योंकि बैंक सदैव इन्ही की गारन्टी पर ऋण देते हैं। (ब) सदैव अपने द्वारा व्यवस्थित कम्पनी पर सम्पूर्ण तथा तानाशाही नियन्त्रण रखते है। (स) वित्त ने सेवक का स्थान छोड कर स्वामी का स्थान ग्रहण कर लिया है।

प्रबन्धक तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता में अन्तर

प्रबन्धक तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता दोनो नाम आपस में काफी मिलते-जुलते हैं। दोनो ही सचालक-मण्डल के प्रशासनिक नियन्त्रण में कार्य करते हैं। इतना होते हुए भी दोनो मे भारी अन्तर है, जोकि निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया गया है :

क्रम-संख्या	अन्तर का आधार	प्रबन्धक	प्रबन्ध-अभिकर्त्ता
१	व्यक्ति	प्रबन्धक के पद पर केवल व्यक्ति ही रह सकता है।	प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के पद पर व्यक्ति, फर्म या कम्पनी की नियुक्ति हो सकती है।
२.	पारिश्रमिक की दर	इन्हे अधिक से अधिक शुद्ध लाभ का ५ प्रतिशत पारिश्रमिक मिल सकता है। इसे केन्द्रीय सरकार द्वारा बढाया भी जा सकता है।	इन्हे अधिक से अधिक शुद्ध लाभ का १० प्रतिशत तक मिल सकता है।
३.	पद का हस्तान्तरण	यह अपने पद का हस्तान्तरण नही कर सकता।	यदि कम्पनी की साधारण सभा व केन्द्रीय सरकार की अनुमति हो तो यह अपने पद का हस्तान्तरण भी कर सकता है।
४.	माहवारी पारिश्रमिक	यह अपना पारिश्रमिक माहवारी भी ले सकता है।	इसे माहवारी पारिश्रमिक नही मिलता है।
५.	अनुबन्ध द्वारा नियुक्ति	इसके लिए यह आवश्यक नही है कि इसको नियुक्ति अनुबन्ध के द्वारा हो।	इसकी नियुक्ति सदैव अनुबन्ध के अधीन ही होती है।

कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ के अनुसार प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं पर वैधानिक प्रतिबन्ध

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता पर उचित नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ मे महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। इन परिवर्तनो का मुख्य उद्देश्य गत २० वर्षों मे प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ मे जो दोष उत्पन्न हो गये हैं, उन्हे दूर करना तथा इनके अत्याचारो से अंशधारियो एव जनता की रक्षा करना था। प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ पर लगाये गये महत्वपूर्ण प्रबन्ध निम्नलिखित हैं ·

(१) नियुक्ति—प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की नियुक्ति के सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं:

(अ) केन्द्रीय सरकार किसी विशेष वर्ग के उद्योगो व व्यवसायो की कम्पनियों को सूचित करके रोक लगा सकती है कि निश्चित तिथि के ३ वर्ष पश्चात् अथवा १५ अगस्त १९६० के बाद (जो भी तिथि बाद मे हो) वे कोई प्रबन्ध-अभिकर्त्ता न रख सकेंगे, अर्थात् प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली समाप्त हो जायगी। [धारा ३२४]

(ब) कोई भी कम्पनी जोकि किसी अन्य कम्पनी के प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के रूप मे कार्य कर रही है, अपने लिए प्रबन्ध-अभिकर्त्ता नियुक्त नही कर सकी है। इसी प्रकार एक कम्पनी जिसका कोई प्रबन्ध-अभिकर्त्ता है, किसी अन्य कम्पनी को प्रबन्ध-अभिकर्त्ता नही बन सकती।

[धारा ३२५]

(स) यदि किसी कम्पनी पर उपरोक्त प्रतिबन्ध लागू नही होते हैं तो उसमें प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति हो सकती है; ऐसी नियुक्ति या पुनर्नियुक्ति उसी समय वैध

होगी जब वह साधारण सभा मे पास किये गये प्रस्ताव पर तथा केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त होने पर की गई हो।

केन्द्रीय सरकार अनुमति उसी समय देगी जब कि :—(i) ऐसी नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति सार्वजनिक हित मे हो; (ii) प्रस्ताविक प्रवन्ध-अभिकर्त्ता ऐसी नियुक्ति के लिए योग्य हो तथा उनकी समझौते की शर्ते उचित व न्यायसगत हो, तथा (iii) ऐसे प्रवन्ध-अभिकर्त्ता ने केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित नियमो का पालन किया हो। [धारा ३२६]

(२) **प्रबन्ध-अभिकर्त्ता का कार्यकाल** (Term of office)—इस अधिनियम के लागू होने के उपरान्त कोई भी कम्पनी प्रवन्ध-अभिकर्त्ता की नियुक्ति (प्रथम नियुक्ति की दशा मे) अधिकतम् १५ वर्ष के लिए तथा पुनर्नियुक्ति १० वर्ष की अवधि के लिए कर सकती है। परन्तु पुनर्नियुक्ति उसी समय हो सकती है जब कि वर्तमान अवधि की समाप्ति में केवल २ वर्ष शेष हों। यदि केन्द्रीय सरकार कम्पनी के हित मे आवश्यक समझे तो इससे पूर्व भी वह पुनर्नियुक्ति के लिए आज्ञा दे सकती है। [धारा ३२८]

(३) **प्रबन्ध-अभिकर्त्ता समझौते में परिवर्तन**—प्रबन्ध-अभिकर्त्ता समझौते की शर्तों मे परिवर्तन उसी समय हो सकता है जब उसके बारे मे कम्पनी की साधारण सभा मे प्रस्ताव स्वीकृत हो गया हो तथा केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति प्राप्त हो गई हो। [धारा ३२९]

(४) **वर्तमान प्रबन्ध-अभिकर्त्ता**—एक अप्रैल सन् १९५६ को जिन कम्पनियो मे प्रबन्ध-अभिकर्त्ता हैं, उनकी अवधि (यदि पहले समाप्त नही होती है) तो १५ अगस्त १९६० को अपने आप समाप्त हो जायगी। यदि इस तिथि स पूर्व इस अधिनियम के अनुसार उनकी पुनर्नियुक्ति हो जाय, तो बात दूसरी है। [धारा ३३०]

(५) **प्रबन्धित कम्पनियो की सख्या पर प्रतिबन्ध**—१५ अगस्त १९६० के बाद कोई प्रबन्ध-अभिकर्त्ता १० से अधिक कम्पनियो का प्रबन्ध अभिकर्त्ता नही रह सकता है। यदि कोई व्यक्ति इस नियम का उल्लघन करता है तो केन्द्रीय सरकार उसको केवल उन १० कम्पनियो का प्रबन्ध-अभिकर्त्ता रहने दे सकती है जिन्हे वह (केन्द्रीय सरकार) निर्धारित कर। इन १० कम्पनियो की गणना करते समय निम्न को छोड दिया जायगा (अर्थात् शामिल नहीं किया जायगा) —(अ) एक निजी कम्पनी जो किसी सार्वजनिक कम्पनी की सहायक अथवा सूत्रधार (Holding) कम्पनी नही है। (ब) एक असीमित दायित्व वाली कम्पनी। (स) एक ऐसी कम्पनी जिसका उद्देश्य लाभोपार्जन नही है। [धारा ३३२]

(६) **प्रबन्ध-अभिकर्त्ता का स्थान रिक्त होना** (Vacation of Office)—निम्नलिखित अवस्थाओ मे प्रबन्ध-अभिकर्त्ता का स्थान रिक्त माना जायगा —(अ) यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता कोई व्यक्ति (Individual) है तो उसके दिवालिया घोषित होने पर अथवा दिवालिया घोषित होने के लिए प्रार्थना-पत्र देने पर। (ब) यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता कोई फर्म है तो उसके किसी भी कारण से भङ्ग होने पर। (स) यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई कम्पनी है तो उसके समापन की कार्यवाही आरम्भ होने पर (द) यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की सम्पत्ति पर किसी न्यायालय द्वारा या उसके लेनदारो द्वारा या उनको ओर से कोई प्रापक (Receiver) नियुक्त कर दिया जाय तो वह कम्पनी के प्रबन्ध-अभिकर्त्ता पद से मुअत्तिल (Suspend) समझा जायेगा। (य) यदि उसे किसी अभियोग मे कम से कम ६ महीने के कारावास का दण्ड मिला हो। [धारा ३३४ से ३३६ तक]

(७) **प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को हटाना अर्थात् पदच्युत करना** (Removal of a Managing Agent)—एक कम्पनी साधारण सभा मे साधारण प्रस्ताव के द्वारा अपने प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को निम्न कारणों पर हटा सकती है

(अ) कम्पनी अथवा इसकी सहायक या सूत्रधारी कम्पनी के मामलो के सम्बन्ध मे कपट या प्रन्यास-भङ्ग (Fraud or Breach of Trust) होने पर।

(ब) किसी अन्य कम्पनी के मामलो के सम्बन्ध मे कपट अथवा प्रन्यास भङ्ग होने पर (बशर्ते ऐसा आरोप किसी भारतीय अथवा विदेशी न्यायालय द्वारा प्रमाणित हो जाय)।

(स) यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता एक फर्म या कम्पनी है और इसका कोई साझेदार या संचालक किसी कपट या प्रन्यास-भङ्ग का दोषी ठहराया जाता है। [धारा ३३७]

(द) एक कम्पनी अपनी साधारण सभा में विशेष प्रस्ताव द्वारा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को कम्पनी या उसकी सहायक कम्पनी के कार्यों मे अत्यधिक लापरवाही (Gross Negligence) या कुप्रबन्ध (Mis-management) करने पर हटा सकती है। [धारा ३३८]

(८) **पारिश्रमिक तथा पुरस्कार**—१ अप्रैल १९५६ या इसके बाद आरम्भ होने वाले किसी भी आर्थिक वर्ष में कोई भी सार्वजनिक कम्पनी अथवा निजी कम्पनी जो किसी सार्वजनिक कम्पनी की सहायक कम्पनी है, अपने प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को उस वर्ष के शुद्ध लाभ के १०% से अधिक पारिश्रमिक के रूप मे नही दे सकती है। यदि किसी वर्ष में लाभ न हुए हों अथवा अपर्याप्त हो, तो न्यूनतम पुरस्कार ५०,००० रु० तक निश्चित किया जा सकता है। यह राशि विशेष प्रस्ताव द्वारा तथा केन्द्रीय सरकार की अनुमति से बढ़ायी भी जा सकती है।

[धारा १९८, ३४८ तथा ३५२]

[इस सम्बन्ध मे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कम्पनी द्वारा उन संचालकों, प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ, सचिवो तथा कोषाध्यक्षों को दिया हुआ कुल पारिश्रमिक या पुरस्कार कम्पनी के शुद्ध लाभ के ११% से अधिक नही होगा। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को कार्यालय-भत्ता (Office Allowance) नही दिया जायगा।]

(९) **पद का हस्तान्तरण (Transfer of Office)**—प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अपने पद का हस्तान्तरण बिना कम्पनी की साधारण सभा तथा केन्द्रीय सरकार की अनुमति के नहीं कर सकता है। [धारा ३४३]

(१०) **पद पैतृक (Heritable) नहीं है**—प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के साथ किया गया कोई भी समझौता जिसके अनुसार पद का पैतृक सम्पत्ति के रूप में हस्तान्तरण किया जाना हो, व्यर्थ (Void) होता है। [धारा ३४४]

(११) **अधिकारों पर प्रतिबन्ध**—प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अपने अधिकारो का प्रयोग प्रबन्धित कम्पनी की संचालक सभा के निरीक्षण, नियन्त्रण, सीमानियम तथा अन्तर्नियम के आधार पर ही कर सकेंगे। [धारा ३६८]

कम्पनी अधिनियम के अनुसार एक प्रबन्ध-अभिकर्त्ता संचालक-सभा की पूर्व स्वीकृति के बिना निम्न अधिकारो का प्रयोग नही कर सकता :—(अ) किसी व्यक्ति को कम्पनी का प्रबन्धक नियुक्त करना। (ब) अपने किसी सम्बन्धी को कर्मचारी नियुक्त करना। (स) किसी कर्मचारी को सभा द्वारा निर्धारित सीमाओ से अधिक पारिश्रमिक पर नियुक्त करना। (द) ऐसी परिस्थितियो के अतिरिक्त जोकि सचालक-सभा द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर है, पूँजीगत सम्पत्ति का क्रय या विक्रय करना। (य) अपने विरुद्ध कम्पनी के किसी दावे की रकम को कम करना या इसके भुगतान के लिए अवधि बढ़ाना। (र) अपने या अपने सहयोगियो द्वारा कम्पनी के विरुद्ध किये गये किसी दावे मे समझौता करना।

(१२) **प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को ऋण**—कोई भी सार्वजनिक और निजी कम्पनी जो उसकी सहायक कम्पनी हो, अपने प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को ऋण नही दे सकती है, किन्तु संचालको की अनुमति से प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के नाम में चालू खाता (Current Account) कम्पनी के व्यवसाय के सम्बन्ध मे खोला जा सकता है जिसमे अधिकतम राशि २०,००० रु० तक की हो सकती है। [धारा ३६९]

(१३) **एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत ऋण देना**—यदि ऋण लेने वाली तथा ऋण देने वाली दोनों कम्पनियाँ एक ही प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के अन्तर्गत है तो ऋण देने वाली कम्पनी उसी समय ऋण दे सकती है, जब उस कम्पनी के अंशधारियो ने विशेष प्रस्ताव द्वारा स्वीकृति प्रदान कर दी हो। [धारा ३७०]

यदि प्रतिबन्ध निम्न दशाओं मे लागू नही होगा :—(अ) यदि सूत्रधार (Holding)

कम्पनी द्वारा अपनी सहायक कम्पनी को ऋण दिया गया हो; तथा (ब) यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता ने अपने निजी साधनों से अपनी किसी प्रबन्धित कम्पनी को ऋण दिया हो।

(१४) अन्तर्विनियोग पर प्रतिबन्ध—कोई भी कम्पनी एक ही प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के अन्तर्गत प्रबन्धित कम्पनी के अंश अथवा ऋण-पत्र अपनी आर्थिक पूँजी (Subscribed Capital) के १०% तक क्रय कर सकती है, किन्तु शर्त यह है कि इस प्रकार ऐसी कम्पनियों में किया गया कुल विनियोग विनियोक्ता कम्पनी की कुल पूँजी के २०% से अधिक नहीं होना चाहिए। यदि इस सीमा से अधिक विनियोग करना हो तो विनियोक्ता कम्पनी की साधारण सभा में इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव स्वीकृत होना चाहिए तथा केन्द्रीय सरकार की अनुमति भी होनी चाहिए।

यह प्रतिबन्ध निम्न पर लागू नहीं होगा —(अ) एक बैंकिंग कम्पनी, (ब) बीमा कम्पनी, (स) निजी कम्पनी (जो किसी सार्वजनिक कम्पनी की सहायक नहीं है) (द) एक सूत्रधारी कम्पनी द्वारा अपनी सहायक कम्पनी में किये गये विनियोग, (य) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता, सचिव या कोषाध्यक्ष द्वारा अपनी किसी प्रबन्धित कम्पनी में किये गये विनियोग। [धारा ३७२]

(१५) कम्पनी से प्रतियोगी (Competitive) व्यवसाय पर रोक—अपने निजी लाभ के लिए कोई भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता ऐसा व्यापार नहीं कर सकता है जोकि कम्पनी के व्यापार के साथ प्रतिस्पर्धाजनक अर्थात् प्रतियोगिता करता हो। इस तरह का व्यापार तभी किया जा सकता है जबकि कम्पनी विशेष प्रस्ताव द्वारा ऐसा करने की अनुमति दे दे। निम्न दशाओं में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अपने नाम से व्यवसाय करता हुआ माना जायेगा :—(अ) यदि ऐसा व्यापार किसी फर्म द्वारा चलाया जाता है जिसमें प्रबन्ध-अभिकर्त्ता साझेदार है। (ब) यदि ऐसा व्यापार किसी निजी कम्पनी द्वारा चलाया जाता है जिसमें वह २०% अथवा इससे अधिक अंश पर मताधिकार रखता हो। (स) यदि ऐसा व्यापार किसी ऐसी समामेलित संस्था (जो एक निजी कम्पनी नहीं है) द्वारा चलाया जाता है जिसकी सामान्य सभा में कम से कम ७०% मतों पर प्रबन्ध-अभिकर्त्ता का अधिकार हो।

(१६) कम्पनी के पुनर्संङ्गठन (Reconstruction) अथवा एकीकरण (Amalgamation) पर रोक—यदि कम्पनी के पार्षद-सीमानियम या अन्तर्नियम में कोई ऐसा आयोजन है या कम्पनी की साधारण सभा में अथवा संचालक सभा में कोई ऐसा प्रस्ताव स्वीकृत हुआ है अथवा कम्पनी और प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के बीच कोई ऐसा समझौता हुआ है जिसके द्वारा कम्पनी के पुनर्संङ्गठन या एकीकरण पर रोक लगाई गई है, तो ऐसा आयोजन, अनुबन्ध तथा समझौता व्यर्थ होगा।

[धारा ३७६]

(१७) संचालकों की नियुक्ति के अधिकार पर प्रतिबन्ध—साधारणतया प्रबन्ध अभिकर्त्ता केवल एक संचालक नियुक्त कर सकते हैं, यदि संचालकों की कुल संख्या पाँच से अधिक हो, तो उस अवस्था में वे दो संचालक नियुक्त कर सकते हैं। [धारा ३७७]

(१८) विक्रय पर कमीशन देना—यदि कम्पनी द्वारा उत्पादित वस्तुयें, उत्पादन के स्थान अथवा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के प्रमुख कार्यालय अथवा भारत के किसी स्थान से बिकती हों तो ऐसे विक्रय पर प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अथवा उसके सहयोगी को कोई कमीशन या पारिश्रमिक नहीं दिया जायगा।

यदि वस्तुयें देश के बाहर बेची गई हैं तो निम्न शर्तों के आधार पर ऐसा कमीशन दिया जा सकता है :—(अ) यदि विदेश में, जहाँ वस्तुओं का विक्रय किया गया है, प्रबन्ध-अभिकर्त्ता या उसके सहयोगी का कार्यालय हो। (ब) इस बिक्री के लिए कमीशन विशेष प्रस्ताव द्वारा स्वीकार किया गया हो। (स) इस कार्य के लिए उसे किसी रूप में खर्चा न मिलता हो। (द) इस पद (विक्रय अभिकर्त्ता) पर नियुक्ति ५ वर्ष से अधिक अवधि के लिए न हुई हो। (य) प्रस्ताव में नियुक्ति की शर्तों का समावेश हो। (र) नियुक्ति की शर्तें एक पृथक रजिस्टर में लिखी हों। [धारा ३५६]

(१९) क्रय कमीशन देना—यदि कम्पनी के लिए माल का क्रय देश के अन्दर किया गया हो तो कम्पनी के प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अथवा उसके सहयोगी को उस पर कमीशन या पारिश्रमिक नहीं मिलेगा, परन्तु वह वास्तविक खर्चों को पाने का अधिकारी है।

यदि वस्तुएँ देश के बाहर से क्रय की गई हो, तो वह निम्न शर्तों के आधार पर कमीशन प्राप्त कर सकता है —(अ) यदि विदेश मे, जहाँ वस्तुओं का क्रय होता है, उसका कार्यालय हो। (ब) क्रय के लिए कमीशन विशेष प्रस्ताव द्वारा स्वीकार कर लिया गया हो। (स) विशेष प्रस्ताव की अवधि तीन वर्ष से अधिक के लिए न हो। (द) प्रस्ताव पृथक् रजिस्टर में लिखा गया हो।

[धारा ३५८]

(२०) **कम्पनी तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अथवा उसके सहयोगी के बीच समझौता**—प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अथवा सहयोगी तथा प्रबन्धित कम्पनी के बीच क्रय-विक्रय, अंश और ऋण पत्रों के अभिगोपन तथा सेवा करने के बारे में अनुबन्ध हो सकता है। किन्तु इस दिशा मे अनुबन्ध वैध होने के लिए कम्पनी से विशेष प्रस्ताव द्वारा स्वीकृति होनी चाहिए।

प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की क्षति-पूर्ति (Compensation for Managing Agents) :

क्षतिपूर्ति का अधिकारी होना—यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अवधि से पहले हटाया जाय तो वह अपनी क्षति-पूर्ति कराने का अधिकारी हो जाता है, किन्तु अनुभव से ज्ञात हुआ है कि अयोग्य प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को अवैधानिक लाभ प्राप्त होते है। अत कम्पनी अधिनियम १९५६ के अनुसार कोई भी कम्पनी निम्नलिखित दशाओं में प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को उनके पद की हानि के लिए कोई भी क्षति-पूर्ति नही करेगी

(१) कम्पनी के पुनर्निर्माण अथवा एकीकरण होते समय यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता त्याग-पत्र दे देता है और उसकी नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति इस नवीन संस्था के प्रबन्ध-अभिकर्त्ता, सचिव, कोषाध्यक्ष, प्रबन्ध या अन्य अधिकारी के पद पर हो जाती है।

(२) जब वह किसी अन्य कारण से पद-त्याग करे।

(३) जब केन्द्रीय सरकार द्वारा उसको हटाया जाय अथवा उसका कार्यकाल १५ अगस्त सन् १९६० तक समाप्त हो जाय अथवा १० कम्पनियों से अधिक को नियन्त्रण मे रखने का अधिकार न हो।

(४) जब वह दिवालिया घोषित हो गया हो अथवा उसके लिए प्रार्थना-पत्र दिया हो अथवा उसका फर्म भंग हो गया हो।

(५) जब उसके लिए स्थान रिक्त करना (Vacation of Office) आवश्यक हो।

(६) जब वह विश्वास-भग अथवा कपट के कारण प्रस्ताव द्वारा हटा दिया गया हो।

(७) जबकि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को उसके पद से ग्रापक (Receiver) की नियुक्ति हो जाने से मुअत्तिल (Suspend) मान लिया हो।

(८) जबकि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता ने स्वयं अपने पद की समाप्ति के लिए प्रेरणा दी हो अथवा प्रयत्न किया हो।

क्षति पूर्ति की अधिकतम मात्रा—प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को क्षति-पूर्ति उसी धन-राशि तक हो सकती है जो उसे अपने शेष कार्यालय मे अथवा ३ वर्ष के अन्दर (जो भी कम हो) मिलती हो। इस क्षति-पूर्ति का निर्धारण करते समय उसके द्वारा गत ३ वर्षो मे अर्जित औसत लाभ को आधार माना जायेगा, परन्तु प्रबन्ध-अभिकर्त्ता का पद समाप्त होने के पहले या बाद मे किसी भी समय १२ महीने के अन्दर कम्पनी के अन्त होने की कार्यवाही शुरु हो जाती है अथवा कम्पनी का अन्त हो जाता है और यदि कम्पनी की शेष सम्पत्ति अंश-पूँजी की वापसी के लिए अपर्याप्त है तो प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को क्षति-पूर्ति की राशि नही मिलेगी। [धारा ३६६]

कम्पनी अधिनियम संशोधित समिति (१९५७)

कम्पनी अधिनियम सन् १९५६ की आलोचनायें व्यापारीगण, कम्पनी प्रबन्धक वर्ग, अंशधारियों तथा जन-साधारण द्वारा की गई। आलोचनाओ की सत्यता की जाँच के लिए मई १९५७ में श्री ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री की अध्यक्षता मे एक 'एडहॉक' (Adhoc) समिति की स्थापना की गई। समिति ने अपनी रिपोर्ट नवम्बर सन् १९५७ मे प्रस्तुत की। समिति ने कम्पनी

अधिनियम को अधिक सुविधापूर्वक लागू करने के लिए तथा इस काल में अनुभव की गई कठिनाइयों को दूर करने के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किए। समिति ने इस बात की ओर भी संकेत किया कि सरकार ने अभी तक प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के भविष्य के सम्बन्ध में एक निश्चित नीति नहीं बनाई है। अतएव यह परम आवश्यक है कि सरकार शीघ्र एक निश्चित नीति बना ले ताकि बाद में कोई कठिनाई उत्पन्न न हो।

दिसम्बर १९५८ में लोक सभा में कुछ सदस्यों ने इस प्रश्न को पुन उठाया और बहुत से सदस्यों ने **'डिपार्टमेन्ट ऑफ कम्पनी लॉ एडमिनिस्ट्रेशन'** (Department of Company Law Administration) बनाने का सुझाव दिया, ताकि सार्वजनिक सीमित दायित्व वाली कम्पनियों पर उचित नियन्त्रण रखा जा सके। कुछ सदस्यों ने कम्पनी के प्रबन्ध में और सुधारों पर जोर दिया। परिणामस्वरूप, वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्री ने शीघ्र ही कम्पनी अधिनियम में संशोधन करने का वायदा किया।

संशोधित कम्पनी अधिनियम सन् १९६० के अनुसार महत्त्वपूर्ण प्रतिबन्ध

(१) **नियुक्ति**—कोई भी कम्पनी किसी समामेलित संस्था को जोकि स्वयं अथवा किसी अन्य कम्पनी की सहायक कम्पनी हो, प्रबन्ध अभिकर्त्ता के रूप में नियुक्त नहीं कर सकेगी।

[धारा ३२५-A]

(२) **पद का हस्तान्तरण**—प्रबन्ध-अभिकर्त्ता बिना कम्पनी की सभा में प्रस्ताव स्वीकृत हुए तथा केन्द्रीय सरकार की अनुमति के अपने पद का हस्तान्तरण नहीं कर सकेगा। इसका उल्लंघन करने पर हस्तान्तरणकर्त्ता तथा जिसको हस्तान्तरण किया गया हो और यदि प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई फर्म (Firm) हो तो उसका प्रत्येक साझेदार तथा जहाँ पर प्रबन्ध-अभिकर्त्ता कोई समामेलित संस्था हो तो उसका प्रत्येक संचालक ६ महीने तक का कारावास अथवा ५,००० रु० तक का आर्थिक दण्ड (Fine) अथवा दोनों का भागी होगा।

[धारा ३४३]

(३) **पारिश्रमिक**—अक्टूबर १९५९ को सरकार ने प्रबन्ध अभिकर्त्ता के पारिश्रमिक के लिए यह निश्चय किया कि उनको कमीशन निम्नलिखित दर से दिया जाय

धन राशि			कमीशन की दर
प्रथम	लाख	रु० अथवा इससे कम के शुद्ध लाभ पर	
अगले	१०	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	१०%
,,	१०	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	९%
,,	१०	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	८%
,,	१०	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	७%
,,	२४	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	६%
,,	२५	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	५$\frac{1}{3}$%
१ करोड़ रु० या इससे ऊपर की राशि पर		,, ,, ,, ,,	५%
			४%

सरकार इस बात का भी निर्णय करेगी कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता तथा कम्पनी के बीच जो समझौता हुआ है, वह उचित है या नहीं और उनको जो पारिश्रमिक दिया जा रहा है वह ऊपर दी गई तालिका के अनुसार है अथवा नहीं।

(४) **माल के क्रय-विक्रय अथवा सेवाओं की पूर्ति के सम्बन्ध में अनुबन्ध**—यदि माल के क्रय-विक्रय अथवा सेवाओं की पूर्ति के सम्बन्ध में अथवा कम्पनी द्वारा निर्गमित अंशों या ऋण-पत्रों के अभिगोपन के सम्बन्ध में, कम्पनी तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता या उसके सहयोगी के बीच कोई अनुबन्ध हुआ हो तो वह अनुबन्ध तब तक लागू नहीं होगा जब तक कि (अ) कम्पनी की सभा में उसके लिए कोई विशेष प्रस्ताव स्वीकार न हो तथा यदि वह अनुबन्ध सेवाओं की पूर्ति के सम्बन्ध में है तो केन्द्रीय सरकार की अनुमति मिलना आवश्यक है।

[धारा ३६०]

(५) **संचालक मण्डल के चेयरमैन की नियुक्ति पर प्रतिबन्ध**—यद्यपि प्रबन्ध अभिकर्त्ता अधिकतम दो संचालको की नियुक्त कर सकते है, किन्तु उनमे से सचालक-मण्डल के चेयरमैन की नियुक्ति नही कर सकते। [धारा ३७७]

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता जॉच आयोग को रिपोर्ट

(Managing Agency Inquiry Commission Report)

४ जनवरी, १९६५ को भारत सरकार ने कम्पनी अधिनियम की धारा ३२४ के अन्तर्गत **डा० थाई० जो० पटेल** (भारत सरकार के प्रमुख आर्थिक सलाहकार) की अध्यक्षता मे एक **प्रबन्ध अभिकर्त्ता जाँच आयोग** की नियुक्ति की। इस आयोग के अन्य सदस्य सर्व श्री के० एल० घेई, बी० एन० अदारकर, के० बी० राव और बोहरा थे। इस आयोग का कार्य क्षेत्र **कम्पनी अधिनियम, १९५६ की धारा १२४ (२)** को अपनाये जाने के सम्बन्ध मे जॉच करना एव रिपोर्ट देना तथा इस सम्बन्ध मे अन्य कार्य करना था। आयोग ने अपना कार्य जाँच उद्योग—(i) सीमेंट, (ii) सूती वस्त्र, (iii) कागज, (iv) चीनी, तथा (v) जूट वस्त्र को जाँच से शुरू किया। विस्तृत जाँच के पश्चात् समिति ने अपनी रिपोर्ट दिनाक १६ मार्च, १९६६ को भारत सरकार के समक्ष प्रस्तुत की। आयोग ने यह सिफारिश की कि सूती वस्त्र, चीनी तथा सीमेन्ट उद्योग मे से प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त कर दिया जाना चाहिए, तथा जूट वस्त्र और कागज उद्योग मे इसे समाप्त करने के लिए उचित समय दिया जाना चाहिए, **किन्तु सरकार ने आयोग की सिफारिशों से भी आगे बढ़कर यह निश्चय किया है कि इन पांचो उद्योगो मे प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त कर दिया जायगा।** इस सम्बन्ध मे केन्द्रीय कानून मन्त्री ने यह घोषणा की कि कानून सम्बन्धी आवश्यक कार्यवाहियो की पूर्ति के पश्चात् इन पाँच उद्योगो मे से प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली के समाप्त किये जाने के सम्बन्ध मे शीघ्र विज्ञप्ति जारी कर दी जायगी।

[सन् १९६७ मे जारी की गई एक विज्ञप्ति के अनुसार उपरोक्त पांच उद्योगो में से प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त कर दिया गया है।]

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता का भविष्य

(Future of Managing Agents in India)

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के भविष्य एव अस्तित्व के सम्बन्ध मे कोई निश्चित घोषणा नही बनाई जा सकती है। जबसे इसने भारतीय औद्योगिक सगठन मे अपना अस्तित्व सुदृढ किया तभी से **"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना"** नामक अकाट्य सिद्धान्त के आधार पर भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए गये है। समय-समय पर अनेक कमीशनो, प्रशुल्क कमीशन, आयकर जाँच आयोग, योजना आयोग, कम्पनी कानून समिति आदि ने इस समस्या की ओर सकेत किया है। कुछ विद्वानो ने, जैसे **राष्ट्रीय योजना आयोग** ने यह सुझाव दिया है कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को पूर्णतया समाप्त कर देना चाहिए। **श्री अशोक मेहता** के अनुसार, देश की ६०% औद्योगिक पूँजी पर केवल १० व्यक्तियों ने अपना अधिकार जमा रखा है। अतएव पूँजीवादी रूपी इस किले को फौरन तोडना राष्ट्र के लिए हितकर होगा। इस विचारधारा के विपरीत बम्बई के **मिल मालिक संघ** का कहना है कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की आवश्यकता इसलिए अनुभव की जा रही है कि देशो में बैंको की वर्तमान स्थिति को देखते हुए व्यवसाय चालू करने के लिए अंश-पूँजी का मिलना कठिन है। देश मे पूँजी का भारी अभाव है। रही-सही पूँजी को सरकार जनता से हर सम्भव साधनो के द्वारा अपनी ओर खीच रही है। उधर प्रत्येक देश मे सफल औद्योगीकरण के हेतु कुशल व्यक्तियो की आवश्यकता होती है जिनका कि देश मे भारी अभाव है। उपर्युक्त दोनो बातें हमारी वर्तमान प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली में विद्यमान है। अतएव इनका हटाया जाना देश के उद्योगो पर भारी कुठाराघात होगा। **कम्पनी कानून समिति** का विचार था कि "तमाम दोषो तथा खराबियो के होते हुए भी देश के वर्तमान औद्योगिक सगठन के लिए इस प्रणाली के ऊपर निर्भर रहना लाभकारी सिद्ध होगा।" भूतपूर्व केन्द्रीय वित्तमन्त्री **श्री सी० डी० देशमुख** ने भी ऐसा ही विचार प्रकट किया था। उनके अनुसार, "प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली को अभी समाप्त करने का समय नही आया है।........यदि हम प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त कर देना चाहते हैं तो देश के

औद्योगिक संगठन को भारी क्षति पहुंचेगी।" अनेक अन्य विद्वानों ने भी यही मत प्रकट किया है कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली को न डूबने दिया जाय, अन्यथा औद्योगिक जगत के इस दीपक के बुझ जाने पर हमारे उद्योगों में सदा के लिये अंधकार छा जायगा।

इसमें तनिक भी शंका नहीं है कि अतीत में इस प्रणाली के अनेक दोष रहे हैं और भ्रष्टाचार के लिये भी अपार क्षेत्र रहा है, जिसके कारण सरकार को बाध्य होकर इस प्रणाली के दोषों को समाप्त करने तथा उस पर उचित नियन्त्रण स्थापित करने के लिए क्रमश: सन् १९५६ व १९६० के कम्पनी अधिनियम में आवश्यक संशोधन करने पड़े। सरकार ने इस प्रकार का सक्रिय कदम उठाकर वास्तव में अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है, जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक विकास के लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो गया है।

आज भारत माता इनसे बलिदान की मांग करती है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता व्यावसायिक कुशलता का एक ऊंचा स्तर, ईमानदारी की भावना, जन-सेवा का आदर्श, त्याग तथा स्वार्थहीनता का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करें जिससे इनके प्रति समस्त बुरी भावनाओं का स्वत: विनाश हो जाय तथा सरकार व जनता दोनों प्रभावित होकर पुन: इनको औद्योगिक क्षेत्र में उचित स्थान प्रदान करने के लिए एक साथ लालायित हो उठें। आशा है, प्रबन्ध-प्रणाली इस परीक्षण में शुद्ध सोने की भाँति खरी उतरेगी।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का अनिवार्य समापन

भारत की संसद ने १६ मई १९६९ को कम्पनी संशोधित विधेयक पर अपनी स्वीकृति प्रदान करदी। इस विधेयक की महत्त्वपूर्ण बातें निम्नलिखित हैं :

१. ३ अप्रैल, १९७० से प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली की समाप्ति समझी जायेगी। यह तिथि इनकी समाप्ति की रेखा है।

२. कम्पनियों द्वारा राजनैतिक दलों को चन्दा दिये जाने पर रोक लगा दी गयी है। अब कोई भी कम्पनी किसी भी राजनैतिक दल को चन्दा नहीं दे सकती है। इसका उल्लंघन करने पर कम्पनी आर्थिक दण्ड की भागी होगी। कम्पनी के प्रत्येक दोषी अधिकारी को ३ वर्ष तक का कारावास अथवा आर्थिक दण्ड अथवा दोनों प्रकार के दण्ड दिये जा सकते हैं।

३०

राज्य और उद्योग
(State and Industry)

राजकीय हस्तक्षेप का उदय

प्रारम्भिक :

औद्योगिक संगठन देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का दर्पण है। देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ औद्योगिक संगठन में भी परिवर्तन हुए। प्रारम्भ में उद्योगों के विकास के लिए सरकार का हस्तक्षेप अवाछनीय समझा जाता था। उस समय की विचारधारा के अनुसार 'सबसे अच्छी सरकार वही है जो शासन के मामलों में न्यूनतम हस्तक्षेप करे।'[1] राज्य का कार्यक्षेत्र केवल पुलिस कार्य तक ही सीमित था अर्थात् शांति-रक्षा, न्याय तथा जेल के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में सरकार को हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। विशेषकर सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में तो राज्य का हस्तक्षेप सर्वथा ही अनीतिपूर्ण माना जाता था। उद्योग स्वतन्त्र थे, व्यापार स्वतन्त्र था। न उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण था और न व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध। सर्व श्री एडम स्मिथ (Adam Smith) तथा जे० बी० से० (J. B. Say.) ने भी राजकीय हस्तक्षेप का घोर विरोध किया था। इस प्रकार वर्षों तक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था की नीति काम करती रही। धीरे-धीरे पूँजीवाद के प्रादुर्भाव ने सरकार की अहस्तक्षेप नीति को असत्य सिद्ध कर दिया, क्योंकि स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त को मानने वाले व्यक्ति पूँजीवाद की जटिलताओं में औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षेत्र में राष्ट्रोन्नति तथा सुरक्षा की व्यवस्था नहीं कर सके। श्रमिकों के शोषण, समाज में धन के असमान वितरण, राष्ट्रों में तीव्र गति से बढ़ती हुई भुखमरी, दरिद्रता व बेकारी ने स्थिति को गम्भीर बना दिया।

इंगलैंड ने औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक काल में छोटी अवस्था के सुकोमल बालकों को न्यूनतम वेतन पर अठारह-अठारह घण्टे कार्य करना पड़ता था। इन सभी कारणों से राज्य ने बाध्य होकर धीरे-धीरे औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया और अब किसी भी देश का औद्योगिक विकास सरकारी हस्तक्षेप पर ही निर्भर करता है अर्थात् जिस देश में जितना सरकारी हस्तक्षेप होगा वह उतना ही समृद्धिशाली राष्ट्र होगा।

संक्षेप में, उद्योग व व्यापार में सरकार के हस्तक्षेप की नीति आधुनिक युग में, जब पूँजीवाद प्रायः निर्बल होता चला जा रहा है और समाजवाद पूर्ण जमने का प्रयत्न कर रहा है, सरकार के लिये हस्तक्षेप की नीति को अपनाना आवश्यक है ताकि जन-जागृति को बल मिल सके।

---

1. "That Government is the best which governs the least."

राजकीय हस्तक्षेप के उद्देश्य

साधारणत. औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्रो मे राजकीय हस्तक्षेप के निम्नलिखित उद्देश्य होते है

(१) उद्योगो में स्थिरता लाने के लिए—उद्योगो के अनियन्त्रित विकास से प्रायः व्यापार चक्रों (Trade Cycles) का जन्म होता है। इन व्यापार चक्रो का उद्योगो पर कुप्रभाव पडता है। अत्यधिक तेजी अथवा मन्दी (Excessive Boom or Depression) दोनो ही उद्योगो के लिए अहितकर हैं। मूल्यो मे भारी वृद्धि होने से उपभोक्ताओ का शोषण होने लगता है तथा मन्दीकाल मे उद्योग विशेष के पैर लडखडाने लगते हैं। अतएव उद्योग व उपभोक्ताओ की रक्षा हेतु राजकीय हस्तक्षेप अनिवार्य-सा हो जाता है।

(२) राष्ट्र सुरक्षा के लिए—जो उद्योग सैन्य सामग्री को बनाने के लिए होते है, उन पर केवल राज्य का नियन्त्रण ही पर्याप्त नही अपितु वे पूर्ण रूप से राज्य के हाथ मे ही होने चाहिए।

(३) समाज में धन के उचित वितरण के लिए—पूँजीवाद के दोषो (जैसे श्रमिको व उपभोक्ताओ का शोषण आदि) को दूर करके समाज मे धन के उचित वितरण के लिए राजकीय हस्तक्षेप आवश्यक है।

(४) अधिक जोखिम वाले उद्योगो तथा व्यवसायों के लिए—जिन कार्यों की अधिक जोखिम को देखते हुए साधारण लोग उनमे हाथ डालने का साहस नही करते, सरकार को उन्हे अपना सबल योग देना आवश्यक है, जैसे सडको, पुलो, बाँधो तथा बडी पूँजी वाले उद्योगो की स्थापना करना आदि।

(५) एकाधिकार के लिए—उद्योग एव व्यापार मे जिनकी समाज को अत्यधिक आवश्यकता होती है, सरकार का जनता की सुरक्षा के लिए हस्तक्षेप आवश्यक समझा जाता है। इसके उदाहरण पानी, बिजली, डाक, तार, रेल आदि है।

(६) जनकल्याण के लिए—आधुनिक काल मे औद्योगिक उन्नति का मूल उद्देश्य जन-कल्याण का विकास है। जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही राज्य औद्योगिक नियन्त्रण सम्बन्धी अधिनियमो का निर्माण करता है। उदाहरणार्थ, श्रमिको के आवास व इलाज की व्यवस्था, वृद्धावस्था मे पेन्शन आदि।

(७) अर्थ नियन्त्रण के लिए—उद्योग तथा व्यापार मे आवश्यक पूँजी प्राप्त करने के लिए तथा उस पर समुचित नियन्त्रण के लिए भी राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। जैसे—भारत में १९४७ का पूँजी निगमन नियन्त्रण विधेयक, उद्योग वित्त-निगम राज्य वित्त निगम आदि।

राजकीय हस्तक्षेप के ढग

किसी भी उद्योग मे सम्बन्धित देश की आवश्यकतानुसार राज्य का हस्तक्षेप होना चाहिए। यह हस्तक्षेप निम्न प्रकार से किया जा सकता है

(१) राज्य द्वारा प्रत्यक्ष सुविधायें प्रदान किया जाना—जब किसी राष्ट्र मे निजी उपक्रम का विकास न हुआ हो तो राज्य प्रत्यक्ष सुविधायें देकर उद्योगो के विकास मे सहायक होता है। सरक्षण, वित्तीय सहायता, यातायात-सम्बन्धी सुविधायें, तान्त्रिक परामर्श तथा अनुसन्धान-सम्बन्धी सुविधा, औद्योगिक शिक्षा, क्रय नीति निर्धारण आदि के आधार पर राज्य उद्योगो की सहायता करता है। जिस उद्योग को प्रोत्साहन देना होता है, सरकार उसे सरक्षण प्रदान कर सकती है। इससे विदेशी प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है। भारत मे प्राय सभी बडे बडे उद्योगो को प्रारम्भिक अवस्था मे सरक्षण प्रदान किया गया था। उदाहरणार्थ, लौह एव इस्पात उद्योग, चीनी उद्योग आदि।

(२) अप्रत्यक्ष सुविधायें प्रदान किया जाना—राज्य द्वारा उद्योगो की सहायता का दूसरा तरीका अप्रत्यक्ष सुविधायें प्रदान करना है। अप्रत्यक्ष सुविधायें प्राय अधिनियम

द्वारा प्रदान की जाती है। उद्योगों से सम्बन्धित अनेको नियमो का निर्माण किया जाता है। उदाहरणार्थ; श्रम-सम्बन्धी नियन्त्रण, उद्योगो का स्थापना सम्बन्धी नियन्त्रण (लाइसेन्स पद्धति), ट्रेडमार्क अधिनियम, संचालन तथा सगठन सम्बन्धी अधिनियम, (भारतीय कम्पनी अधिनियम, साझेदारी अधिनियम, प्रसंविदा अधिनियम, विक्रय अधिनियम, वितरण सम्बन्धी अधिनियम आदि)।

(३) आर्थिक क्रियाओं के नियमन (Control) द्वारा—सहायता करने का तीसरा ढंग आर्थिक क्रियाओ पर राज्य का नियन्त्रण होना है। आर्थिक क्रियाओ के नियमन में उत्पादन, पूंजी का विनियोग (Capital Control Order), आयात एवं निर्यात, विदेशी विनिमय आदि का नियन्त्रण होता है। इसी प्रकार वह (राज्य) काम करने वाले श्रमिकों के हितार्थ कई अधिनियम; जैसे—औद्योगिक संघर्ष अधिनियम (Industrial Disputes Act), बाल श्रमिक नियोजन अधिनियम, श्रमिक हानि पूर्ति अधिनियम, प्रसूति सुविधायें, कारखाना अधिनियम, शिशु-कल्याण आदि बनाये जाते हैं। इनका एकमात्र उद्देश्य यही है कि देश में उचित उत्पादन हो तथा श्रमिकों को उचित सुरक्षा प्राप्त हो।

(४) सरकार द्वारा स्थापित उद्योग—राजकीय हस्तक्षेप का अन्तिम ढंग सरकार द्वारा उद्योगो की स्थापना किया जाना है। जब हर प्रकार के प्रोत्साहन से भी कोई उद्योग देश में नहीं पनपता तो सरकार स्वय ही उस उद्योग को विकसित करती है। ऐसा प्राय उस समय होता है जब उद्योग विशेष के लिए अत्यधिक पूंजी की आवश्यकता हो तथा लाभ की दर अत्यन्त धीमी हो। तान्त्रिक ज्ञान का अभाव भी प्रायः निजी उद्योगो के विकास में बाधक होता है। उदाहरणार्थ; अणु-शक्ति का विकास।

(५) राष्ट्रीयकरण द्वारा—उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण की सबसे प्रभावपूर्ण विधि उनका राष्ट्रीयकरण है। इसमें उद्योग का स्वामित्व जन-विशेष के हाथो में न रहकर सरकार के हाथों में चला जाता है। इस प्रकार इसमें किसी विशेष व्यक्ति को लाभ न मिलकर समस्त लाभ सरकार के हाथों में चला जाता है। अभी हाल ही में बैंकों का राष्ट्रीयकरण इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस पद्धति का विस्तृत वर्णन आगे किया गया है।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Industries)

उद्योगो के राष्ट्रीयकरण तथा उसमें सरकारी हस्तक्षेप का प्रश्न भारत में ही नहीं, सारे संसार में अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं जटिल प्रश्न है। राष्ट्रीयकरण का अर्थ है कि उद्योगो में निजी स्वामित्व एवं प्रबन्ध के स्थान पर सरकार का प्रबन्ध एवं स्वामित्व पर नियन्त्रण हो। दूसरे शब्दों में, सरकार द्वारा उत्पादन के साधनों का स्वामित्व एवं नियन्त्रण ही राष्ट्रीयकरण है। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। परन्तु आजकल यह सभी देशों में मान लिया गया है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था देश एवं समाज-हित के दृष्टिकोण से हानिकर है अतएव राष्ट्रीयकरण का नारा तीव्र गति से जागृत होता जा रहा है।

राष्ट्रीयकरण के गुण एवं दोष

प्रोफेसर टी० के० शाह के शब्दो में, "राष्ट्रीयकरण द्वारा सरकार तथा श्रमिकों में अच्छा सामन्जस्य रहेगा तथा मितव्ययिता रहेगी; समस्त देश में विकेन्द्रीयकरण हो जायेगा, जिससे लोगो को अधिक काम मिलेगा तथा कच्चे माल का पूर्ण रूप से उपयोग किया जा सकेगा। इस प्रकार उद्योगो में होने वाला लाभ जनता के हित के लिए व्यय किया जा सकेगा। इनके द्वारा लाभ की ओर विशेष ध्यान न देकर सेवा की ओर ध्यान दिया जा सकेगा। श्रमिकों का शोषण सम्भव नहीं हो सकेगा तथा जन-साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा।" इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

(१) देश के कल्याण में वृद्धि—उत्पादन से होने वाला विस्तृत लाभ कुछ ही व्यक्तियों

के पास न रहकर राज्य के पास पहुँचेगा जिससे देश में कल्याण की योजनायें अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से कार्यान्वित की जा सकेंगी।

(२) उपभोक्ताओं को लाभ—उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा होगी। उन्हें वस्तु उचित मूल्यों पर उपलब्ध होगी। यदि किसी कारणवश उन्हें कुछ अधिक मूल्य भी देना पड़े, तो भी उस अतिरिक्त धन से किसी व्यक्ति विशेष का लाभ न होकर समूचे समाज का कल्याण होगा।

(३) समाजवाद की स्थापना—राष्ट्रीयकरण समाजवाद का आधार है। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से देश में समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना होगी। इससे पूँजीपतियों का विनाश होगा तथा जन-साधारण को लाभ पहुँचेगा। औद्योगिक इकाइयों पर कुछ इने-गिने पूँजीपतियों का अधिकार न होकर समूचे समाज का अधिकार होगा।

(४) उत्पादन लागत में मितव्ययिता—राष्ट्रीयकरण में प्रतिस्पर्धा तथा विज्ञापनबाजी पर होने वाले विनाशकारी तथा दोहरे व्यय समाप्त हो जायेंगे। परिणामस्वरूप, उत्पादन लागत में भी कमी होगी।

(५) पूँजी की प्राप्ति सुलभ—उद्योगों की बागडोर राज्य के हाथ में आ जाने से पूँजी प्राप्त करने में सुविधा रहेगी। राज्य अपनी साख पर कम ब्याज पर देश तथा विदेश दोनों में पूँजी प्राप्त करने में सफल हो सकेगा।

(६) तांत्रिक योग्यता का विकास—राष्ट्रीयकृत उद्योगों के नियन्त्रण के एकीकरण होने से अनेक तान्त्रिक लाभ होंगे। सभी उद्योगों के लिए कुशल इन्जीनियरों तथा तकनीकी विशेषज्ञों की सेवायें सरकार को कम लागत पर उपलब्ध होंगी, क्योंकि सरकारी नौकरियों में अपेक्षाकृत अधिक आकर्षण रहता है। इससे उद्योगों में नये-नये प्रयोगों द्वारा नवीनतम आविष्कार अधिकाधिक होंगे। इससे सभी उद्योगों का तेजी से विकास होगा।

(७) सन्तुलित औद्योगिक विकास—समस्त उद्योग राज्य के अधिकार में आ जाने से देश के समस्त भागों में सन्तुलित औद्योगिक विकास सम्भव हो सकेगा।

(८) दूषित मनोवृत्तियों का विनाश—घूसखोरी, चोर-बाजारी, मिलावट, कपट आदि समाजविरोधी प्रवृत्तियाँ हमारे व्यावसायिक क्षेत्र में अपना घर कर गई हैं। बेईमान व्यवसायी हमारे जीवन से खिलवाड़ करने से नहीं चूकते। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीयकृत उद्योगों में नहीं पनप पाती, क्योंकि वहाँ पर व्यक्तिगत हित का कोई स्थान प्राप्त नहीं होता। वास्तव में एक सरकार माता-पिता के तुल्य होती है जो अपने पुत्रों को रोटी के स्थान पर पत्थर देना कभी भी नहीं चाहेगी।

(९) राष्ट्रीय स्रोतों का पूर्ण उपयोग—यदि व्यक्तिगत नियन्त्रण में उद्योगों का विकास होने दिया जाय तो देश के उपलब्ध स्रोतों का पूर्णतः विदोहन नहीं हो पाता। अतएव राष्ट्रीय स्रोतों का पूर्णतः विदोहन करने के लिए उद्योगों का राष्ट्रीयकरण परम आवश्यक है।

(१०) उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण—राष्ट्रीयकरण होने से उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण सम्भव हो सकेगा। इससे सभी को लाभ होगा।

(११) दूषित प्रतियोगिता का अन्त—आज का युग भीषण प्रतिस्पर्धा का युग है। निजी क्षेत्र में गलाकाट प्रतिस्पर्धा विद्यमान है। इससे उद्योगों का शोषण होता है। इसके विपरीत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होने से दूषित प्रतिस्पर्धा का अन्त हो जाता है।

(१२) श्रमिकों की दशा में सुधार—श्रमिकों का शोषण समाप्त हो जाता है तथा श्रम-कल्याण सम्बन्धी कार्यों को भारी प्रोत्साहन मिलता है। वेतन में वृद्धि होती है तथा रोजगार में स्थिरता आती है।

(१३) धन के वितरण की विषमता—उद्योगो का राष्ट्रीयकरण हो जाने से धन के वितरण की विषमता कम हो जाती है।

(१४) उद्योगों में स्थिरता—राष्ट्रीयकरण से उद्योगों मे स्थिरता आती है। जब समस्त उद्योग एक ही सस्था द्वारा संचालित होते हैं तो उनमे समन्वय स्थापित करना अत्यन्त सरल हो जाता है। उद्योगो मे दीर्घकालीन योजनायें आसानी से लागू की जा सकती है।

(१५) बड़े पैमाने के उपक्रमों की स्थापना—प्राय: निजी क्षेत्र छोटे पैमाने पर ही सफल होता है। बडे पैमाने के उपक्रम की सफलता राज्य-नियन्त्रण द्वारा सफलतापूर्वक हो सकेगी। नवीन उद्योग भी आसानी से स्थापित किये जा सकते हैं।

(१६) सेवा तत्त्व—उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रमुख ध्येय केवल लाभ कमाना ही नही अपितु जन-सेवा होता है जबकि निजी क्षेत्र मे अत्यधिक लाभ कमाना ही प्रमुख उद्देश्य होता है।

राष्ट्रीयकरण के दोष :

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं

(१) एकाधिकार की मनोवृत्ति—एक अंग्रेजी की कहावत है कि 'शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति पूर्णतया भ्रष्ट करती है।' राष्ट्रीयकरण होने से उद्योग तथा व्यापार पर राज्य का एकाधिकार हो जाता है, जिसके कारण जन साधारण उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता, क्योकि इससे सरकार को मनमानी करने का अवसर मिलता है। प्रतिस्पर्धा के समाप्त हो जाने से अन्य वस्तुओं के मुकाबले मे अनिवार्यताओ की कीमतों मे सबसे अधिक वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप, गरीबो का शोषण सबसे अधिक होने लगता है।

(२) औद्योगिक कार्यक्षमता का ह्रास—राष्ट्रीयकरण से औद्योगिक कार्यक्षमता का ह्रास होता है। इसका मुख्य कारण व्यक्तिगत रुचि का अभाव है। राष्ट्रीयकरण किये हुए उद्योगो का संचालन सरकारी अधिकारियो के हाथ मे रहता है, जिन्हे उद्योग के लाभ-हानि से कोई सरोकार नही। अत वे उसमे व्यक्तिगत रुचि नही लेते। इसका परिणाम यह होता है कि एक तरफ तो प्रति व्यक्ति उत्पादन घटता जाता है तथा दूसरी तरफ लागत व्यय मे वृद्धि होती जाती है।

(३) अस्थिरता का वातावरण—आधुनिक सरकारें अस्थायी संस्थाएं होती हैं। सामयिक निर्वाचन के कारण उनमे परिवर्तन व हेर-फेर हुआ करते है। परिणामस्वरूप, औद्योगिक नीतियाँ भी स्थायी न रहकर अस्थायी ही रहती है। इससे औद्योगिक जगत मे अस्थिरता का वातावरण रहता है।

(४) सरकार द्वारा संचालित उद्योग-धन्धो से प्रतिस्पर्धा का अभाव रहता है, अतएव शिथिलता एव मन्दता आ जाती है। मितव्ययिता व उत्साह रफूचक्कर हो जाते है।

(५) उपभोक्ताओ को क्षति—राष्ट्रीयकरण से उपभोक्ताओ के हितो को क्षति पहुँचती है। औद्योगिक प्रबन्ध की अयोग्यता तथा उत्पादन सम्बन्धी दोषो का समस्त भार उन्ही के कन्धो पर पड़ता है। परिणामस्वरूप या तो वस्तु के मूल्यो मे वृद्धि हो जाती है अथवा सरकारी खजाने से उक्त हानि-पूर्ति का प्रयत्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त उपभोक्ताओ की स्वतन्त्रता का भी हनन हो जाता है क्योंकि उन्हे विविध प्रकार का उत्पादित माल उपलब्ध न होकर केवल कुछ निश्चित किस्म का माल ही क्रय करने के लिए बाध्य होना पडता है। एकाधिकार के दुष्परिणाम सामने आने लगते हैं।

(६) विवेकीकरण की धीमी गति—सरकार को विवेकीकरण की योजनायें लागू करने मे श्रमिको के विरोध का सामना करना पडता है, क्योंकि इनसे श्रमिको मे बेकारी फैलने का भय उत्पन्न हो जाता है। परिणामस्वरूप, उद्योगो में विवेकीकरण की गति धीमी अवश्य पड जाती है।

(७) **शासन व्यवस्था में ढिलाई**—राज्य का प्रमुख कार्य शासन-व्यवस्था करना है। अतएव यदि राज्य उद्योगों की स्थापना करना प्रारम्भ कर दे तो शासन-व्यवस्था में ढील आना स्वाभाविक है, जिसके गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। आज यदि कोई व्यापारी किसी भी प्रकार की त्रुटि करता है तो सरकार उसके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही कर सकती है तथा दोषी पाये जाने पर उसको सजा भी दी जाती है, किन्तु यदि वही त्रुटि राज्य द्वारा हो (क्योंकि त्रुटि आखिर मनुष्य के द्वारा ही होती है।[1]) तो जनता का हित सुरक्षित कौन करेगा?

(८) **लाल फीताशाही को प्रोत्साहन**—श्री एमरसन (Emerson) के शब्दों में—"व्यापार एक दक्षता का खेल है जिसे प्रत्येक व्यक्ति नहीं खेल सकता। धैर्य, ईमानदारी, परिश्रम, ज्ञान, चातुर्य, प्रभावशाली व्यक्तित्व, चरित्र, साख, अनुभव, सामान्य ज्ञान आदि गुणों का होना एक सफल व्यवसायी के लिए आवश्यक है। कार्यक्षमता की दृष्टि से परम्परागत गुण भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है, भारत की प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली इस कथन का जीता जागता चित्रण है, किन्तु उपर्युक्त गुण एक सरकारी कर्मचारी में नहीं पाये जाते। इसके विपरीत सरकारी कर्मचारियों की अफसरी शान तथा लाल-फीतेशाही (Red-tapism) उद्योगों को अवनति की ओर खींचकर ले जाती है।

(९) **सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति के बुरे प्रभाव**—सरकार पक्षपातपूर्ण नीति अपनाती है। सरकार के लिए एक पक्ष के मूल्य पर दूसरे पक्ष को लाभ पहुँचाना अनिवार्य-सा हो जाता है, विशेषकर जबकि कुछ स्वार्थ हित विद्यमान हों। उदाहरणार्थ, जन-साधारण से बिजली का शुल्क अधिक इसलिए लिया जाता है ताकि छोटे-छोटे उद्योगों के वास्ते सस्ते मूल्य पर बिजली उपलब्ध हो सके। इस नीति से औद्योगीकरण को क्षति पहुँचती है।

(१०) **निजी क्षेत्र को क्षति**—अमेरिका की आर्थिक सम्पन्नता का एकमात्र कारण निजी साहस (Private Enterprise) की सफलता ही है। यदि राज्य स्वयं ही उद्योग व व्यापार की स्थापना करना प्रारम्भ कर दे तो निजी क्षेत्र के लिए रह ही क्या जाता है? जिन देशों में धन की कमी है, वहाँ पर राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाना खतरे से खाली नहीं है।

(११) **उत्पादकों की स्वतन्त्रता का हनन**—इसमें उत्पादक स्वेच्छापूर्वक उत्पादन-कार्य को नहीं चुन सकता है।

(१२) **औद्योगिक नीति में स्थिरता का अभाव**—आज की शासन-प्रणाली में जनता के चुने हुए व्यक्ति ही शासन करते हैं। इन लोगों का निर्वाचन अधिकांशतः योग्यता के आधार पर न हो कर, दलबन्दी के प्रभाव, अधिक व्यय तथा जनता को धोखा देकर किया जाता है, जिससे तान्त्रिक योग्यता के व्यक्ति इसमें प्रवेश नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप, व्यापारिक एवं औद्योगिक नीतियाँ सुन्दर नहीं बन पातीं क्योंकि हर पार्टी की अपनी औद्योगिक नीति होती है। इसके कारण शासन-सत्ता बदलने के साथ साथ औद्योगिक नीति भी बदलती रहती है। इससे देश को क्षति पहुँचती है।

क्या राष्ट्रीयकरण उचित है?

राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष दोनों में दिये गये तर्क अत्यन्त प्रभावपूर्ण हैं। अतः अब हमारे सामने स्वाभाविक प्रश्न होता है, क्या राष्ट्रीयकरण उचित है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जहाँ तक हो सके, राज्य को औद्योगिक प्रबन्ध अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए। उसे अपना कार्य-क्षेत्र औद्योगिक नियन्त्रण तथा नियमन तक ही सीमित रखना चाहिए, परन्तु निम्न परिस्थितियों में राष्ट्रीयकरण अवश्य होना चाहिए —(१) **एकाधिकार सम्बन्धी उद्योग**—ऐसे उद्योग जिनमें एकाधिकार द्वारा मितव्ययिता प्राप्त हो सकती है, जैसे—रेल, डाक-तार, पानी, विद्युत आदि। (२) **जनहितकारी उद्योग**—ऐसे उद्योग जिनमें लाभ शीघ्र प्राप्त नहीं होता, जिससे कि वैयक्तिक उपक्रम उस ओर प्रोत्साहित नहीं होता। इन उद्योगों अथवा कार्यों में भूमि-सुधार, वनारोपण, सड़कों का निर्माण पुनर्निर्माण, नहरें खुदवाना आदि शामिल हैं। (३) **सुरक्षा सम्बन्धी**

---

1 To err is human

उद्योग—राज्य सुरक्षा से सम्बन्धित उद्योग; जैसे—युद्ध-सामग्री का निर्माण। (४) व्यक्तिगत उपक्रम की असमर्थता पर—ऐसे उद्योग जिनसे सभी उद्योगपतियों को लाभ मिले, किन्तु व्यक्तिगत उपक्रम उनको स्थापित करने मे असमर्थ हो; जैसे—रसायन एवं औषधियाँ तैयार करना, खाद्यान्न मे मिलावट करना आदि। (५) निर्धारित लक्ष्य प्राप्त न होने पर—ऐसे उद्योग जोकि राज्य द्वारा निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने मे असमर्थ होते हैं। (६) जन-हित के लिए—जन-कल्याण की दृष्टि से अथवा नियोजन की सफलता के लिए किसी भी उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है।

लोक निगम
(Public Corporation)

लोक निगम की स्थापना :

राष्ट्रीयकरण के दोषों को दूर करने के लिए अनेक राष्ट्रों ने राष्ट्रीयकृत उद्योगों के नियन्त्रण हेतु लोक निगमों की स्थापना की है। यद्यपि लोक निगमों के प्रबन्ध तथा सचालन पर प्रायः राज्य का पूर्ण अधिकार होता है; परन्तु फिर भी वैधानिक दृष्टि से निगम की स्वतन्त्र स्थिति होती है। इनका निर्माण ससद के विशेष अधिनियम द्वारा होता है। अधिनियम द्वारा ही उसके प्रबन्ध तथा सचालन-सम्बन्धी विधियों की व्याख्या की जाती है। श्री डेविस के शब्दों में, "लोक निगम पृथक् अस्तित्व रखने वाली सस्था है, जोकि दावा कर सकती है तथा जिस पर दावा किया जा सकता है और जोकि वित्तीय व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है।[1] निगम अपनी कार्यशील पूँजी के लिए सरकार से ऋण ले सकता है, किन्तु उसे धनराशि वापस करनी होगी। निगम के किसी भी कार्य के लिए न तो सरकार को उत्तरदायी ही ठहराया जा सकता है और न उस पर वाद ही प्रस्तुत किया जा सकता है। स्वर्गीय राष्ट्रपति रुजवेल्ट के अनुसार, "लोक निगम व्यवसाय का आदर्श स्वरूप है, जिसमें सरकारी नियन्त्रण तथा व्यक्तिगत उपक्रम; जैसे—लोच, कार्यक्षमता तथा प्रेरणा का समावेश है।"[2]

लोक निगम की विशेषतायें :

(१) लोक निगम पर पूर्ण रूप से राज्य का ही स्वामित्व होता है। (२) लोक निगम का निर्माण संसद के विशेष अधिनियम द्वारा होता है, जिसमे इसके अधिकार, कर्त्तव्य आदि का विस्तृत वर्णन होता है। (३) लोक निगम अनुबन्ध करने की क्षमता रखता है। यह दावा कर सकता है तथा इस पर विचार किया जा सकता है। (४) लोक निगम की वित्तीय व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से होती है। सरकारी कोष से ऋण लेकर यह अपना कार्य करता है। (५) राशि को व्यय करने के सम्बन्ध मे इस पर कोई नियन्त्रण नही रखा जाता। (६) कर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध मे लोक निगम के अपने नियम होते हैं।

लोक निगम के रूप :

स्वामित्व एवं पूँजी के आधार पर लोक निगम निम्न प्रकार के होते हैं —(१) ऐसे लोक निगम जिनकी कुछ पूँजी केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकार द्वारा क्रय कर ली जाती है। जैसे; दामोदर घाटी निगम (Damodar Valley Corporation)। (२) मिश्रित निगम अर्थात् वे निगम जिनकी कुल पूँजी का अधिकांश भाग केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा क्रय कर लिया जाता है तथा अधिक से अधिक २०% भाग निजी उपक्रमों के लिए छोड दिया जाता है। जैसे, अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम आदि।

---

1 'The Public Corporation is a body with a separate existence which can sue and be sued and is responsible for its own finances."
—*Earnest Davis. M. P.*

2. Public Corporations are thought to be the ideal form of business because in the words of the Late President Roosevelt they are "clothed with the power of Government but possessed of the flexibility and initiative of private enterprise."
—*Late President Roosevelt.*

लोक निगम के गुण एवं दोष :

गुण—(१) **निजी व सार्वजनिक दोनो प्रकार के प्रबन्धों के लाभ**—इनमे व्यक्तिगत तथा राजकीय प्रबन्ध दोनो के ही लाभ प्राप्त हो जाते है। दैनिक कार्यों मे सरकारी हस्तक्षेप नही होता, जिसके कारण इनकी कार्यक्षमता मे बाधा नही पडती। इसके साथ ही साथ महत्वपूर्ण मामलो पर राजकीय नियन्त्रण भी स्थापित हो जाता है।

(२) **सरकारी नीति मे सामजस्य**—चूँकि ये सरकारी नियन्त्रण मे रहते हैं, अतएव निगम तथा सरकारी नीति मे सामजस्य रहता है।

(३) **लालफीताशाही से मुक्त**—आन्तरिक मामलो मे निगम स्वतन्त्र रहता है, जिनसे लाल-फीताशाही का दोष उत्पन्न नहीं हो पाता।

(४) **क्रियाओं में लोच**—लोक निगम की क्रियाओ मे अधिक लोच तथा औद्योगिक निर्णय की स्वतन्त्रता रहती है।

(५) **सामूहिक प्रतिनिधित्व के लाभ**—लोक निगम प्रबन्ध तथा सचालन मे उद्योगपतियो, श्रमिको तथा उपभोक्ताओ के प्रतिनिधियो को भी सम्मिलित किया जा सकता है। अतएव इससे सबको लाभ पहुँचता है। इस प्रकार ये जन सेवा का परिचय भी देते हैं।

(६) **अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता**—इसमे सीधे राजकीय प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक स्थिरता रहती है। अतएव राज्य-सत्ता के परिवर्तन के साथ इनकी नीति तथा सचालन मे परिवर्तन नही होता।

दोष (१) **करे कोई भुगते कोई**—कभी-कभी निगमो मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि सरकार का हाथ सचालन तथा प्रबन्ध मे नगण्य रहता है परन्तु सम्भावित हानि के अधिकाश भाग का सरकार को ही भुगतान करना पडता है। ऐसी स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जबकि अधिकाश पूँजी तो सरकारी होती है किन्तु प्रबन्ध समितियो मे दूसरे वर्गों का बहुल्य रहता है।

(२) **कार्यक्षमता का अभाव**—निगम की सचालक सभा मे वे लोग होते हैं जिनका निगम के सचालन मे कोई वित्तीय स्वार्थ नहीं रहता। अतएव चाहे निगम की हानि हो अथवा लाभ, उन्हे इसकी कोई चिन्ता नही रहती। परिणामस्वरूप, कार्यक्षमता का अभाव रहता है।

(३) **एकाधिकार के दोषों का उद्गम**—निगम एकाधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, जिसके कारण इनमे एकाधिकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(४) **स्थिति का अनुचित लाभ**—निगमो के प्रबन्ध के लिए सरकार अधिकतर व्यक्ति व्यावसायिक तथा औद्योगिक वर्ग मे से लेती है। ये औद्योगिक तथा व्यावसायिक व्यक्ति किसी न किसी व्यवसाय अथवा उद्योग से सम्बन्धित होते हैं और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने व्यवसाय अथवा उद्योग को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। सरकारी पैसे पर अपने व्यवसाय का कार्य करना अथवा अधिक मूल्य पर अपने स्वार्थ से निगम के लिए माल खरीदना अथवा निगम का तैयार माल कम मूल्य पर अपने साथों को दिलवाना इनका मुख्य कार्य होता है। इस प्रकार निगम के हितो को भारी क्षति पहुँचती है।

कुछ महत्वपूर्ण सुझाव :

(अ) **छागला कमीशन के सुझाव**—(१) सरकार को निगम से नित्य-प्रतिदिन के कार्यक्रम मे न्यूनतम् हस्तक्षेप करना चाहिए। (२) निगम के उच्च सरकारी अधिकारियो को स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष रूप से निगम तथा जनता के हित मे कार्य करना चाहिए। (३) मन्त्री महोदय को निगम के कार्यों मे हस्तक्षेप करते समय ससद के सदस्यो की राय लेनी चाहिए तथा हस्तक्षेप की रिपोर्ट ससद के समक्ष प्रस्तुत करनी चाहिए। (ब) **श्री डेविस (Earnest Devis M P) के सुझाव**—(१) इस पर सरकार का उचित नियन्त्रण होना चाहिए ताकि सचालन-कार्य राज्य की नीति के अनुसार हो सके। (२) जन-विश्वास तथा रुचि पैदा करने के लिए स्थानीय हितो को ध्यान मे

रखना चाहिए। (३) एक सलाहकार समिति होनी चाहिए जिसमें श्रम, पूँजी, उपभोक्ता तथा व्यापार वर्ग के प्रतिनिधि हों। (४) विभिन्न निगमो के कार्यों मे सहयोग स्थापित करने के लिए केन्द्रीय औद्योगिक सहयोग मण्डल (Central Industrial Co-ordinating Board) की स्थापना होनी चाहिए। (५) व्यावसायिक तथा औद्योगिक कार्यकुशल व्यक्तियों की कमी को दूर करने के लिए यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन (U. P. S C.) की तरह इण्डस्ट्रीयल पब्लिक सर्विस कमीशन (I. P. S C.) की स्थापना होनी चाहिए। उसका कार्य औद्योगिक प्रबन्ध के लिए उचित व्यक्तियो का चुनाव करके उनके लिए औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध करना होना चाहिए।

३१

भारत सरकार की औद्योगिक नीति

(Industrial Policy of the Government of India)

प्रारम्भिक

किसी भी राष्ट्र की औद्योगिक प्रगति एक सफल औद्योगिक नीति पर ही आधारित होती है जिसके द्वारा देश का आर्थिक विकास सही रास्ते पर हो सके, देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण रूप से उपभोग हो, उत्पादन में वृद्धि तथा उचित वितरण हो तथा देश का धन और सम्पत्ति कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित न होकर जनसाधारण के उपभोग के वास्ते उपलब्ध हो। किन्तु भारत सरकार की औद्योगिक नीति इसके विरुद्ध है। इसमें भारत के उपयुक्त औद्योगिक विकास की सम्भावना नहीं है। प्रोफेसर पी० सी० जैन के शब्दों में 'भारत की वर्तमान नीति को नकारात्मक नीति कहा जा सकता है। यह नीति यथार्थवादी नहीं है क्योंकि इसमें भारत में निजी उद्योग की वर्तमान स्थिति और उसके संगठन तथा आकार प्रकार पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है।''

पराधीन भारत की औद्योगिक नीति

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति का उद्देश्य भारत को ब्रिटेन के कारखानों के वास्ते कच्चा माल का देने वाला तथा उनके कारखानों के द्वारा निर्मित वस्तुओं के बेचने के वास्ते एक उत्तम बाजार के रूप में ही रखने का था। इसे खेतिहर देश का नाम देकर उद्योगों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। देश के लघु तथा कुटीर उद्योगों का विनाश करने में हर सम्भव तरीकों से काम लिया गया। भारतीय कुशल बुनकरों के अँगूठों तक को कटवाया जाना इस दिशा में एक अनुपम उदाहरण है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की समाप्ति के बाद भारत का शासन महारानी विक्टोरिया को सौंप दिया गया, किन्तु फिर भी हमारे देश के औद्योगिक विकास के प्रति ब्रिटिश नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, अर्थात् यह नीति स्पष्टतया भारत में औद्योगीकरण के विरुद्ध थी। उस समय उद्योगों के विकास के लिए नियम बनाना विनाशकारी, और उनकी सहायता करना व्यर्थ समझा जाता था।

प्रथम विश्व-युद्ध (सन् १९१४-१८) के छिड़ने से इस नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। युद्ध की आवश्यकता को पूरा करने के लिए हर सम्भव तरीकों से उत्पादन में वृद्धि करने के वास्ते जोर दिया गया। परिणामस्वरूप सरकार को स्वतन्त्र व्यापार की नीति छोड़नी पड़ी और इसका स्थान राजकीय प्रोत्साहन ने ले लिया। भारत सरकार ने देश की औद्योगिक समस्या की छानबीन करने के लिए सबसे पहला प्रयत्न सन् १९१६ में किया जबकि सर टॉमस हॉलैंड की अध्यक्षता में एक भारतीय उद्योग कमीशन नियुक्त किया गया। कमीशन की रिपोर्ट पर कोई उल्लेखनीय

कार्यवाही नही की गई । सरकार का ध्यान अधिकतर मूल्य तथा विनिमय सम्बन्धी संकट की ओर ही लगा रहा जोकि प्रथम महायुद्ध के तत्काल बाद ही उत्पन्न हो गया था ।

सन् १९१९ में भारतीय संविधान मे जो परिवर्तन किये गये उनके अनुसार 'उद्योग' एक प्रान्तीय विषय बन गया और इस प्रकार प्रान्तीय सरकारों को औद्योगिक विकास के लिए उद्योगों को सहायता देने का अधिकार मिल गया। किन्तु फिर भी इन प्रयत्नों का कोई आशा-जनक परिणाम नही हुआ । इसके बाद सन् १९२३ मे पक्षपातपूर्ण संरक्षण नीति की घोषणा की गई। तट-कर बोर्ड बनाए गये, विशिष्ट उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने के लिए तट-कर सम्बन्धी जांच की गई और भारतीय बाजारो मे विदेशी प्रतियोगिता से कुछ उद्योगो की रक्षा करने के लिए उप-युक्त तट-कर नीतियाँ अपनाई गई । यदि किसी उद्योग को विशाल घरेलू बाजार प्राप्त था तो वह अपना कच्चा माल देश मे ही प्राप्त कर लेता था और यदि सरक्षण की अवधि के बाद अपने पैरो पर खडे होने के योग्य था तो उसे सरक्षण दे दिया जाता था । इस संरक्षण नीति का सहारा पाकर इस्पात, चीनी, कपडा, ऊनी व रेशम वस्त्र उद्योग आदि की उन्नति हुई । यह विकास उस समय हुआ जबकि सारे ससार मे घोर मंदी छाई हुई थी । इसके बाद १९२९ तक भारतीय उद्योगो का जो विकास हुआ वह एक प्रकार से अपने आप ही हुआ । इधर स्वर्गीय महात्मा गाँधी द्वारा सचालित स्वदेशी आन्दोलन ने जनता मे राष्ट्रीय भावना उत्पन्न की जिसके कारण भारतीय उद्योगो में निर्मित माल की माँग निरन्तर बढती गई और इस प्रकार बहुत से राष्ट्रीय उद्योगो का विकास हुआ। इसी काल मे बहुत से भारतीय उद्योगी आगे आए और उन्होने अपने साहस और सूझबूझ के बल पर विपरीत परिस्थितियों मे भी देश के उद्योगो का बहुमुखी विकास किया ।

सन् १९३९ मे द्वितीय महायुद्ध छिड जाने से औद्योगिक उत्पादन की माँग मे भारी वृद्धि हुई । युद्धकाल मे यह अनुभव किया गया कि ठोस औद्योगिक नीति का अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है । अत विशाल, लघु, कुटीर—सभी प्रकार के उद्योगो की युद्धजनित आव-श्यकताओ के लिए तेजी से बढाया गया । फलत: महायुद्ध के अन्तिम दिनो मे हमारे उद्योगो का उत्पादन चरम सीमा पर पहुँच गया । इस प्रकार उद्योगो ने आश्चर्यजनक प्रगति की । किन्तु युद्ध के समाप्त हो जाने से हमारे औद्योगिक जगत के सामने अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई; जैसे—भयकर मदी का आना, पुरानी व घिसीपिटी मशीनो के स्थान पर नई मशीनो की स्थापना करना तथा श्रमिको मे बेकारी का फैलना, जिसके फलस्वरूप हडताले व औद्योगिक सघर्ष प्रारम्भ हो गये। सन् १९४३ मे योजना और विकास विभाग की स्थापना की गई ।

अप्रैल सन् १९४५ मे सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की । इस नीति का उद्देश्य देश मे उपलब्ध प्राकृतिक व आर्थिक साधनो का अधिकतम् उपयोग करके राष्ट्रीय धन मे वृद्धि, देश की सुरक्षा का उत्तम प्रबन्ध और रोजगार के ऊँचे स्थायी स्तर की स्थापना करना था । इसकी पूर्ति के वास्ते सरकार ने स्वेच्छावाद की नीति छोडकर उद्योगो के सरक्षण की नीति अपनाई, कुछ मूलभूत उद्योगो को विकसित करने, जन-उपयोगिताओ और रेलो के अतिरिक्त राष्ट्रीय महत्त्व के आधार उद्योगो का राष्ट्रीकरण करने का निश्चय किया गया । इसके अतिरिक्त निम्न उपायों के द्वारा भी उद्योगो को सहायता देने की घोषणा की गई : (अ) महत्त्वपूर्ण औद्योगिक सस्थाओ को ऋण देना, (आ) न्यूनतम लाभाश की गारन्टी देना, (इ) अनुसंधान सगठनों को आर्थिक सहायता देना, (ई) औद्योगिक विनियोग निगम की स्थापना करना, (उ) सामाजिक न्याय और औद्योगिक विकास दोनों के सन्तुलित हित की दृष्टि से कर-नीति कार्यान्वित करना, (ऊ) औद्योगिक आवश्यकताओ को विदेशों से मँगाने की व्यवस्था करना ।

राष्ट्रीय सरकार की औद्योगिक नीति सन् १९४८

राष्ट्रीय सरकार ने शासन-भार सभालते ही देश के लिए एक निश्चित औद्योगिक नीति निर्धारित करने के बारे मे विचार करना प्रारम्भ किया । एक ऐसी नीति जिससे भारत एक विशाल औद्योगिक राष्ट्र बनाया जा सके । इस आदर्श से प्रेरित होकर ६ अप्रैल, सन् १९४८ को तत्कालीन उद्योग एवं पूर्ति मन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने ससद मे भारत सरकार की औद्योगिक नीति के विषय मे पहला विस्तृत वक्तव्य दिया था। आपने औद्योगिक नीति सम्बन्धी अग्रलिखित प्रस्ताव उपस्थित करते हुए कहा था कि यह प्रस्ताव मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है :

"भारत सरकार ने देश के समक्ष उपस्थित आर्थिक समस्याओ का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है। राष्ट्र अब ऐसी समाज व्यवस्था करने के लिए वचनबद्ध है, जिसमे सभी राष्ट्रजनो के लिए न्याय तथा अवसर की मान्यता प्राप्त होगी। हमारा उद्देश्य एक व्यापक पैमाने पर शिक्षा की सुविधाएँ और आरोग्य सेवाएँ प्रदान करना और देश के अदृश्य साधनो के दोहन, उत्पादन-वृद्धि और जन-समुदाय की सेवा के लिए सभी को नौकरी के अवसर सुलभ करके जनता के जीवन-स्तर मे द्रुतगति से वृद्धि करना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सावधानीपूर्ण आयोजन तथा राष्ट्रीय गति-विधि के समय क्षेत्र मे एकीकृत प्रयत्न की आवश्यकता है। भारत सरकार का प्रस्ताव एक राष्ट्रीय योजना आयोग स्थापित करने का है जो विकास के कार्यक्रम बनाएगा तथा उनको क्रियान्वित करायेगा।"

इस प्रस्ताव मे उद्योगो को मोटे रूप मे चार भागो मे विभाजित किया गया था। प्रथम, सरकारी उद्योग अर्थात् वे उद्योग जिन पर सरकार का पूर्ण एकाधिकार रहेगा। इस वर्ग मे तीन उद्योग आते हैं—युद्ध-सामग्री का निर्माण, अणु शक्ति का उत्पादन एव नियन्त्रण तथा रेल यातायात का स्वामित्व एव प्रबन्ध। द्वितीय, सरकारी नियमन तथा नियन्त्रण का क्षेत्र—नमक उद्योग, मोटरगाडी तथा ट्रैक्टर उद्योग, बिजली इन्जीनियरिंग उद्योग तथा अन्य भारी मशीनों के उद्योग आदि। इस प्रकार इस वर्ग मे वे उद्योग आते हैं जिनकी स्थापना तथा स्थान का निर्णय अखिल भारतीय आर्थिक कारणों से किया जाए या जिनके लिए अधिक मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता हो या जिनके चलाने के वास्ते उच्च स्तर का शैल्पिक कौशल आवश्यक हो, उनका नियमन तथा नियन्त्रण सरकार करेगी। तृतीय, निजी साहस के साथ सरकारी नियन्त्रण क्षेत्र—यह अभी निजी अधिकार के क्षेत्र मे ही रहेंगे किन्तु सरकार इनको अपने हाथ में लेने के वास्ते १० वर्ष बाद सोचेगी। इसके अतिरिक्त नये कारखाने केवल सरकार ही खोल सकेगी। इसमे कोयला, लोहा, इस्पात, जहाज, वायुयान निर्माण, खनिज, तेल, टेलीग्राफ एव वायरलेस एपरेट्स का निर्माण आता है। चतुर्थ, निजी व्यवसाय क्षेत्र—सरकार का इन उद्योगो पर आवश्यक नियन्त्रण रहेगा। शेष औद्योगिक क्षेत्र इन्ही के लिए खुला रहेगा, जैसे—जूट, सीमेंट आदि।

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की अन्य प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(१) सरकार श्रमिको को लाभाश मे हिस्सा देने के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। (२) विदेशी पूँजी के विनियोग पर कोई भी नियन्त्रण नही रहेगा। किन्तु विदेशी कम्पनियो को भारतीय विशेषज्ञ प्रशिक्षित करने पड़ेंगे। इसके साथ-साथ विदेशी पूँजी का नियन्त्रण भी भारतीयो के अधिकार मे रहेगा। (३) सरकार छोटे और कुटीर उद्योगो के महत्त्व से परिचित है तथा उनके विकास करने का उत्तरदायित्व भी सरकार का है। (४) श्रमिको के हितार्थ १० वर्ष मे १० लाख मकान बनाने की योजना तैयार की गई। (५) प्रशुल्क नीति इस प्रकार प्रशासित होगी कि अनुचित विदेशी प्रतियोगिता का अन्त होकर देश के उपलब्ध स्रोतो का पूर्णतया उपयोग होने लगे। (६) केन्द्र मे केन्द्रीय सलाहकार परिषद् होंगी जो सब उद्योगो मे अच्छे सम्बन्ध रखने के बारे मे सलाह देगी। (७) देश की कर-नीति इस प्रकार से निर्धारित होगी कि बचत को प्रोत्साहन मिल कर उत्पादन क्षेत्र के विनियोग मे वृद्धि हो सके तथा पूँजी का जमाव कुछ ही व्यक्तियो तक सीमित न हो।

आलोचनात्मक अध्ययन -

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति का कुछ क्षेत्रो मे तो स्वागत किया गया और कुछ क्षेत्रो मे इसकी कटु शब्दो मे आलोचना की गई। श्री मीनू मसानी के अनुसार, इस नीति द्वारा प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद की नीव डाली गई।" प्रो० कुच्छाल के अनुसार, सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसने उद्योगो व परिवहन के क्षेत्र मे सार्वजनिक व निजी क्षेत्रो का अन्तर स्पष्ट कर दिया। यह एक मिश्रित व्यवस्था थी, जिसके विषय मे जनता के विभिन्न वर्गों मे भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुईं। प्रो० के० टी० शाह के शब्दो मे, "यह वह नीति नही थी जिसे एक प्रगतिशील तथा उन्नति की आशा रखने वाले देश को अपनाना चाहिए।" वामपंथियों के अनुसार, "सन् १९४८ की औद्योगिक नीति पूँजीवादी परम्पराओ का प्रतीक है।" श्री वैंकटासुबैया भारत सरकार की इस औद्योगिक नीति को तथ्यहीन मानते हैं, क्योंकि

उनके मत में इस नीति में कोई क्रान्ति-कारी परिवर्तन निहित नही था। इस प्रकार उपरोक्त औद्योगिक नीति की निम्न आधारो पर कटु शब्दो मे आलोचना की गई .

(१) **राष्ट्रीयकरण का भय**—इस नीति के कारण उद्योगपतियो मे राष्ट्रीयकरण का भय समा गया। श्री दलाल के शब्दों मे, "राष्ट्रीयकरण लाभांश की सीमा, लाभ मे हिस्सा लिये जाने तथा १० वर्षो के पश्चात् पूँजी के विघटन के भय से विनियोजक भयभीत हो गये हैं।" स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू ने विनियोजको को राष्ट्रीयकरण से भयभीत न होने की सलाह दी तथा इस सम्बन्ध मे आवश्यक आश्वासन भी दिया। किन्तु फिर भी उनका भय दूर न हो सका और इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के भय से उद्योगपतियो ने औद्योगीकरण की दिशा मे कोई सक्रिय कदम नही उठाया। अतएव इस दूषित नीति के कारण भारत का औद्योगिक विकास मन्द पड़ गया।

(२) **दुर्बल नीति**—इस नीति मे मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) पर बल दिया गया। आलोचको के अनुसार इस नीति पर आधारित औद्योगिक नीति एक सबल नीति न होकर दुर्बल नीति ही रहती है। एक ओर तो पूँजीपतियो की पीठ ठोकना तथा दूसरी ओर श्रमिको को प्रबन्ध मे हिस्सा देना तथा तरह-तरह के आश्वासन देना ये दोनो बातें एक साथ कैसे सम्भव हो सकती हैं। इस नीति ने न उद्योगपतियो, न विनियोजको, न औद्योगिक श्रम और न जन-साधारण को सन्तुष्ट किया।

(३) **अव्यावहारिक नीति**—श्री सी० ए० वकील के अनुसार विशुद्ध पूँजीवाद अथवा विशुद्ध समाजवाद की अपेक्षा मिश्रित अर्थव्यवस्था पर अमल करना अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि निजी व सार्वजनिक क्षेत्रो मे क्रमश पूँजीपतियो एव राज्य के दृष्टिकोण मे परस्पर विरोधाभास हो जाता है तथा उनमे समन्वय करने मे बहुत-सी कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार यह नीति अव्यावहारिक है क्योकि इसको कार्यान्वित करने मे कठिनाई होगी।

(४) **प्राथमिकताओ का अभाव**—आलोचको के अनुसार इस औद्योगिक नीति मे प्राथमिकताओं का अभाव है। किसी भी नीति को घोषित करने से पूर्व कम से कम उसमे प्राथमिकताओं का क्रम तो पहले से निर्धारित किया हुआ होता ही है। प्राथमिकताओं का क्रम निर्धारित किये बिना औद्योगिक नीति की सफलता की कामना करना एक प्रकार से असम्भव तथा व्यर्थ की बात है।

(५) **समन्वय का अभाव**—उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर केन्द्र तथा राज्य सरकारो की क्रियाओ के बीच समन्वय का भारी अभाव अनुभव किया गया। उदाहरण के लिए, कुछ उद्योगों का एक निश्चित अवधि के उपरान्त ही राष्ट्रीयकरण किया जाना था। किन्तु मद्रास एवं उत्तर-प्रदेश की राज्य सरकारो तथा बम्बई की म्यूनिस्पैलिटी ने बिजली की कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण करने के सम्बन्ध मे आवश्यक कदम उठाये। इसी प्रकार कुछ राज्य सरकारो ने सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण किया। इसी प्रकार के कदम अन्य क्षेत्रो मे भी उठाये गये।

(६) **राजकीय उपक्रमों का कुप्रबन्ध**—इस औद्योगिक नीति के कारण राजकीय उपक्रमो का सचालन करने हेतु भारी मात्रा मे प्रशिक्षित व्यक्तियो की आवश्यकता महसूस की गई। आलोचकों के मतानुसार इस औद्योगिक नीति मे उनके प्रशिक्षण के लिए किसी प्रकार की व्यवस्था नही थी। इस कमी को दूर करने के लिए सरकार ने सिविल सर्विस (Civil Service) के कर्मचारियो की नियुक्ति की जिसके कारण उद्योगों के सम्बन्ध मे परम्परागत लालफीताशाही तथा देरी कराने की नीति का बोलबाला हो गया। इसके अधिक उद्योगो के प्रबन्ध से सम्बन्धित व्यय मे भारी वृद्धि हुई।

औद्योगिक (विकास तथा नियम) अधिनियम, १९५१

देश मे औद्योगिक विकास को दृढ करने के लिए भारत सरकार ने अक्टूबर, १९५१ मे औद्योगिक (विकास तथा नियन्त्रण) अधिनियम स्वीकृत किया, जो ८ मई १९५२ से कार्यान्वित हुआ। इस अधिनियम मे समय-समय पर आवश्यक संशोधन किये गये। ये संशोधन क्रमश सन् १९५३, १९५६, १९६१, तथा १९६२ मे किये गये। इस अधिनियम की मुख्य बातें इस प्रकार हैं:

अधिनियम का क्षेत्र

यह अधिनियम प्रारम्भ मे प्रथम अनुसूची म दिये गये केवल ३६ उद्योगों पर ही लागू होता था जसे—हवाई जहाज हथियार तथा बारूद कोयला लोहा तथा इस्पात गणित तथा विज्ञान सम्बन्धी यन्त्र मोटर तथा वायुयान का ईधन शक्कर उद्योग सूती ऊनी एव रेशमी वस्त्र उद्योग पटसन मोटर ट्रैक्टर सीमेण्ट विद्युत की मोटर भारी रसायन विद्युत लैम्प तथा पखे रेलवे इजन कागज मशीन के औजार मिश्रित धातुए चमडे का सामान वनस्पति कृषि यत्र बटरी साइकिल लालटैन रेडियो कपडा सीने की मशीनें काच साबुन रिसीवर रबड की वस्तुए आदि किन्तु अब १६२ उद्योगो पर लागू होता है। एक अय सशोधन के अनुसार कीमती धातुओं स्वण रजत तथा उनके मिश्रण सहित उद्योगो को भी अधिनियम के अन्तगत ले लिया गया है।

अधिनियम की विशेषताए

इस अधिनियम की मुख्य मुख्य बात निम्नलिखित है —

(१) **अनिवाय पजीकरण (Registration) तथा लाइसेंस दन की व्यवस्था**—इस अधिनियम के अन्तगत विद्यमान औद्योगिक इकाइयो का पजीकरण कराना अनिवाय है। इसके अतिरिक्त अनुसूची मे दिये गये औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के पूव सरकार से लाइसेंस प्राप्त करना होगा। यही नही यदि लाइसस प्राप्त विद्यमान औद्योगिक इकाई मे विस्तार करना है तो इसके लिए भी लाइसेंस लेना होगा। यदि किसी औद्योगिक इकाई की स्थाई सम्पत्तिया (भूमि मकान तथा सम्पन्न मशीनरी मे विनियोग) २५ लाख रुपये से अधिक न हो तो उनकी स्थापना के लिए लाइसेंस लेने की आवश्यकता नही है परन्तु डायरेक्टर जनरल आफ टेक्नीकल डवलपमेण्ट के यहा उनका पजीकरण करना आवश्यक है।

(२) **जाच-पडताल की व्यवस्था**—यदि इन औद्योगिक इकाइयो का उत्पादन कम होने वस्तु का गुण घटने अथवा मूल्य बढने की आशका हो तो केन्द्रीय सरकार उस उद्योग की जाच कर सकती है और दोष पाये जाने की दशा मे निम्न आदेश दे सकती है

(अ) वे ऐसा कोई काय न कर जिससे उत्पादन मे कमी आवे। (ब) इकाइया उत्पादन बढाने का प्रयत्न करें। (स) इकाइया उद्योग के विकास का प्रयत्न करें। (द) सम्बन्धित वस्तु और वितरण पर आवश्यक नियन्त्रण रक्खा जाय।

(३) **केन्द्रीय परामश समिति का गठन**—उद्योगो के विकास मे सरकार को परामश देने के लिए केन्द्रीय परामशदात्री समिति बनाई गई है जिसमे अनुसूचित उद्योगो के स्वामीगण कमचारी वग उपभोक्ता वर्ग तथा अय दलो के प्रतिनिधि हाग।

(४) **उद्योगो को हाथ म लेना**—यदि केन्द्रीय सरकार को यह विश्वास हो जाता है कि कोई इकाई उसकी आज्ञाओ को नही मान रही या जन हित के विरुद्ध चलाई जा रही है तो वह उसका प्रबन्ध बगर जाच किये भी खुद ले सकती है अथवा अय किसी व्यक्ति को सौप सकती है।

(५) **विकास परिषदो का स्थापना**—औद्योगिक विकास परिषद का भी निर्माण किया गया है जिसमे सभी दलो को प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इसके निम्नलिखित काय हैं

(अ) उत्पादन की सीमा निश्चित करना योजनाओ मे समन्वय रखना और उन्नति के लिए सलाह देना। (आ) अकुशल इकाइया को कुशल बनाना। (इ) श्रमिको के काम की दशाओ मे सुधार करना। (ई) कमचारियो के प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना। (उ) उद्योग को कच्चे माल के मिलने म सहायता देना। (ऊ) वस्तुओ के प्रमापीकरण मे सहायता देना। (ए) उत्पादन विधियो मे अनुसधान करना। (ए) आकडे सग्रह करना। (ओ) उपभोक्ताओ के हित का ध्यान रखते हुए विक्रय और वितरण की उचित प्रणाली व्यवहार मे लाना। (औ) हिसाब रखने की प्रणाली मे सुधार करना। (अ) औद्योगिक क्रियाओ के विकेन्द्रीयकरण के विषय मे जाच करना। (अ) केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार जांच करना और आवश्यक सलाह देना।

औद्योगिक (विकास और नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत अब तक १९ उद्योगो मे विकास परिषदो की स्थापना की जा चुकी है जिनमे से १४ विकास परिषदें क्रियाशील हैं जो निम्नलिखित हैं :

(१) साइकिल, सिलाई मशीनरी, औजार। (२) हल्के विद्युत उद्योग। (३) भारी विद्युत उद्योग। (४) भारी रासायनिक पदार्थ (तेजाब और उर्वरक)। (५) भारी रासायनिक पदार्थ (क्षारक)। (६) भिषक और औषधियाँ। (७) भोजन विधियन। (८) ऊनी कपडा। (९) कलापूर्ण रेशमी कपडा। (१०) चीनी उद्योग। (११) अलौह धातुएँ और मिश्रित धातुएँ। (१२) मोटर, मोटर-यन्त्र व पार्ट, यातायात वाहन, ट्रैक्टर, अर्थ-मूविंग उपकरण (१३) कागज, लुग्दी तथा सम्बन्धित उद्योग। (१४) तेल, साबुन, रग, सौन्दर्य-प्रसाधन आदि।

(६) **औद्योगिक पैनल (Industrial Panels)**—जिन उद्योगो का पर्याप्त विकास नही हो पाया है उनके लिए विकास परिषद के स्थान पर औद्योगिक पैनल नियुक्त किये जाते है। ये औद्योगिक पैनल सम्बन्धित उद्योग की समस्याओ पर विचार करते है। बिजली व बेतार के उपकरण, घड़ी, सीमेन्ट आदि उद्योगो मे इस प्रकार के पैनल स्थापित किये गये है।

(७) **आँकड़ों का संकलन**—प्रस्तुत अधिनियम के अन्तर्गत सरकार को सम्बन्धित उद्योगो के सम्बन्ध मे आवश्यक आँकडे एकत्रित करने का भी अधिकार प्राप्त है।

(८) **उद्योगो के लिए विशेषकर (Cess) व्यवस्था**—सरकार को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह उद्योगों के उत्पादन पर १२% तक विशेष कर लगाकर एक विशेष कोष का निर्माण करे जिसका उपयोग तकनीकी प्रशिक्षण व अनुसधान कार्यों के लिए किया जा सकता है।

(९) **लाइसेंसिग समिति**—इस अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित होने वाली नवीन औद्योगिक इकाइयो को लाइसेंस देने के लिए एक विशेष लाइसेंसिग समिति का भी गठन किया गया है।

(१०) **पुनर्निरीक्षण उप-समिति (Reviewing Sub-Committee)**—एक पुनर्निरीक्षण उप-समिति की भी स्थापना की गई है जो समय-समय पर लाइसेंसिग समिति के कार्यों का पुनः निरीक्षण करेगी।

हमारी नवीन औद्योगिक नीति ३० अप्रैल, १९५६

भारतीय ससद द्वारा राष्ट्र के सर्वोपरि ध्येय समाजवादी अर्थव्यवस्था पद्धति की स्वीकृति तथा उसकी आवडी और अमृतसर कांग्रेस अधिवेशनो मे पुष्टि एव द्वितीय पंचवर्षीय योजना का शुभारम्भ जिसमे कि देश के औद्योगीकरण पर विशेष जोर दिया गया तथा निजी क्षेत्र मे साहस का अभाव आदि ऐसी घटनायें घटित हुई जिसमे कि औद्योगिक नीति मे पुन: सशोधन करना आवश्यक हो गया है। उस समय के वित्त मन्त्री ने स्पष्ट शब्दो मे कहा था

"लगभग ८०% उद्योग-धन्धे जिनसे मेरा सम्पर्क रहा है, उनमे निजी क्षेत्र देश की बढी हुई माँग की पूर्ति करने मे असमर्थ रहा। वास्तविकता तो यह है कि उसने वृद्धि की ओर ध्यान ही नही दिया।"

इन कारणो से ही बाध्य होकर ३० अप्रैल, १९५६ को संसद मे औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वय प्रधान मन्त्री स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू ने पढकर सुनाया जिसमे कहा गया है कि :

"सरकार स्वय ही नये उद्योग-धन्धो के स्थापित करने तथा यातायात की सुविधाओ के प्रसार करने का उत्तरदायित्व अपने कन्धो पर ग्रहण करेगी ताकि आर्थिक विषमतायें दूर हो सकें और आर्थिक शक्ति का संचय कुछ ही हाथो मे न हो। नई नीति संविधान मे निर्धारित सिद्धान्तो, समाजवाद के लक्ष्य और पिछले वर्षों मे अर्जित अनुभव पर आधारित है।"

नवीन नीति की मुख्य बातें :

अप्रैल, १९५६ से दूसरी पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई। इस योजना मे देश के औद्यो-

गिक विकास पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया। अतः इसके लिए यह भी आवश्यक हो गया कि सरकार की नीति स्पष्ट व सक्रिय हो। सन् १९५६ की औद्योगिक नीति सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में अधिक स्पष्ट एवं एक निश्चित सुधार के रूप में है। इसमें सामान्य रूप से उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है :

(१) केन्द्रीय सरकार का अनन्य एकाधिकार क्षेत्र—इस श्रेणी में १७ उद्योग रखे गये हैं जिनके भावी विकास का दायित्व केवल सरकार (राज्य) का होगा। इस श्रेणी में उन उद्योगों को रखा गया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि निजी क्षेत्र में स्थित ऐसे उद्योग समाप्त कर दिये जायेंगे अथवा निजी उद्योगपतियों से कोई सहयोग ही नहीं लिया जायगा अथवा जो उद्योग लिये जायेंगे उनका राष्ट्रीयकरण हो जाएगा। प्रस्ताव में स्पष्ट कहा गया है कि इसके होते हुए भी निजी क्षेत्र में जो इस समय उद्योग हैं उनको वृद्धि करने की पूर्ण सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी और आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उनके सहयोग की माँग की जायगी। ये उद्योग तालिका ए (Schedule A) में दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं

(अ) सुरक्षा उद्योग—युद्ध के हथियारों तथा बारूद का निर्माण, अणुशक्ति का उत्पादन। ये केन्द्रीय सरकार के ही अधीन रहेंगे।

(ब) खनिज—कोयला लिगन इट खनिज तेल लौह खनिज, टीन, जिप्सम, सल्फर, सोना, चाँदी ताँबा जस्ता (Lead) इत्यादि।

(स) भारी उद्योग—लोहा एवं इस्पात, बिजली की मशीनें इत्यादि।

(द) यातायात संवाहन—हवाई जहाज, रेलवे टेलीफोन पानी का जहाज ।

(२) मिश्रित क्षेत्र—(सरकार तथा निजी क्षेत्र दोनों के द्वारा) इस श्रेणी में १२ उद्योग होंगे। इसके विकास के लिए सरकार अधिकाधिक प्रयत्न करेगी और इसके साथ-साथ निजी क्षेत्र को भी उचित प्रोत्साहन दिया जायगा। प्रस्ताव में कहा गया है कि ' औद्योगीकरण की गति तेज करने के लिए सरकार सामान्यतः नये उद्योग स्थापित करेगी, लेकिन साथ ही साथ निजी उद्योग से भी आशा की जायगी कि वह राज्य के प्रयास में पूरी सहायता दे। परन्तु ये उद्योग क्रमशः राजकीय होते जायेंगे।" इन उद्योगों की सूची 'तालिका बी' (Schedule B) में दी गई है, जिसमें फर्टिलाइजर, सड़क यातायात, औषधि, रंग रोगन प्लास्टिक, नकली रबड़, कोयले से कार्बन गैस का उत्पादन आदि मुख्य हैं।

(३) निजी उद्योग का क्षेत्र—शेष सभी उद्योग जैसे—सूती वस्त्र, सीमेंट, चीनी इत्यादि तीसरे वर्ग में सम्मिलित हैं जिनके स्थापित तथा संचालन करने का अधिकार निजी क्षेत्र को होगा। किन्तु राज्य को यह भी अधिकार होगा कि वह आवश्यकता पड़ने पर इस वर्ग के उद्योगों को भी आरम्भ कर सके। सामान्यतः सरकारी नीति ऐसे उद्योगों के विकास में उद्योगपतियों को ही प्रोत्साहन व सहायता देने की होगी।

इस नवीन औद्योगिक नीति की अन्य विशेषतायें इस प्रकार हैं.

(क) लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास के लिए हर प्रकार की सुविधायें दी जायेंगी। इनके विकास से बेकारी की समस्या दूर होगी, आय का उचित विभाजन होगा, पूँजी का सदुपयोग होगा और देश में समाजवादी समाज का निर्माण हो सकेगा।

(ख) भिन्न भिन्न राज्यों में औद्योगिक असमानता को दूर करके पिछड़े राज्यों को नये-नये उद्योगों की स्थापना में प्रमुखता दी जायगी।

(ग) योग्य शिक्षित व्यक्तियों की कमी को दूर करने के लिए शिक्षण संस्थाएँ खोली जायेंगी।

(घ) उद्योगों का विभाजन अस्थायी है। अतः इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान नीति लोचदार है।

नवीन नीति की आलोचना :

इस नवीन नीति की भी कटु शब्दो मे आलोचनाएँ की गई हैं और कुछ लोगो ने तो इसे पूर्णतया काल्पनिक ही बताया है। फैडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर ऑफ कॉमर्स की समिति ने निम्नलिखित शब्दो मे अपनी राय प्रकट की है, "यह नीति निजी क्षेत्र के साहस को मन्द कर देगी। इसकी अपेक्षा एक लचीली नीति की आवश्यकता थी जिससे निजी और सार्वजनिक क्षेत्र दोनो अपना-अपना योग भारत के औद्योगीकरण में प्रदान कर सकते।" आलोचनाएँ निम्नलिखित आधारों पर की गई है :

(१) **सरकारी क्षेत्र पर अत्यधिक बल**—जब सरकारी क्षेत्र मे कार्य असन्तोषजनक है तो इतने उद्योगो को सरकार के अधीन करना क्या अन्यायपूर्ण नही है ?

(२) **गांधीवाद के प्रतिकूल**—इसमे मूल और भारी उद्योगो पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है जोकि "गांधीवाद" के सर्वथा प्रतिकूल है।

(३) **निजी उपक्रम की उपेक्षा**—निजी उपक्रम को बहुत ही संकुचित क्षेत्र प्रदान किया गया है जिसके कारण वे सरलता मे कार्य नही कर सकते।

(४) **नौकरशाही का बोलबाला**—नीति बनाने वालो की अनुभवहीनता के कारण यथार्थ शक्ति सरकारी अधिकारियो के पास चली जायेगी। इतनी अधिक शक्ति उनके हाथ मे पहुँच जाने से चाहे जब हमारी अमूल्य स्वाधीनता पर कुठाराघात हो सकता है।

(५) **राजनीतिज्ञों के हाथों में आर्थिक शक्ति का होना**—आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण राजनीतिज्ञो के हाथो में होना उद्योगपतियो की अपेक्षा अधिक खतरनाक है।

(६) **पूँजीवाद के दोषो का उदय होना**—इस नीति से कृषि तथा औद्योगीकरण दोनो में ही सरकारी पूँजीवाद के दोष उत्पन्न हो जायेंगे।

(७) **श्रमिक संस्थायें पक्ष में नहीं**—श्रमिक संस्थाओ ने भी इस नीति का स्वागत नही किया।

(८) **राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में अस्पष्टता**—सन् १९४८ की औद्योगिक नीति मे वर्तमान उद्योगो के राष्ट्रीकरण के लिए १० वर्ष की अवधि निश्चित की गई थी, अर्थात् १० वर्ष तक राष्ट्रीयकरण नही होगा इस बात का विश्वास दिलाया गया था जिससे निजी क्षेत्र मे कुछ आशा बँधी। किन्तु १९५६ की औद्योगिक नीति मे राष्ट्रीयकरण के बारे मे सरकार की क्या नीति होगी इसका तनिक भी संकेत नही है। अत राष्ट्रीयकरण न करने की स्पष्ट घोषणा के अभाव में निजी क्षेत्र मे अनिश्चितता और खतरा उत्पन्न हो गया है, जिसका परिणाम अत्यन्त भयंकर होगा। निजी क्षेत्र उत्साहपूर्वक औद्योगिक विकास नही कर पायेगा।

(९) **शका व भ्रम को जन्म**—इस नीति से उद्योगपति तथा व्यापारी असमन्जस मे पड गये हैं कि कौनसा उद्योग सरकारी क्षेत्र में है और कौनसा उद्योग निजी क्षेत्र मे है। इस प्रकार वर्तमान औद्योगिक नीति ने लोगो मे शका व भ्रम उत्पन्न किया है।

(१०) **विदेशी पूँजी की प्राप्ति में कठिनाइयां**—प्रस्तुत औद्योगिक नीति मे यद्यपि विदेशी पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध मे कोई भी स्पष्ट उल्लेख नही है, किन्तु इस नीति ने समाजवादी विचारको की सहानुभूति को अवश्य जगाया है। इससे पश्चिमी विनियोजक अधिक सशक हो गए हैं और विदेशी पूँजी की प्राप्ति मे अधिक कठिनाइयो के होने की सम्भावना है।

(११) **व्यावहारिक दृष्टिकोण की अपेक्षा**—इस नवीन औद्योगिक नीति मे व्यावहारिक दृष्टिकोण की अपेक्षा सैद्धान्तिक एव आदर्शवादी दृष्टिकोण को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है।

(१२) **उत्पादन में वृद्धि न होने की आशंका**—आलोचको के मतानुसार प्रस्तुत औद्योगिक नीति द्वारा औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि की आशा रखना सर्वथा व्यर्थ होगा। इस औद्योगिक नीति के परिणामस्वरूप उद्योगो की समस्याओं मे वृद्धि ही होगी, कमी नही।

सन् १९४८ तथा सन् १९५६ की औद्योगिक नीतियों की तुलना
(Difference between 1948 and 1956 Industrial Policies)

सन् १९४८ तथा सन् १९५६ की औद्योगिक नीतियो मे पर्याप्त अन्तर विद्यमान है। इन दोनो का अन्तर निम्न तालिका की सहायता से आसानी से समझा जा सकता है

क्रम-संख्या	अन्तर का आधार	सन् १९४८ की औद्योगिक नीति	सन् १९५६ की औद्योगिक नीति
१	सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार	इस औद्योगिक नीति मे केवल इने गिने (केवल तीन उद्योग) उद्योगो को ही सरकारी एकाधिकारी क्षेत्र मे रखा गया था। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र सीमित था।	इस नई औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र का काफी विस्तार कर दिया गया है। अब १७ आधारभूत उद्योगो का विकास केवल सार्वजनिक क्षेत्र मे ही होगा।
२	राष्ट्रीयकरण का भय	इस नीति मे १० वर्ष उपरान्त आधारभूत उद्योगो के राष्ट्रीयकरण करने का भय दिखाया गया था।	इस नई औद्योगिक नीति मे राष्ट्रीयकरण के भय जैसी किसी भी बात का उल्लेख नही है। इसके विपरीत इसमे तो एक प्रकार का आश्वासन दिया गया है कि प्रथम श्रेणी से सम्बन्धित निजी उद्योगो का राष्ट्रीयकरण नही किया जायेगा।
३	उद्योगों का वर्गीकरण	सन् १९४८ के प्रस्ताव मे उद्योगो को मुख्य रूप से चार भागो मे विभाजित किया गया था। यह विभाजन कठोर ढग से किया गया था।	इस नई औद्योगिक नीति के प्रस्ताव मे उद्योगो को केवल तीन भागो मे बाँटा गया है। यह शिथिल ढग से विभाजन किया गया है।
४	निजी क्षेत्र	यह नीति निजी क्षेत्र के हितो के विरुद्ध थी, क्योकि निजी क्षेत्र मे इस नीति के कारण भय एव असुरक्षा का वातावरण उत्पन्न हो गया था।	इस नई नीति मे एक प्रकार से निजी क्षेत्र का विस्तार किया गया है।
५	सहयोगी क्षेत्र	इस औद्योगिक नीति मे सहयोगी क्षेत्र पर जोर नही दिया गया था।	इस नई नीति के अनुसार निजी क्षेत्र का विस्तार, जहाँ तक सम्भव होगा, सहयोगी क्षेत्र के रूप मे किया जायेगा।
६	शिथिल विभाजन	इस नीति के अनुसार उद्योगों का विभाजन कठोर ढग से किया गया था।	नवीन नीति के अनुसार उद्योगो का विभाजन कठोर ढग से न होकर शिथिलता से किया गया है।

आवश्यक सुझाव

नवीन औद्योगिक नीति की सफलता हमारी पचवर्षीय योजनाओ की सफलता पर निर्भर है। आज आवश्यकता इस बात की है कि देश का तेजी से औद्योगीकरण हो ताकि देश प्रगति के क्षेत्र मे पीछे न रह जाय। इस सम्बन्ध मे हमारे कुछ सुझाव अग्रलिखित प्रकार है

(१) सही आँकड़ो का संकलन कराया जाय। इस सम्बन्ध मे विश्वविद्यालयों की सहायता ली जा सकती है। (२) उद्योगों का संगठन इस आधार पर हो कि उनकी गतिविधियों की जानकारी जनता को निरन्तर होती रहे। (३) भारतीय आर्थिक समस्याओ का एक मात्र हल लघु एवं कुटीर उद्योगो के विकास में निहित है। इसलिए इनके विकास को प्रमुखता मिलनी चाहिए। उनकी समृद्धि पर २ करोड़ व्यक्तियो का निर्वाह निर्भर है। (४) सफल औद्योगीकरण के वास्ते यह नितान्त आवश्यक है कि देश में पर्याप्त मात्रा मे आवश्यक प्रशिक्षण पाये हुए योग्य एवं अनुभवी कर्मचारी हो। इसके लिए समुचित मात्रा मे प्रशिक्षण केन्द्र खोले जायें। (५) जिस प्रकार केन्द्रीय आयोग है, उसी प्रकार राज्यो में भी स्थायी रूप मे आयोग स्थापित किए जायँ। (६) प्रबन्ध मे श्रमिको को और अधिक प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। (७) संसद, सदस्य, अर्थ-शास्त्री, उद्योगपतियो, श्रमिक और सभी लोग एक साथ मिलकर भारत को संसार का एक प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र बनाने मे अपना-अपना सहयोग प्रदान करें।

उपसंहार :

स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू के अनुमार "भारत सरकार यह विश्वास करती है कि नवीन औद्योगिक नीति सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त करेगी और भारत के शीघ्र औद्योगीकरण मे सहायक सिद्ध होगी।" आज देश मे जो उपभोग्य तथा उत्पादक वस्तुओं के उद्योगो का तेजी से विकास हो रहा है तथा यथासम्भव सभी कच्चे माल को देश में ही उत्पन्न कर लेने के जो प्रयत्न हो रहे है उसे देखते हुए प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या हमारा देश विभिन्न औद्योगिक उत्पादनो की दृष्टि से किसी समय बिल्कुल स्वावलम्बी हो जायगा ? जब हम इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करते हैं तो इस निष्कर्ष पर आते हैं कि प्रजातन्त्रीय प्रणाली की अर्थव्यवस्था मे ऐसा होना कोई असम्भव कार्य नही है। विश्व के माने हुए औद्योगिक क्षेत्र मे सबसे अधिक प्रगतिशील राष्ट्र जैसे—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा ब्रिटेन भी इस क्षेत्र मे आत्म-निर्भर नही होपाये है। किन्तु यह आशा की जा सकती है कि हमारा राष्ट्र भविष्य मे आयात कम करेगा जबकि निर्यात मे वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त इस सफल नीति के फलस्वरूप देश मे समाजवादी अर्थव्यवस्था आसानी से स्थापित हो सकेगी तथा देशवासियो का जीवन-स्तर ऊँचा होगा।

भारत मे राजकीय अथवा सार्वजनिक उपक्रम
(State or Public Sector Enterprises in India)

राजकीय उपक्रम से आशय

"राजकीय उपक्रम व्यवसाय का ऐसा स्वरूप है जो सरकार के द्वारा नियन्त्रित एवं सचालित होता है और सरकार या तो स्वय उसकी एकमात्र स्वामी होती है अथवा इसके अधिकाश अश सरकार के हाथ मे होते हैं।"[1]

डा० टी० आर० शर्मा के अनुसार "राजकीय अथवा सार्वजनिक उपक्रम एक ऐसी सस्था है जिस पर या तो राज्य का स्वामित्व हो अथवा जिसकी प्रबन्ध व्यवस्था राजकीय यन्त्र द्वारा सचालित की जाती हो अथवा ये दोनो ही राज्य के आधीन हो।"

इन्हे 'सरकारी' अथवा 'जनसस्था' भी कहते है। उपरोक्त दोनो महत्वपूर्ण परिभाषाओ के अनुसार उन सभी उपक्रमो को राजकीय उपक्रम कहा जा सकता है जिन पर पूर्णतया अथवा अधिकाश (अर्थात् ५० प्रतिशत से अधिक) राजकीय स्वामित्व हो तथा जिस पर नियन्त्रण एव सचालन सरकार का ही हो।

राजकीय उपक्रमो के विभिन्न रूप
(Forms of Management of State Enterprises)

प्रबन्ध एव सचालन के दृष्टिकोण से राजकीय उपक्रमो के विभिन्न रूप हो सकते है। प्रमुख रूप निम्नलिखित है

(1) राजकीय विभाग द्वारा प्रबन्धित राजकीय उपक्रम अथवा विभागीय उपक्रम (State Enterprise managed by a Government Enterprise or Department Undertakings).

राजकीय उपक्रम का वह स्वरूप जिस पर राज्य का पूर्णतया स्वामित्व होता है तथा राजकीय विभाग द्वारा सचालित होता है 'राजकीय विभाग द्वारा सम्बन्धित राजकीय उपक्रम' कहलाता है। यह राजकीय उपक्रम का सबसे प्राचीन रूप है। प्रबन्धो की नियुक्ति सरकार द्वारा आई० ए० एस० (I A S) अधिकारियो मे से की जाती है तथा उनका स्थानान्तरण भी होता रहता है।

---

1. "State Enterprise in business denotes an undertaking which is controlled and operated by the government as its sole owner or major shareholder."
—Roy, Chowdhury & Chakravorty *Business Organisation.*

प्रमुख लक्षण (Main Characteristics)—राजकीय विभागों द्वारा संचालित राजकीय उपक्रमो के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं :

(१) इनके लिए धन की व्यवस्था सरकारी वार्षिक बजट द्वारा होती है। सरकार के द्वारा ही इनके खातो का अंकेक्षण होता है। (२) इन पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहता है, अतएव इनके विरुद्ध सरकार की अनुमति के बिना वाद प्रस्तुत नही किया जा सकता। (३) ऐसे विभाग का सर्वोच्च मन्त्री (Minister) होता है तथा उपक्रम का प्रशासन सरकारी कर्मचारियो द्वारा होता है। (४) सभी कर्मचारी सरकारी कर्मचारी होते हैं, अतएव इनकी नियुक्ति आदि सरकारी नियमों के आधार पर ही होती है। (५) उपक्रम के अर्थ-प्रबन्धन के लिए समस्त धनराशि ट्रेजरी (Treasury) से प्राप्त होती है तथा उसकी समस्त आय ट्रेजरी मे ही जमा होती है। (६) ऐसे उद्योगो के प्रति बिना सरकार की पूर्व अनुमति के वाद प्रस्तुत नही किया जा सकता है।

लाभ (Advantages)—(१) **राजकीय नियन्त्रण**—इन पर पूर्णतया राजकीय नियन्त्रण रहता है। सरकार इनके माध्यम से किसी भी सामाजिक अथवा राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति कर सकती है।

(२) **पूर्ण गोपनीयता**—इनमे केवल सरकारी नियन्त्रण होने के कारण पूर्णतया गोपनीयता रहती है। अतएव यह ऐसे उद्योगो के लिए सर्वश्रेष्ठ है जिनमे कि गोपनीयता की आवश्यकता पड़ती है, जैसे—सुरक्षा उद्योग, एटम शक्ति का निर्माण आदि।

(३) **सार्वजनिक हिसाबदेयता**—इन उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण होने के कारण सरकार इनकी हिसाबदेयता के लिए उत्तरदायी होती है। इनकी वार्षिक रिपोर्ट प्रति वर्ष ससद मे प्रस्तुत की जाती है जिस पर बहस होती है।

(४) **प्राप्ति व वितरण के लिए सर्वश्रेष्ठ**—यह ऐसे कार्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ है जिनमे पहले प्राप्ति तथा बाद मे नियन्त्रण की आवश्यकता पडती है, जैसे—अनाज। खाद्य विभाग द्वारा पहले किसानों से अनाज एकत्रित किया जाता है तथा बाद मे जनता मे सरकारी राशन के अनुसार वितरण होता है। इसके अतिरिक्त ये प्रतिरक्षा सम्बन्धी उद्योगों के लिए भी विशेषरूप मे उपयुक्त है।

(५) **प्रारम्भिक अवस्था वाले उद्योगो के लिए सर्वोत्तम**—यह प्रणाली उन उद्योगो के विकास के लिए भी सर्वश्रेष्ठ है जो अभी प्रारम्भिक अवस्था मे है अथवा जिनका अभी समुचित विकास नही हो पाया है या जो अभी हानिप्रद अवस्था मे ही हैं। इसके अभाव में ऐसे उद्योगो की स्थापना तथा विकास होना बहुत कठिन है।

(६) **राजनैतिक स्थिरता मे विशेषरूप में उपयुक्त**—यह प्रणाली उन देशो के लिए विशेष रूप मे उपयुक्त है जहां की सरकार स्थिर होती है तथा राज्य मे प्रशासन एवं व्यवस्था अच्छी होती है।

दोष (Disadvantages)—(१) **लालफीताशाही का बोलबाला**—विभागीय प्रबन्ध प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमे सभी कार्य सरकारी कर्मचारियो द्वारा होने के कारण लालफीताशाही का बोलबाला रहता है। चाहे उद्योग पनपे अथवा घाटे पर चले, उन्हे तो अपने निश्चित वेतन से ही मतलब रहता है, उद्योग के विकास से नही। सभी जानते है कि सरकारी मशीनरी धीमी गति से चलती है। इससे कभी-कभी उद्योगो को क्षति का सामना करना पडता है।

(२) **सीमित क्षेत्र**—इस प्रणाली द्वारा नियन्त्रित एवं संचालित उपक्रमों का कार्यक्षेत्र सीमित रहता है। यह प्रणाली जन-हित अथवा सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगो के लिए ही अच्छी रहती है, अन्य के लिए नही।

(३) **स्वतन्त्र नीति का अभाव**—इन उद्योगो की अपनी कोई स्वतन्त्र नीति नही होती, क्योंकि इसके लिए अपने विभागीय नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है। कभी-कभी मिनिस्टर या सरकार के बदल जाने से सारी नीति ही बदल जाती है।

(४) **योग्य कर्मचारियों का अभाव**—व्यावसायिक व औद्योगिक उपक्रम की सफलता योग्य कर्मचारियों पर निर्भर रहती है। शासकीय प्रशासन तथा व्यावसायिक व औद्योगिक प्रशासन

मे मूलभेद होता है। आई० ए० एस० (I A S) अफसर सामान्य प्रशासन मे सफल हो सकते हैं, किन्तु यह आवश्यक नही है कि वे औद्योगिक क्रियाओ के सचालन मे भी सफल हो। योजनाआयोग के शब्दो में—"उद्योगों की सफलता पर विपरीत प्रभाव डालने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण कारण प्रबन्ध विभाग के कर्मचारियो मे योग्यता का अभाव है "प्राय. उच्च पदो पर ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हे व्यावसायिक एव औद्योगिक ज्ञान बिलकुल भी नही होता।"

(५) **अधिकारों का केन्द्रीयकरण**—विभागीय सगठन के रूप मे सचालित राजकीय उपक्रमो के अधिकारो के केन्द्रीयकरण का दोष पाया जाता है। शासकीय विभागो मे अधिकारो का बँटवारा सामान्य शासकीय नियमो के अनुसार होता है। अधिकार व्यवस्था मे किसी भी प्रकार का हेर-फेर करने के लिए अनेक मन्त्रालयो की स्वीकृति लेनी पडती है। अतः अधिकार विभाजन मे बडी अस्थिरता व लोचहीनता बनी रहती है जो व्यावसायिक व औद्योगिक उपक्रमो के कुशल सचालन मे बाधक रहती है।

(६) **लाभ और लागत के प्रति जागरूकता में कमी**—विभागीय प्रबन्ध का एक दोष यह भी है कि इसमे लाभ और लागत के प्रति जागरूकता का अभाव रहता है। शासकीय विभाग मे लागत-लेखा-दक्ष व्यक्तियो का अभाव रहता है जिसका लाभो पर बुरा प्रभाव पडता है।

(७) **अनुभवहीनता**—विभागीय सगठन मे अनुभवी व्यक्तियों का सर्वथा अभाव रहता है। किसी औद्योगिक इकाई मे जैसे-तैसे कुछ समय रहकर एक सरकारी कर्मचारी थोडा-बहुत काम सीखकर तैयार होता है कि शीघ्र ही किसी अन्य स्थान के लिए उसका हस्तान्तरण (Transfer) अथवा प्रमोशन (Promotion) हो जाता है। वहा पर जाकर उसे फिर नये सिरे से काम सीखना पडता है। इस सम्बन्ध मे सरकारी नीति यह है कि एक कर्मचारी को एक ही स्थान पर अधिक समय के लिए न रहने दिया जाय। सरकार की नीति व्यावसायिक तथा औद्योगिक इकाइयो की प्रगति मे सर्वथा बाधक है।

(८) **हानियों की उपेक्षा**—निजी हित का अभाव रहने के कारण विभागीय उपक्रमो में हानियों की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। उन्हे रोकने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नही किये जाते। परिणामस्वरूप हानियाँ कम होने की बजाय निरन्तर बढती जाती है।

(९) **करदाताओ पर भार**—विभागीय उपक्रमो का सचालन व्यावसायिक सिद्धान्तो के आधार पर न होकर शासकीय प्रशासन की रीतियो के आधार पर किया जाता है। लालफीताशाही के अनुकूल एव अनुभवहीन कर्मचारियो की नियुक्ति तथा उनमे निजी हित का अभाव होने के परिणामस्वरूप जो कुछ भी हानि होती है उसकी पूर्ति सरकारी खजाने से की जाती है। इस भार का वहन बेचारे सामान्य करदाताओ को करना पडता है।

(१०) **संसदीय हस्तक्षेप**—सविधान के अन्तर्गत ससद सार्वभौमिक सत्ता है। अतएव सरकारी नीति का ससद द्वारा अनुमोदन होना आवश्यक है। ससद की स्वीकृति के बिना सरकार एक पैसा भी व्यय नही कर सकती। शासकीय विभाग द्वारा सचालित राजकीय उपक्रम भी ससद के नियन्त्रण मे आ जाते है। इनकी प्रशासन एव नीति सम्बन्धी छोटी-छोटी बातो पर भी ससद मे वाद विवाद किया जाता है। ससद द्वारा आलोचना एव हस्तक्षेप का भय कार्य करने की स्वतन्त्रता का हनन करता है। इससे इनके सगठन मे दुर्बलता आ जाती है।

सुझाव—हमारे देश मे इस पद्धति को अनेक महत्वपूर्ण उद्योगो मे अपनाया गया है। उपर्युक्त दोषो के होते भी इस पद्धति को समाप्त करना सम्भव नही है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि इन दोषो का तुरन्त निवारण किया जाय। ए० डी० गोरवाला समिति ने अपनी रिपोर्ट (A D Gorwala Committee Report 1960 on the Efficient Conduct of the State Enterprises) मे यह सुझाव प्रस्तुत किया है "विभागीय प्रबन्ध पद्धति को असाधारण परिस्थितियो मे ही अपनाया जाना चाहिए, साधारण परिस्थितियो मे नहीं। अनेक बातो मे यह स्वशासन की आवश्यकताओ की प्रत्यक्ष विपरीत पद्धति है। यह पहलपन व लोच को समाप्त कर देती है और प्रबन्धको को नियमो व कार्यविधियो के शिकजे मे जकड देती है। इससे तात्कालिक समस्याओ के उचित हल मे बाधा पडती है।

विभागीय प्रवन्ध के उदाहरण—निर्माण एवं खान-क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार के बड़े उद्योगों, जिनकी अधिकृति पूँजी ५० लाख रुपये या इससे अधिक है, का प्रवन्ध एवं संगठन विभागीय पद्धति द्वारा ही होता है। विभिन्न मन्त्रालयों के आधीन उद्योगों की सूची निम्न प्रकार है :

मन्त्रालय : उद्योग	स्थापना का वर्ष
(क) उद्योग मन्त्रालय :	
(१) इण्डियन ड्रग एण्ड फार्मास्युटिकल्स लिमिटेड	१९६१
(२) हैवी इलैक्ट्रिकल्स लिमिटेड	१९५६
(३) हैवी इंजीनियरिंग कॉरपोरेशन लिमिटेड	१९५८
(४) हिन्दुस्तान एण्टी-बायोटिक्स लिमिटेड	१९५४
(५) हिन्दुस्तान केवल्स लिमिटेड	१९५२
(६) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड	१९५४
(७) हिन्दुस्तान इनसेक्टोसाइड्स लिमिटेड	१९५३
(८) हिन्दुस्तान आर्गेनिक केमिकल्स लिमिटेड	१९६०
(९) हिन्दुस्तान साल्ट कम्पनी लिमिटेड	१९५८
(१०) नाहन फाउण्ड्री लिमिटेड	१९५२
(११) हिन्दुस्तान केमिकल्स एण्ड फर्टिलाइजर्स लिमिटेड	१९५६
(१२) नेशनल इन्स्ट्रूमेण्ट्स लिमिटेड	१९५७
(१३) नेशनल न्यूजप्रिण्ट एण्ड पेपर मिल्स लिमिटेड	१९४७
(१४) सिन्द्री फर्टिलाइजर्स एण्ड केमिकल्स लिमिटेड	१९५१
(१५) प्राग टूल्स कारपोरेशन लिमिटेड	१९४३
(१६) हिन्दुस्तान फोटो फिल्म्स मैन्यू० कं० लिमिटेड	१९६०
(ख) प्रतिरक्षा मन्त्रालय	
(१७) भारत इलैक्ट्रोनिक्स लिमिटेड	१९५४
(१८) प्रोटोटाइप मशीन टूल्स फैक्टरी	१९५३
(१९) हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड	१९४०
(ग) परमाणु शक्ति विभाग	
(२०) इण्डियन रेयर अर्थ्स लिमिटेड	१९५०
(घ) वित्त मन्त्रालय .	
(२१) सिल्वर रिफाइनरी, कलकत्ता	१९५२
(ङ) रेलवे मन्त्रालय	
(२२) चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स	१९४८
(२३) इण्टीग्रल कोच फैक्टरी	१९५२
(च) इस्पात, खान और भारी इंजीनियरिंग मन्त्रालय	
(२४) हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड	१९५३
(२५) इण्डियन रिफाइनरी लिमिटेड	१९५८
(२६) नेशनल कोल डेवलपमेण्ट कॉरपोरेशन लिमिटेड	१९५६
(२७) नेशनल मिनरल डेवलपमेण्ट कॉरपोरेशन लिमिटेड	१९५८
(२८) नइवेली लिग्नाइट कॉरपोरेशन लिमिटेड	१९५६
(२९) सिंगरेनी कोलियरीज कम्पनी लिमिटेड	१९२०
(३०) आयल एण्ड नेचुरल गैस कमीशन	१९५६

(छ) परिवहन मन्त्रालय

(३१)	इण्डियन टेलीफोन इण्डस्ट्रीज लिमिटेड	१९४८
(३२)	हिन्दुस्तान शिपयाड लिमिटेड	१९५२
(३३)	हिन्दुस्तान टेलीप्रिण्टर्स लिमिटेड	१९६०

(ज) निर्माण आवास और सम्भारण मन्त्रालय

(३४)	हिन्दुस्तान हाउसिंग फैक्टरी लिमिटेड	१९५३

(II) लोक निगम (Public Corporation)

लोक निगम से आशय—लोक निगम से आशय एक ऐसी सस्था से है जो व्यक्तिगत उपक्रमो की भाति लोचदार होती है तथा औद्योगिक काय भी कुशलतापूवक सम्पादित करती है। यद्यपि इसकी नीतियो के ऊपर सरकारी नियन्त्रण होता है। इसकी स्थापना ससद के विशेष अधिनियम द्वारा की जाती है तथा इसी अधिनियम मे इसके प्रवन्ध एव सचालन सम्बन्धी बातो का भी उल्लेख रहता है। भारत मे इन्हे विशेषत वित्त तथा प्रवतन के क्षेत्र मे अपनाया गया है। उदाहरण के लिए भारतीय औद्योगिक वित्त निगम औद्योगिक साख एव विनियोग निगम, राज्यो के वित्त निगम जीवन बीमा निगम निर्माण निर्यात साख एव प्रत्याभूति निगम पोर्ट ट्रस्ट, इण्डियन एयर लाइन्स कॉरपोरेशन कमचारी राज्य बीमा निगम आदि।

कुछ विद्वानो द्वारा दी गई लोक निगम की महत्त्वपूण परिभाषायें निम्नलिखित है

अर्नेस्ट डविस के अनुसार लोक निगम पृथक अस्तित्व रखने वाली सस्था है जो दावा कर सकती है तथा जिस पर दावा किया जा सकता है और जोकि अपनी वित्तीय व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है।[1]

स्वर्गीय राष्ट्रपति रूजवल्ट के अनुसार लोक निगम व्यवसाय का आदर्श स्वरूप है जिसम सरकारी नियन्त्रण तथा व्यक्तिगत उपक्रम (जसे—लोच तथा प्ररणा) की विशेषतायें हैं।[2]

हबट मॅरिसन के अनुसार लोक निगम की श्रेष्ठता का कारण यह है कि इसमे सावजनिक हित की दृष्टि मे राजकाय स्वामित्व राजकीय उत्तरदायित्व एव व्यावसायिक प्रबन्ध तीनो का मिश्रण होता है।

लोक निगम की विशेषताएँ—लोक निगम की प्रमुख विशेषतायें निम्न होती है — (१) **राज्य का पूण नियन्त्रण**—लोक निगम पर राज्य का पूणतया नियन्त्रण होता है। (२) **पृथक वैधानिक अस्तित्व**—लोक निगम एक पृथक वैधानिक अस्तित्व रखने वाली सस्था है, जिस पर दावा किया जा सकता है तथा यह दूसरो पर भी दावा कर सकती है। यह अनुबन्ध करने की क्षमता रखता है तथा अपने नाम मे सम्पत्ति का क्रय आदि भी कर सकता है। (३) **निगमित सस्था**—यह निगमित सस्था है क्योंकि इसका निर्माण ससद के विशेष अधिनियम द्वारा होता है। (४) **स्वतन्त्र वित्त व्यवस्था**—लोक निगम की वित्त व्यवस्था स्वतन्त्र होती है। इसके आयव्यय को सरकारी वजट मे नही दिखाया जाता है। (५) **कर्मचारियो की नियुक्ति में स्वतन्त्रता**—लोक निगम मे जो कर्मचारी होते हैं व सरकारी कमचारी नही माने जाते हैं क्योंकि उनके ऊपर "Civil Service Conduct Rules लागू नही होते। कर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध मे लोक निगम के अपने नियम होते हैं। (६) **बोड द्वारा प्रबन्ध**—लोक निगम का प्रबन्ध एक सावजनिक लिमिटड

---

1 'The Public Corporation is a body with a seperate existence which can sue and be sued and is responsible for its own finances "—Earnest Davis M P

2 Public Corporations are thought to be the ideal form of business because in the words of the Late President Roosevelt these are clothed with the power of Government but possessed of the fl xibility and initiative of private enterprise "—Late President Roosevelt

कम्पनी की तरह से एक बोर्ड द्वारा होता है। **(७) सेवा का उद्देश्य**—लोक निगम का प्रमुख उद्देश्य जनता की सेवा करना तथा गौण उद्देश्य लाभ कमाना होता है। **(८) बजट एवं अंकेक्षण के नियमों से मुक्त**—लोक निगमो पर बजट एवं अंकेक्षण सम्बन्धी नियम लागू नही होते हैं। **(९) व्यय सम्बन्धी नियमो से मुक्त**—लोक निगम सामान्यतः सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी अनेक नियमो एव प्रतिबन्धो से मुक्त रहते हैं।

लोक निगम के रूप—स्वामित्व एवं पूंजी के आधार पर लोक निगम निम्न प्रकार के होते है —(१) ऐसे लोक निगम जिनकी कुछ पूंजी केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकार द्वारा क्रय कर ली जाती है। जैसे; दामोदर घाटी निगम (Damodar Valley Corporation)।

(२) मिश्रित निगम अर्थात् वे निगम जिनकी कुल पूंजी का अधिकतम् भाग केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो द्वारा क्रय कर लिया जाता है तथा अधिक से अधिक २०% भाग निजी उपक्रमों के लिये छोड दिया जाता है। जैसे; अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम आदि।

लोक निगम के गुण—(१) **संयुक्त लाभ**—इनमे व्यक्तिगत प्रबन्ध तथा राजकीय प्रबन्ध दोनो के ही लाभ प्राप्त हो जाते है। दैनिक कार्यो मे सरकारी हस्तक्षेप नही होता है, जिसके कारण इनकी कार्यक्षमता मे बाधा नही पडती। इसके साथ ही साथ महत्त्वपूर्ण मामलो पर राजकीय नियन्त्रण भी स्थापित हो जाता है। (२) **निगम तथा सरकारी नीति में सामंजस्य**—चूंकि ये सरकारी नियन्त्रण मे रहते है, अतएव निगम तथा सरकारी नीति मे सामजस्य रहता है। (३) **स्वतन्त्रता**—आन्तरिक मामलो मे निगम स्वतन्त्र रहता है, जिससे लाल-फीताशाही का दोष उत्पन्न नही हो पाता। (४) **लोच**—लोक निगम की क्रियाओं मे अधिक लोच तथा औद्योगिक निर्णय की स्वतन्त्रता रहती है। (५) **विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व**—लोक निगम के प्रबन्ध तथा सचालन मे उद्योगपतियो, श्रमिको तथा उपभोक्ताओ के प्रतिनिधियो को भी सम्मिलित किया जा सकता है। अतएव इससे सबको लाभ पहुँचता है। (६) **अधिक स्थिरता**—इसमे सीधे राजकीय प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक स्थिरता रहती है। राज्य-सत्ता के परिवर्तन के साथ इनकी नीति तथा संचालन मे परिवर्तन नही होता। (७) **जन-सेवा की भावना**—लोक निगम जन-सेवा की भावना से कार्य करते है। इनका प्रमुख उद्देश्य जन-सेवा का होता है। (८) **विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ**—इनका आकार बडा होने के कारण विशेषज्ञो की सेवाओ का लाभ उठाया जा सकता है। (९) **सरकारी पदाधिकारियो के हस्तक्षेप से मुक्त**—लोक निगम की व्यवस्था मे सरकारी पदाधिकारियों को हस्तक्षेप करने का अधिकार नही होता है।

दोष—(१) **हानि का अधिकाश भाग वहन करना**—कभी-कभी निगमो मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि सरकार का हाथ सचालन तथा प्रबन्ध मे नगण्य रहता है, परन्तु सम्भावित हानि के अधिकांश भाग का सरकार को ही भुगतान करना पडता है। ऐसी स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जबकि अधिकाश पूंजी तो सरकारी होती है, किन्तु प्रबन्ध समितियो मे दूसरे वर्गो का बाहुल्य रहता है। (२) **निजी हित तथा कुशलता का अभाव**—निगम की सचालक सभा मे वे लोग होते हैं जिनका निगम के संचालन मे कोई वित्तीय स्वार्थ नही रहता। अतएव चाहे निगम की हानि हो अथवा लाभ उन्हे इसकी कोई चिन्ता नही रहती। परिणामस्वरूप, कार्यक्षमता का अभाव रहता है। (३) **एकाधिकार के दोष**—निगम एकाधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, जिसके कारण इनमे एकाधिकार के दोष उत्पन्न हो जाते है। (४) **प्रबन्ध में निजी क्षेत्र के व्यक्तियों के होने से क्षति**—निगमो के प्रबन्ध के लिए सरकार अधिकतर व्यक्ति व्यावसायिक तथा औद्योगिक वर्ग मे से लेती है। ये औद्योगिक तथा व्यावसायिक व्यक्ति किसी न किसी व्यवसाय अथवा उद्योग से सम्बन्धित होते है और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने व्यावसाय अथवा उद्योग को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। सरकारी पैसे पर अपने व्यावसाय का कार्य करना अथवा अधिक मूल्य पर अपने स्वार्थ से निगम के लिए माल खरीदना अथवा निगम का तैयार माल कम मूल्य पर अपने साथों को दिलवाना इनका मुख्य कार्य होता है। इस प्रकार निगम के हितो को भारी क्षति पहुँचती है। (५) **लालफीताशाही**—अन्य सरकारी उद्योगो की तरह इसमे भी लालफीताशाही का बोलबाला रहता है। (६) **संविधान परिवर्तन में कठिनाई**—कुशलता की दृष्टि से यदि इसके

सगठन मे परिवर्तन करना आवश्यक हो जाय तो यह परिवर्तन सविधान (जिसके द्वारा इसकी स्थापना हुई है) मे परिवतन करने पर ही किया जा सकता है। सविधान मे परिवतन करना कठिन होता है। (७) अकेक्षण सम्बन्धी कठिनाइयाँ—ये निगम अकेक्षण सम्बन्धी नियमो का उल्लघन करते है। Public Accounts Committee तथा Parliament Estimate कमेटी इस सम्बन्ध म कुछ भी करने म असमर्थ है।

कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव—(अ) छागला कमीशन के सुझाव—(१) सरकार को निगम के नित्य प्रति के कायक्रम मे न्यूनतम् हस्तक्षप करना चाहिए। (२) निगम के उच्च सरकारी अधिकारियो को स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष रूप से निगम तथा जनता के हित मे काय करना चाहिए। (३) मन्त्री महोदय को निगम के कार्यो मे हस्तक्षेप करते समय ससद के सदस्यो की राय लेनी चाहिए तथा हस्तक्षेप की रिपोट ससद के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। (ब) श्री डविस (Earnest Davis M P) के सुझाव—(४) इस पर सरकार का उचित नियन्त्रण होना चाहिए ताकि सचालन काय राज्य की नीति के अनुसार हो सके। (५) जन विश्वास तथा ज्ञान पैदा करने के लिए स्थानीय हितो को ध्यान मे रखना चाहिए। (६) एक सलाहकार समिति होना चाहिए जिसमे श्रम, पूंजी उपभोक्ता तथा व्यापार वग के प्रतिनिधि हो। (७) विभिन्न निगमो के कार्यों मे सहयोग स्थापित करने के लिए केन्द्रीय औद्योगिक सहयोग मण्डल (Central Industrial Co ordinating Board) की स्थापना होनी चाहिए। (८) व्यावसायिक तथा औद्योगिक कायकुशल व्यक्तियो की कमी को दूर करने के लिए यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन (U P S C) की तरह इण्डस्ट्रियल पब्लिक सर्विस कमीशन (I P S C) की स्थापना होनी चाहिये। उसका काय प्रौद्योगिक प्रबन्ध के लिए उचित व्यक्तियो का चुनाव करके उनके लिए औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध करना होना चाहिए।

(III) कम्पनियो के रूप में स्थापित राजकीय सस्थायें (S . . Ente prises Managed like a Company)

आशय—राजकीय उपक्रमो के प्रबन्ध का तृतीय रूप सयुक्त पूंजी वाली कम्पनिया हैं। सरकारी स्वामित्व मे होने के कारण इन्हे सरकारी कम्पनी कहते है। भारतीय कम्पनी अधिनियम (धारा ६१७) के अनुसार सरकारी कम्पनी का आशय एक ऐसी कम्पनी से है जिसकी चुकता अश पूंजी (Paid-up Share Capital) का कम से कम ५१% भाग केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार या सरकारो अथवा अशत केन्द्रीय और अशत एक या अधिक राज्य सरकारो के पास हो। सरकारी कम्पनी के अन्तगत वह कम्पनी भी सम्मिलित कर ली जाती है जो सरकारी कम्पनी की सहायक कम्पनी (Subsidiary Company) हो। इस प्रकार सरकार उपक्रम मे एक अशधारी बन जाती है और सम्बन्धित मन्त्रालय या केबिनट (Cabinet) या राज्य के प्रमुख द्वारा अशधारी के अधिकारो का प्रयोग करती है।

उदाहरण—(१) हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी (२) हिन्दुस्तान केबिल लिमिटेड (३) हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड (४) हिन्दुस्तान स्टील्स लिमिटेड (५) हिन्दुस्तान फर्टिलाइजर एण्ड केमिकल्स लि० (६) हिन्दुस्तान साल्ट कम्पनी लि० (७) नाहन फाउण्ड्री लि० (८) हिन्दुस्तान फोटो फिल्म्स मैन्यु० कम्पनी लि० (९) भारतीय टेलीफोन उद्योग लि० (१०) नेशनल न्यूजप्रिण्ट एण्ड पेपर मिल्स लि०।

लाभ (Advantages)—सरकार उन्ही उपक्रमो को कम्पनी के रूप मे सगठित करती है जिनमे सगठन के अन्य स्वरूपो की अपेक्षा कुछ विशेष लाभ प्राप्त होते है। सक्षेप मे ये लाभ निम्न हैं —(१) विशेष अधिनियम की आवश्यकता नहीं—लोक निगम की भाँति सरकारी कम्पनियो की स्थापना के लिए विशेष अधिनियम की आवश्यकता नही होती है। (२) अधिक उत्साह एव निपुणता—अन्य सरकारी सस्थाओ के मुकाबले मे इनमे अधिकारीगण अधिक उत्साह एव निपुणता से काय करते हैं। (३) लाभाजन का विस्तृत क्षेत्र—व्यावसायिक सिद्धान्तो पर अवलम्बित होने के कारण इनम लाभाजन करने का क्षेत्र विस्तृत होता है। (४) स्वस्थ प्रतिस्पर्धा तथा तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा—निजी क्षेत्र की कम्पनियो की भाँति सरकारी क्षेत्र की कम्पनियो पर भी भारतीय कम्पनी अधिनियम के प्रावधान लागू होते हैं। अतएव इनमें स्वस्थ प्रतिस्पर्धा होने का सुअवसर मिलता है तथा एक-दूसरे की काय विधियो का तुलना करके इनकी आपसी निपुणता को

भी परीक्षा की जा सकती है। (५) **पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा लोच**—ऐसी कम्पनियों को प्रशासन तथा वित्त के सम्बन्ध में पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा लोच प्राप्त रहता है। (६) **व्यावसायिक आधार पर चलाए जाने वाले उद्योगों के लिये सर्वोत्तम**—जिन उपक्रमों की संगठन व्यवस्था एवं कार्य प्रणाली का निर्धारण व्यावसायिक आधार पर किया जाना हो। उनके लिये सरकारी कम्पनी रूपी यह व्यवस्था सर्वोत्तम है।

हानियाँ (Disadvantages)—उपर्युक्त लाभों के होते हुए भी सरकारी कम्पनी संगठन प्रणाली के दोषों से मुक्त नहीं है। इस संगठन प्रणाली के सम्मुख दोष निम्न हैं :—(१) **प्रबन्ध में शिथिलता**—विभागीय सचिवों एवं डिप्टी सचिवों को एक्स आफिसियो (Ex officio) संचालक बना दिया जाता है। वे पहले से ही कार्य-भार से दबे रहने के कारण कम्पनी के प्रबन्ध कार्य पर समुचित समय व ध्यान नहीं दे पाते। (२) **संचालक मण्डल में असहयोग**—इसमें सरकारी व गैर सरकारी संचालकों में खींचातानी व मनमुटाव की सदैव आशंका बनी रहती है। अतएव दोनों में असहयोग रहने के कारण कम्पनी के हितों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। (३) **गोपनीयता**—सार्वजनिक निगम की भांति सरकारी कम्पनी खुले आम कार्य नहीं करती। व्यावसायिक सिद्धान्तों के आधार पर सरकारी कम्पनी गुप्त सौदे व निजी ढंग से कर्मचारियों का चुनाव करती है। इससे जनता में इनके प्रति संदेह उत्पन्न हो जाता है। (४) **संविधान के प्रति कपट**—सरकारी उपक्रम की संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के रूप में स्थापना करना संविधान के प्रति कपट है क्योंकि सरकारी खजाने के पैसे से पोषित कम्पनियाँ संसद के नियन्त्रण से बाहर चली जाती है।

उपयोगिता का क्षेत्र—सरकारी कम्पनी संगठन निम्न दशाओं में विशेष उपयोगी है —(१) जब विशेष अधिनियम पास करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त समय न हो। (२) जब उद्योग स्वयं ही विशेष महत्त्व का न हो। (३) जबकि उद्योग का आकार अपेक्षाकृत छोटा हो। (४) जब सरकार का विचार निजी पूँजी एवं व्यक्तिगत पहल को आमन्त्रित करना हो। (५) जब उद्योग का राष्ट्रीयकरण राष्ट्र के हित में किसी विशेष कारण से किया गया हो, जैसे—उद्योगों में भ्रष्टाचार बढ़ने पर, उत्पादन-क्षमता कम होने की दशा में, किसी संकटकालीन स्थिति में आदि।

(IV) बोर्ड द्वारा प्रबन्धित राजकीय संस्थायें (State Enterprises Managed by Boards) :

आशय—जब राजकीय उपक्रमों का प्रबन्ध किसी बोर्ड या समिति द्वारा होता है तो वह 'बोर्ड या समिति द्वारा प्रबन्धित राजकीय संस्था' कहलाती है। इन समितियों या बोर्डों की स्थापना का उद्देश्य लोच एवं शीघ्र निर्णय के गुण उत्पन्न करना है जोकि एक व्यावसायिक एवं औद्योगिक उपक्रम की सफलता के लिए परम आवश्यक है। इन बोर्डों या समितियों में राज्य सरकार के विभागीय तथा केन्द्रीय मन्त्रालयों के प्रतिनिधि रखे जाते हैं। संगठन के स्वरूप का प्रयोग गत कुछ वर्षों में ही किया गया है।

उदाहरण—(१) भाकरा कण्ट्रोल बोर्ड, (२) चम्बल कण्ट्रोल बोर्ड, (३) हीराकुण्ड कण्ट्रोल बोर्ड, (४) रिहन्द डैम कण्ट्रोल बोर्ड, (५) नागार्जुन सागर कण्ट्रोल बोर्ड, (६) कोसी कण्ट्रोल बोर्ड, (७) ऑल इण्डिया हैण्डलूम बोर्ड, (८) ऑल इण्डिया हैण्डीक्राफ्ट बोर्ड, (९) सेण्ट्रल सिल्क बोर्ड, (१०) कोयला कण्ट्रोल बोर्ड, (११) इण्डियन रेल्वे बोर्ड, (१२) टी बोर्ड आदि।

(V) मिश्रित स्वामित्व वाले निगम (Mixed Ownership Corporation) :

आशय—मिश्रित स्वामित्व वाले निगम से आशय उन संस्थाओं से है जिनमें सरकार विनियोग आंशिक रूप से करती है तथा प्रबन्ध एवं व्यवस्था का कार्य पूर्ण अथवा आंशिक रूप में निजी क्षेत्र पर छोड़ देती है। मिश्रित स्वामित्व वाले निगमों को निजी उपक्रम द्वारा आरम्भ किये गये उद्योगों में सार्वजनिक हितों को अथवा सरकार द्वारा स्थापित उद्योगों में निजी उपक्रम को प्रतिनिधित्व प्रदान करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है।

विशेषतायें—मिश्रित स्वामित्व वाले निगमों की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं —(१) इन निगमों में पूँजी का विनियोग सरकार तथा निजी क्षेत्र दोनों के द्वारा होता है। (२) सरकार एवं निजी क्षेत्र दोनों मिलकर संचालकों का चुनाव करते हैं। (३) इनकी स्थापना विशेष अधिनियम

द्वारा अथवा कभी-कभी सामान्य सनियमो द्वारा भी होती है। (४) इन्हें साधारण लोक निगमो की अपेक्षा अधिक छूटें प्राप्त होती हैं। (५) वैधानिक रूप से इनका पृथक अस्तित्व होता है। अतएव वे अपने नाम से दूसरो पर वाद प्रस्तुत कर सकने हैं तथा सम्पत्ति आदि का भी क्रम कर सकते हैं। (६) ये अपने कोष का निमाण सरकार एव जनता को अंश वेचकर अथवा सरकार या जनता से उधार लेकर करते हैं।

उदाहरण—भारत मे कई मिश्रित स्वामित्व वाले निगम विद्यमान हैं। **उदाहरणार्थ :**—(i) हिन्दुस्तान हाउसिंग फैक्टरी लिमिटेड, (ii) हिन्दुस्तान केबिल्स लिमिटेड, (iii) हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड, (iv) नहान फाउन्ड्री लिमिटेड, (v) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड एव (vi) सिन्दरी फर्टिलाइजर एण्ड कैमीकल्स लिमिटेड आदि।

लाभ—ऐसे सगठनो के प्रमुख लाभ निम्न हैं :—(१) इनमें कुशल कार्य-सचालन रहता है। (२) निजी उद्योगो एव सरकारी उद्योगो दोनो के लाभ इन्हे प्राप्त होते हैं। (३) इनका अकेक्षण प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के समान ही होता है। (४) इनके सामने वित्तीय कठिनाई नही आती। (५) इनका प्रबन्ध व्यावसायिक आधार पर होता है अतएव ये लालफीताशाही से लगभग मुक्त रहते हैं।

उपयुक्तता का क्षेत्र—यह विश्वास किया जाता है कि मिश्रित स्वामित्व वाले निगमो के माध्यम से सरकार नये उद्योगो की स्थापना को प्रोत्साहित कर सकती है तथा एक सह स्वामी के रूप में उद्योगो के कार्य-सचालन के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करके सहायता प्रदान कर सकती है। यह अपने सचालको के माध्यम से निगम की नीतियो को भी प्रभावित कर सकती है।

(VI) जन-प्रन्यास (Public Trust)

जन प्रन्यास भी राजकीय उपक्रमो के प्रबन्ध का एक रूप है। भारत सरकार द्वारा इनका प्रयोग बन्दरगाहो के प्रशासन हेतु किया गया है जैसे—कान्डला पोर्ट ट्रस्ट, मद्रास पोर्ट ट्रस्ट। इनके अतिरिक्त म्यूनिसिपल क्षेत्रो तथा विकास क्षेत्रो मे भी जन-प्रन्यासो की स्थापना की गई है, जैसे—म्युनिस्पिल इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट, डवलपमेंट ट्रस्ट, इन्वेस्टमेंट ट्रस्ट आदि।

३३

राजकीय उपक्रमों की कार्य-प्रणाली एवं समस्यायें

(Working and Problems of State Enterprises)

राजकीय उपक्रमों की कार्यप्रणाली

राजकीय उपक्रमो की स्थापना करते समय यह आशा की गई थी कि ये उपक्रम निजी क्षेत्र के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करेंगे। आर्थिक दृष्टि से ये इतना अधिक लाभ कमा लेंगे कि भावी विस्तार एवं विकास के लिए बाहरी साधनो से पूंजी लेने की आवश्यकता प्रतीत नही होगी तथा मूल्य वृद्धि एवं मुनाफाखोरी को रोकेंगे। श्रमिकों की कार्यक्षमता मे वृद्धि होगी तथा प्रबन्धकर्त्ता का विकास होगा। आवश्यक तान्त्रिक ज्ञान एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करके कुशल प्रबन्धको के अभाव को दूर करेंगे। किन्तु वर्तमान स्थिति हमारी आशाओं के ठीक विपरीत ही है। राजकीय उद्योगो मे जैसे जैसे विनियोजित राशि की मात्रा मे वृद्धि होती चली जा रही है वैसे-वैसे लाभ की मात्रा निरन्तर गिरती चली जा रही है। गत चार वर्षों मे केन्द्रीय सरकारी उद्योगो मे विनियोजित राशि तथा लाभ सम्बन्धी आंकडे निम्नलिखित हे

(करोड़ रु० मे)

वित्तीय वर्ष	विनियोजित राशि	लाभ
१९६३-६४	३,४१६	७५ ६
१९६४-६५	३,८८१	४४·३
१९६५-६६	४,३३५	३७ ८
१९६६-६७	४,६५७	—४·५

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि सन् १९६६-६७ मे लाभ के स्थान पर ४ ५ करोड रु० का घाटा था। इस घाटे की पूर्ति तरह-तरह के नये कर लगाकर तथा पुराने करों की दरों में वृद्धि करके की जा रही है। इसी प्रकार मूल्य वृद्धि एवं मुनाफाखोरी भी राजकीय उपक्रमो की स्थापना के पश्चात् घटने के स्थान पर निरन्तर बढती हुई दिखलाई देती है। राजकीय उपक्रमो मे निर्मित अधिकतर सामग्री काले बाजार मे बिकती है। जहाँ तक श्रमिको की कार्यक्षमता का प्रश्न है वह भी बढने के बजाय घटती ही चली जा रही है। आये दिन कोई न कोई बहाना लेकर राजकीय उपक्रमो मे हडतालें होती रहती हैं। १९ सितम्बर सन् ६८ को सरकारी कर्मचारियो ने एक व्यापक हड़ताल की थी जिसे लेकर समूचे देश मे उपद्रव हुए तथा सरकारी सम्पत्ति को करोडों

रुपयो की क्षति पहुँची । अनुशासनहीनता तथा लालफीताशाही निरन्तर बढती जा रही है । प्रबन्ध के स्तर मे भी दिनो-दिन ह्रास देखने मे आता है । श्रीमती इन्दिरा गाधी के अनुसार, "परिणाम कुल मिलाकर हमारी आशाओ से कम रहे हैं । कुछ उपक्रमो ने अच्छा कार्य किया है, दूसरो ने आशा से कम कार्य किया है । बहुत से उदासीन (विपरीत) प्रगति करते रहते हैं ।"[1]

वास्तव मे आज राजकीय उपक्रम समूचे राष्ट्र की चिन्ता का विषय बने हुए हैं । यही कारण है कि विभिन्न वर्गों द्वारा इनकी कटु आलोचना की जाती है । डा० जी० आर० हाडा के अनुसार, "राजकीय उपक्रमो की असफलताओं के प्रमुख कारण त्रुटिपूर्ण नियोजन, व्यावसायिक कुशलता का अभाव रहतियों का भारी मात्रा मे होना तथा कार्यशील व्ययो में वृद्धि है ।" हमारी राय म राजकीय उपक्रमो के क्रियाशीलन में असफलताओ के निम्न कारण हो सकते है—(१) निर्माण काल एव लागत व्ययो मे निर्धारित लक्ष्यो से कही अधिक वृद्धि होना, (२) त्रुटिपूर्ण नियोजन, (३) विस्तृत अनोत्पादिक विनियोजन, (४) रहतियो का भारी मात्रा मे होना, (५) सम्भावित माँग तथा पूर्ति के सम्बन्ध मे सही अनुमानो का अभाव (६) प्रबन्ध एव श्रमिको के आपसी विवादों को निपटाने के लिए उचित मशीनरी का अभाव, (७) कर्मचारी प्रशासन सम्बन्धी उपयुक्त नीतियो का अभाव, (८) तान्त्रिक कुशलता के लिए विदेशियों पर अत्यधिक निर्भरता, (९) व्यावसायिक कुशलता का अभाव, (१०) अत्यधिक प्रारम्भिक व्ययो का होना (११) कार्यशील व्ययों मे वृद्धि होना, एव (१२) नीतियों का त्रुटिपूर्ण होना तथा उन्हे देरी से कार्यान्वित करना आदि ।

राजकीय उपक्रमो के प्रबन्ध से सम्बन्धित समस्यायें एव उनके समाधान के लिए आवश्यक सुझाव

(Problems Relating to the Management of State Enterprises and Necessary Suggestions for their Solution)

पिछले कुछ वर्षों मे राजकीय उपक्रमो से सम्बन्धित कई समस्यायें सामने आई हैं । कभी-कभी तो समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा इन उपक्रमों के प्रबध एवं व्यवस्था के प्रश्न को लेकर कटु आलोचनाएँ भी की गई हैं । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन समस्याओं को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जाता है

(१) प्रबन्ध के प्रारूप की समस्या (Problem of Pattern of Management)—किसी भी राजकीय उपक्रम की स्थापना करते समय सबसे पहले सरकार के सामने यह समस्या उठती है कि उसके प्रबन्ध के लिए कौन-सा प्रारूप अधिक श्रेष्ठ रहेगा, अर्थात् उस उपक्रम को विभागीय आधार पर चलाया जाय अथवा निगम या कम्पनी के आधार पर अथवा अन्य किसी आधार पर । प्रत्येक प्रारूप के अलग-अलग गुण-दोष तथा उपयुक्तता है । इसका निर्णय इकाई के सन्दर्भ मे इनका तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् ही किया जाना चाहिए । राजकीय उपक्रम के सगठन एव प्रबन्ध का प्रारूप कोई भी क्यो न हो, हमारी राय मे उसकी सफलता बहुत कुछ उसके उच्च अधिकारियो की कुशलता पर निर्भर करती है । इस सम्बन्ध मे निम्न बातो पर ध्यान दिया जाना चाहिए —(i) बोर्ड के सदस्यों का चुनाव करते समय सार्वजनिक हित की भावना और उनकी कुशलता की ओर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए । (ii) संचालको का चुनाव जहाँ तक सम्भव हो सके, उपक्रम मे से ही किया जाना चाहिए । (iii) उपक्रम मे सचालक मण्डल मे वित्त विशेषज्ञ प्रशासकीय कुशलता प्राप्त व्यक्ति तकनीकी विशेषज्ञ तथा श्रमिको के प्रतिनिधियो को सम्मिलित करना चाहिए । (iv) बोर्ड की सदस्यता ससद के सदस्यो, मन्त्रियो एव विभागीय प्रतिनिधियों के लिए बन्द कर देनी चाहिए । (v) बोर्ड के सचालको एव अध्यक्ष को एक टीम (Team) के रूप मे कार्य करना चाहिए । (vi) तुरन्त कार्यवाही को सम्भव बनाने के लिए एक नियमित रूप से अधिकार सौंपने की पद्धति का उपयोग किया जाना चाहिए । (vii) प्रबन्ध-

---

1 "The results have one the whole, fallen below our expectations Some undertakings have done extremely well, others have faired poorly Many are making indifferent progress" —Smt. Indra Gandhi.

संचालक के पद पर एक योग्य, अनुभवी एवं कुशल व्यक्ति की नियुक्ति की जानी चाहिए। (viii) अध्यक्ष का पद सेवा निवृत्त शासकीय अधिकारी या राजनैतिक नेता को पुरस्कार स्वरूप नहीं देना चाहिए। (ix) प्रबन्ध-सचालक को परामर्श देने हेतु एक 'सलाहकार समिति' का गठन किया जाना चाहिए।

(२) **प्रबन्ध के स्वायत्त्व की समस्या** (Autonomy of Management)—राजकीय उपक्रमों का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाता है कि मानो ये भी किसी सरकारी विभाग का एक अंग हैं। अतएव इन उपक्रमो के प्रबन्ध मे भी प्राय: वे सभी दोष आ जाते हैं जोकि सरकारी विभागों मे पाये जाते हैं। दैनिक कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप होने के कारण इनकी स्वतन्त्रता का हनन होने लगता है और इस प्रकार लालफीताशाही का बोलबाला हो जाता है जिसके फल-स्वरूप उत्पादन पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। अतएव कुशलता की दृष्टि से इनको अपने कार्यों में पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए, किन्तु साथ ही स्वशासन और नियन्त्रण के बीच एक उचित सन्तुलन भी विद्यमान होना चाहिए। इसके लिए निम्न सुझाव महत्त्वपूर्ण है —(i) जहाँ तक व्यापक नीतियो का सम्बन्ध है, राजकीय उपक्रमो को सरकारी नियन्त्रण एवं संचालन मे कार्य करना चाहिए। (ii) सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों की सीमाओं के अन्दर इन्हे अधिक से अधिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। (iii) उच्च श्रेणी के कर्मचारियो को सयम से काम लेना चाहिए तथा छोटे-छोटे मामलो में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। (iv) उपक्रम के मुख्य अधिकारियों को उपक्रम सम्बन्धी मामलों में विभागीय सचिवो तथा मन्त्रियों के परामर्श से तनिक भी भयभीत नहीं होना चाहिए। उन्हे जहाँ तक सम्भव हो, नीति सम्बन्धी सुझाव देने का अधिकार होना चाहिए।

(३) **आन्तरिक प्रशासन की समस्या** (Problem of Internal Administration)—राजकीय उपक्रमो के समक्ष तृतीय महत्त्वपूर्ण समस्या आन्तरिक प्रशासन की समस्या है, क्योंकि प्रशिक्षित कर्मचारियों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इस सम्बन्ध मे अनुमान समिति (Estimate Committee) का यह मत है कि सरकारी प्रशासकीय सेवा (I A S) द्वारा सरकारी उपक्रमों का प्रबन्ध चलाने के लिए उपयुक्त कर्मचारी उपलब्ध नहीं होते। अतएव इनके आन्तरिक प्रशासन हेतु व्यापारिक एवं औद्योगिक व्यवहारो मे निपुण व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध मे निम्न सुझाव महत्त्वपूर्ण है :—(i) राजकीय उपक्रमों को निजी क्षेत्र से अनुभवी व्यक्तियो को आकर्षित करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। (ii) तकनीकी ज्ञान प्राप्त, अनुभवी एवं विशिष्ट दक्षता प्राप्त कर्मचारियो की सेवायें प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। (iii) राजकीय उपक्रमों के कर्मचारियों को अच्छा अच्छा वेतन तथा नौकरी की आकर्षित शर्तें उपलब्ध होनी चाहिए ताकि वे स्थायी रूप से कार्य कर सकें। (iv) कर्मचारियों का चुनाव करने के लिए 'व्यापारिक लोक सेवा आयोग' की स्थापना की जानी चाहिए। (v) चुने हुए कर्मचारियो हेतु औद्योगिक प्रबन्ध सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

(४) **ससदीय नियन्त्रण की समस्या** (Problem of Parliamentary Control)—राजकीय उपक्रम के समक्ष चतुर्थ समस्या ससदीय नियन्त्रण की समस्या है। चूँकि राजकीय उपक्रमों में जनता का धन लगा होता है अतएव ससद, जो कि जनता की प्रतिनिधि है, को यह अधिकार होता है कि वह इन उपक्रमों पर अपना नियन्त्रण रखे। भारतीय ससद राजकीय उपक्रमों के सम्बन्ध मे निम्न रूपों मे नियन्त्रण करती है — (i) प्रश्नोत्तर काल में प्रश्न पूछ कर, (ii) कामरोको प्रस्ताव प्रस्तुत करके, (iii) अनुदान की वार्षिक माँग के समय बहस करके, (iv) निगम अधिनियम पास करते समय अथवा उसमें संशोधन करते समय; (v) पब्लिक एकाउन्ट्स समिति तथा एस्टीमेट समिति की रिपोर्ट पर विवेचन द्वारा।

डा० अप्पलबी (Appleby) ने भारतीय ससद द्वारा राजकीय उपक्रमो पर रखे गये नियन्त्रण की आलोचना इन शब्दों में की है—"भारत मे ससद सदस्य सरकार को बढ़ते हुये कार्यभार के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान करने को तत्पर नहीं है। उन्हे सरकारी अफसरों पर घोर अविश्वास है जिससे वे जल्दी उपयुक्त कदम उठाने की जिम्मेदारी उठाने को तैयार नहीं होते।" हमारी राय मे उनकी यह आलोचना उनके स्वय के देश मे उपयुक्त हो किन्तु भारत मे, जहाँ आये दिन 'मूदड़ा काण्ड', 'सिराजुद्दीन काण्ड', 'भाकरा काण्ड' आदि जैसे घुटाले

होते रहते हैं। इस प्रकार की माँग करना न्यायोचित नही कहा जा सकता है। वास्तव मे भारत जैसे गरीब देश मे जहां कि प्रजातन्त्रीय परम्परायें अभी प्रौढावस्था को नही पहुँची हैं, सरकारी उपक्रमो पर ससद का नियन्त्रण होना आवश्यक है ताकि जनता के धन को नष्ट होने से बचाया जा सके। हां, इन नियन्त्रणो मे सुधार करने की आवश्यकता अवश्य प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध मे निम्न सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैः—(i) सरकारी उपक्रमो के वार्षिक प्रतिवेदन विस्तृत रूप मे तैयार किये जाने चाहिए ताकि सुगमता से बहस की जा सके। (ii) ससद मे राजकीय उपक्रमो पर नियमित रूप से वाद-विवाद के आयोजन होने चाहिए। (iii) इन्हें व्यापारिक उपक्रमो के आधार पर अपने बजट तैयार करने चाहिए। (iv) पब्लिक एकाउन्ट्स समिति एव एस्टीमेट समिति को उन पर पर्याप्त नियन्त्रण रखना चाहिए। (v) सभी उपक्रमो पर समान नियन्त्रण नही होना चाहिए। (vi) ससद को अन्य देशो के अनुभव से भी लाभ उठाना चाहिए और अपनी नियन्त्रण पद्धति पर समय समय पर पुर्नविचार करते रहना चाहिए ताकि यह अधिक प्रभावशाली एव व्यावहारिक बन सके। (vii) ब्रिटेन की तरह हमारे देश मे भी ऐसी प्रणाली अपनायी जानी चाहिए कि जिसमे ससद मे राजकीय उपक्रमो के प्रबन्ध अधिकारियो एव कर्मचारियो के वेतन तथा उनकी नियुक्ति आदि के सम्बन्ध मे विस्तृत प्रश्न न उठाये जा सकें। एव (viii) राजकीय उपक्रमो को दलबन्दी तथा राजनीति से पृथक् रखना चाहिए।

(५) **जनता को सूचना देने की समस्या (Problem of Puplic Accountability)**—राजकीय उपक्रमो की पाँचवी समस्या उनकी प्रगति के सम्बन्ध मे जनता को सूचना देने की समस्या है। प्रजातन्त्र के अन्दर सार्वभौम सत्ता जनता के ही अन्दर सन्निहित रहती है, अतएव इनकी प्रगति के सम्बन्ध मे जनता को सूचना देना आवश्यक होता है। वर्तमान व्यवस्था न केवल अपर्याप्त है, अपितु दोषों से भी परिपूर्ण है। ससद मे राजकीय उपक्रमो की प्रगति के सम्बन्ध मे जो प्रतिवेदन (Report) प्रस्तुत किया जाता है उसमे पर्याप्त सूचनाओ का सर्वथा अभाव रहता है। यही नही, यह प्रतिवेदन भारतीय जनता को आसानी से उपलब्ध तक नही हो पाता। अतएव इन समस्याओ को दूर करने के लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते है —(i) राजकीय उपक्रमो की प्रगति से सम्बन्धित वार्षिक प्रतिवेदन, अकेक्षण, रिपोर्ट एव अन्य रिपोर्टों को विस्तृत रूप मे तैयार किया जाना चाहिए। (ii) उपक्रमो मे लेखे, लागत लेखाकर्म प्रणाली के आधार पर रखे जाने चाहिए। (iii) आवश्यकतानुसार परामर्शदाता समितियो एव उपभोक्ता समितियो की स्थापना की जाय और उनसे ससद के समक्ष अपनी सामयिक रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा जाय। (iv) राजकीय उपक्रमो की प्रगति के सम्बन्ध मे जनता मे अधिक से अधिक प्रचार किया जाय। (v) प्रत्येक उपक्रम को गत वर्ष की गतिविधियों के सम्बन्ध मे भी रिपोर्ट देनी चाहिए। चालू वर्ष की गतिविधियो का वर्णन करते समय अगले वर्ष की सम्भावित नीति और कार्यक्रम का भी उल्लेख किया जाना चाहिए।

(६) **अकेक्षण की समस्या (Problem of Audit)**—सरकारी उपक्रमो के खातो के निरीक्षण एव उनकी जाँच की रिपोर्ट ससद के समक्ष प्रस्तुत करने का कार्यभार भारत के महालेखा अकेक्षक पर है। डॉ० अप्पलबी ने भारतीय अकेक्षण पद्धति की आलोचना की है। उनके अनुसार, 'महालेखा अकेक्षण की कार्यप्रणाली औपनिवेशिक शासन की दूषित विरासत है।" हम उनकी आलोचना से केवल इसी सीमा तक सहमत है कि अकेक्षण की वर्तमान प्रणाली मे पर्याप्त सुधार होने चाहिए। अकेक्षण किसके द्वारा हो इस सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं, जैसे—(i) अकेक्षण किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा होना चाहिए, अथवा (ii) अकेक्षण स्वय महालेखा अकेक्षक के द्वारा हो अथवा (iii) अकेक्षण का कार्य किसी विशिष्ट एवं स्वतन्त्र सस्था द्वारा ही किया जाना चाहिए। रूस मे सरकारी उपक्रमो के अकेक्षण का कार्य एक विशिष्ट सस्था (Khozrachyot) द्वारा होता है। भारत मे भी ऐसे ही स्वतन्त्र आयोग की स्थापना की जानी चाहिए।

(७) **लागत लाभ एव मूल्य नीति की समस्या (Problem of Cost, Profit and Price Policy)**—कुछ विद्वानो का यह कहना है कि सरकारी उपक्रम 'न लाभ न हानि' (No Profit No Loss) के सिद्धान्त पर चलने चाहिए। सिद्धान्त रूप मे यह नीति भले ही अच्छी प्रतीत होती हो किन्तु व्यवहार से यह परे है। हमारी राय मे राजकीय उपक्रमो मे स्थापित उद्योगो की उत्पादन लागत इतनी हो कि विनियोजित पूँजी पर समुचित दर से प्रत्याय मिलता

रहे तथा उपभोक्ताओ को न्यायोचित मूल्य पर उत्पादित सामग्री उपलब्ध होती रहे। इसके अतिरिक्त इन उपक्रमो की क्षमता बढाने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये जाते रहने चाहिए। इस हेतु लागत लेखा-कर्म प्रणाली एवं व्यापारिक बजट बनाने पर जोर देना चाहिए। लाभो का अधिकाश भाग पुन: विनियोजित होते रहना चाहिए। इससे अतिरिक्त पूँजी लिये बिना ही उपक्रम का विस्तार करना सम्भव हो सकेगा। उत्पादन व्ययो मे कमी करके कीमतो मे कमी की जानी चाहिए तथा किस्म के सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। विभिन्न उद्योगों मे उपभोक्ता सलाहकार समितियो की स्थापना की जानी चाहिए।

३४

औद्योगिक उत्पादकता
(Industrial Productivity)

प्रारम्भिक

आधुनिक औद्योगिक जगत में उत्पादकता सम्बन्धी विचारधारा एक नवीनतम विकास है जिसका उद्‌गम विज्ञान तथा उद्योग के पारस्परिक गठबन्धन के परिणामस्वरूप ही हुआ है। विश्व के किसी भी कोने में निर्धनता का निवास समूची धरती की समृद्धि के लिए भीषण खतरा है। यह भावना अब विकसित एवं अविकसित सभी देशों में समान रूप से घर कर रही है। यही कारण है कि आज सभी देशों में आर्थिक प्रगति के प्राथमिक उपाय के रूप में उत्पादकता पर अधिकतम बल दिया जा रहा है। अविकसित एवं अल्पविकसित देशों में तो आर्थिक प्रगति के लिए उत्पादकता रामबाण औषधि के तुल्य बन गयी है। इसका कारण यह है कि एक अविकसित एवं अल्प विकसित अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता होती है— साधनों की सीमितता। उन सीमित साधनों से अधिकतम उत्पत्ति कैसे हो—यही उत्पादकता का सार है। यही कारण है कि उत्पादकता आधुनिक काल का ग्राही शब्द (catch word) बन गया है और शायद यह न्यायसंगत भी है।

उत्पादकता का अर्थ एवं परिभाषा

उत्पादकता का अर्थ

उत्पादकता एक ऐसा शब्द है जिसका विस्तृत विश्लेषण तथा विविध रूपों में उल्लेख किया गया है। राजनीतिज्ञ इसे उत्पादकता के नाम से पुकारते हैं, उद्योगपति औद्योगिक क्षमता की संज्ञा प्रदान करते हैं, औद्योगिक अभियन्ता इसे एक औद्योगिक इकाई द्वारा निष्पादित कार्य का मापदण्ड कहकर पुकारते हैं, प्रबन्ध विशेषज्ञों ने इसे आर्थिक प्रगति की तुलनात्मक दर कहकर सम्बोधित किया है और अर्थशास्त्री इसे आर्थिक परिवर्तनों के माप का दण्ड (yard stick) मानते हैं। इस प्रकार इस अकेले शब्द का इतने अधिक रूपों में उल्लेख होना इस बात को प्रदर्शित करता है कि उत्पादकता एक अकेली विचारधारा न होकर विभिन्न विचारों का चर्चित मिश्रण है।

वाणिज्य के प्रायः सभी छात्र यह बात भली प्रकार जानते हैं कि किसी भी वस्तु के उत्पादन में भूमि, श्रम, पूँजी, साहस और व्यवस्था इन पाँचों साधनों का सहयोग होता है। इन्हें उत्पत्ति के साधनों के नाम से सम्बोधित करते हैं। बिना इन पाँचों उत्पत्ति के साधनों के उत्पादन सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण उत्पादन में प्रत्येक साधन का कुछ न कुछ भाग सम्मिलित होना स्वाभाविक ही है। उत्पादन में उपरोक्त प्रत्येक साधन का जो अनुपात होता है उसे ही इस साधन की उत्पादकता कहते हैं।

उत्पादकता की परिभाषाएँ -

श्री एल० टेपर (L. Taper) के अनुसार, "कुछ विद्वान् उत्पादकता को सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के कार्य से सम्बन्धित करते है, जबकि अन्य विद्वान् निजी उद्योगों अथवा कारखानों के संदभ मे इस पर विचार करते है "............ "इन सभी विचारो की पृष्ठभूमि मे व्यवस्थापकों का यह इच्छा छिपी हुई है कि उद्योग के आधार-मानव, मशीन एवं माल का पूर्णतम एव कुशलतम प्रयोग किया जाय।"

श्री वी० के० आर० मेनन के अनुसार "उत्पादकता का उद्देश्य ऐसी किस्म की अधिकतम मामानों और सेवाओं जो उपभोक्ताओं द्वारा सबसे अधिक वांछित है, पर जितना अधिक सभव हो न्यूनतम सम्भावित लागत पर प्राप्त करने के लिए साधनों का अधिकतम उपभोग है।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन (I L O) के अनुसार, "उत्पादकता से आशय समूह, समाज अथवा देश के प्रसाधनों के साथ समस्त उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं के अनुपात से है। इसमे मानव, मशीन, माल द्रव्य, शक्ति तथा भूमि आदि समस्त उपलब्ध साधनों का पूर्ण, उचित एवं कुशल उपयोग निहित है। यह प्रत्येक क्षेत्र मे प्रत्येक प्रकार के अपव्यय के विरुद्ध संगठित प्रयत्न है।'

भारत के भूतपूर्व श्रम, नियोजन एवं रोजगार मन्त्री श्री जी० एल० नन्दा के अनुसार, "उत्पादकता प्रगति का एक पर्याय है। हमारे लिए यह केवल प्रगति का पर्याय न होकर जीवन का प्रश्न है।"

उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उत्पादकता से तात्पर्य उत्पादन के विभिन्न साधनों के बीच ऐसा सन्तुलन स्थापित करना है जिससे कि न्यूनतम प्रयत्न से अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके। इसमे उत्तम उत्पादन तकनीक का उपयोग किया जाना चाहिए।

वैज्ञानिक उत्पादकता के उद्देश्य

वैज्ञानिक उत्पादकता से निम्न उद्देश्यो की प्राप्ति हो सकती है—(i) औद्योगिक प्रगति, (ii) रहन-सहन के स्तर का ऊँचा उठना, (iii) मजदूरी मे वृद्धि होना; (vi) श्रम-कल्याण के कार्यो मे वृद्धि होना; (v) उत्पादन मे तेजी से वृद्धि होना; (vi) श्रमिकों की कुशलता मे वृद्धि होना; (ix) उत्पादित माल के नमूनों का गिरना, तथा (x) अधिक रोजगार मिलना।

पूँजी की उत्पादकता ज्ञात करने का सूत्र

पूँजी की उत्पादकता ज्ञात करने के लिए निम्न सूत्र (Formula) का प्रयोग किया जा सकता है

$$\text{पूँजी की उत्पादकता} = \frac{\text{सम्पूर्ण उत्पादन}}{\text{विनियोजित पूँजी}}$$

उत्पादकता के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तिमूलक धारणायें एव उनका समाधान

(१) उत्पादकता बनाम अधिक कार्यभार (Productivity Vs Greater work-load)—श्रमिकों द्वारा उत्पादकता का अर्थ अधिक कार्यभार एव कठोर परिश्रम से लगाया जाता है। उनके अनुसार उत्पादकता की आड मे मिल मालिक उनमे अधिक कार्य लेकर उनका शोषण करना चाहते है ताकि उनके लाभो मे वृद्धि हो जाय। वास्तव मे यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है।

1 "It aims at the maximum utilisation of resource for yielding as many goods and services as possible, of the kinds most wanted by consumers, at the lowest possible costs" –V. K. R. Manon

उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन श्रमिको की कार्यक्षमता मे वृद्धि करता है जिससे उन्हे कम थकान हो, कार्य की दशाओ मे सुधार हो, कार्य-विधि सरलतम हो तथा मजदूरी मे वृद्धि हो ।

(२) उत्पादकता बनाम पूँजीपतियों के लाभो में वृद्धि (Productivity Vs Increase in Profits)—उत्पादकता के सम्बन्ध मे दूसरी भ्रान्ति यह है कि उत्पादकता मे वृद्धि होने से केवल पूँजीपतियो के लाभो मे ही वृद्धि होती है । यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की भ्रान्ति एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था वाले समाज मे पनप सकती है । यदि उद्योग के विभिन्न सघटको मे आपसी अधिकारो, कर्त्तव्यो, उत्तरदायित्वो के विषय मे उचित ज्ञान हो जाय तो ऐसी भ्रान्ति का सदैव के लिए उन्मूलन हो सकता है । वृद्धित उत्पादकता का उद्देश्य 'खेल' मे भाग लेने वाले सभी पक्षकारो को इसका लाभ देना है । यहाँ तक कि उपभोक्ता जोकि उद्योग के उत्पादन पहलू से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नही है, उनको भी उत्पादकता मे वृद्धि होने से लाभ होता है । सक्षेप मे, उत्पादकता मे वृद्धि होने का लाभ मिल मालिको, श्रमिका एव उपभोक्ताओं सभी को होता है । हाँ, आवश्यकता इस बात की है कि इन लाभों का वितरण सम्बन्धित पक्षकारो के बीच न्यायोचित ढङ्ग से ही हो । इसके लिए किसी न किसी प्रकार के नियन्त्रण की व्यवस्था होना आवश्यक प्रतीत होता है ।

(३) उत्पादकता बनाम उत्पादन (Productivity Vs Production)—उत्पादकता के सम्बन्ध मे तृतीय महत्त्वपूर्ण भ्रान्ति यह है कि अधिकतर लोग उत्पादकता को उत्पादन का ही पर्यायवाची शब्द समझते हैं । वास्तविकता यह है कि इन दोनो शब्दो मे पर्याप्त अन्तर विद्यमान है। यदि किसी औद्योगिक इकाई मे कुल उत्पादन बढता है तो इसका यह अर्थ कदापि नही होता कि उसकी उत्पादकता भी बढ गई है । एक निमाण इकाई मे अधिक श्रम, अधिक मशीनो की स्थापना तथा अधिक सामग्री के प्रयोग से उत्पादन लागत को ध्यान मे नही रखते हुए, उत्पादन बढाया जा सकता है। किन्तु यह आवश्यक नही है कि उत्पादन मे वृद्धि का अर्थ उत्पादकता की वृद्धि ही है, यद्यपि उच्चतर उत्पादकता से उत्पादन मे निश्चयात्मक रूप मे वृद्धि होती है । उदाहरण के लिए, एक निर्माणी इकाई मे नियुक्त ५० श्रमिक उतनी ही अवधि मे उतना ही उत्पादन करते हैं जितना कि उसी प्रकार की अन्य निर्माणी इकाई मे ७५ श्रमिक करते है । अन्य बातें दोनो इकाइयो मे समान हैं । यहा पर यद्यपि इन दोना इकाइयो का उत्पादन बराबर है, किन्तु पहले वाली इकाई की उत्पादकता दूसरी इकाई की तुलना मे अधिक है ।

(४) उत्पादकता बनाम विवेकीकरण (Productivity Vs Rationalisation)—उत्पादकता के विषय मे चतुर्थ महत्त्वपूर्ण भ्रान्ति यह है कि उसे विवेकीकरण का ही पर्यायवाची समझा जाता है । इस सम्बन्ध मे यहाँ तक कहा जाता है कि विवेकीकरण की पुरानी शराब को नई बोतल मे भर कर केवल उत्पादकता का लेबल लगा दिया गया है । वास्तव मे इस विचारधारा में कुछ सत्यता अवश्य है, क्योकि दोनो का ही अन्तिम उद्देश्य क्षमतापूर्ण एव मितव्ययितापूर्ण उत्पादन करना है । किन्तु इन समानताओ के होते हुए भी दोनो मे अन्तर अवश्य है । उत्पादकता की तुलना मे विवेकीकरण का क्षेत्र अधिक व्यापक है । विवेकीकरण उद्योग के तान्त्रिक, वित्तीय, सगठनात्मक तथा मानवीय सभी पहलुओ को प्रभावित करता है जबकि उत्पादकता मुख्य रूप मे उत्पादन-विधियो, विभिन्न प्रमापो तथा श्रमिक वर्ग से ही सम्बन्धित है । विवेकीकरण मे अपव्यय की कमी पर जोर दिया जाता है किन्तु उत्पादकता के अन्तगत प्रबन्ध के सुधार पर अधिक जोर दिया जाता है ।

(५) उत्पादकता बनाम बेकारी (Productivity Vs Unemployment)—उत्पादकता के विषय मे पचम भ्रान्ति यह है कि इससे एक विशाल श्रम-शक्ति तुरन्त छटनी मे आ जायेगी और इस प्रकार रोजगार की स्थिति बिगड जायेगी । प्रत्युत्तर मे यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक अवस्था मे कुछ न कुछ बेकारी अवश्य फैलेगी किन्तु यह बेकारी स्थायी न होकर केवल अल्पकाल के लिए ही होगी । निर्मित वस्तुओं की माँग मे वृद्धि होने के कारण (क्योकि उत्पादन लागत मे कमी होने से उनकी माँग देश-विदेश मे बढ़ेगी) विद्यमान औद्योगिक इकाइयों का विस्तार होने के साथ-साथ नई औद्योगिक इकाइयो की भी स्थापना होगी । ऐसा होने पर रोजगार के सुअवसरो मे भी वृद्धि होना स्वाभाविक है । अतएव इस सम्बन्ध म हमे दीर्घकालीन दृष्टिकोण ही अपनाना चाहिए ।

उपरोक्त महत्वपूर्ण भ्रान्तियों के अतिरिक्त कभी-कभी यह भी आलोचना की जाती है कि उत्पादकता मुख्यतः उद्योगों से ही सम्बन्धित है। यद्यपि उत्पादकता की शुरुआत केवल उद्योगों के क्षेत्र में ही की गयी है, किन्तु उसको अन्त में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में लागू करना होगा। उत्पादकता आन्दोलन हेतु कृषि, व्यापार, यातायात कार्यालय प्रबन्ध आदि में विस्तृत क्षेत्र विद्यमान है। उत्पादकता वास्तव में सभी का कार्य है।

औद्योगिक उत्पादकता पर प्रभाव डालने वाले घटक
(Factors Influencing Industrial Productivity)

औद्योगिक उत्पादकता को प्रभावित करने वाली अनेक बातें है। इसका कारण यह है कि आजकल उत्पादन का ढाँचा इतना जटिल हो गया है कि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए हमें नियोक्ता और उसके कर्मचारियों के सहयोग के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी, जैसे —तकनीकी, वित्तीय, समाज की विचारधारा, सरकारी नीति, प्रबन्ध नीति आदि में सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। औद्योगिक उत्पादकता पर इन सब बातों का मिश्रित प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में, औद्योगिक उत्पादकता पर प्रभाव डालने वाले महत्त्वपूर्ण घटक निम्न लिखित है :

(१) तकनीकी घटक (Technological Factors)—जब से विज्ञान एवं तकनीक ने औद्योगिक जगत में प्रवेश किया है तब से, औद्योगीकरण की काया ही पलट गयी है—अर्थात् औद्योगीकरण की गति में तीव्रता आ गयी है। विज्ञान औद्योगीकरण हेतु नई-नई मशीनें उपलब्ध करता है, मशीनों के स्वचालन को प्रोत्साहित करता है, उत्पादन विधियों में सुधार करता है, तथा विशिष्टीकरण, प्रमापीकरण एवं सरलीकरण को प्रेरणा देता है। इससे न केवल नये-नये उद्योगों की स्थापना होती है बल्कि विद्यमान उद्योगों के भी विकास एवं विस्तार की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं।

(२) वित्तीय घटक (Financial factors)—पूँजी आधुनिक उद्योगों की जीवन सजीवनी एवं प्राणाधार है। बिना पूँजी के न तो औद्योगिक अनुसंधान ही हो सकते है और न आधुनिकीकरण ही सम्भव है। तकनीकी अनुसंधान, आधुनिकीकरण, श्रमिकों को अधिकतम सुख-सुविधायें प्रदान करने, उत्पादन विधियों में सुधार करने आदि अनेक कार्यों के लिये विशाल पूँजी की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि जिन देशों में पूँजी का आधिक्य है, वहाँ पर उत्पादकता में भी अपार वृद्धि हुई है।

(३) सामाजिक घटक (Social Factors)—औद्योगिक उन्नति तथा सामाजिक ढाँचा दोनों में ही गहन सम्बन्ध है। औद्योगिक उन्नति के साथ-साथ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है तथा रहन-सहन के स्तर में विकास होता है लेकिन साथ ही साथ औद्योगिक झगड़े, दुर्घटनायें एवं श्रमिकों की विभिन्न समस्यायें उठ खड़ी होती है। इन समस्याओं का औद्योगिक उत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इन्हें रोकने के लिए विभिन्न उपाय काम में लिये जाने चाहिए, जैसे—श्रम-कल्याण के कार्यों में वृद्धि होना, श्रमिक-अधिनियमों का पास होना, नगरों का सुआयोजन, उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण, श्रमिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था, गृह-निर्माण, स्वास्थ्य, मनोरंजन की व्यवस्था आदि। यह तभी सम्भव है जबकि प्रबन्धकों, श्रमिकों, निर्माताओं तथा उपभोक्ताओं सभी में मानसिक क्रान्ति का उदय हो। संक्षेप में, उत्पादकता वृद्धि के लिए समाज में मानसिक क्रान्ति का होना परम आवश्यक है।

(४) प्राकृतिक घटक (Natural Factors)—प्राकृतिक घटकों में भौतिक, भौगोलिक तथा जलवायु अन्तरों को सम्मिलित किया जाता है, जोकि औद्योगिक उत्पादकता पर व्यापक प्रभाव डालते हैं। जहाँ पर प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है और उनका उपयोग किया गया है, वहाँ पर उत्पादकता में पर्याप्त वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, बम्बई और मेनचेस्टर में कपड़ा मिलों की अधिकता का मुख्य कारण वहाँ की जलवायु की नमी है जिससे रुई का धागा बार-बार नहीं टूटने पाता है।

(५) सरकारी नीति (Government Policy)—सरकार अपनी करारोपण (Taxation), प्रशुल्क, वित्तीय और प्रशासनिक नीतियो द्वारा औद्योगिक उत्पादकता पर बहुत गहरा प्रभाव डाल सकती है। आधुनिक मशीनो की स्थापना की प्रवृत्ति को करो मे छूट देकर प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अत्यधिक सरक्षण (Protection) की नीति से घरेलू बाजार मे उद्योगो की स्थापना को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इन दोनो कदमो द्वारा उत्पादकता को प्रोत्साहन मिलता है।

(६) प्रबन्धकीय घटक (Managerial Factors)—औद्योगिक इकाइयो की सफलता या असफलता बहुत कुछ प्रबन्धको की योग्यता पर निर्भर करती है। प्रबन्धक ही औद्योगिक जगत के नेता होते हैं। अतएव उनमे सगठन करने की कुशलता दूरदर्शिता निर्णय लेने की कुशलता, जोखिम उठाने की तत्परता, अपने अधीनस्थो के साथ सम्मानजनक एव सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने की योग्यता आदि गुणो का होना आवश्यक है। इन गुणो के अभाव मे औद्योगिक उत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

उत्पादकता के प्राथमिक आधार
(Fundamentals of Productivity)

उत्पादकता रूपी भवन की नीव जिन्हे उत्पादकता के आधार कहा जा सकता है, निम्नलिखित आधारो पर खड़ी है

(१) हमे सिद्धान्त रूप मे इस बात को स्वीकार करना होगा कि **'उत्पादकता जीवन है न कि विनाश'**। इसके उपरान्त ही उत्पादकता की दिशा मे आवश्यक कदम उठाये जा सकते हैं।

(२) **उत्पादकता की प्राप्ति अधिनियमो के द्वारा नहीं की जा सकती है।'** अपितु इसके लिए तो मानव के मानसिक दृष्टिकोण मे परिवर्तन होना परम आवश्यक है।

(३) **'तकनीकी ज्ञान का विस्तार होना'**—उत्पादकता के लिए परम आवश्यक है, क्योकि जब तक उत्पादन विधियो मे सुधार नही होगा तब तक उत्पादन मे वृद्धि कैसे सम्भव हो सकती है।

(४) **'अनुसधान'** उत्पादकता मे वृद्धि का एक बहुमूल्य हथियार है, क्योकि अनुसधान के कारण ही नई-नई मशीनो की स्थापना होती है तथा तकनीक मे सुधार होता है। ये दोनो बातें उत्पादकता बढाने के लिए आवश्यक हैं।

(५) **श्रमिको से ऐच्छिक सहयोग मिलना'** उत्पादकता के लिए परम आवश्यक है, क्योकि इसके अभाव मे कोई भी उत्पादकता वृद्धि की योजना चाहे वह कितनी अच्छी क्यो न हो, सफलता प्राप्त नही कर सकती।

(६) **'कुशल श्रम उत्पादकता'** के बिना उत्पादकता मे वृद्धि होना सम्भव नही है। अतएव इसके लिए सभी आवश्यक कदम उठाने चाहिए, जैसे—श्रमिको के प्रशिक्षण की व्यवस्था, श्रम-कल्याणकारी कार्यों का आयोजन आदि।

(७) उत्पादकता **पारस्परिक सहयोग'** पर आधारित है। अतएव उत्पादकता की किसी भी योजना के लागू करने मे जब तक कि श्रमिको प्रबन्धको, मिल मालिको तथा उपभोक्ताओ का सहयोग नही मिलेगा तब तक उसकी सफलता की कामना करना व्यर्थ है।

निम्न उत्पादकता के कारण
(Causes of Low Productivity)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन द्वारा निर्दिष्ट, निम्न उत्पादकता के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:

(१) **'अशर्फियो की लूट तथा कोयलो पर छाप'** की नीति का अनुकरण किया जाना। इसका अर्थ है—औद्योगिक प्रबन्ध मे अल्पकालीन दृष्टिकोण का विद्यमान होना।

(२) तकनीकी ज्ञान का अभाव होना।

(३) अपने उत्पादन में अभिमान का अभाव होना। बड़े दुख क
में अपने देश के उत्पादनों के विषय में तनिक भी जागरूकता नहीं है। आज
को अपेक्षाकृत अधिक मूल्यों में, जिसका कि निर्माण विदेशों में हुआ हो,
तत्पर हैं चाहे वह देश में ही निर्मित उत्पादन के मुकाबले में मँहगी ही क्यों न पड़।

(४) श्रमिक-वर्ग के प्रति उदासीनता की भावना।

(५) कुशल विक्रय नीति का अभाव। जब तक विक्रय में वृद्धि नहीं होगी तब तक उपलब्ध साधनों के पूर्णतः उपभोग करने के लिए प्रेरणा नहीं मिलेगी।

(६) अन्य कारण—(i) पूँजी की कमी होना, (ii) उत्पादकता में वृद्धि से होने वाले लाभों का न्यायोचित वितरण न होना, (iii) बेकारी की समस्या आदि।

उत्पादकता में वृद्धि के सुझाव
(Suggestions to Improve Productivity)

औद्योगिक उत्पादकता में वृद्धि करने हेतु निम्नलिखित सुझाव कार्य में लाये जा सकते हैं :

(१) औद्योगिक क्षेत्र में विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान का विस्तार होना।

(२) श्रमिकों, प्रबन्धकों, सरकार तथा उपभोक्ताओं के मध्य पारस्परिक सहयोग का होना।

(३) श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि के लिए प्रशिक्षण, प्रेरणात्मक मजदूरी योजना तथा श्रम-कल्याण के कार्यों में वृद्धि होना।

(४) प्रमापीकरण, विशिष्टीकरण तथा सरलीकरण की योजनाओं को अपनाया जाना।

(५) अल्पकालीन दृष्टिकोण के बजाय दीर्घकालीन दृष्टिकोण का अपनाया जाना।

(६) उत्पादन की वृद्धि से प्राप्त होने वाले अतिरिक्त लाभों के लिए न्यायोचित वितरण के लिए उपयुक्त व्यवस्था का होना।

(७) शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था का होना।

(८) उत्पादन नियन्त्रण, लागत नियन्त्रण, किस्म नियन्त्रण आदि तकनीकी विधियों का अपनाया जाना।

(९) उद्योगपतियों द्वारा, जहाँ तक सम्भव हो, औद्योगिक परिवर्तनों द्वारा उत्पन्न मानव समस्याओं के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण का अपनाया जाना।

(१०) उत्पादकता वृद्धि में उत्पन्न वित्तीय रुकावटों का हटाया जाना।

(११) देश की सरकार का पूर्ण सहयोग प्राप्त होना।

(१२) उपभोक्ताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त होना।

औद्योगिक उत्पादकता की वृद्धि में प्रबन्ध का योगदान
(The Role of Management in Raising Industrial Productivity)

जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, औद्योगिक उत्पादकता पर विभिन्न घटकों का प्रभाव पड़ता है, किन्तु इनमें से सबसे अधिक प्रभाव प्रबन्ध का पड़ता है। इसका कारण यह है कि उत्पादकता वृद्धि की योजना कितनी अच्छी क्यों न हो तथा उसको सफल बनाने के लिए कितने भी साधन क्यों न जुटा ले, किन्तु यदि कहीं उस योजना को कार्यान्वित करने का भार अकुशल व्यक्तियों के हाथों में सौंप दिया जाय तो ऐसी अवस्था में सफलता की कामना करना

र्थ ही होगा। उत्पादन के सभी साधन सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं और प्रबन्ध उत्पादन के इन सभी साधनो को अपने ज्ञान, चातुर्य एव अनुभव से कार्यशील बनाता है। यद्यपि प्रबन्धकीय क्षमता की जाँच करने के लिए हमारे पास कोई स्थायी एव सर्वमान्य मापदण्ड नही है किन्तु फिर भी उसके निर्णय लेने की शक्ति तथा समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की दूरदर्शिता आदि से उसकी योग्यता एव क्षमता को आँका जा सकता है। अतः उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक उत्पादकता की वृद्धि मे प्रबन्ध का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके उपरान्त अब यह प्रश्न उठता है कि प्रबन्ध औद्योगिक उत्पादकता की वृद्धि मे किस प्रकार अपना योगदान दे सकता है इसके प्रत्युत्तर मे यह कहा जा सकता है कि उत्पादकता की वृद्धि मे प्रबन्ध अपना योगदान निम्न कदम उठाकर दे सकता है —(१) उत्पादकता की वृद्धि के विषय मे समुचित योजना तैयार करना, (२) उत्पादन प्रक्रिया पर प्रभाव नियन्त्रण रखना; (३) उत्पादन का प्रमापीकरण, विशिष्टीकरण एव सरलीकरण करना; (४) किस्म नियन्त्रण एव निरीक्षण क. व्यवस्था करना, (५) प्रबन्ध सम्बन्धी उत्तरदायित्व निबाहने वाले व्यक्तियो के लिए कुशल प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, (६) कुशल लागत लेखे तैयार कराना, (७) मधुर औद्योगिक सम्बन्धो की स्थापना करना; (८) श्रेष्ठ सेविवर्गीय नीति अपनाना; (९) प्रबन्ध मे श्रमिको को भी भाग लेने की व्यवस्था करना, (१०) औद्योगिक अनुसन्धान के कार्य पर बल देना; (११) उद्योग मे दो मार्गीय सम्पर्क अथवा सवादवाहन की कुशल व्यवस्था करना, जैसे—आदेश, स्पष्टीकरण आदि ऊपर से नीचे की ओर जाना तथा सूचनाओ, शिकायतो एव सम्मतियो का निम्न श्रमिको से ऊपर की ओर आना, (१२) श्रमिक-वर्ग का पूर्ण समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करना; (१३) उद्योग मे उत्पन्न होने वाली समस्त समस्याओ के प्रति प्रबन्ध का सहानुभूति पूर्ण रुख होना तथा उनका न्यायोचित तरीको से हल निकाला जाना आदि।

इस प्रकार उद्योगो मे उत्पादकता वृद्धि का मूलभूत उत्तरदायित्व प्रबन्धको के ही कधो पर है। उनके योगदान के बिना सफलता की कामना करना व्यर्थ होगा। अत हमे यह आशा करनी चाहिये कि प्रबन्धक इस सम्बन्ध मे उदारतापूर्ण दृष्टिकोण अपनायेंगे और इस प्रकार उत्पादकता वृद्धि के प्रयत्नो मे अपना हार्दिक सहयोग प्रदान करेंगे।

३५

भारत में उत्पादकता आन्दोलन

(Productivity Movement in India)

भारत में उत्पादकता आन्दोलन का महत्त्व

उत्पादकता अब प्रगति का पर्यायवाची शब्द बन गया है। हमारे लिए इसका अर्थ न केवल प्रगति अपितु जीवित रहने का प्रश्न (Survival) है। यह सामान्य ज्ञान की बात है कि उत्पादकता मे वृद्धि होने से उत्पादन की लागत कम होती है, जो न्यून मूल्यो पर विक्रय में वृद्धि करती है एव बदले मे बाजार का विस्तार करती है। इससे विश्व के बाजारो मे माल की प्रभावपूर्ण ढंग से प्रतिस्पर्धा सम्भव होती है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर तो देश मे औद्योगिक सम्पन्नता आती है तथा दूसरी ओर श्रमिको की मजदूरी मे वृद्धि, कार्य के घण्टो मे कमी तथा श्रम-कल्याणकारी कार्यो मे वृद्धि होती है। अमरीकी विद्वान् श्री ई० क्लेग (E. Clague) के शब्दो मे—"........अमरीका वासियो का उच्च जीवन-स्तर उनकी अधिक उत्पादकता का ही प्रत्यक्ष परिणाम है।" भारत जैसे विकासशील देश मे, जहाँ लगभग ५० करोड व्यक्तियों के लिए आवश्यक साधन जुटाने हैं, उत्पादकता आन्दोलन का विशेष महत्त्व है। यदि हम चाहते हैं कि भारत से गरीबी दूर हो और यहाँ के लोगो का जीवन-स्तर ऊँचा उठे तो हमारे सामने सिवाय उत्पादकता मे वृद्धि करने के अन्य कोई दूसरा रास्ता ही नही है। हमारे देश की वर्तमान परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपने देश में हर सम्भव तरीको से अधिक से अधिक उत्पादन करें। सत्य तो यह है कि आज भारत मे उत्पादकता जीवित रहने के लिए परम आवश्यक वस्तु बन गया है। भारत मे निम्न कारणो से उत्पादकता आन्दोलन विशेष महत्त्वपूर्ण है

(१) **जन-साधारण का जीवन ऊँचा उठाने के लिए**—यह किसी से छिपा नही है कि भारतीयो का जीवन-स्तर पश्चिमी देशो की तुलना मे बहुत गिरा हुआ है। स्थिति यह है कि आज औसत भारतीय को पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए न तो पर्याप्त पौष्टिक भोजन ही मिलता है और न तन ढकने के लिए पर्याप्त कपडा ही। उत्पादकता मे वृद्धि करने से जन-साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठाया जा सकता है, क्योंकि इससे लोगो को सस्ते मूल्यो पर अधिक वस्तुओ के उपभोग करने का सुअवसर प्राप्त होगा। यही नही, उत्पादकता के बढने से श्रमिको की आय मे भी वृद्धि होगी।

(२) **देश की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ करने के लिए**—उत्पादकता मे वृद्धि होने से औद्योगिक इकाइयों की क्षमता मे भी वृद्धि होती है। इससे औद्योगीकरण पनपता है। औद्योगीकरण के होने से देश की आय मे वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप देश की अर्थव्यवस्था का सुदृढ होना स्वाभाविक ही है।

(३) निर्यातों में वृद्धि करने के लिए—उत्पादकता में वृद्धि होने से उत्पादन लागत मे पर्याप्त कमी होकर उद्योगो की प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति का विस्तार होता है। परिणामस्वरूप निर्यातो मे वृद्धि होती है तथा विदेशी मुद्रा का अर्जन होता है। आज हमारे देश मे विदेशी मुद्रा की सबसे अधिक आवश्यकता है ताकि हम एक ओर तो विदेशो से खाद्यान्न का आयात करके भूखी जनता को पेट भर अनाज उपलब्ध कर सके, तथा दूसरी ओर पाकिस्तानी तथा चीनी आक्रमण का सामना करने हेतु विदेशो से अस्त्र-शस्त्र एव युद्ध-सामग्री खरीदकर अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें।

(४) उत्पादन की मात्रा में वृद्धि तथा उत्पादन लागत में कमी करने के लिए—भारत मे उपभोक्ता तथा पूँजीगत वस्तुओं का भारी अभाव है। देश मे पूँजी की कमी के कारण भारत मे उपभोक्ता तथा पूँजीगत वस्तुओ का भारी अभाव है। देश मे पूँजी की कमी से इनमे वृद्धि करना सम्भव नही है। इनकी कमी के कारण मूल्यो मे वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। मूल्यो मे वृद्धि के होने से जन-साधारण का जीवन कष्टमय हो जाता है। अतएव हमें अब उपलब्ध पूँजी से ही उत्पादन मे वृद्धि करनी है। इसके लिए उत्पादकता की वृद्धि का आश्रय लेना होगा। जैसे-जैसे उत्पादकता में वृद्धि होती जायेगी वैसे-वैसे उत्पादन लागत मे कमी होती जायेगी। इससे उपभोक्ताओं को उचित मूल्यो पर अधिक वस्तुओं के उपभोग का सुअवसर मिलेगा।

(५) अन्य लाभ—(i) उत्पादकता मे वृद्धि होने से देश की वास्तविक आय मे भी वृद्धि होती है। (ii) उत्पादकता प्रगति का सूचक है। (iii) उत्पादकता मे वृद्धि होने से श्रमिको को भी लाभ पहुँचता है। उनकी आय मे वृद्धि होती है, काम के घण्टो में कमी होती है तथा श्रम-कल्याणकारी कार्यो मे वृद्धि होती है। (iv) उत्पादकता निर्देशाको का विविध उपयोग किया जा सकता है। (v) विदेशी उत्पादको से सफल प्रतियोगिता भी जा सकती है। (vi) देश की सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ बनाने के लिए भी उत्पादकता मे वृद्धि करना आवश्यक प्रतीत होता है।

भारत मे उत्पादकता आन्दोलन की महत्ता के सम्बन्ध में भारतीय नेताओं के विचार

(१) **स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू के अनुसार,** 'यद्यपि हमारे यहाँ बडी सख्या में सस्ते मजदूर सुलभ है, फिर भी हम दूसरे देशो से उनके उत्पादन यन्त्र, किस्म आदि मे प्रतियोगिता नही कर सकते, यहाँ तक कि अपने आन्तरिक सरक्षित बाजार मे हम बहुत दिनों बहुत आगे तक नही जा सकते। अतएव यह अत्यन्त महत्त्व की बात है कि हम अपने साधनो का यथासम्भव सर्वोत्तम तरीके से उपयोग करें और इसके लिए हमे आधुनिक उत्पादन प्रणालियाँ तथा उत्तम प्रबन्ध के तरीके प्रयोग मे लाने चाहिए।"

(२) **भारत के भूतपूर्व श्रम तथा नियोजन मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा के अनुसार,** "यद्यपि मजदूरो की माँगें उचित हैं, फिर भी वे जो माँगते हैं, वह काफी लम्बे समय तक तत्काल नही दिया जा सकता, जब तक कि साथ ही साथ और कुछ कदम न उठाये जायें और ये कदम 'उत्पादकता' शब्द में आ जाते हैं। ···'उत्पादकता' शब्द उद्देश्य तथा कार्य-क्षेत्र दोनो ही दृष्टियों से बहुत व्यापक है। यह सामान्यत प्रगति का पर्यायवाची समझा जाता है। हमारे लिए तो यह इससे कुछ अधिक है, क्योंकि हमारा जीवित रहना इसी पर निर्भर है। हमारे देश मे अगर उत्पादकता नही बढती तो बाँटने के लिए होगा ही क्या?"

(३) **भारत के भूतपूर्व उद्योग मन्त्री श्री मनुभाई शाह के अनुसार,** "विदेशो के बाजार मे हमे उन देशो के उत्पादित माल से प्रतियोगिता करनी है जिनका उत्पादन का स्तर काफी ऊँचा है और जो कम लागत पर बढिया किस्म का माल तैयार कर सकते हैं। ··· बढिया किस्म की अधिकाधिक चीजें कम लागत पर पैदा करने के लिए हमे उत्पादकता आन्दोलन का सहारा लेना चाहिए।"

भारत मे उत्पादकता आन्दोलन
(Productivity Movement in India)

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की चतुर्मुखी उन्नति के लिए उत्पादकता मे वृद्धि करना नितान्त आवश्यक है। अतएव स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् ही

हमारी राष्ट्रीय सरकार ने स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे भारत मे उत्पादकता की वृद्धि के प्रश्न पर जोर देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार भारत मे उत्पादकता आन्दोलन का श्रीगणेश स्वतन्त्रता की प्राप्ति से हुआ है। उत्पादकता की वृद्धि के उपायो पर विचार-विनिमय करने के लिए अध्ययन गोष्ठियो का आयोजन किया गया और 'तकनीकी सहायता कार्यक्रम' के अन्तर्गत विदेशो से तकनीकी विशेषज्ञो को आमन्त्रित किया गया एवं अपने शिष्टमण्डलो को विदेशों मे तकनीकी ज्ञान की प्रगति का अध्ययन करने के लिए भेजा गया। अध्ययन मे सुविधा की दृष्टि से भारत मे उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन के सम्बन्ध म अब तक के उठाये गये कदमों को निम्न-लिखित भागो मे विभाजित किया जा सकता है -

(१) **विदेशों से तकनीकी विशेषज्ञो का आगमन**—भारत सरकार की माँग पर प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन मिशन भारत मे दिसम्बर सन् १९५२ में आया। इसमें प्रबन्ध एवं औद्योगिक इन्जीनियरिंग से सम्बन्धित चार विशेषज्ञ थे। इससे बम्बई एव कलकत्ता में उत्पादकता से सम्बन्धित विभिन्न प्रदर्शन आयोजित किये। ये प्रदर्शन काफी सफल रहे। मिशन एक वर्ष तक भारत मे रहा। इस मिशन के कार्य का प्रधान परिणाम यह हुआ कि सरकार ने दिसम्बर सन् १९५३ को यह निश्चय किया कि सन् १९५४ में राष्ट्रीय उत्पादकता केन्द्र की स्थापना मे तकनीकी सहायता की व्यवस्था की प्रार्थना की जाय। सितम्बर सन् १९५४ में दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन मिशन भारत पहुँचा जिसने कई कारखानो मे निरीक्षणो के विस्तृत क्रम से अपना कार्य प्रारम्भ किया। इस मिशन का कार्य भी पर्याप्त सन्तोषजनक रहा।

(२) **विदेशों को भारतीय दलों का प्रस्थान**—उत्पादकता आन्दोलन के सम्बन्ध मे विदेशो मे हुई प्रगति का अध्ययन करने हेतु अक्टूबर-नवम्बर १९५६ मे एक दल डा० विक्रम साराभाई की अध्यक्षता में जापान गया। इस दल ने मार्च १९५७ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। दल ने सुझाव दिया कि जापान के उत्पादकता केन्द्र की भाँति भारत मे भी 'राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद' की स्थापना की जानी चाहिए जिसके निम्न कार्य हो —(i) उत्पादकता की वृद्धि के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करना। (ii) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय साधनो से वित्तीय सहायता प्राप्त करना। (iii) विशिष्ट तकनीकी सहायता प्रदान करना। (iv) स्थानीय परिषदो की स्थापना करना।

(३) **उत्पादकता वृद्धि से सम्बन्धित सेमिनार का आयोजन**—जापान से लौटे दल की सिफारिशों को कार्यान्वित करने की दशा मे पहला कदम सन् १९५७ में उठाया गया, जब केन्द्र के वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय के तत्वावधान में उत्पादकता पर एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें राष्ट्रीय उत्पादकता आन्दोलन के सिद्धान्तो एवं कार्यक्रमो को स्वीकार किया गया। उत्पादकता आन्दोलन को बढावा देने के सम्बन्ध मे सेमिनार ने निम्न सिद्धान्त निश्चित किये :— (i) सुधरी हुई तकनीक से उत्पादन मे वृद्धि करना, लागो के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना, श्रमिको के काम की दशाओ मे सुधार करना तथा कल्याणकारी कार्यों मे वृद्धि करना। (ii) विकासशील अर्थव्यवस्था मे उत्पादकता की वृद्धि से उद्योगो के विकास को प्रोत्साहित कर रोजगार मे वृद्धि करना। (iii) उत्पादकता की वृद्धि से जो लाभ हो उनको पूँजी, श्रम एव उपभोक्ता तीनों के बीच न्यायोचित ढंग से बाँटना। (iv) उत्पादकता आन्दोलन के अन्तर्गत बड़े, छोटे तथा हल्के, चाहे निजी क्षेत्र मे हो अथवा सार्वजनिक क्षेत्र मे, सभी प्रकार के उद्योगो को सम्मिलित किया जाय। (v) उत्पादकता वृद्धि के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करने हेतु संयुक्त विचार विमर्श, प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग और प्रत्येक उद्योग एवं इकाई मे पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहन दिया जाय।

(४) **राष्ट्रीयकरण उत्पादकता परिषद् को स्थापना**—जापान से लौटे हुए दल तथा सेमिनार की सिफारिशो पर फरवरी १९५८ म राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद की स्थापना की गई। यह एक स्वायत्तशासी संस्था है जिसके सदस्यों की अधिकतम सख्या ६० तक सीमित है। परिषद मे ११ प्रतिनिधि हैं जो सरकारो विभागो, सेवायोजको के संघो तथा श्रम-सघो से लिए गये है। इसमे उपभोक्ताओ, तकनीकी विशेषज्ञो तथा लघु उद्योगो के प्रतिनिधियो को भी सम्मिलित किया गया है। इस परिषद के अध्यक्ष भारत सरकार के उद्योग मन्त्री हैं। परिषद का प्रबन्ध एक प्रशासन

समिति द्वारा किया जाता है। इस समिति के सदस्यों की संख्या २० तक सीमित है। सदस्यों का निर्वाचन प्रतिवर्ष परिषद द्वारा ही किया जाता है परिषद का प्रमुख कार्य भारत मे उत्पादकता आन्दोलन का सचालन करना है। परिषद की सर्वप्रथम बैठक २२ मार्च, १९५८ मे हुई। इसमे इसने एक आठ-सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की।

आठ सूत्री कार्यक्रम—परिषद द्वारा घोषित आठ-सूत्री कार्यक्रम निम्न प्रकार है— (१) उत्पादकता से सम्बन्धित सूचनाओं का प्रसार करके उत्पादकता बढाने की चेतना को प्रोत्साहित करना। (२) प्रबन्धक के सभी स्तरो पर उत्पादकता की टेक्नीक तथा प्रक्रियाओ को प्रशिक्षण देना। (३) जब स्थानीय परिषदें आवश्यक समझें तब विशेषज्ञो की सेवाएँ उपलब्ध करना। (४) कारखानो मे पारस्परिक निरीक्षण प्रोत्साहन देना, जिससे सामान्य समस्याओ पर विचारों का आदान-प्रदान होने लगे। (५) उत्पादकता के क्षेत्र में विस्तृत एव गहन अनुसन्धान करना। (६) प्रगतिशील देशों मे उत्पादकता को बढाने के लिए अपनाये गये साधनो का अध्ययन करने हेतु अध्ययन-मण्डल भेजना। (७) विदेशो में प्रशिक्षण प्राप्त करने की व्यवस्था करना। (८) विदेशी तकनीशियनो एव विशेषज्ञो को आमन्त्रित करना।

आजकल हमारे देश मे ४६ स्थानीय परिषदें तथा बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, कानपुर, बगलौर तथा लुधियाना मे छः क्षेत्रीय परिषदें है।

(५) **उत्पादकता सर्वेक्षण समिति की स्थापना**—मार्च १९५८ मे राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के द्वारा उत्पादकता सर्वेक्षण समिति की स्थापना की गई। इस समिति का प्रमुख उद्देश्य भारत मे उत्पादकता आन्दोलन की प्रगति के सम्बन्ध मे आवश्यक लेखा-जोखा रखना है।

(६) **पचवर्षीय योजनाओं में उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन**—भारत सरकार ने यह अनुभव किया कि बिना उत्पादकता मे वृद्धि हुए भारत की आर्थिक प्रगति की कामना करना व्यर्थ होगा। अतएव इस बात को ध्यान मे रखते हुए तीनों पचवर्षीय योजनाओ मे भारत मे उत्पादकता वृद्धि के लिए प्रयत्न किये गये। प्रथम पचवर्षीय योजना मे कृषि के क्षेत्र मे उत्पादकता वृद्धि की दिशा मे विभिन्न कदम उठाये गये। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक उत्पादन वृद्धि आन्दोलन को अधिक महत्व दिया गया। तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत श्रमिको की कार्य-कुशलता में वृद्धि तथा उत्पादकता बढाने हेतु विभिन्न प्रशिक्षण योजनायें चालू की गई।

(७) **अन्य सहायक सस्थानों की स्थापना**—राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद तथा उत्पादकता सर्वेक्षण समिति के अतिरिक्त निम्न सस्थायें भी उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन मे अपना अमूल्य सहयोग प्रदान कर रही हैं :—(१) भारतीय सांख्यिकी सस्थान (Indian Statistical Institution) ने गुण नियन्त्रण (Quality control) के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया। (२) बम्बई और बगलौर मे गुण-नियन्त्रण इकाइयाँ (Quality Control Units) स्थापित की गई। (३) अहमदाबाद टैक्सटाइल इण्डस्ट्रीज रिसर्च एसोसियेशन तथा इण्डिया टैक्सटाइल रिसर्च एसोसियेशन ने गुण-नियन्त्रण कला का विस्तार किया। (४) उच्च प्रबन्ध के प्रशिक्षण हेतु बगलौर मे इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ कॉलेज की स्थापना भारत सरकार ने की। (५) अनेक स्थानो पर मैनेजमेंट एसोसियेशन स्थापित किये गये। (६) कई विश्वविद्यालयो, जैसे—बम्बई, मद्रास, कलकत्ता आदि में बिजिनेस एडमिनिस्ट्रेशन के कोर्स प्रारम्भ किये गये है। (७) भारत सरकार द्वारा स्थापित स्मॉल इडस्ट्रीज इस्टीट्यूट प्रशिक्षण प्रदान करती है और टैक्नीक मे सुधार करने का प्रयत्न करती है। (८) नेशनल डेवलपमेंट काउन्सिल के अन्तर्गत प्लान प्रोजेक्ट कमेटी तथा प्लानिंग की इन्डस्ट्रियल मैनेजमेन्ट रिसर्च यूनिट तथा अन्य अनुसन्धान सस्थानो द्वारा उत्पादकता वृद्धि से सम्बन्धित तकनीको मे छानबीन के प्रयत्न किये गये हैं। (९) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने भारत को विशेष शिक्षको की सेवायें सुलभ की हैं, जिन्होंने भारत के विभिन्न केन्द्रो मे सुपरवाइजरो के लिए कई कोर्स संचालित किये है। (१०) अमेरिका का टैक्नीकल कोऑपरेटिव मिशन (Technical Cooperative Mission) भी उत्पादकता आन्दोलन मे बहुत कुछ सहयोग दे रहा है। विशेषज्ञो की सेवायें तथा पुस्तको के रूप मे महत्त्वपूर्ण सहयोग इस सस्थान से मिल रहा है। (११) औद्योगिक इन्जीनियरिंग के क्षेत्र मे अनेक इन्जीनियरिंग सस्थाओ—जैसे इडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टैक्नोलॉजी खड़गपुर, इडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स बगलौर आदि ने प्रशिक्षण का आयोजन

किया है । (१२) एशियन उत्पादकता संगठन (A. P O.) भी इस दिशा में सहयोग प्रदान कर रहा है ।

(८) उत्पादकता वर्ष, १९६६—भारत मे उत्पादकता आन्दोलन को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए भारत सरकार ने सन् १९६६ का कलेण्डर वर्ष उत्पादकता वर्ष के रूप मे मनाया । इसके अन्तगत विभिन्न कार्यक्रमो का आयोजन किया गया, जैसे—सेमिनार एवं गोष्ठियो का आयोजन, विशिष्ट विवेचन एव रेडियो द्वारा विभिन्न कार्यक्रमो का आयोजन, प्रदर्शनियों का आयोजन, विश्वविद्यालयो में उत्पादकता सम्बन्धी प्रतियोगिताओ का आयोजन, वार्षिक लक्ष्य निर्धारित करना आदि ।

(९) एशियन उत्पादकता संगठन की सदस्यता—भारत मे उत्पादकता वृद्धि के सम्बन्ध मे विदेशो से और अधिक सम्पर्क बढाने हेतु भारत अप्रैल १९६१ मे स्थापित एशियन उत्पादकता संगठन का भी सदस्यता बन गया है ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत मे उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन को सफल बनाने हेतु अनेक सराहनीय कदम उठाये गये हैं । इस दिशा मे कुछ सफलता भी मिली है—लेकिन इस श्रृंखला मे अभी एक कडी, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है, मौजूद नही है । वह कडी है, हर कारखाने में आपसी परामर्श के द्वारा उत्पादन बढाने के लिए अधिक से अधिक प्रयास करने की अभिलाषा । केवल नीति बनाने या ऊँचे स्तर पर फैसला करने से कार्य नही हो सकता । आवश्यकता है हर व्यक्ति मे उत्पादन बढाने की अभिलाषा होना और आपस मे परामर्श द्वारा उस अभिलाषा को कार्यान्वित करना ।

देश में उत्पादकता को बढाने की जिम्मेदारी तीन मुख्य वर्गो पर है और वे है उद्योगपति, सरकार और श्रमिक । आशा है कि यदि भारतीय उत्पादकता आन्दोलन के ये तीनो स्तम्भ दृढ एवं शक्तिशाली बनकर अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे, तो देश का आर्थिक आधार बहुत दृढ़ हो जावेगा ।

३६

औद्योगिक नियोजन एवं उसकी समस्याएँ
(Industrial Planning and its Problems)

औद्योगिक नियोजन का अर्थ :

आधुनिक संसार के जटिल सामाजिक व आर्थिक ढाँचे मे 'योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था' ही किसी राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास की एकमात्र सर्व-स्वीकृत विधि है। यही कारण है कि आज संसार के सभी देशो मे नियोजन पर अधिकाधिक बल दिया जा रहा है। प्रो० **रॉबिन्स** (Robbins) के अनुसार "योजना बनाने का अर्थ, उद्देश्य निर्धारित करके काम करना, चुनना व निर्णय करना है, और चुनना व निर्णय करना सभी आर्थिक क्रियाओ का निचोड है।" श्री जी० डी० एच० **कोल** (G D H Cole) के शब्दो मे, "उत्पादन के साधनो का यथाविधि वितरण करना ही नियोजन कहलाता है।" श्री **ड्रटन** के अनुसार, किसी राजकीय सङ्गठन द्वारा जान-बूझकर एव वैधानिक ढङ्ग से आर्थिक प्राथमिकताओ के क्रम का निर्धारण ही नियोजन है।"

औद्योगिक नियोजन से हमारा आशय किसी देश के उद्योग-धन्धो के विधिवत् विकास से है। दूसरे शब्दो मे, जब किसी देश मे उद्योग-धन्धो का विकास किसी निश्चित योजना के अनुसार किया जाता है, तो वह "**औद्योगिक नियोजन**" कहलाता है। इससे औद्योगिक उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनो मे वृद्धि होती है और जन-साधारण का उपभोग स्तर ऊँचा उठता है। औद्योगिक नियोजन के अन्तर्गत विवेकीकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध, आधुनिकीकरण आदि आते हैं।

औद्योगिक नियोजन के उद्देश्य

औद्योगिक नियोजन का उद्देश्य निश्चित योजना के अनुसार द्रुतगति से औद्योगिक विकास करना होता है जिससे जन-साधारण को प्रचुर मात्रा मे आधुनिक उपभोग की वस्तुयें उपलब्ध हो सकें और उनके रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा उठ सके। औद्योगिक नियोजन के परिणामस्वरूप देश के प्राकृतिक साधनो का विदोहन करके नये-नये उद्योग-धन्धो की स्थापना होती है, बेकारी दूर होती है, उत्पादन तथा उत्पादन क्षमता दोनो मे वृद्धि होती है, सन्तुलित एवं विकेन्द्रित औद्योगिक विकास होता है, घातक प्रतिस्पर्धा का अन्त होता है तथा जन-साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है। इस प्रकार औद्योगिक नियोजन के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं

(१) **देश के प्राकृतिक साधनो का विदोहन करना**—औद्योगिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य सम्बन्धित देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण एव उचित विदोहन करना होता है।

(२) **बेकारी दूर करना**—बेकारी का अर्थ है काम करने योग्य एव काम करने के इच्छुक नर-नारियो के लिए काम का अभाव। बेकारी मानव जाति के लिए सबसे भयङ्कर अभि-

शाप है। बेकार व्यक्ति सदैव विध्वंसात्मक बातें सोचता है। उसके अन्दर घृणा, शत्रुता और द्वेष की भावनायें जन्म लेती हैं, जिसके फलस्वरूप, उसका शरीर, मस्तिष्क और सामाजिक स्तर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। बेकारी देश के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक ढांचे को छिन्न-भिन्न कर देती है। अतएव नियोजन का द्वितीय प्रमुख उद्देश्य देश मे से बेकारी दूर करना होता है।

(३) सन्तुलित एवं विकेन्द्रित औद्योगिक विकास करना—औद्योगिक नियोजन के अभाव मे असन्तुलित एवं अविकेन्द्रित औद्योगिक विकास होता है। कभी-कभी आवश्यक उद्योगों के स्थान पर आवश्यक उद्योग पनप जाते है। इसी प्रकार विकसित उद्योगो का और अधिक विकास हो जाता है तथा अविकसित उद्योग ज्यो के त्यो पिछड़ी हुई अवस्था मे ही रह जाते हैं अतएव औद्योगिक नियोजन का तृतीय प्रमुख उद्देश्य देश मे सन्तुलित एवं विकेन्द्रित औद्योगिक विकास करना होता है।

(४) औद्योगीकरण की गति को तीव्र करना—औद्योगीकरण की गति मन्द रहने से न तो उद्योगो का समुचित विकास ही हो पाता है और न निश्चित अवधि मे निर्धारित लक्ष्य ही प्राप्त हो पाते है। फलतः देश पिछड़ी हुई अवस्था मे ही रहता है। इस प्रकार औद्योगिक नियोजन का चतुर्थ प्रमुख उद्देश्य औद्योगीकरण की गति को तीव्र करना होता है।

(५) घातक तथा गलाकाट प्रतिस्पर्धा का अन्त करना—कभी-कभी विभिन्न उद्योगों मे आपस मे घातक तथा गलाकाट प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाती है। इससे सम्बन्धित उद्योग-धन्धों तथा राष्ट्र दोनो को क्षति पहुँचती है। अतएव औद्योगिक नियोजन का पंचम उद्देश्य घातक तथा गलाकाट प्रतिस्पर्धा का अन्त करना होता है।

(६) उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनों में वृद्धि करना—जिस प्रकार मनुष्य के चलने-फिरने के लिए दोनो पैरो का होना आवश्यक होता है उसी प्रकार औद्योगीकरण के लिये उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनों मे वृद्धि करने की आवश्यकता होती है। अतएव औद्योगिक नियोजन का षष्ठम् उद्देश्य उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनो मे वृद्धि करना होता है।

(७) पूंजीगत तथा उपभोग दोनों प्रकार की वस्तुओं के उद्योगों का विकास करना—सफल औद्योगिक नियोजन का सप्तम् उद्देश्य पूंजीगत (जैसे मशीन) तथा उपभोग दोनों प्रकार की वस्तुओं के उद्योगो का समान रूप से विकास करना होता है। उदाहरण के लिए, रूस मे पूंजीगत वस्तुओ के उद्योग तो उन्नति की चरम सीमा पर हैं किन्तु उपभोग की वस्तुओं के उद्योगो का समुचित विकास नही हो पाता है। इसी कारण वहां पर उपभोग की वस्तुयें अपेक्षाकृत अधिक महँगी हैं।

(८) जन-साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठाना—सफल औद्योगिक नियोजन का माप-दण्ड जन-साधारण के जीवन-स्तर का ऊँचा उठना है। उदाहरण के लिए, भारत तथा एशिया के अन्य देशो मे जन-साधारण का जीवन स्तर नीचा है, क्योंकि यहां पर औद्योगिक नियोजन का अभाव है। अतएव औद्योगिक नियोजन का अन्तिम उद्देश्य जन-साधारण के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना होता है।

भारत में औद्योगिक नियोजन
(Industrial Planning in India)

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत मे औद्योगिक नियोजन का एक प्रकार से अभाव था। केवल उपभोग सम्बन्धी वस्तुओ के उद्योगो के विकास का ही प्रयत्न किया गया था। मूलभूत उद्योगो का विकास पिछड़ी हुई अवस्था मे था। केवल देश के कुछ प्रमुख भागो (जैसे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली, कानपुर) मे औद्योगीकरण हुआ था। अतएव राष्ट्रीय सरकार ने भारत मे औद्योगिक नियोजन की महत्ता को समझा तथा पंचवर्षीय योजनाओ मे औद्योगिक नियोजन पर बल दिया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक नियोजन :

मार्च, १९५० मे भारत मे योजना आयोग की स्थापना की गई। स्थापना के तुरन्त

पश्चात् योजना आयोग ने प्रथम योजना प्रस्तुत की। योजना आयोग ने मूल रूप से सन् १९४८ की औद्योगिक नीति का ही समर्थन किया तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का प्रयास किया। आयोग ने सार्वजनिक तथा निजी दोनो क्षेत्रो के विकास पर जोर दिया। प्रथम योजना मे औद्योगिक विकास के लिए निम्न औद्योगिक प्राथमिकताएँ निश्चित की गयी —(१) विद्यमान उत्पादन-क्षमता का अधिकाधिक उपयोग करना। (२) लोहा व इस्पात्, सीमेन्ट, खाद, भारी रसायन, मशीन तथा अन्य आधारभूत उद्योगो की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि करना। (३) जिन औद्योगिक इकाइयो पर पूँजीगत व्यय हो चुका है, उनको पूरा करना। (४) ऐसी नवीन औद्योगिक इकाइयो की स्थापना करना जिनके द्वारा औद्योगिक विकास मे सहायता मिलेगी तथा औद्योगिक असन्तुलन दूर होगा।

प्रथम योजना में औद्योगिक विकास

प्रथम योजना काल मे उद्योगो के विकास पर कुल मिलाकर २९३ करोड रुपये का व्यय हुआ। इस राशि मे से निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र मे क्रमश ६० करोड रुपये तथा २३३ करोड रुपये व्यय हुए। योजना काल मे कुल औद्योगिक उत्पादन मे ३८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। पूँजीगत सामान (Capital goods) म ७० प्रतिशत तथा मध्यवर्गीय सामान (Intermediate goods), औद्योगिक कच्चा माल तथा उपभोग सम्बन्धी सामान मे से प्रत्येक उत्पादन मे ३४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। सन १९५०-५१ से सन १९५५ ५६ तक की अवधि मे औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है

प्रमुख उद्योगो मे औद्योगिक प्रगति की झलक

क्रम-संख्या	उद्योग का नाम	इकाई	उत्पादन सन १९५०-५१ मे	उत्पादन सन् १९५५-५६ में	प्रतिशत वृद्धि
१	औद्योगिक उत्पादन का निर्देशांक	—	१००	१३९	३९
२	एल्यूमिनियम	हजार टन मे	३ ६८	७ ३३	९९ ४
३	वनस्पति	लाख टन मे	१ ५३	२ ७६	८० ४
४	तैयार इस्पात (Finished steel)	लाख टन मे	९ ७६	१२ ७४	३०·५
५	पिग आयरन	,, ,, ,,	१५ ७२	१८ ३९	१७ ०
६	चीनी	,, ,, ,,	१० ६४	१७	५९ ९
७	सीमेण्ट	,, ,,	२६ ८९	४५ ९२	७० ८
८	सूती कपडा	मिलियन गज मे	३७१६	५१०२	३७ ३
९	जूट का सामान	लाख टन मे	८ २४	१० ५४	२७ ९
१०	पेट्रोलियम	दस लाख टन मे		३ ६	
११	मशीन औजार	मूल्य करोड रुपये मे	० ३४	० ७८	२३०

यद्यपि लोहा इस्पात तथा भारी बिजली के सामान सम्बन्धी लक्ष्य प्राप्त नही हो सके, किन्तु फिर भी कहा जा सकता है कि प्रथम योजना काल मे औद्योगिक प्रगति सन्तोषजनक रही है। इसी योजना में राष्ट्रीय आय में १७ ५ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

द्वितीय योजना में औद्योगिक नियोजन

द्वितीय योजना मूलभूत रूप म औद्योगिक नियोजन की योजना थी। इस योजना मे आधार भूत तथा बड़े पैमाने के उद्योगो को प्राथमिकता दी गई, जिससे देश का औद्योगीकरण तीव्र गति से किया जा सके। इस योजना मे सन् १९५६ की घोषित औद्योगिक नीति का अनुकरण किया गया। प्रथम योजना की भाँति इस योजना का कार्यकाल भी केवल ५ वर्ष था। इस प्रकार इस

योजना की अवधि १ अप्रैल, १९५७ से लेकर मार्च, १९६१ तक की थी। इस योजना में औद्योगिक विकास के लिए निम्नलिखित औद्योगिक प्राथमिकताएँ निर्धारित की गई :

(१) लोहा तथा इस्पात, भारी रसायन तथा खाद का उत्पादन बढ़ाना तथा भारी इन्जीनियरिंग तथा मशीन उद्योगों का विकास करना। (२) उत्पादक वस्तुओं तथा विकास के लिए आधार वस्तुओं—सीमेण्ट, एल्यूमिनियम, दवायें, रंगाई तथा खाद आदि की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि करना। (३) महत्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योगों जैसे सूती वस्त्र, चीनी तथा जूट का आधुनिकीकरण तथा पुनर्गठन करना। (४) जिन उद्योगो की उत्पादन-क्षमता तथा वास्तविक उत्पादन मे अन्तर हो, उनकी उत्पादन-क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करना। (५) सामान्य उत्पादन कार्यक्रमो को ध्यान में रखते हुए उपभोक्ता पदार्थो के उद्योगो की उत्पादन-क्षमता का विकास करना।

द्वितीय योजना में औद्योगिक विकास :

द्वितीय योजनाकाल मे उद्योगो के विकास पर कुल मिलाकर १६२० करोड रुपये व्यय किये गये, जबकि लक्ष्य केवल १२४४ करोड रुपये व्यय करने का था। इस प्रकार निर्धारित लक्ष्य से लगभग ३० प्रतिशत अधिक व्यय हुआ। निजी क्षेत्र में ८५० करोड रुपये व्यय हुए जबकि अनुमानित लक्ष्य केवल ६८५ करोड रुपये व्यय करने का था। इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र मे ७७० करोड रुपये व्यय हुए जबकि लक्ष्य केवल ५५६ करोड रुपये व्यय करने का था। सामान्य सूचनांक १३९ से बढकर १९४ तक पहुँच गया। इस योजनाकाल में कुछ प्रमुख उद्योगों का उत्पादन निम्न प्रकार था ·

प्रमुख उद्योगों में औद्योगिक प्रगति की झलक

क्रम-संख्या	उद्योगों का नाम	इकाई	सन् १९५५-५६ में उत्पादन	सन् १९६०-६१ में उत्पादन
१.	तैयार स्टील	दस लाख टन मे	१ ३	२ २
२	सीमेंट	,, ,, ,, ,,	४ ६	८·५
३.	चीनी	,, ,, ,, ,,	१·८६	३·०
४.	सूती वस्त्र	दस लाख गज मे	५,१०२	५,१२७
५.	एल्यूमिनियम	हजार टन मे	७·३	१८ ५
६.	साइकिल	लाख की सख्या मे	५ १३	१० ५
७	नाइट्रोजन खाद	हजार टन मे	७९	११०
८.	फास्फोरिक खाद	,, ,, ,,	१२	५५
९	Steel Ingots	दस लाख टन मे	१·७	३·५

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय योजना काल मे औद्योगिक प्रगति विशेष उल्लेखनीय रही है। इसमे कई नवीन उद्योगो की स्थापना की गई। सार्वजनिक क्षेत्र के तीनो इस्पात के कारखानो (अर्थात् रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर) मे उत्पादन प्रारम्भ हो गया। इतना होते हुए भी कई उद्योगो (जैसे इस्पात, लोहा, फर्टिलाइजर्स, एल्यूमिनियम, छपाई का कागज, औद्योगिक मशीनें, सीमेण्ट, कच्ची फिल्म, सोडा ऐश, रगाई के समान) मे निर्धारित लक्ष्यो की प्राप्ति नही हो सकी।

तृतीय योजना में औद्योगिक नियोजन :

तृतीय योजना में औद्योगिक कार्यक्रम निश्चित करते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि आगामी १५ वर्षो मे औद्योगिक विकास के लिए नीव मजबूत हो सके तथा राष्ट्रीय आय तथा रोजगार के लक्ष्य पूरे हो सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु तृतीय योजना मे मूल उद्योगो विशेषतः मशीन निर्माण उद्योग के विकास पर जोर दिया गया। इसके अतिरिक्त इस योजनाकाल मे ऐसे उद्योगो के विकास पर भी जोर दिया गया जो विदेशी व्यापार की दृष्टि से लाभदायक हों, जैसे चीनी उद्योग, कपड़ा उद्योग, इस्पात उद्योग आदि। तृतीय योजना मे सन् १९५६ की

औद्योगिक नीति का पूर्णरूप से अनुकरण किया गया। अन्य योजनाओं की भाँति इसकी अवधि भी ५ वर्ष की थी तथा इसका प्रारम्भ सन् १९६१-६२ से हुआ। इस योजना का कुल आकार १०,४०० करोड रु० था जोकि प्रथम दो योजनाओं से भी अधिक था।

औद्योगिक प्राथमिकतायें—औद्योगिक विकास के विभिन्न कार्यक्रमों को ध्यान में रखते हुए निम्नलिखित प्राथमिकतायें निर्धारित की गई

(१) इस्पात, बिजली, तेल ईंधन आदि प्राथमिक उद्योगों को बढाना और मशीन बनाने के कारखानों को स्थापित करना ताकि १० वर्ष के अन्दर देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीनें अपने देश में ही बनाई जा सकें। (२) उन उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि करना जोकि उपभोक्ताओं के लिए आवश्यक हैं जैसे कपडा, चीनी, वनस्पति तेल तथा गृह निर्माण सम्बन्धी वस्तुयें। (३) देश की जन तथा श्रम शक्ति का पूरा उपभोग करना तथा रोजगार के साधनों में वृद्धि करना। (४) प्रमुख उत्पादक पदार्थों का उत्पादन बढाना—जैसे एल्यूमिनियम, खनिज तेल, अकार्बनिक रसायन, पेट्रोलियम की वस्तुयें आदि। (५) कच्चे माल की उपज को इतना बढाना कि उससे हमारे उद्योगों की जरूरत भी पूरी हो तथा निर्यात भी हो।

प्रगति

यह अनुमान लगाया गया है कि १९६५-६६ तक सामान्य सूचनांक ३३० तक पहुँच गया है। सन् १९६०-६१ के मुकाबले में इसमें लगभग ७० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। भारत पर चीन का आक्रमण होने के कारण फौज का सामान तैयार करने वाले उद्योगों के विकास पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त सामान्य औद्योगिक विकास की गति भी मन्द रही है। कई क्षेत्रों में हम निर्धारित लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहे हैं। तृतीय योजना में औद्योगिक विकास का अवलोकन निम्न तालिका की सहायता से आसानी से किया जा सकता है :

क्रम-संख्या	उद्योग का नाम	इकाई	१९६५-६६ योजना का लक्ष्य	१९६५-६६ योजना के अन्त में उत्पादन (अनुमानित)
१.	स्टील इनगाट (Steel Ingots)	मिलियन टन	९ २	७·९
२.	इस्पात	,,	६ ८	५·८
३.	एल्यूमिनियम	हजार टन	८१ ०	६८·०
४	सीमेंट	मिलियन टन	१३·०	१२·०
५.	चीनी	,, ,,	३·५	३·२
६	जूट उद्योग	हजार टन	१३००·०	१३०० ०
७.	सूती वस्त्र उद्योग			
	(अ) कपडा	मिलियन गज	५८०० ०	५५५०·०
	(ब) धागा (yarn)	मिलियन पौंड	२२५० ०	२१७५ ■
८	मशीन टूल्स	करोड रु०	३० ०	*
९	फैरो मैंगनीज	हजार टन	२०० ०	२००·०
१०.	सल्फ्यूरिक एसिड	,, ,,	१५२४	१२००·०
११	कोयला	मिलियन टन	१००·००	७० ००

* आँकडे उपलब्ध नहीं हैं।

तृतीय योजना में औद्योगिक विकास की वृद्धि दर :

तृतीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक उत्पादन मे औसत वार्षिक वृद्धि दर का लक्ष्य ११·१ प्रतिशत निर्धारित किया गया था। किन्तु निम्नलिखित उपलब्ध आंकडों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम योजना के अन्त तक इस निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने मे असमर्थ रहे हैं :

वित्तीय वर्ष	पिछले वर्ष के मुकाबले में प्रतिशत वार्षिक वृद्धि
१९६१-६२	६·५ प्रतिशत
१९६२-६३	८·० ,,
१९६३-६४	९४ ,,
१९६४-६५	५·६ ,,
१९६५-६६	५४ ,,

चतुर्थ पचवर्षीय योजना में औद्योगिक नियोजन (१९६९-७४)

तृतीय पचवर्षीय योजना की कमियों को पूरा करने तथा दस वर्षों मे देश को आत्म-निर्भर की स्थिति मे लाने हेतु चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया गया है। इस योजना के के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं :

(१) यथासम्भव शीघ्रतम् आत्मनिर्भरता करना। इस हेतु कृषि तथा निर्यात बढाने तथा आयात कम करने वाली औद्योगिक योजनाओ को प्राथमिकता देना। (२) कृषि उत्पादन मे वृद्धि करना। (३) मूल्य-स्तर को स्थिर रखने के लिए मुद्रा प्रसार के सभी कारणो को रोकना। हीनार्थ अर्थ प्रबन्धन न्यूनतम करना। (४) वस्त्र, चीनी, दवाइयां, मिट्टी का तेल, कागज जैसी वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि करना ताकि जनसाधारण को ये आसानी से उपलब्ध हो सकें। (५) उर्वरक, कृषि-यन्त्रों, डीजल इन्जन, ट्रैक्टर आदि का उत्पादन बढ़ाने वाली योजनाओ को प्राथमिकता देना। (६) परिवार नियोजन द्वारा जनसंख्या वृद्धि को रोकना। (७) सामाजिक सेवाओ का विकास करना। (८) धातु, मशीनरी, रसायन, खनिज, शक्ति तथा यातायात उद्योगो की मौजूदा योजनाओ को पूरा करना। (९) बेकारी दूर करना (१०) आर्थिक असमानता दूर करना।

चतुर्थ योजना में उद्योगों व खानों के विकास पर प्रस्तावित व्यय

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे सगठित उद्योगों व खनिज पर ५,२०० करोड़ रु० व्यय करने का प्रस्ताव है जिसमे से २,८०० करोड़ सार्वजनिक क्षेत्र मे तथा २,४०० करोड रु० निजी क्षेत्र में व्यय होने का अनुमान है। सार्वजनिक क्षेत्र मे जो उद्योग व खान पर राशि व्यय की जायगी वह कुल व्यय का २१·१% भाग है। इस प्रकार चतुर्थ योजना मे औद्योगिक विकास पर समुचित जोर दिया गया है।

चतुर्थ योजना में औद्योगिक उत्पादन के कुछ प्रमुख लक्ष्य

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे औद्योगिक उत्पादन के कुछ प्रमुख भौतिक लक्ष्य अग्र प्रकार से निर्धारित किये गये हैं

मद का नाम इकाई	इकाई	तृतीय योजना के अन्त मे उत्पादन १९६५-६६	१९६८-६९ में उत्पादन	चतुर्थ योजना (१९६९-७४) में उत्पादन लक्ष्य
१ तैयार इस्पात	मिलि० मीट्रिक टन	४ ५	४·६	८·१
२. इस्पात पिण्ड (Steel Ingots)	,, ,,	६ ५	६ ५	१०·८
३ अल्यूमिनियम	हजार ,,	६७ ०	१२० ०	२२०·०
४ कास्टिक सोडा	,, ,,	२१८ ०	३८४ ०	५००·०
५. सोडा राख	,, ,,	३३१ ०	३९० ०	५५०·०
६ कोयला	मिलि० ,,	६७ ७३	६९ ५	९३ ४
७ कच्चा लोहा	,, ,,	२४ ४६	२६ ०	५३ ४
८. पेट्रोलियम	,, ,,	९ ७५	१६ १३	२६·०
९ साइकिलें	हजारो की सख्या मे	१९७४ ०	१९०० ०	३२००·०
१० कपडा सीने की मशीनें	,,	४३० ०	४०० ०	६०० ०
११ बिजली के पखे	,,	१ ३६	१ ५	३·०
१२ मोटर साइकिल, स्कूटर आदि	,,	४० ७	७२ ०	२१० ०
१३ सीमेण्ट	मिलि० मीट्रिक टन	१० ८	१२ ५	१८·०
१४ कागज तथा पेपर बोर्ड	हजार ,,	५६० ०	६४० ०	९६०·०
१५. जूट का सामान	,, ,,	१३०२ ०	१३९०·०	१५००·०
१६ चीनी	मिलि० ,,	३ ५	२ ९	४ ७

औद्योगिक नियोजन की समस्यायें (Problems of Industrial Planning)

भारत मे औद्योगिक विकास की तीन योजनाओ के पूरा हो जाने के उपरान्त भी भारत मे औद्योगिक प्रगति की गति विशेष सन्तोषजनक नही कही जा सकती है। आज भी भारत एक अर्द्ध-विकसित देश कहलाता है। पश्चिमी देशो (जैसे जर्मनी, ब्रिटेन, फास, अमेरिका) के मुकाबले मे हम बहुत पिछडे हुए है। आखिर ऐसा क्यो ? यदि हम इस प्रश्न का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करें तो पता लगेगा कि आज भी हमारे सामने ऐसी कई औद्योगिक नियोजन की समस्यायें हैं जिनका समाधान हम इन तीनो योजनाओ के पूरा होने पर भी नही कर पाये हैं। इसी कारण हमारी वर्तमान औद्योगिक प्रगति की गति धीमी है। औद्योगिक नियोजन की मुख्य-मुख्य समस्यायें निम्नलिखित हैं

(१) **तान्त्रिक प्रशिक्षण का अभाव**—आज के औद्योगिक युग मे तान्त्रिक प्रशिक्षण का होना एक अनिवार्यता है। जिस देश मे जितना अधिक उच्च कोटि का तान्त्रिक प्रशिक्षण होगा वह देश उतनी ही तीव्र गति से औद्योगिक प्रगति करेगा। अभाग्यवश हमारे देश मे तान्त्रिक प्रशिक्षण का भारी अभाव है। हमारे उद्योगो के विकास के लिए पर्याप्त सख्या में तान्त्रिक विशेषज्ञ नही मिल पाते हैं। विदेशो से ऐसे व्यक्तियो को बुलाना काफी महँगा पडता है। इस कमी को दूर करने के लिए कानपुर, मद्रास, देहली, खडगपुर आदि मे औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये है। किन्तु आवश्यकता को देखते हुए इनकी सख्या बहुत कम है। अतएव देश में अधिकाधिक तान्त्रिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित होने चाहिए।

(२) **बचत तथा पूंजी का अभाव**—भारत मे प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण बचत कम होती है। अतएव पूंजी का संग्रह नही हो पाता। इसलिए भारत मे औद्योगिक विकास के लिए सदैव से पूंजी का भारी अभाव रहा है। यह पंचवर्षीय योजनाओ की असफलता का मुख्य कारण है। देश मे पर्याप्त पूंजी उपलब्ध न होने के कारण हमे बाध्य होकर विदेशी पूंजी पर निर्भर रहना पड़ता है। परिणामस्वरूप भारत की ऋण-ग्रस्तता निरन्तर बढती चली जा रही है। आखिर कब तक हम विदेशो से ऋण आदि लेते रहेगे ? अतएव भारत मे पूंजी निर्माण कार्यक्रम को आवश्यक प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

(३) **बड़े उद्योग का कृषि पर आधारित होना**—भारत का अधिकाश औद्योगिक उत्पादन विशेष रूप से सूती-वस्त्र, चीनी, जूट व खाद्य पदार्थो का उत्पादन कृषि पर आधारित है। कृषि क्षेत्र मे निरन्तर प्राकृतिक प्रकोप होते रहने के कारण इन कारखानो को नियमित रूप से कच्चा माल नही मिल पाता। इसलिए मूल्यो मे अत्यधिक उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। औद्योगिक प्रगति की दर पर इसका बडा ही भीषण प्रभाव पडता है। पंचवर्षीय योजनाओ मे 'अधिक कच्चा माल उपजाओ' आन्दोलन के आरम्भ किये जाने के कारण स्थिति मे अवश्य कुछ सुधार हुआ है, किन्तु फिर भी हमारे उद्योग आत्म-निर्भरता की दृष्टि से अभी बहुत पीछे हैं। अतएव चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे ऐसे आन्दोलन को आवश्यक प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

(४) **पूंजीगत सामान की कमी**—नये कारखाने स्थापित करने तथा पुराने कारखानो मे आधुनिकीकरण की विभिन्न योजनायें लागू करने के लिए नई व आधुनिक ढंग की मशीनो की आवश्यकता पडती है। हमारे देश मे ऐसी मशीनो का भारी अभाव है। इसके लिए हमे विदेशो पर निर्भर रहना पडता है। विदेशी विनिमय का अभाव होने के कारण प्रचुर मात्रा मे मशीनों का आयात नही किया जा सकता। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि विदेशी सहयोग से भारत मे ही नई व आधुनिक किस्म की मशीनो का निर्माण किया जाय। इसके लिए हमारे यहाँ कच्चा माल प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है।

(५) **भारी करारोपण**—आज हमारा औद्योगिक जगत भारी करारोपण के भार से पीड़ित है। यह कर-भार दिनो दिन बढता ही चला जा रहा है। इस कारण उद्योगपति किसी नये उद्योग को स्थापित करने मे डरने लगे हैं। परिणामस्वरूप औद्योगिक प्रगति की गति भी मन्द पड गई है। अतएव यह आवश्यक है कि कर-भार को कम करके उचित औद्योगिक सुविधायें दी जायें। करारोपण की नीति ऐसी हो कि जिससे लाभ अधिकाधिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित हो।

(६) **राष्ट्रीयकरण का भय**—उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के बारे मे हमारी सरकार की नीति पूर्णतया स्पष्ट नही है। कोई नही कह सकता कि कब और किस समय कौन से उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो जाय। इसी कारण आज प्रत्येक क्षेत्र मे राष्ट्रीयकरण का ही बोलबाला है। फलत हमारे उद्योगपतियो के दिल मे राष्ट्रीयकरण का भय समा गया है। वे पुराने उद्योगों का विकास करने अथवा नवीन उद्योगों की स्थापना मे हिचकिचाते है। अतएव यह आवश्यक है कि हमारे उद्योगपतियो को उचित आश्वासन देकर उन्हे राष्ट्रीयकरण के भय से मुक्त किया जाय।

(७) **विश्वसनीय समंको का अभाव**—औद्योगिक नियोजन की सफलता के लिए आवश्यक है कि औद्योगिक उत्पादन के सम्बन्ध मे विश्वसनीय समंक उपलब्ध हो। अभाग्यवश भारत में विश्वसनीय समंको का अभाव है। अधिकाश समंक या तो गलत होते हैं अथवा बहुत पुराने होते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी सरकारी व गैर-सरकारी दोनो प्रकार के समको मे भारी अन्तर रहता है। अतएव उद्योगपतियो के लिए यह समस्या हो जाती है कि वह कौन से समंको पर विश्वास करके अपने उत्पादन की मात्रा, साधनो के वितरण आदि की व्यवस्था करे। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे देश मे औद्योगिक उत्पादन के सम्बन्ध मे विश्वसनीय समक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों।

(८) **जनसंख्या में वेगपूर्ण वृद्धि**—आज हमारे देश में दरिद्रता, गरीबी, भुखमरी, बेकारी जैसे भीषण दानवो का बोलबाला है। भारत मे असीमित मात्रा मे प्राकृतिक साधन उपलब्ध

हैं परन्तु फिर भी यह शोचनीय दशा क्यों ? यदि हम थोडा-सा भी मनन करें तो ज्ञात होगा कि इन सभी समस्याओं का मूल कारण है भारत में जनाधिक्य की समस्या होना। इसी समस्या ने औद्योगिक नियोजन की सभी योजनाओं को एक प्रकार से चकनाचूर कर दिया है। जनसंख्या में वृद्धि की गति औद्योगिक उत्पादन की कमी से भी तीव्र है। अतएव औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि होते हुए भी लोगों को उसका अनुभव मुश्किल से ही हो पाता है। हमारी सरकार हर सम्भव तरीकों से जनसंख्या में हो रही इस वेगपूर्ण वृद्धि को कम करने का प्रयत्न कर रही है।

(९) **सन्तुलित विकास का अभाव**—क्षेत्रीय एवं भौगोलिक दृष्टि से भारत के उद्योगों का सन्तुलित विकास नहीं हो सका है। उदाहरण के लिए कानपुर, मद्रास, दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, जमशेदपुर, आगरा और स्वतन्त्रता के पश्चात् भिलाई, रूरकेला, दुर्गापुर, ग्वालियर, कोटा, जलन्धर, सिंदरी और अनेक दूसरे नगरों का विकास हुआ है। लेकिन अन्य क्षेत्र आज भी पिछड़े हुए हैं। अतएव यह आवश्यक है कि अन्य क्षेत्रों में भी उद्योगों की स्थापना की जाय।

(१०) **कुशल श्रमिकों का अभाव**—यह दुःख का विषय है कि आज भी हमारे देश में कुशल श्रमिकों का अभाव है। हम अपनी औद्योगिक क्षमता का समुचित उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। कुशल श्रमिकों के अभाव के कारण औद्योगिक प्रगति की सभी योजनायें खटाई में पड जाती हैं। मैलनबॉम (Mallenbaum) इस कमी का मुख्य कारण लोगों की गरीबी, धार्मिक एवं सांस्कृतिक बन्धन एवं सदियों से चली आ रही सकुचित विचारधारा को मानते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाय। इसलिए श्रमिकों के काम करने व रहने की दशाओं में आवश्यक सुधार होने चाहिए तथा उनके प्रशिक्षण की आवश्यक व्यवस्था होनी चाहिए।

(११) **उच्च कोटि के प्रबन्धकों का अभाव**—सफल औद्योगिक नियोजन के लिए यह भी आवश्यक है कि भारत में प्रचुर मात्रा में उच्च कोटि के प्रबन्धक उपलब्ध हों। बडी औद्योगिक इकाई की दशा में तो इनकी ओर भी अधिक आवश्यकता है। भारत में ऐसे प्रबन्धकों का सदैव से ही अभाव-सा रहा है। कुछ चुने हुए प्रबन्धक अभिकर्त्ताओं ने अधिकांश औद्योगिक इकाइयों पर अपना प्रभुत्व जमाकर मनमाने ढंग से उनका शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। अतएव भारत सरकार को बाध्य होकर इन पर कडे प्रतिबन्ध लगाने पडे। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि हमारे यहाँ ऐसे केन्द्रों की स्थापना की जाय जहाँ पर कि प्रबन्धकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था हो। इस सम्बन्ध में अभी हाल में ही हमारे यहाँ कुछ ऐसे प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित हुए हैं।

(१२) **कुटीर तथा छोटे और बडे उद्योगों के बीच का आपसी संघर्ष**—कुटीर तथा छोटे और बडे-बडे उद्योगों के बीच का आपसी संघर्ष अभी तक बना हुआ है। यह संघर्ष वर्षों से चला आ रहा है तथा इसका अभी तक कोई समुचित हल नहीं हो पाया है। दोनों क्षेत्र एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। इससे औद्योगिक विकास में बाधा पडती है। हमारी राय में भारत की वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, दोनों को ही भारत के औद्योगिक विकास में इतना अमूल्य सहयोग प्रदान करना चाहिए। अतएव दोनों को आपसी संघर्ष का त्याग करके सहयोग से कार्य करना चाहिए। इस समय हमारे देश में कुटीर, छोटे तथा बडे सभी प्रकार के उद्योगों के विकास की आवश्यकता है। यदि इनके लिए अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन का क्षेत्र निर्धारित कर दिया जाय तो यह संघर्ष काफी कम हो सकता है।

(१३) **विदेशी सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति**—वर्षों तक भारत में अंग्रेजों का शासन रहा है। वे सदैव यही चाहते थे कि भारत सदैव एक कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश ही बना रहे ताकि इंगलैण्ड के कारखानों को पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध होता रहे तथा उनके निर्मित माल की खपत भारत में होती रहे। इसी नीति का उन्होंने वर्षों तक अनुकरण भी किया। परिणामस्वरूप भारत में औद्योगिक विकास की गति निरन्तर मन्दी हो रही। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद से हमारे देश में विभिन्न किस्म के उद्योग-धन्धों की स्थापना की गई है। आशा है कि निकट भविष्य में और भी बडे-बडे उद्योग-धन्धों की स्थापना की जायगी।

(१४) **सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में समन्वय का अभाव**—सफल नियोजन के लिए यह भी आवश्यक है कि सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनो के बीच सहयोग हो। किन्तु भारत मे सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में उचित समन्वय का अभाव है। दोनो एक दूसरे पर दोषारोपण करते रहते हैं। इससे औद्योगिक प्रगति मे बाधा पड़ती है। सरकार को दोनो के बीच उचित सहयोग की स्थापना करने का प्रयत्न करना चाहिए।

उपरोक्त औद्योगिक नियोजन की समस्याओं का समाधान हो जाने के उपरान्त भारत मे औद्योगिक प्रगति का भविष्य निश्चयात्मक रूप मे उज्जवल होगा।

३७

भारत की प्रशुल्क नीति
(India's Fiscal Policy)

प्रारम्भिक—प्रशुल्क नीति से आशय एव इसका औद्योगिक प्रगति पर प्रभाव

प्रशुल्क नीति से आशय किसी देश के निर्यात व आयात पर लगाये जाने वाले करो के सम्बन्ध मे बरती जाने वाली नीति से है। इसमे प्राय आयात करो को ही प्रधानता होती है यद्यपि समय-समय पर निर्यात कर भी लगाये जाते हैं।

औद्योगिक विकास मे न केवल राज्य की औद्योगिक नीति का प्रभाव होता है अपितु राज्य की प्रशुल्क नीति का भी गहरा प्रभाव औद्योगिक प्रगति पर हुआ करता है। यदि देश की सरकार उद्योगो की बाह्य प्रतियोगिता से रक्षा करने मे समर्थ नही है अथवा उद्योगो को बाह्य प्रतियोगिता से रक्षा नही करना चाहती तो यह भी सम्भव है कि देश के बाजार विदेशी वस्तुओ से पाट दिए जाएँ और देश के उद्योगो की प्रगति पूर्णत अवरुद्ध हो जाय।

यदि सरकार मुक्त व्यापार नीति अथवा निर्बाध नीति की समर्थक है तो देश के उद्योगो के सरक्षण हेतु प्रशुल्क नीति की कोई आवश्यकता नही होती। दुर्भाग्य से भारत मे ब्रिटिश सरकार ने १६वी शताब्दी मे इसी प्रकार की नीति अपनाई और इसके फलस्वरूप देश के उद्योगो को जो १९वी शताब्दी के अन्त तक शिशुावस्था मे ही थे, विदेशी उद्योगपतियो से खुले सघर्ष के लिए छोड दिया गया। यहा तक कि अनेक भारतीय विद्वानो ने भी उन्नीसवी शताब्दी तथा बीसवी शताब्दी मे भी काफी समय तक राज्य की मुक्त व्यापार नीति का अनुमोदन किया यद्यपि उन्होंने स्वय यह स्वीकार किया कि इस प्रकार की नीति भारतीय उद्योगो के विकास मे बाधक होगी। **श्री गोपालकृष्ण गोखले का ६ मार्च १९११ को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल के समक्ष दिया गया भाषण इसका प्रत्यक्ष का है।**[1]

भारत सरकार की सरक्षण नीति

यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने मुक्त व्यापार नीति के आधार पर भारतीय उद्योगो को कोई सहायता प्रदान नही की तथापि १९ वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे जैसे-जैसे सरकार को अधिक राजस्व की आवश्यकता हुई विदेशी वस्तुओ के आयात पर कर लगाये गए। सूत सूती वस्त्र लौह वस्तुएँ शक्कर तम्बाकू आदि वस्तुओ पर १८५९ के पश्चात् ३½ प्रतिशत से लेकर १० प्रतिशत तक आयात कर लगाये गए लेकिन बाद मे १८७१ के प्रशुल्क अधिनियम के अन्तगत इन आयात करो

1 The Speeches & Writings of G K Gokhale (Asia Pub) Vol I pp 331 2

को वैधानिक रूप दे दिया गया। यद्यपि ये आयात कर सेना की बढती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु लगाए गए थे, तथापि इनका आम्ल व्यापारियो व उद्योगपतियो ने यह कहकर विरोध किया कि ये वस्तुत: संरक्षणात्मक कर रहे थे।[1] १८७५ में लार्ड नॉर्थब्रूक ने जो भारत के वायसराय थे, नील, चावल व लाख के अतिरिक्त सभी वस्तुओ पर से निर्यात-कर हटा दिये और अनेक वस्तुओ पर आयात कर बढाए ताकि भारतीय उद्योग विकास कर सकें। इस आशय की पूर्ति हेतु १८७५ मे नवीन प्रशुल्क अधिनियम पारित किया गया। मैन्चेस्टर व अन्य क्षेत्रो के वस्त्र-निर्माताओ के विरोध के उपरात भी ये आयात कर चलते रहे।[2] लेकिन १८८२ मे सर एवलिन बारिंग ने समस्त आयात करो को समाप्त करके पूर्ण रूप से राज्य निर्बाध नीति की घोषणा कर दी।

१८९४ में पुन. आर्थिक संकट होने के कारण सूती वस्त्र व अन्य वस्तुओ के आयात पर, ५ प्रतिशत इस्पात के आयात पर १ प्रतिशत, व पेट्रोल पर १ पैसा प्रति गैलन के हिसाब से कर लगाए। रेलो का सामान, औद्योगिक व कृषि यन्त्र, कोयला, कच्चा माल, अनाज व पुस्तकों पर आयात कर नही थे। लेकिन इन आयात करो का लाभ भारतीय उद्योग नही उठा सके क्योंकि सूती वस्त्र के उत्पादन पर भारत मे ५ प्रतिशत उत्पादन कर लगा दिया गया था।[3] फलस्वरूप भारतीय वस्त्र उद्योग, जो १९वी शताब्दी का एकमात्र वृहत् स्तरीय उद्योग था, विकास नही कर सका।

बीसवी शताब्दी मे भी काफी समय तक राज्य की उद्योगो के प्रति उदासीनतापूर्ण नीति रही। यद्यपि १९११ मे एक प्रस्ताव द्वारा शक्कर के आयात पर कर बढाने का प्रयास इस उद्देश्य से किया गया कि इससे भारतीय शक्कर मिलो को प्रगति करने का अवसर मिलेगा, परन्तु मुक्त व्यापार के समर्थको ने इस प्रस्ताव को अधिनियम में पारित नहीं होने दिया।[4]

फिर भी प्रथम महायुद्ध काल मे भारतीय उद्योगों ने आशातीत विकास किया। युद्ध के पश्चात् भारत को १९१९ में राजकोषीय स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त स्वदेशी आन्दोलन तथा जर्मनी, जापान व अमरीका से बढती हुई स्पर्धा ने ब्रिटिश सरकार को अपनी प्रशुल्क नीति पर पुर्नविचार करने को बाध्य कर दिया।

सामान्य आयात कर, जो १९१७ मे ७½ तक बढा दिया गया था, १९२१ मे बढा कर ११ प्रतिशत कर दिया गया। शक्कर तथा विलासिता की वस्तुओ पर आयात कर क्रमशः १५ प्रतिशत व २० प्रतिशत कर दिया गया। १९२२ मे आयात की गई वस्तुओ की कर की दृष्टि से ६ श्रेणियां थी :[5]

(i) प्रथम श्रेणी मे कर-मुक्त वस्तुएं थी, (ii) द्वितीय श्रेणी मे शक्कर, मछली, शराब, कोयला, कोक, खनिज तेल, तम्बाकू, सूत व सूती वस्त्र व हथियार थे, जिन पर विशिष्ट कर लगाए गए थे, (iii) अनाज, दालो व कुछ मशीनो पर आयात कर २½ प्रतिशत था, (iv) लौह व इस्पात की कुछ वस्तुओ (रेल की पटरियो, प्लाट व रोलिंग स्टॉक को मिलाकर) पर १० प्रतिशत आयात कर था, (v) अन्य वस्तुओ पर (विलासिता की वस्तुओ को छोडकर) कर की दर १५ प्रतिशत थी, और (vi) विलासिता की वस्तुओ पर ३० प्रतिशत आयात कर था।

इसी समय कच्चे माल, जूट, खालो, चावल व चाय पर निर्यात कर लगाए गए थे। लेकिन इन सब करो के पीछे भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की भावना निहित होने पर भी संरक्षण की कोई विशिष्ट नीति १९२२ तक नही बनाई गई थी। अक्टूबर १९२१ में सरकार ने प्रथम राजकोषीय आयोग की सर इब्राहीम रहीमतुल्ला की अध्यक्षता मे नियुक्ति की। इस आयोग ने १९२२ के अन्त में भारत के औद्योगिक विकास की धीमी गति पर खेद प्रगट करते हुए

1. See Ramesh Dutt, ibid, p 339
2. Ibid, pp. 411-3
3. Ibid pp. 538-9
4. Gokhale, ibid pp. 335-6
5. Vera Anstey, ibid, p. 348

घरेलू उद्योगो को विवेचनात्मक सरक्षण देने की अपील की। आयोग ने सुझाव दिया कि सरक्षण विवेकपूर्वक दिया जाना चाहिए ताकि उसका भार देश की जनता पर कम-से-कम पडे।

विवेचनात्मक अथवा विभेदात्मक संरक्षण
(Discriminating Protection)

सन् १९२१ मे भारत सरकार ने भारतीय उद्योग धन्धो के सरक्षण तथा साम्राज्यीय अधिमान (Imperial Preference) के सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे विचार करने लिए **सर इब्राहीम रहीमतुल्ला** की अध्यक्षता मे एक **'राजकोषीय आयोग'** (Fiscal Commission) नियुक्त किया। इस आयोग को यह कार्य था कि वह समस्त हितो को घ्यान मे रखकर भारत सरकार की प्रशुल्क नीति की जाँच करे। आयोग ने सन् १९२३ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे उद्योग-धन्धो की उन्नति के लिए विवेचनात्मक सरक्षण की नीति पर जोर दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि बिना सोचे समझे सरक्षण नही दिया जाना चाहिए बल्कि केवल उन्ही उद्योगो को दिया जाना चाहिए जो कि इसके लिए योग्य हो अर्थात निर्धारित शर्तों को पूरा करते हो। इसके लिए आयोग ने एक त्रिसूत्रीय कसोटी (Triple Formula) सुझाया, जिसको लागू करके योग्य उद्योग का चुनाव किया जा सकता है।

राजकोषीय आयोग के अनुसार सरक्षण के लिए तीन सिद्धान्तो को दृष्टिगत रखना आवश्यक है।

(१) पर्याप्त प्राकृतिक साधन—सरक्षण चाहने वाले उद्योग को पर्याप्त मात्रा मे प्राकृतिक साधन उपलब्ध होने चाहिए। प्राकृतिक साधनो मे कच्चे माल, सस्ती शक्ति, पर्याप्त मात्रा मे श्रमिको की प्राप्ति तथा विस्तृत घरेलू बाजार को सम्मिलित किया गया।

(२) सरक्षण की अनिवार्यता—आवेदनकर्त्ता उद्योग का विकास सरक्षण के बिना बिल कुल न हो सके अथवा इतनी तेजी से सम्भव नही हो जितनी तेजी से राष्ट्रीय हित मे इसका विकास होना चाहिए।

(३) सरक्षण अस्थायी हो—अन्तत सरक्षण का उद्देश्य उद्योग को सुदृढ स्थिति मे ला देना होना चाहिए ताकि यह बिना सरक्षण के भी कुछ ही समय बाद विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सके।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सुझाव भी दिए गए जिनमे एक तो यह था कि कच्चे माल व यन्त्रो का आयात कर-मुक्त होना चाहिए। यह भी सुझाव दिया गया कि प्रतिरक्षा उद्योगो तथा आधारभूत उद्योगों को सरक्षण प्रदान किया जाए और राशिपातन तथा विदेशो से अनुदान-प्राप्त वस्तुओं के आयात के विरुद्ध भी घरेलू उद्योगो की रक्षा की जानी चाहिए।

इन सुझावो को १९२३ मे मान लिया गया तथा विवेचनात्मक सरक्षण की नीति को कार्यान्वित करने के लिए इसी वर्ष प्रथम प्रशुल्क बोर्ड नियुक्त किया गया।

विवेचनात्मक सरक्षण की आलोचनाएँ :

प्रो० कुछाल ने उपरोक्त विवेचनात्मक सरक्षण की नीति मे निम्न दोष बताए हैं :[1]

(१) सीमित दृष्टिकोण—उक्त नीति मे सरक्षण को सामान्य आर्थिक विकास का साधन बनाने की अपेक्षा केवल कुछ ही उद्योगो के विकास का उपकरण बना दिया गया।

(२) शर्तों का पालन करना असम्भव—उपरोक्त तीनो सिद्धान्तो का अक्षरश पालन करना असम्भव था। प्रथम सिद्धान्त को यदि मान लिया जाता तो वस्तुत सरक्षण की कोई जरूरत ही नही होती और लगभग यही बात दूसरे सिद्धान्त के विषय मे भी लागू होती थी। सरक्षण की अवधि के विषय मे कोई भी प्रशुल्क बोर्ड निश्चित रूप से बताने मे समर्थ नही था।

---

1 S C Kuchhal, ibid, pp. 149-51

(३) राजकोषीय आयोग ने एक स्थायी प्रशुल्क मण्डल बनाने का सुझाव दिया था पर राज्य ने केवल आवश्यकता पड़ने पर ही अस्थायी मण्डलो की नियुक्ति की। **प्रो० अदारकर** के मत मे राज्य का यह दृष्टिकोण वस्तुतः मुक्त व्यापार नीति मे सरकार की आस्था का ही प्रतीक था।

(४) **सरकार का नियन्त्रण**—प्रशुल्क मण्डलो की गतिविधियो को सरकार ने नियन्त्रित रखा और फलतः औद्योगिक विकास के प्रति इन मण्डलो का दृष्टिकोण प्रगतिशील न हो सका।

(५) **विदेशी उद्योगपतियों का असहयोग**—विदेशी उद्योगपतियो द्वारा भारत मे स्थापित औद्योगिक इकाइयो की ओर से प्रशुल्क मण्डलों को पर्याप्त सहयोग नही मिल सका।

(६) **लालफीताशाही**—संरक्षणात्मक आयात कर लगाने मे तथा इसके पूर्व संरक्षण के आवेदन-पत्रो की स्वीकृति मे अनावश्यक विलम्ब होता है।

(७) द्वितीय महायुद्ध काल मे सरक्षणात्मक आयात कर प्रभावहीन हो गए थे।

(८) इंगलैण्ड मे निर्मित वस्तुओ को मिलने वाली रियायत (Imperial Preference) फिर भी दी जाती रही। १९२७, १९२९, १९३१, १९३५, व १९३९ मे इंगलैण्ड से आने वाली वस्तुओ के आयात कर मे काफी छूट दी गई। वस्तुत इससे संरक्षण का उद्देश्य ही समाप्त हो गया।

(९) उक्त नीति मे नये उद्योगो की पूर्णतः उपेक्षा कर दी गई।

विवेचनात्मक सरक्षण की व्यावहारिक सफलताएँ

यद्यपि विवेचनात्मक सरक्षण की नीति अत्यधिक दोषपूर्ण थी तथापि इसके द्वारा भारतीय उद्योगो के इतिहास मे एक नवीन अध्याय जोड दिया गया और जिन उद्योगो को उक्त नीति के अन्तर्गत सरक्षण प्रदान किया गया, उन्होने आशातीत प्रगति की। संक्षेप मे हम अब उन उद्योगो का अध्ययन करेंगे, जिन्हे १९२४ से १९३४ के बीच संरक्षण प्रदान किया गया था।

(१) उद्योगों के विकास पर प्रभाव :

(१) **लौह व इस्पात उद्योग**—सर्वप्रथम लौह व इस्पात उद्योग के सरक्षण हेतु प्रस्तुत किए गए आवेदन-पत्र को १९२४ मे स्वीकृति प्रदान की गई। प्रशुल्क बोर्ड ने विदेशी इस्पात के आयात पर ३० रुपये से ४५ रुपये प्रति टन तक कर लगाने अथवा घरेलू इस्पात के उत्पादन पर अनुदान देने की सिफारिश की। लेकिन इस्पात उत्पादको ने अनुदान लेना श्रेयस्कर समझा। फलस्वरूप इस्पात के ७० प्रतिशत उत्पादन पर २० रुपये प्रति टन के हिसाब से, १९२४-२५ मे अनुदान दिया गया। लेकिन अनुदान की अधिकतम राशि ५० रुपये थी। १९२५ मे प्रति टन अनुदान तथा अधिकतम अनुदान की राशि क्रमशः १८ रुपये तथा ९० लाख रुपये कर दी गई। यह अनुदान मार्च १९२७ तक दिया जाना था। १९२७ मे यह राशि १२ रुपये प्रति टन तथा अधिकतम अनुदान की राशि ६० लाख रुपये कर दी गई। यह सरक्षण १९४७ के मार्च मास तक चला।

१९३२ मे ओटावा-समझौते के अनुसार आग्ल इस्पात पर आयात कर ५३ रुपये तथा अन्य देशों से आने वाली इस्पात की वस्तुओ पर ८३ रुपये प्रति टन रखा गया।

सरक्षण का यह स्वरूप यद्यपि संतोषप्रद नही था, तथापि टाटा कम्पनी एवं इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी के अथक प्रयास के कारण १९२३ मे जहां इस्पात (पिंडो) का उत्पादन केवल १,३१,००० टन था, १९४० मे यह बढकर १०,७०,००० टन हो गया।[1]

(२) **सूती वस्त्र उद्योग**—प्रथम महायुद्ध की प्रेरणादायक स्थिति कुछ ही समय तक चल

1. Wadia & Merchant : Our Economic Problems, pp. 500-1

सकी और १९२०-२१ के पश्चात् सूती वस्त्र उद्योग मे मन्दी प्रारम्भ हुई। १९२६ मे वस्त्र पर लगे हुए सभी उत्पादन कर समाप्त कर दिये गए और एक विशेष प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति मन्दी के कारणो की जांच करने के लिए की गई। प्रशुल्क मण्डल ने जापानी वस्त्र निर्माताओ के श्रेष्ठ सगठन तथा अन्य सुविधाओं का उल्लेख करते हुए चेतावनी दी कि बिना सरक्षण के जापानी प्रतियोगिता के कारण भारतीय उद्योग नष्ट हो जाएँगे। मण्डल की अनुदान-सम्बन्धी माग को ठुकराकर सरकार ने आयात किये गए सूत पर १½ आना प्रति पौण्ड का आयात कर लगाया।

लेकिन जापान से कपडे के आयात पर कोई विशेष रोक न होने के कारण वहां से १९२७ २८ मे बहुत कपडे का आयात हुआ। फलस्वरूप १९२९ मे सरकार ने वस्त्र पर आयात कर ११% स बढाकर १५% कर दिया। सूत पर सरक्षणात्मक कर १½ आना प्रति पौण्ड से बढाकर ३½ आना कर दिया।

१९३२ मे प्रशुल्क मण्डल को पुन सूती वस्त्र उद्योग को सरक्षण देने के लिए सुझाव देने को कहा गया। मण्डल की सिफारिश को मानते हुए १९३३ मे गैर ब्रिटिश वस्त्रो के आयात पर कर की दर ५०% (१९३२ के ओटावा समझौते के अनुसार) से बढाकर ७५% कर दी गई। १९३७ मे जापान के वस्त्र पर आयात कर ५०% तक घटा दिया गया।

सरक्षण की यह नीति १९४७ तक चली। लेकिन १९२२ व १९३९ के बीच सरक्षण के कारण वस्त्र का उत्पादन ढाई गुना हो गया।

(३) शक्कर उद्योग—शक्कर उद्योग द्वारा १९३०-३१ मे सरक्षण हेतु प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया था। प्रशुल्क मण्डल ने १५ वष के लिए ६ रुपये ९ आने प्रति क्वाटर का आयात कर विदेशी शक्कर पर लगाने का सुझाव दिया। १९३९ मे यह दर ७ रुपये ४ आना कर दी गई। शक्कर उद्योग को भी १९४७ तक सरक्षण प्राप्त हुआ, इस अवधि मे इस उद्योग ने आशातीत प्रगति की।

(४) भारी रासायनिक उद्योग—भारी रासायनिक उद्योगो के अन्तर्गत सलफ्यूरिक एसिड हाइड्रोक्लोरिक एसिड तथा नाइट्रिक एसिड आदि आते है। उपरोक्त को सरक्षण देने के प्रश्न पर प्रशुल्क मण्डल ने सन १९२९ मे विचार किया तथा मण्डल की सिफारिशो के आधार पर सन् १९३१ मे भारी रासायनिक उद्योगो को सरक्षण प्रदान किया गया। इसके अनुसार मगनेशियम क्लोराइड को तो ३१ माच १९३९ तक के लिए सरक्षण प्रदान किया गया तथा शय को ३१ माच, १९३३ तक के लिए सरक्षण प्रदान किया गया। सरक्षण के परिणामस्वरूप भारी रासायनिक उद्योग का पर्याप्त विकास हुआ।

(५) कागज उद्योग—कागज उद्योग के विकास के लिए सव प्रथम सन १९२५ मे इसे ७ वष की अवधि के लिए सरक्षण प्रदान किया गया। इसके अनुसार कुछ विशिष्ट प्रकार के कागज के आयात पर १ आना प्रति पौण्ड की दर से सरक्षण कर लगा दिया गया। सरक्षण की इस अवधि के व्यतीत होने पर उद्योग ने पुन सरक्षण दिये जाने की मांग की। तदनुसार सन् १९३२ मे सरक्षण की अवधि को बढाकर ३१ माच, १९३९ तक के लिए कर दिया गया। सन् १९३७-३८ मे प्रशुल्क आयोग ने यह सुझाव दिया कि इस उद्योग पर सरक्षण जारी रखा जाय, इसके फलस्वरूप सरक्षण की अवधि को ३१ माच, १९४९ तक के लिए बढा दिया गया। सरक्षण की अवधि मे भारतीय कागज उद्योग ने अच्छी प्रगति की।

उपरोक्त महत्त्वपूण उद्योग के अतिरिक्त सीमेण्ट, कोयला व काच उद्योगो को भी सरक्षण प्रदान किये जाने की चर्चा चली थी किन्तु वह प्रयास असफल रहा।

(II) कृषि पर प्रभाव

सरक्षण की नीति का कृषि पर अनुकूल प्रभाव पडा। सूती वस्त्र उद्योग तथा चीनी उद्योग को सरक्षण मिलने के फलस्वरूप कपास व गन्ने के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई क्योकि सरक्षण की अवधि मे कच्चे माल की मांग बढ गई। लम्बे रेशे वाली कपास के उत्पादन को विशेष प्रोत्साहन मिला। कपास की मात्रा व किस्म दोनो मे ही सुधार हुआ। गन्ने की खेती का क्षेत्र विस्तृत होने के साथ साथ प्रति एकड उपज मे भी वृद्धि हुई।

(III) मन्दी के कुप्रभाव में कमी :

ऐसे समय में जब कि उद्योगो मे महान मन्दी फैली हुई थी, सरक्षित उद्योग न केवल इस महान मन्दी के प्रभावो का सामना करने मे समर्थ हुए, वरन् इस महान् औद्योगिक संकट मे उनका विकास भी हुआ।

(VI) रोजगार में वृद्धि :

संरक्षण के कारण देश मे औद्योगिक विकास हुआ। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप देश मे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार के रोजगार मे वृद्धि हुई। इस प्रकार सन् १९३७ तक की अवधि में संरक्षित उद्योगो में रोजगार लगभग ड्योढा हो गया।

(V) सहायक उद्योगों का विकास :

संरक्षण की अवधि में उपरोक्त महत्त्वपूर्ण उद्योगों (जिन्हे संरक्षण प्रदान किया गया था) व अनेक सहायक उद्योगो, जैसे—तार उद्योग, टिन-प्लेट उद्योग, इन्जीनियरिंग उद्योग, कृषि औजार उद्योग, लोकोमोटिव उद्योग, स्टार्च उद्योग आदि का भी विकास हुआ।

द्वितीय महायुद्ध एवं युद्धोपरान्त संरक्षण नीति

भारतीय उद्योगो को द्वितीय महायुद्ध ने बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। इस अवधि मे बहुत से नये उद्योगो का प्रारम्भ किया गया। युद्ध की समाप्ति से कुछ समय पूर्व ऐसी आशका होने लगी थी कि बिना सरक्षण के वे सभी उद्योग युद्ध के पश्चात् नष्ट हो जाएँगे जिनका द्वितीय महायुद्ध काल मे ही प्रारम्भ किया गया था, और जो तब तक शैशवावस्था मे ही थे। अप्रैल १९४५ मे युद्ध-काल मे प्रारम्भ किए गए उद्योगो को सरक्षण के विषय पर उनके विचार प्रस्तुत करने को आमंत्रित किया गया। नवम्बर १९४५ मे एक अन्तरिम प्रशुल्क मण्डल को इन सभी उद्योगो के प्रतिवेदन सौंप दिए गए। नई नीति के तीन सिद्धान्त इस प्रकार रखे गये :

(१) सरक्षण के द्वारा देश के प्राकृतिक साधनो का इष्टतम उपयोग होगा तथा राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी।

(२) देश प्रतिरक्षा के लिए दृढतापूर्वक तैयार होगा।

(३) उच्चस्तरीय एव स्थायी रोजगार की व्यवस्था की जाएगी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् नवम्बर १९४८ में सरकार ने प्रशुल्क मण्डल की अवधि ३ वर्ष निश्चित कर दी, तथा न केवल सरक्षण हेतु आवेदन प्राप्त करके उन पर सुझाव देने, अपितु एकाधिकार एव आयात करो के घरेलू उद्योगो पर होने वाले प्रभावो का अध्ययन करने का काय भी इस मण्डल को सौप दिया। इस बोर्ड ने १९५० तक ३८ उद्योगों को पहली बार सरक्षण प्रदान करने तथा २२ उद्योगो को सरक्षण जारी रखने की सिफारिश की लेकिन यह सब अस्थायी प्रबन्ध था और वास्तविक प्रशुल्क नीति का प्रारम्भ १९५० से हुआ।

नवीन प्रशुल्क नीति (New Fiscal Policy)

जैसाकि ऊपर बताया गया है कि आजादी के बाद राजस्व नीति मे परिवर्तन करके इसे औद्योगिक विकास का एक साधन बनाये जाने का निश्चय किया गया था। १९४९ मे स्वर्गीय टी० टी० कृष्णमाचारी के नेतृत्व मे द्वितीय राजकोषीय आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग ने भारतीय अर्थव्यवस्था के सर्वागीण विकास हेतु उद्योगो के सतुलित विकास की आवश्यकता पर बल दिया तथा राजकोषीय नीति को इसी कार्यक्रम के अनुरूप बनाने की अपील की। १९५० मे कृष्णमाचारी आयोग की रिपोर्ट प्रस्तुत की गई तथा उसी वर्ष नवीन प्रशुल्क नीति की घोषणा कर दी गई।

नवीन प्रशुल्क नीति का अग्रलिखित शीर्षकों मे अध्ययन किया जा सकता है।[1]

---

1. S. C. Kuchhal, ibid, pp. 154-8

(१) **संरक्षण का आशय**—संरक्षण को सामान्य आर्थिक विकास का एक आवश्यक उपकरण बनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। द्वितीय राजकोषीय आयोग के मत मे आर्थिक नियोजन मे संरक्षणात्मक आयात करो का एक विशिष्ट महत्व होना चाहिए। इस प्रकार प्रथम आयोग मे जहाँ विवेचनात्मक संरक्षण के लिए सुझाव दिया गया था, अब संरक्षण का उद्देश्य सामान्य हित की वृद्धि मान लिया गया।

(२) **संरक्षण के सिद्धान्त**—उद्योगो को संरक्षण प्रदान करने के लिए तीन श्रेणियो मे बाँटा गया—(अ) प्रतिरक्षा-सम्बन्धी उद्योग, (आ) आधारभूत उद्योग, तथा (इ) अन्य उद्योग। प्रथम श्रेणी के उद्योगो का प्रत्येक स्थिति मे राष्ट्रीय स्तर पर विकास किया जाना चाहिए। द्वितीय श्रेणी के उद्योगो की रक्षा विदेशी प्रतियोगिता से किस सीमा तक की जाय, इसका निर्धारण प्रशुल्क अधिकारियो द्वारा किया जाना चाहिए।

अन्य उद्योगो के विषय मे तीन बातो का ध्यान रखा जाना चाहिए : प्रथम, जिन उद्योगो को योजनाओ मे सार्वजनिक प्राथमिकता दी गई हो उन्हे संरक्षण दिया जाना जरूरी है। द्वितीय, नियोजित क्षेत्र के उद्योगो को संरक्षण देने के प्रश्न पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाय। तृतीय, अन्य उद्योगो को परिस्थिति तथा उद्योग की क्षमता एव स्थिति के अनुसार संरक्षण दिया जाय।

(३) **अन्य विशेष नियम**—संरक्षण प्रदान करते समय कच्चे माल की उपलब्धि की अपेक्षा उद्योग को प्राप्त होने वाले अन्य फायदो को देखा जाय और साथ ही उद्योग द्वारा निर्यात मे की जाने वाली वृद्धि को भी दृष्टिगत रखना आवश्यक है। जिन उद्योगो मे काफी अधिक पूँजी की आवश्यकता हो तथा जिनमे विदेशी प्रतियोगिता की आशका काफी अधिक हो, उनमे संरक्षण आवश्यक है। जिन उद्योगो को संरक्षण दिया जाय उन पर उत्पादन का भार डालना उचित नही है, यह भी स्पष्ट कर दिया गया।

(४) **संरक्षण के स्वरूप**—नवीन प्रशुल्क नीति के अनुसार संरक्षण निम्न प्रकार से दिया जा सकता है (i) आयात व निर्यात कर, (ii) वस्तुओ के आयात की मात्रा पर पाबन्दी द्वारा, (iii) अनुदान देकर, (iv) प्रशासकीय संरक्षण एव (v) कोटा-निर्धारण करके।

(५) **संरक्षण की सीमा**—नवीन नीति के अनुसार आयात की गई वस्तुओ तथा घरेलू वस्तुओ के बीच उनके मूल्य के आधार पर संरक्षण दिया जाना चाहिए। घरेलू वस्तुओ की लागत का अध्ययन करने के लिए प्रतिनिधि संस्थाओ का चुनाव किया जाना चाहिए तथा लागत का सावधानीपूर्वक हिसाब रखा जाना चाहिए, ताकि विदेशी वस्तुओ के मूल्य पर उसी को दृष्टिगत रखकर कर लगाया जाय।

संरक्षण की अवधि कितनी हो, यह उस उद्योग की स्थिति तथा विदेशी प्रतियोगिता की प्रकृति पर निर्भर होगा। अवधि के निर्धारण के समय घरेलू उद्योगो के प्रायोगिक परिवर्तन पर भी दृष्टि डालना जरूरी होगा।

(६) **उद्योगपतियों पर उत्तरदायित्व**—उद्योगपतियो का संरक्षण मिलने के पश्चात् उत्तरदायित्व होगा कि वे कार्यकुशलता मे अधिकाधिक वृद्धि करने का प्रयास करें और अधिक समय तक अनावश्यक रूप से राज्य पर निर्भर न रहे।

(७) **प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति**—राजकोषीय आयोग ने संरक्षण की नीति को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रशुल्क आयोग को स्थायी बना देने का सुझाव भी दिया। फलस्वरूप १९५२ मे प्रशुल्क आयोग अधिनियम पारित किया गया जिसमे ३ से ५ तक सदस्य-संख्या हो सकती है। इसके परिणामस्वरूप १९५२ मे एक प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति हुई। इस प्रशुल्क आयोग के अधिकार प्रशुल्क मण्डलो से अधिक है, क्योकि यह आयोग न केवल वर्तमान उद्योगो के विषय मे संरक्षण सम्बन्धी रिपोर्ट राज्य को प्रस्तुत कर सकता है अपितु जो उद्योग प्रारम्भ भी नही हुए हैं, उनके विषय मे भी राज्य को सुझाव दे सकता है। किसी भी उद्योग के विषय मे, चाहे वह संरक्षण प्राप्त हो या नही यह राज्य को विवरण दे सकता है, तथा संरक्षण के सामान्य प्रभावो के विषय मे भी सरकार को रिपोर्ट दे सकता है।

प्रशुल्क आयोग के कार्यों का मूल्यांकन :

१९५३ से लेकर ३१ मार्च, १९६२ तक आयोग ने ११२ जाँच की, जिनमें वर्तमान उद्योगों के लिए सरक्षण देने के प्रतिवेदन निहित थे। इसके अतिरिक्त १४ बार उन उद्योगों के लिए जाँच की गई जिन्हे पहले संरक्षण नही दिया गया था। इनमे से ऑटोमोबाइल उद्योग से सम्बद्ध जाँचो की संख्या ६ थी।

जनवरी १९५२ मे पुराने प्रशुल्क मण्डल से निम्न मामले प्रशुल्क आयोग ने लिए : (i) सरक्षण की माँग के ५ मामले, (ii) मूल्य निश्चित करने के ३ मामले और (iii) संरक्षित उद्योगों की जाँच के ४२ मामले।

१९५३-५४ से लेकर १९६१-६२ तक आयोग ने इस प्रकार जाँच की :[1]

	नए उद्योग	पुराने उद्योग	कुल	मूल्य-सम्बन्धी
आयोग द्वारा की गई जाँचो की सख्या	१४	११२	१२८	२४

प्रशुल्क आयोग द्वारा इतनी अधिक जाँच करने का मुख्य कारण यह है कि आयोग बहुत अल्पकाल के लिए संरक्षण देने की सिफारिश करता है और फलस्वरूप अवधि के समाप्त होते ही पुन उद्योग को आवेदन-पत्र प्रस्तुत करना पडता है, ताकि संरक्षण की अवधि बढा दी जाय। सामान्यत संरक्षण की अवधि ६ से १२ वर्ष की रखी जाती है, यद्यपि किसी-किसी उद्योग को केवल २ वर्ष के लिए संरक्षण प्राप्त हो पाता है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व संरक्षण काफी अधिक समय (२० से २३ वर्ष तक) के लिए दिया गया था।

इस समय ३७ उद्योगो को संरक्षण मिला हुआ है, जिनमे ८ पूँजीगत उद्योग है, १९ औद्योगिक कच्चे माल का उत्पादन करते है, ३ उपभोग्य वस्तुओ से सम्बन्धित हैं और ■ उद्योग यातायात से सम्बद्ध है। मुख्य संरक्षित उद्योगो के नाम इस प्रकार हैं अलूमिनियम, एण्टीमनी, ऑटोमोबाइल्स, ऑटोमोबाइल्स स्पार्किंग प्लग्स, बॉलबीयरिंग, साइकिल, केल्शियम कारबाइड, कास्टिक सोडा, टिटेनियम डाइऑक्साइड, माचिस, सूती वस्त्र की मशीनें, सोडा एश, रंगने का सामान, रेशम, शीट ग्लास, प्लास्टिक बटन, शक्ति व वितरण, ट्रान्सफार्मर, माचिस व बिजली की मोटरें।

श्री के० आर० पी० आयगर (आयोग के अध्यक्ष) ने एक लेख[2] मे बताया कि प्लाइवुड, टी चेस्ट्स, शक्ति व वितरण ट्रासफार्मर व साइकिल उद्योगो ने सरक्षण के कारण लक्ष्य से अधिक उत्पादन कर लिया है व इनमें मूल्यो की प्रवृत्ति भी सन्तोषजनक रही है। पिछले १४ वर्षो मे देश की औद्योगिक प्रगति अत्यन्त सन्तोषप्रद रही है, तथापि प्रशुल्क आयोग को चाहिए कि सावधानी-पूर्वक देश के उद्योगो की स्थिति का अध्ययन करता रहे तथा यथासम्भव उद्योगो को स्वावलम्बन की स्थिति तक पहुँचने मे सहायता करें।

अलक घोष के शब्दों मे, "प्रशुल्क आयोग के पिछले वर्षो मे किए गए कार्यों की प्रगति को देखते हुए हम यह आशा व्यक्त कर सकते हैं कि इन पिछले अनुभवो के आधार पर भारतीय प्रशुल्क आयोग राजकोषीय नीति को हमारे उद्योगो के द्रुत एवं सन्तुलित विकास के लिए निर्देशित करता रहेगा।[3]"

उपसहार—इस प्रकार स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के द्रुत एवं सन्तुलित औद्योगिक विकास हेतु औद्योगिक एव प्रशुल्क नीतियो मे आमूल परिवर्तन किए गए हैं। आधारभूत एवं महत्व-पूर्ण उद्योगों के नियोजित विकास द्वारा देश मे पिछले १३-१४ वर्षो से एक ठोस आधार तैयार किया जा रहा है, जिस पर भारत का भावी औद्योगिक विकास का भव्य एवं विशाल भवन निकट भविष्य मे ही खडा किया जा सकेगा, ऐसी आशा है।

---

1. S. C. Kuchhal ibid, pp. 162-3
2 Commerce, Annual 1960, p 132 A
3 Alak Ghose, ibid, p. 280

३८

विदेशी पूँजी
(Foreign Captial)

प्रारम्भिक

देश के आर्थिक विकास मे विदेशी पूँजी का स्थान

अथशास्त्र का यह सिद्धा त है कि जब एक व्यक्ति अपने साधनो से अधिक व्यय करने की योजना बनाता है तो उस अपन साथियो से विवश होकर ऋणो का आश्रय लेना पडता है। यह साधारण सिद्धान्त एक राष्ट के जीवन मे ठीक उसी प्रकार सत्य उतरता है जिस प्रकार एक व्यक्ति के जीवन मे। किसी भी देश की पिछडी हुई आर्थिक व्यवस्था की दो प्रमुख विशेषताएँ होती है—प्रथम अपर्याप्त बचत तथा पूँजी का अभाव और द्वितीय पूँजी गत माल जैसे मशीन टेकनीकल और टेकनीकल कुशलता का अभाव। अभाग्यवश हमारा देश इन दोनो से ग्रस्त है और स्थिति पर काबू पाने के लिए सिफ एक ही उपाय है अर्थात् पूँजी का आयात। यह एक माना हुआ तत्त्व है कि किसी भी राष्ट्र के विकास के लिए पूँजी तथा पूँजी गत साधन अवश्य होने चाहिए और यदि किसी देश के पास इसका अभाव हो तो वह राष्ट्र दूसरे देशो की बचत को विदेशी पूँजी के रूप मे प्राप्त कर सकता है। बिना विदेशी पूँजी की सहायता के सन्तोषजनक आर्थिक प्रगति नही हो सकती। भारत को ही नही अपितु ससार के अन्य देशो को अपने आर्थिक विकास के आरम्भ काल मे किसी न किसी रूप मे आर्थिक सहायता लेनी पडी है। आज हमारे राष्ट्र को विदेशी पूँजी की आवश्यकता सबसे अधिक है ताकि हम अपनी पचवर्षीय योजनाओ को सफल बनाकर देश से बेकारी भुखमरी दरिद्रता और अज्ञानता रूपी दानवो का विनाश कर सकें तथा चीन जैसे शक्तिशाली राष्ट्र की युद्ध भरी धमकियो का सामना कर सक।

विदेशी पूँजी के पक्ष व विपक्ष में प्रस्तुत किये जाने वाले तर्क

क्या भारत मे विदेशी पूँजी का प्रयोग किया जाय यह एक महत्त्वपूण एव गम्भीर प्रश्न है जिसके सम्बन्ध मे समय-समय पर अपने विद्वानो ने विदेशी पूँजी के पक्ष व विपक्ष मे अपना मत प्रकट किया है।

विदेशी पूँजी के पक्ष में प्रस्तुत किये जाने वाले तर्क

वतमान परिस्थितियो मे भारत मे विदेशी पूँजी का प्रयोग किया जाना चाहिए इसके पक्ष म विद्वानो ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं

(१) **प्राकृतिक साधनो का विदोहन**—भारत मे आर्थिक विकास के लिए अपार प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से भारत एक धनाढय देश है किन्तु पूँजी की कमी के कारण इनका

पूर्ण उपयोग नही हो पाता है। अतएव विदेशी पूँजी की सहायता से इन प्राकृतिक साधनो का समुचित विकास किया जा सकता है।

(२) **तकनीकी ज्ञान व कौशल की कमी होना**—विदेशी पूँजी के साथ तकनीकी ज्ञान व कौशल का भी आयात होता है। भारत मे तकनीकी ज्ञान व कौशल की भारी कमी है। विदेशी पूँजी के प्रवेश से यह कमी दूर हो जायेगी। (३) **बेकारी की समस्या का समाधान**—विदेशी पूँजी के आयात से नये-नये उद्योगो की स्थापना होती है तथा पुराने उद्योगो का विस्तार होता है जिसके परिणामस्वरूप रोजगार के सुअवसरो का विकास होता है। भारत मे बेकारी का समस्या अपना भीषण रूप धारण किए हुए है। अतएव विदेशी पूँजी के आधार से इस भीषण समस्या के समाधान से कुछ-कुछ राहत अवश्य मिलेगी। (४) **नए उद्योगों की स्थापना एवं प्रारम्भिक व्ययों का वहन**—भारत मे नये-नये उद्योग प्रारम्भ किये जा रहे है जिनमे भारी प्रारम्भिक व्यय करने पड़ते हैं। साथ ही शुरू मे लाभ की मात्रा कम होती है तथा जोखिम अधिक होती है। ये समस्त व्यय तथा जोखिम विदेशी पूँजी खुशी से वहन कर सकती है। (५) **बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहन**—विदेशी पूँजी के उपयोग से देश मे बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। (६) **पंचवर्षीय योजनाओं के लिए धन**—भारत मे तीन पंचवर्षीय योजनायें पूरी हो चुकी हैं तथा चतुर्थ योजना-काल में प्रवेश कर चुके है। चतुर्थ योजना का सबसे कमजोर पहलू आवश्यक पूँजी का अभाव है। ऐसी अवस्था मे विदेशी पूँजी का सहारा लेना परम आवश्यक है क्योंकि देश मे पूँजी का अभाव है। (७) **राष्ट्रीय उत्पादकों में सजगता**—विदेशी पूँजी के आयात से देश मे प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक है। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय उत्पादक सचेत होकर उत्पादन मे आधुनिक तरीको का उपयोग करके वस्तु की मात्रा घटाते है तथा किस्म मे सुधार करने का प्रयत्न करते हैं। इससे देश मे उत्पादित माल की कीमतें गिरने लगती है तथा देश विदेश मे प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति का विकास होता है। परिणामस्वरूप जनसाधारण को सस्ती व सुन्दर वस्तुओ के उपभोग के सुअवसर मिलते हैं तथा निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है। भारत मे इन दोनो की आज सबसे अधिक आवश्यकता है।

विदेशी पूँजी के विपक्ष में प्रस्तुत किए जाने वाले तर्क

(१) **राजनैतिक पराधीनता**—विदेशी पूँजी के विरुद्ध लगाए जाने वाले आरोपो मे सबसे प्रमुख तर्क यह है कि यह राजनीतिक पराधीनता को जन्म देती है क्योंकि "व्यापार के पीछे-पीछे ध्वजा चलती है" की कहावत को कई देशों मे चरितार्थ होते देखा गया है। स्वयं भारत को इसका कटु अनुभव हो चुका है। आर्थिक प्रभुत्व के साथ-साथ राजनैतिक प्रभुत्व अवश्यम्भावी है। (२) **आधारभूत उद्योगों को खतरा**—विदेशी पूँजी आधारभूत उद्योगो मे जैसे रक्षा, लोहा एवं इस्पात उद्योग मे अत्यन्त खतरनाक है। चाहे जब देश की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो सकता है। (३) **विदेशियों को ही लाभ**—विदेशी पूँजी की सहायता से देश के प्राकृतिक साधनो का विकास होता है किन्तु इसके साथ-साथ यह भी सही है कि उसका लाभ राष्ट्र को न होकर विदेशियो को ही अधिक होता है। वास्तविकता यह है कि वे "राष्ट्रीय साधनो का अनेक प्रकार से शोषण करते है।" भारत मे अभी तक कृषि का समुचित विकास नही हो पाया है। (४) **आर्थिक दिवालियापन**—जिस प्रकार निश्चित सीमा से अधिक व्यवसाय करने मे दिवालियापन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है ठीक उसी प्रकार अत्यधिक ऋणदाता से किसी भी राष्ट्र की राजनैतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। (५) विदेशी पूँजी के साथ-साथ काफी विदेशी लोग देश मे घुस आते हैं जिसके कारण देश की गुप्तता कायम नही रह पाती। (६) **राष्ट्रीय उत्पादकों को क्षति**—विदेशी लोग राष्ट्रीय उत्पादको के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार करते हैं। उनका एक मात्र ध्येय यही होता है कि राष्ट्रीय उत्पादक किसी भी प्रकार से पनप नही पाएँ अन्यथा उनका अस्तित्व चाहे जब खतरे मे पड जायगा। खुद आधुनिक यन्त्रो से सज-धज कर राष्ट्रीय उत्पादको से तीव्र प्रतिस्पर्धा करते हैं जिसके कारण मजबूर होकर या तो उनका उत्पादन बन्द ही करना पडता है या उसका आकार न्यूनतम कम करके अथवा लाभ सीमित करके बेचारे बहुत मुश्किल से अपना व्यवसाय चालू रख पाते है। (७) भारतवर्ष मे वर्षो से विदेशी पूँजी लगी हुई है किन्तु औद्योगिक प्रशिक्षण के विकास में कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नही हुआ है। (८) विदेशी पूँजी का आयात होने से निर्माण की गति मन्द पड जाती है क्योंकि भारी धन लाभ के रूप मे देश के बाहर चला जाता है जिसको कि विदेशी पूँजी के अभाव से देश मे ही

विनियोग किया जा सकता है । डाक्टर ज्ञानचन्द के अनुसार देश मे विदेशी पूंजी की भारी मात्रा होने से भारत मे औद्योगिक शक्ति का केन्द्रीयकरण हुआ। देश के मुख्य-मुख्य उद्योग आज भी विदेशियो के हाथो मे सुरक्षित हैं।

उपर्युक्त तर्क-वितर्क का निष्पक्ष रूप से अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विदेशी पूंजी स्वय दोष रहित है। किन्तु इस पर आवश्यक नियन्त्रण रक्खा जाना चाहिए। यदि सावधानी से इसका प्रयोग किया जाय तथा उचित शर्तों पर प्राप्त किया जाय तो इसमे दोष दिखलाई नहीं देता । यदि भारत ने स्वाधीनता खोई तो इसलिए नही कि विदेशी पूंजी का विनियोग साम्राज्य स्थापित हो बल्कि इसलिए कि यहाँ राजनैतिक अशान्ति थी और आपस मे तीव्र मतभेद था।

भारत में विदेशी पूंजी की आवश्यकता .

भारत मे प्रति व्यक्ति औसत आय अन्य देशो की अपेक्षा न्यूनतम है जोकि यहां की निर्धनता, दरिद्रता, निम्न श्रेणी का जीवन-स्तर और अविकसित अर्थव्यवस्था की ओर सकेत करती है। कहा जाता है कि देश की ७०% से भी अधिक जनसख्या का मुख्य धन्धा कृषि है किन्तु फिर भी देश का खाद्य सकट कई वर्षों स ज्यो का त्यो बना हुआ है। भारतीय किसान के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि "वह ऋण मे जन्म लेता है, जीवन भर ऋणग्रस्त रहता है और अन्त मे अपने पीछे ऋण छोड कर मर जाता है।" हमारी बचत नाममात्र की है। साधारण आदमी के लिए विलासिता तथा आरामदेय वस्तुओं का तो कहना ही क्या—अनिवार्यताओ की भी सन्तुष्टि करना कठिन कार्य है। देश की जनसख्या मे निरन्तर वृद्धि हो रही है जिसके कारण भोजन, कपडा मकान, काम आदि की समस्याएं अपना उग्र रूप धारण करती जा रही हैं। हमारे उद्योग-धन्धे पुरानी किस्म के हैं, मशीनें जीर्ण अवस्था मे हैं जिसके कारण माल की किस्म और मात्रा दोनो का ही अभाव है अर्थात् हमारा उत्पादन निम्न श्रेणी का है तथा उत्पादन क्षमता भी बहुत कम है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आखिर इन सारी समस्याओ का मुख्य कारण वास्तव मे है क्या ? इन सब समस्याओ का मूल कारण भारत म पूंजी की कमी होना है। पूंजी दो तरीको से प्राप्त की जा सकती है। प्रथम, स्वयं के साधनो द्वारा। द्वितीय, विदेशी पूंजी प्राप्त करके। यदि हम अपने ही साधनो पर आश्रित रहे तो देश का विकास कार्यक्रम पूरा करने मे वर्षों लग जाएँगे। ऐसी अवस्था मे द्वितीय साधन ही उचित है अर्थात् हम विदेशो स उचित शर्तों पर देश का हित ध्यान मे रखते हुए पूंजी का आयात करें। विदेशी पूंजी का उपयोग उद्योगो के विकास के लिए प्रायः ससार के सभी प्रगतिशील राष्ट्रो ने किया है जैसे सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका, जापान और कनाडा आदि। अत. इस क्षेत्र मे भारत ही क्यो पीछे रहा ? आज देश को पचवर्षीय योजनाओ को पूरा करने के लिए विदेशी पूंजी की सबसे अधिक आवश्यकता है।

भारतवर्ष मे विदेशी पूंजी का प्रवेश

ऐतिहासिक मीमांसा

सर्वप्रथम सन् १५०० मे कालीकट मे अपनी फैक्ट्री स्थापित करके पुर्तगाल निवासियो ने भारत मे विदेशी पूंजी का उदाहरण उपस्थित किया। आवश्यक माल निरन्तर मिलता रहे इसके लिए उन्होंने भारतीय शिल्पकारों को ऋण दिया। किन्तु फिर भी इसकी मात्रा न्यूनतम थी। करीब एक शताब्दी पीछे ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा फ्रेंच कम्पनियो ने उनका अनुकरण किया।

इस बात से कोई भी इनकार नहीं कर सकता कि भारत मे विदेशी पूंजी का आगमन ब्रिटिश राज्य-काल मे सबसे अधिक हुआ। इनका विनियोग विशेषतया खान, चाय, बागान, रेल, जूट, कॉफी, कोयला, जहाजरानी, नहर आदि की उन्नति मे हुआ। उन लोगों ने पूंजी का विनियोग मुख्यत व्यापार के उन क्षेत्रों मे किया जहां कि उनको अत्यधिक लाभ हो सके तथा उनके राज्य को और अधिक मजबूत किया जा सके या जिससे उन्हे ऐसा सामान मिल सके जिसको विदेशो मे आसानी से निर्यात किया जा सके।

विदेशी पूँजी के प्रति सरकारी नीति

विदेशी पूँजी के प्रति सरकारी नीति :

स्वतन्त्रता से पूर्व की नीति—भूतकाल मे सरकार ने देश के औद्योगीकरण मे नाममात्र की दिलचस्पी ली और साधारणतया ब्रिटिश पूँजीपतियों के पक्ष मे ही भेद-भाव किया जाता था। विदेशी पूँजी के आगमन पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नही था। अत यह पूँजी विशेषतया इंगलैंड से आई। संरक्षण नीति बहुत उदार नही थी और उसके द्वारा भारत में ब्रिटिश पूँजीपतियों की रक्षा की गई थी।

स्वतन्त्रता के बाद में—१५ अगस्त, सन् १९४७ को स्वाधीनता प्राप्त करने के पश्चात् भारत की विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति मे परिवर्तन होना स्वाभाविक था। वास्तविक रूप से स्वाधीनता के उपरान्त ही सरकारी दृष्टिकोण मे भारी परिवर्तन हुआ। ६ अप्रैल सन् १९४८ की औद्योगिक नीति के सम्बन्ध मे विदेशी पूँजी के प्रति निम्न वक्तव्य प्रकाशित किया गया : "जहाँ तक विदेशी पूँजी का सम्बन्ध है वहाँ नियम के रूप मे स्वामित्व और वास्तविक नियन्त्रण मे विशेषतया भारतीयों का ही हाथ रहेगा किन्तु कुछ विशेष मामलो के लिए अलग व्यवस्था भी की जा सकती है, परन्तु प्रत्येक दशा मे भारतीयों के उचित प्रशिक्षण के लिए विवश अवश्य किया जायगा। ताकि आगे चलकर विदेशी विशेषज्ञों का स्थान भारतीय ग्रहण कर सकें।" इस प्रकार भारत सरकार ने भारत मे विदेशी पूँजी के विनियोग पर कुछ शर्तें लगा दी।

विदेशी पूँजी और हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ :

(क) प्रथम पंचवर्षीय योजना और विदेशी पूँजी—प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भारत मे सब मिलाकर २९८ करोड रु० की विदेशी पूँजी का आयात हुआ जिसमे से २०४ करोड़ रुपये खर्च हो गये तथा शेष यानी ९४ करोड रुपये द्वितीय पचवर्षीय योजना के वास्ते सुरक्षित रख दिये गये।

(ख) द्वितीय पंचवर्षीय योजना और विदेशी पूँजी—द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे पहली योजना की अपेक्षा विदेशी पूँजी को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया। द्वितीय योजना का आकार ४,८०० करोड रुपये का था जिसमे से विदेशी पूँजी की मात्रा कुल मिलाकर ९०० करोड रुपये निर्धारित की गई थी। इसमे से ८०० करोड सार्वजनिक क्षेत्र के लिए और १०० करोड रुपए निजी क्षेत्र के लिए थे। किन्तु यह अनुमान मिथ्या निकला। द्वितीय योजना काल मे निरन्तर विदेशी पूँजी की कमी रही। द्वितीय योजना के अन्त तक कुल मिलाकर २५३१ करोड रुपये की विदेशी सहायता उपलब्ध थी जिसमें १४३०·२ करोड रुपये की ही राशि प्रयुक्त हुई थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में विदेशी पूँजी

देश मे आर्थिक विकास के हेतु तृतीय पंचवर्षीय योजना मे विदेशी पूँजी पर जोर दिया गया था। तृतीय योजनाकाल मे कुल मिलाकर २९३५·९ करोड रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी जिसमे से केवल २८६७·५ करोड़ की राशि ही प्रयोग मे आई।

सन् १९६६-६७ के वर्ष मे १४५५ करोड रुपये प्राप्त हुई जिसमे से १०५२·८ करोड़ रुपये की राशि ही प्रयोग मे आई। सन् १९६७-६८ के वर्ष में १७७९ करोड की सहायता मिली जिसमे से ११८६·७ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता काम मे आई। सन् १९६८-६९ के वर्ष मे ८७६ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त होने का अनुमान है।

भारत में विदेशी पूँजी की मात्रा

भारत मे कुल कितनी विदेशी पूँजी है इसका सही-सही अनुमान लगाना तो कठिन है। इस सम्बन्ध में कई विद्वानो ने समय-समय पर विभिन्न अनुमान लगाये हैं। भारत मे अमरीका के पिछले राजदूत श्री चेस्टर बावेल्स (Chester Bowels) ने भी भारत मे विदेशी पूँजी की मात्रा

के बारे मे अपना अनुमान प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार अप्रैल, १९५२ से मई, १९६८ तक भारत को विदेशो से मिलाकर ११,८९६ करोड रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी, जिसमे से के ९,८९२ करोड रुपय का ही वास्तविक रूप मे प्रयोग किया गया है। इस राशि मे विभिन्न देशों का क्या अशदान है यह निम्न तालिका से स्पष्ट होता है -

अप्रैल, १९५१ से मई, १९६८ तक भारत को प्राप्त विदेशी सहायता

(करोड रुपये मे)

क्रम-सख्या	सहायता प्रदान करने वाले देश का नाम	अधिकृत राशि	भारत द्वारा उपयोग की गई राशि	भारत द्वारा उपयोग की गई कुल विदेशी सहायता का प्रतिशत
१	सयुक्त राज्य अमरीका	६,३६१	५,८४७	५९ १
२	विश्व बैंक एव अन्तर्राष्ट्रीय बैंक	१ ४२२	१,२८२	१३ ०
३	पश्चिमी जर्मनी	८०२	६८८	७ ०
४	ब्रिटेन	६२०	५५३	५ ६
५	रूस	१ ०३२	४४६	५ ५
६	कनाडा	५०१	३८५	३ ९
७	जापान	३३२	२५४	२ ६
८	फ्रान्स	१५६	६७	० ७
९	आस्ट्रेलिया	५७	५४	० ५
१०	निदरलैण्ड	५२	३७	० ४
११	चेकोस्लाविकिया	९९	४४	० ४
१२	अन्य	४६२	१३५	१ ३
	योग	११ ८९६	९,८९२	१०० ०

चतुर्थ योजना में विदेशी पूंजी

चतुर्थ पचवर्षीय योजना की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है उसके अनुसार चतुर्थ पचवर्षीय योजनाकाल मे कुल मिलाकर २ ५१४ करोड रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त होने का अनुमान है। इसमे से ३८० करोड रु० की विदेशी सहायता तो P L 480 के अन्तर्गत प्राप्त होगी तथा शेष अर्थात् २ १३४ करोड रु० की विदेशी सहायता अन्य माध्यमो के अन्तर्गत प्राप्त होगी।

भारत में विदेशी पूंजी का भविष्य

भारत म विदेशी पूंजी का स्वागत किया जा रहा है। इस सम्बन्ध मे विदेशी मेहमान आये दिन आते रहते हैं जिनका कि बहुत ही जोर-शोर से स्वागत किया जाता रहा है। हमारे अर्थमन्त्री तथा प्रधानमन्त्री दोनो ही समय समय पर विदेशियो को आवश्यक आश्वासन देते रहते हैं। किन्तु फिर भी विदेशी पूंजी इतनी मात्रा म नही आ रही है जितनी कि आज हमको आवश्यकता है। इसके कारण हमे समय समय पर अपने विकास कार्यक्रम मे आवश्यक कटौती करनी पडती है। विदेशी पूजी के आगमन की मात्रा मे वृद्धि करने के लिए हमको उचित वातावरण उत्पन्न करना

होगा । मन्त्रियो तथा राजनीतिज्ञो के समय कुसमय पर दिये जाने वाले उत्तरदायित्व रहित भाषणों को रोकना होगा । हमारी प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरागाधी ने २९ जुलाई, १९६९ को राज्य-सभा मे जो बयान दिया था उसमे यह स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की थी कि भारतीय औद्योगिक विकास के उस क्षेत्र मे जहां पर अधिकाशत विदेशी माल का आयात होता है, विदेशी पूंजी का सदैव स्वागत होता रहेगा । एक प्रश्न के उत्तर मे उन्होंने बताया कि पिछली तीन पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत भारत को प्राप्त कुल विदेशी सहायता का ३०% भाग अमरीका से, १०% भाग रूस से, ८% भाग पश्चिमी जर्मनी से, ८% भाग ब्रिटेन से तथा १६% भाग विश्व बैंक तथा उससे सम्बन्धित सस्थाओं से प्राप्त हुआ । शेष भाग अन्य देशों से प्राप्त हुआ । इसी समय श्री पी० सी० सेठी (Minister of State for Finance) ने तालियों की ध्वनि के बीच यह घोषणा की कि भारत को १९८०-८१ के उपरान्त विदेशी सहायता की आवश्यकता नहीं रहेगी ।

खण्ड ४

श्रम

(LABOUR)

३९

भारत में औद्योगिक श्रम, श्रम-संगठन, औद्योगिक सम्बन्ध तथा प्रबन्ध में श्रमिकों का भाग

(Industrial Labour, Trade Union Movement, Industrial Relations and worker's Participation in Management)

प्रस्तावना :

औद्योगिक क्रान्ति की एक बहुत बड़ी देन है, श्रम व पूंजी के बदलते हुए सम्बन्ध। बृहत्-स्तरीय उत्पादन के साथ-साथ एक ओर कतिपय पूंजीपति समस्त औद्योगिक व्यवस्था पर नियंत्रण रखते हैं तो दूसरी ओर देश के लाखों-करोड़ो श्रमिकों का भाग्य पूंजीपतियों की नीति पर निर्भर हो जाता है। वस्तुतः जिस देश में औद्योगिक विकास जितना व्यापक होगा, श्रमिकों के शोषण की संभावनाएं वहां उतनी ही अधिक होंगी और यदि राज्य इनके हितों की रक्षा के लिए, कटिबद्ध नहीं है तो श्रमिकों व पूंजीपतियों के संघर्ष उस अर्थव्यवस्था में एक आम बात बन जाएंगे।

(I) औद्योगिक श्रम

औद्योगिक श्रम की प्रकृति

भारत में औद्योगिक विकास का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और श्रमिकों तथा पूंजीपतियों के सम्बन्धों का भी इसी समय से पृथक्करण प्रारम्भ हुआ। लेकिन कुटीर उद्योगों का जितनी तेजी से पतन हो रहा था, उतनी तेजी से वे शिल्पकार बृहत्-स्तरीय उद्योगों की ओर आमुख होने की अपेक्षा कृषि की ओर प्रवृत्त हो रहे थे। डा० देसाई का कथन है कि भारतीय श्रमिक, विशेष रूप से शिल्पकार उन्नीसवीं शताब्दी में नवीन उद्योगों के प्रति सशंक थे, क्योंकि इन कारखानों की प्रारम्भिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी।[1] इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों का अनुपात घटता रहा।

भारतीय औद्योगिक श्रमिकों की विशेषताएं इस प्रकार हैं

(१) भारत के अधिकांश औद्योगिक श्रमिक गांवों से खाली समय में काम करने के लिए कारखानों की शरण लेते हैं। श्री एस० के० बोस के मतानुसार यदि आज भी औद्योगिक श्रमिकों को उनके गांवों में ही उचित रोजगार की सुविधाएं दी जाएं तो शायद उनमें से अधिकांश कार-

---

1 Dr. A. R. Desai · Social Background of Indian Nationalism, p. 190

खानो को छोड देंगे ।[1] यह प्रवृत्ति श्रमिको को मन लगाकर स्थायी रूप से काम नही करने देती और किसी विशिष्ट उद्योग में श्रमिक दक्ष नही हो पाता । डा० तुलसीराम ने कोयले के उत्पादन की एक तालिका प्रस्तुत करते हुए बताया है कि वर्ष के विभिन्न महीनो मे कोयले का उत्पादन इसी लिए घटता-बढता रहा है कि खानो मे काम करने वाले श्रमिको की पूर्ति अनियमित रहती है और फसल बोने तथा काटने के समय बहुत से श्रमिक गावो मे चले जाते हैं।[2]

(२) श्रमिको की संस्कृति व भाषाओ का भिन्न होना भी एक विशेषता है। प्रान्तीय भिन्नता के कारण विभिन्न श्रमिक जो एक ही कारखाने मे काम करते हैं सरलता से एक दूसरे की आवश्यकताओं व कठिनाइयो को समझने मे असमर्थ रहते हैं। श्री एस० के० बोस की यह मान्यता है कि श्रमिको की सांस्कृतिक व भाषा सम्बन्धी भिन्नता के कारण भी अनुपस्थितिवाद को बल मिलता है तथा श्रमिको का सगठन होने मे कठिनाई होती है।

(३) भारत मे औद्योगिक श्रम का अनुपात बहुत कम है। यह हम पिछले अध्यायों मे स्पष्ट कर चुके हैं कि भारत की अधिकांश जनता कृषि पर निर्भर रहती है तथा बडे उद्योगो मे सलग्न श्रमिको का अनुपात आज भी कार्यरत जनसख्या के ४ ५% से अधिक नही है।

(४) औद्योगिक श्रमिको मे विशिष्ट ज्ञान का अभाव है। बार तथा यामे का कथन है कि अल्प विकसित देशो मे अशिक्षा गरीबी तथा आवश्यक रुचि के न होने से अनुमानत ८० ८५ औद्योगिक श्रमिक विशिष्ट ज्ञान प्राप्त नही कर पाते।[3] भारत म केवल बम्बई कलकत्ता जमशेद पुर मद्रास और अहमदाबाद म काम करने वाले २० से ४०% तक कृषक स्थायी रूप से कारखानो मे काम करते हैं और इसीलिए कुछ ही समय मे वे विशिष्ट उद्योगों के सम्बन्ध मे दक्षता प्राप्त कर लेते हैं।[4] लेकिन अधिकाश श्रमिक दक्ष नही हैं क्योंकि वे स्थायी रूप से एक ही जगह काम नही करते।

(५) अन्य देशो की अपेक्षा भारत मे श्रमिको मे सगठन का अभाव है। श्रम सगठनो के विकास तथा इनकी धीमी प्रगति के कारणो का विस्तार से विवरण आगे प्रस्तुत किया जाएगा।

(६) भारतीय श्रमिक की कुशलता अन्य विकसित देशो के श्रमिको की अपेक्षा कम है। श्रमिक की उत्पादकता कम होने के कई कारण हैं सबसे बडा कारण है श्रमिको का बाहुल्य जिससे श्रम की बचत को प्रोत्साहन देने वाली प्राविधियों का उपयोग साधारणतया सम्भव नही होता। पूजी की कमी इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बाधा है क्योंकि आधुनिकतम यन्त्रो का उपयोग पूजी के अभाव म सम्भव नही हो पाता। इसके अतिरिक्त इन यन्त्रों के उपयोग के विषय मे भारत जसे अल्प विकसित देशो के श्रमिक अनभिज्ञ हैं। वस्तुत इन देशो मे एक ओर श्रमिको का बाहुल्य रहता है और दूसरी ओर उत्पादकता कम रहती है। प्राविधिक सुधारो के कारण बेकारी के बढने की सम्भावनाएँ और अधिक हो जाती हैं। इस प्रकार भारत जैसे अल्पविकसित देशो मे औद्योगिक श्रमिक व्यवसाय की दृष्टि स पिछडे रह जाते है।[5]

भारतीय औद्योगिक श्रमिको की निम्न-स्तरीय कुशलता

अनेक बार विदेशी तथा भारतीय औद्योगिक श्रमिको की तुलना करते हुए यह कहा जाता है कि भारतीय औद्योगिक श्रमिक इंग्लैंड अमरीका फ्रास या जापान के श्रमिको की अपेक्षा कम कुशल हैं। सर क्लीमेट सिम्पसन के अनुसार लकाशायर की मिल मे काम करने वाला एक श्रमिक २ ६७ भारतीय श्रमिको के बराबर काम करता है। इसी प्रकार सर अलेक्जेण्डर मक्रबट

---

1 S K Bose Some Aspects of Indian Eco Development Vol II p 131
2 Dr Tulsi Ram Location of Industries in India pp 126 7
3 Bauer and Yamey Economics of Under developed Countries Chapter 2
4 Dr Tulsi Ram ibid pp 216 19
5 Measures for the Eco Developement of Under developed Countries [U N O] 1951 p 7 and 59

ने औद्योगिक आयोग के समक्ष गवाही देते हुये बताया था कि यूरोपीय श्रमिक ३ या ४ भारतीय श्रमिको के बराबर कार्य करता है।[1]

संयुक्त राष्ट्र सघ की एक रिपोर्ट के अनुसार एक जापानी मिल मे १८ श्रमिक १,००० तकुओ पर कार्य करते हैं, जबकि भारत मे इतने ही तकुओ के लिए ३०-३१ श्रमिको को रखना पडता है। श्री नवल एच टाटा के मत मे भारत मे २२ श्रमिक १,००० तकुओ पर कार्य करते है, जबकि अमरीका मे १,००० तकुओ पर श्रमिको की औसत सख्या ४ ५ तथा लकाशायर मे ६·७ है।[2] बुनाई के क्षेत्र मे १०० कर्घो पर भारत मे ९८ श्रमिकों को प्रयुक्त करना पडता है, जबकि जापान में ४८ श्रमिको से ही यह कार्य पूरा कर लिया जाता है। एक अन्य अनुमान के अनुसार भारत में प्रति श्रमिक उत्पादकता कम होने के कारण १०० कर्घो पर मजदूरी की लागत १०९ रुपए ५६ नए पैसे आती है जबकि जापान में श्रमिको की मजदूरी की लागत इतने ही कर्घों पर ३९ ७८ रुपए तथा लकाशायर मे ८५ ०९ रुपए है। जूट-उद्योग के क्षेत्र में डंडी (इ ग्लैंड) का एक श्रमिक दो भारतीय श्रमिको के बराबर काम करता है, जबकि इस्पात उद्योग मे भारतीय श्रमिको की औसत उत्पादकता से अमरीकी श्रमिकों की औसत उत्पादकता दस गुनी है। इसी प्रकार कोयले का उत्पादन औसत भारतीय श्रमिक की अपेक्षा अमरीका मे ६ गुना, इ ग्लैंड मे २ गुना तथा ट्रासवाल मे १½ गुना उत्पादन प्रत्येक श्रमिक (औसतन) उत्पादन करता है।[3]

लेकिन ये सब निष्कर्ष तथा ऑकडे सही होने पर भी भारतीय औद्योगिक श्रमिको का इस दिशा मे कोई दोष नही दिखाई देता। यदि श्रमिको की कुशलता को प्रभावित करने वाली निम्न परिस्थितियो का अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है -

(१) **भारतीय श्रमिक की मजदूरी बहुत कम है**—१९२८ मे श्री पर्सेल तथा हाल्सवर्थ ने एक जॉच के बाद बताया कि भारत मे अधिकाश औद्योगिक श्रमिको को ९ शिलिंग प्रतिदिन से अधिक मजदूरी प्राप्त नही होती, जो उनके तथा उनके परिवार के भरण-पोषण के लिए अत्यन्त अपर्याप्त रहती है।[4]

इसी प्रकार १९३८ मे श्री एस० बी० परुलेकर ने अतर्राष्ट्रीय श्रम अधिवेशन मे भाषण करते हुए बताया कि भारतीय उद्योगों मे काम करने वाले अधिकाश श्रमिकों को इतनी भी मजदूरी नही मिलती कि वे अपनी अनिवार्य आवश्यकताओ को पूरा कर सकें। इसी कारण उनके मत में, भारतीय औद्योगिक श्रमिक बीमारी, बेकारी, बुढापा तथा मृत्यु से सुरक्षित नही है।[5]

१९३५-३७ के बीच चाय के बगीचों मे काम करने वाले श्रमिको मे पुरुषो को ७ रु० १३ आना, महिलाओ को ५ रु० १४ आना तथा बच्चो को ४ रु० ४ आना मासिक पगार मिलती थी। श्री शिवराव का कथन है कि इन बगीचो का प्रबन्ध यूरोपीयन लोगो के हाथ मे होने के बावजूद श्रमिकों के हितो की ओर कोई ध्यान नही दिया गया।[6]

इसीलिए यह कहा जा सकता है कि भारतीय श्रमिको की अकुशलता के कारण वे गरीब नही है। अपितु गरीबी तथा मजदूरी की निम्न दरो के कारण उनकी निपुणता कम है। १९०८ मे डा० नैयर ने सच ही कहा था कि यदि लकाशायर का एक श्रमिक भारत के २ ६७ श्रमिकों के बराबर कपडा उत्पन्न करता है तो इसका कारण यह है कि वह भारतीय श्रमिक की अपेक्षा ४ गुनी मजदूरी प्राप्त करता है।[7]

(२) **प्राकृतिक कारण**—भारत की जलवायु कृषि के लिए इसलिए अनुकूल हो सकती है कि इसकी भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न फसलें यहाँ उगाई जा सकती हैं। लेकिन औद्योगिक

1. देखिए जथार एव बेरी भारतीय अर्थशास्त्र (१९६२), पृष्ठ ९५
2. Economic Survey of Asia & Far East (1950) U. N 1951, p 71.
3. Quoted by Wadia & Merchant . Our Economic Problem, p. 482-83.
4. Purcell & Hallsworth : Report on labour conditions in India (19-28) p. 10.
5. Quoted by R. P. Dutt : India Today (1940) pp. 351-2
6. B. Shiva Rao . Industrial Worker in India (1939) p. 128.
7. जथार एव बेरी, पूर्व-उद्धृत-९५-९६

श्रमिकों की निपुणता पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। गर्मी का लम्बा एवं असुविधाजनक मौसम तथा वर्षा ऋतु की नम हवा सामान्यतः वर्ष में थोड़े ही समय को शेष रहने देते हैं, जब तक कि श्रमिक जी तोड़ मेहनत कर सकें।

(३) निम्न जीवन-स्तर—निम्न-स्तरीय मजदूरी मिलने के कारण औद्योगिक श्रमिकों का जीवन स्तर बहुत नीचा है। वाडिया तथा मर्चेन्ट ने लिखा है कि औद्योगिक श्रमिक को भारत में जेल के राशन से भी कम भोजन मिल पाता है।[1] कोलिन क्लार्क ने बताया कि प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार श्रमिकों का औसत वजन ५० से ६० किलोग्राम है (अन्य देशों में अधिक है) और इस दृष्टि से प्रत्येक श्रमिक को १९४० से २०४ कैलोरी भोजन में प्रतिदिन प्राप्त होना चाहिये। दुर्भाग्य से १५००-१६०० कैलोरी से अधिक उन्हें नहीं मिलती और इसीलिए भारतीय श्रमिक शारीरिक दृष्टि से दुर्बल हैं।[2]

(४) आवास समस्या—भोजन के अभाव के अतिरिक्त दूसरी समस्या है आवास की। बम्बई में लगभग ७० प्रतिशत श्रमिक परिवार केवल एक कमरे वाले मकानों में रहते हैं और अक्सर मकानों में भीड़-भाड़ बहुत ज्यादा होती है। यही स्थिति अहमदाबाद, कलकत्ता, सूरत, हावड़ा, कानपुर, मद्रास आदि औद्योगिक नगरों में भी है। भीड़ अधिक होने के कारण स्वच्छ हवा व रोशनी की व्यवस्था नहीं हो पाती और बीमारियों के प्रकोप प्रारम्भ हो जाते हैं। जथार व बेरी इसके विपरीत लन्दन का उदाहरण देते हुए बताते हैं कि वहाँ केवल ६ प्रतिशत जनसंख्या १ कमरे वाले मकानों में रहती है।[3] बम्बई की गन्दी बस्तियाँ एक ओर अपने में सभी सामाजिक अपराधों एवं आचारहीनता को छुपाए रहती हैं तो दूसरी ओर बीमारियों को जन्म देकर ऐसी पीढ़ियों का निर्माण करती रहती हैं जो रुग्ण तथा मायूस हैं। पर्सेल तथा हाल्सवर्थ के मत में इन सब बीमारियों की जड़ गंदे आवासों में निहित है। वे यह मानते हैं कि श्रमिकों की गंदी बस्तियाँ एक ओर उद्योगपतियों की श्रमिकों के हितों के सम्बन्ध में उपेक्षा की द्योतक हैं लेकिन दूसरी ओर श्रमिकों की कुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं।[4]

(५) श्रमिकों की अशिक्षा एवं अज्ञानता—श्रमिकों की अशिक्षा तथा अज्ञानता का भी उनकी निपुणता पर प्रतिकूल प्रभाव होता है। अशिक्षा के कारण उनकी सामान्य बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं हो पाता और वे विशिष्टता प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। व्यावसायिक विशिष्टता के लिए भी साधारण शिक्षा आवश्यक है। लेकिन भारतीय श्रमिकों में अधिकांश लिखना और पढ़ना भी नहीं जानते।

(६) दूषित सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण—सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण का भी भारतीय औद्योगिक श्रमिकों की निपुणता पर प्रतिकूल प्रभाव होता है। एक विदेशी विद्वान ने कहा था कि भारतीय जनता में अधिकांश लोगों का संतुष्टि बिन्दु बहुत नीचा है। वस्तुतः श्रमिक थोड़ा-सा कमाने के बाद पेट भरने व आवश्यक वस्त्रों की प्राप्ति के पश्चात् अधिक काम करने का प्रयास नहीं करते और इससे उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि नहीं हो पाती। जहाँ तक सामाजिक वातावरण का प्रश्न है श्रमिकों में व्याप्त शराब के अत्यधिक उपयोग के कारण भी उनकी कार्यक्षमता नहीं बढ़ सकती। दुर्भाग्य से भारत के औद्योगिक श्रमिकों में शराब एक आवश्यक वस्तु है और जब तक इससे श्रमिक मुक्त नहीं हो जाते उनकी कार्यक्षमता में सुधार होना सम्भव नहीं है।

(७) प्रबन्धकों की उदासीनता—भारतीय उद्योगपति श्रमिकों के हितों की ओर साधारणतया उदासीन रहते हैं। स्वार्थपरता की भावना के कारण अधिकांश कारखानों के प्रबन्धक श्रमिकों के हितों की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं करते। श्री टी० एच० बुकेनन के मत में

1 Quoted by Wadia & Merchant ibid p 488
2 Symposium on Remuneration of Industrial Labour Paths to Eco Growth —Edited by Amlan Dutta—p 271 2
3 जथार एवं बेरी पूर्व उद्धृत ९७-९८
4 Purcell & Hallsworth, ibid, p 89

श्रमिको की निर्धनता, कम निपुण होने तथा निम्नस्तरीय जीवन स्तर की जिम्मेदारी काफी सीमा तक कारखानो के मालिको पर ही है।[1] बडे पैमाने पर उत्पादन होने से जो बड़े पैमाने पर लाभ प्राप्त होते है यदि उसका एक भाग श्रमिको के हितार्थ भी प्रयुक्त हो जाय जो उनका उत्साह बढ़ता है और इससे उनकी कुशलता भी बढ़ जाती है। डा० देसाई ने एक उदाहरण देते हुए बताया है कि द्वितीय महायुद्ध काल मे जूट उद्योग के लाभ ६¾ गुने हुए, सूती वस्त्र उद्योग मे ६½ गुने हो गये, चाय मे चार गुने तथा शक्कर मे लगभग २½ गुने लाभ की प्राप्ति हुई, लेकिन श्रमिको को मजदूरी मे अधिक वृद्धि नही हुई।[2]

(८) **श्रमिकों के साथ गुलामों जैसा व्यवहार**—कारखानो के प्रबन्धको का सामान्य व्यवहार श्रमिको के साथ सम्मानपूर्ण होने की अपेक्षा गुलामो जैसा है और उनकी नीति श्रमिको से अधिकाधिक काम लेने की रहती है। यही कारण है कि भारत मे श्रमिकों मे काम करने की रुचि व उत्साह नही होता। वास्तविक मजदूरी बढने पर श्रमिकों की उत्पादकता मे वृद्धि नही होती, क्योकि कारखाने के प्रबन्धको के व्यवहार से वे सतुष्ट नही है। वाडिया तथा मर्चेंट द्वारा प्रस्तुत एक तालिका के अनुसार १९५० व १९५४ के बीच उद्योगो मे सलग्न श्रमिको की वास्तविक आय मे ४३ प्रतिशत वृद्धि हुई लेकिन उनकी उत्पादकता केवल १४ प्रतिशत ही बढ सकी।[3]

(९) **महत्वाकांक्षा का अभाव**—भारतीय श्रमिको मे महात्वाकाक्षा का अभाव है। साधारणतया महत्वाकाक्षी होने पर श्रमिक काफी रुचिपूर्वक कार्य करता है और इससे उसकी निपुणता बढती है। पर दुर्भाग्य से महत्वाकाक्षी होने के कारण श्रमिक की रुचि केवल 'पेट भरने' तक ही सीमित रहती है।

उपरोक्त कारणो से भारतीय श्रमिको की कार्य-क्षमता बहुत कम है। चूँकि उन्नीसवी शताब्दी मे इनके हितों की रक्षा का सारा भार पूँजीपतियो पर ही डाला गया था, राज्य ने कोई निश्चित श्रम नीति नही अपनाई। लेकिन गत शताब्दी के अन्त मे श्रमिको का संगठन प्रारम्भ हुआ तथा राज्य ने स्वयं भी इनके हितो की रक्षा करने की आवश्यकता अनुभव की। अब हम राज्य द्वारा पारित किए गए उन अधिनियमों का सक्षिप्त वर्णन करेंगे जिनके द्वारा औद्योगिक श्रमिकों के हितों की रक्षा सम्भव हो सकी।

(II) श्रमिक संघ
(Trade Unions)

श्रमिक-संघ का उद्गम

श्रमिक-संघ आन्दोलन मुख्यतः वर्तमान फैक्टरी व्यवस्था की ही देन है। फैक्टरी व्यवस्था का विकास होने से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिला क्योकि वह उत्पादन का एक बहुत बडा भाग स्वय ही ले जाया करता था। इससे एक ऐसे असहाय समाज का जन्म हुआ जो कि अपनी नियुक्ति और मजदूरी के लिए नियोक्ता (पूँजीपति) पर ही निर्भर था। परिणामस्वरुप दोनो के आपसी सम्बन्ध दिन पर-दिन बिगडते ही चले गये। इसका कारण श्रम की कुछ निजी विशेषताएँ बतलाई जाती हैं। श्रम नाशवान होता है, अत उसे एकत्रित करने का प्रश्न ही नही उठता है। श्रमिक अपना श्रम लेकर बाजार मे आता है। श्रम-बाजार मे जो कुछ भी मूल्य मिलता है वही उसको स्वीकार करना पडता है। श्रमिकों की माँग करने वाले उत्पादक (पूँजीपति) चाहे तो कुछ समय तक श्रम की माँग नही करें, लेकिन श्रमिक के वास्ते कुछ समय तक के लिए श्रम की पूर्ति स्थगित करना सम्भव नही, क्योकि यदि वह काम नही करेगा तो उसको भूखा मरना होगा। इसलिए बेचारे श्रमिक को उचित मजदूरी नही मिलती जिसका परिणाम होता है 'शोषण'। उनके हितो को बहुत ही बेरहमी से कुचला गया। चेतन प्राणी न समझकर जड़ वस्तु

1. D. H. Buchanan . The Development of Capitalist Enterprise in India (1934) p. 386
2. Dr A R. Desai : Recent Trends in Indian Nationalism (1960), p 31
3. Wadia & Merchant : ibid, p. 491

समझा जाने लगा। इस प्रकार का अन्यायपूर्ण व्यवहार वर्षों तक चालू रहा। अन्त मे श्रमिको ने उत्पादन के क्षेत्र मे अपना महत्व समझा। कार्ल मार्क्स (Karl-Marx) ने नारा बुलन्द किया कि हे दुनियाँ के मजदूरो एक हो जाओ यदि तुम्हारे अन्दर एकता रही तो तुम्हे कोई भी हानि नहीं हो सकती। इस नारे ने जादू जैसा चमत्कार दिखलाया। 'एकता ही शक्ति है' (Unity is strength) नामक सिद्धान्त ने जोर पकडा। इन सब बातो ने उन्हे सगठन के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार के घोर अन्यायपूर्ण मानवताहीन शोषण को समाप्त करने के लिए विभिन्न राष्ट्रो मे श्रमिक-सघो का श्रीगणेश हुआ।

श्रमिक-संघ की परिभाषा :

भारतीय ट्रेड यूनियन विधान सन् १९२६ (Indian Trade Union Act, 1926) के अनुसार श्रम सघ की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"कोई भी सगठन चाहे अस्थायी हो या स्थायी आदि श्रमिक और उद्योगपति या मालिक और कर्मचारियो के बीच अथवा कर्मचारियो और कर्मचारियो के बीच उचित सम्बन्ध बनाये रखने के लिए बनाया गया हो या वाणिज्य व्यापार करने पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने के लिए बनाया गया हो या दो या दो से अधिक सघो का सगठन हो तो उसको ट्रेड यूनियन ही कहा जायगा।"

श्री वी० वी० गिरि (V V Giri) के शब्दो मे, "श्रम-सघो से हमारा अभिप्राय ऐसे सगठनो से है जिनका निर्माण ऐच्छिक रूप से सामूहिक शक्ति के आधार पर श्रमिको के हितो की सुरक्षा के लिए किया जाता है।"

सिडनी तथा बैट्रिक वेब (Sidney and Beatrice Webb) के अनुसार, "श्रमिक-सघ वास्तव मे मजदूरी पर निर्वाह करने वाले व्यक्तियो के उनके कार्य की दशायें बिगडने न देने तथा उन्हे सुधारने के लिए बनाये गये स्थायी सगठन है।"

श्रमिक-सघ के उद्देश्य एव कार्य :

(१) श्रमिको मे परस्पर बन्धुत्व एव सहयोग की भावनाओ का विकास करना तथा उन्हे सगठित करना। (२) श्रमिक एव उनके अधिकारियो मे सहयोग की भावना उत्पन्न करना। (३) उनके काम एव मजदूरी के सम्बन्ध मे उनकी विभिन्न अक्षमताओ पर विचार करना और उन्हे वैधानिक रूप से दूर करने का प्रयत्न करना। (४) रोग, बीमा, प्रॉवीडेण्ट-फण्ड, सरकारी साख, डाक्टरी सुविधा आदि लाभदायक योजनाओं की व्यवस्था करना। (५) हडताल की घोषणा करना, सगठित करना एव उसे सफलतापूर्वक चलाना, नियोक्ताओं से वार्ता करना और झगडो को शान्ति से तय करना। (६) आवश्यकता पडने पर कानूनी सहायता करना। (७) श्रमिको को उचित मजदूरी दिलाना, काम के घण्टे तथा काम करने की दिशायें ठीक करना तथा अन्य प्रकार की सुविधायें मालिको से दिलवाना। इस प्रकार श्रमिको के हितो के लिए मालिको से लडना। (८) श्रमिको की शिक्षा का प्रबन्ध करना, उनमे अच्छे सस्कारो का सचार करके उनके सांस्कृतिक जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना। बीमारी, बेकारी, दुर्घटना हडताल, तालाबन्दी इत्यादि मुसीबतों मे श्रमिक के लिए सामाजिक सुरक्षा का काम करना।

एक सफल और दृढ श्रम सघ की विशेषताएँ

श्रमिक सघ अनेक महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, किन्तु ये अपने कार्यों मे तभी सफल हो सकते हैं जबकि इनका आधार दृढ हो। अत एक, सफल और दृढ श्रम सघ के लिए आवश्यक है कि उसके सदस्य शिक्षित हो, तथा अपने अधिकारो और कर्त्तव्यो के लिए जागरूक हो। दूसरा, भारी सख्या मे उसके सदस्य हो। तीसरा, आर्थिक स्थिति अच्छी हो। चौथा, इनका सगठन प्रजातन्त्रीय ढग पर हो। पाँचवां इन श्रमिक सघो को मालिको तथा सरकार से मान्यता प्राप्त हो। छठा, इनके नेता ईमानदार, योग्य, अनुभवी तथा श्रमिको मे से ही हो और श्रमिको की कठिनाइयों से भली प्रकार परिचित हो। सातवाँ, सदस्यो मे मेल और सहयोग की भावना हो। आठवाँ, श्रमिक-सघ अपना अधिकाश समय और धन श्रम हितकारी कार्यों मे लगाता हो। नवाँ, श्रमिको को अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता हो। दसवाँ, श्रमिक-सघ राजनैतिक कार्यविधि

से मुक्त हो। ग्यारहवां, श्रम-सघो की नीति विध्वसात्मक न होकर रचनात्मक एवं निर्णयात्मक हो। अन्त में इनका सगठन न्याय और वृद्धि के आधार पर होना चाहिये।

श्रमिक-संघो के लाभ

श्रमिक-सघो से श्रमिको को निम्न लाभ हैं :—(१) सभी श्रमिको में एकता उत्पन्न हो जाती है। (२) कार्य के घण्टो मे कमी होने तथा कार्य की दशाओ मे सुधार होने से श्रमिको की कार्यक्षमता बढ जाती है। (३) श्रमिको के शोषण की मनोवृत्ति समाप्त होने लगती है। (४) देश मे औद्योगिक शान्ति कायम हो जाती है। (५) आवश्यकता पडने पर श्रमिक-सघ श्रमिको को आर्थिक सहायता प्रदान करते है। (६) श्रमिक-संघ श्रमिको के लिए मनोरजन आदि की सुविधायें भी प्रदान करते हैं। (७) इनके होने से श्रमिको मे कर्त्तव्य परायण एव उत्तर-दायित्व की भावना उत्पन्न होती है। (८) श्रमिक-संघ श्रमिको को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विकास हेतु प्रोत्साहित करते है।

भारत में श्रमिक-संघों का उद्गम और विकास :

विश्व के अन्य राष्ट्रो की भांति भारत मे भी श्रमिक-सघो का विकास देश मे औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप हुआ है। भारतवर्ष मे आधुनिक रूप मे औद्योगिक उत्पादन सन् १८५० के बाद मे प्रारम्भ होता है। श्रमिको मे वास्तविक सङ्गठन की नीव १८८४ मे पडी, जब श्री एम० एम० लोखाडे ने बम्बई में श्रमिको की एक सभा बुलाई और अपनी माँगो के अनेक प्रस्ताव पास किये। इन प्रस्तावो मे साप्ताहिक अवकाश, काम वाले दिन बीच में आधे घण्टे का अवकाश, मासिक मजदूरी का नियमित रूप से दिया जाना, दुर्घटना होने पर क्षतिपूर्ति करना इत्यादि माँगे सम्मिलित थी। यद्यपि इन मांगो को स्वीकार कर लिया गया किन्तु कार्यान्वित करने की दिशा मे कोई भी कदम नही उठाया गया। सन् १८९० में श्री लोखाडे ने बम्बई के श्रमिको की प्रथम यूनियन की स्थापना की, जिसका नाम "बम्बई मिल हैड्स एसोसियेशन" रक्खा गया। इसके बाद सन् १८९७ मे रेलवे कर्मचारियो की सयुक्त समाज (The Amalgamated Society of Railway Servants), सन् १९०५ मे कलकत्ता में मुद्रको का सघ (Printers Union), सन् १९०७ मे बम्बई डाक सघ (The Bombay Postal Union) और सन् १९१० मे कामगार हितवर्धक सभा की स्थापना हुई।

सन् १९२६ मे भारतीय श्रम सघ ऐक्ट (Indian Trade Union Act) पास हुआ। इसके पास हो जाने से श्रमिक सघो की स्थिति अब वैधानिक हो गई। श्रमिक सघो का पजीकरण (Registration) तेजी से होने लगा। इस प्रकार १९२६ के पश्चात् भारत मे श्रम-सघो का विकास तीव्र गति से होने लगा। १९३८ के अन्त मे श्रम-सघो व उनके सदस्यों की सख्या क्रमश ४२० व ३,९०,११२ थी। इसके पश्चात् द्वितीय महायुद्ध १९३९ मे प्रारम्भ हो गया जो कि १९४५ तक चला। इस अवधि मे भारत में जो तेजी से औद्योगिक विकास हुआ जिसके फलस्वरूप श्रम-सघों की सख्या मे तेजी मे वृद्धि हुई। श्रम-सघो की सख्या १९४३ तक बढकर ८५३ हो गई। सन् १९४६ मे भारतीय राष्ट्रीय श्रम सघ सभा (Indian National Trade Union Congress) की स्थापना की गई। इसका कारण यह था कि अखिल भारतीय श्रम-सघ सभा पर साम्यवादियो का पूर्ण रूप से नियन्त्रण हो चुका था। अत कांग्रेस के वास्ते मजदूरो पर से साम्यवादियों का प्रभुत्व हटाने के लिए एक अलग सगठन बनाना अनिवार्य-सा हो गया था। इधर समाजवादियो ने अपनी एक अलग सभा सन् १९४८ मे बनाई जिसे हिन्द मजदूर सभा (Hind Mazdoor Sabha) कहते हैं। सन् १९४९ मे प्रो० शाह ने सयुक्त श्रम सघ (United Trade Union Congress) का सगठन किया।

वर्तमान स्थिति :

आजकल 'इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' मे श्रमिको की सबसे अधिक सख्या है। इससे लगभग ८४० श्रमिक सघ सम्मिलित हैं जो कि लगभग २० लाख श्रमिको का प्रतिनिधित्व करते हैं। उसके बाद 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का नम्बर आता है। तत्पश्चात् समाजवादी पार्टी द्वारा आयोजित "हिन्द मजदूर सभा" तथा बाद मे "यूनाइटेड यूनियन कांग्रेस"

का नम्बर आता है। इस प्रकार स्वतन्त्रता के पश्चात् से हमारे देश मे ये चार ही प्रमुख श्रमिक सघ कार्य कर रहे है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ से सम्बन्ध (Relation with I L O)

इस बात से सभी सहमत है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सघ ने भारतीय श्रम सघ आन्दोलन की प्रगति मे भारी सहायता प्रदान की है। आज हमारा श्रमिक अकेला ही नही है बल्कि उसको अन्य राष्ट्रों के श्रमिकों की पूर्ण सहानुभूति प्राप्त है। हमारा श्रमिक अपने अधिकार और सुविधाओ के लिए जाग्रत है। अन्तर्राष्ट्रीय सगठन पत्र व पत्रिकायें भेजा करता है जिसके द्वारा हमारे श्रमिक अन्य राष्ट्रो के श्रमिको के बारे मे आवश्यक जानकारी प्राप्त करते हैं। हमारे प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम बैठकों मे जाते है तथा सामूहिक रूप मे श्रम समस्याओ पर विचार करते है और इस प्रकार आवश्यक जानकारी प्राप्त करते है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब हमारे देश मे श्रमिको पर विपत्ति आई है ससार के श्रमिक सघो ने हमारे श्रमिकों की सहायता की है।

भारतीय श्रमिक सघ आन्दोलन के विकास में बाधाएँ

भारतीय श्रमिक-सघ आन्दोलन के इतिहास पर एक विहगम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि इतिहास काफी रगा हुआ होता है फिर भी आन्दोलन का विकास उतनी तीव्रता एव दृढता से नही हो पाया जितना कि होना चाहिए था। हमारे देश के श्रम सघो मे न तो उतनी शक्ति है और न भावना जो अन्य देशो मे विद्यमान है। अब हम आँकडो की तरफ अपनी नजर दौडाते हैं तो मुश्किल से २२ लाख श्रमिक सघो के सदस्य हैं जबकि १ करोड से अधिक श्रमिक तो सिर्फ भीमकाय (Large scale) उद्योगों मे ही कार्य करते हैं।

इस धीमी प्रगति के निम्नलिखित कारण हैं

(१) सबसे प्रथम शाही श्रम आयोग द्वारा प्रस्तुत उन तत्वो के विषय मे बताना आवश्यक है जो श्रमिक सगठन को सुदृढ बनाने मे बाधक है। शाही आयोग के मत मे भारतीय श्रमिको का गाव से मोह तथा अस्थायी रूप से कारखानो मे काम करना इस आन्दोलन के विकास से सबसे बडी बाधा है। इसके अतिरिक्त भाषा व सस्कृति की भिन्नता व शिक्षा का अभाव भी श्रमिक सघ आन्दोलन के विकास मे अवरोध उत्पन्न करते हैं।[1]

(२) अलक घोष के कथनानुसार अशिक्षित तथा अज्ञानी श्रमिकों मे प्रजातन्त्र की परम्पराओं को सरलता से जाग्रत करना सम्भव नही होता और इसीलिए वे अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सरलता से सगठित नही हो पाते और तटस्थ रहते है।

(३) भारतीय श्रमिक सघ आन्दोलन का एक दोष यह भी है कि अधिकाश श्रमिक सघो का सामान्य उद्देश्य हडताल कराना है। इससे न केवल गरीब श्रमिको की क्षति होती है, बल्कि अनावश्यक हडतालों के कारण उत्पादन की प्रक्रियाएँ भी रुक जाती है। श्री कार्निक ने बताया है कि १९५७ ५८ मे श्रमिक सघो ने अपनी आय का केवल ६ २ प्रतिशत ही शिक्षा तथा श्रमिको के कल्याण हेतु खर्च किया। उनके मत मे कल्याणकारी कार्यों की यह उपेक्षा श्रमिक सघो को कमजोर बना देती है।[2]

(४) राजनैतिक प्रपचो के कारण भी श्रमिक सघ जनता व सरकार की सहानुभूति प्राप्त नही कर पाते। विविध राजनैतिक दलों के नेता श्रमिकों मे अपने दल का प्रभाव बढाने के लिए प्रयास करते है। यही कारण है कि इटक आइटक हिंद मजदूर सभा आदि सस्थाएँ श्रमिक-

---

1 Quoted by Wadia & Merchant ibid, p 425
2 V B Karnik, ibid pp 226

संघो को प्रभावित करती रहती हैं फलस्वरूप उनकी उचित मांगो को भी सरकार व जनता महज राजनैतिक चाल मान लेती है।

(५) श्रमिक-संघो का विकास धीमा होने के कारण कोष का अभाव भी है। श्रमिको की गरीबी उन्हे प्रतिपल्न कार्य करने को बाध्य करती है, चाहे उनका शोषण होता रहे। निर्धनता तथा कोषो का अभाव भी इस आन्दोलन के विकास मे बाधक है।

(६) कारखाने मे श्रमिको को साधारणतया मध्यस्थों के माध्यम से भर्ती करवाया जाता है। ये मध्यस्थ श्रमिको पर नैतिक और मब प्रकार का दबाव डालकर नियोक्ताओ का विरोध करने से इन्हे रोकते है।[1]

(७) श्रमिक संघो का छोटा आकार तथा सूचना न देने का तरीका भी अनुचित है। पजीकृत समितियों मे भी केवल ५१-५२ प्रतिशत ही सूचना प्रस्तुत करते है। श्रमिक सघो के सदस्यो, कोषो तथा गतिविधियो की पर्याप्त सूचना श्रम-विभागों को प्रस्तुत किया जाना जरूरी है।

१९४७-४८ मे प्रति श्रमिक-सघ औसत सदस्य सख्या १,०२६ थी; परन्तु १९५७-५८ मे यह घटकर ५४७ रह गई।[2]

(८) श्री बोस के मत मे श्रमिक-सघो के साथ योग्य एवं कानून से परिचित परामर्श दाताओ का होना भी जरूरी है जो उनका मार्ग-प्रदर्शन कर सके। दुर्भाग्य से हमारे देश मे इस प्रकार के परामर्शदाताओ का भी नितान्त अभाव है।

(९) श्री कार्निक ने श्रमिक-सघो के विकास मे दो बाधाएँ और बताई है—प्रथम औद्योगिक विकास की धीमी गति और द्वितीय, कारखानो के मालिको का विरोध। भारत मे कारखाने के मालिक का साधारणतया उद्देश्य श्रमिक-सघो को कमजोर बनाने का ही रहता है। यथासम्भव वे **सामूहिक सौदेबाजी** की प्रवृत्ति को कुचलने का प्रयास करते हैं।

आवश्यक सुझाव

देश मे करोडो व्यक्तियों का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिए, तेजी से औद्योगीकरण लाने के लिए तथा समाजवादी समाज की स्थापना का प्रश्न ध्यान मे रखते हुये श्रमिकों के श्रमिक संघ आन्दोलन को दृढ बनाने की नितान्त आवश्यकता है। श्री वी० वी० गिरि के अनुसार 'श्रमिको के हितो की रक्षा करने तथा उत्पादन के लक्ष्य को पूरा करने, दोनो के लिए ही दृढ श्रमिक सघ आन्दोलन की आवश्यकता है। यदि श्रमिक सघ मे इन उद्देश्यों को पूरा करने की एकता नही है, दृढता नही है, तो भारत मे पूर्ण समाजवादी प्रजातन्त्र के आधार पर बनाये जाने वाले औद्योगिक ढांचे की नीव दृढ न होगी और राज्य अपने श्रेष्ठतम आदर्शो के होते हुए भी, श्रमिक वर्ग को मौलिक अधिकार देने मे असमर्थ रहेगा।" देश की प्रगति को ध्यान मे रखते हुए यह आवश्यक है कि श्रमिक-संघ उन्नति करे और यह तभी सम्भव है जबकि इनकी बाधाओ को दूर किया जाय। इसके वास्ते निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत है :

(१) विभिन्न श्रमिक-सघो मे एकता उत्पन्न की जाय। (२) श्रम-संघो को राजनैतिक क्षेत्र मे बिल्कुल दूर रक्खा जाय। इनका प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र का हित ध्यान मे रखते हुए श्रमिको को अधिक से अधिक सुविधाएँ पहुँचाना होना चाहिए। (३) श्रमिक वर्ग को शिक्षित किया जाय। इसके वास्ते रात की कक्षाएँ प्रारम्भ की जानी चाहिए। (४) श्रमिको के बीच से गरीबी तथा ऋण-ग्रस्तता दूर की जाय। इसके लिए सहकारी समितियों की स्थापना की जानी चाहिए। (५) श्रमिक-सघो को जाति-पाँति धार्मिक अथवा क्षेत्रीय दुर्भावनाओ से दूर रक्खा जाना चाहिये। (६) श्री वी० वी० गिरि के अनुसार 'एक उद्योग मे एक सगठन' होना चाहिए। इससे आपसी संघर्ष समाप्त हो जायगा। (७) श्रम-सघो का सगठन प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तो पर होना चाहिये। (८) श्रम-सघो को वे समस्त कार्य सम्पन्न करने चाहिये जो एक आदर्श श्रम-सघ के होते है। (९) श्रमिक-संघ लाभ कोषो की स्थापना करें और इन लाभ कोषो मे से श्रमिको को बीमारी,

1 Mathur & Mathur : ibid pp. 80-2
2 V. B. Karnik : ibid, p. 227

बेकारी, दुर्घटना, मृत्यु अथवा अन्य सकटकालीन अवस्था मे आर्थिक एव सामाजिक सुविधाएँ प्रदान करें (१०) नियोक्ता वर्ग श्रम-सघो को शत्रुता की भावना से नही बल्कि एक सहयोगी की भावना से देखें। श्रमिक उत्पादन के एक अनिवार्य अग है। अत उनसे मित्रता का व्यवहार किया जाना चाहिए। (११) श्रमिक-सघो के नेता श्रमिको मे से ही होने चाहिये। (१२) आजकल नियोक्ता वर्ग की ओर से यह आम शिकायत है कि श्रमिक काम करना नही चाहते जिसके फलस्वरूप उनकी कार्यक्षमता दिन पर दिन गिरती चली जा रही है। यह एक राष्ट्रीय हानि है जिसको कि हर सम्भव तरीका मे समाप्त करना होगा। इस प्रकार की मनोवृत्ति समाप्त करने के लिए श्रम-सघो को अपना सक्रिय सहयोग देना चाहिए।

(III) औद्योगिक सम्बन्ध तथा औद्योगिक शान्ति के ढग
(Industrial Relations and Methods of Industrial Peace)

इग्लैड मे हुई औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् जब से मार्क्सवादी विचारधारा का जोर हुआ है, तब से औद्योगिक समाज मे दो वर्ग उत्पन्न हो गये है—(१) पूँजीपतियो का वर्ग, तथा (२) श्रमिको का वर्ग। इन दोनो के बीच आपसी सघर्ष के दुष्परिणाम निकलते है जो न केवल पूँजीपति वर्ग अथवा श्रमिक वर्ग के लिए हानिकारक होते है वरन् इनसे सम्पूर्ण उद्योग, सम्पूर्ण राष्ट्र तथा सम्पूर्ण समाज प्रवाहित हो उठता है। ऐसी परिस्थिति मे यह परम आवश्यक प्रतीत होता है कि नियोक्ता वर्ग तथा श्रमिक वर्ग दोनो के बीच अच्छे मधुर सम्बन्ध स्थापित किये जायें। इससे औद्योगिक शान्ति कायम होगी।

औद्योगिक शान्ति का महत्व

औद्योगिक उत्पादन बढाने, श्रमिको की आर्थिक स्थिति को सुधारने और राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से समृद्धशाली बनाने हेतु औद्योगिक शान्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यदि हडतालें होती हैं, मिलो, कारखाना मे तालाबन्दी की जाती है, और इस प्रकार औद्योगिक शान्ति भङ्ग हो जाती है तो उत्पादन घटने लगता है उत्पादन व्यय मे निरन्तर वृद्धि होने लगती है तथा आय कम हो जाने से बचारे श्रमिको को भीषण आर्थिक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इतना ही नही, बाजार मे प्रति-दिन काम आने वाली वस्तुओ की कमी हो जाने से चोर-बाजारी का बोलबाला हो जाता है जिसके फलस्वरूप उपभोक्ताओ को भी अनक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। सक्षेप मे औद्योगिक शान्ति क भग हो जाने के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण राष्ट्र की शान्ति भग हो जाती है और इससे किसी को भी लाभ नही पहुँचता। आज जबकि हमारा राष्ट्र तेजी स औद्योगीकरण की तरफ चला जा रहा है, औद्योगिक शान्ति की सबसे अधिक आवश्यकता है। यह पचवर्षीय योजनाओ की सफलता की कुंजी है।

औद्योगिक सघर्षों के कारण

औद्योगिक झगडे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की देन है। इन सघर्षो के अनेक कारण हैं जिनमें से कुछ आर्थिक हैं, कुछ मनोवैज्ञानिक हैं कुछ राजनैतिक व सामाजिक हैं तथा कुछ प्रबन्ध सम्बन्धी हैं। सक्षेप में औद्योगिक सघर्ष के निम्न कारण हैं—(१) निम्न मजदूरी दर। (२) काम करने की दोष पूर्ण दशायें। (३) श्रमिको की मनमाने ढङ्ग से छटनी। (४) बोनस तथा महँगाई आदि की माग। (५) श्रम सघ—इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत मे श्रम सघो की स्थापना के बाद स ही औद्योगिक सघर्ष प्रारम्भ हुए है। इससे पहले सघर्ष नाम मात्र के ही थे। उद्योगपति तथा श्रम-सघ दोनो ही शुरू स अपने को एक दूसरे का दुश्मन मानकर चलते है। उद्योगपति जान बूझ कर श्रम-सघो को मान्यता प्रदान नही करते। (६) श्रमिको की भरती की दोषपूर्ण पद्धति। (७) श्रमिको तथा नियोक्ताओ म प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध न होने के कारण भी झगडे शुरू हो जाते हैं। (८) स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये राजनैतिक नेताओं ने श्रमिको के आन्दोलन को अपना महत्वपूर्ण हथियार बनाया। (९) उद्योगो मे प्रचलित की जाने वाली विवेकीकरण मे सम्बन्धित योजनाओं के कारण भी मिल मालिको तथा श्रमिको मे परस्पर सघर्ष प्रारम्भ हुआ है। (१०) *अन्य कारण*—*मिल मालिको का दुर्व्यवहार साम्यवादी विचारधारा*, श्रमिको की निर्धनता, अज्ञानता तथा अवकाश व छुट्टियो की कमी के कारण भी सघर्ष होते रहते हैं।

भारत में औद्योगिक संघर्ष का उद्‌गम और विकास .

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व औद्योगिक संघर्ष नाममात्र के थे, क्योकि श्रमिक संघठित नही थे। किन्तु प्रथम युद्ध-काल मे श्रमिको मे तेजी से चेतना आई। मूल्यो मे वृद्धि होने के फलस्वरूप जीवन-स्तर व्यय मे भी वृद्धि हुई किन्तु इसके विपरीत मजदूरी मे समान अनुपात मे वृद्धि न हुई। रूस मे ऐतिहासिक क्रान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सघ की स्थापना से भी भारतीय श्रमिको को प्रेरणा मिली। इन सब वातो के कारण भारतीय श्रमिकों ने १९१९ मे हडताले करना प्रारम्भ कर दिया। युद्ध समाप्त हो जाने से यह संघर्ष जोर पकड गया। १९२१ मे लगभग ४०० हडताले हुईं। इसके बाद हडतालो की सख्या मे कुछ कमी हो गई। सन् १९२२, १९२३ और १९२४ मे क्रमश. २७८, १७६ तथा १३२ हड़तालें हुईं। सन् १९३६ के बीच के समय मे हडतालो की वार्षिक सख्या १५० थी।

इसके वाद सितम्वर, १९३९ मे द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया जिसके कारण वस्तुओ के मूल्यो मे भारी वृद्धि हुई। अतः श्रमिको मे असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई और इस प्रकार औद्योगिक सघर्षो मे तेजी से वृद्धि हो गई।

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतन्त्र हो गया। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से श्रम समस्या की ओर विशेष अभिरुचि दिखलाई गई। परिणामस्वरूप सघर्षो मे कमी होना प्रारम्भ हो गया। यह संख्या सन् १९४९, १९५०, १९५१, १९५२, १९५३, १९५४, १९५५ तथा १९५६ मे क्रमश ९२०, ८१४, १,०७१, ९६३, ७७२, ८४०, १,१६६ और १,२०३ तक पहुँच गई। सन् १९४८ मे बन्दरगाह कर्मचारियो की हड़ताल व जमशेदपुर के कर्मचारियो की हडताल प्रमुख थी।

वर्तमान स्थिति

निम्नलिखित तालिका से भारत मे औद्योगिक सघर्ष की वर्तमान स्थिति स्पष्ट हो जाती है —

औद्योगिक संघर्ष

वर्ष	सघर्षो को संख्या	भाग लेने वाले कर्मचारियो की सख्या (हजारो मे)	कर्मचारियो द्वारा खोये हुए दिनों की सख्या (हजारो मे)
१९५६	१,२०३	७१५	६,९९२
१९५७	१,६३०	८८९	६,४२९
१९५८	१,५२४	९२९	७,७९८
१९५९	१,५३६	५३०	४,६८५
१९६०	१,५५६	९८३	६,५१५
१९६१	१,३५७	५१२	४,९१९
१९६५	१,८३५	९९१	६,४६९
१९६६	२,५५६	१,४१०	१३,८४६

(भारत, १९६८)

औद्योगिक सघर्षो को निपटाने की व्यवस्था

(१) ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट, १९२९ (Trade Disputes act of 1929) – इस ऐक्ट मे अवैधानिक हडतालो अथवा तालाबन्दी की स्पष्ट शब्दो मे व्याख्या की गई है। सहानुभूति प्रकट करने के लिए की जाने वाली हडतालो को भी अवैध घोषित किया गया है। इस ऐक्ट के अनुसार सरकार की ओर से श्रमिकों के हितो की रक्षा के लिए श्रम अधिकारियो (*Labour officers*) की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गई है। किन्तु इस अधिनियम मे अनेक दोष होने के कारण १९२८ मे इस ऐक्ट मे सरकार ने आवश्यक संशोधन किये।

(२) औद्योगिक सघर्ष अधिनियम, १९४७ (The Industrial Disputes Act of

1947)—द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात बढते हुए सघर्षों को रोकने तथा उनके निबटारे के लिए सन १९४७ मे औद्योगिक सघर्ष अधिनियम पास किया गया जो कि १ अप्रैल १९४७ मे जम्मू और काश्मीर को छोडकर सम्पूर्ण भारत मे लागू किया गया। इस ऐक्ट की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार है :

(अ) **वर्क्स समितियो (Works Committees) को स्थापना** उन औद्योगिक इकाइयों मे को गई है जिनमे १०० या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते है। १ जुलाई, १९६६ को ९४८ वर्क्स समितियां कार्य कर रही थी।

(ब) **समझौता व्यवस्था अधिकारी (Conciliation Officers) तथा समझौता व्यवस्था समिति (Board of Conciliation) को स्थापना** यह अधिनियम केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो को यह अधिकार प्रदान करता है कि वे अपने-अपने क्षेत्र मे समझौता व्यवस्था अधिकारी तथा समझौता व्यवस्था समिति की नियुक्ति तथा स्थापना कर सकती है। इन अधिकारियो तथा समितियो का मुख्य कार्य उद्योगो मे होने वाले सघर्षों को निपटाने के लिए मालिको तथा श्रमिको के बीच मध्यस्थ का कार्य करना और दोनो पक्षो के बीच समझौता कराने का प्रयत्न कराना होगा।

(स) **इस ऐक्ट में औद्योगिक ट्रिब्यूनल्स (Industrial Tribunals) की स्थापना** की व्यवस्था भी की गई है।

(द) सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं मे हडताल या तालाबन्दी करना अवैध माना जायगा।

(इ) **पचायत की व्यवस्था (Provisions for Arbitration)**—किन्तु उपरोक्त ऐक्ट के विरुद्ध भी यह आरोप लगाया जाता है कि इसमे अनिवार्य रूप से समझौता और विवाचन की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय और राज्य सरकारो द्वारा विभिन्न समितियो की स्थापना के फलस्वरूप दोनो ने एक ही विषय पर विभिन्न मत प्रकट किये। अतः श्रमिकों तथा मालिको दोनो मे असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई।

(३) **औद्योगिक सघर्ष अपीलेट ट्रिब्यूनल ऐक्ट १९५०**—यह अधिनियम २० मई, १९५० को पास किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य लेबर अपीलेट ट्रिब्यूनल (Labour Appellate Tribunal) की स्थापना करना था। इस लेबर अपीलेट ट्रिब्यूनल का मुख्य उद्देश्य विभिन्न प्रकार के औद्योगिक न्यायालयो द्वारा दिये गये निर्णयो की अपीलें सुनना है। किन्तु सन् १९५६ में इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (Amendment & Miscellaneous Provision) पास हो जाने से उपरोक्त औद्योगिक सघर्ष अपीलेट ट्रिब्यूनल ऐक्ट १९५० को समाप्त कर दिया गया।

(४) **इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स** (सशोधित एव विविध प्रोवीजन्स) **ऐक्ट, १९५६**—इस अधिनियम ने औद्योगिक सघर्ष अधिनियम मे अनेको महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये। इसमें श्रमिक की एक नवीन परिभाषा दी गई है जिसके अनुसार ५०० रुपया या इससे कम प्रतिमास मजदूरी पाने वाले श्रमिक भी इसमे शामिल कर दिये गये है बशर्ते उनका कार्य प्रशासनिक (Managerial or administrative) न हो। उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी एक इसी प्रकार का अधिनियम पास किया।

[IV] प्रबन्ध में श्रमिको का भाग
(Workers Participation in Management)

प्रबन्ध में श्रमिको के भाग का अर्थ :

श्रमिको के भाग लेने से तात्पर्य है कि वे नीति-निर्धारण और लाभ दोनो मे भाग लें। अर्थात् कर्मचारी मजदूरी के अतिरिक्त, लाभ तथा उद्योग से सम्बन्धित नीतियो के निर्धारण करने

तथा उन्हे कार्यान्वित करने मे सक्रिय सहयोग प्रदान करते हैं। इसमे श्रमिको एवं मिल-मालिको के पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता होती है। ऐसे सहयोग का आधार आपस में विचार-विमर्श होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उद्योगो के प्रबन्ध मे समस्त श्रमिको को बुलाकर उनसे सलाह ली जाय, बल्कि उनके प्रतिनिधियों को सचालन बोर्ड अथवा प्रबन्ध समितियो मे लिया जाय ताकि वे अपनी अमूल्य सलाह दे सके। इससे श्रमिकों और मालिको मे स्वस्थ वातावरण उत्पन्न होगा।

इस विचारधारा का प्रादुर्भाव एवं विकास :

राजनैतिक स्तर से औद्योगिक स्तर एवं जनतन्त्रवाद के विस्तार करने की चाह के कारण इस विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। श्रमिक-सघो ने मिल मालिको के द्वारा किये जाने वाले भयकर शोषण के प्रति अपनी आवाज उठाई, जिससे श्रमिको मे एकता का संचार हुआ। कारखानो के प्रबन्ध संचालन में श्रमिको तथा पूंजीपतियो का सहयोग प्राप्त करने से सर्वप्रथम प्रयत्न प्रथम विश्व युद्ध के समय ह्विटले कमेटी ने किया। उसने मिल मालिकों तथा श्रमिको के आपसी सम्बन्ध अच्छे करने तथा मामलो पर नियमित रूप से विचार विमर्श करने के लिए सयुक्त औद्योगिक परिषदो की स्थापना करने की सिफारिश की जिसमे कि दोनो के बराबर बराबर प्रतिनिधि हों। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् औद्योगिक सस्थाओ मे कार्य परिषद (Work Councils) स्थापित करने के लिए कई देशो मे कानून भी पास किये गये।

भारत में योजना का महत्व और लाभ

भारतीय श्रमिक अत्यन्त गरीब है। चूँकि श्रम नाशवान है, अतः उसकी सौदा (Bargaining) करने की क्षमता पश्चिमी राष्ट्रों के श्रमिकों की अपेक्षा न्यूनतम है। वह अज्ञान, अशिक्षित होने के अतिरिक्त रूढ़िवादी प्रथा का पुजारी है। उनको अकुशल तक कहा जाता है। ऐसी स्थिति मे श्रमिको का व्यवस्था मे भाग लेने का प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण है। इससे भारतीय श्रमिको को अनेक लाभ होगे। श्रमिको के प्रबन्ध मे भाग लेने से उनका मान बढ़ता है। समाज मे उनको उचित स्थान मिलता है। उनका मालिक से सीधा सम्पर्क हो जाता है जिसके फलस्वरूप दोनो एक दूसरे की कठिनाइयो से परिचित हो जाते हैं। श्रमिको तथा मालिकों के सम्बन्ध अच्छे बने रहते हैं। हड़ताल अथवा तालाबन्दी का डर नहीं रहता। श्रमिक मन लगाकर अपनी पूरी शक्ति से कार्य करते है जिससे उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है और ऐसा होने से उत्पादन अधिक होता है तथा दूसरी ओर उत्पादन-व्यय मे भी आश्चर्यजनक कमी हो जाती है। बढ़ी हुई कार्यक्षमता से श्रमिको की आय मे वृद्धि होती है। इससे उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठ जाता है। परिणामस्वरूप देश मे औद्योगिक शान्ति स्थापित होती है तथा आपस मे सहयोग और प्रेम की भावना उत्पन्न होती है, जिससे उद्योग, मालिको अथवा श्रमिको को ही नही राष्ट्र को भी लाभ होता है। वास्तव मे समाज में समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा मे यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के अनुसार इससे (अ) उद्योग, श्रमिकों तथा समाज के हित मे उत्पादन मे वृद्धि होगी, (ब) श्रमिक उद्योग के सचालन मे अपना सही महत्व समझेंगे, (स) श्रमिको की अपने मन के भाव प्रकट करने की चाह सतुष्ट हो जायगी जिससे कि औद्योगिक शान्ति स्थापित होगी, श्रमिकों तथा मालिको के आपसी सम्बन्धो मे सुधार होगा और परिणामस्वरूप श्रमिको की कार्यक्षमता मे वृद्धि होगी। पारस्परिक विवाद, हड़तालों और तालाबन्दी के विकट रूप धारण करने से पूर्व ही विचार-विमर्श द्वारा तय हो जायेगे।

योजना की कठिनाइयाँ :

यह भय है कि मिल मालिक इस योजना का घोर विरोध करेंगे। उनके मतानुसार यदि श्रमिक प्रबन्ध मे भाग लेंगे जोकि अज्ञानी और अशिक्षित है तो व्यवस्था के मामलो मे शीघ्र निर्णय लेने मे देरी होगी और मिल मालिकों के हितो पर कुठाराघात होने से वे उसमे कम दिलचस्पी लेंगे, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन मे कमी हो जायगी तथा इस प्रकार की कमी होने से लाभ भी कम होगा जबकि दूसरी ओर प्रति इकाई खर्चों से कोई कमी नहीं होगी। इस योजना के फलस्वरूप निजी क्षेत्र मे उत्साह समाप्त हो जायगा जोकि भारतीय उद्योग की 'रीढ़ की हड्डी' कही जाती है। इनके अतिरिक्त यह योजना सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियो मे ही लागू की जा सकती है, अन्य संस्थाओं मे नहीं।

किन्तु अब समय बदल गया है तथा औद्योगिक विकास की योजनाओं में उपयुक्त तर्कों का कोई स्थान नहीं है। आज की प्रगतिशील दुनियां में उद्योगपतियों को अपनी विचारधारा में परिवर्तन करना होगा। वह समय दूर नहीं जबकि उनसे जबरदस्ती योजना को स्वीकार करने के लिए कहा जायगा। अतः भला इसी में है कि वे परिस्थितियों के अनुसार अपने ही हित में इस योजना को स्वीकार कर लें।

विदेशों में किये गये प्रयत्न

उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों के भाग लेने की योजना अभी हाल की ही है। किन्तु फिर भी कुछ देशों में इसने महत्वपूर्ण प्रगति की है। सर्व प्रथम इस योजना का आरम्भ जर्मनी में हुआ। इसके बाद यह विचार ब्रिटेन और अमेरिका में बढ़ा। ब्रिटेन में, निजी एवं सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों के उद्योगों में कर्मचारियों को भाग देने के लिए संयुक्त सलाहकार समितियां (Joint Consultative Committees) स्थापित की जाती हैं। इन समितियों में मिल-मालिक व श्रमिक दोनों के प्रतिनिधि होते हैं।

फ्रान्स में श्रमिकों को उद्योग के प्रबन्ध में भाग देने की प्रथा का श्रीगणेश सन् १९४५ में पास हुए अधिनियम से हुआ। इस अधिनियम के अनुसार समस्त निजी उद्योगों में जिनमें कि ५० या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हों, 'कार्य समितियों' का संगठन करना अनिवार्य है। सरकारी उद्योगों में श्रमिकों का प्रतिनिधि संचालक बोर्ड में होता है। इन समितियों का कार्य सलाह देना तथा प्रशासन में भाग लेना है। उत्पादन बढ़ाने, उचित व्यवस्था करने, मूल्य बढ़ाने व उचित प्रकार से प्रबन्ध करने के लिए यह समितियां सलाह देती हैं।

जर्मनी में इस कार्यक्रम का नाम सह-निर्धारण (Co-determination) है, जिसके तीन प्रमुख पहलू हैं—आर्थिक, व्यक्तिगत और सामाजिक। श्रमिकों की सहमति सभी महत्वपूर्ण विषयों जैसे, भर्ती, बदली, कार्य-समय, अवकाश, मजदूरी की दर आदि में ली जाती है। इससे श्रमिकों में काफी सन्तोष उत्पन्न हो गया है।

युगोस्लेविया की प्रणाली स्वयं प्रबन्ध संचालन प्रणाली कहलाती है जिसके अन्तर्गत श्रमिक व्यक्तिगत पूंजीपतियों के प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श न करके खुद ही अपने-अपने कारखानों का प्रबन्ध संचालन करते हैं। देश में समस्त उद्योगों को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित कर दिया गया है। उनका प्रबन्ध श्रमिकों की समितियां (अ) श्रमिक-परिषद् (Workers Councils) तथा (ब) प्रबन्ध समिति (Management Boards) करती है। स्वीडन, कनाडा, और बेल्जियम आदि में भी उद्योगों के प्रबन्ध के कर्मचारियों को भाग देने की योजनाएं चालू हो चुकी हैं।

भारत में किए गए प्रयत्न .

भारत में यह योजना अभी समय के गर्भ में ही है। १९४७ में औद्योगिक विवाद अधिनियम पास करने से पूर्व भारत में इस दिशा में कोई भी प्रयत्न नहीं किया था। भारत सरकार ने सन् १९४८ तथा १९५६ की औद्योगिक नीतियों में इस ओर संकेत दिया। द्वितीय, पंचवर्षीय योजना में भी इसका उल्लेख किया गया। योजना में कहा गया कि "एक समाजवादी समाज की रचना लाभकारी सिद्धान्तों पर नहीं की जा सकती, उसके लिए समाज सेवा के सिद्धान्त को अपनाना पड़ेगा। यह आवश्यक है कि श्रमिक समझे कि वह प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण में अपना योग दे रहा है। प्रजातान्त्रिक समाज संगठित करने के पहले औद्योगिक प्रजातन्त्र की स्थापना अति आवश्यक है। द्वितीय योजना के सफल संचालन के लिए कर्मचारियों का प्रबन्ध में अधिकाधिक सहयोग अनिवार्य है। इससे उत्पादन में वृद्धि होगी श्रमिक उद्योगों के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे तथा साथ ही साथ श्रमिकों को अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का अवसर मिलेगा, जिससे औद्योगिक शान्ति होगी।"

प्रबन्ध में श्रमिकों को भाग देने की योजना को वास्तविक रूप प्रदान करने तथा इससे उत्पन्न होने वाली समस्याओं के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने यूरोपीय देशों में श्रमिकों द्वारा प्रबन्ध संचालन में भाग लेने की प्रथा का अध्ययन करने के लिए

१९५६ मे १० सदस्यो का एक अध्ययन मण्डल (जिसमे मालिको-श्रमिको तथा सरकार के प्रतिनिधि थे) केन्द्रीय श्रम मन्त्रालय के सचिव श्री विष्णुसहाय की अध्यक्षता मे भेजा।

अध्ययन मण्डल की सिफारिशें :

अध्ययन मण्डल की रिपोर्ट जून सन्, १९५७ मे प्रकाशित हुई। भारत मे इस योजना के कार्यान्वित करने के सम्बन्ध मे निम्न सिफारिशें की

(१) इस योजना को लागू करने से पूर्व 'शिक्षा आन्दोलन' आवश्यक है।

(२) यह योजना किन-किन उद्योगों में लागू हो यह निर्णय करने का अधिकार सरकार को होना चाहिए। यह प्रणाली उन्ही उद्योगो मे चालू की जाय जिनका प्रबन्ध सर्वश्रेष्ठ हो। छोटे उद्योगो को इसमे शामिल नही किया जाना चाहिए।

(३) दोनो पक्षो के रुख मे परिवर्तन होना आवश्यक है अर्थात् श्रमिकों और मालिको में स्वेच्छापूर्वक सहयोग होना चाहिए।

(४) यदि उद्योग या कारखाने की कई शाखाएँ हों तो उनके लिए एक ही 'संयुक्त परिषद्' होनी चाहिए। इन संयुक्त परिषदो से कारखानो मे काम के नियम, छँटनी, विवेकीकरण, कारखानो की बन्दी, नये तरीके अपनाने और बहाली तथा दण्ड आदि के सम्बन्ध मे परामर्श किया जाना चाहिए।

(५) अध्ययन-दल की रिपोर्ट मे कहा गया है कि अनेक देशो के प्रबन्ध परिषदो मे श्रमिको तथा मालिकों की संख्या बराबर-बराबर रक्खी गई है। किन्तु दल के मतानुसार यह आवश्यक नही, क्योकि निर्णय आपस के सहयोग तथा समझौते के अनुसार होना चाहिए न कि 'वोटों' के आधार पर। किन्तु इन परिषदों मे शिल्पियों अथवा टेक्नीकल श्रमिको को भी अवश्य लिया जाना चाहिए।

(६) सामूहिक सौदेबाजी के मामलो को इन परिषदो के अधिकार-क्षेत्र से बाहर रखना चाहिए।

(७) इन परिषदो को यह भी होना चाहिए कि वे उद्योग को आर्थिक स्थिति, बाजार की हालत, उत्पादन और बिक्री के कार्यक्रम, कारखाने के संचालन, आय-व्यय और वार्षिक चिट्ठा आदि की जानकारी प्राप्त करें तथा सुझाव दें।

(८) इन सयुक्त प्रबन्ध परिषदो की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य यह है कि श्रम एव पूँजी मे सम्पर्क रहे, श्रमिकों के रहन-सहन के स्तर मे सुधार हो और कर्मचारियों को काम के बारे मे अपने सुझाव देने के लिए प्रोत्साहित किया जाय और कारखाने से सम्बन्धित अधिनियमों तथा प्रमविदो को तैयार करने मे सहायता की जाय।

(९) प्रबन्ध परिषदों मे उत्साह पैदा करने के लिए उन्हे सचालन या प्रशासन का कुछ काम सौंपना चाहिए।

(१०) श्रमिकों की शिक्षा के प्रबन्ध के लिए त्रिदलीय सगठन हो और इस काम के लिए मालिकों और कर्मचारियो के सगठनों, विश्वविद्यालयों और गैर सरकारी सस्थाओ से मदद ली जाय।

जुलाई सन्, १९५७ मे भारतीय श्रम सम्मेलन ने अध्ययन मण्डल की मुख्य सिफारिशो को स्वीकार कर लिया। इसने मालिको का यह सुझाव भी स्वीकार कर लिया कि कानून बनाने से पूर्व इस योजना की स्वेच्छापूर्वक आधार पर उचित परीक्षा करनी चाहिए। इस योजना की विस्तृत बातों पर विचार करने के लिए एक त्रिदलीय कमेटी नियुक्त की गई जिसमे १२ सदस्य थे। इस कमेटी ने यह सिफारिश की कि पहले यह योजना केवल ५० उद्योगो पर ही लागू की जाय।

सितम्बर, १९५८ को श्रम मन्त्रालय की एक विज्ञप्ति मे बताया गया था कि इस योजना के सम्बन्ध मे भारत मे प्रगति बहुत ही निराशाजनक है। जिन ५० औद्योगिक इकाइयो ने स्वेच्छा से इस योजना को स्वीकार किया था, उनमे से सिर्फ १४ इकाइयों ने जनवरी, १९६९

तक इस योजना पर अमल किया है। इसका मुख्य कारण दोनों पक्षों (मालिकों और श्रमिकों) में इस योजना के प्रति उदासीनता की भावना का होना बतलाया गया है।

विचार-गोष्ठी (Seminar) का आयोजन

३१ जनवरी तथा १ फरवरी, १९५८ को नई दिल्ली में एक विचार-गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसके अध्यक्ष केन्द्रीय श्रम मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा थे। इस गोष्ठी में श्रमिकों, मिल मालिकों तथा सरकार के १०० से अधिक प्रतिनिधि उपस्थित थे। सर्व-सम्मति से यह तय किया गया कि संयुक्त परिषदों के श्रमिकों और मालिकों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि हों, जो १२ से अधिक और ६ से कम न हों। यह संयुक्त परिषद् श्रमिकों की रहने और काम करने की दशाओं में सुधार उत्पादन में सुधार, श्रमिकों को सुझाव देने के लिए प्रोत्साहन, व्यवस्था, कानून तथा प्रसंविदा करने में सहायता प्रदान करेगी। इसके अतिरिक्त इस परिषद् में काम के नियम, छँटनी, विवेकीकरण, कारखानों की बन्दी आदि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी विचार-विमर्श किया जायगा।

३१ दिसम्बर, १९५८ से २ जनवरी, १९५९ तक आगरे में हुए द्वितीय अखिल भारतीय श्रम आर्थिक सम्मेलन (Second all India Labour Economics Conference) में, जिसके अध्यक्ष श्री वी० वी० गिरि थे, इस योजना पर विचार विनिमय किया गया था। इस सम्मेलन में यह विचार प्रकट किया गया था कि इस योजना को धीरे-धीरे श्रमिकों तथा मालिकों के सक्रिय सहयोग द्वारा कार्यान्वित किया जाना चाहिए। प्रारम्भ में परीक्षण (Experiment) के रूप में इसका अर्थ सलाह के रूप में ही लिया जाय। दोनों को आपस में कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करते हुए अपने दायित्व को निभाना चाहिए।

इस समय में १४५ औद्योगिक संस्थाओं के प्रबन्ध में श्रमिकों के योगदान की योजना लागू है। इस योजना का विस्तार यथा सम्भव अधिक से अधिक उद्योगों के लिए करना श्रेयस्कर माना गया है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने इस योजना को शीघ्र लागू करने के लिए विशेष अनुभाग स्थापित किये हैं। (भारत १९६८)

सफलता के लिए महत्वपूर्ण कदम

प्रबन्ध में श्रमिकों व कर्मचारियों को भाग देना उचित है या नहीं, इस प्रश्न को छोड़ कर हमें तो अब यह देखना है कि इस योजना को किस प्रकार सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जाय। सरकार को इस सम्बन्ध में प्रचार, सुविधायें तथा नियम बनाने चाहिए। श्रमिकों की शिक्षा का कार्यक्रम तेजी से तुरन्त प्रारम्भ किया जाय। श्रमिकों को अपने अधिकारों की माँग करते समय उत्तरदायित्व को नहीं भूलना चाहिए। उन्हें मन लगाकर पूरी मेहनत से कार्य करना होगा। उधर मालिकों को भी समय की गति को पहिचानते हुए समझ से काम लेना चाहिए। श्रमिकों को प्रबन्ध में स्थान देकर उनकी सद्भावना, सहयोग व सलाह लेनी चाहिये। इसी में सबका हित है। अभी तक जो भी इस क्षेत्र में कार्य हुआ है वह न के बराबर है। परन्तु यदि वर्तमान परीक्षण सफल रहे तो यह योजना सभी उद्योगों में लागू करदी जायगी और फिर देश में सभी वर्ग समान हो जायेंगे। आपस में द्वेष, बुरी भावना, संकीर्णता व प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग, सह-भावना और सह-सम्बन्ध स्थापित होंगे जिसका फल उद्योगों, मालिकों, कर्मचारियों, अन्य व्यक्तियों तथा सरकार सभी के लिए श्रेष्ठ होगा। हमें पूर्ण आशा है कि उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों द्वारा भाग लेने का कार्यक्रम जो अभी एक छोटे बीज के समान है, किसी दिन एक विशाल वृक्ष में परिणत हो जायगा जिसकी कि छत्रछाया में—सरकारी और निजी दोनों ही क्षेत्र पनपेंगे।

४०

भारत में श्रम कल्याण
(Labour Welfare in India)

प्रारम्भिक—श्रम-कल्याण का अर्थ तथा परिभाषा

श्रम-कल्याण शब्द का प्रयोग परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न अर्थों में किया जाता है। **शाही श्रम आयोग** के अनुसार, "यह एक शब्द है जो आवश्यक रूप से लचीला होना चाहिए। इसका अर्थ एक देश में दूसरे देश की तुलना में उसकी विविध सामाजिक रीतियों, औद्योगीकरण की स्थिति तथा श्रमिकों की शिक्षा सम्बन्धी प्रगति के अनुसार भिन्न-भिन्न लगाया जाता है।" **श्री बाल्फर समिति (Balfour Committee)** के अनुसार, "अति विस्तृत रूप में इसके अन्तर्गत ऐसी सभी बातों को सम्मिलित किया जाता है जो कि श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा, आराम तथा सामान्य कल्याण को प्रभावित करने वाली हों, और शिक्षा, मनोरंजन, बचत योजनाओं तथा स्वास्थ्यप्रद गृहों का प्रावधान होता है।"[1] **कुमारी ई० टी० केली (Miss E. T. Kelly)** के शब्दों में, 'श्रम कल्याण से तात्पर्य किसी फर्म द्वारा श्रमिकों के व्यवहार और कार्य के लिये कुछ सिद्धान्तों को अपनाया जाना है।" सामान्यतः "श्रम कल्याण उन क्रियाओं को कहते हैं जो किसी उद्योग के आसपास अथवा उद्योग के क्षेत्र में स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर वातावरण में काम करते हुए श्रमिक अपने स्वास्थ्य तथा नीति के स्तर को अच्छा रख सकें।"[2] **सर एडवर्ड पेण्टन** के शब्दों में, "श्रम-कल्याण का अर्थ श्रमिकों के सुख, स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए उपलब्ध की जाने वाली दशाओं से है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि उद्योग के अन्दर तथा बाहर श्रम तथा रोजगार की सर्वोत्तम दशाओं की व्यवस्था करने के लिए नियोक्ता, सरकार तथा श्रम-संघों द्वारा किये गये विभिन्न प्रयत्नों को श्रम-कल्याण में सम्मिलित करते हैं। इस प्रकार श्रम-कल्याण के अन्तर्गत हम आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, पालन-पोषण, विश्राम की सुविधायें सहयोगात्मक भावनायें, पारिश्रमिक सहित छुट्टियाँ, सामाजिक बीमा, प्रसूति लाभ योजनायें, प्रॉवीडेन्ट फण्ड तथा पेंसन आदि सम्मिलित करते हैं।

---

1. "In its widest sense it comprises all matters affecting the health, safety, comfort and general welfare of the workmen and includes provision for education, recreation, thrift schemes, convalescent homes."—Balfour Committee
2. *International Labour Organisation Asian Regional Conference Report II.*

श्रम-कल्याण कार्य

[कारखाने के अन्दर और बाहर]

डा० ब्रॉटन (Dr Broughten) ने श्रम-कल्याण कार्य को दो वर्गों में विभाजित किया है—(I) कारखाने के अन्दर किये जाने वाले श्रम-कल्याण कार्य । (II) कारखाने के बाहर किये जाने वाले श्रम-कल्याण कार्य । अब हम प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन करेंगे ।

(I) कारखाने के अन्दर के कार्य (Intra-Mural)

कारखाने के अन्दर किये जाने वाले श्रम-कल्याण कार्य मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं :

(१) **श्रमिकों की वैज्ञानिक भर्ती**—भारत में श्रमिकों की भर्ती का कार्य उद्योगों के सचालकों द्वारा किया जाता है। इस कार्य के लिए मिल मालिक श्रमिक आयोजक (Jobbers) नियुक्त करते हैं। ये पुराने श्रमिकों को हटाकर तथा नये श्रमिकों की भर्ती करके अनुचित रूप से अपनी आय में वृद्धि करने का प्रयत्न करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि श्रमिकों का शोषण होता है, उनकी कार्यक्षमता का हनन होता है और उत्पादन में कमी हो जाती है। इस दोष को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिकों की भर्ती वैज्ञानिक आधार पर हो। इसके लिए श्रमिक आयोजकों के स्थान पर कुशल तथा अनुभवी अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए। श्रमिकों की भर्ती के समय किसी भी प्रकार का भेद भाव अथवा पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए।

(२) **औद्योगिक प्रशिक्षण**—आज के इस परिवर्तनशील युग में उद्योग के प्रत्येक क्षेत्र में नए-नए आविष्कार किये जा रहे है। परिणामस्वरूप नई-नई मशीन तथा कार्य करने की पद्धतियाँ प्रचलन में आ रही हैं। इन नई-नई मशीनों तथा कार्य करने की नवीनतम प्रणालियों से परिचित कराने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था हो। इससे उद्योग तथा श्रमिक दोनों को अनेकानेक लाभ पहुँचेंगे।

(३) **स्वच्छता, प्रकाश तथा वायु का प्रबन्ध**—कारखानों में पूर्णतया स्वच्छता, प्रकाश तथा शुद्ध वायु के आवागमन का प्रबन्ध होना चाहिये। नियमित रूप से सफाई तथा पुताई कराते रहना चाहिए। प्रकाश की व्यवस्था इस प्रकार की जानी चाहिये कि श्रमिकों को अपने कार्य के लिये उपयुक्त प्रकाश प्राप्त हो सके। अधिक धीमी तथा अधिक तेज रोशनी आँखों के लिये हानिकारक होती है। कारखाना में शुद्ध वायु के प्रवेश की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए। श्रमिकों के लिए स्नान-गृह, मूत्रालय, शौचालय तथा स्वच्छ पीने के पानी की व्यवस्था होनी चाहिए।

(४) **दुर्घटनाओं की रोकथाम**—कारखाना में दुर्घटनाओं के रोकथाम की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। खतरनाक मशीनों के सामने आड़ (Fancing) लगा देनी चाहिये। मशीनों से पैदा होने वाले अग्निकाण्डों से बचने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, अग्निरक्षक पोशाक का प्रयोग आवश्यक स्थानों पर करने की व्यवस्था होनी चाहिए। आकस्मिक परिस्थितियों के लिये डाक्टर की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

(II) कारखाने के बाहर के कार्य .

(१) **सस्ते व पौष्टिक भोजन का प्रबन्ध**—श्रमिकों की कार्यक्षमता को कायम रखने तथा उनमें वृद्धि करने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि उन्हें सस्ता व पौष्टिक भोजन उपलब्ध हो। अधिकांश श्रमिकों को भर पेट भोजन तक नहीं मिल पाता है। इसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य व कार्यक्षमता पर बहुत बुरा पड़ता है। अतएव यह आवश्यक है कि कारखानों में ऐसी 'केन्टीन' (Canteen) खोली जायें जहाँ पर उन्हें सस्ता व पौष्टिक भोजन उपलब्ध हो सके। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के लिए उपभोक्ता सहकारी भण्डार भी खोले जाने चाहिए जहाँ पर उन्हें सस्ते भावों पर खाद्यान्न व अन्य दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ मिल सकें।

(२) **आवास का प्रबन्ध**—'रोटी' और 'कपड़ा' के उपरान्त मानव की तीसरी प्राथमिक आवश्यकता आवास की है। बुरी आवास व्यवस्था का अर्थ है गन्दगी, शराबखोरी, चोरी,

बीमारी, व्यभिचार, जुआ, आचारहीनता और अपराध। उचित आवास व्यवस्था न होने से श्रमिको का शारीरिक, नैतिक व सामाजिक पतन होता है जिसके परिणामस्वरूप उनकी कार्यक्षमता का निरन्तर ह्रास होता जाता है। डा० राधाकमल मुकर्जी के शब्दों में, "भारतीय औद्योगिक केन्द्रों की श्रम बस्तियों की दशा इतनी भयकर है कि वहाँ मानवता का विध्वंस होता है। महिलाओ के सतीत्त्व का नाश होता है एव देश के भावी आधार स्तम्भ शिशुओं का गला घुट जाता है।" अतएव यह आवश्यक है कि श्रमिको की उचित आवास व्यवस्था हो।

(३) शिक्षा का प्रवन्ध—श्रमिक प्राय अशिक्षित एव अज्ञानी होते हैं। यही उनकी समस्याओं का मूल स्रोत है। इसके कारण न तो उनकी कार्यक्षमता मे किसी प्रकार की वृद्धि हो पाती है न वे अपने आप को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर पाते है। यही नही, उनकी इसी दुर्बलता का लाभ उठाकर श्रम, सगठन व नियोक्ता दोनो अपने-अपने लाभ के लिये उन्हे गुमराह करके उनका शोषण करते रहते है। अतः प्रौढो व बालको के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। श्रमिकों के लिए रात्रि की कक्षायें प्रारम्भ की जा सकती हैं जहाँ पर कि मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था हो।

(४) मनोरजन का प्रवन्ध—श्रमिक दिन भर के कठिन परिश्रम के पश्चात् थक जाता है। अतएव थकान दूर करने के लिए उसे मनोरजन की आवश्यकता होती है। मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था न होने पर वह शरावघरों, ताडी की दूकानें, जुये के अड्डों तथा वैश्यालयों की ओर आकर्षित होता है। इससे उसका शारीरिक, आर्थिक व नैतिक पतन होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि श्रमिकों की बस्तियो मे विभिन्न प्रकार के मनोरजन के साधनों की व्यवस्था होनी चाहिए। विभिन्न प्रकार के खेलकूदो के अतिरिक्त उनके लिये पुस्तकालय, वाचनालय, पार्क आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

(५) अन्य सुविधायें—उपरोक्त के अतिरिक्त श्रमिको के लिए अनिवार्य बीमा योजना, प्रॉवीडेण्ट फण्ड, मुफ्त चिकित्साय आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

भारत में श्रम-कल्याण की आवश्यकता और उसका महत्त्व क्यों और कैसे ?
(Need and Utility of Laboor Welfare in India)

श्रमिको के शारीरिक, नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उत्थान के लिये श्रम-कल्याण आवश्यक है। श्रम-कल्याण पर जो कुछ भी व्यय किया जाता है वह 'मानवीय विनियोजन है, जो मशीन आदि के विनियोजन से कम महत्त्वपूर्ण नही है। कार्यक्षमता तथा श्रम-कल्याण मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इसमे औद्योगिक शान्ति का वातावरण बनता है। इस प्रकार सामान्य रूप मे प्रत्येक देश के लिए श्रम-कल्याण की आवश्यकता है। किन्तु भारत की कुछ विशेष परिस्थितियाँ है जिनके कारण पाश्चात्य देशों की तुलना मे भारत मे श्रम-कल्याण की विशेष आवश्यकता एव महत्त्व है। इसके पक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते है :

(१) श्रमिकों की प्रवासी प्रकृति के रोकने के लिए—भारतीय श्रमिक प्रायः गाँवों से शहर मे रोजगार की तलाश में आते हैं। शहरो मे उन्हे अकेले ही गन्दी बस्तियो की दयनीय परिस्थितियों में रहना पड़ता है। वे शीघ्र ही इस दूषित वातावरण से ऊवकर वापस गाँव लौटने की सोचने लगते है। इस प्रकार उनमे स्थायित्व का अभाव नही रहता है और जो कुछ भी सीख पाते हैं, गाँव जाने पर तुरन्त भूल जाते हैं। पुनः जब वे वापस आते है तब उन्हे पुनः नये सिरे से काम की खोज करनी पड़ती है। श्रमिको की इस प्रवासी प्रकृति को रोकने मे श्रम-कल्याण पर्याप्त सहयोग दे सकता है। इसके द्वारा उनके रहने के लिए स्वच्छ मकान तथा अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति की जा सकती है ताकि वे सपरिवार शहर मे ही आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकें।

(२) औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए—श्रम और पूँजी औद्योगिक मशीनरी के दो पहियों के समान हैं। उद्योग की सफलता के लिए दोनो मे सामजस्य का होना परम आवश्यक है। इसके अभाव मे औद्योगिक अशान्ति का भय उत्पन्न हो जाता है जिससे सभी को क्षति पहुँचती है। श्रम-कल्याण के द्वारा श्रम और पूँजी दोनों के बीच निकटतम सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते

हैं और इस प्रकार स्थायी औद्योगिक शान्ति की कामना की जा सकती है। भारत मे औद्योगिक शान्ति की आज सबसे अधिक आवश्यकता है।

(३) **श्रम-सघो को संगठित करने के लिए**—पश्चिमी देशो मे श्रम-संघ श्रम-कल्याण के अनेक कार्य करते हैं। उनके आर्थिक साधन भी सुदृढ हैं। इससे श्रमिको के बीच सद्भावना बनी रहती है। परिणामस्वरूप वे सगठित रहते है। सगठन से उनकी शक्ति एव साधनो मे भी वृद्धि होती है। किन्तु भारत मे श्रम-सघ श्रम-कल्याण का कार्य नही करते है। इसके अभाव मे न तो सदस्यो के बीच सद्भावना ही रहती है और न वे सगठित ही हो पाते है। इसके कारण श्रमिको का निरन्तर शोषण होता रहता है।

(४) **श्रमिको के नैतिक उत्थान के लिए**—स्वस्थ मनोरजन के साधनो का अभाव होने के कारण श्रमिक प्राय शराबखोरी, वेश्यावृत्ति जैसे अनैतिक कार्यो का शिकार हो जाता है। श्रम-कल्याण के कार्यो के द्वारा श्रमिको के लिए मनोरजन के विविध साधनो की व्यवस्था की जा सकती है और इस प्रकार उनका नैतिक उत्थान किया जा सकता है।

(५) **श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि के लिए**—भारतीय श्रमिक अकुशल है क्योंकि उसकी कार्यक्षमता अन्य देशो की तुलना मे न्यून है। इसका कारण यह है कि वह असन्तुष्ट है। उसकी न तो दैनिक जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हो पाती है और न उसके काम करने की दशाओ मे ही किसी प्रकार का सुधार हो पाता है। उसके साथ बराबर अन्याय होता रहता है और वह उसके विरुद्ध अपनी आवाज तक नही उठा सकता। हाय रे प्रभु यह कैसा अन्याय है। इन सब बातो का उसकी कार्यक्षमता पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। श्रम-कल्याण के द्वारा उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति की जा सकती है तथा उसके काम करने की दशाओ को सुधारा जा सकता है। ऐसा करने से श्रमिको की कार्यक्षमता मे निश्चित रूप से वृद्धि होगी। परिणामस्वरूप उत्पादन मे वृद्धि होगी और इसका लाभ श्रमिकों, उत्पादकों, उपभोक्ताओ तथा राष्ट्र सभी को पहुँचेगा।

(६) **मानसिक शान्ति के लिए**—श्रम-कल्याण के कार्यो के द्वारा श्रमिको की मानसिक दशा मे शान्ति आवेगी। जीवन के प्रति उदासीन और नैराश्य से परिपूर्ण रुख को बदल कर उसमें उत्साह तथा आशा का सचार होगा। वे अपने मालिको को अपना शोषणकर्त्ता न समझ कर एक हितैषी समझेंगे।

(७) **श्रमिको की आर्थिक दशा सुधारने के लिए**—अन्य देशों की तुलना मे भारतीय श्रमिको की आर्थिक दशा बहुत ही दयनीय है। इसका कारण उनकी न्यूनतम मजदूरी दर तथा श्रम-कल्याण के कार्यों का अभाव होना है। श्रम-कल्याण के कार्यो द्वारा उनकी आर्थिक स्थिति मे पर्याप्त सुधार किया जा सकता है। उनकी महिलाओ की सिलाई, कढाई बुनाई आदि की शिक्षा द्वारा उनके परिवार की आय मे वृद्धि हो सकती है।

(८) **श्रमिकों को शिक्षित करने के लिए**—भारतीय श्रमिक अशिक्षित एव अज्ञानी हैं। इसके कारण वे अपनी स्थिति तथा अधिकारों के सम्बन्ध मे जागरूक नहीं हैं। उनकी इस अज्ञानता तथा अशिक्षा के कारण पेशेवर नेता लोग अपना उल्लू सीधा करने के लिए श्रमिको को उल्टा-सीधा समझाकर चाहे जब हडताल आदि करा देते हैं। श्रम-कल्याण के कार्यो के द्वारा श्रमिको के लिए सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनो प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है।

(९) **कार्य करने की दशाओ में सुधार करने के लिए**—भारतीय कारखानो मे कार्य करने की दशायें प्राय असन्तोषजनक हैं। उन्हें अस्वस्थ वातावरण मे काम करना पडता है जहाँ न तो वायु का प्रबन्ध है और न प्रकाश का ही। आए दिन दुर्घटनाएँ होती रहती है। श्रम-कल्याण के कार्यों के द्वारा कार्य करने की दशाओ मे पर्याप्त सुधार किया जा सकता है।

(१०) **योजनाओं की सफलता तथा देश की समृद्धि के लिए**—श्रम उत्पादन का अनिवार्य अग है। अतएव किसी भी उत्पादन लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए श्रम का सहयोग मिलना नितान्त आवश्यक है। भारत के आर्थिक विकास के लिए पचवर्षीय योजनायें लागू की गई हैं। इन

योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न लक्ष्य निर्धारित किये गये है। इन लक्ष्यों के प्राप्त होने पर ही देश की समृद्धि की कामना की जा सकती है। श्रम का सहयोग प्राप्त करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि देश मे श्रम-कल्याण के कार्यो को आवश्यक प्रोत्साहन दिया जाय।

(११) श्रम-कल्याण औद्योगिक प्रशासन के अंग के रूप में—प्रगतिशील राष्ट्रो मे श्रम-कल्याण को औद्योगिक प्रशासन के अंग के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है। अब यह उद्योगपतियों की अनुकम्पा, सहृदयता एवं दयालुता का प्रमाण न होकर एक उत्तरदायित्व बन गया है। भारतीय उद्योगपतियो को इससे सबक लेना चाहिए तथा इसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा करने से उनका उद्योग दिन-दूनी रात-चौगुनी गति से प्रगति करेगा।

भारत में श्रम-कल्याण कार्य
(Labour Welfare Works in India)

सुविधा की दृष्टि से भारत मे श्रम-कल्याण के कार्यो को निम्न चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है —(I) केन्द्रीय सरकार द्वारा श्रम-कल्याण कार्य। (II) राज्य सरकारो द्वारा श्रम-कल्याण कार्य। (III) उद्योगपतियो द्वारा श्रम-कल्याण कार्य। (IV) श्रमिक सघो द्वारा श्रम-कल्याण कार्य।

(I) केन्द्रीय सरकार द्वारा श्रम-कल्याण कार्य :

केन्द्रीय सरकार ने द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ही श्रम-कल्याण के कार्यो मे भाग लेना प्रारम्भ किया है। यह कार्य मुख्य रूप से वैधानिक अनिवार्यता से सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध मे सरकार ने ऐसे कई विधान पास किये जिनके अन्तर्गत उद्योगपतियों के लिए श्रम-कल्याण के *कार्यो की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया। इन विधानो का संक्षिप्त विवरण इस* प्रकार है

(१) कारखाना अधिनियम—सन् १९३४ के पूर्व श्रम-कल्याण सम्बन्धी कोई विशेष *वैधानिक व्यवस्था का प्रबन्ध नही किया गया था। केवल कारखाना अधिनियम मे श्रमिकों के* स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा विश्राम आदि से सम्बन्धित धाराओ का समावेश किया गया था। किन्तु सन् १९३४ मे सर्व प्रथम कारखाना अधिनियम मे श्रम-कल्याण सम्बन्धी विशेष धाराओ का समावेश किया गया। परिणामस्वरूप कारखानो मे वायु, रोशनी, सफाई, पीने के पानी आदि की व्यवस्था की गई। सन् १९४८ मे कारखाना अधिनियम मे आवश्यक संशोधन करके स्नान घरों, प्राथमिक चिकित्सा, कैण्टीन, विश्राम घर आदि के सम्बन्ध मे विस्तृत नियम एक स्वतन्त्र अध्याय मे वर्णित किए गये हैं। ५०० या इससे अधिक श्रमिको वाले कारखानो मे श्रम-कल्याण अधिकारी की नियुक्ति *अनिवार्य कर दी गई।*

***(२) खान अधिनियम, १९५२**—सन् १९५२ मे खानो मे काम करने वाले श्रमिको* को सुरक्षा एवं लाभ के लिये एक विशेष अधिनियम पास किया गया। यह खान अधिनियम १९५२ *कहलाता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत कारखाना अधिनियम सम्बन्धी सभी सुविधायें अनिवार्य रूप से उपलब्ध है।*

(३) बगीचा श्रम अधिनियम, १९५१—सन् १९५१ मे काम करने वाले श्रमिको के हितों की रक्षा करने के लिए एक अलग से अधिनियम पास किया। यह बगीचा श्रम अधिनियम, १९५१ कहलाता है। इसके अन्तर्गत स्थायी श्रमिको के लिए आवास व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमे कारखाना अधिनियम सम्बन्धी भी सभी सुविधायें उपलब्ध हैं।

(४) मोटर यातायात, श्रमिक अधिनियम, १९६१—मई, १९६१ मे मोटर यातायात श्रमिको की कार्य की दशाओ मे सुधार करने तथा उनके कल्याण हेतु 'मोटर यातायात श्रमिक अधिनियम' पास किया गया। इसके अन्तर्गत श्रमिको के लिए कैण्टीन, विश्राम गृह, वर्दी, कार्य करने के घण्टे *तथा छुट्टियों आदि के सम्बन्ध मे आवश्यक व्यवस्थाएँ की गई हैं।*

(५) कोयला खान श्रमिक कल्याण कोष, १९४४[1]—सन् १९४४ में कोयला खान श्रमिक कल्याण हेतु एक विशेष कोष की स्थापना के लिये अध्यादेश जारी किया गया। इस कोष के द्वारा २ केन्द्रीय अस्पताल, १० क्षेत्रीय अस्पताल, ५ जच्चा-बच्चा कल्याणकारी केन्द्र, ३ औषधालय, २७ आयुर्वेदिक औषधालय, १ तपेदिक चिकित्सा केन्द्र, तथा ३ तपेदिक अस्पताल चलाये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त यह कोष प्रौढ शिक्षा केन्द्र, महिला कल्याण केन्द्र, बाल-उद्यान तथा परिवार परामर्श केन्द्र का भी संचालन करता है। गृह-निर्माण के लिए 'अनुदान सम्मिलित ऋण योजना' भी चालू की गई है जिसके अन्तर्गत गृह-निर्माण को अनुदान तथा ऋण दिया जाता है। अब तक इस योजना के अन्तर्गत ५९५१ घर बनाए जा चुके हैं। नवीन आवास योजना के अन्तर्गत कोयले की खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिये ४८,००० मकानों के वितरण का कार्य पूरा हो चुका है। इस कोष की वार्षिक आय ४.६८ करोड़ रु० है। उपरोक्त कोष के द्वारा १७ केन्द्रीय उपभोक्ता सहकारी भण्डार तथा ५०० सरकारी भण्डार समितियों को भी वित्तीय सहायता दी जाती है।

(६) अभ्रक खान श्रमिक कल्याण कोष, १९४६—सन् १९४६ में अभ्रक खान श्रमिक कल्याण हेतु एक अधिनियम पास किया गया। इसके द्वारा एक कोष की स्थापना की गई। इस कोष में से अभ्रक की खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिये चिकित्सा, शिक्षा, मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त इस कोष द्वारा ४ अस्पताल स्थापित किए जा चुके हैं। यही नहीं, इस कोष द्वारा कई लघु चिकित्सालय तथा जच्चा-बच्चा केन्द्र तथा प्राथमिक विद्यालय चलाये जा रहे हैं, बच्चों को छात्रवृत्तियाँ मिलती हैं तथा पुस्तकें नि:शुल्क दी जाती हैं। सन् १९६७-६८ के वर्ष में इस कोष में से अभ्रक उत्पादन करने वाले राज्यों को २८.३ लाख रु० (७.५ लाख रु० आन्ध्र प्रदेश को २३.५ लाख रु० बिहार राज्य को तथा ७.३ लाख रु० राजस्थान को) दिये गए।[2]

(७) लोहा खान श्रमिक कल्याण अधिनियम, १९६१—सन् १९६१ में 'लोहा खान श्रमिक कल्याण अधिनियम' पास किया गया। इस अधिनियम में लोहे की खान में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण के लिये कर (cess) लगाकर कोष बनाने का आयोजन किया गया है। प्रारम्भ में लोहे पर कर की दर २५ पैसे प्रति मीट्रिक टन निर्धारित की गई है। १ अक्टूबर, १९६३ से यह अधिनियम केन्द्र द्वारा प्रशासित राज्यों अर्थात् गोआ डामन, ड्यू पर भी लागू किया गया है।

(८) सार्वजनिक औद्योगिक उपक्रम श्रमिक कल्याण कोष, १९४६—सार्वजनिक औद्योगिक उपक्रमों में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण के लिये सन् १९४६ में विशेष कोषों की स्थापना की गई। इसका नाम 'सार्वजनिक औद्योगिक उपक्रम श्रमिक कल्याण कोष' है। इन कोषों की स्थापना स्वेच्छा के आधार पर की गई है।

(९) श्रम-कल्याण केन्द्र—अनेक राज्य तथा संघ-क्षेत्र कई कल्याणकारी केन्द्र चला रहे हैं। इन केन्द्रों के द्वारा श्रमिकों तथा उनके बच्चों की मनोरंजन, शिक्षा, व्यावसायिक तथा सांस्कृतिक (Vocational and Cultural) सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसके अतिरिक्त सभी ख्याति प्राप्त निजी औद्योगिक संस्थायें भी अपने श्रमिकों के लाभ के लिए कल्याण केन्द्र चलाती हैं।

(II) राज्य सरकारों द्वारा श्रम-कल्याण कार्य

सन् १९३७ के पूर्व राज्य सरकारों ने श्रम-कल्याण के कार्यों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था। वे केवल केन्द्र की इच्छानुसार ही कार्य करती थीं। सन् १९३७ में विभिन्न राज्यों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हुए। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने श्रम-कल्याण के लिये कई योजनाएँ बनाई। सन् १९४७ के बाद से तो राज्य सरकारों ने इस दिशा में बड़े प्रशंसनीय कार्य किये हैं।

---

1 *See* India 1968 p. 399

2. *Source*. India 1968 p. 399

बम्बई, उत्तर-प्रदेश तथा बंगाल राज्य की सरकारों ने इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय कार्य किये हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

(१) **बम्बई राज्य**—बम्बई राज्य में सर्वप्रथम १९३९ में श्रम-कल्याण केन्द्रों की व्यवस्था की गई। यहाँ पर चार श्रेणी के श्रम-कल्याण केन्द्र हैं। प्रथम श्रेणी के केन्द्रों में बच्चों के लिए नर्सरी स्कूल है। इसके अतिरिक्त इनमें महिलाओं और पुरुषों की शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन आदि के लिये विभिन्न प्रकार की व्यवस्थायें हैं। द्वितीय श्रेणी के केन्द्रों में प्रथम श्रेणी के केन्द्रों की भाँति ही व्यवस्थायें है, किन्तु उनका स्तर कुछ नीचा है। तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी के केन्द्रों में मनोरंजन आदि की सामान्य रूप में व्यवस्थायें है, इसके अतिरिक्त विभिन्न केन्द्रों में चलते-फिरते पुस्तकालय तथा वाचनालयों की भी व्यवस्था की गई है। कई प्रशिक्षण केन्द्र भी खोले गये हैं।

(२) **उत्तर प्रदेश**—उत्तर-प्रदेश की सरकार ने सन् १९२७ में एक श्रम आयुक्त (Labour Commissioner) के आधीन एक पृथक् श्रम विभाग की स्थापना की। अब तक इस विभाग द्वारा ६४ श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित किये जा चुके है। ये केन्द्र मुख्य रूप में कानपुर, आगरा, लखनऊ, वाराणसी, फिरोजाबाद, अलीगढ, सहारनपुर, मुरादाबाद, मेरठ, गाजियाबाद, गोरखपुर, रुड़की आदि में स्थित हैं। इनमें से कुछ स्थायी है तथा कुछ अस्थायी। बम्बई राज्य की तरह यहाँ पर भी इन केन्द्रों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। प्रथम श्रेणी के केन्द्रों में अँग्रेजी ढंग के चिकित्सालय, पुस्तकालय, वाचनालय, महिलाओं के लिये सिलाई आदि का प्रशिक्षण, बाहरी तथा भीतरी खेल, प्रसूति गृह, रेडियो, संगीत तथा शिशु कल्याण की सुविधायें प्राप्त है। द्वितीय श्रेणी के केन्द्रों में प्रथम श्रेणी के केन्द्रों की भाँति ही सुविधायें प्राप्त है किन्तु अन्तर केवल इतना है कि अँग्रेजी चिकित्सालय के स्थान पर होम्योपैथिक चिकित्सालय है। तृतीय श्रेणी के केन्द्रों में पुस्तकालय, वाचनालय, बाहरी तथा भीतरी खेल तथा रेडियो की व्यवस्था है। चतुर्थ श्रेणी के केन्द्रों में केवल बाहरी खेलों की व्यवस्था है।

उपरोक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की सरकार ने श्रमिकों की आवास व्यवस्था पर काफी व्यय किया है। श्रमिक राज्य बीमा योजना से भी लाखों श्रमिकों को लाभ पहुँचता है।

(३) **अन्य राज्यों में श्रम-कल्याण कार्य**—उपरोक्त राज्यों के अतिरिक्त भारत के शेष राज्यों में भी राज्य सरकारों की ओर से श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित किये गये है। इनमें विशेष रूप में बंगाल, पंजाब, मध्य-प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान का नाम विशेष उल्लेखनीय है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा प्रथम तथा द्वितीय योजना काल में क्रमशः ७ करोड रु० तथा १९·८१ करोड रु० श्रम-कल्याण के कार्यों पर व्यय किये गये। तृतीय योजना काल में लगभग ७१ करोड रु० व्यय होने का अनुमान है।

(III) उद्योगपतियों द्वारा श्रम कल्याण कार्य

अतीत में भारतीय उद्योगपति श्रम-कल्याण कार्यों के प्रति उदासीन रहे है। इसका कारण यह है कि वे बहुत समय तक श्रम-कल्याण कार्यों को अनार्थिक विनियोग समझते रहे। वे श्रमिकों का अधिक से अधिक शोषण करना चाहते थे। उनके विचारानुसार श्रमिकों को जितनी अधिक सुविधाएँ दी जायेंगी उनके दिमाग उतने ही ऊँचे चढ़ जायेंगे और बाद में उनसे काम लेना और भी दुर्लभ हो जायगा। परन्तु पिछले लगभग २५ वर्षों में वे यह समझने लगे है कि श्रम उत्पादन का एक अनिवार्य अंग है अतएव उसके सहयोग के बिना उत्पादन में वृद्धि सम्भव नहीं है। श्रमिकों का सहयोग प्राप्त करने के लिए श्रम-कल्याण कार्यों को उचित स्थान देना होगा। इधर समय-समय पर पास किये गये अधिनियमों ने भी उन्हें श्रम-कल्याण की ओर आवश्यक ध्यान देने के लिए बाध्य किया है। भारत के कुछ प्रमुख उद्योगों में उद्योगपतियों द्वारा किये गये श्रम-कल्याण कार्यों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

(१) **सूती वस्त्र उद्योग**—सूती वस्त्र उद्योग भारत का सबसे प्रमुख एवं सबसे बड़ा उद्योग है। बम्बई में लगभग प्रत्येक सूती वस्त्र मिल में सस्ते गल्ले की दुकानें, चिकित्सालय आदि

की व्यवस्थाए है। ५७ मिलो मे केण्टीन तथा ५३ मिलो मे सहकारी समितिया है। कई मिलो मे आधुनिक चिकित्सालय जलपान गृह शिक्षण केन्द्र बाहरी तथा भीतरी क्षेत्र प्राविडेन्ट फण्ड योजनाय आवास व्यवस्था शिशु गृह स्नान गृह पुस्तकालय वाचनालय आमोदभवन मुफ्त दूध हल्का भोजन तथा फल बाटने की व्यवस्था प्रौढ शिक्षा केन्द्र बुढापे की पेन्शन बीमा योजना पारितोषण वितरण व्यायामशाला आदि की व्यवस्था है। इस दृष्टि से नागपुर का एम्प्रेस मिल दिल्ली की दिल्ली क्लाथ एण्ड जनरल मिल्स मद्रास का बकिंघम एण्ड कर्नाटक मिल्स ग्वालियर का जावाजीराव काटन मिल्स बगलौर का बगलौर वुलियन काटन मिल्स बिडला काटन मिल्स मदुरा की मदुरा मिल्स आदि के नाम मे विशेष उल्लेखनीय है।

(२) जूट उद्योग—भारतीय जूट मिल्स एसोसियेशन ने जो इस क्षेत्र के उद्योग पतियो का एक शक्तिशाली सगठन है श्रम-कल्याण के कार्यो का उत्तरदायित्व स्वय अपने कधो पर लिया है और इस सम्बन्ध मे सराहनीय काय भी किया है। इस एसोसियेशन ने पाच स्थानो पर श्रम कल्याण केन्द्र की स्थापना की है। प्राय सभी मिलो मे श्रम कल्याण अधिकारी की नियुक्ति की गई है। इस समय लगभग ७० जूट मिलों में केण्टीन ६७ मिलो मे चिकित्सालय ५५ मिलो मे शिशु गृह ५ मिलो मे स्कूल तथा २४ मिलो मे मनोरजन केन्द्र चलाये जा रहे हैं। कई मिलो म व्यायामशालाए पुस्तकालय वाचनालय तथा सिनेमा आदि दिखाने की भी व्यवस्था है।

(३) इन्जीनियरिंग उद्योग—इस क्षेत्र मे उन उद्योगो मे जहा १००० या इससे अधिक श्रमिक काय करते है चिकित्सालय का प्रबन्ध किया गया है। कुछ कारखाना मे जहा स्त्री श्रमिक काय करता हैं शिशु गृह भी हैं। छोटे बडे सभी कारखानों मे कण्टीन की व्यवस्था है। कुछ बडे कारखानो मे श्रमिको के लिये मनोरजन की व्यवस्था भी है। इसके अतिरिक्त प्राय सभी कारखानों मे प्रावीडेण्ट फण्ड की भी व्यवस्था है। श्रम कल्याण के कार्यों की सबसे अच्छी व्यवस्था टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी जमशेदपुर मे है। इसमे ४०० पलग वाला एक बडा अस्पताल ३ स्कूल ११ मिडिल स्कूल १६ प्रारम्भिक पाठशालाय ९ रात्रि की पाठशालाए १२ श्रम-कल्याण केन्द्र बडे बडे खेल के मदान पुस्तकालय वाचनालय उपभोक्ता सहकारी भण्डार शिशु-गृह मुफ्त ग्रह मुफ्त सिनेमा घर बच्चो के लिए मुफ्त दूध व बिस्कुट का वितरण आदि की व्यवस्था है। आशा है कि अन्य स्टील के कारखाने भी शीघ्र इस कम्पनी का अनुकरण करगे।

(४) चीनी उद्योग—चीनी के सभी बडे बडे कारखानो मे चिकित्सालय की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त अधिकाश चीनी मिलो मे स्कूल मनोरजन के लिए क्लब बाहरी व भीतरी जलपान-गृह कण्टीन उपभोक्ता सहकारी समिति वाचनालय आदि की व्यवस्था है।

उपभोक्ता के अलावा सीमेंट उद्योग कागज उद्योग ऊनी वस्त्र उद्योग बागान उद्योग कोयला खान उद्योग अभ्रक खान उद्योग मे भी श्रम कल्याण कार्यों की व्यवस्था है।

(IV) श्रमिक सघो द्वारा श्रम कल्याण काय

भारतीय श्रमिक अन्य प्रगतिशील पश्चिमी देशो के श्रमिको की भाति न तो उतना शिक्षित है और न जागरूक अतएव उनमे सगठन की प्रवृत्तियो का अभाव है। उनके आर्थिक साधन सीमित है अत वे श्रम-कल्याण के कार्यो पर आवश्यक व्यय नही कर पाते। राष्ट्रीय काग्रेस की चेतना के साथ श्रमिको मे कुछ सगठन अवश्य हुआ है श्रमिक सघो ने इस सगठन का उपयोग मिल मालिको के साथ मजदूरी काय के घण्टे आदि के बारे म सघष करने म ही किया है। किन्तु फिर भी कुछ श्रमिक सघो ने इस दिशा मे सराहनीय काय किया है। इस क्षेत्र मे अहमदाबाद सूती वस्त्र मिल श्रम सघ मजदूर सभा कानपुर इन्दौर मिल मजदूर सघ रेलवे मेन्स यूनियन बैंक कर्मचारी सघ फडरेशन आफ इण्डियन लेबर के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

अन्य सस्थानो द्वारा श्रम कल्याण काय

श्रम कल्याण के क्षेत्र मे कुछ समाज सेवी सस्थाओ के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमे बम्बई समाज सेवी लीग सेवा सदन समिति बम्बई प्रेसीडेंसी महिला समिति वाइ० एम० सी० ए० (Y M C A) तथा दलित वग सघ के नाम प्रमुख है। इन सस्थाओ ने मुख्य रूप मे

शिक्षा के क्षेत्र मे अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया। कई स्थानो पर नगरपालिकाओ तथा नगर निगमो ने भी श्रम-कल्याण के कार्यो मे अपना महत्वपूर्ण योग दिया है। इस प्रकार उपरोक्त कथन से यह विदित हो जाता है कि भारत मे अब इस दशा मे सक्रिय कदम उठाए जाने लगे है। हमे यह आशा करनी चाहिये कि निकट भविष्य मे श्रम-कल्याण केन्द्रो की सख्या मे और भी तीव्र गति से वृद्धि होगी। इस प्रकार हमारे देश मे श्रम-कल्याण के कार्यो का भविष्य निश्चित रूप से उज्जवल है। श्रम-कल्याण के कार्यो के माध्यम से ही 'कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) की स्थापना की कामना की जा सकती है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत श्रम-कल्याण
(Labour Welfare During Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल मे श्रम-कल्याण हेतु ९ ३१ करोड रुपये रखे गये थे। इस अवधि मे रहने के लिये ४०,००० मकानो का निर्माण किया गया था तथा लगभग ३४२ श्रम-कल्याण केन्द्रो की स्थापना की गई। **द्वितीय पंचवर्षीय योजना** काल मे श्रम-कल्याण हेतु २९'१६ करोड रुपये रखे गये थे। इस अवधि मे १३२९ श्रम-कल्याण केन्द्रों की स्थापना की गयी। **तृतीय पंचवर्षीय योजना** काल मे भारत सरकार ने ४६ करोड रुपये श्रम-कल्याण के कार्यो पर व्यय किये। **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना** काल मे श्रम-कल्याण के कार्यों पर और अधिक राशि व्यय होने की सम्भावना है।

भारत में श्रम-कल्याण कार्यो की असफलता क्यों ?

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत जैसे विशाल आबादी वाले देश मे, जहां कि जनसंख्या का एक महत्वपूर्ण भाग औद्योगिक श्रमिको के रूप मे कार्य करता है, श्रम-कल्याण कार्यों की प्रगति असन्तोषजनक रही है। भारत मे श्रम-कल्याण कार्यो की असफलता के प्रमुख कारण निम्न हैं :—(१) भारतीय उद्योग पति अभी तक श्रम-कल्याण कार्यो के दायित्व को अपने ऊपर एक बोझा मानते है। अतएव वे इस दिशा मे तब तक कोई कदम नहीं उठाते है जब तक कि राजनियम के द्वारा ऐसा करना अनिवार्य न हो। कोई न कोई बहाना लेकर वे सदैव टालने का ही प्रयत्न करते हैं। (२) श्रम-कल्याण कार्यों का आयोजन करने में सच्चाई एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रायः अभाव रहता है। अनेक दशाओं मे ये कार्य श्रम-सघो के विकास को रोकने अथवा श्रमिकों के विद्रोह को शान्त करने के लिए ही किये गये हैं। (३) श्रम-कल्याण कार्यों को वैधानिक ढग सङ्गठित करने के लिये भारत मे प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं का अभाव है। (४) श्रमिक भी श्रम-कल्याण कार्यो के आयोजन मे पर्याप्त रुचि नही लेते है। (५) भारत मे श्रम-कल्याण सम्बन्धी अधिनियम भी अनियोजित एव अवैज्ञानिक ढग से पास हुए है, जिसके कारण उनके व्यावहारिक प्रचलन मे कभी-कभी कठिनाइयों का सामना करना पडता है।

भारत में श्रम-कल्याण कार्यो को सफल बनाने के लिए महत्वपूर्ण सुझाव

भारत मे श्रम-कल्याण कार्यो को और अधिक सफल एवं प्रभावशाली बनाने के लिए निम्न सुझाव महत्वपूर्ण है —(१) भारतीय कारखाना अधिनियम, १९४८ की श्रम-कल्याण सम्बन्धी धाराओ [४२-५०] मे अनुभव के आधार पर आवश्यक सशोधन किए जाने चाहिए। तत्पश्चात् इसके क्रियाशीलन पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। उल्लघन की दशा मे बडे आर्थिक एव दण्डनीय दोनो प्रकार के दण्डो की व्यवस्था होनी चाहिए। (२) सरकार द्वारा उद्योग-पतियो तथा श्रम-सघो को श्रम-कल्याण कार्यो के हेतु आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। (३) केन्द्रीय सरकार एव राज्य सरकारो को श्रम-कल्याण कार्यो मे अधिकाधिक भाग लेना चाहिए। (४) श्रम-कल्याण अधिकारियो को अपने अधिकारो एव कर्तव्यों के प्रति अधिक जागरूक रहना चाहिए। (५) उद्योगपतियों को श्रम-कल्याण कार्यो के प्रति अपने दृष्टिकोण मे परिवर्तन करना चाहिए। उन्हे इन कार्यो को केवल बोझा न समझ कर पूरा करना अपना परम कर्त्तव्य मानना चाहिए। (६) इन कार्यों मे तीव्र गति लाने के लिए श्रमिको को कल्याण-समितियो मे अधिक से अधिक भाग लेना चाहिए। (७) सभी पक्षों को श्रम-कल्याण नैतिक उत्तरदायित्व समझकर करना चाहिए।

४१

भारत मे सामाजिक सुरक्षा
(Social Security in India)

आशय

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जन्म लेता है, समाज मे ही रहता है और अन्त मे समाज के अन्दर ही मर जाता है। अतः यह समाज का प्राथमिक कर्त्तव्य है कि वह मानव की भलाई के लिए समस्त आवश्यक सुविधाएं प्रदान करे। बीमारी, बेकारी, भुखमरी, वृद्धावस्था, विधवापन और अज्ञानता आदि ऐसे दानव हैं जिनसे युद्ध करने के वास्ते मनुष्य को सामाजिक सुरक्षा की विशेषतया आवश्यकता पड़ती है। सर विलियम बेवरीज (Sir William Beveridge) के अनुसार, 'सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय पांच दानवो के ऊपर आक्रमण है, जैसे आवश्यकता, बीमारी, अज्ञानता, गन्दगी और बेकारी।' अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सङ्गठन (International Labour Organisation) ने सामाजिक सुरक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया है 'सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जो समाज के किसी उचित सगठन द्वारा सदस्यो को किन्ही खतरो मे प्रदान की जाती है जो खतरे उन पर कभी भी आक्रमण कर सकते हैं।' प्रश्न यह होता है कि वास्तव मे ये खतरे है क्या ? प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि ये खतरे अनिवार्य रूप मे आपत्तियां हैं जिनका न्यून साधनो वाले व्यक्ति सामना नही कर सकते हैं। इस प्रकार यह एक ऐसी योजना है जिसमे कि सामाजिक व्यक्ति को जीवन की असुरक्षाओ के प्रति सुरक्षा प्रदान की जाती है।

वास्तव मे सामाजिक सुरक्षा एक अत्यन्त ही विस्तृत शब्द है जिसमे मानव को भलाई के वास्ते किया जाने वाला प्रत्येक कार्य आ जाता है। 'जन्म से मृत्यु' तक जो भी मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताएं होती हैं वे सभी सामाजिक सुरक्षा में आ जाती हैं।

ससार के विभिन्न देशों मे सामाजिक सुरक्षा का उद्गम

सामाजिक सुरक्षा की विचारधारा का उद्गम सर्वप्रथम जर्मनी मे हुआ, जबकि सम्राट विलियम प्रथम ने १८८३ मे चिकित्सा हित लाभ और १८८४ मे श्रमिक क्षति-पूर्ति का श्रीगणेश किया। आज रूस की सामाजिक सुरक्षा की योजनायें ससार के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, जहां कि इन योजनाओ पर प्रतिवर्ष लगभग २,१४,००० रूबल (रूस की मुद्रा का नाम) का व्यय होता है। इङ्गलैण्ड मे बेवरिज प्रणाली के अन्तर्गत सरकार शिशु, युवक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी को 'जन्म से लेकर मरण' तक आवश्यक सुविधायें प्रदान करती है। वहाँ भारतीय मुद्रा मे प्रतिवर्ष १,२०० करोड रुपया केवल सामाजिक सुरक्षा पर ही खर्च होता है। सन् १९३५ मे अमेरिका के अन्दर सामाजिक सुरक्षा अधिनियम पास हुआ जिसमे सामाजिक बीमे का क्षेत्र काफी विस्तृत कर दिया गया। इसके बाद न्यूजीलैण्ड (Newzealand), स्वीडन, डेनमार्क,

फ्रान्स, मिश्र और आस्ट्रेलिया आदि ने भी अपने-अपने यहाँ सामाजिक सुरक्षा की विशाल योजनायें प्रारम्भ की।

भारत में सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता

भारत मे सामाजिक सुरक्षा के बारे मे जो कुछ भी कहा जाय, कम ही होगा। भारतीय श्रमिकों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। बेकारी, भुखमरी, अज्ञानता, दरिद्रता और विभिन्न प्रकार की बीमारियो का बोलबाला है। ऊँची मृत्यु और जन्म दर का होना, न्यूनतम मजदूरी, सीमित जीवन काल, श्रम सघो का राजनैतिक दृष्टि से शोषण, निम्न श्रेणी का जीवन-स्तर और राष्ट्रीय आय, श्रमिको मे तीव्र मतभेद, श्रमिकों और मालिको का आपस मे असहयोग, अंग्रेजी सरकार की विनाशकारी नीति आदि ऐसी बातें है जिनके कारण मानव अपने को असुरक्षित महसूस करता है। भारतीय श्रमिक अकुशल कहलाता है, क्योकि उनकी न्यूनतम् आवश्यकतायें भी पूरी नही हो पाती, आरामदेय अथवा विलासिताओ का तो कहना ही क्या ? यदि हम चाहते है कि भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो, राष्ट्र प्रगति करे और श्रमिको की अकुशलता दूर हो तो सामाजिक सुरक्षा का विकास किया जाना परम आवश्यक है। समानता ही हमारे विधान का एक प्रधान अग है, जिसको प्राप्त करने के लिये सामाजिक सुरक्षा रूपी क्रान्ति करनी होगी। श्री वैवरिज के अनुसार जितने अधिक आप गरीब होगे, उतनी ही अधिक आपको सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है''''''। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ भी भारत में दरिद्रता को कम करने के लिए सामाजिक सुरक्षा पर बल दे रहा है। देश के औद्योगीकरण मे भी सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता है।

भारत में सामाजिक सुरक्षा का श्रीगणेश

भारत मे सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने का श्रीगणेश सन् १९२३ के श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम' (Workmen's Compensation Act, 1923) के पास होने के साथ-साथ ही कहा जा सकता है। यह अधिनियम जुलाई, १९२४ से कार्यान्वित हुआ। बाद में इस अधिनियम मे आवश्यक सशोधन क्रमश १९२६, १९२९, १९३३ और १९४४ मे हुए। **श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम का अन्तिम संशोधन सन् १९६२ में हुआ।** इसके अनुसार यह अधिनियम उन सभी श्रमिको पर लागू होता है जिनका मासिक पारिश्रमिक ५०० रु० से अधिक नही है तथा जिनका रोजगार आकस्मिक नही है। जिन श्रमिको को कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १९४८ के अन्तगत आश्रित-लाभ (Dependents Benefit) या अयोग्यता लाभ (Disablement Benefit) प्राप्त होता है, उन्हे इस अधिनियम के अन्तर्गत सहायता नही मिलती। इसके अतिरिक्त जो लिपिक (Clerk) या प्रशासक (Administrator) के पद पर कार्य करते है उन्हे इस अधिनियम के अन्तर्गत सहायता नही मिलती। इसके अन्तर्गत श्रमिको को मृत्यु, अस्थाई, आशिक अथवा स्थायीपूर्ण असमर्थता (Disablement) के लिए क्षतिपूर्ति मिलती है, बशर्ते कि चोट काम करते हुए पहुँची हो और मजदूर के स्वय के दोष के कारण न लगी हो, अर्थात् यदि चोट शराब अथवा समान द्रव्य के नशे मे या मालिक के आदेशो की जान-बूझकर अवहेलना के कारण लगी हो तो उसको किसी भी किस्म का मुआवजा नही मिलेगा। मुआवजे की दर भिन्न-भिन्न दशाओ मे भिन्न-भिन्न है। क्षतिपूर्ति की धनराशि श्रमिक के औसत मासिक पारिश्रमिक तथा दुर्घटना से उत्पन्न चोट की अवस्था के अनुसार निश्चित की जाती है। घायल श्रमिक जिसका मासिक पारिश्रमिक १० रु० से अधिक नही है उसे मृत्यु की अवस्था मे ५०० रु०, स्थायी अपगता की अवस्था मे ७०० रु० तथा अस्थायी अपङ्गता की अवस्था मे औसत मासिक पारिश्रमिक का आधा भाग मिलता है। जिस श्रमिक का मासिक पारिश्रमिक ५० रु० व ६० रु० के बीच मे है उसके लिए उपरोक्त सम्बन्धित राशि क्रमश १८०० रु०, २५२० रु० और १५ रु० मासिक है। इसी प्रकार ३०० रु० मासिक से अधिक पारिश्रमिक पाने वालो के लिए सम्बन्धित राशि क्रमशः ४५०० रु०, ६३०० रु० और ३० रु० मासिक है।

भारत मे सामाजिक सुरक्षा की ओर दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम मातृत्व हित लाभ सम्बन्धी अधिनियम (Maternity Benefit Act) का विभिन्न प्रान्तो द्वारा पास किया जाना है। सन्

१९२९ में बम्बई सरकार ने सबसे पहले अपने यहां यह अधिनियम पास किया। इसके बाद यह अधिनियम क्रमशः मध्य-प्रदेश (१९३०), मद्रास (१९३४), देहली (१९३७), उत्तर-प्रदेश (१९३८), बङ्गाल (१९२९), पंजाब (१९४३), असम (१९४४), बिहार (१९४५), सौराष्ट्र (१९४८), मध्य-भारत (१९४९), ट्रावनकोर-कोचीन (१९५२), उड़ीसा व राजस्थान (१९५३) में पास किया गया। केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४१ में खानों में काम करने वाली स्त्रियों के लिए मातृत्व हित लाभ का केन्द्रीय अधिनियम पास किया। इस अधिनियम में सन् १९४३, १९४५ और १९४८ में संशोधन किये गये। इसके अन्तर्गत स्त्री श्रमिकों को उनके शिशु जन्म के कुछ सप्ताह पूर्व और कुछ सप्ताह पश्चात् तक छुट्टी मिल जाती है। साथ ही साथ उनको चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ भी प्रदान की जाती हैं। हित लाभ की रकम म विभिन्न राज्यों में ५० पैसे प्रतिदिन से लेकर ७५ पैसे प्रतिदिन तक है अथवा स्त्री श्रमिकों की औसत मजदूरी के बराबर है, दोनों में से जो भी रकम अधिक हो।

राज्यों के अधिनियमों में एकरूपता लाने के लिए केन्द्रीय सरकार ने सन् १९६१ में मातृत्व हित लाभ सम्बन्धी अधिनियम पास किया। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक स्त्री कर्मचारी को (जिसने १६० दिन से अधिक काय किया है) बच्चा पैदा होने अथवा गर्भपात के दिन के बाद ६ सप्ताह की छुट्टी मिलती है। ६ सप्ताह की छुट्टी बच्चा पैदा होने की तिथि से पहले भी मिलती है। इसके अतिरिक्त नियोक्ता द्वारा २५ रु० दवा बोनस भी दिया जाता है। बच्चा पैदा होने से पहले या पश्चात् कुछ दिनों तक अधिक परिश्रम का कार्य नहीं लिया जा सकता। इसके अतिरिक्त बच्चे की अवस्था १५ महीने की होने तक स्त्री श्रमिक को दिन में दो बार अवकाश भी मिलता है। यह अधिनियम उन सभी कारखानों पर लागू होता है जो कारखाना अधिनियम, खान अधिनियम एवं प्लान्टेशन अधिनियम (Plantation Act) के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु जिन औद्योगिक संस्थाओं पर 'कर्मचारी राज्य बीमा योजना' लागू होती है वे इसके अन्तर्गत नहीं आते।

आलोचनाएँ

उपर्युक्त दोनों अधिनियमों में अनेक दोषों का समावेश है जिसके कारण इनकी कटु शब्दों में आलोचना की जाती है। इसमें जो भी लाभ होते हैं वे सब केवल नाम-मात्र की सहायता मात्र ही हैं। द्वितीय, इनका क्षेत्र सीमित है, तृतीय, चूँकि मातृत्व लाभ देने का उत्तरदायित्व मालिकों पर ही है, अतः व नौकरी से हटाने की धमकी देकर या अविवाहित अथवा वृद्ध औरतों को नियुक्त करके हमेशा उससे बचने का प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त व मुआवजे के भुगतान को टालने अथवा अनावश्यक रूप से देरी करने का प्रयत्न करते हैं। इन सब बातों के कारण डा० अमरनारायण अग्रवाल ने इस सम्बन्ध में तीखा ताना कसते हुए कहा है कि 'श्रमिक का क्षतिपूर्ति या लाभ पाने का अधिकार केवल कागज पर रह जाता है।

आधुनिक सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ

(I) कर्मचारी राज्य बीमा योजना (१९४८)

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १९४८ को पास करके भारत सरकार ने सामाजिक सुरक्षा की ओर एक महान कदम उठाया है। चूँकि अनेक कठिनाइयों के कारण इसका कार्य शीघ्र आरम्भ नहीं हो सका, अतः ६ अक्टूबर, १९५१ को इस अधिनियम का पुनः संशोधन हुआ, और इसका शुभारम्भ २४ फरवरी, १९५२ को दिल्ली और कानपुर में भारत की कोटि-कोटि जनता के हृदय सम्राट स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू के कर कमलों द्वारा हुआ। आज यह योजना दिल्ली, कानपुर, अमृतसर, लुधियाना, जालन्धर, बटाला, अम्बाला, भवानी, नागपुर, बम्बई, कलकत्ता, कोयम्बटूर, ग्वालियर रतलाम, उज्जैन, उड़ीसा, मेरठ, आगरा लखनऊ आदि सभी प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में सफलतापूर्वक चल रही है। इसमें २७० केन्द्रों के लगभग ३३,२१,९५० परिवार लाभ उठा रहे हैं। यह योजना गैर-मौसमी (Non-Seasonal) कारखानों के उन सभी कर्मचारियों, जिनमें २० या इससे अधिक कर्मचारी कार्य करते हैं एवं जिनका मासिक वेतन ५०० रु० तक है, लागू होती है। गरीब व्यक्तियों को भी इससे लाभ मिल सके, इस उद्देश्य से चन्दे की दर १ रु० से

१·५० रु० प्रतिदिन कर देने का निश्चय किया गया है। इस योजना का प्रबन्ध सचालन कर्मचारी राज्य बीमा निगम को दे दिया गया है जिसका अध्यक्ष केन्द्रीय श्रम मन्त्री होता है तथा सरकार, चिकित्सा-व्यवसाय और संसद के प्रतिनिधि होते है। सन् १९६५-६६ तक इसमे कर्मचारियो तथा मालिको का चन्दा क्रमश १०.४० करोड़ रु० और ११.६७ करोड रु० था। इसमे से ८·८२ करोड रु० बीमित कर्मचारियो को दिया जा चुका था (Source : India 1968)। १ अप्रैल, १९६८ से नियोक्ताओ को ३/४% अधिक अंशदान देना पडता है। इसके अतिरिक्त अंशदान से सन् १९६८-६९ मे २·४२ करोड रु० की अतिरिक्त आय होने की सम्भावना है। सन् १९६७-६८ मे २.५४ लाख रु० को बचत होने की सम्भावना थी लेकिन वर्तमान आँकडो के आधार पर बचत के स्थान पर ९२ लाख रु० की हानि होने की सम्भावना है। सन् १९६८-६९ के वर्ष मे २७.१९ लाख रुपये की बचत होने की आशा है। इस योजना के अन्तर्गत श्रमिको को पाच प्रकार के लाभ प्राप्त होते है :— (१) **बीमारी सम्बन्धी लाभ**—श्रमिकों को बीमारी के समय उसके दैनिक वेतन का ½ नकद प्राप्त होता है, ताकि उसे बीमारी के समय आर्थिक कठिनाइयो का सामना नही करना पडे। यह केवल उन्ही दिनो के वास्ते मिलता है जिसके लिए डाक्टर ने प्रमाणित कर दिया है, किन्तु एक वर्ष मे यह लाभ ५६ दिन से अधिक दिनो के वास्ते नही मिल सकता। सन् १९६५-६६ में ६.५१ करोड रु० की धनराशि बीमारी के लाभ के रूप में दी गई। (२) **चिकित्सा लाभ**—इसके अन्तर्गत श्रमिक की डाक्टरी देख-भाल, सब प्रकार की दवाइयां, मरहम-पट्टी, डाक्टर द्वारा बिना फीस के घर आकर देखना इत्यादि सुविधायें प्राप्त होती है। (३) **मातृत्व सम्बन्धी लाभ**—इससे बीमित स्त्री श्रमिको को शिशु जन्म के ६ सप्ताह पूर्व और ६ सप्ताह बाद तक छुट्टी मिल सकती है और ७५ जैसे प्रतिदिन या बीमारी हित लाभ की दर से (दोनों मे जो भी अधिक हो) दिया जाता है। सन् १९६५-६६ मे ३३·३१ लाख रु० की राशि मातृत्व सम्बन्धी लाभ के सम्बन्ध मे दी गई। (४) **असमर्थता लाभ**—यदि काम करते समय किसी श्रमिक के चोट लग जाय या उस कारखाने मे सम्बन्धित किसी रोग का शिकार हो जाय जिसके फलस्वरूप वह स्थायी या अस्थायी, आशिक या पूर्ण रूप मे असमर्थ हो जाय तो उसे दैनिक वेतन का आधा भाग मिलेगा, जब तक कि बिल्कुल ठीक न हो जाय। सन् १९६५-६६ मे १.७४ करोड रु० की राशि मे असमर्थता लाभ के रूप मे दी गई। (५) **आश्रितों को लाभ**—यदि किसी कारखाने मे काम करते समय किसी श्रमिक की मृत्यु हो जाय तो उसके आश्रितो अर्थात् स्त्री, पुत्रो और पुत्रियो को नकद इनाम लाभ मिलता है। सन् १९६५-६६ मे २३·१७ लाख रु० की राशि आश्रितो को लाभ के रूप मे दी गई।

आलोचनाएं

(१) इस अधिनियम का क्षेत्र सीमित है। ५०० रु० मासिक से अधिक पारिश्रमिक पाने वाले कर्मचारी इस योजना के अन्तर्गत नही आते। (२) इस योजना के अन्तर्गत बेकारी की अवधि मे कोई लाभ नही मिलता है। (३) इस योजना के अन्तर्गत बीमारी हित लाभ केवल ८ सप्ताह के लिए ही मिलता है। किन्तु कुछ ऐसी भी बीमारियां हैं जो अधिक समय मे ठीक होती है, जैसे तपेदिक की बीमारी। (४) अस्पताल मे डाक्टरो का व्यवहार सन्तोषजनक नही पाया जाता है। मरीजो को अनावश्यक रूप से बहुत समय तक इन्तजार करना पडता है। इसके अतिरिक्त दवाइयो के वितरण की पद्धति भी दूषित है। अधिकाश दवाइयाँ निम्न श्रेणी की होती है।

(II) कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, १९५२ (Employee's Provident Fund Act, 1952)

प्रारम्भ मे यह अधिनियम केवल ६ उद्योगो मे लागू किया गया था। ये उद्योग है — (i) सीमेंट, (ii) सिगरेट, (iii) इन्जीनियरिंग, (iv) लोहा तथा इस्पात, (v) कागज तथा (vi) वस्त्र। जनवरी १९६७ तक यह अधिनियम कुल मिलाकर १०६ उद्योगो मे लागू हो चुका था। प्रस्तुत अधिनियम ऐसे कारखानो पर लागू होता है जो कम से कम ३ वर्ष पुराने हो तथा जिनमे ५० या ५० से अधिक कर्मचारी कार्य करते हो। यह अधिनियम उन कारखानो पर भी लागू होता है जो ५ वर्ष पुराने हो तथा जिनमे कर्मचारियो की सख्या २० या २० से अधिक तथा ५० मे कम हो। ऐसे कारखाने के वे सभी कर्मचारी इस योजना के अन्तर्गत आते है जिनको कुल मिलाकर १,००० रु० मासिक से अधिक पारिश्रमिक नही मिलता। इस योजना की सदस्यता प्राप्त करने के

लिए यह आवश्यक है कि कर्मचारी १ वर्ष तक निरन्तर नौकरी मे रहा हो अथवा १२ महीने या इससे कम अवधि मे कम से कम २४० दिन तक वास्तविक रूप मे कार्य किया हो। इस योजना में कर्मचारी अपने कुल पारिश्रमिक का ६१/४ प्रतिशत चन्दे के रूप मे देता है। नियोक्ता भी इस दर से चन्दा देता है। यदि कर्मचारी चाहे तो अपने चन्दे की दर बढाकर ८१/३ प्रतिशत तक कर सकता है। नवम्बर, १९६७ के अन्त तक इस अधिनियम के अन्तर्गत छूट दिये तथा बिना छूट दिये ४१,०९१ कारखाने सम्मिलित थे। योजना मे सम्मिलित कर्मचारियो की सख्या ५० ९६ लाख थी। इसी तिथि तक निधि मे १,०४८ ३६ करोड रु० जमा हो चुके थे, और ३४२ ६८[1] करोड रुपये जाने वाले सदस्यो को लौटाये जा चुके थे। कर्मचारी के अवकाश प्राप्त करने पर, मृत्यु, अस्थायी अयोग्यता, छँटनी, विदेश प्रवास अथवा १५ वर्ष की अवधि के पश्चात् नौकरी छोड देने पर सम्पूर्ण सचित राशि ब्याज सहित लौटा दी जाती है।

उपरोक्त अधिनियम मे हुए नवीनतम सशोधनो के अनुसार केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह विज्ञप्ति द्वारा इस बात की घोषणा कर सकती है कि किन-किन उद्योगों मे सशोधित ८ प्रतिशत की चन्दा दर लागू होगी। इस सशोधन मे इस बात का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि किन-किन उद्योगो मे कर्मचारियों तथा नियोक्ताओं को अनिवार्य रूप मे ८ प्रतिशत की दर से चन्दा भविष्य निधि मे जमा करना होगा।

(III) कोयला खान भविष्य निधि एव बोनस योजना अधिनियम, १९४८ (The Coal Mines Provident Fund and Bonus Scheme Act, 1948)

यह अधिनियम जम्मू व कश्मीर राज्य को छोडकर भारत मे स्थित सभी कोयला खानो के श्रमिकों पर लागू होता है। फरवरी, १९६७ तक यह अधिनियम १,२८७ कोयला खानो में लागू था। यह अधिनियम खानो मे काम करने वाले श्रमिको पर अनिवार्य रूप से लागू किया गया है। इसमे कर्मचारी अपने कुल मासिक पारिश्रमिक का ८ प्रतिशत भाग जमा करता है। इसी दर से नियोक्ता भी जमा करता है। जून १९६२ के बाद से कर्मचारी इस निधि मे अनिवार्य रूप से दिये गये चन्दे के अतिरिक्त अपनी कुल मासिक आय का ८% भाग और जमा कर सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध मे नियोक्ता पर अतिरिक्त जमा किये चन्दे के सम्बन्ध में कोई भी दायित्व नही होगा। अर्थात् नियोक्ता भी अतिरिक्त राशि को जमा करने के लिए बाध्य नही किया जा सकेगा।

(IV) औद्योगिक विवाद (सशोधन) अधिनियम, १९५३ :

इसके अन्तर्गत कम से कम एक साल लगातार काम करने वाले श्रमिक को बेरोजगारी से सुरक्षा प्रदान की जाती है। उसे एक महीने का नोटिस अथवा एक माह के वेतन का मुआवजा दिये बिना नही हटाया जा सकता। यह योजना केवल गैर मौसमी कारखानो तथा खानो मे ही लागू रहती है। यह योजना भी सामाजिक सुरक्षा का एक प्रमुख अग है जिसके द्वारा गरीब, अज्ञानी तथा अनपढ व्यक्तियों को सुरक्षा मिलती है।

(V) उत्तर-प्रदेश में वृद्धावस्था पेंशन, १९५७

यह महत्वपूर्ण योजना लागू करके उत्तर-प्रदेश ने सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र मे वास्तव मे एक सराहनीय कार्य किया है। इस योजना के अन्तर्गत उन ७० वर्ष की उम्र से ऊपर के वृद्धो को मासिक पेंशन के रूप मे एक निश्चित रकम दी जाती है जिनकी आय का न तो कोई साधन है और न उनकी देखभाल करने वाला उनका कोई रिश्तेदार ही है। अब यह योजना अन्य प्रदेशो मे भी लागू कर दी गई है।

भारत मे किये गये सामाजिक सुरक्षा कार्यों की आलोचनायें

यद्यपि भारत मे सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र मे सराहनीय कार्य किया गया है, किन्तु फिर भी वर्तमान योजनाओं तथा अधिनियमों की अग्रलिखित आधारो पर कटु शब्दो मे आलोचनाएँ की जाती हैं :

1, *Source* India 1968 page No 397

खण्ड ५

विदेशी व्यापार तथा यातायात

(FOREIGN TRADE AND TRANSPORT)

४३

भारत का विदेशी व्यापार
(India's Foreign Trade)

प्रारम्भिक–विदेशी व्यापार की आवश्यकता :

किसी भी देश के लिए आज के प्रगतिशील युग में यह संभव नही है कि वह अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वय कर ले। सभ्यता के विकास के साथ-साथ विभिन्न देशो की यह परस्पर-निर्भरता काफी अधिक बढती जा रही है। डेविड रिकार्डो ने तुलनात्मक लागतो के सिद्धान्त के आधार पर यह बताया था कि प्रत्येक देश की जलवायु तथा प्राकृतिक साधनों के आधार पर वहाँ विशिष्ट वस्तुओ का उत्पादन तुलनात्मक दृष्टि से अधिक लाभप्रद होता है। जब प्रत्येक देश मे विशिष्ट वस्तुओं का ही उत्पादन होता है तो अन्य वस्तुओं का इस वस्तु के निर्यात के बदले आयात किया जाता है।

यह सत्य है कि आज विश्व के लगभग सभी राष्ट्र आर्थिक स्वावलम्बन की स्थिति तक पहुँचने का प्रयास कर रहे है, तथापि इस तथ्य की उपेक्षा भी नही की जा सकती कि बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी भी हो सकती हैं, जिनका उत्पादन या निर्माण सरलता से मितव्ययितापूर्वक देश मे नही किया जा सकता। इसीलिये जब तक विवेकपूर्वक अर्थव्यवस्था का सचालन किया जाता है तब तक वस्तुओं के आयात व निर्यात का यह क्रम जारी रहेगा। हाँ, इस प्रवृत्ति पर राज्य किसी रूप मे नियन्त्रण लगा सकता है क्योकि मुक्त-व्यापार नीति देश के उद्योगों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। एल्फ्रेड मार्शल ने यहाँ तक बताया था कि किसी देश के आर्थिक विकास का अध्ययन, मुख्य रूप से उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बद्ध रहता है।[1]

प्रस्तुत अध्ययन मे पहले यह बताने का प्रयास किया जाएगा कि भारत के विदेशी व्यापार, यानी आयात तथा निर्यात का ऐतिहासिक क्रम क्या रहा है। विशेष रूप से १९ वी शताब्दी से लेकर अब तक व्यापार की स्थिति तथा व्यापार के ढाँचे मे हुए परिवर्तनो का इस अध्याय मे विस्तार से वर्णन किया जाएगा।

भारत का विदेशी व्यापार—ऐतिहासिक समीक्षा

यद्यपि उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक भारत की अधिकाश जनता छोटे-छोटे स्वावलम्बी गाँवों मे निवास करती थी, तथापि शहरो मे पर्याप्त मात्रा मे विलासिता की कलात्मक वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। पिछले कुछ अध्यायो मे इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। इन कलात्मक वस्तुओ की विदेशों—विशेष रूप से मिस्र, रोम व यूनान में काफी खपत

1. See ECAEE Bulletin Vol. xiv Dec 1963 p. 1

होती थी। ईसा से २००० वर्ष पूर्व भी मिस्र की ममीज भारत में बनी ढाके की मलमल से ढकी जाती थी, ऐसा इतिहासकारों का मत है। १९१६ के औद्योगिक आयोग ने बताया कि भारत की निर्मित वस्तुओं की रोम में बहुत मांग थी। बड़े प्लिनी की यह शिकायत थी कि वहाँ के कोष का बहुत बड़ा भाग प्रतिवर्ष भारत चला जाता था। भारत में बनी मलमल को रोम में गैंजेटिका के नाम से पुकारा जाता था।[1]

गुप्त, मौर्य व अन्य हिन्दू सम्राटों तथा बाद में मुगल शासन काल में भी भारत से भारी मात्रा में सूती वस्त्र, धातु के बर्तन, हाथी दाँत की वस्तुएँ, इत्र, रंग व मसाले बाहर भेजे जाते रहे। मुगल शासकों के समय देश में राजनैतिक वातावरण शांतिपूर्ण नहीं था। इसके फलस्वरूप विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ। फिर भी अकबर जैसे सम्राटों ने अनेक हस्तकलाओं को संरक्षण दिया। बाबर के शासनकाल में पश्चिमोत्तर सीमान्त से यातायात के सम्बन्ध स्थापित हो जाने के फलस्वरूप इन देशों से व्यापार सम्बन्ध बढ़े थे। फारस व सीमावर्ती देशों के लिए मुल्तान-कंधार-मार्ग तथा यूरोप व चीन आदि देशों के लिए लाहौर-काबुल-मार्ग १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भी काफी व्यस्त रहते थे।[2]

१५ वीं शताब्दी में पाश्चात्य जगत तथा भारत के मध्य समुद्री मार्ग की खोज हो जाने के कारण पुर्तगाल, हालैण्ड व फ्रांस के व्यापारी भारी तादाद में भारत आने लगे। इन देशों में १६ वीं शताब्दी के अन्त में ईस्ट इंडिया कम्पनियों की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई थी कि ये कम्पनियाँ भारत में व्यापार करके लाभ कमाना चाहती थीं।

१७ वीं शताब्दी तक भारत वस्त्रों, धातु के बर्तनों, जड़ाऊ आभूषणों मसालों तथा अफीम, हाथी दाँत की वस्तुओं तथा गलीचों का पर्याप्त मात्रा में निर्यात करता रहा। इस समय तक आयात की वस्तुओं में मुख्यतया सोना, घोड़े, जस्ता, रांगा, पारा, तांबा और हीरे-जवाहरात का आयात करता था। लेकिन १७ वीं शताब्दी के अन्त से ही इंग्लैण्ड में भारतीय वस्त्रों का उपयोग दंडनीय घोषित कर दिया गया। इंग्लैंड व पश्चिमी यूरोप में १८ वीं शताब्दी में जो औद्योगिक क्रांति हुई, उसके फलस्वरूप इन देशों में कच्चे माल की मांग बढ़ने लगी तथा भारत में स्थित ईस्ट इंडिया कम्पनी कच्चे माल की पूर्ति और वहाँ के कारखानों में बनी वस्तुओं की खपत हेतु बाजार ढूँढने की एक माध्यम बन गई।

१९ वीं शताब्दी में भारत का विदेशी व्यापार

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के एक के बाद एक सूबे अंग्रेजों के अधिकार में जा रहे थे और ईस्ट इण्डिया कम्पनी को, भारत से कच्चे माल तथा अनाज के निर्यात एवं इसके विपरीत आंग्ल कारखानों में बनी वस्तुओं को भारतीय बाजारों में थोपने का पूर्ण अवसर मिल रहा था। दूसरी ओर भारत की बनी हुई तैयार वस्तुओं के प्रवेश पर इंग्लैंड में बहुत अधिक कर लगा दिए गए थे। निम्न तालिका इंग्लैंड को भारतीय कपास तथा सूती वस्त्र के निर्यात के आँकड़े बताती है।[3]

निर्यात (गाठों में)

	कपास	सूती वस्त्र
१८००	५०६	२,६३६
१८२९	१५१००	५४१

इस प्रकार एक ओर कपास का निर्यात (इंग्लैंड को) २५ वर्ष में तीस गुना हो गया जबकि दूसरी ओर सूती वस्त्र का निर्यात इसी अवधि में ⅕ रह गया।

1 Industrial Commission [1916] Report, Note of Dissent by M M Malviya p 295

2 Moreland India at the Death of Akbar, p 219

3 Ramesh Dutt Economic History of India, vol 1 p 211

एक अन्य अध्ययन के अनुसार १८१३ मे इंग्लैंड से केवल ११ लाख स्टर्लिंग पौंड का सूती वस्त्र भारत मे आता था, लेकिन शताब्दी के मध्य तक यह आयात ६३ गुने के लगभग हो गया। निम्न तालिका इस तथ्य की पुष्टि करती है :[1]

इंग्लैंड से सूती वस्त्र का आयात

(लाख स्टर्लिंग पौण्ड मे)

१८१३	१·१
१८४०	३८·६
१८५०	५२२
१८५६	६३०

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक भारत प्रधानतया एक अनाज तथा कच्चे माल का निर्यातकर्ता राष्ट्र बन चुका था, जबकि अब भारी मात्रा मे आग्ल कारखानों मे तैयार वस्तुएं भारतीय बाजारो मे प्रवेश कर रही थी। लेकिन इसके दो परिणाम हुए। प्रथम, यह कि भारत का विदेशी व्यापार बढ़ गया, द्वितीय, कच्चे माल व अनाज की बढती हुई मॉग के कारण भारत का व्यापार-संतुलन काफी समय तक भारत के पक्ष में रहा इस सन्दर्भ मे निम्न तालिका काफी महत्वपूर्ण है [2]

भारत के आयात व निर्यात

(दस लाख स्टर्लिंग पौण्ड मे)

सन	आयात	निर्यात
१८३४-३५	६१·६	८१९
१८४०-४१	१०२·०	१३८२
१८४९-५०	१३७·०	१८२८

उपरोक्त तालिका के आधार पर यह कहा जा सकता है कि १५ वर्ष की अल्प अवधि मे आयात और निर्यात लगभग दुगुने हो गये। फलस्वरूप जहाँ १८३४-३५ मे कुल विदेशी व्यापार की बचत २० लाख रुपये थी, १९४९-५०१ तक यह बढकर ४५ लाख रुपये हो गई।

एक भारतीय विद्वान के मतानुसार भारत के विदेशी व्यापार मे बहुत अधिक वृद्धि होने के उपरान्त भी यह वृद्धि अप्राकृतिक रूप से हुई थी। व्यापार का विकास वस्तुत भारत के आर्थिक कल्याण का साध्य न बनकर एक साधन मात्र बन गया था।[3]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विदेशी व्यापार—उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे, विशेषरूप से १८५७ के पश्चात् भारत के अधिकाश क्षेत्र पर ब्रिटिश सरकार का अधिकार हो गया था। भारतीय जनता राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र मे पूर्णतया अँग्रेजों के नियन्त्रण मे थी। फलस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार को भी आग्ल उद्योगपतियों एव व्यापारियो की स्वार्थ-सिद्धि का एक साधन बना दिया गया।

अनाज व कच्चे माल का निर्यात, जैसाकि हम आगे देखेंगे, काफी तेजी से बढता चला गया। आयात के क्षेत्र मे यद्यपि मशीनो, सूती व ऊनी वस्त्रो व अन्य आवश्यक पदार्थो के आयात मे वृद्धि हुई, पर व्यापार का सन्तुलन भारत के ही पक्ष मे रहा और यह अनुकूल स्थिति लगभग पूरी शताब्दी तक चलती रही। अग्रलिखित तालिका करोड रुपयो मे आयात व निर्यात की स्थिति का चित्रण प्रस्तुत करती है[4].

1. B. M Bhatia : Famines in India (1963) p. 16
   एक स्टर्लिंग पौंड १० भारतीय रुपए के बराबर था।
2. Ramesh Dutt : Economic History of India in the Victorian Age pp 158-9
3. Durga Prasad : Some Aspects of Indian Foreign Trade, p 152
४ मौलिक उद्धरणों मे स्टर्लिंग पौंड मे ये आँकडे है। १० रुपए=१स्टर्लिंग पौंड माना जाता था।

वस्तुओ का कुल आयात व निर्यात[1]
(करोड रुपयो मे)

	आयात	निर्यात	व्यापार-सन्तुलन
१८५१	११ ६	१८·७	+ ७ १
१८५८	१५ ३	२८ ३	+ १३ ०
१८६८	३५ ७	५२ ४	+ १६·७
१८७७	३७ ४	६५·०	+ २७ ६

इस प्रकार १ ५१ के पश्चात् भारत का व्यापार-सन्तुलन न केवल अनुकूल रहा था अपितु २५-२६ की अवधि मे निर्यात-आयात का अतिरेक चार गुने से कुछ कम बढ गया था। १८७०-७१ के पश्चात् भारतीय मुद्रा का मूल्य घटने लगा और रुपये के अथ का यह ह्रास शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। १९०१ तक वस्तुओ के आयात का कुल मूल्य बढकर लगभग ८१ करोड रुपये हो गया जबकि इस वर्ष निर्यात की गई वस्तुओ का मूल्य १२२ करोड रुपए था।[2]

इस प्रकार १९ वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे आयात ७ गुने तथा निर्यात लगभग ६½ गुने हो गए थे। परन्तु यदि इनमे हम इगलैंड से आने वाले कोष को शामिल करें तो कुल भुगतान का सन्तुलन भारत के विपक्ष मे हो जाता है। १८५१ मे लगभग ३ ८ करोड रुपये के कोष भारत मे लाए गए, १८५८ मे १६ करोड रुपये के कोषो का हस्तातरण हुआ, जबकि १९०१ मे २४ ६ करोड रुपये के कोषो का आयात हुआ। पूँजी अथवा धन के इस आयात के कारण व्यापार का सन्तुलन अनुकूल होने के बावजूद भुगतान का सन्तुलन भारत को अधिक लाभप्रद नही रहता था।

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे—विशेष रूप से १८५८ से लेकर १९०० तक भारत का विदेशी व्यापार तेजी से बढा इसके लिए निम्न कारण उत्तरदायी थे।[3]

(१) यातायात के साधनो का विकास—रेलो व सडको का भारत मे विस्तार तथा १८६९ मे स्वेज नहर का प्रारम्भ होना, जिसने यूरोप तथा भारत के बीच के मार्ग मे ३००० मील की बचत कर दी थी। (२) भारत सरकार की मुक्त-व्यापार नीति जिसके कारण विदेशो को वस्तुएँ भेजने पर अथवा वहाँ से माल मँगाने पर नाम मात्र के कर लगाये गए थे, (३) १८५८ के बाद देश मे स्थापित शाति व सुरक्षा ने भी विदेशी व्यापार के विस्तार मे बहुत सहायता की। (४) विदेशी पूँजी तथा कोषो का आगमन तथा १८७०-७१ के बाद भारत मे स्थापित होने वाले उद्योगो के लिए यन्त्रो का आयात, तथा (५) मुद्रा-सम्बन्धी सुधार जिनके अनुसार सारे देश मे प्रचलित रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग पौंड से स्थायी बना दिया गया। यह स्टर्लिंग व्यवस्था सभी उपनिवेशो मे प्रचलित थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख आयात व निर्यात—एक दृष्टि

१९ वी शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत द्वारा कुछ विशिष्ट वस्तुओं का निर्यात किया जाता था। इनमे नील तथा रेशमी व सूती वस्त्र प्रमुख थे। आयात की वस्तुओं मे गरम मसाले, ऊनी वस्त्र तथा नई फैशन की वस्तुएँ प्रमुख थी। लेकिन ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा बाद मे ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से धीरे-धीरे भारत एक कृषि-प्रधान देश के रूप मे परिणत हो गया[4], तथा यहाँ से बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओ मे अनाज कच्चा माल (कपास, सूत, ऊन, रेशम, जूट आदि) शक्कर, अफीम तथा नील प्रमुख हो गई। शताब्दी के उत्तरार्ध मे चाय तथा चमडा आदि भी काफी मात्रा मे बाहर भेजा जाने लगा। आयात की प्रमुख वस्तुओ मे अब सूती वस्त्र, सूत, रेशमी तथा ऊनी वस्त्र, मशीनें तथा धातु की बनी वस्तुएँ हो गई। अब हम विस्तार से १९ वी शताब्दी के अन्त तक विभिन्न वस्तुओं के आयात व निर्यात का अध्ययन करेंगे।

---

1 Ramesh Dutt, (Victorian Age) pp 160 and 343
2. Ibid, p. 5
3. Durga Prasad, ibid
4 Ramesh Dutt, ibid pp 113-4

निर्यात[1]

(१) सूत तथा कपास—शताब्दी के आरम्भिक २०-५० वर्षों तक कपास तथा सूती की अपेक्षा भारत से सूती वस्त्र का निर्यात किया जाता रहा। डा० वीरा एन्स्टे का कथन है कि १८३० तक आन्ल सूती वस्त्र मिलो ने जहाँ एक ओर यूरोप के बाजारो से भारतीय वस्त्रो को खदेड़ दिया था, वही दूसरी ओर भारत मे शासन कर रही ईस्ट इंडिया कम्पनी के माध्यम से सूत तथा कपास को इंग्लैंड मँगाना प्रारम्भ कर दिया गया था।[2] जैसा कि ऊपर बताया गया है, १८००-१८२५ के बीच सूत व कपास का निर्यात २५ गुना हो गया था। १८३० के पश्चात् सिर्फ कपास का निर्यात बहुत तेजी से बढ़ा, जैसाकि निम्न तालिका से स्पष्ट होता है :

कपास का निर्यात (करोड़ रुपयो मे)

१८४९	१·८
१८५८	४·३
१८६८	२०·१
१८७७	११ ७
१९०१	१०·१

इस प्रकार ५०-५२ वर्ष की अवधि मे कपास का निर्यात ५½ गुना हो गया। १८६२ से १८७२ तक अमरीकी गृह-युद्ध के कारण भारतीय कपास काफी मात्रा मे बाहर भेजी गई थी। लेकिन इसके पश्चात् युद्धकालीन सकट टल जाने के कारण भारतीय कपास की माँग कम हो गई। इस कमी का एक कारण यह भी था कि १८७० के पश्चात् भारत मे भी सूती वस्त्र मिलो की स्थापना प्रारम्भ हो गई थी।

एक अन्य अध्ययन के अनुसार सिर्फ कपास का निर्यात १८५९-६० के बीच दुगुना हो गया था।[3]

सूत तथा तत्सम्बन्धी अर्धनिर्मित वस्तुओ के निर्यात का मूल्य १८४९ मे ६९ लाख रुपये था, १९०१ तक लगभग ४·२४ करोड़ रुपये के मूल्य का सूत व अन्य अर्धनिर्मित सूत की चीजें बाहर भेजी जाने लगी थी। **सूत तथा कपास का अनुपात १८४९ से लेकर १९०१ तक निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में सर्वाधिक था।**

(२) अनाज—सूत व कपास के पश्चात् सर्वाधिक निर्यात जिन वस्तुओ का किया जाता था, वे थे खाद्यान्न। डा० भाटिया के मतानुसार १८३३ से १९१४ तक निर्यात मे खाद्यान्नों का अनुपात (कपास व सूत के निर्यात को पृथक् करने के पश्चात्) सर्वाधिक रहा था।[4] विशेष रूप से इंग्लैंड के कारखानो में काम करने वाले श्रमिको तथा वहाँ की जनता की जरूरतो की पूर्ति हेतु बहुत अधिक मात्रा मे खाद्यान्न बाहर भेजे जाते थे। मेजर बसु लिखते हैं कि अकाल तथा अभाव के समय भी बहुत अधिक मात्रा मे अनाज का निर्यात किया गया, क्योंकि कृषको को मालगुजारी के भुगतान के लिए द्रव्य की आवश्यकता थी, और यह द्रव्य उन्हे केवल व्यापारीगण ही दे सकते थे।[5]

१८४९ मे निर्यात किए गए खाद्यान्नो का मूल्य केवल ८६ लाख रुपये था लेकिन १८७८ मे १० करोड रुपये से अधिक मूल्य के खाद्यान्नो का निर्यात हुआ। १९०१ मे निर्यात किए गए खाद्यान्नों का मूल्य १४ करोड रुपये था, जो तत्कालीन निर्यात में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु कही जा सकती थी।

---

1 Ibid, pp. 162, 343, & 533

१८५८ के आँकड़े ब्रिटिश सरकार के शासन-भार सँभालने के पूर्व की तथा १८६८ के आँकडे स्वेज नहर प्रारम्भ होने के पूर्व की स्थिति बताते हैं।

2. Vera Anstey: Economic Development of India, p. 331
3. B. M. Bhatia, ibid, p. 37
4 Ibid, p. 24
5. B. D. Basu : Ruin of Indian Trade & Industry, pp. 64-67

मात्रा की दृष्टि से १८६०-६४ मे औसतन १ लाख टन खाद्यान्न प्रतिवर्ष बाहर भेजे गए। १८६७-६८ मे १ २९ करोड क्वार्टर खाद्यान्न का निर्यात किया गया था, जो १८९५-९६ तक बढकर ४ ५ करोड क्वार्टर हो गया।[1]

(३) अफीम—निर्यात के क्षेत्रो मे काफी समय तक अफीम का स्थान तीसरा रहा। लेकिन १८९० के पश्चात् इसका निर्यात कम होने लगा, तथा शताब्दी के अन्त तक महत्व की दृष्टि से इसका स्थान छठा रह गया। १८४९ मे भारत से ५ ८ करोड रुपये की अफीम बाहर भेजी गई जो निर्यात में सबसे अधिक थी। १८७७ से १८९० के बीच अफीम का निर्यात १२½ करोड रुपये से घटकर १० करोड रुपये रह गया। १९०१ मे केवल ९ ४ करोड रुपये की अफीम का निर्यात किया गया था।

(४) नील—उन्नीसवी शताब्दी के विदेशी व्यापार मे नील का बहुत अधिक महत्व रहा था। १८४९ में भारत से लगभग दो करोड रुपये के मूल्य की नील का निर्यात किया गया था। १८७७ मे यह राशि लगभग ३ करोड रुपये की थी, लेकिन १९०१ तक घटकर २ १ करोड रुपये रह गई।

(५) जूट—१९ वी शताब्दी के मध्य मे केवल ६ ८ लाख रुपये के मूल्य की जूट भारत से बाहर भेजी जाती थी। लेकिन १८५८ तक जूट का निर्यात तिगुना हो गया। एक अध्ययन के अनुसार १८५९-६० तथा १८७९-८० के बीच जूट का निर्यात ७ गुना हो गया था।[2] १८७६ मे २ ६ करोड रुपये की कच्ची जूट बाहर भेजी गई थी, परन्तु १९०१ तक यह राशि बढकर १० ९ करोड रुपये हो गई। इस प्रकार १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जूट (कच्ची) का निर्यात १६० गुना हो गया जो विदेशी व्यापार के इतिहास मे अभूतपूर्व बात थी। जूट-निर्मित वस्तुओ का निर्यात भी १९ वी शताब्दी के अन्तिम वर्षो मे प्रारम्भ हुआ, लेकिन कच्ची जूट के निर्यात मे अप्रत्याशित वृद्धि हुई। डा० वीरा एन्स्टे के मत मे क्रीमिया के युद्ध के कारण डण्डी की मिलो को रूस से सन प्राप्त करना कठिन हुआ और इसीलिए भारत से जूट काफी मात्रा मे बाहर भेजी गई।[3]

(६) चाय—हम पिछले एक अध्याय मे यह स्पष्ट कर चुके हैं कि चाय का उत्पादन भारत मे १८३८ के पश्चात् बढा था। १८५८-५९ मे भारत से ६० लाख रुपये की चाय बाहर भेजी गई थी, लेकिन १८७६ ७७ तक चाय का निर्यात बढकर २ ५ करोड रुपये हो गया। १९०१ में लगभग १० करोड रुपये के मूल्य की चाय बाहर भेजी गई। इस समय चाय का कुल उत्पादन १९ १ करोड पौंड था, जिसमें से १७ ९५ करोड पौंड (९०%) का निर्यात कर दिया जाता था। निर्यात की कुल मात्रा में से लगभग १६ करोड पौंड इंग्लैंड, ८५ लाख पौंड आस्ट्रेलिया व शेष अन्य देशो को भेजी जाती थी।[4]

(७) चमडा—चमडे का निर्यात भी १९ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे काफी तेजी से बढा। १८५९ मे चमडे के निर्यात की राशि ५४ ५ लाख रुपये थी जो १९०१ मे बढकर ११ ५ करोड रुपये हो गई। इस प्रकार ४ ०४२ वर्ष की अवधि मे चमडे (कच्चे) का निर्यात २१ गुना हो गया।

(८) बीज—चमडे की भाति ही बीज का निर्यात भी १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे ही काफी बढा। १८५९ मे २ करोड रुपये से अधिक के बीज बाहर भेजे गए थे, लेकिन १९०१ तक यह राशि ९ करोड रुपये तक ही बढ सकी।

इस प्रकार निर्यात की मुख्य वस्तुओं का संक्षिप्त विवरण हम देख चुके हैं। सुविधा के लिए अग्रलिखित तालिका द्वारा कुल निर्यात मे विभिन्न वस्तुओ का अनुपात प्रतिशत मे बताया गया है, जिसके आधार पर १८५१ व १९०१ के बीच की स्थिति का सहज ही ज्ञान हो जाता है।

---

1. Bhatia, pp 38, 42 & 137
2 Dr. Bhatia, ibid, p 37
3 Vera Anstey, ibid, p 331
4 Ramesh Dutt, ibid, p 522

निर्यात

(प्रतिशत मे)

	कपास व सूत	अनाज	अफीम	नील	जूट	चमड़ा	बीज
१८५१	४५	२१	२९·२	११	०·३६	३ ०	७·०
१९०१	११·७	११·५	८	१६	९	९ ४	७·४

इसके अतिरिक्त १८५८ तक भारत मे काफी मात्रा मे शकर बाहर भेजी जाती

इसके अतिरिक्त १८५८ तक भारत से काफी मात्रा मे शक्कर बाहर भेजी जाती थी परन्तु शताब्दी के अन्त तक क्यूबा एव जावा की प्रतियोगिता के कारण शक्कर का निर्यात बढ़ गया। दूसरी तरफ तैयार सूती वस्त्र का निर्यात जहाँ १८७८ मे १ ६ करोड रुपये का था, १९०१ तक बढकर २·७ करोड रुपये का हो गया।

लेकिन १९ वी शताब्दी के निर्यात के विषय मे जो मुख्य बात हमे दिखाई देती है वह यही है कि भारत गत शताब्दी के अन्त तक इगलैंड के उद्योगो को कच्चा माल, तथा वहाँ की जनता को पर्याप्त अनाज भेजने वाला देश रह गया। मेजर बसु के शब्दो मे भारतीय उत्पादको के हितो को अग्रेजो की स्वार्थसिद्धि की वलि पर चढा दिया गया।[1] वे आगे लिखते हैं कि कच्चे माल व अनाज को काफी कम मूल्य पर विदेशों को निर्यात किया जाता था, फिर भी व्यक्ति विदेशी व्यापार (निर्यात) से १९ वी शताब्दी के अन्त मे प्राप्त होने वाली वार्षिक आय केवल १ रुपया ७ आना थी।[2]

आयात[3]

(१) सूत तथा सूती वस्त्र—यद्यपि भारतीय वस्त्रो की माग उन्नीसवी शताब्दी मे विदेशो मे घट रही थी, तथापि भारत के बाजारो मे सूत व सूती वस्त्रो की खपत बढाई गई। १८४९ मे सूत का आयात केवल ९० लाख रुपये का था, लेकिन १८७७ तक भारत मे २ ७३ करोड रुपये का सूत आने लगा था। १८९४ तक सूत का आयात बढकर ३·१ करोड रुपये हो गया था, लेकिन १९०१ तक घट कर २·५ करोड रुपये का रह गया।

सूती वस्त्रो का आयात १९वी शताब्दी मे बहुत तेजी से बढा। १८४९ मे केवल २·२ करोड रुपये के मूल्य का सूती वस्त्र भारत मे आता था, लेकिन १९०१ तक २७ करोड़ रुपये मे अधिक का सूती वस्त्र भारत मे आने लगा। १८५१ व १९०१ के बीच कुल आयात मे से सूती वस्त्रों का अनुपात ३१% से बढकर ३३ ३% हो गया। १८१३ व १९०१ के बीच इनके आयात २४५ गुने हो गए।[4]

(२) ऊनी व रेशमी वस्त्र—उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत ऊनी व रेशमी वस्त्रों का आयात नही करता था। रेशमी वस्त्रो का तो इसके विपरीत काफी मात्रा मे निर्यात किया जाता था। लेकिन धीरे-धीरे रेशमी वस्त्रो की अपेक्षा कच्चे रेशम का निर्यात बढ़ा तथा रेशमी वस्त्रों का निर्यात घटता गया। दूसरी ओर रेशमी वस्त्रों का भारत मे आयात बढता गया। १८५१ मे जहाँ केवल ११ लाख रुपये के रेशमी वस्त्र भारत मे आए थे, १९०१ तक इनका आयात १५ गुने से अधिक हो गया। इसी प्रकार ऊनी वस्त्रो का आयात जहाँ पहले (१८५१) २२ लाख रुपये का था, १९०१ तक बढकर २ करोड ११ लाख रुपये का होगया। इन दोनो प्रकार के वस्त्रो का १९०१ के कुल आयात मे ४ ६% का अनुपात था।

(३) मशीनें—उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत मे मशीनो का आयात नही किया जाता था। १८५४ तक भी केवल ८० हजार रुपये के मूल्य की मशीनें मगाई जाती थी। लेकिन

1. B. D. Basu : ibid, p. 81
2. Ibid, p 72
3 Ramesh Dutt, ibid, pp. 161, 345 & 530
4. See Bhatia, ibid p. 16

१९वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे जब भारत मे वृहत्-स्तरीय उद्योगो का विकास प्रारम्भ हुआ तो मशीनो का आयात भी बढा और दस वर्ष के भीतर ही बढकर ८७ लाख रुपये का हो गया। १९०१ तक भारत मे २·२६ करोड रुपये की मशीनें मँगाई जाने लगी थी, जो उस समय कुल आयात के ३ प्रतिशत से भी कम था। इसका मुख्य कारण यह था कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक भी भारतीय वृहत्-स्तरीय उद्योग अविकसित स्थिति मे थे।

(४) धातु की वस्तुएँ तथा कटलरी का सामान—१९वी शताब्दी के मध्य तक भी भारत केवल १६ ६ लाख रुपये के मूल्य की धातुओं से निर्मित वस्तुओं का आयात करता था। लेकिन १९०१ तक यह आयात बढकर १ ८ करोड रुपये का हो गया।

(५) शक्कर—शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत से लगभग २ करोड रुपये के मूल्य की देशी खाड का निर्यात किया जाता था, तथा १९ वी शताब्दी के मध्य तक भी शक्कर की स्थिति अनुकूल रही। लेकिन शताब्दी के चतुर्थांश मे स्थिति भारत के प्रतिकूल होने लगी और १८८१ तक भारत ७७ लाख रुपये की दानेदार चीनी पश्चिमी द्वीप समूह से मंगाने लगा। १९०१ मे दानेदार चीनी का आयात ५ ७ करोड रुपये के लगभग था, जो कुल आयातों का लगभग ७ प्रतिशत था।

१९वी शताब्दी के अन्त तक भारत के आयात व निर्यात के उपरोक्त विवरण के आधार पर हम यही निष्कर्ष दे सकते हैं कि यद्यपि शताब्दी के अन्त तक भी भारत का व्यापार-सन्तुलन अनुकूल ही था, तथापि अंग्रेजों की नीति के फलस्वरूप जिन वस्तुओं का भारत शताब्दी के प्रारम्भ तक निर्यात करता था (सूती वस्त्र, रेशमी वस्त्र व शक्कर आदि) उन्ही का शताब्दी के अंत तक भारी मात्रा मे आयात करने लगा। दूसरी ओर आयात का भुगतान अनाज तथा कच्चे माल (कपास, जूट, चमडा आदि) के निर्यात द्वारा किया गया। इस सबका कारण मेजर बसु के मत मे यह था कि ब्रिटिश सरकार ने आग्ल व्यापारियो को बहुत छूट दे रखी थी और मुक्त-व्यापार की आड मे उन्होंने धीरे-धीरे विदेशी व्यापार पर एकाधिकार जमा लिया था।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी में व्यापार की दिशा—उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत के विदेशी व्यापार का मुख्य रूप से ईस्ट इण्डिया कम्पनी (इंग्लैंड) का आधिपत्य था। आयात की गई वस्तुओ मे अधिकाश इंग्लैंड से आती थी और इसी प्रकार निर्यात का भी काफी बडा अनुपात केवल इंग्लैंड को चला जाता था। लेकिन १९वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे धीरे-धीरे इंग्लैंड की स्थिति मे परिवर्तन होने लगा तथा अन्य देशो ने भी भारत के विदेशी व्यापार मे भाग लेना प्रारम्भ किया। निम्न तालिका आयात तथा निर्यात की दिशा मे हुए परिवर्तन को स्पष्ट करती है :[2]

आयात व निर्यात की दिशा (प्रतिशत मे)

देश का नाम	आयात			निर्यात		
	१८७४-७९	१८८९-९४	१८९९-१९०४	१८७४-१८७९	१८८९-१८९४	१८९९-१९०४
इंग्लैंड	८२	७३	६६	४१	३३	२७
अन्य ब्रिटिश उपनिवेश	११	१३	१०	२७	१८	२१
जापान	—	—	१	—	१	५
जर्मनी	—	२	४	—	५	८
संयुक्त राज्य अमरीका	—	२	२	३	४	७
अन्य देश	७	१०	१७	२९	३९	३२
कुल	१००%	१००%	१००%	१००%	१००%	१००%

नोट—निर्यात १८७४-७९ मे फ्रास का अनुपात ७ प्रतिशत व चीन का ३ प्रतिशत था, जो १८९९-१९०४ तक ६ प्रतिशत तथा ५ प्रतिशत हो गया।

1. B. D Basu, ibid, p 105
2 See Vera Anstey, ibid, p 334

इस प्रकार व्यापार की दिशा की दृष्टि से १९ वी शताब्दी के अन्त तक इंग्लैंड तथा अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों का महत्त्व पूर्वापेक्षा काफी कम हो गया था, तथा जापान, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमरीका एवं अन्य देशों से भारत के आयात व निर्यात काफी बढ़ गये थे। यही क्रम बीसवी शताब्दी मे भी काफी समय तक चलता रहा, जिसका वर्णन अगले पृष्ठों मे किया जायेगा।

बीसवीं शताब्दी में विदेशी व्यापार

बीसवी शताब्दी मे कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिनका भारत के विदेशी व्यापार पर तथा व्यापार की दिशा पर बहुत अधिक प्रभाव हुआ। सबसे पहली बात तो यह थी कि बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही जहाँ एक ओर भारत मे बड़े उद्योगो का अधिक तेजी से विकास होने लगा था, वही दूसरी ओर स्वदेशी आन्दोलन का प्रारम्भ हो गया था। फलस्वरूप तैयार वस्तुओ के आयात कम हुये। द्वितीय, प्रथम महायुद्ध-काल और इसके पश्चात् भारतीय उद्योग काफी विकसित स्थिति में पहुँच चुके थे और भारत से कच्चे माल की अपेक्षा तैयार वस्तुओ का निर्यात तेजी से बढ़ने लगे। तीसरी बात यह थी कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे ही जर्मनी,जापान, संयुक्त राज्य अमरीका, इटली व बेल्जियम आदि देशो का नवीन औद्योगिक शक्तियों के रूप में उदय होने लगा था तथा इन देशों मे बनी वस्तुयें आंग्ल कारखानो मे बनी वस्तुओ की अपेक्षा सस्ती होने के कारण अधिक मात्रा मे भारत आने लगी थी। जापान से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध बहुत अधिक बढ़ गए थे। बीसवी शताब्दी में इंग्लैंड की राजनैतिक शक्ति ही क्षीण नही हुई थी, आर्थिक दृष्टि से भी इंगलैंड का विश्व के बाजारो मे और विशेष रूप से भारत मे प्रभुत्व घटता जा रहा था।

दो महायुद्धो, विश्वव्यापी मदी तथा भारत की राष्ट्रीय सरकार की विदेशी व्यापार-नीति के भी हमारे आयात व निर्यात पर व्यापक प्रभाव हुए। सुविधा के लिए हम अवधि के अनुसार विदेशी व्यापार का अध्ययन करेंगे।

१९००-०१ से १९१३-१४ तक—शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत के कुल निर्यात अनुमानत १२२ करोड रुपए के थे, लेकिन १९१३-१४ तक बढ़कर २२४ करोड रुपए के हो गए। इसी प्रकार उक्त अवधि मे आयात ८१ करोड रुपए से बढकर १५१ ७ करोड रुपए का हो गया। व्यापार के अनुकूल सन्तुलन की राशि (कोष के आयात को छोडकर) ४१ रुपए से बढकर ७२·४ करोड रुपए हो गई।[1]

निर्यात की प्रमुख वस्तुएं १९ वी शताब्दी की भांति ही रही। निम्न तालिका आयात व निर्यात के मुख्य आंकडों को बताती है[2]

	आयात				निर्यात							(करोड़ रुपयों मे)
	सूती वस्त्र	लौह-इस्पात और वस्तुएँ	रासायनिक पदार्थ	मशीनें	कपास व सूत	जूट	जूट की वस्तुएँ	अनाज	अफीम	चमड़ा	चाय	तिलहन
१९००-१	२७·३	४·६	० ६	२·३	१४	११ ०	८ ०	१४·०	९ ४	११·५	१०	९१
१९१३-१४	५०·०	१२ ५	२·०	५·६	४२ ४	२२·२	२० ३	४६·०	१०	१४·६	१३	२४ ४

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक कच्चे माल, अनाज, चाय व अफीम का निर्यात काफी अधिक था। लेकिन सर्वाधिक वृद्धि शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर युद्ध-पूर्व तक कपास के निर्यात मे हुई (३ गुनी) जबकि जूट की वस्तुओं का निर्यात भी २½ गुने से अधिक हो गया था।

---

1. Ibid, p. 330
2. Ibid, pp. 624-7

प्रथम महायुद्ध काल में और उसके पश्चात भी कुछ समय तक जूट की वस्तुओ की मांग बहुत अधिक रही। युद्ध-काल मे (१९१४-१५ से १९१८-१९ तक) तथा उसके पश्चात जूट के थैलों टाट तथा अन्य वस्तुओ का निर्यात (वार्षिक) ४० करोड से लेकर ४३ करोड रुपए तक रहा। १९२४-२५ से १९२८-२९ का वार्षिक औसत ५५ करोड रुपए का था। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध काल से लेकर १९२८-२९ तक जूट की वस्तुओ का निर्यात कपास को छोड़कर सर्वाधिक रहा था। कपास का निर्यात युद्ध-काल मे यातायात की कठिनाई के कारण कम रहा, लेकिन युद्ध के पश्चात् बहुत तेजी से बढा और १९२४-२५ से १९२८-२९ का औसत वार्षिक निर्यात ७२ करोड रुपए का रहा। इस अवधि मे कच्ची जूट तथा अनाज के निर्यात क्रमशः ३१ ४ करोड रुपए तथा ४२ करोड रुपये के थे। युद्ध-काल मे औसत निर्यात २२६ करोड रुपये के थे। लेकिन युद्ध के पश्चात् निर्यात काफी तेजी से बढ़े और १९२८-२९ तक इनका कुल मूल्य १५२ ४ करोड रुपये हो गया।

जहाँ तक आयात का प्रश्न है, युद्धकालीन औसत आयात लगभग १६० करोड रुपये के मूल्य के थे। आयात मे लगभग ४७ ५ करोड रुपए के मूल्य के (२७ ७%) सूती वस्त्र मँगाए गये थे। द्वितीय स्थान शक्कर का था, जिसका युद्धकालीन आयात का औसत १४ ॥ करोड था। लोह व इस्पात की वस्तुओ तथा मशीनो का वार्षिक आयात इस अवधि मे १० करोड व ५ करोड रुपए का था। १९१९-२० से १९२३-२४ मे औसतन (वार्षिक) ६१ करोड रुपये के सूती वस्त्र; २२४ करोड रुपये की लौह व इस्पात की वस्तुएँ तथा २० करोड रुपये की शक्कर मँगाई गई। इस अवधि में इन तीन वस्तुओ का कुल आयात मे अनुपात लगभग ४०% था। गौर से देखने पर यह भी पता चलता है कि सूती वस्त्रो का आयात १८४६ व १९२३-२४ के बीच २८ गुना हो गया था।

विश्वव्यापी मन्दी एवं तत्पश्चात् (१९२८-२९ से १९३८-३९)

विश्व-व्यापी मन्दी ने भारत के विदेशी व्यापार पर काफी घातक प्रभाव डाले। १९२४-२५ मे कुल निर्यात व आयात क्रमशः ३८४ करोड रुपये तथा २४६ करोड रुपये के थे। १९२९-३० मे ये घटकर क्रमश ३१० करोड रुपए तथा २४१ करोड रुपए के रह गए। १९२९-३० के बाद भी विदेशी व्यापार की स्थिति निराशाजनक बनी रही। निम्न तालिका इस तथ्य की पुष्टि करती है :[1]

आयात व निर्यात (करोड रुपयो में)

	१९३३-३४	१९३८-३९
आयात	११११	१४०·२
निर्यात	११८ ५	१९१ ६

इस प्रकार १९२४-२५ व १९३८-३९ के बीच की अल्प अवधि मे निर्यात घट कर आधे रह गए जबकि आयात की यह कमी ४०%से कुछ कम थी। एक अन्य अनुमान के अनुसार १९३२-३३ मे निर्यात व्यापार की मन्दी प्रतिकूलतम थी, जबकि सौदों का दृश्यमान व्यापार-सन्तुलन ३ करोड रुपए रह गया था। लेकिन विभिन्न देशो द्वारा स्वर्णमान त्याग दिए जाने तथा ओटावा-व्यापार-समझौते आदि के कारण १९३२ के पश्चात् विदेशी व्यापार मे वृद्धि हुई, जैसाकि उपरोक्त तालिका से भी स्पष्ट हो जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक आयात व निर्यात के क्षेत्र मे काफी परिवर्तन हुए थे। भारत ने १९२९-३२ की मन्दी के बाद तेजी से औद्योगिक विकास प्रारम्भ कर दिया था और फलस्वरूप एक ओर कच्चे माल व अनाज की अपेक्षा तैयार वस्तुओ के निर्यात मे वृद्धि हुई तो दूसरी ओर सूती वस्त्र, इस्पात व शकर का आयात काफी घट गया।[2] इसके विपरीत मशीनो, खनिज तेल, रासायनिक पदार्थ व ऐसी वस्तुओ का आयात बढा, जिनका देश के औद्योगिक विकास पर

1. Ibid, pp. 330 & 336
2. जथार एव बेरी, भारतीय अर्थशास्त्र (द्वितीय भाग), पृष्ठ २१७

प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था। निम्न तालिका १९२४-२५ से १९३८-३९ तक के प्रमुख आयात व निर्यात के आँकडे प्रस्तुत करती है :

वस्तुयें	आयात १९२४-२५ से १९२८-२९ वार्षिक औसत	१९३८-३९	निर्यात १९२४-२५ से १९२८-२९ वस्तुयें	(वार्षिक औसत)	(करोड़ रुपयों मे) १९३८-३९[1]
सूती वस्त्र	६१·०	१०·३	सूती वस्त्र	७·०	६·०
लौह व इस्पात की वस्तुयें	१९·०	६·७	कपास	७२ ०	२४·०
शक्कर	१७·४	००·४५	कच्ची जूट	३१·४	१३·४
मशीनें	१६·०	१९·०	जूट की वस्तुयें	५५ ०	२६ ३
रासायनिक पदार्थ	४·३	५·३	अनाज	४२·०	८·०
खनिज तेल तथा केरोसीन	१५·३	२१·२	चाय	२९·७	२३·४
			चमडा	१६ ०	३ ८
			तिलहन	२७ ६	१५·०

वस्तुओ के निर्यात में जो कमी दिखाई दे रही है, उसका कारण मन्दी का प्रभाव था, लेकिन यह तथ्य अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि अनाज, कपास, चमडा व कच्ची जूट के निर्यात मे उपरोक्त अवधि मे भारी कमी हुई थी।

१९०१ से द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक व्यापार की दिशा—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक जापान व अमरीका से भारत के व्यापार सम्बन्ध बहुत बढ गए थे। १९३४-३७ के वार्षिक आयात (औसत) में इंग्लैंड तथा अन्य ब्रिटिश उपनिवेशो का अनुपात क्रमशः ३९% तथा १०% था, जबकि शताब्दी के प्रारम्भ मे इन देशो से आने वाली वस्तुओ का अनुपात ६६% व १०% रहा था। इसी प्रकार जहाँ निर्यात की गई वस्तुओ में इंग्लैंड व ब्रिटिश उपनिवेशो का अनुपात १९०१ मे क्रमश २७% व २१% रहता था, वही १९३४-३७ मे ब्रिटिश उपनिवेशो का अनुपात घट कर १५% तथा इंग्लैंड का अनुपात थोडा-सा बढकर ३२% हो गया। लेकिन अन्य देशो की स्थिति इस प्रकार रही :[2]

आयात व निर्यात की दिशा (प्रतिशत में)

	१८९९-१९०४		१९३४-३७	
	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात
जापान	१	५	१६	१५
जर्मनी	४	८	९	५
संयुक्त राज्य अमरीका	२	७	७	९
शेष देश (इंग्लैंड व उपनिवेशो को छोडकर)	१०	३२	१९	२४

जापान के अतिरिक्त फ्रांस, बेल्जियम व अन्य पश्चिमी यूरोप के देशो से भी भारत के व्यापार सम्बन्ध काफी बढ़े थे। इस प्रकार भारतीय आयात व निर्यात मे इंग्लैंड का जो एकाधिकार शताब्दी के प्रारम्भ में चल रहा था, १९३७ तक उसके क्षेत्र मे भारी कमी आ गई।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक व्यापार सन्तुलन

प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत को केवल इंग्लैंड से व्यापार करने मे घाटा होता था। १९१३-१४ मे इंग्लैंड के साथ भारत का प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन ५९ करोड रुपये का था, जबकि

1. बर्मा को पृथक करके
2. Vera Anstey, Ibid, p. 334.

अन्य औपनिवेशिक देशों के साथ अनुकूल व्यापार-सन्तुलन की राशि २५ करोड़ रुपये थी। यूरोप, सं० रा० अमरीका तथा जापान के साथ भारत के अनुकूल व्यापार सन्तुलन की राशि क्रमशः ११ करोड़, १० करोड़ तथा १८ करोड़ रुपये थी।[1]

लेकिन प्रथम महायुद्ध-काल में और उसके पश्चात् इंग्लैंड के वस्त्रों का आयात और घटता गया, जबकि दूसरी ओर जूट की वस्तुओं व तिलहन आदि का निर्यात इंग्लैंड को अधिक हुआ। ओटावा-समझौता के उपरान्त भी इंग्लैंड की वस्तुओं की भारतीय बाजारों में लोकप्रियता नहीं बढ़ सकी। १९२९-३० तक इंग्लैंड के साथ भारत का प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन २६ करोड़ रुपए का रहा था, लेकिन १९३७-३८ तक भारत का इंग्लैंड के साथ १२ करोड़ रुपये का अनुकूल व्यापार सन्तुलन हो गया। परन्तु इस समय बर्मा के पृथक् हो जाने के कारण वहाँ से काफी मात्रा में चावल मँगाया जाता था और फलस्वरूप बर्मा के साथ भारत का प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन इस वर्ष १५ करोड़ रुपए का था। अन्य देशों के साथ व्यापार सन्तुलन की स्थिति इस प्रकार थी[2]

१९३७-३८ में व्यापार-सन्तुलन (करोड़ रुपये में)

ब्रिटिश उपनिवेश के देश (बर्मा को छोड़कर)	+७
यूरोप के देश	+४
सं० रा० अमरीका	+६
जापान	—३
अन्य देश	+४

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक भारत का व्यापार सन्तुलन बर्मा से अत्यधिक मात्रा में चावल मँगाने के उपरान्त भी पक्ष में ही रहा और इंग्लैंड के साथ जो व्यापार सन्तुलन प्रथम महायुद्ध के पूर्व बहुत प्रतिकूल था, वह द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक अनुकूल हो गया।

द्वितीय महायुद्ध एवं विदेशी व्यापार .

द्वितीय महायुद्ध काल में भारत के विदेशी व्यापार की व्यवस्था तथा व्यापार की दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यद्यपि युद्धकाल में युद्ध-पूर्व की अपेक्षा व्यापार की कुल मात्रा कुछ कम रही तथापि भारतीय वस्तुओं की खपत विदेशों में बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण तथा भारत द्वारा युद्धकालीन सेवाओं के कारण भारत का अनुकूल व्यापार सन्तुलन इतना अधिक बढ़ा कि युद्ध की समाप्ति तक भारत के पास १६००-१७०० करोड़ रुपए के पौंड पावने जमा हो गए। १९३७-३८ के उपरोक्त आँकड़ों के अनुसार उस समय भारत का अनुकूल व्यापार सन्तुलन १५ करोड़ रुपये का था १९४१-४२ में बढ़कर ८० करोड़ रुपये तक पहुँचा तथा १९४३-४४ में ८४ करोड़ रुपये तक बढ़ गया। लेकिन कुल विदेशी व्यापार में अधिक वृद्धि नहीं हो सकी। क्योंकि जर्मनी तथा कुछ समय पश्चात् (१९४१ में) जापान द्वारा सामुद्रिक यातायात में बहुधा अवरोध उत्पन्न किया जाता था इसीलिए युद्धकाल में जर्मनी व जापान से भारत के व्यापार सम्बन्ध समाप्त कर दिए गए।[3] द्वितीय महायुद्ध काल में इंग्लैंड व अमरीका के साथ ही भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार हुआ।

द्वितीय महायुद्ध काल के पूर्व जहाँ भारत कच्चे माल व अनाज का निर्यात अधिक करता था, युद्धकाल में तैयार वस्तुओं का निर्यात बहुत अधिक बढ़ा। दूसरी ओर वस्त्रों तथा लोह-इस्पात का आयात काफी घट गया। युद्ध के बाद भी यह प्रवृत्ति चलती रही। १९४६ से १९४८ तक भारत की व्यापार स्थिति (निजी खाते में) अनिश्चित रही।[4]

---

1. H N Ganguli Reconstruction of India's Foreign Trade (1946), p 20.
2. Ibid, pp. 22-23
3. Alak Ghosh Indian Economy p 510
4. C N. Vakil Economic Consequences of Divided India, p. 468

आयात व निर्यात (करोड़ो रुपए मे)

	१९४६	१९४७	१९४८
भुगतान (आयात)	२८०·६	४२७·८	३५२·४
प्राप्ति (निर्यात)	३६६·०	४५०	४३३·७

१९४६ व १९४७ के आंकड़े अविभाजित भारत के हैं।

१९४७ मे देश का विभाजन होने पर खाद्यान्नों तथा कच्चे माल विशेष रूप से जूट की काफी कमी हो गई और फलस्वरूप इनका पाकिस्तान से आयात करना पड़ा। मई, १९४८ के एक समझौते के अनुसार पाकिस्तान से प्रतिवर्ष ५० लाख गाँठें प्राप्त करने का निश्चय किया गया। १९४७-४८ मे ४९ लाख गाँठें तथा इसके अगले वर्ष ४० लाख गाँठें जूट पाकिस्तान से मँगाई गई।[1]

१९४६ से १९४८ के मध्य तक भारत सरकार की उदार व्यापार नीति के फलस्वरूप आयात मे बहुत अधिक वृद्धि हुई। १९४८-४९ मे कुल आयात ६४२ करोड रुपए के थे, जबकि निर्यात ४५९ करोड रुपए के ही रह गये। इस प्रकार इस वर्ष भारत को व्यापार मे १८३ करोड़ रुपये का घाटा हुआ। आयात अधिक होने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि खाद्यान्न व कच्चे माल की काफी मात्रा भारत को विदेशो से मँगानी पड रही थी।

१९३८-३९ तथा १९४८-४९ के बीच व्यापार की व्यवस्था मे जो परिवर्तन हुये उनका ज्ञान निम्न तालिका के आधार पर हो सकता है :[2]

निर्यात व आयात (पाकिस्तान को छोडकर)

प्रतिशत मे

	१९३८-३९		१९४८-४९	
	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात
खाद्यान्न व तम्बाकू	१६	२४	२४	२१
कच्चा माल	२२	४५	३१	२४
तैयार वस्तुये	६१	२९	४४	५५
अन्य	१	२	१	—
	१००%	१००%	१००%	१००%

आयात—विभाजन के पश्चात् सर्वाधिक वृद्धि अनाज, कच्चे माल तथा मशीनो के आयात मे हुई। युद्ध के पूर्व कच्चे माल का कुल आयात मे अनुपात २२% से कम था, लेकिन विभाजन के पश्चात् इनका अनुपात ३०% हो गया। इसी प्रकार खाद्यान्न के आयात की राशि युद्ध के पूर्व जहाँ १३ करोड रुपए थी, १९४८-४९ मे भारत ने १३० करोड़ रुपये के मूल्य के ३० लाख टन खाद्यान्नो का आयात किया। प्रो० वकील के मतानुसार १९४८-४९ मे खाद्यान्नों के आयात विदेशी व्यापार के ६०% घाटे के लिये उत्तरदायी थे।

तैयार वस्तुओ का आयात युद्ध के पूर्व लगभग ६१% था, लेकिन १९४८-४९ तक इनका अनुपात घटकर ४४% रह गया। लेकिन मशीनो का आयात १९४६-४७ मे जहाँ केवल ३८·७ करोड रुपये का था, १९४९-५० तक बढकर यह राशि १०२ करोड रुपये हो गई।

निर्यात—भारतीय निर्यात मे सर्वाधिक महत्व जूट की वस्तुओ का था। लेकिन विभाजन के कारण कच्चे माल के अभाव मे जूट की वस्तुओ का उत्पादन काफी घट गया और इससे भारत के विदेशी व्यापार पर घातक प्रभाव हुए। इनका निर्यात जहाँ १९३९-४० में १०·८३ लाख टन था, १९४९-५० तक घटकर केवल ७·८७ लाख टन रह गया।

1. Ibid, p. 266
2. Ibid, pp. 441-2

१९३९-४० व १९४९-५० के बीच चाय के निर्यात मे अधिक परिवर्तन नही हुये, लेकिन तिलहनो का निर्यात एकदम से गिर गया। इसी प्रकार सूती वस्त्र का निर्यात १९४२-४३ मे लगभग ८२ करोड गज था लेकिन यह १९४९-५० तक घटकर ६९ करोड गज रह गया।[1]

व्यापार की दिशा—[2] द्वितीय महायुद्ध के पूर्व (१९३८ ३९) जहां इ ग्लैड से आने वाली वस्तुओ का अनुपात ३०% था, १९४९-५० तक इनका अनुपात २५% ही रह गया। इस अवधि मे अमरीका से आनी वालो वस्तुओं का अनुपात ८% से बढकर १४ ७% हो गया। आयात मे १९४८ ४९ मे पाकिस्तान का भाग १६% था, जो १९४९ ५० मे घटकर ७% रह गया। मिस्र का अनुपात १९३८ ३९ व १९४९-५० के बीच १ ६% से बढकर ६ ६% तथा बर्मा का अनुपात १५ ४% से घटकर २% हो गया।

निर्यात के क्षेत्र मे युद्ध के पूव इग्लैड का अनुपात ३४% तथा अमरीका का ९% था १९४९-५० तक इ ग्लैड को जाने वाली वस्तुओ का कुल निर्यात मे अनुपात घटकर २३% रह गया, जबकि अमरीका का अनुपात बढकर १६% हो गया। युद्ध-पूर्व के कुल निर्यात मे बर्मा व आस्ट्रेलिया के अनुपात क्रमश ६ ३% तथा १ ७% थे जो १९४९ ५० मे क्रमश ३% एव ५ ३% हो गये। इसी प्रकार फ्रास का अनुपात ३% से घटकर उक्त अवधि मे १% रह गया।

अवमूल्यन तथा भारत का विदेशी व्यापार[3]—द्वितीय महायुद्ध काल मे भारत ने इग्लैड तथा अमरीका को बहुत अधिक निर्यात करके पौंड पावने तथा डालर कोष जमा कर लिये थे। पौंड पावनो की युद्धोपरान्त कुल राशि १७३३ करोड रुपए की थी, जबकि डालर-कोष की राशि ११५ करोड रुपए थी। लेकिन विभाजन के पश्चात् खाद्यान्न कच्चे माल व मशीनो का आयात काफी अधिक हुआ और जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, १९४८ ४९ मे भारत को विदेशी व्यापार मे १८३ ४५ करोड रुपये का घाटा हुआ था। १९४८ की उदार व्यापार नीति ने वास्तव मे वस्तुओ के आयात को अप्रत्याशित प्रोत्साहन दिया और फलस्वरूप स्टर्लिंग क्षत्र के डालर कोष से लगभग ३०० करोड रुपए निकालने पडे। सितम्बर १९४९ म जब डालर के रूप मे पौंड-स्टर्लिंग का अवमूल्यन हुआ तो भारत ने भी उसी माग का अनुसरण किया। इस अवमूल्यन के निम्न कारण थे

(१) स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्राओ के अवमूल्यन के पश्चात् यदि भारतीय रुपये का अवमूल्यन नही होता तो लकाशायर के वस्त्रो, लका की चाय पूर्वी तथा दक्षिणी अफ्रीकी देशो की मूंगफली और मैंगनीज अथवा डडी की जूट की वस्तुओ की अपेक्षा भारतीय वस्तुएँ मँहगी रह जाती और इनके क्रेता मिलने मे कठिनाई होती।

(२) भारत स्टर्लिंग क्षत्र का सदस्य था तथा ब्रिटेन को छोडकर स्टर्लिंग क्षत्र के केन्द्रीय कोष मे से भारत को सर्वाधिक डालर की आवश्यकता होती थी। स्टर्लिंग क्षत्र की सदस्यता बनाये रखने के लिए अवमूल्यन जरूरी था।

(३) स्टर्लिंग की बाकी अवमूल्यन न करने पर वस्तुओ के रूप मे भारत को चुकाई जाती और इससे व्यापार के घाटे बढने की पूरी सम्भावना थी।

(४) अमरीकी डालर की भारत को अधिक आवश्यकता थी तथा डालर की प्राप्ति अवमूल्यन के पश्चात् अधिक निर्यात द्वारा हो सकती थी।

(५) यदि भारत अवमूल्यन नही करता, तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षत्र मे एक प्रकार की अनिश्चितता बनी रहती और इससे भारत के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकते थे।

अवमूल्यन ने भारतीय वस्तुओ के निर्यात को प्रोत्साहन दिया था। १९४८-४९ मे निर्यात की रकम ४५९ करोड रुपए थी, १९४९-५० मे बढकर ४७४ करोड रुपये हो गई। व्यापार का घाटा इस एक वर्ष की अवधि मे १८४ ५ करोड रुपये से घटकर ८० करोड रुपये रह गया। अवमूल्यन के फलस्वरूप एक ओर जहाँ निर्यात मे काफी वृद्धि हुई मई, १९४९ की नियत्रित आयात

1 Ibid pp 442 4
2 Ibid, pp 447 8
3 Ibid, pp 452 5

नीति के कारण आयात भी काफी कम हुए। सितम्बर १९४९ से मार्च १९५० तक मूल्यो मे स्थिरता रहने के कारण सूती वस्त्रो, तम्बाकू तथा तिलहन का निर्यात विशेष रूप से बढा।

आर्थिक नियोजन को अवधि में विदेशी व्यापार

अप्रैल, १९५१ से भारत के आर्थिक इतिहास मे एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जबकि आर्थिक नियोजन के आधार पर विकास करने का संकल्प किया गया। इसी वर्ष कोरिया का युद्ध प्रारम्भ हो गया और फलस्वरूप भारतीय जूट की वस्तुओ, सूती वस्त्रो तथा अन्य वस्तुओं के निर्यात मे बहुत वृद्धि हुई। १९५१-५२ मे निर्यात की गई वस्तुओं का कुल मूल्य ७३० करोड रुपये था, जो अब तक के निर्यात मे सर्वाधिक रहा है। लेकिन इस वर्ष आयात मे भी काफी वृद्धि हुई। औद्योगिक विकास हेतु मशीनो का आयात तो आवश्यक था ही, देश में विद्यमान खाद्यान्न के अभाव को पूरा करना भी आवश्यक था। फलस्वरूप आयात भी बहुत अधिक हुए।

इसके पूर्व कि हम आयात व निर्यात के विषय मे विस्तार से अध्ययन प्रारम्भ करें, यह आवश्यक होगा कि प्रथम पचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने व्यापार नीति किस प्रकार की रखी थी इसका ज्ञान प्राप्त कर लें। विदेशी व्यापार के सम्बन्ध मे प्रथम योजना मे दो उद्देश्य निर्धारित किये गये : (i) निर्यात का उच्च स्तर कायम रखना तथा केवल उन वस्तुओ का आयात करना, जो राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक हो, तथा (ii) भुगतान के सतुलन को देश के विदेशी विनिमय की जमा तक सीमित रखना।

निर्यात की वृद्धि के लिए १९५१ से पूर्व प्रचलित पाबन्दियां कम कर दी गईं। १९५२-५३ मे ९० प्रतिशत निर्यात व्यापार नियन्त्रण मुक्त हो चुका था।[1]

१९५१ में कुल विदेशी व्यापार १६१० करोड रुपये का हुआ, जिसमे से ७६७ करोड रुपये निर्यात के थे। १९५२ मे बाहरी माँग कम हो जाने के कारण कुल व्यापार की राशि १४०८ करोड रुपये तथा निर्यात की राशि ६१७ करोड रुपये रह गई। लेकिन आयात के क्षेत्र में १९५२ का वितरण इस प्रकार था [2]

खाद्यान्न २०० करोड रुपये; कपास ११२ करोड रुपये; जूट ३० करोड रुपये; अन्य ४४६ करोड रुपये। लेकिन १९५२ मे जनवरी से जून तक ६% से अधिक आयात हो चुके थे।

कोरिया का युद्ध समाप्त होते ही भारतीय वस्तुओ के निर्यात एकदम घट गये। इसके विपरीत आयात मे भी कमी हुई क्योंकि सरकार आयात को नियन्त्रित रखना चाहती थी। आयात मे कमी होने का एक कारण यह भी था कि १९५३ के बाद कुछ समय तक फसलें अच्छी होने के कारण खाद्यान्न का आयात कम किया गया था। निम्न तालिका प्रथम योजना-काल के आयात व निर्यात का विवरण प्रस्तुत करती है [3]

प्रथम योजना-काल में आयात व निर्यात

(करोड रुपयो मे)

	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६
आयात	९६२ ९	६३३ ०	५९१·८	६८३·८	७६१·४
निर्यात	७३० १	६०१·९	५३९·७	५९६·६	६४०·२
व्यापार-सन्तुलन	—२३२·८	—३१·१	—५२ १	—८७·१	—१२१·२

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, १९५१-५२ मे कोरिया युद्ध के कारण निर्यात तथा कच्चे माल, मशीनों व खाद्यान्न की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आयात दोनो काफी अधिक

1 The Sixth Year, Publications Division, (1953), p. 102
2. Ibid, p. 102
3. Based on the Paper 'Indai's Foreign Trade' by Subrata & Ray 'A Decade of Economic Development & Planning,' edited by M. R. Sen, p. 187

हुए थे। लेकिन इसके अगले वष ही आयात व निर्यात दोनो मे काफी कमी हो गई। १९५५ ५६ में पुन फसलें खराब होने के कारण खाद्यान्न का आयात बढा और फलस्वरूप व्यापार-सन्तुलन काफी प्रतिकूल हो गया।

प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे आयात का वार्षिक औसत ७२४ करोड रुपये रहा जिसमे उपभोग की वस्तुओ का औसत २३५ करोड रुपये तथा कच्चे माल एव अध निर्मित वस्तुओ का औसत ३६४ करोड रुपये था।[1] पूँजीगत वस्तुओ का औसत आयात १२५ करोड रुपये। इस योजना मे निर्यात का औसत ६९ करोड रुपये रहा जिनमे लगभग २०% चाय का तथा इतना ही अनुपात जूट की बनी हुई वस्तुओ का रहा था। सूती व सूती वस्त्रो का पाँच वष का औसत निर्यात लगभग १२% रहा। लेकिन १९५५ मे पूर्वापेक्षा (१९५४) चाय तथा सूती वस्त्रो के निर्यात मे क्रमश १४ ५% व १०% कमी हुई क्योंकि इनके निर्यात मूल्यों मे वृद्धि हो गई थी।[2]

द्वितीय पचवर्षीय योजना-काल में यह आशा की गई थी कि योजना के प्रथम वष मे आयात ७४० करोड रुपये के होगे। द्वितीय व तृतीय वर्षों के आयात क्रमश ९०० तथा १००० करोड रुपये के तथा शेष दो वर्षों के औसत आयात ८०० करोड रुपये होने का अनुमान लगाया गया था। निर्यात की पाच वष की राशि ३ ००० करोड रुपये होने की आशा की गई थी। वस्तुत इसमे से चाय जूट की वस्तुओ और सूती वस्त्रो के निर्यात का औसत क्रमश १२७ करोड रुपये १२२ करोड रुपये एव ७५ करोड रुपये (कुल ५४%) रखा गया था। आयात का वार्षिक औसत इस प्रकार रखा गया था [3] मशीनें व गाडिया ३०० करोड रुपए लौह व इस्पात ८६ करोड रुपये अनाज ४८ करोड रुपये कपास ५४ करोड रुपये अय धातुए ४४ करोड रुपये खनिज तेल ८२ करोड रुपये तथा रासायनिक पदाथ ३२ करोड रुपये।

लेकिन द्वितीय योजना के प्रथम दो वर्षों मे खाद्यान्न का अभाव हो जाने के कारण अनाज का काफी आयात किया गया और इससे विदेशी व्यापार के सारे कायक्रम असफल हो गए। केवल १९५६ मे आयात की गई वस्तुओ का मूल्य १०१० करोड रुपये था। जबकि निर्यात केवल ६२९ करोड रुपये थे।[4]

परिणामस्वरूप सरकार ने १ जुलाई १९५७ से बहुत ही कठोर आयात नीति की घोषणा की और यह स्पष्ट कर दिया गया कि आर्थिक विकास अथवा जनता की अनिवायतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही आयात की अनुमति दी जायगी। लेकिन इन सब पाबन्दियो के बावजूद १९५७ ५८ व १९५८ ५९ मे आयात क्रमश १२०४ करोड रुपए तथा १०४७ करोड रुपए के रहे जबकि इन दो वर्षों मे निर्यात की राशि क्रमश ६६९ करोड तथा ५७६ करोड रुपए ही थी। इस प्रकार नियन्त्रण के उपरान्त भी १९५६ ५७ से १९५८ ५९ तक व्यापार का घाटा १४७० करोड रुपए रहा। १९५९ ६० के आयात विदेशी विनिमय की विशिष्ट पाबदियो के कारण ९२४ करोड रुपये के थे जबकि इस वष निर्यात की गई वस्तुओ का मूल्य ६२३ करोड रुपए था।[5]

१९६० ६१ मे आयात व निर्यात की राशि क्रमश १०४० करोड रुपए तथा ६६१ करोड रुपए थी। द्वितीय पचवर्षीय योजना-काल मे निर्यात व आयात का औसत क्रमश ६१४ करोड रुपए तथा १०७२ करोड रुपये रहा।[6] अय शब्दो मे द्वितीय योजनाकाल मे व्यापार का घाटा लगभग २३०० करोड रुपये रहा। सब मिलकर १९५० व १९६० के बीच जहा विश्व का निर्यात व्यापार दुगुना होगया इस अवधि मे भारत का अनुपात २ १% से घटकर १ १% रह गया।[7]

---

1 Third Five Year Plan p 133
2 Second Five Year Plan pp 96 97
3 Ibid p 99
4 Alak Ghosh Ibid p 513
5 Subrata & Ray Ibid p 187
6 Third Five Year Plan pp 133 & 135
7 A Policy for Foreign Trade H M Patel p 2

१९५२ तथा १९६०-६१ के बीच विभिन्न वस्तुओं के आयात तथा निर्यात में जो परिवर्तन हुए, उनका ज्ञान निम्न तालिका से प्राप्त किया जा सकता है।[1]

प्रमुख वस्तुओं के आयात व निर्यात

(करोड़ रुपये में)

वस्तु	आयात		वस्तु	निर्यात	
	१९५२	१९६०-६१		१९५२	१९६०-६१
खाद्यान्न व खाद्य वस्तुएँ	२३८	२१७	चाय	८१	१२४
कपास	११५	८२	सूती वस्त्र (६५)	६५	५८
मशीनें (विद्युत् यन्त्रों सहित)	९२	२६०	जूट का सामान व अन्य वस्त्र[2]	१९२	१४१
खनिज तेल	५७	५२	चमड़ा	१८	२५
रासायनिक पदार्थ व रंग	२७	३९	तम्बाकू	१८	१५
सूती (रेशम को मिलाकर)	१२०	१४	सूत	९	११
लौह व इस्पात	४५	१२३	नारियल की जटाएँ व सामान	७	५८

इस प्रकार प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में आयात के क्षेत्र में एक ओर मशीनों तथा लौह-इस्पात के आयात में बहुत अधिक वृद्धि हुई, वहीं दूसरी ओर कपास के आयात में बहुत कमी हो गई।

निर्यात् के क्षेत्र में सर्वाधिक कमी पटसन की बनी हुई वस्तुओं में हुई। यह कमी १९५२ व १९६०-६१ के मध्य १९ प्रतिशत थी। इसके विपरीत इस अवधि में नारियल की जटा तथा उससे बने सामान का निर्यात ८ गुने से अधिक हो गया, जबकि चाय का निर्यात लगभग ५० प्रतिशत बढ़ा।

तृतीय पंचवर्षीय योजना तथा विदेशी व्यापार

तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में आयात व निर्यात की नीति पर विचार करने के लिये भारत सरकार ने सर रामास्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने २८ फरवरी, १९६२ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने यह अनुभव किया कि चौथी योजना के अन्त तक निर्यात को १३००-१४०० करोड़ रुपये तक पहुँचाने का गुरुतर भार देश के व्यापारियों पर है, परन्तु यह तभी सम्भव होगा, जबकि सरकार उन्हें सुविधाएँ व छूट करे, जिससे वे विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना कर सकें। निर्यात की आय पर करों में छूट व रेल-भाड़े में २५ प्रतिशत छूट देने का समिति ने सुझाव दिया। समिति ने कच्चे माल के आयात को प्रोत्साहन देने का भी सुझाव दिया। निर्यात में बल के प्रयोग को समिति ने अनुचित बताया।

निर्यात में वृद्धि करने के लिए तृतीय योजना-काल में निम्न मान्यताएँ रखी गईं :

(अ) निर्यात हेतु पर्याप्त अतिरेक प्राप्त करने की दृष्टि से आन्तरिक उपभोग पर नियंत्रण रखा जाएगा।

(ब) निर्यात को घरेलू व्यापार की अपेक्षा अधिक लाभप्रद बनाने के प्रयास किये जाएँगे।

(स) निर्यात करने वाले उद्योग शीघ्र ही (लागतों में कमी करके) विदेशी उद्योगों से स्पर्धा करने की स्थिति में पहुँच जायेंगे।

---

1 १९५२ के आँकड़ों के लिए देखिए भारत १९५५, पृष्ठ २५१ से २५४, १९६०-६१ के लिए India 1963, p 300

2. केवल जूट की वस्तुएँ १९५२ में १६३ करोड़ रुपये की भेजी गई थीं। १९६०-६१ में यह राशि १३२ करोड़ रुपये थी।

(८) राज्य द्वारा बाजारो की खोज तथा निर्यात के क्षेत्र के विस्तार हेतु साख दी जायेगी तथा अन्य आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की जाएगी। यही नही, जनमत को निर्यात के अनुकूल बनाना भी जरूरी है।

तृतीय योजना मे निर्यात लक्ष्य ३,७०० करोड रुपये निर्धारित किया गया था। इस प्रकार तृतीय योजना मे औसतन प्रति वर्ष ७४० करोड रु० का निर्यात होने का अनुमान था जबकि प्रथम एव द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ मे यह औसत क्रमश ६२० करोड रुपये तथा ६१२ करोड रु० थी। तृतीय योजना के पांच वर्षों मे आयात-निर्यात की कुछ मात्रा निम्न प्रकार से रही है

तृतीय योजना में आयात-निर्यात[1]

(करोड रु० मे)

वर्ष	आयात (−)	निर्यात (+) पुनर्निर्यात सहित	व्यापार शेष
१९६१-६२	१,०९२ ०८	६६० ५८	—४३२·५०
१९६२-६३	१,१३७ २४	७०१ ६१	—४३५·६३
१९६३-६४	१,२२३ ७५	७९३ २४	—४३०·५१
१९६४ ६५	१,३४९ ७२	८१६ ३०	—५३३·४२
१९६५-६६	१,४०८ ८९	८०५ ६४	—६०३·२५

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि तृतीय योजना काल मे व्यापार भारत के पक्ष मे सुधरने के स्थान पर निरन्तर विपक्ष मे बढता ही गया। इसका कारण आयातो की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि होना था। योजना के आरम्भ मे आयात १,०९२ ०८ करोड रुपये के थे जो कि योजना के अन्त तक बढकर १४०८ ८९ करोड रुपये तक पहुंच गये।

वार्षिक योजनाओं में विदेशी व्यापार (१९६६-६७, १९६७-६८ तथा १९६८-६९)

तृतीय योजना के उपरान्त चतुर्थ योजना को लागू नही किया गया बल्कि वार्षिक योजनाओ का सहारा लिया गया। इस प्रकार तीन वार्षिक योजनाएँ क्रमश १९६६-६७, १९६७-६८ तथा १९६८-६९ मे लागू की गई। इन तीन वार्षिक योजनाओ मे आयात-निर्यात की मात्रा निम्न प्रकार से रही

(करोड रु० मे)

वर्ष	आयात (−)	निर्यात (+)	व्यापार अवशेष
१९६६-६७	२,०४८ ९२	१,१५६ ५८	—८९२·३४
१९६७-६८[2]	२,०५९ ००	१५४०·०	—५१९·००
१९६८-६९[3]	२,५५० ००	१,६३० ०	—९२० ००

निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए निर्धारित कार्यक्रम एवं सुझाव

तृतीय पचवर्षीय योजना-काल मे निर्यात के लक्ष्यो की प्राप्ति हेतु यह आवश्यक समझा गया है कि कृषि व उद्योगो के लक्ष्यो को यथाशक्ति पूरा किया जाये। जिन वस्तुओ की पूर्ति घरेलू तथा विदेशी मांग को पूरा करने के लिऐ अपर्याप्त है, उनके उपभोग की गति पर रोक लगाई जायेगी।

यह भी निश्चय किया गया है कि यथासम्भव आन्तरिक मूल्यो को स्थिर रखा जाएगा तथा उद्योगो को लाइसेंस देते समय बडे पैमाने की बचत का पूरा ध्यान रखा जायेगा। सीमेंट,

1. Source · India 1968 page No 340
2 See Draft outline of 4th plan
3. Estimated

जूट, साइकिल, रेयोन, विद्युत् मोटर व ट्रांसफॉर्मर आदि की उत्पादन लागतों को घटाने का प्रयास किया जायेगा।

हाल ही मे निर्यात को प्रोत्साहन देने हेतु राज्य द्वारा निम्न कदम उठाये गये हैं :

(१) **निर्यात (नियत्रण) आदेश**—(१९५८) मे परिवर्तन करके अक्टूबर, १९५२ से अधिकाश वस्तुओं को नियत्रण-मुक्त कर दिया गया है। कुछ विशिष्ट धातुओं, खनिज पदार्थो, तिलहनो के साथ-साथ गेहूं व गेहूं का आटा आदि ऐसी वस्तुएं हैं, जिनके निर्यात की अनुमति नही दी जायेगी। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तुएँ है, जिनका निर्यात एक सीमा तक मुक्त रहेगा। इनमे पशु, कोयला, रूई व रूई का कचरा, धातुएँ, खली, ऊन, प्याज, आलू आदि है। अन्य वस्तुओ के नियन्त्रण पर सामान्यत कोई प्रतिबन्ध नही रखा जायेगा।

(२) **व्यापार-बोर्ड की स्थापना**—मई, १९६२ मे सरकार ने निर्यात प्रोत्साहन परिपदो (नीचे देखिये) द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में किये गये प्रयासो की समीक्षा करने के लिए एक व्यापार बोर्ड की स्थापना की। इस बोर्ड के चार मुख्य कार्य है :[1] (अ) आन्तरिक तथा बाहरी व्यापार में न्यायपूर्ण व्यवहार को बढ़ाना, (ब) मुक्त व्यापार-क्षेत्रो की स्थापना, (स) निर्यात-क्षेत्र की स्थापना, जिसमें उन उद्योगो को रखना जिसका इस दृष्टि से महत्व है, एवं (द) कृषि व उद्योगो मे लागत कम करने के उपाय बताना। प्रत्येक कार्य के लिये बोर्ड ने उपसमितियां बनाई हैं।

इस बोर्ड के निर्देशन मे भारतीय वस्तुओ को विदेशो मे लोकप्रिय बनाने के व्यापक रूप से प्रचार किये जा रहे है।

(३) **निर्यात-प्रोत्साहन-निर्देशालय**—इसकी स्थापना विभिन्न उद्योगो से सम्बन्धित निर्यात को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से १९५७ मे की गई थी। १९६२ के अन्त तक १४ निर्यात प्रोत्साहन परिपदें बनाई जा चुकी हैं। ये परिपदें इन उद्योगो से सम्बन्धित हैं : (i) सूती वस्त्र, (ii) रेशम तथा रेयन, (iii) प्लास्टिक एव लिनोलियम, (iv) काजू व मिर्च, (v) तम्बाकू, (vi) खेल का सामान, (vii) रासायनिक व सम्बद्ध पदार्थ, (viii) चमडा; (ix) इजीनियरिंग का सामान, (x) अभ्रक (xi) मसाले, (xii) सामुद्रिक परिवहन-सम्बन्धी वस्तुएँ, एवं (xiii) तैयार किए हुए खाद्य।

मई, १९६४ मे सरकार ने निर्यात प्रोत्साहन तथा आयात सलाहकार परिपदो का एकीकरण करके इस निर्देशालय के अन्तर्गत उन्हें रख दिया है।

(४) निर्यात की जाने वाली वस्तुओ की प्रामाणिकता के लिए १९६३ मे निर्यात (किस्म-नियन्त्रण तथा निरीक्षण) अधिनियम [Export (Quality Control and Inspection) Act] पारित किया है। पहले यह कार्य निर्यात-निरीक्षण-परामर्शदात्री परिपद् करती थी तथा भारतीय मानक संस्था (ISI) इस कार्य में परिपद् की सहायता देती थी।

(५) **निर्यात जोखिम बीमा-निगम**—५ करोड़ रुपये की पूंजी से इस निगम की स्थापना जुलाई, १९५७ मे की गई थी। इस निगम का कार्य व्यावसायिक अथवा राजनैतिक हलचलों की जोखिम का बीमा करना है। निगम का मुख्य कार्यालय बम्बई मे है तथा मद्रास व कलकत्ता में इसने शाखाएँ खोली है।

(६) **अन्तर्राष्ट्रीय मेले एवं प्रदर्शनियाँ**—विभिन्न देशों मे भारत ने १५ व्यापार-केन्द्र भारतीय वस्तुओ के विषय मे जानकारी देने के लिये स्थापित किये हैं। व्यापारिक प्रचार के लिए भारत समय-समय पर प्रदर्शनियों का आयोजन करता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय मेलो में मंडप लगाता है। १९६२-६३ में १२ व्यापार-प्रदर्शनियो मे भारत ने भाग लिया। १९६३ मे मास्को मे आयोजित भारतीय प्रदर्शनी ने लाखो व्यक्तियो को लाभान्वित किया तथा भारतीय वस्तुओ का इससे काफी प्रचार हुआ।

---

1. India 1963 p. 296

अप्रैल-मई १९६४ मे न्यूयार्क मे आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय मेले मे भी भारतीय पडाल, जहां एक ओर लाखो दर्शको के लिए एक आकर्षण-केन्द्र था, वही दूसरी ओर इसने भारतीय वस्त्रो, गलीचो, काजू के पेडो व अन्य कलात्मक वस्तुओ के लिए अमरीकी जनता मे एक व्यापक मांग भी पैदा करदी है।

(७) **रेल-भाड़े में छूट**—निर्यात की जाने वाली वस्तुओ पर रेल-भाडे मे छूट दी जाती है तथा रिजर्व बैंक यदाकदा साख की भी व्यवस्था करता रहता है। १९६२ मे स्टेट बैंक ने निर्यात करने वाली सस्थाओं को ½% कम ब्याज पर ऋण देने की व्यवस्था की। व्यापारिक बैंको द्वारा दी गई साख की पुर्नवित्त की व्यवस्था भी की जाती है।

(८) **राज्य व्यापार निगम की स्थापना**—राज्य व्यापार निगम द्वारा मैंगनीज, क्रोम, अभ्रक, बॉक्साइड, लौह-धातु (Pig iron) व कोकिंग कोयले के निर्यात मे काफी वृद्धि की गई है। निगम की स्थापना मई, १९५६ मे ५ करोड रुपये की पूंजी मे की गई थी। जुलाई, १९५७ से कच्चे लोहे के निर्यात का काय-भार भी निगम ने अपने ऊपर ले लिया है। राज्य व्यापार निगम खनिज पदार्थों के अतिरिक्त कच्चा जूट, चाय, तम्बाकू, जूतो, जूट के थैलो और दस्तकारी की वस्तुओ केनिर्यात मे भी रुचि लेता रहा है। जनवरी से नवम्बर १९६२ तक राज्य व्यापार निगम ने २८·४ करोड रुपये की वस्तुओ का निर्यात किया तथा ४१·८ करोड रुपये की वस्तुओं का आयात किया। डा० वर्गीच ने राज्य व्यापार निगम के व्यापार की दो श्रेणियां बताई है : प्रथम श्रेणी मे वे वस्तुएं हैं, जिनके आयात व निर्यात मे निगम को एकाधिकार प्राप्त है। इस श्रेणी की निर्यात की वस्तुएं ये हैं : कच्चा लोहा तथा कच्चा जूट। निर्यात की वस्तुओ मे सोडा एश, कॉस्टिक सोडा, पोटाश व कच्चा रेशम शामिल हैं। दूसरी श्रेणी मे वे चीजें है, जिनका व्यापार निजी सस्थाओ से मिलकर किया जाता है। द्वितीय श्रेणी के आयात मे तांबा व निर्यात मे मैंगनीज, चमडा, हस्तकला की वस्तुएं, कपास, तम्बाकू व जूट की वस्तुएं शामिल है।[1]

नेशनल काउन्सिल ऑफ एप्लाइड एकॉनामिक रिसर्च ने यह आशा व्यक्त की है कि १९८१ तक भारत १८२९ करोड रुपये की वस्तुएं निर्यात करने लगेगा। काउन्सिल के मतानुसार उस समय तक भारत लगभग ४०० करोड रुपये का इस्पात तथा २०८ करोड रुपये का कच्चा लोहा निर्यात कर सकेगा। चाय, जूट की वस्तुओ तथा सूती वस्त्रो का अपेक्षित निर्यात क्रमश. १५५ करोड रुपये, १७० करोड रुपए व १५० करोड रुपये का होगा।[2]

काउन्सिल ने आशा व्यक्त की है कि १९८१ तक भारत पर्याप्त मात्रा मे मशीन टूल, स्टीम बाइलर, शक्ति-चालित पम्प, ट्रान्सफार्मर, विद्युत्-मोटर व परिवहन-सम्बन्धी वस्तुओ का निर्यात कर सकेगा। इसका यह अनुमान है कि इन यत्रो को सम्भावित निर्यात उस समय ११२ करोड रुपये का होगा। इसके अतिरिक्त काउन्सिल के मतानुसार रेडियो, सिलाई की मशीनो, रेफ्रीजरेटर, पखो, साइकिलो, मोटर साइकिलो व मोटरो का भी काफी मात्रा मे निर्यात किये जाने की सम्भावना है। इन उपभोग्य वस्तुओ (Consumers Durables) का निर्यात ५५-६० करोड रुपये का होने की आशा है।[3]

भारत के विदेशी व्यापार की रचना
(Composition of India's Foreign Trade)

किसी देश की व्यापार की रचना से अभिप्राय यह है कि वह देश किन-किन वस्तुओ का आयात तथा निर्यात करता है। जैसा कि उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है गत वर्षो मे भारत के विदेशी व्यापार की रचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

भारत के आयात की रचना (Composition of India's Imports)—बढ़ते हुए आयातो को रोकने के लिए हमारी सरकार ने आयात नियन्त्रण नीति का अनुकरण किया है।

1. E K Verghese . India's Foreign Trade (1964), p 96
2. N C A E R, Looking Ahead, Prospects of India's Economy & Trade in 1981, pp. 42-43—अभी भारत इस्पात का निर्यात करने की स्थिति मे नही है।
3. Ibid, pp. 62-63

किसी भी वस्तु के आयात के लिए पहले सरकार से आयात लाइसेंस लेना पड़ता है। कुछ ऐसी वस्तुएँ भी हैं, जिनका आयात निषेध कर दिया गया है। अतएव उनके आयात के लिए लाइसेंस प्राप्त नहीं होते। जैसे—मक्खन, पनीर, सिगरेट, साइकिलें टाइपराइटर, कांटे-छुरियाँ आदि। इसके विपरीत कुछ ऐसी भी वस्तुएँ है जिनके आयात पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रखा गया है। अतएव उन्हे खुले साधारण लाइसेंस (Open General Licence) सूची के अन्तर्गत स्पष्ट कर दिया गया है।

भारत के प्रमुख आयात—भारत मे जिन वस्तुओं का आयात किया जाता है उनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(१) **खाद्यान्न**—हमारा देश कृषि प्रधान होते हुए भी उसे खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है। इनके आयातों पर भारी धन व्यय होता है। इनके आयात की मात्रा दिनों दिन बढ़ती जारही है। खाद्यान्न मे गेहूँ व चावल का हमें अधिक मात्रा में आयात करना पड़ता है। गेहूँ का आयात मुख्यतः अमरीका से पी० एल० ४८० (P L. 480) के अन्तर्गत किया जाता है। इसके अतिरिक्त गेहूँ का आयात कनाडा व आस्ट्रेलिया से भी किया जाता है। चावल का आयात बर्मा, थाईलैंड, अमरीका आदि देशों से किया जाता है। सन् १९६६-६७ में (जून १९६६ से मार्च ६७ तक के वर्ष मे) हमारे देश ने ६७·३० करोड रु० के चावल का आयात किया गया जबकि पिछले वर्ष (सन् १९६५-६६) मे केवल ४१·९० करोड़ रु० के चावल का आयात किया था। इसी प्रकार १९६६-६७ (जून १९६६ से मार्च १९६७ तक के वर्ष में) गेहूँ का आयात ३४०·४६ करोड़ रु० का था जबकि सन् १९६५-६६ के वर्ष मे केवल २६४·७४ करोड रु० के गेहूँ का आयात किया गया।

(२) **खनिज तेल**—भारत मे खनिज तेल की कमी होने के कारण इसका आयात मुख्यतया ईरान, कुवैत, बर्मा, अमरीका तथा रूस से किया जाता है।

(३) **मशीनें**—विकास की बड़ी-बड़ी योजनाओ को कार्यान्वित करने के हेतु भारी मात्रा मे विदेशो से मशीनों का आयात किया जाता है। विभिन्न प्रकार की औद्योगिक मशीनें, बिजली की मशीनें तथा कुछ परिवहन उपकरणों का आयात किया जाता है। सन् १९६६-६७ मे मशीन तथा परिवहन सम्बन्धी उपकरणो का आयात ४७४·७२ करोड़ रु० का था। मशीनों का आयात मुख्यतः अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, जापान तथा रूस से किया जाता है।

(४) **रासायनिक पदार्थ**—उद्योगों के लिए विभिन्न प्रकार के रासायनिक पदार्थों का आयात किया जाता है। सन् १९६६-६७ मे लगभग १८५·३३ करोड रु० के रासायनिक पदार्थों का आयात किया गया। इनका आयात मुख्यत अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी तथा रूस आदि देशों से किया जाता है।

(५) **लम्बे रेशे की कपास**—भारत का विभाजन हो जाने के कारण विशेषत: लम्बे रेशे की कपास की भारी कमी हो गई है। इसकी आवश्यकता विशेषत अच्छे किस्म के कपड़े के निर्माण करने में पड़ती है। अतएव इसका आयात अमरीका, मिस्र व सूडान से किया जाता है। सन् १९६६-६७ (जून से मार्च तक) के वर्ष मे ५०·४३ करोड़ रु० की कपास का आयात किया गया था।

(६) **कच्चा जूट**—देश का विभाजन हो जाने के कारण भारत को कच्चे जूट का भी आयात करना पड़ता है ताकि मिलो की आवश्यकताओ को पूरा किया जा सके। सन् १९६६-६७ (जून से मार्च तक के वर्ष मे) के वर्ष में २०·२५ करोड़ रु० के कच्चे जूट का आयात किया गया था। इसका आयात पाकिस्तान से किया जाता है।

(७) **औषधियाँ**—देश की बढती माँग को ध्यान मे रखते हुए विदेशो से औषधियो का भी आयात किया जाता है। इसका आयात अमरीका, पश्चिमी जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशो से किया जाता है।

(८) **अन्य वस्तुओं का आयात**—उपर्युक्त वस्तुओ के अतिरिक्त हमारा देश और भी वस्तुओं का विदेशों से आयात करता है। इनमे से महत्वपूर्ण वस्तुयें अग्रलिखित हैं :

(i) ऊन, (ii) अलौह धातुएँ, (iii) इस्पात, (iv) पेट्रोल, (v) रेशमी कपड़ा, (vi) कागज, (vii) विद्युत का सामान आदि।

आयात के प्रमुख देश—भारत मुख्यत निम्नलिखित देशो से आयात करता है :

(१) सयुक्त राज्य अमरीका, (२) ब्रिटेन, (३) पश्चिमी जर्मनी, (४) रूस, (५) कनाडा, (६) जापान, (७) पूर्वी योरोप के साम्यवादी देश, आस्ट्रेलिया, इटली, सयुक्त अरब गणराज्य लका, मलाया, बर्मा व पूर्वी अफ्रीका के देश।

अवमूल्यन और आयात—अवमूल्यन करते समय हमारी सरकार को यह आशा थी कि निर्यातों की मात्रा मे पर्याप्त वृद्धि होगी, विदेशो से पर्याप्त सहायता मिलेगी और इस प्रकार आयात के सम्बन्ध मे कुछ उदार नीति का अनुकरण करना सम्भव हो सकेगा। किन्तु स्थिति आशा से बिलकुल विपरीत हुई। अतएव सरकार आयातो के मामले मे ज्यो का त्यो कडा रुख अपनाने के लिए बाध्य हुई है।

गत वर्षों में आयात के स्वरूप में परिवर्तन—गत वर्ष मे आयात के स्वरूप मे जो परिवर्तन हुए हैं वे निम्न तालिका के स्पष्ट है

कुल आयात के प्रतिशत के रूप मे आयातो का वर्गीकरण

वर्ग		प्रथम योजना में (१९५१-५६)	द्वितीय योजना में (१९५६-६१)	तृतीय योजना में (१९६१-६६)
१	पूँजीगत वस्तुएं	२८ ८	४२ २	३५ १
२	कच्चा माल	२४ ४	१७ ७	२१ २
३.	उपभोक्ता वस्तुएं	२२ ५	१९ ८	१५ ५
४	खाद्यान्न	१५ ६	१४ ९	२४ ५
५	अन्य वस्तुएं	८ ७	५ ४	३ ७

इस समय भारतवर्ष मे खाद्यान्न की विशेष रूप मे कमी होने के कारण आयातित वस्तुओ मे प्रथम स्थान खाद्यान्न एव खाद्य पदार्थों का है।

भारत के निर्यात की रचना (Composition of India's Exports)—निरन्तर बढते हुए आयातो की मात्रा से हमारी सरकार चिन्तित है। अतएव निर्यात नीति का सहारा लिया गया है। हमारी निर्यात नीति का प्रमुख उद्देश्य निर्यात की मात्रा मे वृद्धि करना, निर्यातको को प्रोत्साहन देना तथा अत्यन्त आवश्यकताओ की वस्तुओ को बाहर जाने से रोकना है। निर्यात में वृद्धि के लिए निर्यात सवर्धन आन्दोलन तेजी पर है। हर सम्भव तरीको से निर्यात बढाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

भारत के प्रमुख निर्यात—भारत से निर्यात होने वाली प्रमुख वस्तुएं निम्नलिखित हैं

(१) **चाय**—भारत से निर्यात होने वाली प्रथम पाच वस्तुओ मे चाय का प्रमुख स्थान है। विदेशी मुद्रा अर्जन करने मे चाय का महत्वपूर्ण योग है। भारतीय चाय का प्रमुख ग्राहक इगलैड है जो देश से निर्यात की गई कुल चाय का लगभग ६५ प्रतिशत भाग मँगा लेता है। भारतीय चाय के अन्य प्रमुख ग्राहक सयुक्त राज्य अमेरिका रूस कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, सूडान, अरब ईरान, आस्ट्रेलिया आदि हैं। सन् १९६६ ६७ के वर्ष मे (जून १९६६ से मार्च १९६७ तक) भारत ने १४६ ७१ करोड रु० की चाय का निर्यात किया। जबकि सन् १९६५-६६ के वर्ष मे भारत ने १०२ ६८ करोड रु० की चाय का निर्यात किया था।

(२) **जूट का सामान**—भारतीय जूट के सामान का सबसे बडा ग्राहक सयुक्त राज्य अमेरिका है जो भारत के कुछ जूट के सामान के निर्यात का लगभग ३० प्रतिशत भाग मँगवा लेता

है। इसके अतिरिक्त अर्जेन्टाइना, कनाडा, इंगलैंड, आस्ट्रेलिया, संयुक्त अरब गणराज्य, हांगकांग, ब्राजील, बेल्जियम, जापान आदि अन्य प्रमुख ग्राहक हैं। सन १९६६-६७ (जून से मार्च तक) के वर्ष मे भारत ने २०८·३८ करोड रु० के जूट के सामान का निर्यात किया जबकि सन् १९६५-६६ के वर्ष मे १८२·८४ करोड़ रु० के जूट के सामान का निर्यात किया गया था।

(३) सूती वस्त्र—भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओ मे सूती वस्त्र का विशेष स्थान है। विश्व मे भारत का वस्त्र-निर्यात की दृष्टि से दूसरा स्थान है। पहले भारत इगलैंड से कपड़ा आयात करता था किन्तु अब भारत थोड़ा कपड़ा इगलैंड को निर्यात करने लगा है। भारतीय वस्त्र के प्रमुख ग्राहक सिगापुर, बर्मा, लका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, मलाया, अफगानिस्तान, अदन, इथोपियां आदि है। सन् १९६६-६७ (जून से मार्च तक) के वर्ष में भारत ने ६१·५७ करोड रु० के सूती वस्त्रो का निर्यात किया जबकि पहले वर्ष मे (१९६५-६६) ६३·२९ करोड़ रु० के सूती वस्त्रों का निर्यात किया गया था। निर्यात की मात्रा मे कमी होने का प्रमुख कारण विदेशों से होने वाली (विशेषतः चीन) तीव्र प्रतिस्पर्धा का होना है।

(४) चमड़ा और खालें—इगलैंड, सयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, पाकिस्तान व योरोप के अन्य देश भारत से चमड़ा व खालें मँगवाते है। सन् १९६६-६७ (जून से मार्च तक) के वर्ष मे भारत ने ५१·३२ करोड रु० का चमडा तथा चमडे की वस्तुओ का निर्यात किया जबकि पिछले वर्ष मे (१९६५-६६) केवल २८·२१ करोड़ रु० की सामग्री का निर्यात किया गया था।

(५) कपास—भारत छोटे रेशे की कपास व रद्दी कपास का निर्यात करता है। जापान, इगलैंड, इटली व बेल्जियम इसके मुख्य ग्राहक हैं। सन् १९६६-६७ (जून से मार्च तक) के वर्ष मे भारत ने १४·२४ करोड रु० की कपास का निर्यात किया जबकि पिछले वर्ष (१९६५-६६) मे निर्यात का मात्रा १३·०९ करोड़ रु० की थी।

(६) वनस्पति तेल—इन दिनो भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओ मे वनस्पति तेल व अनउडनशील तेल का भी प्रमुख स्थान हो गया है। अदन, मलय सघ, साउदी अरब, बर्मा, इंगलैंड, आस्ट्रेलिया आदि हमारे प्रमुख ग्राहक हैं। सन् १९६४-६५ मे भारत ने ७·०५ करोड रुपए का वनस्पति तेल निर्माण किया।

(७) मैंगनीज—भारत विदेशो को मैंगनीज भी पर्याप्त मात्रा मे निर्यात करता है, किन्तु अब इसके निर्यात मे प्रति वर्ष कमी हो रही है। इंगलैंड, जर्मनी, सयुक्त राज्य अमेरिका, जापान आदि प्रमुख ग्राहक हैं। सन् १९६६-६७ (जून से मार्च तक) के वर्ष मे भारत ने ११·१२ करोड़ रु० की मैंगनीज का निर्यात किया जब कि पिछले वर्ष मे ११·०५ करोड़ रु० की मैंगनीज का निर्यात किया जबकि पिछले वर्ष मे ११·०५ करोड़ रु० की मैंगनीज का निर्यात किया गया था।

(८) अभ्रक—खनिज पदार्थों मे निर्यात होने वाली प्रमुख वस्तु अभ्रक है। संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, फ्रास, बेल्जियम आदि प्रमुख हैं। सन् १९६६-६७ के वर्ष मे भारत ने ११·९७ करोड़ रु० के अभ्रक का निर्यात किया जबकि पिछले वर्ष मे ११·२७ करोड़ रु० के अभ्रक का निर्यात किया गया था।

(९) मसाले—मसालो का निर्यात मुख्यत. योरोपीय देशो तथा सयुक्त राज्य अमरीका को किया जाता है। सन् १९६६-६७ के वर्ष में (जून से मार्च तक) २५·२२ करोड रु० के मसालो का निर्यात किया गया जब कि पिछले वर्ष मे २३·०९ करोड रु० के मसालो का निर्यात किया गया था।

(१०) तम्बाकू—तम्बाकू का निर्यात ब्रिटेन, रूस, योरोपीय साझा बाजार के देशो, मलाया, जापान आदि देशों को किया जाता है। सन् १९६६-६७ (जून से मार्च तक) के वर्ष में भारत ने लगभग १९·६५ करोड रु० की तम्बाकू का निर्यात किया।

(११) चीनी—भारत ने चीनी के निर्यात मे भी उल्लेखनीय प्रगति की है। चीनी का निर्यात संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, ब्रिटेन, जापान, मलाया, नेपाल, हांगकांग आदि देशो को किया जाता है। सन् १९६६-६७ के वर्ष मे भारत ने लगभग १५ करोड रु० की चीनी का निर्यात किया जबकि पिछले वर्ष मे ११·२ करोड रु० की चीनी का निर्यात किया गया था।

(१२) अन्य वस्तुएँ—उपर्युक्त वस्तुओ के अतिरिक्त भारत काजू, खली, आयरन और ऊन, लाख, कहवा, तिलहन, नारियल की जटा, छोटी-छोटी मशीनो तथा उपकरणों आदि का भी निर्यात करता है।

कुछ प्रमुख देशों के साथ भारत का विदेशी व्यापार

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार की दिशा मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। भारत का व्यापार पूर्वी यूरोप के देशो से (जिसमें रूस भी है) विशेष रूप से तीव्र गति से बढ रहा है। सयुक्त राज्य अमरीका से भी हमारा व्यापार तेजी से बढ रहा है। इसके अतिरिक्त भारत के व्यापार में ब्रिटेन का एकाधिकार समाप्त हो गया है। भारत का विदेशी व्यापार ससार के सभी प्रमुख देशो से होने लगा है, जिसका अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है

कुछ प्रमुख देशो से भारत का होने वाला विदेशी व्यापार

१९६६-६७ के वर्ष मे (करोड रुपयों मे

	देश का नाम	आयात	निर्यात
१	सयुक्त राज्य अमरीका	५२५	१४८
२	ब्रिटेन	१४९	१४६
३	पश्चिमी जर्मनी	१३७	१८
४	रूस	८३	९३
५	जापान	७९	५७
६	कनाडा	३१	२०
७	सयुक्त अरब गणराज्य	२०	२७
८	आस्ट्रेलिया	२४	१८
९	चैकोस्लोवाकिया	२१	१६
१०	मलयेशिया	२३	१२

आयात एवं आयात-नीति

एक नियोजित अर्थव्यवस्था होने के कारण यह आवश्यक है कि वस्तुओ के आयात पर राज्य का कठोर नियन्त्रण हो। सन् १९४८-४९ मे उदार आयात नीति के लिए भारत को भारी कीमत चुकानी पड़ी थी। १९५०-५१ तथा १९५५-५६ मे आयात नीति के कारण ही भारत का व्यापार सतुलन काफी प्रतिकूल हो गया था। १९५६-५७ मे ११०० करोड रुपए का निर्यात होने के कारण भारत को ४६४ करोड रुपए से अधिक का घाटा हुआ और विनिमय कोषों मे २२१ करोड रुपए की कमी आ गई।

विदेशी विनिमय सकट १९५७ मे काफी गम्भीर हो गया और फलस्वरूप १९५७ के मध्य से ही आयात नीति काफी कठोर बना दी गई। लेकिन इन पाबन्दियों के उपरान्त भी १९५७-५८ में आयात १२०४ करोड रुपए के हो गए और व्यापार का घाटा ६१० करोड रुपए का हुआ तथा विदेशी विनिमय कोष मे २६० करोड रुपए की कमी हो गई। वस्तुत जैसाकि श्री बोस मानते हैं, आयात नियन्त्रण आज आर्थिक नियोजन का एक अग है, क्योंकि इससे भुगतान सतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। आयात-नियन्त्रण का विश्लेषण करने के पूर्व तीन श्रेणियों का ज्ञान प्राप्त होना आवश्यक है :

(१) अनावश्यक उपभोग्य वस्तुएँ, (२) व्यवस्था कायम रखने वाली वस्तुएँ तथा (३) विकास कार्यों मे आने वाली वस्तुएँ।[1]

1 S K Bose . Some Aspects of Indian Eco Development Vol II p 238

व्यवस्था कायम रखने वाली वस्तुओं में औद्योगिक इकाइयों की कार्यक्षमता बनाए रखने वाली वस्तुएँ सम्मिलित हैं। विकास कार्यों के लिए शक्ति व परिवहन से सम्बन्धित उपकरण तथा कच्चे माल का निर्यात आवश्यक है, लेकिन यथासम्भव अनावश्यक उपभोग्य वस्तुओं के आयात पर सरकार प्रतिबन्ध लगा रही है। अवधि के अनुसार आयात-नियन्त्रण के क्रम को ६ भागों में बाँटा जा सकता है[1]

(i) १९४७ से जून, १९४८ तक नियन्त्रण तथा आयात में कटौती की अवधि थी।

(ii) १९४८ से जून, १९४९—उपभोग्य तथा औद्योगिक वस्तुओं के आयात में काफी उदारता रखी गई।

(iii) जुलाई, १९४९ से जून, १९५४—डालर क्षेत्रों से व्यापार प्रतिकूल रहने के कारण अवमूल्यन किया गया तथा आयात पर कड़े प्रतिबन्ध लगाए गए।

(iv) १९५४ से दिसम्बर, १९५६—मशीनों, पूंजीगत वस्तुओं व कच्चे माल के नहीं, अपितु उपभोग्य वस्तुओं के आयात में उदारता बरती गई।

(v) १९५७ से १९६१—विदेशी विनिमय संकट के कारण पुनः आयात पर नियन्त्रण प्रारम्भ हुए।

उपरोक्त पाँचों अवधियों में परिस्थितियों के अनुसार सरकार आयात में छूट देती रही। निम्न तालिका इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि १९५७ से सरकार की आयात नीति बहुत अधिक नियन्त्रित हो गई है :

अवधि	आयात नीति की प्रवृत्ति मुक्त सामान्य लाइसेंस वाली वस्तुओं की संख्या	पूर्णतया प्रतिबन्ध वाली वस्तुओं की संख्या
जुलाई-दिसम्बर, १९५२	१५३	२००
जुलाई-दिसम्बर, १९५६	१०९	१५३
अक्टूबर, १९६० से मार्च, १९६१	०	७३०

सरकार की वस्तुतः यह नीति है कि औद्योगिक वस्तुओं के आयात की अनुमति दी जाय तथा उपभोग्य वस्तुओं के आयात पर रोक लगाई जाय।

(vi) १९६२-६३ से १९६४-६५—१९६२-६३ तथा १९६३-६४ की आयात नीतियाँ पूरे वर्ष-भर के लिए घोषित की गई। १९६२-६३ में परिवार नियोजन के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए निरोधक औषधियों के आयात पर छूट दी गई जबकि हथियारों आदि १० वस्तुओं का आयात बन्द कर दिया गया। १९६२-६३ में सहकारी संस्थाओं को आयात लाइसेंस अधिक दिए गए तथा लाइसेंस देने के कार्य को गति प्रदान करने के लिए प्रमुख बन्दरगाहों पर विशेष व्यवस्था की गई। १९६२-६३ में संकटकालीन स्थिति होने के कारण अक्टूबर, १९६२ से मार्च, १९६३ तक पूरक-लाइसेंस रद्द कर दिए गए तथा सहकारी संस्थाओं के पूरक-लाइसेंस में ५० प्रतिशत कटौती की गई।

१९६३-६४ में कुछ उदार नीति बरती गई तथा ७९ वस्तुओं पर विद्यमान आयात-प्रतिबन्ध में कमी की गई, जबकि १५ वस्तुओं के आयात पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाए गए।[2]

१९६४-६५ के लिए आर्थिक विकास एवं आवश्यक उपभोग के अतिरिक्त प्रतिरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की आयात नीति में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यही नहीं, जिन उद्योगों का निर्यात से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है उनके लिए आवश्यक उपकरण मँगाने में भी उदारता बरती जाएगी। १९६४-६५ में सहकारी संस्थाओं को आयात लाइसेंस केवल विशिष्ट वस्तुओं के लिये

1. Ibid pp. 239, 41
2 For 1962-63 & 1963-64 figures See India 1963, pp 249-5

ही दिए जाएँगे। वर्तमान नीति मे १७ वस्तुओ के आयात मे छूट दी गई है तथा अन्य १७ वस्तुओ के आयात मे स्थायी आवश्यकताओ को अधिक कोटे (Quotas) दिए जाने की घोषणा की गई है। १२ वस्तुओं के आयात पर पूर्ण रोक लगा दी गई है।

व्यापार-समझौते

(Trade Agreements)

ब्रिटिश शासन-काल—साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) १९०२ के औपनिवेशिक सम्मेलन मे यह निश्चय किया गया कि ब्रिटेन से आने वाली वस्तुओ पर सभी उपनिवेश रियायती कर लगाएँगे और इसी प्रकार निर्यात मे भी छूट दी जायगी। परन्तु भारत को साम्राज्य अधिमान से कोई लाभ नही था और इसलिए भारत अन्य उपनिवेशों का साथ नही दे सका। १९२३ तक भारत ने मुक्त व्यापार की नीति बरती।

१९३२ मे ओटावा (कनाडा) मे पुन साम्राज्य आर्थिक सम्मेलन हुआ तथा साम्राज्य के देशो मे परस्पर अधिमान के आधार पर अनेक समझौते हुए। भारत ने ७½ से १० प्रतिशत अधिमान-कर के आधार पर इगलैड से व्यापार समझौते किए और इससे भारत के निर्यात मे वृद्धि हुई। लेकिन ओटावा-समझौते के कारण भारत की विदेशी व्यापार मे सौदा करने की शक्ति नष्ट हो गई। प्रो० अलक घोष के मत मे यह समझौता भारत की अपेक्षा इगलैड के लिए अधिक लाभप्रद था।[1]

१९३३ मे बम्बई मिल मालिक सघ तथा ब्रिटिश टैक्सटाइल मिशन के बीच इसी प्रकार एक समझौता हुआ जिसे मोदी लीज पैक्ट कहा जाता है। इसके अनुसार इगलैड से आने वाले कृत्रिम रेशम व सूत पर निम्न प्रमाप मे कर लेने तथा अन्य वस्त्रो पर प्रशुल्क की स्थिरता बनाए रखने का निश्चय किया गया था।

१९३६ मे धारा सभा ने ओटावा समझौते का रद्द कर दिया तथा १९३९ मे आग्ल भारतीय व्यापारिक समझौता हुआ। इसके अनुसार भारत ने इग्लैड से आने वाली २० वस्तुओ को ७½ से १० प्रतिशत तक अधिमान देने का निश्चय किया। इगलैड ने कुछ वस्तुओं को अधिमान देने का तथा कुछ को मुक्त रूप से आयात करने का वादा किया।

१९३४ मे जापान के साथ भारत ने व्यापार-समझौता किया था तथा इस समझौते के अनुसार कुछ विशिष्ट प्रकार के वस्त्रो के आयात पर करो की दरें निर्धारित की गई। दूसरी ओर जापान द्वारा समझौते के अनुसार कपास खरीदने का निर्णय किया गया। १९३७ मे एक नया समझौता जापान के साथ हुआ। इसी प्रकार १९४१ मे बर्मा व भारत के बीच व्यापार समझौता हुआ।

लेकिन १९४७ तक भारत अन्य देशो के साथ व्यापार-समझौते करने की स्थिति मे नही था तथा ब्रिटिश सरकार सभी समझौते मे आग्ल व्यापारियो तथा राजकीय कोष के हित को प्राथमिकता देती थी।

स्वतन्त्रता के पश्चात—स्वतन्त्रता के पश्चात निर्यात के लिए अधिक बाजारो की खोज हेतु अनेक प्रयास किए गए और उनमे एक प्रयास यह भी था जिसके अनुसार भारत सरकार ने अनेक व्यापार समझौतो पर हस्ताक्षर किए हैं। १९४८-४९ मे दस देशो के साथ व्यापार समझौते किए गये।

१९४८ मे लागू किये जाने वाले व्यापार तथा प्रशुल्क सामान्य समझौते (G A T T) पर भारत ने भी हस्ताक्षर किए। इस समझौते के अनुसार भारत ने सदस्य देशो को जहाँ व्यापार के प्रशुल्क मे छूट दी है वही भारत को भी समान रूप से इस प्रकार की छूट प्राप्त हुई है। अनुमानत समझौते वाले देशो को जाने वाली ५०% वस्तुओ पर भारत को यह छूट मिली

---

1 Alak Ghosh p 518

हुई है। इस समझौते के अनुसार प० जर्मनी ने दिसम्बर १९५९ में भारत से जाने वाली जूट की वस्तुओं पर से प्रतिबन्ध हटा लिया। १९५९ में ही जी० ए० टी० टी० के १५वें अधिवेशन मे अल्पविकसित देशो (जिनमे भारत भी है) के आयात व निर्यात मे व्यापार प्रतिबन्धो को कम करने या हटा देने का निश्चय किया गया।

१९५० के बाद से सोवियत रूस, पोलैंड, हालैंड, ईरान, इथोपिया, ईराक, जापान, हंगरी, सयुक्त राज्य अमरीका, यूनान, चीन, इन्डोनेशिया, वियतनाम, इटली, स्विटजरलैंड, बल्गेरिया, पूर्वी तथा पश्चिमी जर्मनी, फ्रास व यूगोस्लाविया आदि देशो से भारत ने व्यापार-समझौते किए है। पाकिस्तान, मोरक्को, ट्यूनिशिया व नेपाल से भी नवीन समझौते के अन्तर्गत भारत ने व्यापार सम्बन्ध स्थापित किए हैं। मार्च, १९६१ तक २६ व्यापार व भुगतान समझौते प्रचलन मे थे।

भारत के लिए निर्यात व्यापार का विस्तार करने तथा नए व्यापार समझौते के लिए १९६४ के प्रारम्भ मे विदेशी व्यापार मत्री श्री मनुभाई शाह ने अनेक देशो का दौरा किया। विदेशी व्यापार की शर्तो को अधिक आसान बनाने के लिए भारत यूरोपियन साझा बाजार के देशो से आग्रह कर रहा है, ताकि वे भारतीय वस्तुओ के साझा बाजार मे प्रवेश पर कुछ छूट दे सके तथा साझा बाजार से आने वाली वस्तुओ पर लग करो मे कटौती कर सके।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तो को अधिक अनुकूल बनाने के लिए भारत ने जेनेवा मे मार्च-अप्रैल मे होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अधिवेशन (केनेडी राउण्ड) में भी भाग लिया तथा अल्पविकसित देशो को अधिक रियायत देने की अपील की।

आशा है इन व्यापार-समझौतो तथा अन्य सम्बद्ध प्रयासो के कारण आवश्यक वस्तुओ को भारत सुविधापूर्वक रियायती प्रशुल्क के साथ प्राप्त कर सकेगा तथा साथ ही भारतीय वस्तुओं के निर्यात में काफी वृद्धि की जा सकेगी।

भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएँ

(१) **भारत का विदेशी व्यापार राष्ट्रीय आय की तुलना में बहुत कम है।** श्री बोस द्वारा प्रस्तुत एक तालिका के अनुसार राष्ट्रीय आय की तुलना मे बहुत कम है। आयात तथा निर्यात को मिलाकर श्रीलका का विदेशी व्यापार राष्ट्रीय आय का ७०% है जबकि कनाडा, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया व भारत मे यह अनुपात क्रमशः ४२%, ३९%, ३२% व १२% है। पश्चिमी जर्मनी मे यह अनुपात ४१ प्रतिशत है, लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका मे केवल ८ प्रतिशत ही है। इसका यह अर्थ है कि भारत का विदेशी व्यापार बहुत कम होता है।[1]

(२) **भारत का विदेशी व्यापार कुछ ही देशो तक सीमित है**—विदेशी व्यापार के विवरण को देखने पर ज्ञात होता है कि भारत के आयात का अधिकाश भाग अमरीका व ब्रिटेन से प्राप्त होता है। आयात का लगभग ४५ प्रतिशत इन्ही देशो से आता है। इसी प्रकार निर्यात में भी ब्रिटेन व अमरीका को ४० प्रतिशत वस्तुएँ (मूल्य के आधार पर) भेजी जाती हैं।[2] यह वस्तुत कमजोरी है, क्योकि भारत अमरीका व ब्रिटेन पर ही अनिश्चित काल के लिए निर्भर नही रह सकता। यही कारण है कि कुछ वर्षो से भारत ने नए बाजारो की खोज प्रारम्भ कर दी है।

(३) भारत के आयात व निर्यात मे कुछ ही वस्तुओ की प्रधानता रहती है। उदाहरण के लिए जूट की वस्तुओ चाय तथा सूती वस्त्र का १९६३-६४ के निर्यात मे ३७ ५ प्रतिशत अनुपात था। इसी प्रकार आयात के क्षेत्र मे इस वर्ष अनाज व विद्युत यन्त्रो को मिलाकर जो मशीने मँगाई गई उनका कुल आयात मे अनुपात ४३ प्रतिशत था।[3] इजीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात १९६३ मे २ प्रतिशत से कम था।

---

1. Ibid, p. 266
2. India 1963 pp. 298-9
3. Journal of Industry & Trade (April 1964) pp 708 & 712

(४) विदेशी व्यापार मे भारतीय सस्थाएँ आज भी उत्साहपूर्वक भाग नही ले रही हैं। फलस्वरूप विदेशी व्यापार का अधिकाश लाभ विदेशी सस्थाएँ ले लेती हैं। डा० वर्घीज के मत में आज भी (१६५८ के आँकडो पर आधारित) २९ प्रतिशत निर्यात व्यापार तथा ३३ प्रतिशत आयात व्यापार विदेशी सस्थाओ द्वारा किया जाता है। उनके कथनानुसार चाय के निर्यात का ६५ प्रतिशत विदेशियो के हाथ मे केन्द्रित है।[1]

(५) भारत का अधिकाश विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग से होता है। विभाजन के पश्चात् स्थल मार्ग से भी मध्य एशिया के देशो से भारत का व्यापार होने लगा है, तथापि ९०-९५ प्रतिशत वस्तुएँ समुद्री मार्ग से आती हैं।

(६) भारत के विदेशी व्यापार की एक बडी विशेषता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे मुद्रा-स्फीति होने पर भी भारतीय निर्यात-कर्ताओ को अधिक मूल्य नही मिल पाता, जबकि बाहर से आने वाली वस्तुओ के बदले भारत को अपेक्षाकृत अधिक मूल्य देना पडता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत से निर्यात को जाने वाली वस्तुओ को भारी स्पर्धा का सामना करना पडता है, जबकि आयात की वस्तुएँ भारत के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। फलस्वरूप भारत की सौदा करने की क्षमता क्षीण हो गई है।

(७) भारत के निर्यात मे पिछले दस वर्षो में जो वृद्धि हुई है, वह बहुत से अल्पविकसित देशो की अपेक्षा भी बहुत कम है। एक अध्ययन के अनुसार १९५०-६० के मध्य भारतीय निर्यात मे केवल १ ३ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि थाइलैंड व बर्मा मे यह वृद्धि क्रमशः ६ ४ प्रतिशत व ५ ८ प्रतिशत थी। पाकिस्तान के नियात व्यापार मे इस अवधि मे १ ८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। स्पष्ट है, भारत की वस्तुओ के निर्यात मे आशानुरूप वृद्धि नही हो सकी है।[2]

लेकिन पिछले २०-२५ वर्षों से जो प्रवृत्तियाँ विदेशी व्यापार मे चल रही हैं, वे शुभ हैं तथा उनके कारण भारत का विदेशी व्यापार काफी विकसित हो सकेगा, ऐसी आशा है। वे प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं

(१) **व्यापार की बनावट में अन्तर**—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व, जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, भारत के निर्यात मे ७० प्रतिशत खाद्यान्न व तम्बाकू तथा कच्चे माल का होता था। आज तैयार वस्तुओ, विशेष रूप से जूट की वस्तुओ नारियल के रेशे से बनी वस्तुएँ, चमडे की बनी वस्तुओ तथा अन्य तैयार वस्तुओ का निर्यात काफी मात्रा मे किया जाने लगा है। कच्चे माल मे जहाँ कपास व जूट का निर्यात १९३८-३९ तक ३७ करोड रुपये का था, आज जूट का निर्यात बन्द कर दिया गया है तथा केवल ९-१० करोड रुपये की कपास बाहर भेजी जाती है। आज तैयार वस्तुओं का कुल निर्यात मे अनुपात ४० प्रतिशत है, जबकि १९३८-३९ तक यह केवल २९ प्रतिशत था। चाय का निर्यात पिछले २५ वर्षों म ५ गुना हुआ है। जूट की वस्तुओ का निर्यात भी लगभग इतना ही बढा है। यही नही, जहाँ भारत पहले इंजीनियरिंग की वस्तुओ का निर्यात नहीं करता था, आज लगभग १० करोड रुपये की इजीनियरिंग की वस्तुओ का निर्यात किया जाने लगा है तथा अफ्रीका व मध्य एशिया मे भारतीय वस्तुओ की माँग बढ रही है।

आयात के क्षेत्र मे भी पिछले २०-२५ वर्षों मे काफी परिवर्तन हुए हैं। ऊपर हम यह देख चुके हैं कि भारत द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक ६१ प्रतिशत तैयार वस्तुएँ, १६ प्रतिशत खाद्य पदार्थ (तम्बाकू को मिलाकर) तथा २२ प्रतिशत कच्चा माल मँगाता था। १९५२-५३ तक भारत की खाद्य स्थिति विकट होने के कारण उपभोग्य वस्तुओ का अनुपात ४१ प्रतिशत तक बढ गया था। लेकिन आज उपभोग्य पदार्थों का कुल अनुपात १८ प्रतिशत है तथा तैयार वस्तुओ का आयात केवल भारी व विद्युत् यन्त्रों के कारण अधिक हो रहा है। विदेशी वस्त्र एव अन्य उप-

1 Dr. Verghese ibid, pp 111 & 198
डा० वर्घीज के मतानुसार निर्मित वस्तुओ के आयात का ६२ प्रतिशत इन विदेशी सस्थाओ के माध्यम से आता है।
2 ECAFE Bulletin, ibid, p. 10

भोग्य वस्तुओं का आयात लगभग बन्द कर दिया गया है। इस्पात व मशीनों का अनुपात आज कुल आयात का लगभग ३७ प्रतिशत है, जबकि द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यह गौण था। एक अन्य विवरण के अनुसार विश्व की कुल चाय की माँग का १९५० में भारत द्वारा ४६ प्रतिशत पूरा किया जाता था, परन्तु १९६० तक भारत का यह अनुपात घटकर ३८ प्रतिशत रह गया।[1]

(२) **व्यापार की दिशा में परिवर्तन**—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार पर ब्रिटेन छाया हुआ था। भारतीय वस्तुओं के निर्यात का $\frac{1}{3}$ तथा आयात का लगभग ३९ प्रतिशत इंगलैंड के साथ सम्पन्न होता था। कुल निर्यात का ९ प्रतिशत अमरीका को जाता था तथा ७ प्रतिशत आयात वहाँ से प्राप्त होते थे। जापान आज से २५ वर्ष पूर्व भारत के विदेशी व्यापार के १५-१६ प्रतिशत अनुपात का भागीदार था। १९५२ तक ब्रिटेन को निर्यात का केवल २० प्रतिशत जाने लगा। इसी प्रकार आयात में भी इस वर्ष ब्रिटेन से केवल १८ प्रतिशत वस्तुएँ (मूल्य के रूप में) प्राप्त हुईं। अमरीका ने निर्यात का १९ प्रतिशत प्राप्त किया तथा कुल आयात में से ३५ प्रतिशत वस्तुएँ वहाँ से आईं।[2]

१९६१-६२ तक निर्यात में अमरीका, ब्रिटेन व जापान के अतिरिक्त रूस भी एक भागीदार हो गया। इन देशों का कुल अनुपात क्रमशः २४ प्रतिशत; १७·५ प्रतिशत; ५ ५ प्रतिशत तथा ५ प्रतिशत था।[3] आयात के क्षेत्र में आज अमरीका का अनुपात सर्वाधिक है जहाँ से कुल आयात का (१९६१-६२ में) २२·५ प्रतिशत प्राप्त हुआ। ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी व जापान का क्रमश १९ प्रतिशत, ११·१ प्रतिशत तथा ५·५ प्रतिशत है। ईरान से भी भारत पर्याप्त मात्रा में तेल मँगा रहा है। इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों में विदेशी व्यापार में न केवल भारत के सम्बन्ध बहुत से देशों से जुड़े है, बल्कि पश्चिमी जर्मनी, रूस व अमरीका के हम अधिक निकट आ रहे है।[4]

पिछले ५-६ वर्षों में यूरोपीयन साझा बाजार से भी भारत का व्यापार बढा है। कॉफी व काली मिर्च के कुल निर्यात का १०% इन देशो को जाता है। गुलाब की लकडी का ९०% साझा बाजार वाले देश खरीदते है। निर्यात में इनका अनुपात १९५८ में जहाँ ६ ६% था, १९६२-६३ मे बढकर ७ १% हो गया।[5]

१९६२ ६३ में कुल निर्यात का १६ ६% अमरीका को तथा २३% इंगलैंड को भेजा गया था। इसके विपरीत कुल आयात में से २८% अमरीका से तथा क्रमश १६% एवं ८ ६% इंगलैंड व पश्चिमी जर्मनी से प्राप्त किए गए। यूरोप के देशों से (यूगोस्लाविया को छोडकर) व्यापार सतुलन विपक्ष में तथा अफ्रीकी देशों से अधिकांशत पक्ष में रहा था।[6]

(३) **व्यापार सन्तुलन में परिवर्तन**—जैसाकि हम ऊपर देख चुके है, द्वितीय महायुद्ध काल में भारत का व्यापार सन्तुलन पक्ष में था लेकिन स्वतन्त्रता के पश्चात् मे व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल चल रहा है तथा इसके कम-से-कम १९७० तक प्रतिकूल रहने की आशंका है।

फिर भी जिन महत्वपूर्ण वस्तुओं का हम अधिक मात्रा मे आयात कर रहे हैं, वे निश्चित रूप से भारत को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बन प्रदान करेंगी और दूसरी ओर कालान्तर में भारत के निर्यात-व्यापार में वृद्धि करेंगी। प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन चिन्ता का विषय अवश्य है, पर इसके बल पर ठोस एवं प्रगतिशील अर्थव्यवस्था का यदि निर्माण किया जाय तो भय की कोई आवश्यकता नही है।

(४) **राज्य की व्यापार-नीति में परिवर्तन**—स्वतन्त्रता के पूर्व ब्रिटिश सरकार की व्यापार-नीति तटस्थतापूर्ण ही थी। कतिपय व्यापार-समझौतो के अतिरिक्त सरकार ने कोई ऐसा

1. S K. Verghese, ibid, p 196
2 The Sixth Year, ibid, p 105
3. India 1963, p 298
4. Ibid, p. 299
5. Eastern Economist, 10th January, 1964, p 48
6. Journal of Trade & Industry, June, 1964

कदम नही उठाया, जिससे भारत मे ठोस औद्योगिक व्यवस्था का निर्माण सम्भव होता अथवा देश की वस्तुओं का निर्यात दीर्घ काल में भी बढ़ पाता। यह एक हर्ष का विषय है कि भारत सरकार कुछ वर्षों से एक ओर केवल ऐसी वस्तुओ के आयात की अनुमति दे रही है, जिनका देश के औद्योगिक विकास, प्रतिरक्षा अथवा दीर्घकालीन निर्यात से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, जबकि दूसरी ओर विभिन्न उपायो द्वारा निर्यात को बढावा दे रही है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विदेशी व्यापार

यह अनुमान लगाया गया है कि चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे १०,०५० करोड रु० के आयात की आवश्यकता होगी। इसमें से ७८३० करोड रुपये आयातों का भरण-पोषण करने (Maintenance Imports), १३०० करोड रु० योजना कार्यो के लिए यत्रों का आयात करने तथा ३०० करोड रुपये खाद्यान्न का आयात करने पर व्यय करने की व्यवस्था है। वार्षिक आयात लक्ष्य घटकर २०३० करोड रु० रह जायगा। यह कमी खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता बढाकर प्राप्त होगी। यह आशा की जाती है कि चतुर्थ योजना में निर्यात से ८,३०० करोड रु० की आय होगी। इसके लिए योजना काल मे निर्यात को योजना के अन्तिम वर्ष में १९०० करोड रु० तक पहुँचाने का आयोजन है। इस प्रकार योजनाकाल मे प्रति वर्ष निर्यात में ७% वार्षिक वृद्धि का आयोजन है। इस निर्यात लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निम्न साधनों का उपयोग किया जायगा :— (i) देश के निर्यातित वस्तुओं के उत्पादन आधार का विस्तार। (ii) जब तक पर्याप्त उत्पादन नहीं होता तब तक खपत पर अस्थायी नियन्त्रण लगाना। (iii) किस्म नियन्त्रण को सख्ती से लागू करना। (iv) उत्पादन की लागत मे कमी करना। (v) विदेशी माल को पूरा करने के लिए उत्पादन-प्रणाली मे सुधार करना। (vi) निर्यात वृद्धि के लिए नये-नये बाजारों की तलाश करना तथा पुराने बाजारो मे स्थिति को सुदृढ बनाना।

भविष्य :[1]

सन् १९६९ के प्रथम ६ महीनो मे निर्यात की कुल मात्रा ६८३ ८६ करोड रु० थी जबकि पिछले वर्ष में (१९६८) यह ६०४ २९ करोड रु० थी। इसी प्रकार इन ६ महीनों (जनवरी-जून ६९) मे आयात की मात्रा ७६३ १३ करोड रु० थी जबकि पिछले वर्ष में इसी अवधि मे १,०४४ २ करोड रु० के माल का आयात किया गया था। इन आँकडों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी व्यापार की दशा मे हमारा भविष्य उज्जवल है।

---

1. See Economic Times at 16-8-1969

४४

भारत में यातायात के साधन–रेलवे

(Means of Transport in India—A Study, with Special Reference to Railways)

प्रारम्भिक—यातायात के साधनों का महत्व

प्रत्येक देश के आर्थिक विकास मे यातायात के साधनों का एक विशेष महत्व होता है। किसी विद्वान ने सत्य ही कहा है कि यदि कृषि तथा उद्योग किसी देश की अर्थव्यवस्था मे शरीर व हड्डियो के समान है तो यातायात के साधन (रेलें तथा सडकें आदि) शिराएँ एवं धमनियो का कार्य करती है। श्री जी० डी० दफ्तरी के मत मे भोजन, वस्त्र, मकान एव यातायात आदि चार आधारभूत मानवीय आवश्यकताएँ हैं, लेकिन इनमे यातायात का महत्व सर्वाधिक है क्योकि इनके द्वारा अन्य आवश्यकता की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पूर्ति होती है।[1] आज के युग मे जबकि मनुष्य उत्पादन अपने तथा अपने परिवार की ही नही, अपितु दूर-दूर तक तक के उपभोक्ताओ की जरूरतों को पूरा करने के लिये करता है, यातायात के साधनो की उपलब्धि अत्यन्त आवश्यक है। प्रो० किण्डलबर्जर के मत मे विभिन्न बाजारो को यातायात के साधनो द्वारा सूत्रबद्ध करना आर्थिक विकास की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है।[2]

कृषि पदार्थों को मडी तक लाने तथा औद्योगिक कच्चे माल को कारखाने तक, तथा तैयार माल को बाजार तक पहुँचाने के लिए सडकों, नहरो या रेलो का विकसित स्थिति मे होना अनिवार्य है। यही नही, इन साधनो का विकास श्रमिको के आवागमन हेतु भी आवश्यक है। प्रो० सैलिगमैन के कथनानुसार वह देश सर्वाधिक उन्नत है जहाँ श्रम व साधनों के परिवहन, शक्ति के सचार एव विचारों के प्रसार आदि तीन क्षेत्रो मे पर्याप्त विकास हो जाता है। डा० जॉन्सन यातायात के साधनों की आवश्यकता केवल वस्तुओ व श्रमिको के आवागमन हेतु ही नही मानते हैं, अपितु कुशल शासन-व्यवस्था, देश मे शान्ति व सुरक्षा, अकाल सहायता, जनसंख्या के सतुलित वितरण, व्यापार के विकास, नगरो के विकास तथा मूल्यो के समस्त देश मे समान होने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिये भी यातायात के साधनो के विकास को अनिवार्य मानते हैं।[3] यातायात के साधनो से प्रो० लॉकलिन ने अग्रलिखित लाभ और बताए हैं[4] :

---

1. Foreword to A Design for the Layout of Indian Transport & Communication System by G. B. Drodikar (Bombay) 1949
2. Kindleberger : Economic Development, p. 96
3 J. Johnson : The Economics of Indian Rail Transport (Alled— 1963) p. I
4. Locklin Economics of Transportation (Irwin) pp. 2-9

(i) वस्तुओं की सामयिक पूर्ति, (ii) मूल्यों में स्थिरता लाना, (iii) क्षेत्रीय श्रम-विभाजन एवं उत्पादन में विशिष्टता होना, (iv) वृहत्स्तरीय उत्पादन में सहायता, (v) प्रतियोगिता को देशव्यापी और यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बनाना तथा (vi) शहरीकरण।

यातायात के साधनों को चार मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है : रेलें, सड़कें, जल-यातायात एवं वायु-यातायात। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, अन्य अल्पविकसित देशों की भाँति इस क्षेत्र में भी भारत अन्य देशों की अपेक्षा काफी पिछड़ा हुआ है। रेलों, सड़कों व यातायात के अन्य क्षेत्रों में भारत की प्रगति स्वतन्त्रता के पूर्व तक सतोषप्रद नहीं थी। प्रस्तुत अध्याय में हम केवल रेलों के क्रमिक विकास के विषय में अध्ययन करेंगे तथा तत्पश्चात् रेलों के प्रभावों तथा रेल-यातायात की प्रमुख समस्याओं का भी अध्ययन किया जाएगा। लेकिन सुविधा के लिए पहले यह बताने का प्रयास किया जायगा कि रेलों का प्रारम्भ होने से पूर्व भारत में यातायात के साधनों की क्या स्थिति थी तथा किन परिस्थितियों में रेलों का भारत में विकास किया गया।

ब्रिटिश शासन के पूर्व यातायात की व्यवस्था

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत की यातायात-व्यवस्था अत्यन्त पिछड़ी हुई थी। वस्तुतः उत्पादन का स्तर अत्यन्त छोटा होने के कारण वस्तुओं का विनिमय भी सीमित था और फलस्वरूप सड़कों, रेलों अथवा जलमार्गों का उपयोग भी बहुत कम होता था। इस देश की अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती थी और ये गाँव स्वावलम्बी इकाइयों के रूप में थे। गाँवों का वाह्य जगत से आर्थिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध भी सीमित ही था। इन्हीं कारणों से यातायात के साधनों का विस्तार करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इतिहास में यद्यपि गुप्त, मौर्य व हिन्दू सम्राटों, शेरशाह सूरी तथा मुगल सम्राटों द्वारा सड़कों के निर्माण का वर्णन मिलता है, तथापि इन सड़कों के निर्माण हेतु कोई निश्चित नीति नहीं थी और न ही ये सड़कें स्थायी होती थी।

डा० बुकेनन का कथन है कि १८वी शताब्दी तक भारत की अधिकांश जनता एकाकी गाँवों में निवास करती थी तथा विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्टता (उत्पादन के क्षेत्र में) का अभाव था। वे आगे बताते हैं कि व्यापार का क्षेत्र उस युग में बहुत सीमित होता था, तथा वस्तुओं को पशुओं पर लादकर ले जाया जाता था। बैलगाड़ियों का उपयोग केवल खुले मौसम में ही किया जा सकता था। केवल बंगाल में गंगा नदी का उपयोग काफी दूर-दूर तक माल ले जाने के लिये किया जाता था।[1]

यही स्थिति उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में चलती रही तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सड़कों का विकास करने का कोई प्रयास नहीं किया। गत शताब्दी के पूर्वार्ध में फ्रांसिस बुचानन एवं माटगोमरी मार्टिन ने क्रमशः दक्षिण व उत्तरी भारत का भ्रमण करने के पश्चात इसी प्रकार के वक्तव्य दिये थे।[2]

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यातायात के साधनों की स्थिति भारत में काफी दयनीय थी और जिस समय पाश्चात्य जगत में यातायात-क्रान्ति[3] चल रही थी और जनता राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक दौड़ में भाग ले रही थी, भारत की जनता छोटे-छोटे एकाकी गाँवों में संकीर्ण दृष्टिकोण तथा आर्थिक स्वावलम्बन के आधार पर रह रही थी और इसका सबसे बड़ा कारण यातायात के साधनों का अभाव ही था।[4]

भारत में रेल यातायात का प्रारम्भ

रेल-यातायात का प्रारम्भ भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। लेकिन

1. D. H Buchanan The Development of Capitalist Enterprise in India (1934), p 176
2 Ramesh Dutt Economic History of India—Early British Rule, Chapters 12-13
3 L. C A Knowles ने इसे Transport Revolution के नाम से पुकारा है।
4 Dr. A. R Desai : Social Background of Indian Nationalism, p. 117

इसके पूर्व यातायात के साधनो की जो स्थिति थी उसका डा० जॉन्सन ने काफी विस्तार से वर्णन किया है। उन्होने रेल-युग से पूर्व की यातायात-व्यवस्था मे निम्न दोष बताये है :[1]

(१) यात्राओं का धीमा, बाधापूर्ण एवं भावपूर्ण होना—महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता) ने अपनी जीवनी मे लिखा था कि १८५६ मे कलकत्ता से बनारस तक नाव द्वारा जाने मे डेढ महीना लगा था और बनारस से स्थल-मार्ग द्वारा वे १४ दिन में आगरा तक और आगरा से दिल्ली तक नाव द्वारा एक महीने मे पहुँचे थे।

डा० जॉन्सन इसी प्रकार बताते हैं कि यात्रियो को मार्ग मे जगली जानवरो तथा ठगो व डाकुओ का भय सदैव बना रहता था।

(२) सड़कों की स्थिति खराब होना—१९वी शताब्दी के मध्य तक सडके बहुत कम क्षेत्रो मे थी और जो थी भी, उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। केवल सूखे मौसम मे ही इन सडकों का उपयोग हो पाता था।

(३) परिवहन की ऊँची लागतें—रेल-युग के पूर्व कलकत्ता से बनारस तक डाक गाडी से पहुँचने मे (४२८ मील पर) राज्य को ३७६ रुपये, २२५ रु० पालकियो द्वारा पहुँचाने मे, बैलों द्वारा पहुँचाने मे १५० रुपये और नाव द्वारा पहुँचाने मे २२५ रुपये से ३७५ रुपये खर्च करना पड़ता था। इनमे जिस साधन से जितना कम समय लगता था उतना ही उस पर खर्च अधिक आता था।

(४) कृषि, उद्योग व व्यापार को क्षति—कृषि पदार्थों तथा औद्योगिक कच्चे माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने मे अधिक व्यय तथा अनेक बाधाओ के उपस्थित होने के कारण कृषि, उद्योगो व व्यापार को काफी क्षति होती थी। उदाहरण के लिये एक बैल पर २ मन वजन १०० मील तक ले जाने के लिये ३ रुपये १२ आना व्यय हो जाता था। श्री० एफ० पी० एन्टिया का कथन है कि मध्य प्रान्त मे बहुत उम्दा किस्म की कपास होने पर भी उस कपास का समुचित उपयोग नही हो पाता था। १ ५० मे भारत के गवर्नर जनरल को बम्बई के प्रमुख व्यापारियों द्वारा प्रस्तुत एक प्रतिवेदन मे कहा गया कि बहुत-सी महत्वपूर्ण वस्तुएँ भारत के विभिन्न भागो मे इसलिये नष्ट हो जाती थी कि उन्हे जरूरत के दूसरे स्थानों तक पहुँचाने की व्यवस्था नही थी और कही-कही तो परिवहन का व्यय मूल्य का २०८ प्रतिशत तक हो जाता था।

(५) विपुलता के बीच अभाव—यातायात की समुचित व्यवस्था न होने के कारण देश के एक भाग मे उपभोग्य वस्तुओं का अभाव रहता था, जबकि दूसरे भाग से वस्तुएँ बहुत अधिक मात्रा मे होने के कारण खराब हो जाती थी।

१८४८ की कपास कमेटी ने बताया कि खानदेश मे अनाज का मूल्य ४½ रुपये से लेकर ६ रुपये प्रति क्वार्टर तक था, जबकि पूना मे एक क्वार्टर अनाज की कीमत ४५ रुपये से लेकर ५५ रुपये तक थी। खानदेश व पूना के इतने समीप होने पर भी अनाज के मूल्यो मे १० गुना अन्तर होने का एक मात्र कारण यातायात के साधनो का अभाव ही था।

लेकिन १९वी शताब्दी के उत्तरार्ध में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई, जिन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार को भारत में यातायात के साधनों, विशेष रूप से रेलो का विकास करने को बाध्य कर दिया। डा० देसाई इन कारणों को तीन भागो में विभक्त करते है : आर्थिक, राजनैतिक एवं प्रशासनिक तथा सुरक्षा-सम्बन्धी।[2]

रेलों के विकास के आर्थिक कारण :

(i) आंग्ल उद्योगपतियो के समक्ष वृहत्-स्तर पर उत्पादित वस्तुओं के विनिमय हेतु एक व्यापक बाजार प्राप्त करने की समस्या थी। भारत के आन्तरिक भागो तक इङ्गलैण्ड की बनी हुई वस्तुओ को बेचने का एक मात्र कारण यही था कि प्रमुख बन्दरगाहो से लेकर देश के विभिन्न क्षेत्रों

1. Dr. J. Johnson : ibid, pp. 2-4
2. A. R. Desai : ibid, pp. 118-9

तक रेलों या सड़कों का जाल बिछा दिया जाता। लार्ड डलहौजी ने रेलो पर दिये सुप्रसिद्ध वक्तव्य मे रेलों के विकास के कार्यक्रम मे मुख्य पृष्ठभूमि आर्थिक आवश्यकता को ही बताया।

(ii) अनेक आग्ल उद्योगपतियो के समक्ष एक समस्या थी और वह थी अतिरिक्त पूँजी का लाभप्रद विनियोग इङ्गलैण्ड के बाहर कही करना। उनकी राय मे भारत से कही अधिक अच्छा क्षेत्र उन्हे विनियोग हेतु नही था और वह पूँजी रेलो के निर्माण मे नियुक्त की गई।

रमेशदत्त रेलों के विकास का सबसे बडा कारण आग्ल उद्योगपतियो की प्रवृति को मानते है। इसका आग्ल ससद पर पर्याप्त प्रभाव था और इससे उनकी वस्तुओ की भारत मे खपत करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर यहाँ रेलो का विकास करते हेतु दबाव डाला गया था।[1]

प्रशासकीय कारण

अँग्रेजो के पूर्व के शासक साधारणतया केवल मालगुजारी इकट्ठा करने मे रुचि लेते थे, लेकिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने सम्पूर्ण क्षेत्र मे एक ही कानून लागू करने के लिए पुरानी शासन व्यवस्था को नवीन प्रशासकीय सुधारो द्वारा प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया। जिन्होंने नवीन भूमि-व्यवस्था को तथा पचायतो के स्थान पर अपने प्रतिनिधि नियुक्त किए और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु रेलो का (तथा सडको का भी) विकास करना आवश्यक था।

इस प्रकार देश के आन्तरिक्त भागो तक शासन का विस्तार करने के उद्देश्य से रेलो का विकास आवश्यक समझा गया। गाँवो, शहरो, जिलों, प्रान्तो और क्षेत्रों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा १८५८ से ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण मे रखने के लिये रेलो का विकास किया गया।

सुरक्षा सम्बन्धी कारण :

१८५५-५६ के बाद से भारत के अनेक राजा, महाराजा तथा नवाब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति को सगठित रूप से अवज्ञा करने लगे थे। १८५७ मे तो उनके असन्तोष ने एक बडे विद्रोह का रूप धारण कर लिया। यद्यपि अँग्रेज लोग किसी प्रकार से इस विद्रोह को कुचलने मे सफल हो गये तथापि उन्हे इस बात की आशका बनी रही कि कभी न कभी इस विद्रोह की ज्वाला पुनः भडक सकती थी। इसीलिए फौजो के देश के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने-आने के लिये रेलो का विकास अनिवार्य समझा गया।

डा० अम्बाप्रसाद ने रेलो के विकास के लिए इन कारणो को उत्तरदायी माना है[2] : (i) आग्ल उद्योगपतियो की वह नीति जिसके कारण वे कच्चा माल भारत से प्राप्त करके तैयार वस्तुएँ भारत के बाजारों मे खपाना चाहते थे, ब्रिटिश ससद की विशेष समिति का वह निर्णय जिसके द्वारा वे भारत के विदेशी व्यापार को विशेष रूप से बढाना चाहती थी, (iii) आग्ल व्यापारियो की अतिरिक्त पूँजी, जिस पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश सरकार दोनो ने निम्नतम लाभ की गारण्टी प्रदान की थी, (iv) लार्ड डलहौजी द्वारा रेलो की क्षति को राज्य द्वारा वहन किये जाने की घोषणा ने विदेशी पूँजी को और अधिक आकर्षित किया।

इस प्रकार विभिन्न आर्थिक, प्रशासनिक तथा सैन्य कारणों से भारत मे रेलो के विकास को आवश्यक समझा गया तथा १९वी शताब्दी के मध्य से रेलो का निर्माण भारत में प्रारम्भ हुआ।

रेलो का विकास—१८४५ मे भारत मे रेलो का निर्माण करने की दृष्टि से दो कम्पनियो की इङ्गलैण्ड मे स्थापना की गई जिनके नाम क्रमशः ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी तथा ग्रेट इण्डियन पेनन्सुला रेलवे कम्पनी थे। लेकिन कुछ वर्षों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का सहयोग प्राप्त न हो सका और फलस्वरूप इन कम्पनियो के सारे कार्यक्रम अधूरे रह गये। अतत सरकार ने कम्पनियों को यह गारण्टी प्रदान कर दी कि यदि इनके लाभ पूँजी के ५ प्रतिशत से कम होंगे तो सरकार उस घाटे की पूर्ति करेगी। यह रेलो के निर्माण का प्रथम अध्याय था और इसके पश्चात

1 Ramesh Dutt : India in the Victorian Age, p 174
2. Dr Amba Prasad . Indian Railways (Asia) 1960, pp 46-47

तेजी से रेलो का विकास होता चला गया। हम नीचे संक्षेप मे उन्नीसवी शताब्दी के रेलों के इसतिहास का सक्षेप मे वर्णन करेंगे।

(१) पुरानी गारण्टो पद्धति—अगस्त, १८४९ में उपरोक्त दोनों कम्पनियो तथा इङ्गलैण्ड के भारत सचिव के बीच प्रथम अनुबन्ध पर हस्ताक्षर किये गए। इसके पश्चात् अनेक दूसरी कम्पनियों की स्थापना की गई और उन्होने भी भारत सचिव के साथ रेलो के निर्माण हेतु प्रसंविदो पर हस्ताक्षर किए। इन प्रसंविदो की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थी:[1]

(i) मुफ्त भूमि की स्वीकृति, (ii) पूँजी पर ४½ प्रतिशत से ५ प्रतिशत तक ब्याज की गारंटी, जिसका भुगतान २२ पैसे प्रति रुपये के हिसाब से किया जाना था। (iii) गारंटी दी गई राशि (४½ से ५ प्रतिशत) से कितना लाभ अधिक होता था उसका वितरण कम्पनी तथा सरकार समान रूप से कर लेती थी, (iv) कर्मचारियों की नियुक्ति के अतिरिक्त सभी महत्वपूर्ण मामलों में राज्य का एक सीमा तक नियन्त्रण रखा गया, (v) २५ अथवा ५० वर्ष के पश्चात् राज्य को यह अधिकार था कि वह रेलो को अपने नियन्त्रण में लेकर ३ वर्ष के औसत मूल्य (शेयरो पर) से कम्पनियो की क्षतिपूर्ति कर दे।

इनके अतिरिक्त निम्न मुख्य बाते इन प्रसविदो में और रखी गई थी:[2]

(vi) डाक तथा डाक-विभाग के कर्मचारियो से भाड़ा नही लिया जाएगा। (vii) रेलवे बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की बैठको में सरकारी प्रतिनिधि डायरेक्टर के रूप मे भाग लेगा तथा वह सभी मामलो पर निषेधाधिकार का उपयोग कर सकता था, (viii) कम्पनी द्वारा निर्धारित पूँजी न लगाने अथवा कार्य को पूरा न करने पर राज्य स्वयं वह कार्य पूरा करके कम्पनी से आवश्यक राशि वसूल कर सकता था, (vi) ९९ वर्ष बाद स्वत ही राज्य समस्त रेल-यातायात को खरीद लेगा।

इस प्रकार रेलो के विकास की प्रारम्भिक अवधि मे राज्य ने निम्नतम लाभ की गारंटी देकर रेलो के निर्माण हेतु पूँजी को आकर्षित किया। १८५४ से १८५६ के बीच केवल तीन महत्वपूर्ण रेल-मार्गो का निर्माण किया गया। इसके उद्घाटन का समय व रेलमार्गों की लम्बाई इस प्रकार रही थी:

कम्पनी का नाम	रेलमार्ग	पूरा होने का वर्ष	लम्बाई मील में
ग्रेट इण्डियन पेनन्सुला रेलवे कं०	बम्बई-कल्याण	१८५४	३७
ईस्ट इण्डियन रेलवे क०	कलकत्ता-रानीगज	१८५५	१२१
मद्रास रेलवे कं०	मद्रास-अर्काट	१८५६	६५

इन तीनो कम्पनियो ने उपरोक्त रेल-मार्गो के विस्तार हेतु भी कार्य जारी रखा और १८५७ तक बम्बई-कल्याण मार्ग मे ५४ मील रेल-मार्ग और जोड़ दिया गया। इसके अतिरिक्त अन्य छोटी कम्पनियाँ भी उस समय थी, पर उनका कोई महत्व नही था।[3]

परन्तु पुरानी गारटी पद्धति भारत-स्थित ब्रिटिश सरकार के लिए एक भार बन गई और १८४९ से १८६९ तक औसत लाभ केवल ३ प्रतिशत रहे। फलस्वरूप भारत की जनता से अधिक कर वसूल करके शेष २ प्रतिशत राशि कम्पनियो को चुकाई गई।[4] रमेशदत्त द्वारा प्रस्तुत एक विवरण के अनुसार १८४९ से १८५९ तक दस वर्ष मे उपरोक्त तीनों कम्पनियो को गारटी के अन्तर्गत इस प्रकार राज्य द्वारा भुगतान किया गया।[5]

---

1. Nalinakhsa Sanyal : Development of Indian Railways (1930), Chapter 2
2. Dr. Amba Prasad, pp. 50-51
3. Ramesh Dutt, (Victorian Age), ibid, pp. 175-6
4. Dr. Amba Prasad, ibid, p 52
5. Ramesh Dutt, ibid, 176

	(लाख पौण्ड में)
ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी	१५ २८
ग्रेट इण्डियन पेनन्सुला रेलवे कम्पनी	४ ५६
मद्रास रेलवे कम्पनी	२ ६१

१८५८ मे आग्ल ससद ने एक विशेष समिति की नियुक्ति उपरोक्त घाटे की व्यवस्था, तथा रेलो के निर्माण मे होने वाले विलम्ब की जाँच हेतु की, लेकिन उस कम्पनी ने भारत सरकार की तत्कालीन नीति का समर्थन कर दिया और फलस्वरूप कोई परिवतन सम्भव नहीं हुआ। १८६० के पश्चात् रेलवे कम्पनियो की फिजूलखर्ची और भी बढ गई तथा लाभ की निम्नतम गारण्टी होने के कारण यह भार भारतीय जनता पर पडता गया। अगस्त १८६७ में भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड लॉरेंस ने बताया कि कम्पनिया जिन रेल-मार्गों के निर्माण मे ८१ करोड पौण्ड व्यय करती थी, सरकार को उन्ही रेल-मार्गों के लिए ७५ लाख पौण्ड को भूमि एव देखरेख, १ ४५ करोड पौण्ड वास्तविक आय के आधिक्य के ब्याज तथा ४५ लाख गारण्टी के ब्याज आदि के लिये देना पडता था।[2]

राज्य द्वारा नियुक्त विभिन्न उच्च अधिकारियो ने रेलवे कम्पनियो के प्रशासन, अपव्यय और अव्यवस्था की कडी आलोचना की। विलियम थार्नटन, लें० कर्नल चैस्ने, विलियम मैसे, लार्ड मेयो तथा लॉर्ड लॉरेंस ने ससदीय समिति के समक्ष १७७२ में इन सब बुराइयों की चर्चा की और यह बताया कि १८६९ तक कम्पनियो के सचालको ने कभी लागतो को नियन्त्रित रखने का प्रयास नहीं किया। एक अनुमान के अनुमार तो भारत मे ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी द्वारा एक मील रेल-मार्ग का निर्माण व्यय ३० ००० स्टर्लिग पौण्ड आता था, जो सम्भवतः विश्व में सबसे अधिक लागत थी। सम्पूर्ण भारत म इस समय रेलो का औसत निर्माण व्यय १६,५३६ स्टर्लिग पौण्ड प्रति मील आता था।[4] डा० सान्याल के अनुमानानुसार एकनमार्गी रेलो का निर्माण-व्यय लगभग ९,००० स्टर्लिग पौण्ड प्रति मील था। बडे मार्गों मे दुहरे मार्गो पर प्रति मील औसत लागत २०,००० स्टर्लिग पौण्ड थी।[3]

१९६९ तक भारत मे ११ बडे रेल मार्ग थे जिनकी लम्बाई १,८३२ मील थी। लेकिन इस वर्ष, जैसा कि ऊपर लिखा गया है, रेलवे बजट का घाटा बहुत अधिक होने के कारण विवश होकर सरकार ने १८९६ मे रेलो का निर्माण-कार्य स्वय ले लिया। इतने पर भी प्रो० मैलनबॉम के मतानुसार १८६० व १८७० के बीच भी रल-मार्गो की लम्बाई ५०० से बढकर ४,००० मील हो गई। जो वास्तव मे सन्तोषजनक प्रगति थी।[4]

(२) **सरकार द्वारा रेलों का निर्माण एव प्रबन्ध (१८६९-७९)**—कम्पनियो के अपव्यय और उसके कारण भारत सरकार पर पडने वाले भार के कारण १८६९ मे भारत सचिव को भारत सरकार के लिये ऋण प्राप्त करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। इन ऋणो का उद्देश्य रेलो के निर्माण हेतु पूँजी प्राप्त करना था। चूँकि ये ऋण ४ प्रतिशत ब्याज पर मिलते थे जबकि कम्पनियो को ५ प्रतिशत लाभ (या ब्याज) की गारण्टी दी जाती थी, यह वस्तुतः एक बचत थी।[5]

लेकिन रेल-मार्गो के निर्माण मे और भी मितव्ययिता करने के लिए १८७० मे सरकार ने ५ फीट ६ इच चौडा रेल मार्ग (Gauge) बनाने की अपेक्षा ३ फीट ३ इच चौडा रेल-मार्ग बनाने का निश्चय किया। नई व्यवस्था की दो विशेषताएँ थी—प्रथम, समस्त नये रेल-मार्गों का निर्माण राज्य द्वारा किया जाएगा, तथा द्वितीय पुरानी गारण्टी वाली कम्पनियां को ६ मास की अग्रिम सूचना देकर राज्य खरीद सकेगा।

१८७१-७४ के बीच आग्ल ससद की विशिष्ट समिति द्वारा स्थिति का अध्ययन

---

1 Indian Railways, One Hundred Years 1853-1953, p 20
2 Ramesh Dutt, ibid pp 353 9
3. Dr. Sanyal, ibid, p 45
4. Malleanbaum Prospects for Indian Development, p 113
5 Vera Anstey : The Indian Economic Development (1957), p 136

करने के बाद राज्य द्वारा रेलो के निर्माण हेतु तीन सिद्धान्त लॉर्ड सैलिस्बरी द्वारा निर्धारित किये गये [1]

(i) रेलो के निर्माण का कोई कार्य विशेष सार्वजनिक कार्य के रूप में नहीं किया जायेगा तथा ऋणो द्वारा निर्माण होने पर कम से कम उन ऋणों पर दिये जाने वाले ब्याज के समान आय प्राप्त की जायेगी।

(ii) अकाल-सहायता हेतु किये जाने वाले निर्माण-कार्य वर्ष के सामान्य राजस्व मे से पूरे किये जायेंगे तथा यह राशि कम होने पर ही ऋण लिए जा सकेंगे।

(iii) सार्वजनिक कार्यों के लिये सारे ऋण भारत मे ही लिए जायेंगे।

कुछ समय के पश्चात् ही रेलो के निर्माण-कार्यो को उत्पादक तथा सुरक्षात्मक आदि दो श्रेणियो मे बांट दिया गया। उत्पादक कार्य राजस्व के अतिरेक अथवा ऋणो द्वारा पूरे किये जाने थे, जबकि सुरक्षात्मक कार्य केवल अकाल-ग्रस्त क्षेत्रो तक सीमित रहते थे।

मार्च, १८७० तथा मार्च, १८८० के बीच राज्य की रेलों पर लगभग २ करोड ४६ लाख ४५ हजार स्टर्लिंग पौण्ड व्यय किये गये।[2]

१८७९ के अन्त मे कुल मिलाकर भारत में ९,००० मील लम्बी रेलवे लाइन थी, जिनमें से राज्य की रेलें २१७५ मील लम्बी थी तथा शेष संयुक्त रेलवे कम्पनियो की रेलें थी।[3]

१८६९ व १८८१ के बीच रेल मार्गों की कुल लम्बाई ४,२६५ मील से बढकर ९,८७५ मील हो गई।[4]

लेकिन राज्य द्वारा रेलो का निर्माण काफी मितव्ययितापूर्वक किया गया, क्योंकि राज्य को प्रति मील औसत लागत केवल १०,००० पौण्ड आती थी, जबकि कम्पनियो को १५,०००-२०,००० पौण्ड प्रति मील खर्च करना पडता था। तथापि राज्य की रेलें पूँजी पर केवल २·१५ प्रतिशत लाभ प्रदान करती थी जबकि कम्पनियो का औसत लाभ ६·२० प्रतिशत होता था (कुल लाभ)। लगातार राज्य के कोष से धन विनियोग करने की स्थिति मे सरकार नही थी। इन्ही दिनो १८७४ से १८७९ के बीच अनेक भयकर दुर्भिक्षो तथा अफगान-युद्धो के कारण सरकार की वित्तीय स्थिति कमजोर होने लगी थी। फलतः इ गलैंड तथा भारत मे राज्य के वरिष्ठ अधिकारियो ने यही उचित समझा कि रेलो का स्वामित्व तथा सम्बन्ध राज्य के हाथ मे नही हो, यद्यपि व्यवस्था राज्य की देख-रेख मे हो। इन्ही दिनो (१८८०) मे प्रथम अकाल आयोग ने सुझाव दिया कि ५,००० मील लम्बे रेल मार्ग भारत मे तत्काल बनाये जाये, तथा २०,००० मील लम्बी रेलें (कुल) सुरक्षात्मक उद्देश्यों से बनाई जायें।[5] १८८१ मे एक विशेषज्ञो की समिति ने निजी कम्पनियो को पुनः प्रोत्साहन देने का सुझाव दिया। यही नही, सीमा-युद्धो, तथा उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्रो पर बाहरी आक्रमण होने के कारण मीटर गेज मार्ग को ब्रॉड गेज मार्ग के रूप मे बदल लेना आवश्यक था। १८८२ से नवीन गारण्टी पद्धति के अनुसार रेलो का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

(३) नयी गारण्टी प्रणाली (१८८२-१९१४)—यद्यपि आग्ल संसद, भारत सचिव तथा भारत सरकार किसी सीमा तक इस पक्ष मे तो अवश्य थे कि सरकार का रेल मार्गो का निर्माण तथा रेल-यातायात का प्रबन्ध दोषपूर्ण था और इसीलिए कम्पनियो को १८८२ मे पुन. रेलो का प्रबन्ध तथा निर्माण सौंप दिया गया। इस व्यवस्था मे भी एक प्रकार की गारण्टी रेल कम्पनियों को दी गई थी। लेकिन यह गारण्टी व्यवस्था पहले वाली व्यवस्था से भिन्न थी।

१८८२ से १८८४ के बीच बम्बई, बडौदा एण्ड सेन्ट्रल इण्डिया रेलवे कम्पनी, राजपूताना-मालवा मीटर गेज प्रणाली बगाल सेंट्रल रेलवे कम्पनी, रोहिल खण्ड-कुमायूँ रेलवे कम्पनी, बगाल

1. Amba Prasad, ibid, pp. 54-5
2. Ramesh Dutt, ibid, p. 362
3. Dr. Johnson, ibid, 14
4. Dr. N. Sanyal, ibid, p. 113
5. Ibid, p. 134

तथा उत्तरी रेलवे कम्पनी और दक्षिण मराठा रेलवे कम्पनी आदि को राज्य ने अपने नियंत्रण मे ले लिया। इन कम्पनियो के साथ साथ अन्य रेल कम्पनियो पर भी राज्य का नियन्त्रण रखा गया। नवीन व्यवस्था मे निम्नलिखित विशेषताएँ थी :

(i) उपरोक्त सारे रेल-मार्ग राज्य की सम्पत्ति समझे गये, तथापि रेल-कम्पनियां पूंजी का विनियोग एव रेलो का प्रबन्ध करने हेतु आमन्त्रित की जाती रही। २५ वर्ष के उपरान्त राज्य को यह अधिकार था कि वह रेल-मार्गो का प्रबन्ध भी अपने हाथ मे ले ले।

(ii) कम्पनियो को विनियोग की गई पूँजी पर ३½ प्रतिशत ब्याज देने की घोषणा की गई।

(iii) लाभ (ब्याज का भुगतान करने के बाद) का तीन-चौथाई सरकार को दिया जाना तय किया गया।

इन्ही दिनो एक प्रवृत्ति और प्रारम्भ हुई और यह थी राज्य द्वारा कम्पनियो की खरीद करना तथा उनका प्रबन्ध कम्पनियो को सौंप देना। लेकिन इन कम्पनियो मे से कुछ का प्रबन्ध राज्य के पास ही रखा गया और सार्वजनिक निर्माण विभाग (P. W D.) का ही इन्हे भी एक अग मान लिया गया।

गत शताब्दी के अन्त तक रेल मार्गों की लम्बाई २४,७६० मील हो गई थी। अनुमानत तृतीय अवधि (नवीन गारण्टी प्रणाली) मे रेल-मार्गों की लम्बाई ढाई गुनी से अधिक हो गई थी। निम्न तालिका उन्नीसवी शताब्दी मे निर्मित रेल-मार्गों की प्रगति को सिद्ध करती है।[1]

भारतीय रेलमार्ग मार्ग (मील मे)

	१८५३	१८७१	१८८१	१९००
रेल मार्गों की कुल लम्बाई	२०	५,०७७	९,८९१	२४,७६०

१९०१ मे रेल मार्गों की कुल लम्बाई २५,३७३ थी और रेल-युग के प्रारम्भ से लेकर १९०१ के अन्त तक रेलो पर ३४० करोड रुपये अथवा २२ ७ करोड स्टर्लिंग पोण्ड खर्च किये जा चुके थे।[2]

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि रेलो मे प्रयुक्त पूँजी का लगभग ६०% राज्य द्वारा १८८० के पश्चात् (मुख्यत:) दिया गया था और कम्पनिया ने राज्य की रेलो पर कुल पूँजी का १२ ५% तथा निजी रेलो पर लगभग २२% अनुपात खच किया था।[3]

१९०१ मे राज्य की रेलों के प्रबन्ध की जाँच हेतु टॉमस रॉबर्टसन को एक विशेष आयुक्त के रूप मे नियुक्त किया गया। इन्होंने बताया कि भारतीय रेलो की व्यवस्था यूरोपीयन देशो के अतिरिक्त विश्व मे सर्वश्रेष्ठ थी। रॉबर्टसन के मत मे भारत मे यद्यपि क्षेत्र की दृष्टि से रेलो का विकास पर्याप्त नही था तथापि जापान की अपेक्षा भारत मे एक मील लम्बा रेल-मार्ग अधिक लोगों की सेवा करता था।[4]

इस अवधि मे कुछ और भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्रथम था रेलो के सम्बन्ध मे अधिनियम पारित किया जाना। १८९० मे रेल अधिनियम द्वारा भाडे की अधिकतम दरो का निर्धारण कर दिया गया, तथा निजी क्षेत्र की रेलो के विषय मे राज्य के नियत्रण की सीमाएँ निश्चित करदी गई। द्वितीय, राज्य ने १८९६ में निजी क्षेत्र की कम्पनियो पर एक केन्द्रीय सस्था का नियत्रण करने हेतु यह घोषित कर दिया कि कोई भी कम्पनी भारत मे रेलो के निर्माण हेतु ऋण नही लेगी और राज्य स्वय ऋण लेकर कम्पनियो मे वितरण की व्यवस्था करेगा।

---

1. Ramesh Dutt, ibid, p 548
2. Ibid, p. 549
3. Ibid, p 549
4 Thomas Robertson Report on the Admn & Working of Indian Railways (1903), p 35

परन्तु इस अवधि की रेल-व्यवस्था में सबसे बड़ा दोष यह था कि सरकार द्वारा नियंत्रित रेल-कम्पनियो का प्रबन्ध निजी कम्पनियों की रेलों से श्रेष्ठ नही था। १९०१ मे रॉबर्ट्सन ने भी इस विषय पर विस्तार से बताया था।[1]

इसके विपरीत निजी क्षेत्र की कम्पनियो की कार्य-व्यवस्था में तालमेल का अभाव था। राज्य द्वारा नियन्त्रित कम्पनियो तथा गारण्टी-प्राप्त कम्पनियो का विकास सामान्य राजस्व पर निर्भर करता था, क्योंकि रेलो का बजट पृथक् नही था।

१९०५ मे मॅके समिति ने सुझाव दिया कि रेलो के विकास पर राज्य को कम से कम १ २५ करोड पौड प्रति वर्ष पूँजीगत व्यय के रूप मे व्यय करने चाहिए। इसी वर्ष रेल विभाग को सार्वजनिक निर्माण विभाग से पृथक् करके रेलवे बोर्ड के नियंत्रण मे दे दिया गया।

डा० जॉन्सन ने उक्त अवधि की एक बड़ी विशषता यह बतलाई है कि इस अवधि मे १९०० के बाद से रेलो से राज्य को लाभ होने लगा। जहाँ प्रथम ४० वर्षो मे (१९०० तक) राज्य को अनुमानतः ५८ करोड़ रुपये का घाटा हुआ था, १९०० के बाद तेजी से लाभ होने लगा। १९०० तथा १९१४ के बीच रेलों की जो प्रगति हुई उसका प्रमाण निम्न तालिका से मिल जाता है।[2]

रेलों का विकास

वर्ष	रेल-मार्गों की लम्बाई	विनियोजित राशि (करोड रु० मे)
१९००	२४,७५२ मील	३२९·५३
१९१४	३४,६४६ मील	४९५·०९

डा० वीरा एन्स्टे भी बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे हुई रेलो की प्रगति पर संतोष व्यक्त करती हुई लिखती हैं कि किराये एव भाड़े की दरें कम रहने पर भी १९०० व १९१४ के मध्य भारतीय रेलो ने आशातीत विकास किया।[3] इसीलिए १९०० से १९१४ तक के काल को रेलो के द्रुत विकास का काल कहा जाता है। लेकिन ये लाभ धीरे-धीरे घटते गये और जहाँ १९०६-७ मे रेलो से वास्तविक लाभ की राशि २३·३ लाख पौड थी, १९१०-११ मे ५-६ लाख पौंड का ही लाभ हो सका। कुल आय बढाने पर भी लाभ मे कमी होने का मुख्य कारण यह था कि रेलो के चालू खर्चों का अनुपात १९०६ तथा १९०८-९ के बीच ४६% से बढकर ६२% तक हो गया था। १९१० में यह ५५% था। श्री गोखले ने इसीलिए अपव्यय रोकने का सरकार से अनुरोध किया था।[4]

(४) **प्रथम महायुद्ध एव भारतीय रेलें**—१९१४ मे युद्ध छिड जाने पर राज्य ने रेलो पर काफी सख्ती से नियन्त्रण किया। लेकिन जहाँ एक ओर युद्धकाल मे सैनिको तथा वस्तुओ का अत्यधिक मात्रा मे आवागमन हुआ, दूसरी ओर नये रेल-मार्गों का निर्माण, पुराने रेल-मार्गों का विस्तार तथा अधूरे कार्यों को पूरा किया जाना, सहायक रेल-मार्गो का निर्माण, मरम्मत के कार्य और पुराने यन्त्रो का प्रतिस्थापन आदि सारे महत्वपूर्ण कार्य स्थापित कर दिये गये।

१९१८ में जब प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ तो सरकार के समक्ष अनेक समस्याएँ थी। प्रथम समस्या थी रेलों के प्रबन्ध की। द्वितीय समस्या रेलो की वित्तीय व्यवस्था से सम्बन्धित थी, जबकि तृतीय समस्या रेलों की मरम्मत तथा इनके विस्तार की थी। नवम्बर १९२० में ऑकवर्थ समिति की नियुक्ति निम्न प्रश्नो पर विचार करने हेतु की गई :

(अ) प्रत्यक्ष राजकीय नियत्रण, (आ) विदेशी कम्पनियो द्वारा प्रबन्ध, (इ) भारतीय

1. Ibid, p 45 & 77
2. J. Johnson, ibid, p. 18
3. Dr. Vera Anstey. ibid, P. 134
4. Gopal Krishna Gokhale's Speeches & Writings (Asia 1962), pp 180-7 & pp. 610-1

कम्पनियो द्वारा प्रबन्ध, (ई) विदेशी तथा भारतीय कम्पनियो का सयुक्त प्रबन्ध, (उ) रेलो की वित्तीय व्यवस्था।

रेलो का प्रबन्ध—प्रबन्ध के लिए ऑकवर्थ समिति ने स्पष्टत विदेशी, भारतीय अथवा सयुक्त प्रबन्ध के प्रस्ताव को ठुकराते हुए प्रत्यक्ष राजकीय प्रबन्ध का सुझाव दिया। गारण्टी-व्यवस्था के लिये समिति ने बताया कि यह व्यवस्था आशानुरूप सफल नही हो सकी थी और कम्पनियो का प्रबन्ध योग्य हाथो मे नही था।

ऑकवर्थ समिति से भी काफी समय पूर्व श्री गोपालकृष्ण गोखले ने भारतीय कर्मचारियो की उपेक्षा तथा उच्च पदो पर विदेशियो की नियुक्ति की कडी आलोचना की थी।[1]

ऑकवर्थ समिति ने भारतीय जनता की राय का उल्लेख करते हुए यह तर्क दिया कि जनता रेलो के राजकीय प्रबन्ध के पक्ष मे थी। समिति ने सुझाव दिया कि कम्पनियो व सरकार के बीच हुए प्रसविदो की अवधि समाप्त होते ही उन रेल मार्गो को सरकार स्वय ले ले।

रेल बोर्ड—१९०५ से ही रेलवे बोर्ड मे एक अध्यक्ष तथा दो सदस्य चले आ रहे थे, और वे तीनो व्यक्ति रेल-यातायात की व्यवस्था से परिचित होते थे। ऑकवर्थ समिति ने बोर्ड की अपेक्षा पाँच आयुक्तो का एक रेल आयोग स्थापित करने की सिफारिश की। मुख्य आयुक्त का कार्य गवर्नर जनरल की परिषद के सदस्य को रेल नीति के विषय मे सुझाव देना था।

प्रबन्ध के विषय मे उच्च स्तरीय मतभेद थे। अन्तत जनता की कडी आलोचना एव अन्य प्रकार के दबाव के कारण फरवरी १९२३ मे रेलो के प्रत्यक्ष राजकीय प्रबन्ध के सम्बन्ध मे विधान परिषद ने निर्णय किया। १ अप्रैल, १९२४ से रेलवे बोर्ड का पुनर्गठन करके इसमे मुख्य आयुक्त, एक वित्त आयुक्त एव दो सदस्य एक मार्गो तथा निर्माण के विषय मे एव दूसरा सामान्य प्रशासन, यातायात एव प्रबन्ध हेतु रखे गये।[2]

वित्तीय व्यवस्था—वित्तीय प्रबन्ध हेतु आकवर्थ समिति ने रेलो का बजट सामान्य बजट से पृथक करने का सुझाव दिया था। मार्च १९२५ मे विधान परिषद ने समिति की उस सिफारिश को भी मानकर रेलवे बजट पृथक् कर दिया। तबसे अब तक रेलो का बजट सामान्य बजट से पृथक् ही चला आ रहा है।

राज्य द्वारा रेलो का प्रबन्ध (१९२४ ४४) प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के समय अधिकाश रेलें राज्य की थी लेकिन इनका प्रबन्ध कम्पनियों द्वारा किया जाता था। सरकार के समक्ष प्रश्न यही था कि राजकीय कर्मचारियो द्वारा रेलो के प्रबन्ध की व्यवस्था किस प्रकार हो।

मार्च १९२४ मे रेल भाडा ट्रिब्यूनल की नियुक्ति की गई तथा १९२६ मे जनता के हितो की रक्षार्थ भाडा-सलाहकार समिति बनाई गई। वीरा एन्स्टे लिखती है कि १९२१ २२ से भारतीय जनता का दृष्टिकोण विदेशी कम्पनियो के प्रति इतना अधिक आलोचनात्मक हो गया था कि वह किसी भी कीमत पर रेलो का प्रबन्ध कम्पनियो के हाथ मे रखने के पक्ष मे नही थी। फलस्वरूप राज्य ने अनेक रेलो का नियन्त्रण स्वय ले लिया। १९२४ मे जब आयोग ने ७५% भारतीय कर्मचारियो को रखने का सुझाव दिया तो सरकार ने तुरन्त इस व्यवस्था को लागू कर दिया और १९२५-२६ के पश्चात् कम से कम ७०% रेल कर्मचारी भारतीय होने लगे।[3]

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारतीय रेलो ने जिस गति से विकास किया वह वास्तव मे प्रशसनीय है। लेकिन १९३० से विश्वव्यापी मदी के कारण जब भारत म भी वस्तुओ का आवागमन बहुत कम हो गया तो रेलो की स्थिति भी डॉवाडोल होने लगी। अग्र तालिका प्रथम महायुद्ध से लेकर १९३५-३६ तक की प्रगति का चित्रण प्रस्तुत करती है।[4]

---

1 Ibid, p. 184 and pp 232 3 (Budget Speeches)
2. Dr. Amba Prasad—pp 110-1
3 Vera Anstey—ibid, pp 139-41
4 Ibid—p 614—डा० वीरा एन्स्टे के मत मे १९३४ मे ७४ प्रतिशत रेलें राज्य की थी तथा ४४ प्रतिशत राज्य के प्रबन्ध मे थी (पृष्ठ १४१)

	१९१३-१४	१९२५-२६ से १९२९-३० औसत	१९३०-३१ से १९३४-३५ औसत	१९[illegible]
रेलमार्ग (मील मे)	३४ ६५६	४०,००१	४२,८०१	४१[illegible]
कुल पूंजी (करोड रुपये में)	४९१	८१०	८७९	
वास्तविक आय	३०	४२	२९	

उपरोक्त तालिका बताती है कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विश्वव्यापी मदी प्रारम्भ ह के पूर्व तक रेलो मे विनियोजित पूंजी रेलमार्गो की लम्बाई तथा वास्तविक आय मे पर्याप्त वृ हुई, लेकिन मंदी के कारण इसमे कमी होने लगी। यद्यपि १९३५-३६ में वास्तविक आय बढ़ गयं थी, पर यह वृद्धि इसलिये हुई थी, कि सरकार ने भाड़े की दरें घटा दी थी।

१९३१-३२ से रेलो का घाटा इतना होने लगा कि 'घिसावट कोष' से सरकार को प्रति वर्ष रकम निकालनी पड़ी। श्री रामानुजम के एक वक्तव्य के अनुसार १९३१-३२ व १९३५-३६ के बीच घिसावट कोष से लगभग ३२.५ करोड रुपया उधार लिया गया। लेकिन १९३६-३७ से इस ऋण की अदायगी प्रारम्भ हो गई।[1]

मदी के भारतीय रेलो पर होने वाले प्रभावों की जॉच करने हेतु १९३१ मे इंच-केप समिति तथा १९३२ मे पोप समिति की नियुक्ति की गई। इन दोनो समितियो ने रेल-प्रशासन मे मितव्ययिता बरतने का सुझाव दिया। १९३६ मे भारतीय रेलो की व्यवस्था का अध्ययन करने एव रेल-यातायात मे सुधार करने हेतु वैजवुड समिति की नियुक्ति की गई जिसने जून, १९३७ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस समिति ने निम्न सुझाव प्रस्तुत किये ·

(i) रेलों द्वारा सामान्य राजस्व में लाभाश नही दिये जायें, (ii) ३० करोड रुपये प्रति-वर्ष सामान्य रिजर्व कोष तथा घिसावट कोष मे जमा किये जायें, (iii) रेलों व सडकों मे तालमेल कायम किया जाय, (iv) रेल-यन्त्रो का समुचित उपयोग किया जाए, (v) रेलवे सूचना अधिकारियो तथा प्रेस-सम्पर्क अधिकारियो की नियुक्ति की जाये।

द्वितीय महायुद्ध एवं रेलें[2]— १९३६ से रेल-व्यवस्था मे सुधार होने लगा जैसा कि उपरोक्त तालिका से प्रगट होता है, रेलो की आय मे भी वृद्धि हुई। सेना तथा वस्तुओ का गमनागमन बहुत अधिक हुआ। १९४२ में युद्ध-कालीन बोर्ड की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य सैन्य तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ को रेल द्वारा निर्दिष्ट स्थानों तक पहुँचाने की नीति का निर्धारण करना था। इसके साथ ही इस सस्था तथा केन्द्रीय यातायात सगठन का एक कार्य यह भी था कि रेलो पर अनावश्यक कार्य-भार होने से रोकें।

इन्ही दिनो इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी कि रेलो का विवेकीकरण किया जाये। फलतः ९,०२२ मील लम्बे रेल मार्ग कम कर दिए गए और साथ ही भाड़े व किराए की छूट आदि को समाप्त कर दिया गया।

१९४३-४४ मे बगाल के दुर्भिक्ष ने पुन. रेलो के कार्य-भार को बढ़ा दिया। इस समय सरकार ने दो नारे प्रचलित किए. प्रथम, "रेल वैगनों का कार्य निर्बाध रूप से चलता रहे' और द्वितीय, जनता के लिए था "यात्रा केवल उस समय कीजिए जब यह अनिवार्य हो।" इसके उपरान्त भी १९४४-४५ मे प्रति मास औसतन २ करोड व्यक्तियो ने रेलो द्वारा यात्रा की और सैन्य यातायात युद्ध पूर्व की अपेक्षा २७ गुना हो गया था। इस समय रेलो की कुल आय २३२.६२ करोड रुपये थी।

लेकिन एक विचित्र प्रवृत्ति इस अवधि मे चल रही थी। इस समय जहां एक ओर रेलो की आय काफी बढ रही थी और रिजर्व कोष की पुरानी बकाया रकम रेलो ने वापस कर दी थी,

1. T. N. Ramanujam, The Function of State Railways in Indian National Economy, pp. 85 87
2- See J. Johnson, ibid, pp. 22-24

कम्पनियोंर रेल-यत्रो के प्रतिस्थापन की ओर कोई ध्यान नही दिया गया था। इसके विपरीत मीटर व्यवस्था ८% इजन, १५% मीटर गेज वैगन, ४,००० लम्बे रेल मार्ग की पटरियाँ तथा ४० लाख तीपरा का मध्य-पूर्व के देशो को निर्यात कर दिया गया था। घिसे हुए यत्रो, इजनो, डब्बो सयुक्त अन्य आवश्यक सामग्री के प्रतिस्थापन और मरम्मत के अधिकाश कार्य स्थगित कर दिए गए। के लिय महायुद्ध ने एक और समस्या को जन्म दिया और वह थी युद्धकालीन स्टाफ की स्थिति।

प्रबन्ध) स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय यत्रो के प्रतिस्थापन और अतिरिक्त स्टाफ के रोजगार की स्याएं भारतीय रेलो के समक्ष ज्वलत समस्याएँ थी। लेकिन स्वतन्त्रता के साथ ही देश का की भाजन हो गया और इससे भी रेलो की समस्यायें बढ गई।

विभाजन का भारतीय रेलो पर प्रभाव देश का विभाजन होने से पूर्व भारत में कुल ४१,०४१ मील लम्बे रेल मार्ग थे। विभाजन होने पर ३४,०८३ मील लम्बे रेल मार्ग भारत को तथा ६,६५८ मील लम्बे रेल मार्ग पाकिस्तान को प्राप्त हुए। रेल-मार्गो की दृष्टि से भारत को निश्चित रूप से पाकिस्तान की अपेक्षा लाभ हुआ। निम्न तालिका इस तथ्य की पुष्टि करती है[1]

भारत व पाकिस्तान की रेलो का अनुपात (मार्च १९४७)

	अविभाजित भारत	भारत	पाकिस्तान
रेल मार्ग	१००	८३ १	१६ ६
जनसख्या	१००	८१ १	१८ ९
कुल क्षेत्र	१००	७७ २	२२ ८

इस प्रकार क्षेत्र व जनसख्या की दृष्टि से भारत को पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक रेलें प्राप्त हुई। ९ बडे रेल-मार्गो मे से ७ भारत को प्राप्त हुए तथा शेष का सीमा के आधार पर विभाजन कर दिया गया। कुल ८०३ करोड रुपए की रेल-पूँजी मे से ६६७ ४३ करोड की रेल-पूँजी भारत को तथा शेष पाकिस्तान को प्राप्त हुई।

लेकिन अधिक रेल-मार्ग प्राप्त होने पर भी विभाजन की अनेक हानियाँ हुई। प्रथम, यह थी कि जितने रेल इजन भारत को विभाजन के पश्चात् प्राप्त हुए, उनमे से ½ लगभग पूर्णत घिस चुके थे और इन इजनो को बदलने की समस्या काफी विकट थी।[2] द्वितीय, भारत से लगभग ८३,००० मुस्लिम रेल कर्मचारियो ने पाकिस्तान जाना पसन्द किया, जबकि पाकिस्तान से १,२६ ००० रेल-कर्मचारी भारत मे आए। इस प्रकार रेल-कर्मचारियो के प्रवास का रेल-यातायात पर काफी प्रतिकूल प्रभाव हुआ। क्योकि इन कर्मचारियों को रोजगार देने की समस्या काफी विकट थी।

इसके अतिरिक्त आसाम से भारत का रेल सम्बन्ध विभाजन के पूर्व नही था। फलस्वरूप विभाजन के तुरन्त बाद आसाम तक रेल-मार्ग का निर्माण प्रारम्भ किया और जनवरी १९५० से १४३ मील लम्बा रेल-मार्ग प्रारम्भ किया गया। विभाजन का चौथा प्रभाव यह हुआ कि रेल मार्गों को अब कराची की अपेक्षा बम्बई से सम्बद्ध किया गया और इसमे काफी खर्च हुआ।[3] विभाजन का अन्तिम प्रभाव यह हुआ कि जम्मू व कश्मीर का शेष भारत से सम्बन्ध जोडने के लिए अब तक कोई रेल-मार्ग नही था, अतएव सडक द्वारा इस कमी को पूरा किया गया।[4]

विभाजन-जनित उपरोक्त समस्याओं पर विचार करने तथा रेलो के पुनर्गठन के लिए १९४७ के अन्त मे डा० हृदयनाथ कुंजरू की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की गई, जिसे कुंजरू समिति के नाम से पुकारा जाता है। समिति ने नवम्बर १९४८ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। कुंजरू समिति ने रेलो के पुनर्गठन के कार्यक्रम को पाँच वर्ष के लिए स्थगित करने का सुझाव दिया। समिति ने बताया कि यद्यपि रेलवे स्टाफ मे वृद्धि हो रही थी, लेकिन कार्य कुशलता का निरन्तर ह्रास हो रहा था।

1. C. N Vakil Economic Consequences of Divided India, pp 402-3
2. Ibid, p 404 & 406
3. Dr. J Johnson, ibid, pp 24-25
4. Indian Ralways पूर्व उद्धृत p 150

ल दिया।

समिति ने यह भी बताया कि रेलो की वित्तीय व्यवस्था १९२४ के बाद से समार्वजनिक नही थी। वित्तीय मामलों मे सुधार हेतु कुंजरू-समिति ने निम्न सुझाव प्रस्तुत किए :[1] (अ लम्बाई द्वारा सामान्य राजस्व को दी जाने वाली आय उस समय तक जारी रखी जाय जब तक वि सड़को की भावी स्थिति का सही मूल्याकन नही हो जाता, (आ) अगले पाँच वर्ष तक 'घिसावट को प्रतिवर्ष २२ करोड रुपये दिए जायें, (इ) रेलो की आय मे वृद्धि करने के लिए रेलवे बोर्ड मे ताब्दी इकाई कायम की जाय, (ई) पूंजीगत व्यय केवल उस स्थिति मे किए जाये, जबकि ये अनि उपेक्षा हों, तथा (उ) ६८ करोड रुपए का एक दीर्घकालीन कोष (Amortization Fund) कायम कि जाय तथा प्रति वर्ष इस कोष मे कुल आय का १ प्रतिशत दिया जाय।

सरकार ने इन सुझावों मे से अनेक सुझावो को मान लिया। अगस्त १९४९ से मार्च १९५० तक देश की लगभग सभी (४२) रेलों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया और इन्हे प्रत्यक्षत.रू राज्य के प्रबन्ध मे ले लिया गया। इनमे वे ७,५०० मील लम्बे रेल-मार्ग भी सम्मिलित थे, जिन्हे गै अब तक देशी रियासतों के शासको के नियन्त्रण में रखा गया था। इन रियासतों मे कुछ मार्ग ५० ो मील ही लम्बे थे, जबकि कुछ मार्ग १३००, मील तक लम्बे थे।[2]

१ अप्रैल, १९५० को देश के ३४,००० मील लम्बे रेल-मार्गो मे से केवल ५५३ मील लम्बे रेल-मार्ग निजी क्षेत्र मे और शेष का प्रबन्ध एव स्वामित्व राज्य के पास केन्द्रित था।[3]

रेल-मार्गो का पुनर्गठन

प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत रेल-मार्गों की लम्बाई मे वृद्धि करने की अपेक्षा अधिक उचित रेल-मार्गो का पुनर्गठन समझा गया। पुनर्गठन के विषय में भारत सरकार ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के तुरन्त बाद विचार करना प्रारम्भ कर दिया था, लेकिन कुंजरू-समिति की सिफारिश को मान कर इसे कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया।

अन्त मे १७ फरवरी, १९५१ को रेलो से सम्बन्धित केन्द्रीय सलाहकार परिषद् ने देश की समस्त रेलो को ६ क्षेत्रों मे बाँट देने का निश्चय किया। लेकिन कार्य-भार अधिक होने के कारण फिर समस्त रेल-मार्गो को आठ क्षेत्रो मे विभक्त कर दिया। इन क्षेत्रो का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है [4]

१. दक्षिण रेलवे—दक्षिण रेलवे के अन्तर्गत मद्रास व दक्षिण मराठा, दक्षिण भारत व मैसूर रेलो को लिया गया। इस क्षेत्र की स्थापना १४ अप्रैल, १९५१ को हुई। ३१ मार्च, १९६२ को इसके अन्तर्गत ९,९३९ किलोमीटर लम्बे रेल-मार्ग थे।

२ केन्द्रीय रेलवे – इस क्षेत्र की स्थापना ५ नवम्बर, १९५१ को निम्नलिखित रेलो को मिलाकर की गई जी० आई० पी० रेलवे निजाम, सिन्धिया तथा धौलपुर की रेलें। ३१ मार्च, १९६२ को कुल रेल-मार्गो की लम्बाई ८,८६१·३ किलोमीटर थी।

३ पश्चिम रेलवे—५ नवम्बर, १९५१ को ही बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे, सौराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान तथा जयपुर रेलों को मिलाकर पश्चिमी रेलवे बनाई गई। ३१ मार्च, १९६२ को कुल रेल-मार्गों की लम्बाई लगभग १०,०७० किलोमीटर थी।

४ उत्तरी रेलवे—इस क्षेत्र की स्थापना पूर्वी पंजाब, जोधपुर, बीकानेर रेलवे तथा पूर्वी भारत रेलवे के तीन डिवीजनों को मिलाकर १४ अप्रैल, १९५२ को की गई। ३१ मार्च, १९६२ को कुल रेल मार्गों की लम्बाई इस क्षेत्र में लगभग १०,३६४ किलोमीटर थी।

---

1. Ibid, pp. 26-27
2 H. Venkatasubbiah · Indian Economy Since Independence (1962) p. 114
3. Dr. Amba Prasad, ibid, p. 72
4. India 1963, p. 308

नोट—1 मील=$\frac{8}{5}$ किलोमीटर होता है।

५ उत्तरी-पूर्वी रेलवे अवध एण्ड तिरहुत रेलवे, आसाम रेलवे तथा बी० बी० एण्ड आई० रेलवे का फतेहगढ़ जिला इस क्षेत्र मे १४ अप्रैल, १९५२ को लिए गए। इस क्षेत्र मे ३१ १९६२ को ४,९२३ किलोमीटर लम्बे रेल मार्ग थे।

६ उत्तरी-पूर्वी सीमा रेलवे—यह क्षेत्र उत्तरी पूर्वी रेलवे से १५ जनवरी, १९५८ पृथक् किया गया। कुल रेल-मार्गो की वर्तमान लम्बाई लगभग २,८५६ ८ किलोमीटर है।

७ पूर्वी रेलवे—इसके अन्तर्गत तीन उत्तरी क्षेत्रों को छोडकर पूर्वी भारत के सभी रेल-मार्गों को सम्मिलित किया गया। क्षेत्र की स्थापना १ अगस्त १९५५ को हुई। वर्तमान रेल मार्गों की लम्बाई ३,८५० किलोमीटर है।

८ दक्षिणी-पूर्वी रेलवे—कार्य भार अधिक होने के कारण बगाल नागपुर रेलवे को पूर्वी रेलवे से १ अगस्त, १९५५ को पृथक कर दिया गया। इसके अन्तर्गत ३१ मार्च, १९६२ को कुल ५,९०० किलोमीटर लम्बे रेल-मार्ग थे।

रेलो के इतिहास को हम इस प्रकार सक्षेप मे बता सकते है सौ वर्ष पूर्व रेलो का प्रारम्भ कपनियों द्वारा किया गया। फिर कपनियो की रेलो तथा कपनी द्वारा प्रबध का युग प्रारम्भ हुआ और साथ ही राज्य की रेलो का राज्य द्वारा तथा राज्य की रेलो का कम्पनियों द्वारा प्रबन्ध चलता रहा। फिर प्रमुख रेल-मार्गो का स्वामित्व एव प्रबन्ध राज्य के हाथ मे लिया गया और रेल-नीति का निर्धारण सार्वभौमिक रूप से ब्रिटिश ससद द्वारा किया जाने लगा और अन्तिम सोपान मे रेलों का पूर्ण नियन्त्रण राज्य के पास आ गया तथा राज्य की व्यवस्था भी भारत की जनता के हाथ मे आ गई।

पचवर्षीय योजनाओ मे रेलो का विकास

प्रथम पचवर्षीय योजना-काल में रेलो पर लगभग ४२३ २३ करोड रुपये व्यय किये गये, जिसमे से २६७ करोड रुपये वास्तविक विनियोग की राशि थी। द्वितीय योजना काल में लगभग ९०० करोड रु० रेलो के विकास पर खर्च किये गये थे लेकिन वास्तविक व्यय ८६० करोड रुपये ही हो सका।

प्रथम तथा द्वितीय योजना के अन्तर्गत रेलो की प्रगति का अनुमान निम्न तालिका मे लगाया जा सकता है।

प्रथम तथा द्वितीय पचवर्षीय योजना में रेलो की प्रगति[1]

विवरण	प्रथम योजना	द्वितीय योजना
१ नई लाइनें (किलोमीटर मे)	१,३०४ ०	१,३११ ०
२ दुहरी की गई लाइनें (किलोमीटर मे)	३७० ०	१,४१२ ०
३ लाइनों का विद्युतीकरण (किलोमीटर मे)	—	३६१ ५
४ डिब्बो तथा इ जन का निर्माण एव प्राप्ति		
(i) इ जन	१,५५६	२,२१६
(ii) यात्री डिब्बे	४,७५८	७,७१८
(iii) माल डिब्बे	६१ २५४	९७,९५९

तृतीय पचवर्षीय योजना में रेलों की प्रगति—तृतीय योजना काल मे रेलो के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया। योजनाकाल में रेलो के विकास पर १६८५ ८ करोड रु० व्यय करने का

1 Source India 1968 page 364

अनुमान था किन्तु वास्तविक व्यय १३२५·५ करोड रु० हुआ। तृतीय योजना काल में विकास का अवलोकन निम्न तालिका की सहायता से किया जा सकता है :

तृतीय योजना में रेलों की प्रगति[1]

१.	नई लाइनें (किलोमीटर मे)	१,८०१
२.	दुहरी की गई लाइने (किलो मीटर मे)	२,२२८
३.	लाइनो का विद्युतीकरण (किलो मीटर में)	१,७४६
४.	डिब्बो एवं इंजनो का निर्माण एव प्राप्ति	
	(i) इंजन	१,८६४
	(ii) यात्री डिब्बे	८,०१९
	(iii) माल डिब्बे	१,४४,७८९

उपरोक्त तालिका मे स्पष्ट हो जाता है कि तृतीय योजनाकाल में रेलों के विकास प्रगति सन्तोषजनक रही है।

वर्तमान स्थिति

विस्तार की दृष्टि से भारतीय रेलो का विश्व में द्वितीय स्थान (प्रथम स्थान रूस का) है। आज भारत के ५९,९६० किलोमीटर लम्बे रेल मार्ग पर १०,००० रेल गाड़ियाँ चलती है। रेलो का स्वामित्व एव संचालन दोनो ही भारत सरकार के अधिकार में हैं। यह देश का सबसे बड़ा राष्ट्रीयकृत उद्योग है जिसके पास ३,४६० करोड रु० से भी अधिक की सम्पत्ति है। तथा इसकी वार्षिक आय ७७५ करोड रुपये है। इस विशाल राष्ट्रीयकृत उद्योग मे १३·६० लाख कर्मचारी कार्य करते हैं। इसमे लगभग १२,००० रेलवे इंजन, ३३,००० यात्री डिब्बे तथा ३,७५,००० माल के डिब्बे काम मे आ रहे है। रेलवे स्टेशनो की सख्या कुल मिलाकर ७,००० है। लगभग ६० लाख यात्री तथा ५½ लाख टन माल प्रति दिन रेलो द्वारा ढोया जाता है।

रेलों की समस्यायें

(१) **बिना टिकट यात्रा**—रेलों मे बिना टिकट यात्रा करने वालों से भारतीय रेलवे को प्रतिवर्ष ५ करोड रु० की हानि होती है। प्राय विद्यार्थियो के समूह, रेलवे कर्मचारियों के सम्बन्धी, साधु व फकीर, पुलिस कर्मचारी आदि बिना टिकट यात्रा करते है। रेलो में बिना टिकट यात्रा को रोकने के लिये हमारी सरकार ने अभी हाल मे ही बडे सख्त कानून बनाये है।

(२) **रेल दुर्घटनायें**—रेल दुर्घटनाओं के फलस्वरूप मानव जीवन संकट में पड जाता है एवं रेल की सम्पत्ति नष्ट होती है। अभी हाल के कुछ वर्षों मे तो रेलवे दुर्घटनाओ की सख्या मे भारी वृद्धि हो गई है। आये दिन अखबारो मे रेल दुर्घटना के समाचार पढने को मिलते हैं। दुर्घटना के समाचार पढने को मिलते है। ये दुर्घटनायें प्राय रेलवे कर्मचारियो की असावधानी, यान्त्रिक साज-सामान का खराब होना, प्राकृतिक प्रकोप (जैसे बाढे आना) तथा तोड-फोड की कार्यवाहियो के परिणामस्वरूप होती हैं।

(३) **रेलों पर आक्रमण**—यह बडे दुःख का विषय है कि देश के किसी भी हिस्से में अशान्ति होने पर रेलवे को उसका शिकार होना पडता है। उदाहरण के लिये पश्चिमी बंगाल तथा तेलंगाना मे आन्दोलन के दिनो मे भारतीय रेलवे को करोडों रुपये की हानि उठानी पड़ी है। यही नही देश के किसी भाग मे थोडी सी भी अशान्ति फैलने पर रेलो पर हमला करना तो एक आम बात हो गई है। इससे रेलो को तो क्षति पहुँचती है ही साथ मे यात्रियो को भी शारीरिक एव आर्थिक हानि का सामना करना पडता है। इससे रेलवे कर्मचारियों के लिये अपना कार्य पूरा करना कठिन हो जाता है। इसके फलस्वरूप रेलवे यातायात भी कई दिनो तक ठप्प पडा रहा है।

(४) **रेल-मार्गों का विस्तार**—भारतीय रेलो की वर्तमान समस्याओ मे एक महत्वपूर्ण समस्या रेल-मार्गों का विस्तार करने की है। हाल ही के एक अनुमान के अनुसार १ लाख व्यक्तियों

1. Source, : India 1968 page 364

कम्पनियाँ
व्यवस्था ारत मे केवल ९ मील लम्बा रेल-मार्ग है। देश की जनसख्या, क्षेत्र तथा विकास की ्मां को देखते हुये रेल-मार्गो का विकास अधिक तेजी से होना चाहिए।

सयुक्त (५) प्रतिस्थापन की समस्या—रेलो से सम्बन्धित एक अन्य वडी समस्या है रेल-इजनो, के लि ागनो और अन्य उपकरणो के प्रतिस्थापन की। निम्न तालिका इस समस्या पर स्पष्टतः प्रव ्डालती है :[1]

घिसे हुए रेल-यन्त्रो का अनुपात (प्रतिशत मे)

की न वर्ष	ब्रॉड गेज			मीटर गेज		
	इजन	डब्बे	वैगन	इजन	डब्बे	वैगन
१९५०-५१	२३ ०	२९ ५	१३ ३	३१ ०	४५ १	२९ ४
१९५५-५६	३३ २	३२ ३	१८ ०	२५ ८	३२ ७	२१·०
११६०-६१	२६ ७	३४ ४	१० २	१७ ९	२८ १	११·७
१९६५-६६	२७·२	२६ ८	११ ६	१८·६	१८ ७	११ ४

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि इजनो, डब्बो तथा वैगनो को वदलने की समस्या १९५०-५१ की अपेक्षा आज गुरुतर है तथा तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्त तक यह समस्या और भी विकट हो जायगी।

(६) ईंधन की समस्या—भारतीय रेलो की छठी समस्या है ईंधन की। उत्तम कोटि के कोयले का भारत मे अभाव है। अन्य देशो मे रेलो का विद्युतीकरण किया जा रहा है, पर भारत मे विद्युतशक्ति की उपलब्धि भी पर्याप्त नही है।

(७) गेज की समस्या—भारत की रेलो मे ५० प्रतिशत से अधिक मीटर गेज तथा नैरो गेज के रूप मे है। उदाहरण के लिये ३१ मार्च, १९५६ को कुल ३४,९८२ मील लम्बे रेल-मार्गो मे से केवल १६,१४२ मील लम्बा रेल-मार्ग ब्रांड गेज के रूप मे था। नैरो तथा मीटर गेज रेलो को ब्रांड गेज मे बदलने की गति अत्यन्त धीमी है।

(८) अधिकाश भारतीय रेले एकल-मार्गीय है। पिछली दो योजनाओ मे केवल १०००-११०० मील लम्बे रेल-मार्गो को दुहरा किया गया और तृतीय योजना मे २२२८ किलोमीटर रेल मार्ग दुहरे किये गये। इस प्रकार रेल मार्गो को दुहरा करने की गति भी काफी धीमी है।

रेलों के प्रभाव

अनेक समस्याओ के बावजूद रेलो ने भारतीय अर्थव्यवस्था एव सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था पर काफी प्रभाव डाले है। सवप्रथम हम रेलो द्वारा अर्थव्यवस्था पर जो प्रभाव डाले गये हैं उनकी चर्चा करेंगे

(१) रेलो का कृषि पर प्रभाव—कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ की हड्डी है। रेलयुग के पूर्व डा० जॉन्सन के मत मे कृषि-पदार्थों को ढोने का व्यय मूल्य का २०-२५ प्रतिशत पड जाता था। यही नही, खाद्य फसलो के अतिरिक्त अन्य फसलो का उत्पादन नाममात्र को ही होता था। लेकिन रेलो के आविर्भाव ने कृषि-व्यवस्था मे ये परिवर्तन ला दिये, (i) कृषि पदार्थों के बाजार का विस्तार, (ii) विभिन्न क्षेत्रो मे कृषि पदार्थो के मूल्यो का अन्तर कम कर देना (iii) परिवहन व्यय मे कमी, (iv) व्यापारिक फसलो की लोकप्रियता मे वृद्धि। विशेषरूप से जूट, चाय व कपास की विदेशो मे मांग बढाने का श्रेय रेलो को ही है, (v) कृषको को भारत-भ्रमण की प्रेरणा देकर कृषि से सम्बन्धित प्रयोगो की सफलता से अवगत कराना।

डॉ० जॉन्सन के अनुमानानुसार १९५७-५८ मे रेलो की १५ लाख वैगनो ने ६४ करोड रुपये के कृषि तथा वन पदार्थ ढोए। इस प्रकार उनके मत मे कृषि को स्थानीय महत्व की अपेक्षा राष्ट्रीय महत्व का बना देने का श्रेय रेलो को ही है।[2]

---

1 Third Five Year Plan, p 546
2 Dr J Johnson, Ibid, pp. 93-97

(२) रेलों का उद्योगों पर प्रभाव— भारतीय उद्योगो पर रेलो के निम्न
(i) परम्परागत उद्योगो का पतन - डा० जॉनसन यह अनुभव करते है कि रेलो के क
की हस्तकलाओं का पतन हुआ क्योंकि रेलो का निर्माण प्रधानतः आंग्ल कारखानो मे
वस्तुओं को भारतीय बाजारों पर लादने के लिये किया गया था, (ii) रेलो ने भारत को
अनाज तथा कच्चे माल का निर्यातकर्ता देश बना दिया जबकि दूसरी ओर तैयार वस्तुओं
उपयोग बढ़ाया गया। प्रारम्भिक रेलें इसीलिये बंदरगाहों तक बनाई गई थी, (iii) आधुनि
के विकास मे सहायता—कच्चे माल को कारखाने तक तथा तैयार वस्तुओं को बाजार तक
मे सर्वाधिक योगदान रेलो ने दिया है। रेलो द्वारा परिवहन का व्यय $\frac{1}{5}$-$\frac{1}{6}$ या $\frac{1}{10}$
तक था और इससे औद्योगिक विकास मे काफी सहायता मिली है, (iv) रेलो ने श्रमिकों
शीलता बढ़ा दी है।[1]

डा० वीरा एन्स्टे का कथन है कि वस्तुओं के मूल्यो मे उतार-चढ़ाव को रो
तथा अकालों के प्रभाव कम करने मे रेलो ने पर्याप्त योगदान दिया है।[2] श्री रमेशदत्त का क
कि रेलो ने खाद्यान्नो के वितरण की विषमता को कम किया है तथापि खाद्यान्नो की पूर्ति रेलो
नही बढ़ सकती थी।[3]

(३) व्यापार पर प्रभाव—डा० जॉन्सन का कथन है कि रेलो के विकास ने न के
विभिन्न वस्तुओ के आतंरिक व्यापार को प्रोत्साहन दिया है, अपितु विदेशी व्यापार का भी पर्या
विस्तार किया है। चाय, जूट, कपास, लोहा, कोयला, अनाज तथा खालें व अन्य वस्तुओं व
रेलों द्वारा परिवहन किया गया और इनका पर्याप्त मात्रा मे निर्यात किया गया। विदेशी व्यापा
के अध्याय मे इस तथ्य पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है परन्तु यहाँ यह बता देना पर्याप्त होग
कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भारत की आज जो महत्त्वपूर्ण स्थिति है उस तक पहुँचने मे प्रधानत
रेलों ने ही योग दिया है। जो क्षेत्र पहले अत्यन्त सीमित उत्पादन मे रत थे, रेलों ने इन क्षेत्रो के
उत्पादकों को अधिक उत्पादन करके व्यापर को बढ़ाने तथा राष्ट्रीय स्तर पर विनिमय करने की
प्रेरणा दी।

यहाँ तक कि शीघ्र नष्ट हो जाने वाली वस्तुओं को दूर-दूर तक रेलो द्वारा पहुँचाया जा सकता है। आज संतरो, आमो तथा दूध व अण्डो का रेलों के कारण देशव्यापी व्यापार किया जा रहा है।

इस प्रकार अर्थव्यवस्था के समस्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों मे रेलो के विकास ने एक क्रान्ति का सृजन किया है और आर्थिक दृष्टि से न केवल भारत के करोड़ो व्यक्तियो को एक सूत्र मे बाँध दिया है, अपितु विदेशो से भी हमारे आर्थिक सम्बन्ध बढ़ाने मे मदद की है।

(४) रेलो के सामाजिक प्रभाव—(१) डा० देसाई का कथन है कि रेलो ने भारतीय गाँवों के स्वावलम्बन तथा एकाकी अस्तित्व को समाप्त करके भारतीय जनता मे राष्ट्रीय भावना तथा एकता को जन्म दिया। देश के विभिन्न क्षेत्रों मे रहने वाली जनता को एकता के सूत्र में बाँधने का श्रेय किसी सीमा तक रेलों को ही है।[4]

(२) वे आगे यह भी बताते है कि वैज्ञानिक तथा प्रगतिशील सामाजिक विचारो का प्रसार करने मे रेलो ने पर्याप्त मदद दी है। छुआछूत का अन्त करने तथा भारतीय जनता के सामाजिक दृष्टिकोण को व्यापक बनाने मे रेलो ने बहुमूल्य योगदान दिया है।

(३) प्रो० मैननबॉम के मत मे श्रमिको की गतिशीलता को बढ़ाने तथा राष्ट्रीय स्तर पर इनके आवागमन में रेलो ने मदद की है। वे आगे बताते है कि औद्योगिक नगरों के विकास का मुख्य श्रेय रेलो को ही दिया जा सकता है।

(५) रेलों के राजनैतिक प्रभाव—(१) अंग्रेजो का शासन भारत के विभिन्न भागो मे स्थापित करने का मुख्य उत्तरदायित्व रेलो पर ही है। १८५७ तथा इसके पश्चात् जब भी देश के

1 Ibid, pp 97-102
2. Dr. Vera Anstey, ibid pp 143 4
3. Ramesh Dutt. ibid p 360
4 Dr. A R Desai, *ibid p. 116 & 119*

कम्पनियाँ
व्यवस्था ाग मे भारतीय जनता ने ब्रिटिश शासन का विरोध किया, अंग्रेजो ने सफलतापूर्वक इसे
ों, क्योकि रेलो के कारण देश के एक भाग से दूसरे भाग तक फौजो को आसानो से तथा
मे भेजा जा सकता है।

सयुक्त
के लि (२) राष्ट्रीय आन्दोलन का विस्तार करने मे भी भारतीय रेलो ने महत्वपूर्ण योगदान
प्रवन्ध विशेष रूप से डा० देसाई का यह मत है कि राष्ट्रीय स्तर पर उन्नीसवी शताब्दी के
, से जो राजनैतिक सगठन प्रारम्भ हुए उनका मुख्य श्रेय रेलो को ही है। राजनैतिक चेतना
की न रके वास्तव मे रेलो ने प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के लिए एक आधार तैयार कर दिया है।

पचवर्षीय योजना में रेलो का विकास (१९६९-७४) :

उ भारत की चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे रेलो के विकास पर विशेष जोर दिया जाने का
, र्य है। योजना काल मे रेलो के विकास पर १,०५० करोड रुपए व्यय करने का आयोजन है।
, अतिरिक्त रेलवे अपकर्ष कोष से भी ५२५ करोड रु० व्यय करने का आयोजन है। योजना-
मे माल ढोने की क्षमता को २० ३ करोड टन (१९६८-६९) से बढ़ाकर २९ करोड टन करने
विचार है। चतुर्थ योजना मे अन्य प्रस्ताविक आयोजन इस प्रकार हैं :

मद का नाम	चतुर्थ योजना (१९६९-७४) लक्ष्य
दुहरी की गई लाइनें (किलोमीटर मे)	१,८००
लाइनो का विद्युतीकरण (,,)	१,७००
डिजीलाइजेशन (,)	२,८००
मीटर गेज की लाइनो को चौडी लाइनो मे बदलना (किलोमीटर मे)	१,५००
डिब्बो तथा इ जनों की प्राप्ति एव निर्माण	
वाष्प इ जन	१६१
यात्री डिब्बे	७,२३६
माल के डिब्बे	१,०१,५१२
विजली से चलने वाले इ जन	३४०
डीजल इ जन	७५८

उपरोक्त के अतिरिक्त चतुर्थ योजना काल मे उपभोक्ताओं की सुविधाओ का विकास करने तथा कर्मचारियो के आवास व कल्याण के लिए क्रमश २० करोड रु० तथा ४५ करोड रुपए की व्यवस्था की गई है।

भारत में सड़कें तथा सड़क यातायात
(Indian Roads and Road Transp

प्रस्तावना—सड़क यातायात का महत्व :

किसी भी देश के आर्थिक पुनरुत्थान मे सडको का बडा महत्व होता है। कृषि, उद्योग व्यवसाय एवं वाणिज्य, प्रशासन, प्रतिरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य अथवा अन्य किसी सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रयत्न को अपने पूर्ण रूप मे फलीभूत होने और आगे बढ़ने के लिये सडकों की आवश्यकता होती है। सडकें सभ्यता और उन्नति की स्रोत कही जाती हैं। आधुनिक युग मे सड़क-यातायात को वाणिज्य तथा उद्योग का जीवन रक्त कहा जाता है क्योंकि आज दुनियां एक दूसरे के अति निकट आती जा रही है। भारत को विश्व के सडक यातायात का अग्रणी कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। इतिहास की ओर दृष्टिपात करने से यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि भारतीय ५,००० वर्ष पूर्व भी सडक-निर्माण कला मे निपुण थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मौर्यकाल की सडकों और उनकी व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पडता है। उस समय नगर की सड़कें २४ फीट चौडी, गांव और लडाई के मैदान को ले जाने वाली सडकें ४८ फीट चौडी और जगल को जाने वाली सड़कें २४ फीट चौडी हुआ करती थी। आज जबकि भारत प्रगति के पथ पर तेजी से आगे बढ रहा है, सडक यातायात का महत्व और भी अधिक हो जाता है। प्रगति की इन किरणों को भारत के ५½ लाख गांवो मे बसने वाली ३० करोड ग्रामीण जनता तक पहुंचाने के लिए हमको शीघ्रातिशीघ्र सडक यातयात का विकास करना ही होगा।

सड़क यातायात की विशेषताएँ

रेल, वायु अथवा जलमार्गों की अपेक्षा सडक यातायात मे कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण सडकों का महत्व द्विगुणित हो जाता है। ये विशेषताएँ इस प्रकार है :[1]

(१) **सड़कों के अनेक उपयोग होते हैं**—सडको पर मोटरो या बैलगाडियो के अतिरिक्त अन्य वाहन, पदयात्री तथा पशुओ का भी आवागमन होता है। आर्थिक दृष्टि से वस्तुओ के आवागमन हेतु तो सडकों का महत्व है ही, सैन्य दृष्टि से भी सडको का व्यापक रूप से उपयोग किया जा सकता है। इसके विपरीत रेलमार्गो अथवा जल या वायुमार्गो पर केवल विशिष्ट वाहन ही उपयोग मे लाए जा सकते है।

(२) **अधिकतम सामाजिक लाभ**—रेलो, जलपोतो अथवा वायुयानो पर यात्रा करना एक साधनहीन व्यक्ति के लिए असम्भव होता है और न ही बिना भाड़ा चुकाए कोई व्यक्ति इन

1. For details see : Neogi Committee's Preliminary (1961) pp. 71-72 and Masani Committee Report, (1959)

…ोग कर सकता है। इसके विपरीत सडक का उपयोग निर्बाध रूप से किया जा …द-यात्री अथवा पशुओ या स्वय की पीठ पर माल ढोकर ले जाने वाले व्यक्तियो को …योग हेतु आज कोई शुल्क नही देना होता। यूरोप के देशो मे १८वी शताब्दी तक …योग हेतु भी शुल्क देना पडता था, लेकिन आज विश्व के लगभग सभी देशो मे सडकें … तथा हर व्यक्ति इसका उपयोग करने को स्वतन्त्र है।

(३) सडको का निर्माण कम लागत पर होता है—नहरो अथवा रेलो के निर्माण हेतु …ाने वाली राशि की अपेक्षा सडको के निर्माण पर व्यय कम होता है। पिछले अध्याय में … कर दिया गया था कि भारत मे रेलो का निर्माण कितना खर्चीला रहा था।

(४) सडको की सबसे बडी विशेषता है लोच। उत्पादन-स्थल से मडी तक सीधे माल …ने केवल सडको का ही उपयोग किया जा सकता है। कच्चे माल को कारखाने के द्वार …वा कारखाने से तैयार वस्तुओ को बन्दरगाह या बाजार तक पहुँचाने के लिए सडक एक …मार्ग है। रेलो का विकास कितना ही अधिक क्यो न हो जाय, स्टेशन तथा कारखाने का … केवल सडको द्वारा ही जोडा जा सकता है।

(५) मोटरो की गति साधारणतया रेलो से अधिक होती है—रेलो की आवागमन की …था अत्यन्त जटिल होने के कारण रेल-यातायात मे विलम्ब होना अस्वाभाविक नही है और …नए रेलो की गति को अधिक बढाना सम्भव नही होता। मोटरो की गति इसके विपरीत … अधिक हो सकती है। विशेष रूप से आज व्यापारी तथा उत्पादनकर्ता मोटर यातायात को …लए पसन्द करते है कि माल भेजने अथवा प्राप्त करने में अधिक विलम्ब नही होता। भूतपूर्व …वे कमिश्नर श्री श्री भद्दार का यह मत है कि मोटरें अच्छी सडक पर उतने ही समय मे रेलो की …क्षा ३½ गुना माल ढो सकती है।

डॉ० जॉन्सन के मत मे ५० मील की दूरी तक माल पहुँचाना रेलो की अपेक्षा मोटरो से …धिक मितव्ययितापूर्ण होता है। यही नही रेल यातायात मे प्रचलित विलम्ब के कारण भी मोटर-यातायात का महत्व काफी बढ जाता है।[1]

(६) अपेक्षाकृत अच्छी सेवा – सडक-यातायात मे व्यक्तिगत सम्पर्क होने के कारण …व्यापारियो तथा यात्रियो की अच्छी सेवा हो सकती है।

(७) कृषि पदार्थों की बिक्री में सुविधा—कृषि की समृद्धि के लिए कृषि-पदार्थों की न्यायपूर्ण बिक्री होनी आवश्यक है। भारत के पाँच लाख गाँवो को हम वायु अथवा जल-मार्गों से सम्बद्ध करें, यह सुझाव हास्यास्पद प्रतीत होगा। यदि हमे यह कहा जाय कि प्रत्येक गाँव तक हम रेल मार्ग पहुँचा दें तो यह एक अत्यधिक खर्चीली योजना होगी। अस्तु, केवल सडको के निर्माण द्वारा ही कृषकों को मण्डी तक कृषि-उपज ले जाने का अवसर दिया जा सकता है।

(८) औद्योगिक विकास में सहायक—औद्योगिक विकास मे भी सडको का एक अपूर्व योगदान रहा है। यह सही है कि औद्योगिक विकास मे रेलो का योगदान अधिक होता है, लेकिन कारखानो तक कच्चा माल पहुँचाने तथा तैयार माल को बाजार अथवा बन्दरगाह तक ले जाने के लिए सडको तथा भारवाहन गाडियो का होना भी अत्यन्त आवश्यक है।

(९) अनिश्चितता का अन्त—रेलगाडियो से माल मँगाने में समय की अनिश्चितता बनी रहती है, जबकि मोटरो से माल मगाने पर ऐसा नही होता। जल्दी नष्ट होने वाली वस्तुओं के परिवहन हेतु रेलगाडियाँ सर्वथा अनुपयुक्त हैं (केवल बडे शहरो मे फास्ट पैसेन्जर गाडियो को छोडकर)।

(१०) रोजगार की दृष्टि से लाभदायक—मोटर यातायात मे रोजगार की दृष्टि से भी लाभ होता है। रेलो व मोटरो मे यही अन्तर है कि रेल-यातायात पूँजी-प्रधान होता है, जबकि मोटर यातायात मे अपेक्षाकृत अधिक व्यक्तियो को रोजगार दिया जा सकता है। सडक यातायात म ५५ लाख व्यक्ति सलग्न है जबकि रेलो मे केवल १४ लाख व्यक्ति लगे हुए है। जबकि मोटर

1 Dr J Johnson: Economics of Rail Transport, pp 286-7

परिवहन द्वारा रेलो की तुलना मे $\frac{1}{3}$ से कम माल तथा $\frac{2}{5}$ यात्री ले जाए जाते है ।
हुआ कि रेलें जितना परिवहन (ट्रैफिक) होने पर मोटर परिवहन १ से १·२५ करोड़

(११) पिछड़े क्षेत्रों को लाभ—अल्पविकसित तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों
विकास शीघ्र करने के लिए सडको का विकास अधिक लाभप्रद हो सकता है । कम
क्षेत्रो का आर्थिक सम्बन्ध अन्य विकसित क्षेत्रो से जोडकर इनके पिछडेपन को दूर
सकता है ।

(१२) ग्रामीण क्षेत्रो का विकास—ग्रामीण क्षेत्रो का सामाजिक विकास कर
का जीवन-स्तर उठाने तथा शिक्षा व चिकित्सा की सुविधाएँ उपलब्ध कराने हेतु भी स
योगदान दे सकती हैं ।

(१३) वन सम्पदा का समुचित उपयोग सम्भव—वन-सम्पत्ति का समुचित उपयो
मे सडक काफी सहयोग दे सकती है । इसी प्रकार खनिज पदार्थो को कम समय मे भा
गाड़ियो द्वारा निर्दिष्ट स्थानो तक पहुँचाया जा सकता है ।

(१४) लोच का होना—मोटर परिवहन का एक लाभ यह भी है कि मोटरो को
या सुविधानुसार मोड़ा जा सकता है तथा इनके मार्ग मे परिवर्तन किया जा सकता है ।
विपरीत रेल-यातायात मे इस लोच का अभाव है ।

लेकिन इन सब विशेषताओ के उपरान्त भी सडकों पर अप्रत्याशित भीड के कारण नि
वाली दुर्घटनाओ तथा मोटरो की सीमित क्षमता के कारण मोटरो के साथ-साथ रेल, जल व यत
मार्गो का विस्तार होना भी आवश्यक है ।

भारत में सड़कों का विकास

अतीत में सड़कों का विकास—भारतीय शासकों द्वारा सडकों के निर्माण-कार्य मे काफी पहले से रुचि ली जाती रही है। मोहनजोदडो तथा हड़प्पा मे जो ५-६ हजार वर्ष पूर्व की भारतीय सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनमे चौडी सडको का भी महत्वपूर्ण स्थान है । ईसा से ६०० वर्ष पूर्व राजगिर मे सम्राट बिम्बसार ने जिस सडक का निर्माण करवाया था उसके अवशेष अब तक भी विद्यमान हैं । सडक की चौडाई लगभग २०-२४ फुट रही थी ।

मौर्य युग तथा गुप्त युग मे महापथ तथा राजमार्गो के निर्माण मे सम्राटगण जिस प्रकार रुचि लेते थे उसका विदेशी पर्यटकों द्वारा प्रस्तुत किए गए संस्मरणों से स्पष्ट संकेत मिलता है । कौटिल्य ने सडको के निर्माण तथा मरम्मत के लिए तो शासको का मार्ग प्रदर्शन किया ही है, साथ ही उन्हे यह भी बताया कि सडको की डाकुओं, ठगों अथवा आक्रान्ताओं से रक्षा की जानी आवश्यक है । सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक ने अनेक सार्वजनिक सडको का निर्माण करवाया । अशोक ने तो सडको के दोनो ओर छायादार वृक्ष लगवाए तथा प्रत्येक एक मील की दूरी पर आम का एक बगीचा लगवाया। मार्ग मे स्थान-स्थान पर पेयजल की प्राप्ति हेतु कुओ एव विश्रान्ति-गृहो का निर्माण भी किया गया ।

आंध्र युग मे व उसके बाद भी सडको का निर्माण किया जाता रहा । ताओ-सुन नामक एक चीनी यात्री ने ७वीं शताब्दी में निर्मित स्वच्छ व चौड़ी सडको के विषय मे विस्तार से लिखा है ।

मध्य युग में विकास—मध्य युग मे १४वीं शताब्दी में मुहम्मद तुगलक ने अनेक सडकों का निर्माण करवाया । इब्न बतूता नामक अरब यात्री के संस्मरण तुगलक के इन कार्यक्रमों के अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते है । शेरशाह, अकबर व औरंगजेब ने भी सडकों के निर्माण मे काफी रुचि ली । शेरशाह द्वारा निर्मित चार ग्रांड ट्रक रोड आज भी एक भाग से दूसरे भाग तक विद्यमान हैं । शेरशाह को भारत के (आर्थिक) इतिहास मे 'सडक निर्माता' भी कहा जाय तो अनुचित न होगा ।

ब्रिटिश काल में विकास—भारत मे अंग्रेजो का आगमन बहुत पहले से हो गया था, लेकिन उन्नीसवी शताब्दी से इन्होंने देश के विभिन्न भागों का प्रशासन अपने हाथ मे ले लिया था ।

कम्पनियों व्यवस्था मे

... देश की राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियां अत्यन्त विषम हो चुकी थी। मुगल ...भव का सूर्य अस्त हो चुका था और व्यापार एव यातायात के साधनो की स्थिति ...गुकी थी।

संयुक्त के लिए प्रवन्ध

वस्तुत हिन्दू अथवा मुगल शासको ने सडको या यातायात के अन्य मार्गो के विकास ...श्चित नीति कभी नही वनाई थी और जो भी सडक १९वी शताब्दी के पूव वनाई गई ...े निर्माण की पृष्ठभूमि मे आर्थिक लाभ का दृष्टिकोण कभी नही रखा गया। डा० बुकेनन ...लता है कि १९वी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत स्वावलम्बी गांवो की लाखा इकाइयो मे ... था और उत्पादन मे विशिष्टता न होने के कारण व्यापार वहुत ही सीमित था। वस्तुओ ...गमन वहुत ही कम तथा सीमित क्षेत्र मे ही हो पाता था। केवल अपवाद-स्वरूप ही दूर ...ले जाने के लिए सूखे मौसम मे बैलगाडियो का उपयोग किया जाता था। डा० बुकेनन ...रखते हैं कि सडको के नाम पर अधिकाश मार्ग गडारो के रूप मे थे, जिनका निर्माण पशुओ ...डयो के चलने के कारण स्वत ही हो जाता था। उनका कथन है मुगल शासकों ने कुछ ...ो सडको का निर्माण स्थानीय राजधानियो को जोडने के लिए करवाया और अंग्रेजो ने ... वहुत सडकें केवल उसी समय तक वनवाई जव तक कि वे इस देश के शासक नही ...ए।[1]

यद्यपि उस युग मे भी भारत से काफी मात्रा मे वस्तुओं का यूरोप व पश्चिमी एशिया ...शो मे निर्यात किया जाता था और भारतीय व्यापारी वहुत धन कमा रहे थ तथापि सडको के ...ास की ओर किसी का ध्यान नही गया। प्रो० सान्याल ने लिखा है कि विश्व या उस समय ...ई देश ऐसा नही था, जहां बुद्धिमान तथा धनी व्यक्तियो के होने पर भी सडको का अभाव हो ...र यात्रा इतनी कष्टप्रद और महँगी हो। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे हजारो मील तक ...ोई पहिए वाली गाडी नही दिखाई देती थी और अधिकाशत ऊँटो भैंसो या वैलो की पीठ पर ...ाद कर माल ले जाया जाता था।[2] पशुओ की पीठ पर लादकर माल ले जाने मे काफी खच होता था लेकिन इसके अलावा कोई और चारा नही था। ये रास्ते जिन पर, बैलगाडियाँ चलती थी, वर्षा ऋतु मे बेकार हो जात थे और इस प्रकार वर्ष मे केवल ५-६ महीने ही गाडियो का उपयोग सम्भव था।

सवप्रथम १७८५ मे वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता एव उत्तरी पश्चिमी सीमा के बीच की ग्राड ट्रक रोड का पुनर्निर्माण करवाया। इसी प्रकार अन्य सडकों का निर्माण तथा मरम्मत के काय भी अंग्रेजो ने हाथ मे लिये पर प्रथम तो ये कार्य अपवाद-स्वरूप थे और द्वितीय इनका प्रयोजन सेनाओ को देश के एक भाग मे दूसरे भाग तक पहुंचाना था।

प्रारम्भिक ब्रिटिश अधिकारियो मे से लार्ड विलियम बैंटिक ने सडको के विकास मे सबसे अधिक रुचि ली। इन सडको का निर्माण वस्तुत सार्वजनिक हित के लिए किया गया था। दुर्भाग्य से सडको की लम्वाई के विषय मे सही आँकडे उपलब्ध नही हो पाते। प्रो० नलिनाक्ष सान्याल का अनुमान है कि १८३९ व १८४९ के वीच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने लगभग ३०,००० मील लम्बी (कच्ची व पक्की दोनो) सडका का निर्माण करवाया और कुल मिलाकर इस पर कम्पनी के कोष से २½ करोड पौंड (२५ करोड रुपये) व्यय किए गए।[3] देश की विशालता को देखते हुए दस वर्ष मे सडको के निर्माण पर व्यय की गई राशि वहुत ही कम थी।

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे लार्ड डलहौजी ने यातायात के साधनो के विकास मे वहुत अधिक दिलचस्पी ली। लार्ड डलहौजी एक महत्वाकाक्षी अंग्रेज अधिकारी था। राजनैतिक एव आर्थिक दोनो दृष्टि से भारतीय जनता को पूर्णत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नियन्त्रण में लेना चाहता था। उसने भारत मे शासन-भार संभालने के कुछ ही दिनो पश्चात् रेलो की आवश्यकता

---

1 Dr D H. Buchanan The Development of Capitalist Enterprise in India (1943) p 176
2 Ibid p 2
3 Prof N Sanyal, ibid p 3

पर एक लम्बा भाषण दिया तथा रेलो को मिलाती हुई सड़को के निर्माण पर काफी बल दिया। लार्ड डलहौजी ने पक्की सडको के निर्माण हेतु १८५५ मे केन्द्रीय तथा प्रान्तीय स्तर पर सार्वजनिक निर्माण (P. W. D.) की स्थापना की। १८८० मे पक्की सडको की भारत मे कुल लम्बाई १८,००० मील थी,[1] जो १९०० तक बढ़कर ३७,००० मील हो गई। उस समय कच्ची सडको की कुल लम्बाई १,३६,००० मील थी।[2]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि १९वी शताब्दी के अन्त तक ब्रिटिश सरकार ने सडको के विकास अथवा पुरानी सडको के सुधार की उपेक्षा ही की।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राज्य की सड़क विकास नीति

प्रथम युद्धकाल मे सैनिको तथा वस्तुओ के अत्यधिक आवागमन के कारण सडको का उपयोग भी बहुत अधिक हुआ। लेकिन सडको के विकास तथा मरम्मत के सम्बन्ध मे राज्य की नीति तटस्थतापूर्ण ही बनी रही। युद्ध के पश्चात् जब नवीन प्रशासन-व्यवस्था लागू की गई तो महत्वपूर्ण मार्गो के अतिरिक्त सभी सडकें प्रातीय प्रशासन के अन्तर्गत ले ली गई। इन महत्वपूर्ण मार्गो को, जिन्हे कालान्तर मे राष्ट्रीय मार्गो के नाम से पुकारे जाने लगा, केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण मे रखा गया।

जयकर समिति—१९२५ मे केन्द्रीय सरकार ने श्री जयकर की अध्यक्षता मे एक समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने १९२८ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमे निम्न सुझाव प्रस्तुत किए गए :

(i) सड़को के विकास का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार को वहन करना चाहिए, क्योकि प्रान्तीय सरकारो की क्षमता इतने भारी विनियोग के लिए अपर्याप्त है। समिति ने बताया कि सडक-यातायात का महत्व स्थानीय अथवा प्रान्तीय न होकर राष्ट्रीय स्तर का है।

(ii) सडको के विकास हेतु एक केन्द्रीय सडक कोष का निर्माण किया जाय। इस कोष के लिए प्रति गैलन पेट्रोल पर २ आना सरचार्ज लगाने का सुझाव दिया गया। जयकर समिति ने सरकार से यह अनुरोध किया कि वह इस कोष मे से राज्य सरकारो को सडको के विकास हेतु अनुदान दे।

समिति के सुझाव को मानकर सरकार ने सडक कोष बनाया, जिसमे प्राप्त राशि का $\frac{1}{10}$ केन्द्रीय सरकार रखती थी और शेष प्रान्तीय सरकारो को अनुदान के रूप मे दिया जाने लगा।

सड़क व रेल अधिवेशन—शिमला (अप्रैल १९३३)—इस अधिवेशन का मुख्य उद्देश्य सडको व रेलों के बीच चल रही अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर इनमे समन्वय स्थापित करने के उपाय सोचना था। अधिवेशन मे सडक-यातायात के विकास हेतु जो प्रस्ताव पारित किए गए, वे इस प्रकार थे[3]

(i) मोटर यातायात का नियन्त्रण राज्य द्वारा इस उद्देश्य मे किया जाय कि जनता को अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त हो सके।

(ii) ग्रामीण क्षेत्रो मे सडको का विस्तार करके मोटर यातायात का अधिक तीव्रता से विकास करने के लिए वहाँ एकाधिकार प्रदान किए जाएँ।

(iii) मोटर यातायात के लिए एक-सी कर व्यवस्था होनी चाहिए।

(iv) ऋण कोषो के द्वारा सडको के विकास की रूपरेखा बनाई जाए।

नागपुर योजना (१९४३)—दिसम्बर, १९४३ मे विभिन्न राज्यो के मुख्य इंजीनियरो का एक सम्मेलन नागपुर मे हुआ, जिसमे देश की न्यूनतम आवश्यकताओ के अनुसार एक योजना

---

1. Mallenbaum : Prospects for Indian Development, p 113
2. Vera Anstey : The Economic Development of India (IV Edition) p 129
3. Report on the Proceedings, p. 59-68

बनाई गई। इस योजना के अनुसार सुविकसित कृषि क्षेत्र का कोई गाँव पक्की सड़क से पाँच मील से अधिक दूर नहीं होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए योजना में सड़कों की लम्बाई १½ गुनी कर देने का संकल्प किया गया।

नागपुर योजना के अन्तर्गत २० वर्ष की अवधि में सड़कों के निर्माण पर कुल ४४८ करोड़ रुपये व्यय किये जाने थे तथा कुल ४ लाख मील लम्बी सड़कों का निर्माण किया जाना था। इसकी विस्तृत रूप रेखा इस प्रकार थी[1]

	सड़कों की लम्बाई (हजार मील में)	लागत (करोड़ रुपयों में)
राष्ट्रीय राज मार्ग	२५	५०
प्रान्तीय राज मार्ग	६५	१२१
जिला सड़कें—प्रमुख	६०	६२
जिला सड़कें—अन्य	१००	८०
गाँवों की सड़कें	१५०	३०
युद्धकालीन बकाया	—	१०
पुल निर्माण	—	४५
भूमि का मुआवजा	—	५०
कुल योग	४००	४४८

नागपुर योजना के अन्तर्गत १९४४ से कार्य प्रारम्भ हो गया तथा १९४७ में देश का विभाजन होने पर योजना द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्य में ३.११ लाख मील सड़कों का निर्माण भारतीय क्षेत्र में किए जाने का निश्चय किया गया, जिस पर पूँजी का प्रस्तावित विनियोग ३७३ करोड़ रुपये होना था।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व तक उपरोक्त योजना के अन्तर्गत ९८ हजार मील लम्बी पक्की या मेटल्ड सड़कें तथा १.५१ लाख मील लम्बी कच्ची सड़कें बना ली गई थीं (लक्ष्य क्रमशः १.२३ लाख मील व २.० लाख मील लम्बी सड़कें बनाने का था)। प्रथम योजना-काल में सड़कों के विकास हेतु नवीन कार्यक्रम बनाए गए।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राज्य की सड़क-नीति

सड़कों के विकास के सम्बन्ध में नागपुर योजना के साथ ही राज्य की सक्रियता बढ़ने लगी थी यह ऊपर दिए गए विवरण से स्पष्ट हो जाता है। आजादी मिलने के बाद सड़कों का विकास और अधिक तीव्रता से करने का निश्चय किया गया।

भारतीय संविधान तथा सड़क यातायात[2]—१९५० में भारतीय संविधान में प्रस्तुत ७वीं शिड्यूल द्वारा सड़कों का श्रेणीकरण इस प्रकार किया गया

(१) **राष्ट्रीय राजमार्ग**—लिस्ट १ की १३वीं मद के अनुसार लोकसभा द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय मार्गों को संघीय सूची में रखा गया। इसके अनुसार इन मार्गों के विकास का समस्त उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर है।

(२) सड़क यातायात के शेष भाग राज्य सूची में रखे गए हैं।

लेकिन प्रथम लिस्ट की ४२वीं मद के अनुसार अन्तर-प्रान्तीय यातायात की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाएगी।

1 C N Vakil Economic Consequences of Divided India, pp 415 6
2 S K. Bose Some Aspects of Indian Economic Development Vol II p 207

(३) तीसरी लिस्ट की ३५वी मद के अन्तर्गत समवर्ती (कानकर्रेंट) लिस्ट है जिसमें यान्त्रिक यातायात को रखा गया है। इस लिस्ट के अनुसार यांत्रिक वाहनों (मोटरो) को राज्यों के नियन्त्रण मे रखा गया है, लेकिन जब तक लोकसभा इस आशय का अधिनियम पारित नही कर देती, अनावर्तक सूची की सभी मदों के अधिशासी अधिकार केन्द्रीय सरकार के पास रहते हैं।

केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों के अतिरिक्त सडकों का निर्माण, प्रबन्ध एवं मरम्मत का उत्तरदायित्व नगरपालिकाओं, ग्राम पंचायतों तथा नगर-निगमो पर भी है, जो अपनी क्षेत्रीय परिधियो मे सड़कों का विकास करने के लिए निश्चित कार्यक्रम बनाते हैं।

पंचवर्षीय योजनाएं तथा सड़कों का विकास :

आर्थिक विकास की योजनाओ के अन्तर्गत यातायात व परिवहन के साधनों के विकास हेतु वृहत् कार्यक्रम बनाए गए हैं। सडकों के विकास हेतु भी केन्द्रीय व राज्य दोनो स्तर पर योजनाएं बनाई गई हैं। १९५१-५२ से लेकर १९६७-६८ तक कुल मिलाकर १०८७.१० करोड रुपये सडको के विकास पर खर्च किए गए। इस राशि में से ३६१.५ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा शेष राज्य सरकारो द्वारा व्यय की गई। १९६८-६९ में इस क्षेत्र मे लगभग ९१ करोड़ रुपए का प्रावधान रखा गया था। अनुमानतः १९५०-५१ की तुलना मे आज प्रतिवर्ष सडको के विकास पर ५ से ६ गुनी राशि खर्च की जाती है।[1]

१९४७ से अब तक की अवधि मे सडको की लम्बाई जिस रूप मे बढी वह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है :[2]

(३१ मार्च को)	सड़कों की कुल लम्बाई		(हजार किलोमीटर)
	पक्की सड़कें	कच्ची सड़कें	योग
१९४७	१४५	२४१	३८६
१९५१	१५७	२४३	४००
१९५६	१८३	३१५	४९८
१९६१	२३६	४७३	७०९
१९६६	२८१	६११	८९२
१९६७	२९०	६३९	९२९
१९६९	३१७	—	—

इस प्रकार १९५९ से १९६७ के बीच सडकों की लम्बाई २.३ गुनी हो गई। पक्की सडकों की लम्बाई मे ८५% तथा कच्ची सडको की लम्बाई मे १६३% वृद्धि हुई।

इस अवधि मे नई सडको के निर्माण के साथ-साथ पुलों के निर्माण तथा संकरी सड़को की चौडाई बढाने व कच्ची सडकों को अच्छा बनाने की दिशा में भी पर्याप्त प्रगति हुई है।

गायब कड़ियो की प्राप्ति (missing links) के लिए भी काफी प्रयास किया गया है। केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय राजमार्गो पर १९२० मील लम्बी इस प्रकार की कडियो (missing links) का १९५१ से १९६८ तक निर्माण किया। इसी प्रकार राष्ट्रीय राजमार्गों पर १६० पुलो का निर्माण किया गया।

सड़को को कार्य के अनुसार ५ रूप मे विभक्त किया जाता है : राष्ट्रीय राजमार्ग, राज्य मार्ग, प्रमुख जिला सडकें, अन्य जिला सडकें, तथा ग्रामीण सड़कें। १९५१ व १९६८ के बीच राष्ट्रीय राजमार्गों की लम्बाई १२,३१० मील से केवल १४,९५७ मील तक ही बढ़ाई जा सकी।

---

१. १९५०-५१ मे १८ करोड़ रुपए सडको के विकास हेतु व्यय किए गए थे जबकि १९६५-६६ मे ९० करोड़ १९६६-६७ मे १११ करोड तथा १९६७-६८ मे १०१ करोड़, रुपए खर्च किए गए।

2. See Economic Times : Nov. 3 & 4 1968 articles by R. C. Jain & S. N. Sinha

यह उल्लेखनीय है कि इन मार्गों का सम्पूर्ण दायित्व केन्द्रीय सरकार पर है। शेष मार्गों का विकास १९५१ व १९६१ के बीच इस प्रकार हुआ -

	१९५१	(लम्बाई मीलो मे) १९६१
राज्यो के राजमार्ग	२६,६००	३८,५५७
प्रमुख जिलामार्ग	५५ ८००	७०,५१५
अन्य जिलामार्ग	५०,५००	६९,५६९
ग्रामीण सडके	१,०३,३०२	२,४१,६१४
अवर्गीकृत	—	६,३०६

तृतीय योजना काल मे सडको के विकास हेतु ४४० करोड रुपए खर्च किए गए। चतुर्थ पञ्चवर्षीय योजना मे इनके लिए ८२९ करोड रुपए (केन्द्र द्वारा ४१८ करोड रुपए) का प्रावधान रखा गया है। इसके द्वारा राष्ट्रीय राजमार्ग पर ४०० किलोमीटर सडक-कड़ियों का निर्माण होगा तथा २४ ००० किलोमीटर लोग्रेड सेक्शन को सुधारा जायगा। १९६९-७४ के बीच पक्की यानी सतहदार सडको की लम्बाई ३ १७ लाख किलोमीटर से बढकर ३ ६७ लाख किलोमीटर हो जाने की आशा है। यात्री ट्रैफिक ९२ हजार मिलियन यात्री किलोमीटर से बढकर १,४०,००० मिलियन यात्री किलोमीटर तथा माल परिवहन ४ ००० मिलियन टन किलोमीटर से बढकर ८ ४०० मिलियन टन किलोमीटर होने की आशा है। परन्तु सडक परिवहन का विस्तार मुख्यत निजी क्षेत्र मे होगा।[1]

सडको के विकास हेतु नवीन बीस वर्षीय योजना (१९६१ ८१)

शिलांग मे देश के मुख्य अभियन्ताओं ने १९५७ मे सडको के विकास हेतु एक बीस वर्षीय कार्यक्रम बनाया। इसे १९६१ से लागू किया गया। इस बीस वर्षीय योजना के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किए गए [2]

(१) विकसित तथा कृषि-प्रधान क्षेत्र मे सतहदार (पक्की) सडक स गाँव की अधिकतम दूरी ४ मील तथा कच्ची सडक से १½ मील होगी।

(२) अर्द्ध विकसित या गैर कृषि क्षेत्रो मे कोई भी गाँव पक्की सडक से ८ मील तथा कच्ची सडक से ३ मील से अधिक दूर नही होगा।

(३) पिछडे हुए क्षेत्रो मे गाव से पक्की सडक से अधिकतम दूरी १२ मील तथा कच्ची सडक से ५ मील होगी।

(४) उक्त लक्ष्यो की प्राप्ति हेतु १९८१ तक सडको की कुल लम्बाई ६·५७ लाख मील (१० ५ लाख किलोमीटर) तक बढाई जाएगी। इनमे से १९८१ तक २ ५० लाख मील राष्ट्रीय व राज्यो के राजमार्ग होगे। १९६१ की तुलना मे १९८१ तक विभिन्न प्रकार के मार्गों का विस्तार इस प्रकार होगा राष्ट्रीय राजमार्ग १३०%, राज्यो के राजमार्ग १००%, जिला सडकें ६०% तथा ग्रामीण सडकें १००%।

उक्त बीस वर्षीय योजना पर ५,२०० करोड रुपये व्यय किए जाने का अनुमान है। इनमें से १९५० करोड रुपए क्रास ड्रेनेज कार्यों पर व्यय होगे। १९६१ मे भारत मे १०० वर्गमील क्षेत्र के पीछे ३५ मील लम्बी सडकें थी परन्तु १९८१ तक यह अनुपात ५२ मील हो जाएगा।

भारत में सडक व्यवस्था में कमियाँ—उक्त प्रगति के बावजूद भारत मे सडक-व्यवस्था मे निम्न कमियां हैं

(१) **सडको की लम्बाई अन्य देशो से बहुत कम है**—जापान, सयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस व इगलैंड मे १०० वर्गमील क्षेत्र के पीछे क्रमश ४०० मील, ११० मील, ३०४ मील तथा

1. See Yojana op cit p 27
2 R C Jain Article in Economic Times Nov 4, 1968

२०० मील लम्बी सड़कें हैं जबकि भारत मे १९६७ (मार्च) तक भी यह अनुपात केवल ४७ मील ही था ।

(२) नई सड़को के निर्माण के साथ पुरानी सड़को को बनाए रखने का प्रयास नही किया जाता । जैसा कि ऊपर बताया गया है, १९५०-५१ व १९६८-६९ के बीच सड़को के निर्माण आदि पर ५ गुना व्यय हो गया जबकि इनकी व्यवस्था (maintenance) पर व्यय केवल दुगुना हुआ है । फलस्वरूप कुछ ही वर्षो बाद सड़कें पूर्णतया बेकार हो जाती हैं ।

(३) गायब कड़ियो, पुल-निर्माण तथा क्रॉस ड्रेनेज की दिशा में प्रगति बहुत धीमी है । केवल राष्ट्रीय राजमार्गों मे मार्च, १९६९ तक निम्न कमियाँ शेष थी :

(i) गायब कड़ियो की लम्बाई २५० मील, (ii) १७ बड़े मार्गों पर पुलो का अभाव, (iii) १० हजार मील लम्बा सकरा मार्ग जिस पर एक ही वाहन चल सकता है, (iv) १२,५०० मील (कुल राष्ट्रीय राजमार्ग का ८२%) खराब हो चुके मार्ग (weak pavements), (v) हजारो तग, छोटे पुल व पुलिया तथा (vi) अनेको रेल-रोड क्रॉसिंग पर पुलों का न होना ।

(४) सड़को की सतह भारत मे बहुत पतली है । मितव्ययिता के नाम पर ९ से १० इंच तक मोटी सतह ही रखी जाती है जबकि भारी गाड़ियो के लिए १८ से २० इंच की सतह होनी आवश्यक है ।

(५) भीड़-भाड़ वाले बड़े नगरों में उपमार्गों की व्यवस्था ठीक नही है जिससे दुर्घटनाओ का खतरा बना रहता है ।

(६) देश की सड़को मे से आज भी ७०% सड़कें कच्ची हैं तथा १०% सड़कें केवल बैलगाड़ियों के लिए उपयुक्त है ।

सड़क परिवहन
(Road Transport)

स्वतन्त्रता के बाद आर्थिक विकास की प्रक्रिया के साथ-साथ सड़क परिवहन का महत्व भी काफी बढा है । तीन पचवर्षीय योजनाओ की अवधि में वस्तुओ का आवागमन (रेल मार्गों व सड़को द्वारा) ३½ गुना तथा यात्रियो का आवागमन लगभग ८०% बढ़ा है । लेकिन इनमे रेलो की अपेक्षा सड़क-परिवहन का योगदान प्रगतिशील रूप से बढा है । निम्न तालिका इसका एक प्रमाण है

	ढोया गया माल (मिलियन टन किलोमीटर)		यात्री-ट्रैफिक (मिलियन यात्री किलोमीटर)	
	१९५०-५१	१९६५-६६	१९५०-५१	१९६५-६६
रेल परिवहन	४४,११७	१,१६,७८४	६६,५१७	९६,२९४
कुल मे अनुपात	८९%	७७%	७४%	५३%
मोटर परिवहन	५,५००	३५,०००	८९९५०	१,८१,२९४
कुल मे अनुपात	११%	२३%	२६%	४७%

इस प्रकार सड़क परिवहन का अनुपात ढोये गए माल मे पूर्वापेक्षा १००% तथा यात्री ट्रैफिक मे ८०% बढा । तीन योजनाओ की अवधि मे बसो की सख्या ३४,४०० से बढकर ७०,००० तथा ट्रको की सख्या ८१,९०० से बढकर २.५ लाख हो गई । १९६८-६९ मे सड़कों पर ४०,००० मिलियन टन किलोमीटर माल ढोया गया तथा लगभग ९२,००० मिलियन यात्री किलोमीटर का यात्री ट्रैफिक हुआ । इस वर्ष देश भर में ट्रको की सख्या ३ लाख तथा बसो की संख्या ३५,००० थी । (See Yojana : April 20, 1969)

मोटर यातायात पर नियन्त्रण हेतु सर्वप्रथम १९१४ मे एक अधिनियम पारित किया गया । इसके अन्तर्गत मोटरों के पंजीकरण तथा चालकों को लाइसेंस देने सम्बन्धी कानून बनाए गए । १९३९ में मोटर वाहन अधिनियम के अन्तर्गत क्षेत्रीय तथा प्रादेशिक अधिकारियों को मोटर

यातायात पर नियन्त्रण हेतु नियुक्तियाँ की गई । इस अधिनियम मे १९५६ मे सशोधन किया गया । यह एक केन्द्रीय सरकार का अधिनियम है जिसके अनुसार राज्य सरकारें मोटर यातायात को नियन्त्रित करती है और परमिट तथा लाइसेंस सम्बन्धी व्यवस्था करती हैं । इसी कानून (सशोधित १९५६) के अन्तर्गत अन्तर्राज्यीय परिवहन के विकास एव नियमन की व्यवस्था करता है ।[1]

सडक परिवहन से सम्बद्ध आज दो ज्वलत प्रश्न है प्रथम, रेलो व सडकों के बीच समन्वय का, तथा द्वितीय मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण का । पहले हम इन प्रश्नो की सैद्धातिक पृष्ठभूमि की समीक्षा करेंगे और फिर इस दिशा मे राज्य की नीति का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाएगा ।

रेल-सडक समन्वय · एक महत्त्वपूर्ण समस्या

रेल यातायात तथा मोटर परिवहन के बीच वस्तुत समन्वय होना चाहिये । यह तभी सभव है जब कि सडकें रेलो के समान्तर न बनाई जाकर लम्बरूप बनाई जाएँ ताकि मोटरो व रेलो मे स्पर्धा न हो । यदि विभिन्न परिवहन के साधनो के मध्य समन्वय हो तो समाज को न्यूनतम परिवहन की लागत का लाभ होगा । परिवहन नीति तथा समन्वय समिति ने बताया है कि कि राज्य को इस प्रकार नीति निर्धारित करनी चाहिये कि विभिन्न परिवहन के साधन जनसाधारण को न्यूनतम लागत पर अधिकतम सुविधा प्रदान कर सकें ।

दुर्भाग्य से भारत मे प्रथम विश्व युद्ध के बाद से ही मोटरों तथा रेलो की प्रतियोगिता चल रही है । इस दिशा मे मिचेल किर्कनेम कमेटी (१९३३) एव वैजवुड कमेटी (१९३६) ने सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुए मोटर परिवहन पर कठोर नियत्रण रखने का आग्रह किया । दोनो समितियो ने बताया कि रेलो को समान्तर सडकों पर चलने वाले मोटर यातायात से २ से ४ करोड रुपये का प्रतिवर्ष घाटा होता था । इन्होंने रेल प्रशासन द्वारा मोटरें चलाने का सुझाव भी प्रस्तुत किया ।

लेकिन दोनो के बीच अनेक आदेशो व नियमो के उपरोक्त भी समन्वय स्थापित नही किया जा सका । १९५९ मे नियोगी कमेटी की नियुक्ति सरकार की परिवहन नीति हेतु सुझाव प्रस्तुत करने की दृष्टि से की गई । किन्ही कारणो से श्री नियोगी ने त्यागपत्र दे दिया तथा श्री तारलोकसिंह को इसका अध्यक्ष बनाया गया । इस समिति ने अपनी रिपोर्ट जनवरी, १९६६ में प्रस्तुत की जिसे सडक नीति तथा समन्वय समिति रिपोर्ट के नाम से जाना जाता है ।

इस रिपोर्ट[2] मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह बताई गई कि समन्वय-नीति देश के आर्थिक विकास के सदर्भ मे बनाई जाय तथा यथासभव लागत के दृष्टिकोण को सामने रखा जाय । रिपोर्ट मे कहा गया कि परिवहन के विभिन्न साधनो के बीच समन्वय की बात प्रत्येक परिवहन से प्राप्त सामाजिक लाभ तथा उसकी सामाजिक लागत के आधार पर होनी चाहिए । परिवहन-विशेष पर विनियोग की राशि (जिसमे विदेशी विनिमय सम्मिलित है) का अनुमान किया जाय ।

रिपोर्ट मे आगे कहा गया कि अर्थव्यवस्था की सपूर्ण आवश्यकताएँ न्यूनतम लागत से पूरी हो, यही राज्य की परिवहन नीति का लक्ष्य होना चाहिए । यह भी कहा गया कि औसत लागत की अपेक्षा रेलो व मोटरो की तुलनात्मक लागत विशेष ट्रैफिक के विषय मे आँकी जावें । दोनो ही के विषय मे कुछ तथा सीमान्त लागत सम्बन्धी कुछ वर्षों तक सूचनाएँ एकत्रित की जायें ।

विभिन्न प्रकार के परिवहन के साधनो के लिए ट्रैफिक का वितरण करते समय यह भी देखा जाय कि उनमे से प्रत्येक कितना सामाजिक लाभ या सुविधाएँ प्रदान करने की स्थिति मे है ?

---

1. Final Report of the Committee on Transport Policy and Coordination January, 1966 pp 80-83
2. Ibid Ch III and Ch VI op pp 185-89 and 197-200

उक्त कमेटी ने सुझाव दिया कि रेलो मे नया विनियोग रेल परिवहन की कार्य-कुशलता को सुधारने हेतु किया जाय। दूसरी ओर कृषि, ग्रामीण अर्थव्यवस्था विभिन्न नगरो के बीच एव अल्प विकसित तथा पिछडे हुए इलाको मे सडको का विस्तार किया जाय। कमेटी ने विशेष रूप से रेलों व सडकों के समन्वय का जिक्र करते हुए राजकोषीय उपाय, मूल्य (भाडा-दरें) निर्धारण नियमन तथा सगठन व कार्यों के एकीकरण आदि उपायो पर कार्य करने का सुझाव दिया।

व्यापक सामाजिक व आर्थिक दृष्टिकोण के आधार पर किसी भी परिवहन के साधन की लागत तथा भाडा दरो की समीक्षा की जानी चाहिये तथा इसी आधार पर उस पर कर लगाया जाय या अनुदान दिया जाय, यह निर्भर करेगा। मोटर गाडियो द्वारा लम्बी दूरी का आवागमन समान लागत पर नही हो सकता अतएव इन पर विभिन्न दरो को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। वस्तुत समिति के मत मे राजकोषीय उपायो द्वारा किसी सीमा तक विशेष प्रकार के परिवहन हेतु प्रोत्साहन दिया जा सकता है अथवा इनकी सेवाओ की माँग पर रोक लगाई जा सकती है।

सडक परिवहन पर राज्य द्वारा प्रभावपूर्ण नियमन रखने का भी सुझाव दिया गया है। इसके लिए लाइसेंसिंग का नियमन अन्तर्राज्यीय परिवहन हेतु केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा राज्य (प्रदेश) के भीतर यातायात हेतु राज्य सरकार द्वारा किया जाय। परन्तु नियमन की नीति ट्रैफिक आवटन के कार्यक्रम के अनुरूप सडक परिवहन के विकास मे सहायक होनी चाहिए तथा उपभोक्ताओं व छोटे मोटर-मालिको के अधिकारो का हनन नही होना चाहिए।

एकीकरण की प्रक्रिया हेतु ट्रैफिक आवटन को आधार बनाया जाय। जिन राज्यो मे राष्ट्रीयकृत मोटर परिवहन है, वहां के परिवहन निगम व रेल-प्रशासन सयुक्त व्यवस्था' द्वारा यात्रियो तथा माल को ले जाने की व्यवस्था करे। इसके लिए केन्द्रीय अन्तर्राज्यीय परिवहन आयोग के निर्देशन मे सारा कार्य हो। राज्यो के परिवहन निगमो को ट्रैफिक आबंटन मे पर्याप्त अश दिया जाय। कमेटी ने यह भी सुझाव दिया कि रेलो के सम्बन्ध मे इस प्रकार नीति बनाई जाय कि उनकी पूँजी पर समुचित प्रतिफल प्राप्त हो सके।

कुल मिलाकर परिवहन नीति एव समन्वय समिति ने लागतो को आधार बनाने का सुझाव दिया। यह ठीक भी है कि अर्थव्यवस्था मे विभिन्न परिवहन के साधनो का गठन इस प्रकार हो कि विभिन्न क्षेत्रों मे इनका सतुलित वितरण हो तथा माल व यात्रियो का आवागमन न्यूनतम लागत पर सभव हो जाए। परन्तु साथ ही यह भी देखा जाना चाहिए कि परिवहन के माध्यम पर लगाई गई पूँजी पर उचित प्रतिफल प्राप्त हो।

तुलनात्मक लागत सम्बन्धी कुछ अनुमान[1]—कुछ परिवहन समितियो ने अनुमान किया है कि ३०० किलोमीटर तक की दूरी पर रेल परिवहन मोटर परिवहन की अपेक्षा मँहगा पडता है। योजना आयोग द्वारा परिवहन की लागतो के जो अनुमान प्रकाशित किए गए हैं उनके अनुसार यद्यपि लम्बी दूरी पर लागत ट्रकों की अपेक्षा माल गाडियो मे कम बैठती है फिर भी यदि माल थोडी मात्रा मे हो तो २०० किलोमीटर तक तो लागत ट्रको की अपेक्षा रेलो मे ज्यादा बैठती है। ८०० किलोमीटर तक थोडी मात्रा मे माल भेजा जाय तो अनुमानतः दोनो मे समान लागत बैठती है। लागत के कुछ अनुमान इस प्रकार है :

रेल यातायात (लागत प्रतिटन रुपयों में)

दूरी किलोमीटर	फुल लोड वाष्प चालित	फुल लोड डीजल	थोड़ी मात्रा में वाष्प चालित	थोड़ी मात्रा में डीजल	
५०	५ ७५	५ ४४	१९·६३	१९ १९	१२·८२
२००	१० ३५	९ ०९	३१·५०	२९ ७६	२१·३८
५००	२१·९४	१८·७८	५९·८४	५५ ४९	५३·५०
१०००	४० ५५	३४·२५	८८'२९	७९·६०	९४ ९०

1. See (i) C.S Nair : Comparative Role of Road & Rail Economic Times January 14, 1969 and
(ii) K L. Kakkar : Rail & Road Transport Coordination Easter Economist Annual Number 1969. pp 1309-11

इसका यह आशय हुआ कि रेल यातायात उसी स्थिति में मोटर परिवहन से सस्ता हो सकता है जबकि लम्बी दूरी तक तथा फुल लोड (क्षमतानुसार) माल भेजा जाय। १९६६-६७ मे रेलो द्वारा ८० लाख टन माल थोडी मात्रा मे भेजा गया जिस पर लागत भी वसूल नही की जा सकी क्योकि प्राप्त मात्रा कम था। इस प्रकार लागत से भी कम पर माल ले जाने के कारण रेलो को ५ से ८ करोड रुपये का घाटा प्रतिवर्ष हो रहा है। इसके अतिरिक्त थोडी मात्रा में औसतन ६ टन माल भेजा जाता है जबकि प्रति वैगन १८.५ टन माल जाना चाहिये। इस प्रकार थोडी दूरी तथा थोडी मात्रा का परिवहन क्षति कारक होने के साथ ही क्षमता का भी समुचित उपयोग नही होने देता।

जनसाधारण को भी रेल परिवहन मे पैकिंग टर्मिनल्स पर ढुलाई आदि का व्यय वहन करना होता है और फलस्वरूप ट्रको की लोकप्रियता बढ रही है। माल रेलो द्वारा विलम्ब से पहुंचता है।

भारत मे सडक यातायात के पक्ष मे यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि सडक परिवहन से कुल प्राप्ति का २२% कर के रूप मे ले लिया जाता है, जबकि रेलो पर इस प्रकार का कोई कर नहीं है, तटीय जहाजरानी पर ८% तथा जहाजी यातायात पर केवल १% कर है। इतने पर भी मोटर यातायात मे चालको को पूंजी का ८ से १% लाभ के रूप मे मिलता है जबकि रेलें कर मुक्त होने पर भी ६% से भी कम प्रतिफल दे पाती हैं। यदि सडक परिवहन की भाँति १२% प्रतिफल का मापदड लिया जाय तो रेलें घाटे मे चली जाएंगी।

भारत मे प्रत्येक टन मील पर मोटर यातायात हेतु ७ पैसे केवल कर के रूप मे ही चुकाने होते हैं जो रेलो की औसत लागत (प्रतिटन मील) के समान है। इस प्रकार रेल व सडक परिवहन के बीच सरकार पक्षपात पूर्ण नीति बरत रही है।[1]

विश्व बैंक के कोयला-परिवहन अध्ययन दल ने भारत के सदर्भ मे कहा था कि ट्रको द्वारा कोयला लाया जाय तो परिवहन की लागत ४५% तक कम हो जाएगी। दल ने इसके लिए यह शर्त रखी कि सडको का सुधार किया जाय ताकि ट्रको की गति को बढाया जा सके। १५ किलोमीटर प्रतिघण्टा की अपेक्षा यदि ४५ किलोमीटर की गति से ट्रक चलाए जायें तो लागत १२४ पैसे प्रति वाहन किलोमीटर से घटकर ६७ ६ पैसे रह जाएगी। यदि बडे ट्रको का उपयोग किया जाय तब भी लागत मे ७७% तक कमी की जा सकती है।

कुछ भी हो, भविष्य मे हमे परिवहन नीति इसी प्रकार बनानी होगी जिससे ट्रैफिक का मात्रा व दूरी के आधार पर आबटन हो जाय, तथा स्पर्धा की अपेक्षा समन्वय द्वारा परिवहन चालको तथा उपभोक्ताओ (समाज) दोनो को लाभ पहुँचाया जा सके। कुछ समय से रेलो ने कटेनर्स (Containers) के द्वारा माल को ढोने की ऐसी व्यवस्था प्रारभ की है, जिसके द्वारा रेल गाडियाँ तथा ट्रको का समन्वित रूप से उपयोग किया जा सकेगा।

मोटर परिवहन का राष्ट्रीयकरण

परिवहन नीति तथा समन्वय समिति ने इस प्रश्न पर बहुत विस्तार के साथ विचार किया था। इसके पूर्व कि हम उक्त समिति के विचारो का विश्लेषण करें इस प्रश्न को सैद्धातिक पृष्ठ भूमि से देखना उचित होगा। हमे मोटर परिवहन के राष्ट्रीयकरण के लाभ व दोषो की समीक्षा के पश्चात् भारत के सदर्भ मे आवश्यक नीति के औचित्य पर विचार करना चाहिए।

मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण के लाभ

(१) राष्ट्रीयकरण के पश्चात् मोटरो मे क्षमता से अधिक सवारियाँ नही लाई जाएंगी।

---

1 जहाँ केवल सडको के सुधार से ही मोटर परिवहन की लागत को काफी कम किया जा सकता है, रेलो मे पूंजी तथा प्राप्ति का अनुपात बढता जा रहा है। द्वितीय योजना मे यह अनुपात २ ३ : १ था जो चतुर्थ योजना काल मे बढ कर ३४ : १ तक हो जाएगा और छठी योजना काल मे ४ : १ तक बढ जाने की आशका है। (देखिए C S Nair पूर्व उद्धृत)

निजी क्षेत्र मे बस-मालिक अधिक लाभ-प्राप्ति के लालच मे जरूरत से बहुत अधिक सवारियाँ ले लेते है।

(२) किराए की दरो मे निश्चितता व स्थिरता आ जाएगी। यद्यपि प्रत्येक राज्य मे सरकार ने किराए की दरें निर्धारित की हुई हैं तथापि निजी क्षेत्र मे अनेक बार राज्य द्वारा निर्धारित दरों की अवहेलना की जाती है। अनिश्चितता को इस स्थिति को राष्ट्रीयकरण द्वारा दूर किया जा सकता है।

(३) निजी क्षेत्रो मे प्रचलित अनावश्यक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करके बसो में प्रयुक्त पूँजी का इष्टतम उपयोग किया जा सकता है। एक ही मार्ग पर अनेक बसें चलने के कारण उनमे जो गलाघोट प्रतिस्पर्धा है वह राष्ट्रीयकरण द्वारा समाप्त की जा सकती है। यही नहीं, रेलो व मोटरों के बीच चलने वाली प्रतियोगिता को समाप्त करने का सर्वोत्तम उपाय राष्ट्रीयकरण में ही निहित है।

(४) निजी क्षेत्र में बसें अथवा भार-वहन गाडियाँ चलाने के पूर्व मोटर-मालिक अपने लाभ का अनुमान करता है और यही कारण है कि कुछ क्षेत्रों मे बहुत-सी बसे व भार-वाहन अथवा वस्तुओं को लाने ले जाने मे मोटरगाड़ियों का नितान्त अभाव रहता है। राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप अलाभप्रद मार्गों पर भी गाडियाँ चलाई जा सकेंगी, क्योंकि राज्य का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना नही, अपितु अधिकतम जनकल्याण होता है।

(५) राष्ट्रीयकरण का एक लाभ यह भी होगा कि पिछड़े हुए क्षेत्रो मे भी सडको का विकास हो सकेगा। सडको के निर्माण तथा मोटरगाड़ियों के संचालन मे तालमेल होने पर ही पिछड़े हुए क्षेत्रों का विनिमय-सम्बन्ध विकसित क्षेत्रो से हो सकता है और यह तभी सम्भव है जब ये एक ही अधिकारी के नियन्त्रण मे हो।

(६) यात्रियो को राष्ट्रीयकरण के पश्चात् अधिक सुविधाएं दी जा सकेंगी, क्योंकि राज्य का लक्ष्य आय को कोष मे बन्द कर देना नही होता। आरामदेह सीटें प्रस्थान एवं आगमन का निश्चित समय तथा बेहतर सेवाएँ आदि राजकीय क्षेत्र मे ही प्राप्त की जा सकती है।

(७) कर्मचारियों को ऊँचा वेतन तथा अन्य सुविधाएँ केवल राजकीय सेवा मे ही प्राप्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त नौकरी का स्थायित्व भी राजकीय क्षेत्र मे ही रहता है।

लेकिन राष्ट्रीयकरण से जहाँ उपरोक्त लाभ प्राप्त होते है, कुछ ऐसे दोष भी हे, जो राष्ट्रीयकरण के प्रति जनता मे असन्तोष उत्पन्न कर सकते है।

प्रथम, राष्ट्रीयकरण के पश्चात् मोटर-मालिको तथा जनता के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहता और इसमें यात्रियों को कोई भी कष्ट अथवा शिकायत होने पर उसका निराकरण दुष्कर हो जाता है।

द्वितीय, राज्य कर्मचारी बन जाने के पश्चात् ड्राइवर तथा कण्डक्टर यात्रियों के हितो की अवहेलना भी कर सकते हैं। उनकी नौकरी स्थायी होती है और साथ ही नम्रता तथा सौजन्य के बदले उन्हें कोई पुरस्कार या तरक्की मिलने की आशा नही होती। फलस्वरूप इस बात की आशंका रहती है कि वे अशिष्ट न हो जाएँ।

तृतीय, राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बसों की खरीद तथा स्टाफ के वेतन का भार जनता पर भी पड़ता है। राजकीय क्षेत्र मे आय तथा व्यय के अन्तर (लाभ) पर कर्मचारियों का कोई ध्यान नही होता और फलस्वरूप या तो राष्ट्रीयकरण किए गए मार्गो पर सरकार को हानि होती है अथवा लाभ का अनुपात पूँजी की अपेक्षा बहुत कम रहता है।

एक दोष यह भी है कि राष्ट्रीयकरण के पश्चात् भ्रष्टाचार, लालफीताशाही तथा राजकीय विभागों के अन्य दोषो का यातायात के क्षेत्र मे भी प्रवेश हो सकता है। इसीलिए १९४८ व १९५० के अधिनियमो मे यातायात निगम की स्थापना का सुझाव दिया गया है। यह निगम एक व्यापारी कम्पनी की भाँति बसो का संचालन कर सकता है। निगम के द्वारा जहाँ एक

ओर राष्ट्रीयकरण के दोषों को दूर किया जा सकता है, दूसरी ओर, इसके लाभ भी पूर्ववत् बने रहते हैं। वस्तुत निगम को सार्वजनिक क्षेत्र की एक निजी कम्पनी कहा जा सकता है।

हम मसानी कमेटी के इस वक्तव्य पर भी अपनी सहमति प्रगट कर सकते है कि मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण उसी समय किया जाए, जबकि राज्य सरकार की दृष्टि मे यह योग्य पर्याप्त आर्थिक व समन्वित दृष्टि से अनिवार्य हो।[1]

राष्ट्रीयकरण सडक यातायात के क्षेत्र मे प्रचलित बुराइयो के लिए रामवाण हो, यह आवश्यक नही है। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् उत्तरप्रदेश राजस्थान, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और अन्य राज्यो मे यात्रियो से पहले से अधिक किराया लिया जाने लगा है। जनता मे इससे अविश्वास व्याप्त होना अस्वाभाविक नही है।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे सडक विकास का कार्यक्रम

चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सडको के विकास पर जोर दिया जायगा। १९६६-६९ के तीन वर्षों मे सडको के विकास पर कुल मिलाकर ३०८ करोड रु० व्यय हुए। चतुर्थ योजना मे सडको के विकास पर ८२९ करोड रु० व्यय किये जाने का आयोजन है। योजनाकाल मे पक्की सडको की लम्बाई १९६८-६९ मे ३ १७ लाख कि० मी० की जायेगी। योजनाकाल मे सडको पर ढोने वाले माल की मात्रा १९६८-६९ मे ४० अरब मीट्रिक टन कि० मी० से बढाकर १९७३-७४ मे ८४ अरब मीट्रिक टन कि० मी० की जायेगी। सवारी यातायात भी १९६८-६९ मे ९२ अरब यात्री किलोमीटर से बढाकर १९७३-७४ मे १४० अरब यात्री किलोमीटर किये जाने का आयोजन है। इस बढे हुए यातायात को सम्भालने के लिए ट्रको की सख्या ३ लाख से बढाकर ४ ७० लाख तथा बसो की सख्या ८० हजार से बढाकर ११५ हजार किये जाने का आयोजन है। व्यापारिक गाडियों का उत्पादन भी ३५ हजार से बढकर ८५ हजार हो जायगा।

उपरोक्त के अतिरिक्त चतुर्थ योजना मे राज्यों मे राष्ट्रीयकृत यातायात इकाइयो की सेवायें बढाने पर ८२ करोड रु० व्यय किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त ३ करोड रु० केन्द्रीय सरकार द्वारा केन्द्रीय सडक यातायात पर व्यय किये जायेंगे। यह उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र मे कार्यशील है। सडक यातायात का अधिकतर विस्तार निजी क्षेत्र मे किया जायगा।

---

1 Masani Committee Report, (1959) p 32

४६

भारत में जल तथा वायु परिवहन
(Waterways & Civil Aviation)

प्रारम्भिक :

यातायात एवं परिवहन के सम्बन्ध मे रेलो तथा सड़को की स्थिति का अध्ययन पिछले दो अध्यायो में किया जा चुका है। ये दोनो वस्तुत स्थल-मार्ग हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त जल-परिवहन तथा वायु-परिवहन भी ऐसे साधन हैं, जिनके द्वारा वस्तुओ तथा यात्रियो का आवागमन होता रहा है। जल, थल व नभ सभी मार्गों से मानव दूसरे स्थानो तक जाने में आज समर्थ है। प्रस्तुत अध्याय मे जल तथा वायु मार्गों का भारत मे किस प्रकार विकास हुआ, इसका विस्तृत विवरण दिया गया है। सुविधा के लिए अध्याय को दो भागो मे बाँट दिया गया है—प्रथम भाग में जल-परिवहन तथा द्वितीय भाग मे वायु-परिवहन का वर्णन किया गया है।

[I] जल-परिवहन
(Water Transport)

जल-परिवहन के भेद—जल-परिवहन को दो मुख्य भागो में बाँटा जा सकता है

(१) अन्तर्देशीय जलमार्ग तथा (२) समुद्री जलमार्ग। समुद्री जलमार्ग मे तटीय मार्ग तथा समुद्र के बीच मे जाने वाले जलमार्ग हो सकते है।

१. अन्तर्देशीय जलमार्ग—इन मार्गो मे हम प्रधानत नदियो तथा नहरों को सम्मिलित करते हैं, जिनमे नावो अथवा स्टीमर द्वारा यात्रियो को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जाता है। नदियाँ अथवा नहरें जलमार्ग हेतु प्रयुक्त की जा सकें, इसके लिए निम्न शर्तें पूरी होनी चाहिए :

(१) नदी अथवा नहर की चौडाई काफी होनी चाहिए, तथा यह चौडाई लगभग सभी स्थानो पर इसी रूप मे होनी आवश्यक है।

(२) नदी अथवा नहर की गहराई काफी अधिक होनी चाहिए। छिछली अथवा कम गहरी नदी या नहर मे नावो अथवा स्टीमरो का चलाना कठिन होता है।

(३) इनमे जल प्रवाह अविरल होना चाहिए। गर्मियो मे पानी कम हो जाने पर ये यातायात के लिए उपयुक्त नही रह जाती।

(४) नदी अथवा नहर जल-यातायात के लिए उपयुक्त हो, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि इनमे जल-प्रवाह मंथर होना चाहिए। बीच-बीच मे प्रपात और इसी प्रकार की बाधाएँ और खड्ड आने पर नाव व स्टीमर की गति मे बाधाएँ आती हैं।

भारतीय नदियों में केवल उत्तरी भारत की कुछ नदियाँ (गंगा, जमुना तथा चंबल) ही नौगम्य हैं। दक्षिणी प्रायद्वीप की नदियों में उपरोक्त सभी विशेषताएँ नहीं मिलती। इन नदियों में प्रपात बहुत अधिक है और मौसम के अनुसार कभी वे बहुत तूफानी हो जाता है तथा कभी जल की केवल पतली रेखामात्र रह जाती है। पठारी इलाका होने के कारण इनका प्रवाह बहुत तेज होता है। लेकिन महानदी, गोदावरी व कृष्णा आदि नदियों में कुछ सीमा तक नावें चलाई जाती है।

डा० बुकेनन लिखते हैं कि १९ वीं शताब्दी के मध्य तक गंगा, सिंधु, कृष्णा, गोदावरी तथा पंजाब की कुछ नदियों में नावों द्वारा वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाई और ले जाई जाती थीं तथा ये जलमार्ग सड़कों के अभाव के कारण काफी लोकप्रिय थे।[1]

मौर्य व गुप्त साम्राज्यों के अन्तर्गत समस्त आंतरिक व्यापार नदियों के माध्यम से किया जाता था। इनमें गंगा तथा सिन्धु का व्यापक रूप से नौका संचालन में उपयोग किया जाता था। मैगस्थनीज ने २००० वर्ष पूर्व अपनी भारत यात्रा के संस्मरण में बताया था कि यहाँ लगभग ५८ नदियाँ ऐसी थीं जिनमें किसी न किसी रूप में जल परिवहन की व्यवस्था थी। लेकिन उसने यह भी बताया कि वर्ष भर जल परिवहन के लिए उपयुक्त रहने वाली नदियाँ थोड़ी ही थीं। इसी प्रकार डा० राधाकुमुद मुकर्जी द्वारा लिखित पुस्तक में वैदिक काल से लेकर मुगल काल तक प्रचलित आंतरिक जल मार्गों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।[2]

डा० चौहान ने लिखा है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भी आसाम में ब्रह्मपुत्र नदी में डिब्रूगढ़ तक तथा गंगा में पन्ना से ७०० मील पर गढ़मुक्तेश्वर तक, यमुना में आगरा तक बड़े बड़े स्टीमर चला करते थे। वे आगे लिखते हैं कि कानपुर नगर में नावों तथा स्टीमरों की इतनी भीड़ रहती थी कि वह एक बन्दरगाह सा प्रतीत होता था।[3]

लेकिन १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जैसे-जैसे रेलों व सड़कों का विकास होता गया अन्तर्देशीय जलमार्गों का उपयोग घटता गया। यद्यपि रेलों व सड़कों के निर्माण में काफी पूँजी का विनियोग आवश्यक था और इसके विपरीत नहरों को छोड़कर अन्य जलमार्गों के निर्माण अथवा मरम्मत में पूँजी का विनियोग आवश्यक नहीं होता तथापि निम्न कारणों से जल परिवहन का महत्व तेजी से घटता गया।

जल यातायात का महत्व कम होने के कारण

(१) धीमी गति—नावों की गति मोटरों अथवा रेलों की अपेक्षा बहुत धीमी होती थी। विशेष रूप से जब हम १९वीं शताब्दी की आर्थिक स्थिति को देखते हैं तो यह ज्ञात हो जाता है कि उस समय शक्ति चालित नावों का उपयोग अत्यन्त सीमित था। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी आत्मकथा में बताया है कि कलकत्ता से बनारस तक नाव से जाने में उन्हें लगभग डेढ़ माह लगा था। इसी प्रकार आगरा से दिल्ली तक की यात्रा नाव द्वारा एक माह में पूरी होती थी।[4]

(२) नावों की यात्रा अधिक खर्चीली होती थी—कलकत्ता से बनारस तक की यात्रा में न केवल १½ महीने का समय लगता था अपितु इसमें २२५ रुपये से लेकर ३०½ रुपये तक व्यय हो जाते थे। समय तथा धन दोनों के अपव्यय के कारण धीरे-धीरे जनता ने नावों का उपयोग करना छोड़ दिया।[5]

(३) प्रकृति प्रकोप—जलमार्गों का उपयोग प्रकृति की दया पर निर्भर रहता है। वर्षा, तूफान, बाढ़ अथवा अन्य प्राकृतिक प्रकोपों के समय नावों अथवा स्टीमरों का उपयोग काफी दुष्कर

---

1 Dr. D H Buchanan The Development of Capitalist Enterprise in India, p 176
2 Dr R K Mukerji The History of Indian Shipping
३ डा० सिवध्यान सिंह चौहान, आधुनिक परिवहन, पृष्ठ ३४८
4 Indian Railways One Hundred Years 1853 1953, p 129
5 Dr Johnson. The Economics of Indian Rail Transport, p 3

हो जाता है। इसके विपरीत रेलो व सड़को का उपयोग प्राकृतिक प्रकोपो द्वारा अवरुद्ध (साधारणतया) नही होता।

(४) सुविधाओं का अभाव—जलमार्ग की सुविधाएँ सर्वत्र उपलब्ध नही होती जहाँ उपरोक्त चार शर्तें पूरी होती हो केवल वही अन्तर्देशीय जल-परिवहन संभव है। यही कारण था कि रेलों तथा सडको का निर्माण आवश्यक माना गया, क्योकि जलमार्ग सभी जगह विद्यमान नही थे।

(५) अत्यधिक जोखिम—जलमार्ग मे जान व माल को जोखिम बहुत अधिक रहती है। नाव उलट जाने या तूफान मे फँस जाने पर यात्रियो व माल-असबाब के डूब जाने का भय सदैव बना रहता है। रेलगाडियों या मोटरो में दुर्घटना की आशंका बहुत कम रहती है।

लेकिन उपयोक्त दोष होने पर भी जल-परिवहन का एक सीमा तक महत्त्व बना रहा और आज भी रेलें तथा सड़कें उस क्षेत्र मे जलमार्गों की उपादेयता को कम नही कर सकी हैं। घने जंगलो तथा पर्वतीय प्रदेशो मे जो बहुमूल्य लकडी और अन्य जरूरी कच्चे पदार्थ प्राप्त होते हैं उन्हे निर्दिष्ट स्थानो तक केवल नदियो द्वारा ही पहुँचाया जा सकता है।

२. सामुद्रिक परिवहन—सामुद्रिक जल-परिवहन की दृष्टि से भारत इंगलैण्ड की भाँति भाग्यशाली देश नही है। भारतीय समुद्री तट अधिक कटा-फटा नही है। लेकिन फिर भी ४,००० मील लम्बा (अब ३,५०० मील) समुद्र तट तथा इस पर स्थित बन्दरगाह देश की व्यापारिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पर्याप्त है।[1]

प्राचीन समय मे जब भारत के व्यापारी विदेशो से व्यापार करते थे, भारतीय जलपोतों का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता था। मुगल काल तक भी सामुद्रिक परिवहन की दृष्टि से भारत उन्नत स्थिति मे था। मोरलैंड का कथन है कि अकबर की मृत्यु के समय भारत के व्यापारिक सम्बन्ध विश्व के अन्य देशो से काफी घनिष्ट थे तथा अधिकाश सामुद्रिक व्यापार भारत के बने जहाजो द्वारा ही किया जाता था। वे आगे लिखते है कि उस समय भारत के यात्री-जहाज पुर्तगालियों द्वारा बनाए गए जहाजो को छोडकर तत्कालीन सभी यूरोपीयन जहाजो से बडे थे। डिग्बी के कथनानुसार १९वी शताब्दी के प्रारम्भ तक सागवान की लकड़ी से ऐसे जहाज भारत मे बनाये जाते थे जिनकी क्षमता १०,००० टन थी तथा जो इगलैंड तक माल ले जा सकते थे।[2] डा० वीरा एन्स्टे लिखती हैं कि १९वी शताब्दी के पूर्वार्ध तक भी भारत का सामुद्रिक परिवहन पर काफी अधिकार था तथा यहाँ एक उन्नत जहाजरानी उद्योग विद्यमान था।[3]

लेकिन उन्नीसवी शताब्दी मे जैसे-जैसे इस्पात के बने जहाजो का प्रचलन बढता गया भारत के बने लकडी के जहाजो का महत्त्व घटता गया और उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक सामुद्रिक व्यापार का ९९% इस्पात के जहाजो द्वारा सम्पादित किया जाने लगा था। इन इस्पात के जहाजों मे अधिकाश इंगलैंड में बने थे बीसवी शताब्दी में प्रारम्भ से ही फ्रान्स, इटली, नार्वे तथा जर्मनी में इस्पात के जहाजो का निर्माण होने लगा था तथा भारत के सामुद्रिक परिवहन मे ये देश भी इंगलैंड के साथ-साथ भाग लेने लगे थे। प्रथम युद्धकाल मे भारत से पूर्व की ओर जाने वाले जहाजो में जापानी जहाजों की सख्या में काफी वृद्धि हो गई और इस प्रकार जहाँ १९वी शताब्दी के मध्य तक भारतीय जहाज सामुद्रिक परिवहन में अग्रणी थे, १९२३ तक भारत के तटीय व्यापार का केवल १२% एवं विदेशी व्यापार का केवल २% भारत मे बने जल-पोतो द्वारा सम्पादित किया जाने लगा।[4] इन्ही दिनों हिन्द महासागर, बगाल की खाडी तथा अरब सागर मे अमरीका तथा आस्ट्रिया के जहाजो की सख्या भी बढने लगी थी। भारतीय कम्पनियो में केवल सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी इस समय मुख्य थी और अन्य जहाज कम्पनियो पर विदेशियो का अधिकार था। भारतीय साहसी सामुद्रिक परिवहन के क्षेत्र से धीरे-धीरे अलग होते जा रहे थे और विदेशी जहाज कम्पनियाँ उनका स्थान ले रही थी।

1. S N. Haji : Economics of Shipping, pp 365-6
2. W. Digby : Prosperous British India, pp. 85-86
3. Dr. Vera Anstey : Economic Development of India, p. 152
4. Dr. Vera Anstey, ibid p. 152 (Foot-note)

सामुद्रिक परिवहन मे भारतीय साहसियो के लोप के कारण

(१) **इस्पात के जहाजो का प्रचलन**—भारतीय जहाज लकडी के बने होते थे। पश्चिमी देशो मे जैसे-जसे इस्पात के जहाजो का प्रचलन बढता गया, वैसे-वैसे भारतीय जहाजो की सेवायें कम ली जाने लगी। इन इस्पात के जहाजो मे अधिक माल ढोया जा सकता था तथा ये अपेक्षाकृत अधिक मजबूत भी थे।

(२) **भारतीय जहाजो की धीमी गति**—शक्ति के उपयोग के कारण विदेशी जहाजो की गति भारतीय जहाजो की अपेक्षा काफी अधिक होती थी। भारतीय जहाज पतवारो की सहायता से चलते थे यथा यन्त्रीकृत न होने के कारण इनकी गति प्रकृति पर निभर करती थी।

(३) **ब्रिटिश सरकार की नीति तथा आग्ल व्यापारियो की ईर्ष्या**—आग्ल व्यापारी यह नही चाहते थे कि इगलैण्ड मे भारतीय जहाजो द्वारा वस्तुओ को पहुँचाया जाय। इसी प्रकार इगलैड से भारत आने वाली वस्तुयें आग्ल जहाजो मे ही लाई जा सकती थी। इसी आशय से वहाँ अनेक नौकागमन अधिनियम पारित किए गए और फलतः भारतीय जहाजो का उपयोग तेजी से कम होता गया। यहाँ तक कि प्रथम व द्वितीय महायुद्धो के बीच अनेक बार ऐसे अवसर सामने थे जबकि जहाजो का निर्माण प्रारम्भ किया जा सकता था, क्योकि युद्धकाल मे अधिक जहाजो की जरूरत थी, लेकिन सरकार की उपेक्षापूण नीति ने भारत मे जहाजरानी उद्योग को विकास नही करने दिया। इसके विपरीत भारतीय बन्दरगाहो मे विदेशी जहाज कम्पनियो को बहुत सी सुविधायें दी गई।

(४) **विदेशी जहाज कम्पनियो द्वारा भाडे में रियायत तथा भुगतान की सरल प्रणाली**—अनेक जहाज कम्पनियों ने यह घोषणा की हुई थी कि यदि कोई व्यापारी ४-५ महीने तक केवल उन्ही के जहाजो मे माल भेजता है तो जहाज कम्पनी निश्चित अवधि के पश्चात् रियायत (कन्सेशन) की एक रकम व्यापारी को वापस कर देगी। इसके अतिरिक्त कुछ कम्पनियो ने भाडा बाद मे चुकाने की व्यवस्था कर दी। फलस्वरूप भारतीय जहाजो का उपयोग तेजी से घटने लगा, क्योकि इनके स्वामी उपरोक्त सुविधायें देने मे असमर्थ थे। इस प्रकार की छूट को विलबित (deferred) छूट कहते है।[1] इसी छूट के कारण अनेक निर्यातकर्त्ता कुछ विशिष्ट कम्पनियो से बध जाते थे।

(५) **किराये-भाडे की लडाई**—बीसवी शताब्दी मे अनेक जहाज कम्पनियाँ होने के कारण उनमे किराये भाडे की लडाई चलती रहती थी। लेकिन इस द्वन्द्व मे आग्ल कम्पनियो की ही विजय होती थी, क्योकि प्रथम तो आग्ल सरकार इन्हे सरक्षण प्रदान करती थी और द्वितीय कम्पनियाँ रियायती भाडा लेकर धीरे-धीरे विरोधी कम्पनियो को मैदान से खदेड देती थी। भारतीय कम्पनियाँ अथवा नौकाओ के स्वामी इस प्रतिस्पर्धा मे भाग लेने मे सर्वथा असमर्थ थे।[2]

व्यापारिक जहाजरानी समिति (१९२३)

फरवरी १९२३ मे कतिपय भारतीय व्यापारियो के दबाव के कारण सरकार ने व्यापारिक जहाजरानी समिति की नियुक्ति की। इस समिति का मुख्य कार्य भारतीय जहाजरानी और जलयान निर्माण-उद्योग के विकास के सम्बन्ध मे विचार करना था। समिति ने निम्न सुझाव प्रस्तुत किए [3]

(१) भारतीय व्यापारिक जहाजरानी के लिए अधिकारियो के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय। (२) इजीनियरिंग कालेजो मे सामुद्रिक इजीनियरिंग का प्रशिक्षण दिया जाय, (३) तटीय व्यापार केवल उन्ही जहाजो के लिए सुरक्षित रखा जाय जिनके पास लाइसेंस हैं, (४) भारतीय कर्मचारियो को प्रोत्साहन देने हेतु भारतीय कम्पनियो को अनुदान दिया जाय, (५) कलकत्ता मे

1. Haji, ibid, p 126
2 Ibid, Chapter 5
3 Report of the Indian Mercantile Committee, 1923-24

स्वचालित जल-यानों का निर्माण किया जाय, (६) सरकार को चाहिए कि वह जल-यान-निर्माण केन्द्र (यार्ड) की स्थापना में कम्पनियों को सहायता प्रदान करे।

समिति ने यह भी कहा कि भारतीय जहाजरानी तथा जल-यान सम्बन्धी उद्योग के विकास हेतु प्रारम्भ मे विदेशी सहायता लेना आवश्यक होगा।

श्री एस० एन० हाजी के प्रयास—भारतीय जल-परिवहन के क्षेत्र मे श्री एस० एन० हाजी के प्रयास काफी महत्त्वपूर्ण रहे हैं। १९२८ व १९२९ में उन्होने दो बिल धारा सभा में रखे। प्रथम बिल का उद्देश्य तटीय व्यापार मे ७५ प्रतिशत संस्थाओ के पास सौपना था, जबकि द्वितीय बिल का आशय भाडे की कुटिलतापूर्ण रियायत को समाप्त करना था। लेकिन इन बिलों पर ब्रिटिश सरकार कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नही ले सकी।

द्वितीय महयुद्ध के पश्चात्—सामुद्रिक परिवहन के रूप मे काफी परिवर्तन हुए। युद्ध की समाप्ति पर १९४४ मे सर रामास्वामी अय्यर की अध्यक्षता मे सरकार ने जहाजरानी-सम्बन्धी 'पुर्ननिर्माण उपसमिति' की नियुक्ति की, जिसने जनवरी, १९४७ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने ज़ोरदार शब्दो मे मॉग की कि अन्य विकसित देशो की भाँति भारत में भी सामुद्रिक परिवहन से सम्बन्धित एक राष्ट्रीय नीति बनाई जाय। समिति की द्वितीय मॉग यह थी कि ५-७ वर्ष के भीतर सरकार को चाहिए कि समस्त तटीय व्यापार तथा बर्मा व लंका से होने वाले व्यापार का ७५ प्रतिशत भारतीय जहाजो द्वारा किए जाने की व्यवस्था कर दे। तीसरे, दूरवर्ती व्यापार का आधा तथा पूर्व मे धुरी (axis) शक्तियो द्वारा खोए गए व्यापार का ४० प्रतिशत भारतीय जहाजो द्वारा प्राप्त किए जाने के कदम उठाए जायें।

समिति की बहुमत रिपोर्ट ने भारतीय जहाजो मे उन जलयानो को सम्मिलित किया जो भारतीयों द्वारा अधिकृत, नियन्त्रित एवं प्रबन्धित थे। समिति ने भारत मे एक जहाजरानी बोर्ड स्थापित करने का भी सुझाव दिया।[1]

सरकार ने इन सुझावो को मान तो लिया, लेकिन इस नीति को अमल मे लाने के लिए ब्रिटिश कम्पनियों से समझौता करना आवश्यक था। फलस्वरूप एक शिष्टमण्डल मई, १९४७ मे इंगलैंड गया। परन्तु यह शिष्टमण्डल बिना किसी परिणाम पर पहुँचे लौट आया।

जुलाई, १९४७ मे सरकार ने नवीन जहाजरानी नीति-सम्बन्धी एक प्रस्ताव पारित किया। इस नीति की मुख्य विशेषतायें यह थी :[2]

(i) भारतीय जहाजरानी का अर्थ उन जहाजो से लिया गया, भारतीयों द्वारा अधिकृत नियन्त्रित एवं प्रबन्धित थे।

(ii) भारतीय जहाजरानी के विकास हेतु राज्य ने वित्तीय सहायता देना सिद्धान्तत स्वीकार कर लिया था।

(iii) ७ वर्ष के भीतर २० लाख टन के जहाजो के लक्ष्य को प्राप्त करना निश्चय किया गया।

(iv) भारतीय जहाजो द्वारा १००% तटीय व्यापार किए जाने की व्यवस्था की जानी थी।

(v) भारत के विदेशी व्यापार मे भारतीय जहाजो का अधिक योग प्राप्त करना।

स्वतन्त्रता के पश्चात् १९५० मे एक जहाजरानी कान्फ्रेंस हुई, जिसके पश्चात् सारा तटीय व्यापार भारतीय जहाजों को देने का निश्चय किया गया। स्वतन्त्रता के समय प्रो० वकील के मतानुसार विश्व के जहाजो द्वारा जितना माल ढोया जाता था। उसका केवल ·०४% भारत द्वारा तथा ·००४% पाकिस्तान द्वारा ढोया जाता था। अमरीकी जहाज कुल भार का ३६% व आंग्ल जहाज २२·५% वहन करते थे।

---

1. C. N. Vakil : Consquences of Divided India, p. 418
2. S K. Bose : Some Aspects of Indian Economic Development, vol. II, p. 217

आर्थिक नियोजन एवं सामुद्रिक परिवहन

आर्थिक नियोजन के पूर्व ही यह निश्चय कर लिया गया था कि यथासम्भव रा भारतीय जहाजरानी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए वित्तीय सहायता तो देगा ही, सरकार द्वा भेजे व मँगाए जाने के समय भारतीय जहाजो की सेवाये लेगी। १९४७ के पश्चात् सरकार १० करोड रुपये की अधिकृत पूँजी के साथ तीन जहाजरानी निगमो की स्थापना की जिनमे ५ प्रतिशत हिस्से सरकार के थे। प्रत्येक निगम को एक निश्चित मार्ग दिया गया और जहाजो व अधिकतम क्षमता १ लाख टन रखी गई। प्रत्येक निगम के पास २४ जहाज रखे जाने का निश्च किया गया।

दो वर्ष के भीतर ही सरकार ने सिंधिया स्टीम नैवीगेशन लिमिटेड के अन्तर्गत आस्ट्रे लिया, सुदूरपूर्व एव समीप के पूर्वी देशो का व्यापार सम्भाल लिया और कनाडा से दो जहा खरीदे गए। यही प्रथम निगम था। द्वितीय निगम १९५० मे आस्ट्रेलिया व पूर्वी देशो के साथ व्यापार करने के लिए तथा तृतीय निगम १९५६ मे फारस की खाडी, लाल सागर, भारत-पोलै तथा भारत-रूस आदि के मार्ग हेतु बनाया गया। इसके नाम क्रमश ईस्टर्न शिपिंग कार्पोरेशन तथ वेस्टर्न शिपिंग कार्पोरेशन थे।

जहाजरानी विकास कोष—१९५७ मे सरकार ने भारतीय जहाजरानी की प्रगति ह अर्थव्यवस्था करने के लिए जहाजरानी मन्डल तथा जहाजरानी विकास कोष की स्थापना घोषणा की। इस कोष का निर्माण भारत की सचित निधि (Consolidated Fund of Indi के अनुदानो से होगा। कोष १९५८ से प्रारम्भ हुआ, जबकि राष्ट्रीय जहाजरानी मण्डल स्थापना माच, १९५९ मे की गई।

प्रथम दो योजनाओं में प्रगति—१९४६ मे भारतीय बेडे मे १,२७,०८३ टन के कु ४९ जहाज थे, लेकिन दो पचवर्षीय योजनाओ मे कुल जहाजो की सख्या बढकर १७३ तथा जहाज की भारवाहिता बढकर ९ लाख टन हो गई। १९५०-५१ व १९६०-६१ के बीच विदेशी विनिम सम्बन्धी कठिनाइयाँ होने पर भी जहाजरानी के क्षेत्र मे काफी प्रगति की गई। निम्न तालिक उपरोक्त कथन की पुष्टि करती है[1]

जहाजो की कार्यभारिता (लाख जी० आर० टन)

	१९५०-५१	१९६०-६१
तटीय जहाज	२ १७	२·९२
समुद्र पार जहाज	१ ७४	६ १३
योग	३·९१	९·०५

इस प्रकार जहाजो की कुल भारवाहिता मे अनुमानत १३०% वृद्धि हुई, जिसमे समुद्र पार जहाजो की भारवाहिता मे हुई वृद्धि २५२% से अधिक थी। योजना आयोग के अनुसा १९६०-६१ मे भारत के समुद्र पार व्यापार मे भारतीय जहाजो का योगदान लगभग ८-९% था प्रथम पचवर्षीय योजनाकाल मे जहाजरानी के विकास हेतु १८ ७ करोड रुपये व्यय किए गए। तटीय भारवाहिता तथा समुद्र पार जहाजो की भारवाहिता के लक्ष्य (१९६०-६१ तक) क्रमश ४·१ लाख जी० आर० टन तथा ४ ९ टन रखे गये थे। स्पष्ट है कि द्वितीय योजनाकाल मे तटीय परिवहन के लक्ष्यो को हम पूरा करने मे असमर्थ रहे।[2]

हमारे बन्दरगाहो की क्षमता का भी प्रथम व द्वितीय योजना मे काफी विकास किया गया। १९५०-५१ मे जहाँ सब बन्दरगाहो की सकलन क्षमता (Handing Capacity) २ करोड टन थी, १९६० ६१ मे यह क्षमता बढाकर ३ ७ करोड टन कर दी गई। यह वृद्धि ८७% हुई।

1 Third Five Year Plan, p 556
2 Ibid, p 557